हिमाचल का प्रकाश युग में प्रवेश

हिमाचल के ग्रामीण जीवन में एक बहुत बड़ा परिवर्तन आया है. एक उज्ज्वल भविष्य गांवों में बसी राज्य की ९० प्रतिशत आबादी की बाट जोह रहा है.

प्रदेश के सभी १६,८०७ आबाद गांव बिजली की रोशनी से जगमगा उठे हैं.

उन १५,१०१ गांवों की महिलाओं के चेहरों पर खुशी की दमक एक आम दृश्य है जिन्हें नलों द्वारा पीने का पानी उपलब्ध करा दिया गया है.

१६,२०० गोबर गैस संयंत्र ग्रामीण क्षेत्रों की ताप और प्रकाश की आवश्यकताएं पूरी कर रहे हैं.

गांवों में दो लाख से ज्यादा धुआं-रहित चूल्हे लगा दिए गए हैं और अब महिलाएं बिना आंसू बहाए खाना बना सकती हैं.

आज १०,२१५ शिक्षा संस्थाएं ज्ञान का प्रकाश फैला रही हैं.

कुस्वास्थ्य के अंधकारपूर्ण दिन लद गये. अब २,४७० स्वास्थ्य संस्थाएं लोगों को उनके द्वार के समीप स्वास्थ्य सेवाएं उपलब्ध करा रही हैं.

१६,५०० किलोमीटर लंबी सड़कें विकास गतिविधियों के लाभों को प्रदेश के दूरदराज कोनों तक पंहुचा रही हैं.

हिम लोक संपर्क

सारिका कथा पहेली

कथा पहेली

नवंबर : 1990

सर्वशुद्ध हल

1. शशि प्रभा शास्त्री की 'सजा'
2. विनीता के संदर्भ में 'उत्सव के रंग' कहानी में.
3. 'बाऊजी और बंदर'
4. क्रमशः चंद्रकांता, राजी सेठ, सूर्यबाला, धर्मवीर भारती.
5. चित्रामुद्गल की 'ताशमहल'.
6. राजी सेठ द्वारा लिखित 'गणित ज्ञान'.
7. क्रमशः 'प्यारिया तो बौरा गया', 'आईने की वापसी', 'छोटी वेश्या : बड़ी वेश्या', 'पूर्णाहुति'. 'पूर्णाहुति'.
9. 'समानांतर संतान'.

इस बार तीन हजार प्रतियोगियों में सर्वशुद्ध हल भेजने वाले दो प्रतियोगियों को बधाई....
ये प्रतियोगी हैं—

1. कमल कपूर
   2144/9, सेक्टर-9
   फरीदाबाद (हरियाणा)

2. अरविंद कुमार
   ए-99, जीवन पार्क,
   नई दिल्ली-110 059.

कहानियां गौर से पढ़िये और 200 रु. के पुरस्कार जीतिए!

सारिका कथा पहेली में भाग लेने के लिए आप सभी आमंत्रित हैं. प्रतियोगियों से अनुरोध है कि वे पूर्तियां इसी पृष्ठ पर भेजें. इस बार के प्रश्न दिसंबर : 1989 के अंक पर आधारित हैं. कार्यालय में पूर्तियां पहुंचने की अंतिम तिथि 25 जनवरी है... किंतु दूर-दराज के जिन इलाकों में 'सारिका' देरी से पहुंचती है वहां के पाठक 25 तारीख के बाद भी पूर्तियां भेज सकते हैं.

कथा पहेली : जनवरी 1990

रिक्त स्थान भरिये...

1. .... में 'क्यों' के माध्यम से हास्य की सृष्टि की गयी है.
2. 'सम्मान की खुशी पर अपमान का सच' इस अंक की...................... कहानी पर लागू होता है.
3. ....कहानी में पात्र स्वयं से नफरत करने लगता है.
4. यह पात्र जिन रचनाओं के हैं उनके नाम कोष्ठक में लिखें.
   I जया [ ] II रगन [ ]
   III बशीर [ ] IV सोहणी [ ]
5. 'वे कुर्सी पर बैठे-बैठे ही बच्ची को कंधों से पकड़े उसे चलने के लिए उत्साहित कर रहे थे और चंद्रिका उनकी कुर्सी को पीछे से पकड़े धीरे-धीरे उसे आगे सरका रही थी.'
   यह दृश्य ....से लिया गया है.
6. लंबे कथात्मक सिलसिले का प्रकाशन और आगे चलता यदि.....................का प्रकाशन न हो जाता.
7. 'भैंसों वाली गली' कहानी के जरिए कथाकार क्या कहना चाहता है?
   ....
   ....
8. इन रचनाओं के रचनाकारों के नाम कोष्ठक में लिखें
   I 'दूसरा कदम' [ ] II रेत छाया [ ]
   III हिस्सेदार चेहरे [ ] IV ईदो [ ]
9. इस अंक में दृश्य माध्यम की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ कहानी.................................. है.

नाम : ....
पता : ....
....

विश्व-प्रसिद्ध श्रृंखला

जनरुचि के 50 लघु विश्वकोशों की एक अनूठी संग्रहणीय भृंखला

मूल्य: 18/- प्रत्येक
डाकखर्च: 4/- प्रत्येक
एक साथ चार पुस्तकें
मंगाने पर डाकखर्च माफ

■ प्रामाणिक पाठ्य-सामग्री ■ प्रत्येक पुस्तक सैकड़ों दुर्लभ चित्रों से सुसज्जित ■ सरस कथा शैली ■ फोटोटाइप सैट ■ बढ़िया कागज पर ऑफसैट छपाई ■ बहुरंगी आवरण ■ वाजिब दाम

इस भृंखला का मूल उद्देश्य एक औसत पाठक को अंतर्राष्ट्रीय घटनाचक्र से जोड़कर उसकी चेतना को प्रबुद्ध करते हुए उसके ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार है।

उदाहरणार्थ ***रोमांचक कारनामे*** में सरकंडे की नाव में की गई 13,000 मील की समद्री यात्रा जैसी अनेक सच्ची कथाएं हैं तो ***खोजें*** में मिट्टी के तेल, पेनिसीलीन आदि खोजों के पीछे छिपे प्रयासों का रोचक विवरण है। ***अनसुलझे रहस्य*** में बरमूदा ट्राइएंगल से लेकर रक्त मिलाकर शराब पीने वाली जातियों तक के रहस्य हैं तो ***खेल और खिलाड़ी, 101 व्यक्तित्व*** व ***वैज्ञानिक*** जीवनी-प्रधान पुस्तकें हैं। ***विनाश-लीलाएं*** व ***दुर्घटनाएं*** में मर्मांतक तबाहियों का लेखा-जोखा है तो ***गुप्तचर संस्थाएं, जासूस*** व ***जासूसी कांड*** में जासूसों की रोमांचकारी गतिविधियां हैं। ***सभ्यताएं, मिथक एवं पुराण कथाएं*** और ***प्रेरक-प्रसंग*** किसी भटके हुए मन के लिए प्रकाश-स्तंभ हैं तो ***हत्यारे*** में रक्त-पिपासु हैवानों की कथाएं हैं। ***रोमांस-कथाएं*** तथा ***हस्तियों के प्रेम-प्रसंग*** में लैला-मजनूं से लेकर हिटलर, कैनेडी, चार्ली चैपलिन, नेहरू जैसे व्यक्तियों के दिलों की धड़कनें हैं तो ***अनमोल खजाने*** में रहस्य और रोमांच से भरे खजाने हैं। ***दुस्साहसिक खोज-यात्राएं*** में कोलंबस, मार्को पोलो जैसे खोज-यात्रियों की गौरव-गाथाएं हैं तो ***जन-क्रांतियां*** में सभी महत्त्वपूर्ण क्रांतियों का ब्यौरा है। ***भूत-प्रेत घटनाएं, अलौकिक रहस्य*** तथा ***मांसाहारी तथा अन्य विचित्र पेड़-पौधे*** पढ़कर आपकी रातों की नींद उड़ जायेगी। ***कुख्यात महिलाएं*** व ***विलासी सुंदरियां*** में मर्लिन मुनरो, जैक्लीन कैनेडी जैसी औरतों का निजी जीवन है तो ***सनकी तानाशाह, राजनैतिक हत्याएं, तख्ता-पलट घटनाएं*** व ***आतंकवादी संगठन*** में आपको विश्व-कूटनीति का असली चेहरा दिखायी देगा।

कुल मिलाकर प्रत्येक पुस्तक अपने क्षेत्र से संबंधित सभी [illegible] वाला एक सचित्र ***मिनि एनसाइक्लोपीडिया*** *है।*

अपने निकट के ए.एच. व्हीलर के रेलवे व बस अड्डों के बुकस्टॉलों पर मांगें। वी.पी.पी. द्वारा मंगाने के पते :-

पुस्तक महल खारी बावली, दिल्ली-110006

शोरूम : 10-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, दरियागंज, नई दिल्ली-110002.

सारिका समय समाज और संस्कृति की पहचान

फ़रवरी : 1990

क्या पुरुष के बिना नारी का जीवन सार्थक हो सकता है? क्या सामंती व्यवस्था से निकलकर तमाम सुख-सुविधाओं के बावजूद नारी पुरुष के बगैर खुद को 'पूर्ण' कह सकती है?.... आखिर उन सवालों का जवाब क्या है जो एक इंसान की जिंदगी से जुड़े होकर भी पूरे समाज की सच्चाई बनकर उठ खड़े होते हैं....!

समाज की सच्चाई में बदलती जिंदगी को समझने की यह जोरदार कोशिश इस बार कर रही है....

अविनाश की संपूर्ण उपन्यासिका

यूं होता तो क्या होता?

... और साथ में

मौजूदा दौर के सबरंगी कथाकार हंसराज रहबर, यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र', कृष्णा अग्निहोत्री, मुज्तबा हुसैन, सुरेंद्र अरोड़ा, प्रमोद सिन्हा और अमरीक सिंह दीप की कहानियां.
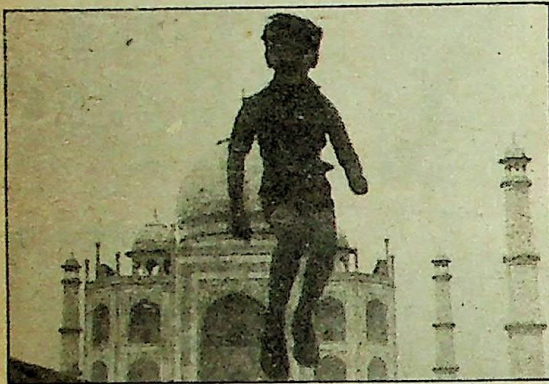
विशेष

कैसी रही होंगी वे स्मृतियां जो एक सहज परिवार की रचना कर देने में समर्थ थीं...? परिवार जिसमें अपनापे के वृत्त हैं, वृत्तों के भीतर और वृत्त हैं—जिस में बाहर कोई नहीं है...

स्मृतिशेष कवि—कथाकार अज्ञेय का महत्वपूर्ण संस्मरण जिसके केंद्र में हैं श्री मती जैनेंद्र कुमार किंतु साथ ही साथ ऐतिहासिक समय की परतें भी खुलती चली गयी हैं...

दो दर्जन से भी अधिक लघुकथाएं और आपकी बात, अपनी बात, हलचल, कृतियां, फाइल पढ़ि-पढ़ि जग मुआ और काव्य रचनाएं.

मार्च 1990

मॉरीशस विशेषांक

मॉरीशस भारतीय मूल से अधिसंख्य नागरिकों का अनूठा देश है. भारतीय समाज, संस्कृति और परंपरा के प्रति मॉरीशस वासियों में आत्मीय भाव सहज ही देखा जा सकता है. मॉरीशस के स्वाधीनता-दिवस (12 मार्च) के अवसर पर इस देश की सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक विरासत के तमाम संदर्भों को लेकर प्रस्तुत हो रहा है 'सारिका' का 'मॉरीशस विशेषांक'. मॉरीशस की सभी कथापीढ़ियों की हिस्सेदारी के साथ-साथ यह अंक अपने आप में एक विशेष कथा उपहार होगा.

सारिका

समय, समाज और संस्कृति की पहचान | वर्ष : 30, अंक : 452, जनवरी, 1990

नववर्ष उपहार अंक
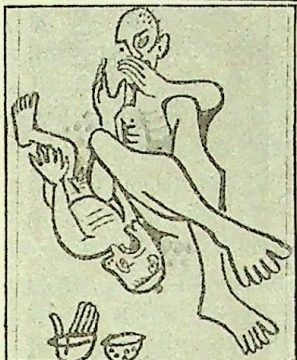
उपन्यास

उपन्यास

12. गरीबदास :
नागार्जुन

उन्हें यह जानकर भारी अचंभा हुआ कि उस पाठशाला में रविवार को छुट्टी नहीं रहती है. पूछने पर मालूम हुआ कि खेती और बागबानी या पर्व-त्योहार के मुताबिक छुट्टियां होती हैं.
पिछले दो-तीन वर्षों में बड़ी जातियों और छोटी जातियों के आपसी झमेले बेहद बढ़ गये थे. यह कड़वाहट छोटे-छोटे गांव तक पहुंच चुकी थी. लगता था, अगले वर्षों में इधरवाले तीनों जनपद चंबल घाटी बनते जा रहे हैं.
प्रत्यक्ष राजनीति में विद्यालय के किसी भी व्यक्ति का शामिल होना यों तो वर्जित दीखता था, किंतु इस सिलसिले में कुछ तथ्य परस्पर विरोधी लगते थे.
थाने का दारोगा उन्हीं की बिरादरी का है, यह खुले आम उनकी तरफदारी करता चलेगा. एस.पी. कमजोर दिलवाला हरिजन है, उसके ऊपर-नीचे ज्यादातर बड़े अधिकारी ऊंची जातियों के ही लोग जमे हुए हैं.

कथा रचनाएं

34. जहरबाद :
राजेंद्र यादव
40. दालचीनी के जंगल :
कमलेश्वर
44. शीशों के पार उगी हरियाली :
शैलेश मटियानी
52. शाम :
कृष्ण बलदेव वैद
56. राजकुमार :
आनंद प्रकाश जैन
60. नया कवि :
हिमांशु श्रीवास्तव
64. एक सार्वजनिक विलाप :
रमेश चंद्र शाह

धारावाही उपन्यास

69. लाल पसीना :
अभिमन्यु अनत

संस्मरण/आत्मरचना

29. संवेदना के अटपटे सूत्र :
विष्णु प्रभाकर
30. यह ठाठ फकीरी :
राजेंद्र यादव
34. अगली सुबह राकेश चले गये थे :
चंद्रगुप्त विद्यालंकार
54. जो याद है :
हरिशंकर परसाई

साक्षात्कार

36. एक फ्यूडल से बातचीत :
राजेंद्र यादव से सुधीश पचौरी की अंतरंग बातें

स्थायी स्तंभ

4. कथा पहेली
6. अगला अंक
8. आपकी बात
11. अपनी बात
67. फाइल पढ़ि-पढ़ि जग मुआ
81. कृतियां
85. हलचल
87. गजलें
88. कार्टून पन्ना
89. गपशप

प्रकाशक :
रमेशचंद्र
संपादक :
अवधनारायण मुद्गल
उपसंपादक :
सुरेश उनियाल
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन
वरिष्ठ सज्जा प्रबंधक :
लोकेश भार्गव
आवरण सज्जा :
मुकेश कुमार
आवरण पारदर्शी :
ज्ञान दीक्षित
सीनियर मैनेजर विज्ञापन :
एस.एस. मेहता
मैनेजर रिसपांस :
डा. आर.पी. जैन
प्रोडक्शन :
हरेंद्र सिंह नेगी
उदेश कुमार
अंक सज्जा :
किनमिन

● संपादकीय, विज्ञापन, प्रसार एवं व्यवस्था : 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, दूरभाष : 271911
● टाइम्स हाउस, 7 बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002 दूरभाष : 3312277, (20 लाइनें)
अन्य कार्यालय
● डा. दादाभाई नौरोजी मार्ग, बंबई-400 001.
● फ्रेजर रोड पटना
● अनुपम चेंबर्स, टोंक रोड, जयपुर
● 33 आश्रम रोड, अहमदाबाद-1
● 13-1-2 गर्वनमेंट प्लेस ईस्ट कलकत्ता-700 062
● 'गंगा गृह' तीसरी मंजिल 6-डी नगामबक्कम हाई रोड, मद्रास-600 034
● 88 महात्मा गांधी रोड, बंगलूर
● 407-1 तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411 002

रिश्ते की अनुभूति

यदि 'सारिका' स्वयं को **'समय, समाज और संस्कृति की पहचान'** अथवा **'कहानियों तथा कथाजगत की संपूर्ण पत्रिका'** घोषित करती है तो इसमें तनिक भी अतिश्योक्ति नहीं. 'सारिका' की इस घोषणा की सचाई को उसके समस्त साहित्य-रस लोलुप पाठक हृदय से स्वीकार करते हैं. हिंदी कहानियां आज किस स्थिति में हैं, 'सारिका' के किसी भी एक अंक से इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है. हिंदी पाठकों के लिए प्रति माह सार्थक एवं समाज से जुड़ी कहानियों का प्रकाशन अब 'सारिका' का उत्तरदायित्व बन चुका है.

स्वच्छ एवं क्लिष्ट कलेवर में मानव की धरती पर रची जा रही मौलिक, यथार्थपरक और आदर्शवादी कहानियों के प्रकाशन का ही यह परिणाम है कि आज 'सारिका' के साथ एक रिश्ते की-सी अनुभूति होने लगी है.

सभी कहानियां पढ़ डालीं. **'महिला कथाकार विशेषांक: दो'** के आकर्षक कलेवर में 'सारिका' की समग्र कहानियां, मुख्यतया मेहरुन्निसा परवेज की **'अपने होने का एहसास'**, बेला मुखर्जी की **'अस्तराग'** तथा डॉ. पूर्णिमा केडिया की **'उन्मुक्ति'** नारी-मन के अंतर्द्वंद्वों से साक्षात्कार कराती हुइ मेरे अंतस्तल को सूक्ष्मता से बेंध गयी.

एक पत्नी और फिर, बाद में एक मां की दारुण स्थितियों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करती हुई परवेज की कहानी 'टॉप' की कहानी साक्षित होती है. गरीबी ने उसे एक ऐसे मोड़ पर ला रखा कि वह एक विधुर की पत्नी (क्या अर्द्धांगिनी?) बनने को विवश होती है, जहां वह प्यार के दो मीठे बोल सुनने को तरस जाती है. अभिमानी पति अपने बेटे को अपनी ही राह पर चलाने को बाध्य है. परंतु, अंत में—जब **''मां, आशीर्वाद दो, मैं तुम्हें लेने आया हूं. मेरे घर को तुम अपने हाथों संवारोगी. मैं तुम्हें यहां अब नहीं रहने दूंगा.''**—की करुण प्रार्थना वह सुनती है, तो उसे पहली बार अपने होने का, जिंदा रहने का एहसास होता है.

'अस्तराग' में वही बात ठीक विपरीत रूप लेती है. पति अपनी गरीबी के बावजूद अपनी पत्नी को कितना स्नेह देता है. वह तो भलीभांति जानता है कि उसकी जीवन संगिनी को कितना कष्ट दिया है मां ने. वही कर्कशा तो कारण बनी उन दोनों के कष्टमय जीवन का. घर में सबसे बड़ा होने के कारण घर का सारा बोझ विमल के कंधों पर आ पड़ा, सारे लोग मौज-मस्ती में रहे और भुगतना पड़ता है अभागी समि को. देह पर न ढंग के कपड़े, न खाने को कुछ बढ़िया. बेला मुखर्जी प्रणीत इस कहानी का दुःखद अंत आंखों में आंसू ला देने में सक्षम प्रतीत होता है, जब लेखिका, मन ही मन सूर्य को प्रणाम कर कहती है, **''हे चराचर के जीवनदाता, विमल के जीवन से समि को न छीनो. उसके शरीर का रोग सुखाकर नया जीवन दो उसको. फूल जैसे दो सुंदर जीवन को कष्ट होने से बचा लो प्रभु...''** आदर्श प्रेम का अनुपम उदाहरण ऐसी सशक्त कथा हेतु बधाई.

बुद्धिजीवी लेखिका पूर्णिमा केडिया 'अन्नपूर्णा' ने **'उन्मुक्ति'** में नारी स्वतंत्रता की बात उठाकर समाज के सम्मुख सचमुच एक आदर्श उपस्थित किया है.

स्त्री अहिंसा का अवतार है—अहिंसा का अर्थ होता है असीम प्रेम, और असीम प्रेम का तात्पर्य है, कष्ट-सहिष्णुता की असीम सामर्थ्य. पुरुषों की जननी स्त्री को छोड़कर यह सामर्थ्य उससे अधिक और किसमें हो सकती है भला? वह नौ महीनों तक शिशु को गर्भ में धारण कर और उसके पालन-पोषण में अत्यंत हर्ष का अनुभव कर इस सामर्थ्य का परिचय दे देती है. शिशु को जन्म देने में होने वाले कष्ट से बढ़कर और कौन कष्ट हो सकता है? परंतु वह सृजन के आनंद में उस कष्ट को भूल जाती है. फिर उसकी संतान फलती-फूलती जाये, उसका उत्तरोत्तर विकास होता जाये, इसके लिए वह जो कष्ट उठाती है, उसकी तुलना दूसरा कौन कर सकता है! स्त्री को अपने प्रेम को समूची मानवता के लिए अर्पित कर देना चाहिए, और यह सर्वदा के लिए भूल जाना चाहिए कि वह कभी भी पुरुष की वासना का शिकार रही है. अथवा हो सकती है. इस तरह वह—

मनुष्य की माता, सृष्टा और मौन नेत्री के रूप में उसके बगल में अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेगी. अस्तु.

□ **पं. विजयालक्ष्मी यशोधरा, नरकटियागंज (बिहार)**

बेचारी बन जाती है

नवंबर 1989 का 'महिला कथाकार विशेषांक' उत्कृष्ट था. कुल मिलाकर इसमें नारी मनोविज्ञान का समग्र व सफल चित्रण है. यशवंत कोठारी की लघुकथाएं स्त्रियों के प्रति रुग्ण मानसिकता पर करारा प्रहार थीं. यह तथ्य वस्तुतः हैरत अंगेज है कि शिक्षित समुदाय भी इस मानसिकता से अछूता नहीं. भौतिकवादी संस्कृति का शिक्षित समुदाय पर प्रभाव एक नासूर की मानिंद है, जिसमें हमारे **सामाजिक व पारिवारिक ढांचे को विच्छृंखल कर दिया है. सच** तो यह है कि आधुनिकीकरण की भाग-दौड़ हमारे सामाजिक मूल्यों के साथ ऐडजस्ट नहीं कर पा रहा है. मेहरुन्निसा परवेज की कहानी **'अपने होने का एहसास'** पारंपरिक आदर्शों के लबादे में पिटारा था जो यथार्थ के समक्ष अपवाद स्वरूप की प्रकट होता है. यह कहानी 'दूर के ढोल सुहावने' जैसी स्थिति को सार्थक कर रही है. चंपा लिमये की कहानी **'तानसेन'** स्त्रियों की मानसिकता का एक स्वच्छ प्रतिबिंब था और इसी बिंदु पर हमें वह सूत्र मिल जाता है कि सौंदर्य के महत्व के लुप्त होते चले जा रहे परिवेश में सौंदर्य की प्रशंसा सुनने की आकांक्षा की परिणति कतई अच्छी नहीं होती. महज एक स्थल पर भौतिक संस्कृति का स्वतंत्रता रूपी मूल्य नारी के शारीरिक सौंदर्य व मांग को तृप्त कर दे, वह बात अलग है, पर आगे के समस्त बिंदुओं पर पोंगापंथी मूल्यों को जो व्यापक जनाधार मिलता है, उससे लड़ाई एकतरफा हो जाती है और मूल्यों के द्वंद्व में फंसी नारी बेचारी बन जाती है.

□ **जयंत चक्रवर्ती, पटना सिटी**

प्रसंग के प्रसंग में

महिला कथाकार विशेषांक-2 में वर्षों बाद उषा प्रियंवदा की कथा **'प्रसंग'** पढ़ी. वे सदा की तरह उदासी व अकेलेपन की अंतर्धारा को साथ लिए चली हैं. **'जिंदगी और गुलाब के फूल'** तथा **'वापसी'** जैसी कथाओं ने उस उदासी को ज्यादा सार्थक कैनवास पर उकेरा था, लगा था जैसे कोई नयी-सी प्रस्तुति है.

पर अभी **'प्रसंग'** को पढ़कर लगा कि कोई विचार बिंदु किसी रचनाकार पर कभी-कभी ऐसे हावी हो जाता है कि हर कथा स्टीरियो टाइप हो जाती है और वह विशिष्ट विचार बिंदु हर कथा में पारदर्शी हो उठता है.

उषाजी बहुत कम, मगर बहुत खूब लिखनेवालों में से हैं. पर इधर उनकी स्थिर विचार भूमि के इर्द-गिर्द बुनी गयी कहानियों ने बहुत उदास किया है.

रचनाकार की संवदेनशीलता

तब सार्थक हो उठती है, जब वह हर रंग को उभारे. उदासी किसी की संवेदना का स्थायी भाव हो सकता है जो बार-बार उभरे पर एक से ही कथ्य के रूप में उभरे, यह निराश करता है. फिर भी छोटे-छोटे वाक्यों में हर भाव को पूर्णता के साथ प्रस्तुत करने में उषा प्रियवंदा का जवाब नहीं.

□ **राज्यश्री, हल्द्वानी (नैनीताल)**

सत्यं, शिवं, सुदरम्

'सारिका' का नवंबर अंक **'महिला कथाकार विशेषांक: दो'** पूर्णतः पढ़ने के उपरांत यह पत्र लिखने बैठा हूं. तीन साल हुए सारिका सपर्क को. इस दौरान उतार-चढ़ावों को मैंने नजदीक से नोट किया है. कई रूपों से गुजरकर वर्तमान रूप तक पहुंची है. एक बार हाथ लगी तो फिर कभी दूर रहने के दुयोग से बचा रहा. अगर मेरा ध्यान ठीक है तो पिछले तीन सालों के दो एक अंक छोड़ सारे अंक मेरे पास सुरक्षित हैं. प्रत्येक अंक से मैंने कुछ नया प्राप्त किया है—नयी सोच, नयी दृष्टि... और सबसे हटकर वर्तमान से वर्तमान साहित्य से आमने-सामने होने के सत्य से संपर्क.

नवंबर अंक **'महिला कथाकार विशेषांक: एक'** की अपेक्षा बेहतर बन पड़ा, जो सुंदर है वह स्वतः प्रभावित करता है. फिर वह साहित्य साधना हो या अंतःसाधना... या कि वह जो हम अपने आसपास देखते हैं. मनुष्यों में सुंदरता परखनेवाले ध्यान दें बाह्य सुंदरता का टिकाऊपन एक भयावह कल्पना है. अतः सुंदरता को परिभाषित करते वक्त अगर हम थोड़ी संजीदगी बर्तें तो शायद हमारे हित में हो... और यही मानवता-हित में भी.

कथाकार इसी सुंदरता (संजीदगीवाली) को पकड़ने-परखने का प्रयत्न करता है, हम उसके लेखन में वातावरण को पकड़ते हैं. उसके पास का वातावरण, दरअसल वह उसका खुद का वातावरण होता है. भीतर का संघर्ष अंतः चेतना का संघर्ष... पल-पल वह खुद को व्यक्त करता है.

सारिका में 'उपन्यास' देने का सिलसिला अच्छा कदम है. शशिप्रभा शास्त्री का उपन्यास **'मंजिलों ऊपर'** ठीक ही है. ज्यादा प्रभावित न कर सका. लेकिन आपसे यह उम्मीद अवश्य है कि उपन्यास के पात्रों को टटोलने की आफत से पाठकों को बचायें. यानि पात्र खुद व खुद पाठक के मन-मस्तिष्क पर छा जाना चाहिए. पढ़ते रहने- की आवश्यकता के चलते, सिर्फ कथाकार के नाम के सहारे कुछ छाप देने की प्रवृत्ति ठीक नहीं.

एक तथ्य और. कुछ महिला कथाकार खुद को औरत की आजादी वाली लेखन शैली की कैंचुली में घोंटे रखने के रोग से ग्रस्त हैं. रचनाकार के लिए किसी बंदिश के तहत लेखन रचना के लिए हानिकर है. चित्रा मुद्गल सहित ज्यादातर लेखिकाओं में रचना के प्रति यह समर्पण देखने को मिलता है.

लघुकथाएं यशवंत कोठारी की **'व्यथा औरत की'**—कोठारी जी का एक नजरिया है, औरत के हालात वर्णन करने का. फिर भी प्रभावकारी है. दरअसल हमारा समाज औरत को भोग की वस्तु समझकर ही जीता आ रहा है. हालांकि, अब हालात बदल रहे हैं फिर भी बहुत कुछ करने को बाकी है. हमारी प्रतिबद्धता इस बहुत कुछ करने के साथ होनी चाहिए.

□ **मुकेश कुमार भाटी, मेरठ**

पढ़ते ही बनता है

सारिका का दीपावली एव गोवर्धन पूजा पर विशेष अंक **'महिला कथाकार विशेषांक: दो'** पढ़ा. अंक में उषा प्रियवंदा की कहानी **'प्रसंग'** एक सतही और आत्मकेंद्रित कहानी है, जिसमें व्यक्तिगत संबंधों में हो रहे बदलाव को अभिव्यक्ति अवश्य दी गयी है परंतु कहानी किसी व्यापक उद्देश्य को उद्घाटित करने में असफल रही है. ममता कालिया की **'सुलेमान'** कहानी एक समसामयिक परिवेश को व्यक्त करनेवाली कहानी है. लेखिका ने समकालीन यथार्थ बोध को बड़े ही जीवंत रूप में प्रस्तुत किया है. कहानी औसत भारतीय का सपना मालूम पड़ती है. यही वजह है कि लेखिका बीच-बीच में सपनों की दुनिया में खो जाती है और कहानी यथार्थ से दूर हटती-सी मालूम पड़ती है.

अंक में मेहरून्निसा परवेज की कहानी **'अपने होने का एहसास'** एक बहुत ही मर्मस्पर्शी कहानी है. कहानी एक ऐसे दंपत्ति की जीवन गाथा है, जिसमें पति-पत्नी को पांव की जूती समझकर मौका पाते ही उसे डांटता और कोसता रहता है. कहानी अपनी समाप्ति के समय शीर्षक को भी सार्थकता प्रदान करती है. कहानी में जो ताना-बाना बुना गया है, वह पढ़ते ही बनता है.

बेला मुखर्जी की कहानी **'अस्तराग'** भी इसी अंक में संग्रहित है. कहानी का शिल्प ही चौंकाने वाला है. कहानी में विमल चौधरी कैंसर से पीड़ित अपनी पत्नी को घुमाने लाया है. उसने पत्नी को प्रसन्न रखने के लिए यह भ्रमण कार्यक्रम बनाया है तथा पत्नी को झूठ-मूठ बताकर उसने यह सारा कार्य मात्र पत्नी की रुग्ण अवस्था को देखते हुए किया है. कहानी में संयुक्त परिवारों की समस्या को भी दर्शाया गया है तथा सास-बहू की परंपरागत दुश्मनी का चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है. कहानी में जहां एक ओर भयानक कैंसर के रोगी के प्रति पति की सहानुभूति और दया भाव का उद्घाटन किया है वहीं साथ ही संयुक्त परिवार प्रणाली में से उपजी बुराइयों का उद्घाटन किया है.

□ **सोहन गौतम, सोलन (हि.प्र.)**

प्रस्तुति : चंद्रमोहन दीक्षित

अपनी बात

परिवर्तन के नये वर्ष का स्वागत

परिवर्तन का एक दौर आया और बाहरी तौर पर लग रहा है कि गुजर भी गया लेकिन क्या वास्तव में यह गुजर गया है? अभी भी धुंधलका छंटा नहीं है, धूल के गुबार बैठे नहीं हैं. डाल से टूटे या डाल पर लगे पत्तों के आपस में खड़कने की आवाज लगातार सुनायी दे रही है और इन्हीं के बीच से सुनायी दे रहा है बहुत से सवालों और समस्याओं का शोर, बहुत-सी उम्मीदों का बेसब्र तकाजा, फिर भी स्थिति अधिक निराशाजनक नहीं है. हालांकि ऐसा लग रहा है कि लोगों की आशा निराशा अस्थिरता पर टिकी हुई है. उनकी चिंता और अपेक्षा इसी अस्थिरता की डोर से बंधी हुई दिखायी देती है. वैसे देखा जाये तो थोड़ी बहुत अस्थिरता लंबी स्थिरता से कहीं ज्यादा अच्छी होती है. अस्थिरता में एक हलचल होती है, एक स्पंदन होता है, एक चुनौती होती है, एक सावधानी होती है और ये सब जीवन के लक्षण हैं. लंबी स्थिरता उस ठहरे और बंधे पानी की तरह होती है जो सड़न और दुर्गंध देने लगता है, बीमारियां फैलाने लगता है.

यह अस्थिरता और परिवर्तन की स्थिति हिंदुस्तान में ही नहीं अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी दिखायी दे रही है. दुनिया के फलक पर साफ नजर आ रहा है कि लोग सत्ता के एकाधिकारवाद के खिलाफ उठ खड़े हुए हैं. बंधी-बंधायी दृष्टि, बंधा-बंधाया दृष्टिकोण और बंधी-बंधायी दिशा बेचनेवालों की बंधी-बंधायी दूकानें बंद होती नजर आ रही हैं. आदमी के सामने नयी दृष्टियां, नये दृष्टिकोण और नयी दिशाएं खुल रही हैं. सुखद आश्चर्य यह है कि उन्हें इनके खुलने से कोई घबराहट नहीं जिन्होंने इनको बंद किया था. उनकी सहमति के संकेत और उनके मौन समर्थन इन जन-आंदोलनों को लगातार मिल रहे हैं. यह अंतरराष्ट्रीय फलक पर हो रहे परिवर्तन और उन्हें मिल रहे जनादेश एवं समर्थन का शुभ संकेत है. यह परिवर्तन हमारे देश के लिए भी शुभ ही होगा, ऐसी हम सबकी कामना है. लेकिन इसके लिए हमें निकट अतीत के इतिहास को याद रखने, उससे सही सबक लेने और वैसी ही स्थितियों की पुनरावृत्ति न होने देने के लिए अतिरिक्त सावधानी और सूझ-बूझ की आवश्यकता है. इतिहास में दस या बारह वर्ष का एक छोटा-सा काल-खंड कितना महत्व रखता है, इसका निर्णय समय ही करेगा.

कभी समय की सही पहचान हमारे बुद्धिजीवी और साहित्य-सृष्टा के माध्यम से होती थी, वह काल-द्रष्टा और समाजचेता हुआ करता था लेकिन आज प्रायः ऐसा नहीं दिखायी देता. आज लगता है हम काल की पीठ ही देख पाते हैं मानो हमें आनेवाले समय की पदचाप ही सुनायी नहीं देती, सिर्फ दूर होते समय के पैरों की भारी धमक का एहसास ही हमारे पास रह जाता है. कभी-कभी ऐसा भी लगता है कि आज के कुछ रचनाकारों का ध्यान रचना की गुणवत्ता पर नहीं, अपने-अपने खोमचे या दूकानदारी अथवा चौधराहट पर अधिक केंद्रित हो गया है. इधर के कुछ लेखकों में एक प्रवृत्ति और भी दिखाई दे रही है कि वे अपनी एक-दो या चार रचनाओं से चिपककर रह गये हैं और उन्हें ही विश्व की सर्वश्रेष्ठ कृति मान बैठे हैं. वे अभी कद्दे-आदम भी नहीं हुए हैं और अपने आपको कायदे-आजम मान बैठे हैं. उनके झोलों में अक्सर चार रचनाएं और उनके संबंध में अलग-अलग लोगों से साग्रह लिखवाये गये चार सौ प्रशस्ति पत्र मिल जायेंगे. यह प्रवृत्ति खतरनाक तो है ही, रचनाधर्मिता के लिए घातक भी है.

बहरहाल हम परिवर्तन के इस दौर में अपने रचनाकारों से भी गुणात्मक परिवर्तन की अपेक्षा करते हैं. इसी अपेक्षा के साथ हम पुराने को नमन करते हुए नये वर्ष का स्वागत करते हैं और उपहार के रूप में उस दौर के रचनाकारों की रचनाएं प्रस्तुत कर रहे हैं जिन्होंने बंधे-बंधाये पानी को एक नया निकास और नया मोड़ दिया था. जिन्होंने रचनात्मक परिवर्तन का एक नया आयाम और नया क्षितिज हमारे सामने खोला था.

गरीबदास

□ नागार्जुन

जन्म : ज्येष्ठ पूर्णिमा, 1911
(तरौनी, दरभंगा.)
प्रमुख कृतियां :
'रतिनाथ की चाची', 'बलचनमा', 'नई पौध', 'बाबा बटेसरनाथ', 'वरुण के बेटे', 'इमरतिया', 'पारो', 'कुंभीपाक' व 'दुखमोचन' (उपन्यास). 'आसमान में चंदा तैरे' (कहानी संग्रह) व 'इस गुब्बारे की छाया में', 'आखिर ऐसा क्या कह दिया मैंने', 'पुरानी जूतियों का कोरस', 'हजार-हजार बाहों वाली', 'खिचड़ी विप्लव देखा हमने', 'सतरंगे पंखों वाली', 'युगधारा' (कविता-संग्रह).
संप्रति : स्वतंत्र लेखन
संपर्क : बी-132, सादतपुर, दिल्ली-110 094.

अंतर्राष्ट्रीय बाल-दिवस... 1979... बच्चों-बच्चियों का मेला, निवेदिता विद्यालय, हरिनगर...

स्कूल के फैले कंपाउंड की सीमा के पास, बाहर, लाल रंग के कपड़े पर नीली पट्टियों की सिलावट में समारोह के शीर्षक दो बांसों के सहारे झूल रहे थे. अंदर जानेवाले धूल-भरे मार्ग पर जीपों और कारों के टायर के निशान थे. आम के हरे-हरे पत्तों और पीले कनेर की इकहरी मालाओं से प्रवेश-पथ के उन बांसों को सजा दिया गया था. विद्यालय के भवन अंदर काफी दूर थे, लेकिन उन्हें साफ-साफ देखा जा सकता था. रास्ते के इधर-उधर केलों की हरी-भरी बागवानी आंखों को तरावट पहुंचा रही थी. अगल-बगल की क्यारियां करीने से सजी हुई लगती थीं. उनको मेड़ों पर कतारों में केलों के छायादार थंभ शान से लहरा रहे थे.

विद्यालय की सीध में कुछ और आगे बढ़े तो सामने से इधर आता हुआ एक बालक नजर आया. करीब आकर वह बोला, "आप अखबारवाले हैं न?"

"नहीं," एक ने कहा, "हम कपिल जी के साथी हैं. उत्सव देखने आये हैं."

"नमस्ते!" बालक बोला, "चलिए, एक शिक्षाधिकारी का भाषण चल रहा है... आप आइए, आप दोनों के लिए बैठने की व्यवस्था अंदर है..." फिर, एक मिनट बाद उसने कहा, "दूर से चलकर आये हैं न! पहले हमारे छात्रावास में चलकर हाथ-मुंह धो लेना चाहेंगे?"

दोनों ने देखा, बालक के पहनावे में नीले रंग का निकर और चंदन वर्णी कमीज थे. सिर पर टोपी-ओपी नहीं थीं. "जरूर ही, वह इस विद्यालय का छात्र है." एक ने दूसरे के कान में कहा.

दोनों आगंतुकों ने उससे कहा, "हम थके-वके नहीं हैं, हमें सीधे वहीं ले चलो..." समारोह की जगह तक ले जाकर उसने उन दोनों को किनारेवाली कुर्सियों की तरफ आगे बढ़ा दिया. बिना बांहोंवाली, सादी कुर्सियां थीं, लकड़ी की.

दोनों ने उड़ती निगाहों से अंदाज लिया. उपस्थिति ढाई-तीन सौ से अधिक की नहीं थी. छात्रों-छात्राओं के अलावा, अध्यापक-अध्यापिकाएं और अभिभावक-अभिभाविकाएं थे. विद्यालय के कर्मचारी, बागवानी के मजदूर और छात्रावास के परिचारक भी जरूर रहे होंगे.

अधेड़ उम्र के शिक्षाधिकारी महोदय पुराने युगों की गुरुकुलीय व्यवस्था का रंगीन ब्यौरा दे रहे थे... कैसे संदीपन मुनि के आश्रम में सुदामा और कृष्ण साथ-साथ पढ़ाई-लिखाई करते थे, कैसे श्रीमंत एवं मामूली हैसियतवाले परिवारों के बच्चे साथ-साथ रहकर क्यों सुयोग्य नागरिक बनने का संस्कार हासिल करते. आगे चलकर गुरुकुल में रहे हुए इन्हीं बालकों में से राजा भी निकलते थे, व्यापारी भी और खेतिहर भी, श्रमिक भी और विद्यावान भी, और बुद्धिजीवी भी... आपस में उनके अंदर कटुता की भावना नाम मात्र को भी पनप नहीं पाती थी...

उनके बाद एक और विद्वान वक्ता उठे. उनकी आयु साठ से अधिक की रही होगी. उत्साह में लेकिन तीस वर्ष के नौजवान मालूम पड़ते थे. उन्होंने पुराने युगों की बात नहीं की, भावी भारत का समाजवादी ढांचा कैसा अनोखा होगा और तब हमारी नयी पीढ़ियां शिक्षा, विज्ञान और संस्कृति की दृष्टि से कितनी उन्नतशील उपलब्धियां हासिल करेंगी, इस पर वे लगभग पंद्रह मिनट विभोर होकर बोलते रहे...

इस समारोह में सबसे ज्यादा आकर्षण की बात क्या थी?

निवेदिता विद्यालय के ये छात्र-छात्राएं उन्हें कभी नहीं भूलेंगे. यह मंच के सामने अपने युनिफार्म में बैठे हुए थे. इनकी दस कतारें थीं. एक-एक कतार में व्यवस्थित तौर पर पंद्रह-पंद्रह छात्र-छात्राएं थे. छात्राओं की संख्या 23 थी, बाकी सभी छात्र थे. उनकी पंक्तियां बराबर के फासले पर थीं सबके साथ पालथी मारे बैठे थे, सावधान और जागरूक मुद्रा में. विद्यालय के छात्र-छात्राओं का यह अनुशासन बार-बार दोनों आगंतुकों का ध्यान उनकी ओर खींचता रहा. समारोह में मंत्री या राज्यमंत्री स्तर का कोई नेता आमंत्रित रहा होता तो फोटोवालों की भी गुंजाइश जरूर रही होती. काश, इन स्वस्थ, सुंदर, प्रसन्न, छात्र-छात्राओं के चेहरे कैमरे की छवि छाया में उतरकर दूर-दूर तक लोगों की नजरों के लिए सुलभ होते.

माइक का इंतजाम नहीं था, फिर भी बतला दिया गया था कि—"छात्रावास के एक रूम में चित्रों की प्रदर्शनी अवश्य देखिये विद्यालय के बच्चों ने बड़ी मेहनत से प्रदर्शनी का सामान जुटाया है. अंतर्राष्ट्रीय बालवर्ष के सिलसिले में बच्चों की हजारों हजार छाया-छवियां जहां-तहां पत्रों-पत्रिकाओं में आ रही हैं, दसवीं, ग्यारहवीं जमात के हमारे छात्रों ने इन चित्रों को जहां-तहां से जुटाया है. आपसे अनुरोध है, चित्र की यह प्रदर्शनी देख लें."

एक गरीब हरिजन मजदूर लछमनदास ने हरिजन बस्ती में एक स्कूल खोला. बाबा गरीबदास उसे चलाने के लिए अपनी छोटी-सी आय में से हर महीने तीस रुपये देते रहे. इस तरह शुरू हुआ यह स्कूल कैसे आसपास के क्षेत्र की संपूर्ण गतिविधियों का केंद्र बनता चला गया.

अध्यापकों ने बार-बार बतलाया तो उन दोनों की दिलचस्पी कई गुना बढ़ गयी.

छात्रावास की ओर बढ़ने पर गेंदा और गुलदाउदी के खिले हुए फूलों वाले सौ-सौ पौधों ने कतारों में हमारी अगवानी की. यह देखकर उनकी तबीयत को राहत-सी महसूस हुई कि विद्यालय प्राकृतिक सौंदर्य के प्रति दकियानूसी दृष्टि नहीं रखता. दो-तीन बालक इनके साथ चल रहे थे. उनमें से एक ने बतलाया, "हमारे यहां, विद्यालय के पिछवाड़े की तरफ पांच एकड़ भूमि में सब्जियां भी उगायी जाती हैं. भाई जी, आपके पास वक्त होता तो हम सब्जियों और फलों की अपनी बागवानी भी दिखलाते. आपकी तबीयत खुश हो जाती."

एक आगतुक चलते-चलते एक और लड़के के मुंह की तरफ अपना कान झुकाये हुए था. वह बालक उनसे कह रहा था, "मछली पालन के लिए छोटी-छोटी दो तलैया भी हमारे यहां हैं, मुर्गी पालन का एक अच्छा-सा फार्म है..." इतने में एक और लड़का बोल उठा, "और उधर बगीचे में लीची के झाड़ों के नीचे मधुमक्खी पालन के लिए लकड़ी के बक्से भी रखे हुए हैं. ऐसा बढ़िया शहद आपको और कहीं नहीं मिलेगा." पहला लड़का बोल उठा, "मुजफ्फरपुर में लीची के बहुत बाग हैं, वहां शायद इस तरह का शहद मिलेगा..."

लगा कि वहां के बालकों में अपने विद्यालय की उपलब्धियों के प्रति बड़ा ही अभिमान है. वे यदि इन उपलब्धियों के बारे में अधिक से अधिक जानकारी इन दोनों तक पहुंचाने को आकुल दीखे तो यह बिल्कुल स्वाभाविक था.

छात्रावास के अंदर जाने के लिए भी छोटे से प्रवेश-मार्ग से होकर गुजरना पड़ा. प्रदर्शन कक्ष में प्रवेश करने से पहले ही, एक तरफ जरा हटकर अपने युनिफार्म में चार-पांच बालिकाएं आगंतुकों को चाय दे रही थीं. प्यालियां नहीं थीं, मिट्टी के सकोरे थे. चाय के साथ दो-दो बिस्कुट और जरा-जरा-सी दालमोठ... झुकी हुई नजरों से वे छात्राएं आगंतुकों की ओर चाय के सकोरे बढ़ा रही थीं. आगंतुकों में उनके अपने भी अभिभावक थे अभिभाविकाएं थीं.

प्रदर्शन-कक्ष के अंदर दीवारों पर लगभग सवा सौ फोटो सजाये गये थे. दाहिनी तरफ से आगे बढ़ने पर चालीस-पचास रंगीन छवियां थीं. इन्हें देशी-विदेशी पत्रिकाओं से लेकर यहां सजाया गया था. यह सभी ऐसे बालकों-बालिकाओं के चित्र थे जिनके चेहरों से हंसी-खुशी और ताजगी का नूर बरस रहा था. हैलिकोप्टर की खिड़कियों से झांकते बच्चे, गुब्बारों के दरमियान किलकारियां भरनेवाली बच्चियां, सूरजमुखी के बड़े फूल से अपना गाल सहलाती हुई नन्हीं बच्ची, घास पर रंगीन फूलों से किस्म-किस्म के आकार उभारते हुए, मदारी की निगरानी में अजगर को अपनी कमर से लिपटाये हुए बच्चे...

मगर, ऐसी छवियां चालीस-पचास से ज्यादा न रही होंगी. आगे बढ़ने पर, रंगीन छवियों की दुनिया बिल्कुल खत्म हो गयी थी. जीवन की विसंगतियोंवाला पक्ष ही ज्यादा से ज्यादा उजागर था

अगले चित्रों में—अकाल, महामारी, मारकाट, तोड़-फोड़, विषमता, ठगी, धोखा-धड़ी. इनके सबसे अधिक शिकार कौन होते हैं? छवियों की सजावट के माध्यम से ही विद्यालय के बालकों ने अतिथियों से बतला दिया था कि मौजूदा युग में बच्चे ही सबसे अधिक दुखी और सबसे अधिक शोषित प्राणी हैं. भूख में बिलबिलाते, दंगे के दिनों में मार-काट के शिकार, शोषण की चक्की में पिसते हुए, मरी हुई मां के सूखे स्तनों को चिंचोड़ते हुए अबोध शिशु... इस तरह के बीसियों दृश्य थे, जिन पर निगाहों को ठहराना कष्टप्रद लगता था. इनमें अपने देश के दंगा ग्रस्त, तूफान-पीड़ित, अकाल-कवलित बच्चे तो थे ही, इनके अलावा बांगला देश, पाकिस्तान, नेपाल, बर्मा, थाइलैंड, वियतनाम, अरब, तिब्बत जैसे मुल्कों के भी बालक-बलिकाएं विराजमान थे.

दर्शकों में से एक व्यक्ति फुसफुसाया, "प्रदर्शनी में यहां इन छवियों का चुनाव विद्यालय के बच्चों ने नहीं किया होगा. लगता है, इनमें से किसी छात्र का रिश्तेदार कालेज का कोई नक्सलाइट स्टुडेंट है, उसकी राय से बाद वाले ये चित्र छांटे गये हैं." इन दोनों में से एक उस व्यक्ति के इस कथन पर भड़क उठे बोले, "इनको कौन इनकार करेगा? अब यदि कोई सब जगह शत-प्रतिशत गुलाबी चेहरे ही देखना पसंद करता है तो उसके लिए बाल वर्ष की प्रदर्शनी बिल्कुल सजी-सजायी और सुंदरम् टाईप की हुआ करेगी."

दोनों ने मन ही मन उन बच्चों की सराहना की. उनकी इच्छा हुई कि उन बच्चों से अलग एकांत में बातचीत करें और उनके विचारों से अपनी जानकारी बढ़ायें.

चित्रों की प्रदर्शनी से बाहर निकले तो दोपहर का एक बज रहा था. छात्रावास के बरामदे में, दीवार पर एक सूचना पत्र टंगा था, "अतिथि महोदय, आपके लिए हमने भोजन का प्रबंध कर रखा है. ठीक दो बजे हमारे भोजन कक्ष में अवश्य पधारें." नीचे छात्रावास के सुपरिंटेंडेंट का हस्ताक्षर था.

नौजवानों में इस बात पर मतभेद नहीं था कि फोटोवाली नुमाइश ही छात्र वर्ग का अपना असली कार्यक्रम था. पड़ोस के बाजार से माइक मंगवाकर अच्छी किस्म के दस-बीस रिकार्ड बजवा देते तो दूर-दूर तक ग्रामांचलों में विद्यालय का नाम फिर से ताजा हो उठता... लेकिन इस मुद्दे पर सभी नौजवान सहमत नहीं थे. माया की लड़की, सुलोचना, मेडिकल कालेज के अंतिम वर्ष की छात्रा थी. वह शुरू से ही इन उत्सवों में माइक-वाइक के खिलाफ थी. माया का लड़का, विवेक, इंजीनियरिंग का स्टुडेंट था. सुलोचना से दो वर्ष छोटा. वह और उसके हम-उम्र चार-पांच तरुण मनोरंजन के पक्ष में थे. उनकी राय में बाल-दिवस के अवसर पर माइक न बुलवाना विद्यालयवालों की दकियानूसी का सबूत था.

विद्यालय गांव से एक किलोमीटर दूर पड़ता था. कपिल ने सौ एकड़ भूमि देकर विद्यालय की आर्थिक स्थिति, आज से पंद्रह वर्ष पहले ही,

पक्की कर दी थी. अनाज, साग-सब्जी, फल-फ्रूट, दूध-दही आदि के मामलों में विद्यालय किसी बाहरी सहायता पर निर्भर नहीं था. सिंचाई का उसका अपना इंतजाम था. दो विशाल कुएं थे जिनसे पंपिंग सेट के सहारे खेती-बागवानी और आवासिक इस्तेमाल के लिए काफी पानी निकलता रहता था.

पांच अध्यापक थे और अध्यापिकाएं. वे सपरिवार वहीं अंदर रहते थे. एक-एक को अलग-अलग क्वार्टर मिला था. टीम-टाम के लिहाज से यह क्वार्टर आकर्षक और शहरी फ्लैट जैसे नहीं थे, फिर भी आराम के लिहाज से इन क्वार्टरों में पर्याप्त सुविधा थी. दो-दो कोठरियां, लंबा बरामदा, आंगन. साग-सब्जी उगाने के लिए छोटी-सी क्यारी, रसोई और नहानघर आदि तो थे ही. आजकल रेल-श्रमिकों के लिए बनने वाले माचिस-सरीखे खिलौनानुमा धुच्ची क्वार्टरों की तुलना में निवेदिता विद्यालय के छोटे क्वार्टर भी कहीं अधिक आरामदेह थे. इनमें ऊपर छतें नहीं थीं, टाइल बिछे हुए थे.

छात्रावास में रहने की व्यवस्था एडमिशन से जुड़ी हुई थी. उतने ही छात्रों और छात्राओं को प्रवेश मिलता था जितनों की पढ़ाई-लिखाई, खेल-कूद और रहन-सहन की व्यवस्था सही तौर पर की जा सके. छात्रों की संख्या कभी एक सौ साठ से आगे नहीं बढ़ी. यों कहिए कि विद्यालय के व्यवस्थापक यहां अंधाधुंध एडमिशन के पक्ष में कभी नहीं रहे. अपने इस आग्रह के लिए इन अधिकारियों को भारी दबाव झेलना पड़ता था—यह दबाव प्रशासन की तरफ से उतना नहीं था जितना कि समाज के उच्च वर्ग की तरफ से. प्रवेश का शुल्क मासिक सौ रुपये. सत्र के आरंभ में एक मुश्त जमा करने पर दो सौ रुपये कम लगते थे. निम्न वर्ग के उन तेजतर्रार छात्रों-छात्राओं के लिए विद्यालय की ओर से अलग व्यवस्था थी. इन छात्रों को प्रवेश से पहले प्रतियोगिता में बैठना पड़ता था. निम्नवर्ग ही नहीं, खानदान के लिहाज से उच्च वर्ग के भी साधनहीन छात्र इस प्रतियोगिता में शामिल कर लिये जाते थे. प्रतियोगिता में सफल होने पर उनके नाम पर वार्षिक तौर पर हजार-हजार रुपये जमा कर देने के लिए निवेदिता विद्यालय का अपना अलग फंड था. संस्था की आर्थिक बुनियाद सुदृढ़ थी, इसी से वैसा फंड विद्यालय के लिए कभी भार नहीं साबित हुआ.

कपिल और माया का अपने जिले में बड़े व्यापक पैमाने पर जनसंपर्क था. सरकारी एवं गैर सरकारी उद्योग-धंधों से जुड़ी हुई कई संस्थाएं इस विद्यालय के प्रति हमदर्दी का बर्ताव रखती थीं. विद्यालय की खेती-बाड़ी से पैदा होनेवाले अतिरिक्त अन्न, साग-सब्जी, फल-फ्रूट, मछली, अंडा, शहद आदि की खपत का प्रबंध आसानी से होता था. खादी एवं ग्रामोद्योग भंडार वाले विद्यालय की उपयोग की वस्तुएं जुटाने में भाई-चारे का परिचय देते थे.

राजनीतिक उथल-पुथल से विद्यालय को हमेशा अलग रखा गया, यह एक खास बात थी. माया एवं कपिल को कई बार विधायक बनाने की कोशिश की गयी लेकिन दोनों ने इस दृष्टि से अदभुत संयम का परिचय दिया.

गांव के अंदर दर्जा चार तक की एक अलग पाठशाला थी. उसका संचालन जिला-परिषद की तरफ से होता था. बालिकाओं के लिए एक और प्राइमरी स्कूल था. यह कन्याशाला उच्च एवं मध्यवर्ग की सुविधा के अनुसार जैसे-तैसे चलायी जाती थी. इन दोनों शालाओं के अतिरिक्त एक संस्कृत हाई स्कूल भी था—उच्च संस्कृत माध्यमिक विद्यालय. यह विद्यालय इधर के ग्रामांचलों के संस्कृत पंडितों की आपसी कूटनीति बनाम फूटनीति का अच्छा अखाड़ा था. पिछले वर्षों में आठ-दस हरिजन बालकों के साथ ही सवर्ण परिवारों की बहुओं-बेटियों को भी उत्तर मध्यमा के प्रमाण पत्र मिल गये थे.

नयी पीढ़ी के सुलोचना और विवेक जैसे प्रतिनिधियों का गांव के साधारण तरुण वर्ग से नाम मात्र का भी संपर्क नहीं था. वे तो छुट्टियों में दो-चार रोज के लिए घर आ जाते थे. हां, इतना जरूर था कि उनकी हमदर्दी छोटी हैसियत वाले परिवारों के प्रति थी. वे कभी-कभी इसीलिए निवेदिता विद्यालय की नुक्ता-चीनी भी कर बैठते थे. अपने माता-पिता का लिहाज था, अतः विद्यालय की आलोचना खुलकर नहीं कर पाते थे

हरिजनों की बस्ती जरा हटकर थी. छोटे-छोटे घर थे. जरा-जरा से आंगन. गंदे, घूरे-भरे गलियारे. छोटी उम्र के नंग-धड़ंग बच्चे यहां-वहां खेलते हुए. इस बस्ती की अगली छोर पर, नाले के उस पार पीपल का छोटा पेड़ नजर आ रहा था. वहां दो छोटे घर अपनी पुती हुई दीवारों के कारण ध्यान खींच रहे थे. आंगन में तुलसी का चबूतरा था, चबूतरे के निकट संत रैदास की जटाधारी प्रतिमा विराजमान थी. सीमेंटवाली वेदी पर सात अक्षर सुंदर लिखावट में जगमगा रहे थे—महर्षि रविदास.

आहट सुनकर घर के अंदर से एक दढ़ियल चेहरा प्रकट हुआ. दोनों की ओर देखकर उसने पूछा, "कहिए, किसे खोज रहे हैं?" कुछ देर तक उस अधेड़ जटाधारी ने उन्हें देखा फिर अंदर जाकर चटाई निकाल लाया. कहने लगा, "अजी, दस मिनट के लिए बैठ भी तो जाइए. आप जैसे लोग यहां क्या हमेशा पधारते हैं..."

दोनों सचमुच ही बाबा से ही मिलने के लिए हरिजनों की बस्ती तक पहुंचे थे. नाटे कद का, सांवली सूरतवाला यह अधेड़ साधु पिछले दो-तीन वर्षों में काफी चर्चित हो चुका था. हरिजनानंद को अपने इस नामकरण के बारे में बहुत बाद में पता चला, जैसा कि उन्होंने बतलाया. दोनों ने साधुजी से जानना चाहा कि वह हरिजनों में किस नेता को अपना आदर्श मानते हैं?

"बाबा साहेब अंबेडकर को ही मैं दलितों का महान् पथप्रदर्शक मानता हूं."

बात की अगली कड़ी को जोड़ते हुए हरिजनानंद बोले, "बाबूजी, आप हमें इस नाम से मत पुकारिये! कोई नाम जरूरी ही लगे तो मुझे पुराने नाम से पुकारियेगा. आज भी पास-पड़ोस के लोग मुझे

आज भी पास-पड़ोस के लोग गरीबदास कहकर बुलाते हैं. हमें अपना यही नाम प्यारा लगता है. हां, अगर आप लोगों को हमारे इस नाम पर एतराज हो तो जो जी में आये यही कहकर पुकारिये....

गरीबदास कहकर बलाते हैं. हमें अपना यही नाम प्यारा लगता है. हां, अगर आप लोगों को हमारे इस नाम पर एतराज हो तो जो जी में आये वही कहकर पुकारिये... दरअसल, बात यह है कि मुझे हरिजन शब्द पसंद नहीं है. अछूत जातियों के लिए दलित शब्द ही वाजिब है.."

आगंतुकों ने देखा, गरीबदास खूब धड़ल्ले से अपने दिल के भाव काम चलाऊ भाषा में जाहिर कर लेते हैं. जरूर ही गरीबदास को देर-देर तक भाषण करने का अभ्यास है..

एक ने जाने क्या सोचकर दूसरे से पूछा, "दामोदर, तुम्हें प्यास तो नहीं लगी है?"

दामोदर को अंदर ही अंदर हंसी भी आयी और अच्छा भी लगा. गरीबदास ने कहा, "लाऊं जल-वल?"

दोनों ने फौरन पानी लाने की बात कही. साथ ही यह भी कहा, "बाबा जी महाराज, आप क्यों तकलीफ उठाते हैं!"

इस पर गरीबदास ने कहा, "आप यहां का जल न लेना चाहें, यह दूसरी बात है. मगर, हमारे यहां का जल बड़ा मीठा लगेगा आपको. यह कुआं छोटा जरूर है लेकिन इसका पानी जो एक बार पी लेगा, वह जिंदगी भर इस पानी का स्वाद नहीं भूलेगा."

उन्हें पानी के साथ गुड़ की एक-एक डली भी मिली. पानी सचमुच मीठा था.

पहले का नाम जनार्दन था, वह बोला, "अभी आपको कहीं जाना हो तो हो आयें. हम थोड़ी देर बाद फिर आजायेंगे."

"अच्छी बात है बाबूजी, तो फिर दो-अढ़ाई घंटे बाद हम यहां मिलेंगे.... रात कहां गुजरी आपकी? विद्यालय में बाल-दिवस देखने आये हो? रात का विश्राम उधर ही रहा होगा?"

"नहीं." जनार्दन ने कहा, "रात हम गांव के अंदर अपने एक मित्र के यहां रहे. कई वर्षों के बाद इधर आना हुआ. हमारे रिश्तेदारों और मित्रों में से कई लोगों के परिवार यहां रहते हैं. उनमें से दो ही तीन जने अब यहां रह गये हैं, बाकी सभी के परिवार दूर-दूर के शहरों में स्थायी रूप से बस गये हैं."

इतने में सोलह-सत्रह वर्ष का एक तरुण साधुजी के निकट आया. उसके हाथ में हिंदी का कोई अखबार था. उसने झुककर बाबाजी को प्रणाम किया और उन दोनों को नमस्ते कही. अखबार बाबाजी के सामने रखकर कुटिया के अंदर चला गया. बाबाजी ने कहा, "कपिल बाबू की कोशिश से इसके बाप को पांच हजार का लोन मिला था. पिछले वर्ष की बात है. चमड़ा सिझाने का धंधा चालू किया है. मंगलराम नया नाम है, पहले मंगल दास कहते थे. जबसे इलैक्शन की बात शुरू हुई, तभी से रैदास बिरादरी के लोग अपने नाम के साथ राम जोड़ने लगे हैं. मंगल दास लेकिन ईमानदार और मेहनती आदमी है. लोन की रकम एक-एक पाई चुकता कर देगा. कपिल बाबू भी मंगलदास के इस धंधे में काफी दिलचस्पी ले रहे हैं. उनकी मेहरबानी से इस गांव में और भी चार-पांच गरीबों को लोन मिला है. एक बढ़ई है, एक जुलाहा, एक कुम्हार, एक हलवाई... चार-पांच और लोगों को लोन मिलने वाला है... बाबूजी दरअसल, यह बस्ती जितनी बड़ी है और जितनी अधिक तादाद में यहां के गरीबों को इस तरह का लोन मिलना चाहिए, उतना तो अभी कोई भी सरकार नहीं कर सकती. यह तो कपिल बाबू का जादू है कि इन गरीबों को आसानी से कर्जा मिल गया... अच्छा बाबूजी, दो घंटा बाद हम फिर से कहीं न कहीं आप लोगों से मिल ही लेंगे..." गरीबदास जी भभाकर हंसे. हंसते-हंसते अखबार के पन्ने अपनी नजरों के आगे फैला लिये. मुंह से एकाएक निकला, "लड़ गयी साली! जाने कितनों के प्राण चले गये होंगे!"

दोनों ने समझ लिया, रेल-दुर्घटना की खबर होगी...

साथी जनार्दन बाबाजी की तरफ देखकर बोले, 'हम गांव के अंदर या विद्यालय में ही मिलते तो कैसा रहे!... आप भी जाने कब वापस लौटें अपनी कुटिया में..."

"जी हां, वही ठीक रहेगा." साधूजी ने कहा और हाथ जोड़ लिये.

अपने बच्चों को बाराखड़ी का अभ्यास करवाने के लिए हरिजनों ने अपनी उस छोटी बस्ती के अंदर ही एक 'शाला' खोली थी. इस शाला की निगरानी का भार भगत लछमन दास ने अपने ऊपर खुशी-खुशी ले लिया था. उसे बस्ती के बच्चे 'नाना' जी कहा करते. उम्र सत्तर से दो-एक साल ज्यादा ही रही होगी. अब से चालीस वर्ष पहले यही लछमन दास की भतीजी दुलहिन बनकर आयी थी. ताई न रही तो मुनियां ने ताऊ को अपने पास बुला लिया. लछमन दास को यहां रहते पंद्रह साल हो गये. दामाद की भरी-पूरी गिरस्ती थी, काम चलाऊ खेती-बाड़ी थी. शहर में टेनरी के कारखाने में अच्छी मजदूरी मिल रही थी. लछमन दास का अपना कहने को उधर कोई नहीं था. इधर यही लोग थे. इनसे भगत को पूरा अपनापन मिल रहा था. इज्जत भी थी, आराम भी था. नाती और नतिनियों, सब पर लछमन दास का हुकुम चलता था. मोची का अपना पुराना धंधा भगत को बड़ा ही प्यारा था. औजार झोले में टंगे थे, कभी-कभी यों ही भगत अपने उन औजारों को झोले से निकालकर सामने चटाई पर फैला लेते. झाड़-पोंछकर थोड़ी देर बाद औजारों को फिर से झोले में रख लेते. लछमन दास निरक्षर मोची नहीं थे, कबीर की साखियां धीरे-धीरे पढ़ लेते थे. दैनिक समाचार पत्र के शीर्षकों को बांचकर सुन-सुना लेने में अच्छा लगता था.

मुनियां ने अपने बैठकखाने का बरामदा शाला के लिए दे दिया था. दीवार पर रपटियों के सहारे वर्णमाला के दो चार्ट टंगे हुए थे. एक हिंदीवाला, दूसरा अंग्रेजीवाला. बच्चों की संख्या पंद्रह तक पहुंचती थी. कभी तेरह, कभी दस, कभी बारह और कभी सात. औसत संख्या दस की थी. शिक्षक के तौर पर दर्जा आठ तक पढ़ी हुई एक बाल विधवा मिल

उन्हें यह जानकर भारी अचंभा हुआ कि उस पाठशाला में रविवार को छुट्टी नहीं रहती है. पूछने पर मालूम हुआ कि खेती और बागवानी या पर्व-त्यौहार के मुताबिक छुट्टियां होती हैं.

गयी थी—फुलसरी.

गरीबदास इस शाला के लिए हर महीना तीस रुपये का इंतजाम करते थे. बीस रुपये शिक्षिका को मिलते थे, दस रुपये और कामों के लिए रखे रहते थे.

छोटी उम्र के बच्चों-बच्चियों के लिए यों तो हर बस्ती में जगह-जगह पर सुभीते का प्रबंध रहना चाहिए. दस परिवारों के छोटे शिशुओं के लिए 'नर्सरी टाइप' के बाल-निकेतन तो बड़े नगरों की कालोनियों तक में नहीं खुल सके हैं अभी, सुदूर प्रदेशों के इन देहातों की तो क्या बात है. लेकिन यहां तो बाबा गरीबदास ने मजूदरी करते हुए ही इस शाला का इंतजाम किया था.

क्या मजबूरी थी? मजबूरी यह थी कि गांव के प्राइमरी स्कूल में हरिजन बच्चों के प्रति सवर्ण परिवारों के बच्चों का सलूक तिरस्कारपूर्ण तो था ही, आतंक जनक भी था. पिटाई के डर से हरिजन बच्चे अक्सर वहां से भाग जाते थे. बार-बार की शिकायतों के बाद भी जब स्थिति में सुधार नहीं हुआ तो गरीबदास ने इधर के बच्चों की पढ़ाई के लिए अलग इंतजाम किया. चार्टों से ऊपर एक फोटो दीवार में चिपका दिया गया था.

उन्हें यह जानकर भारी अचंभा हुआ कि उस पाठशाला में रविवार को छुट्टी नहीं रहती है. पूछने पर मालूम हुआ कि खेती और बागबानी या पर्व-त्यौहार के मुताबिक छुट्टियां होती हैं. वर्षा होने पर खेती के दिनों में लगातार तीन-तीन, चार-चार दिनों तक पढ़ाई बंद रहती है. खेतों से पकी फसलें उगाहने के सीजन में भी ऐसा ही होता है.

शाला को अभी दो ही वर्ष हुए थे. 15 अगस्त दो बार मनाये गये. छब्बीस जनवरी एक बार. गांधीजी और अंबेडकर साहेब का जन्मदिन एक-एक बार. जनार्दनजी ने पूछा, "आप अपने बच्चों से कैसे मनवाते हैं यह सब?" जवाब मिला, "बच्चों को पंद्रह अगस्त, छब्बीस जनवरी, महात्माजी, बाबा साहेब वगैरह के बारे में मोटे तौर पर समझा देते हैं... और एक खास काम यह रहता है कि इन त्योहारों में हम अपने बच्चों को भरपेट जलेबी-पूड़ी खिलाते हैं, ऐसा नहीं कि एक-एक जलेबी थमाकर उन्हें विदा कर दें. यों कहिए, इन त्योहारों में हम छोटी उम्र के सभी बच्चों-बच्चियों को जलेबी-पूड़ी का भोज देते हैं. खर्च का बोझा बाबा गरीबदास उठाते हैं."

रात के दो बजे होंगे. घंटे की जोर-जोर की आवाज लगभग मिनट भर तक गूंजती रही.

रात का सन्नाटा टूक-टूक होकर छितरा गया. यह खतरे की आवाज थी. सायरन के भोंपू की तरह. छात्रावास से निकल-निकलकर पचासों लड़के गांव की तरफ भागे

एक लड़के ने दूसरे के कान में फुसफुसाकर कहा, "डाकुओं का जत्था गांव के अंदर घुस गया है. किसी ने डोरी खींचकर घंटा बजा दिया है. अभी हमें टार्च नहीं जलाना चाहिए, नहीं तो वापस भागते हुए डाकू हम पर अंधेरे में भी अधा-धुंध गोलियां बरसाना शुरू कर देंगे."

लड़कों के साथ दो-तीन युवा अध्यापक और दो-तीन कर्मचारी भी थे. थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर तालाब के मुहाने पर उनकी राय हुई कि तीन-तीन चार-चार के गिरोह में सभी लोग गांव के चारों ओर मुख्य मार्गों पर मुस्तैद हो जायें... यह भी तय हुआ कि टार्च नहीं जलायी जायेगी. लगभग आधा घंटा बाद गांव की दक्षिण दिशा में सूखे नाले के अंदर, रेती पर छोटी टार्च भुक-भुक कर तीन-चार बार जली तो विद्यालय के तीन लड़कोंवाला यह गिरोह खेत-खेत से होकर उस ओर दौड़ा. डाकू सूटकेस खोलकर गहनों के डब्बे फैलाये हुए थे—सोने की चूड़ियां, नगवाली अंगूठियां, और ईयर-रिंग वगैरह उस रोशनी में बार-बार चमक रहे थे. मुच्छड़ चेहरेवाला एक डाकू जल्दी-जल्दी में गहनों को थैले में ठूंस रहा था. दो नौजवान उस मुच्छड़ पर टूट पड़े...

गहनों से भरा थैला एक हाथ में थामकर दूसरे हाथ से उसने अपने को छुड़ाने की कोशिश की. इतने में उसके माथे पर डंडे का भरपूर प्रहार पड़ा. वह लुढ़क गया. दूसरा डाकू भाग खड़ा हुआ.

यह साफ था कि डाकू भी अलग-अलग गिरोहों में भागे हैं. नगद रकम लेकर भागनेवाला गिरोह शायद किसी और दिशा में निकल गया था.

विद्यालय के इस गिरोह में से एक तरुण अध्यापक को दौड़ते वक्त जरा-सी ठेस लगी थी. दो छात्रों ने गहनों का वह थैला एक मेड़ के पास मिट्टी के ढेलों के अंदर दबा दिया. जरा दूर से आवाज आयी, "पकड़ो, पकड़ो! भागने न पायें..."

विद्यालय के छात्र गांव से एक फर्लांग दूर उस अंधेरी रात में यहां-वहां छितरा गये थे. लगता था, डाकू भी भागते समय कई दिशाओं से आगे बढ़े थे. अभी यह भी नहीं पता चल पा रहा था कि गांववालों ने भी दो-चार डाकुओं को पकड़ा या नहीं.

तालाब निकट आने पर कपिल की आवाज सुनाई पड़ी, "डाकू भाग गये हैं, दो को पकड़ लिया गया है..."

इधर एक विद्यार्थी ने कहा, "एक डाकू वहां नाले में बेहोश पड़ा है."

टार्च जलाकर कपिल आगे बढ़ आये, "ललित, तुम्हारे साथ और कौन-कौन आया है? मुठभेड़ में तुममें से किसी को चोट तो नहीं लगी!"

"यह तो बाद में पता चलेगा... अभी उस घायल डाकू को बांध-बूंधकर हम गांव के अंदर ले चलेंगे."

"तुम और सुरेश पहरा दो, हम रस्सी भिजवाते हैं.. देखना, उठकर भाग न जाये.. इनके पास बंदूक-रिवाल्वर दो-चार ही थे, एक बंदूक और एक पिस्तौल हमने छीन लिया है."

थोड़ी देर में रस्सी और लालटेन लिये हुए दो आदमी गांव से आये. बेहोश डाकू के हाथ-पैर कमर बांध दिये गये. इसके गिरोहवाले इसे लाद-लूदकर वापस न ले जायें, बैलगाड़ी पर इसको लादकर गांव के अंदर ले चलना तय हुआ. उस काम में घंटा भर

लघुकथा

भरत मिलाप

□ नर्मदा प्रसाद दीक्षित

मेरे एक मित्र रास्ते में मिले. उनकी आंखों से अविरल प्रवाह हो रहा था. रूमाल से आंखें पोंछते हुए वे रास्ते से चले आ रहे थे. मैंने पूछा, "क्या भईया क्यों रो रहे हो?"

वे रुंधे गले से बोले, "अभी भरत-मिलाप पर महाराज का प्रवचन सुनकर चला आ रहा हूं, क्या चित्र खींचा भरत-राम मिलन का भ्रातृ स्नेह जैसे साकार हो गया वाह!" इतना कहते-कहते उनकी आंखों से फिर आंसू छलक पड़े.

कुछ पल मैंने उनके शांत होने की प्रतीक्षा की, फिर कहा, "अच्छा तो अब घर ही जा रहे ना! मैं तुम्हीं से मिलने आ रहा था."

वे बोले, "नहीं यार. 11.30 बज रहे हैं. कचहरी जाना है. बड़े भईया ने मकान दाब लिया है. आज पेशी है उसके दावे की." □

लगा. तब तक विद्यार्थियों सहित दस-बारह गांववाले तालाब के इर्द-गिर्द निगरानी करते रहे.

लट्ठ की चोट सिर पर भरपूर पड़ी थी. एक बुजुर्ग को शक था कि बेहोशी का कहीं अभिनय तो नहीं चल रहा है. दूसरे बुजुर्ग ने लालटेन की बत्ती तेज करके उस डाकू का चेहरा देखा और बोले, "कोई बात नहीं, थाने की हवालात में इसका इलाज होगा."

भगदड़ में और दो डाकू पकड़े गये थे. उन्हें बाहरवाली कोठरी में डाल दिया गया था. थाना छह किलोमीटर दूर था. खबर जा चुकी थी. माया की नौकरानी ने लोगों को पानी पिलाया.

अगहन आधा गुजर चुका था, ठंड थी. फिर भी डाकुओं के हमले के कारण और जवाबी हमले के चलते वातावरण में काफी गर्मी आ गयी थी. लोग मौसम को भूल गये थे. फिलहाल यह अंदेशा तो नहीं था कि डाकुओं का गिरोह फिर से धावा मारेगा, लेकिन लोगों की नींद बिलकुल उड़ गयी थी. बच्चों और बूढ़ी महिलाओं को छोड़कर लगता था, समूचा गांव कपिल के दालान के इर्द-गिर्दवाली खुली जगहों में आ जुटा था. कोई भी वहां से हटने का नाम नहीं ले रहा था.

लोगों की छिट-पुट बातों से उनका यही विश्वास झलकता था कि दारोगाजी सूरज निकलने से पहले ही आ धमकेंगे. मुखियाजी, ठाकुर रामशंकर सिंह ने जीप से अपने छोटे भाई को थाने भेज दिया था. दारोगाजी या तो उसी से आ सकते थे या फिर सरकारी जीप से. सयाने लोगों की चर्चा का विषय यही था कि पहचाने जाने पर डाकुओं के उन गिराहों का पता चल जायेगा जिन्होंने पिछले तीन-चार महीनों से दो-तीन जिलों में आतंक मचा रखा है.

खतरे का घंटा पहली बार ही गनगनाया था. ग्राम पंचायत ने तीन वर्ष पहले इस घंटे को ठाकुर सदानंद सिंह के चौबारे की छत पर टंगवाया था. खास आर्डर देकर मुरादाबाद से कांसे का यह घंटा मंगवाया गया था. वजन पंद्रह किलो था. पौने सात सौ रुपये लगे थे.

बूढ़ा चरवाहा निरगुन मंडल पिछले कई वर्षों से 'रिटायर्ड' था, ठाकुर के यहां बुढ़ौती के अपने दिन गुजार रहा था. उमर अस्सी से कम नहीं थी.

निरगुन मंडल सत्तर बरस से उस परिवार में चरवाहे का काम करता आया था. उसे रात में बहुत कम नींद आती थी. पिछवाड़े की तरफ आहट सुनकर वह धीरे-धीरे सीढ़ियां चढ़ता हुआ चुपचाप छत पर पहुंचा. झांकने पर पांच-छह चेहरे नजर आये. बूढ़े की आत्मा ने कहा, चोर नहीं, डाकू हैं... कुछ पीछे हैं और कुछ आगे होंगे... निरगुन को घंटे की रस्सी का पता था. रस्सी से लगभग लटक-सा गया. हल्के बदन का ठिगना बूढ़ा देर तक घंटे की रस्सी खींचता रहा. आवाज होती रही.

पकी ईंटों की खानदानी हवेली थी. सदर दरवाजे पर, बैठक-बरामदे में तख्तपोश खाली पड़ा था. दोनों भाई अंदर सो रहे थे. बाहर कुत्ता भौंका तो जरा ही देर भौंकता रहा. फिर हल्की गुर्राहट के साथ आवाज डूब गयी थी... बाद को मालूम हुआ कि एक डाकू ने झपटकर कुत्ते को तौलिये में लपेट लिया था, फिर उसका गला घोंट दिया था...

डाकू आलमारी नहीं खोल सके थे. पलंग के नीचे से दो सूटकेस ही ले पाये थे. छोटी बहू अगले दिन बैंगलौर जाने वाली थी. सूटकेसों में अपना कुछ सामान जमाकर रख लिया था.

इससे ज्यादा कुछ हाथ नहीं लगा डाकुओं को

तीनों डाकुओं के चेहरे रंगीन तौलियों से ढंक दिये गये. पुलिस के चार जवान उन तीनों को अपनी गाड़ी में लाद चुके तो हैड कांस्टेबुल ने पुलिस गाड़ी में पीछे से ताला लगा दिया. दो सिपाहियों के साथ वह खुद ड्राइवर के साथ आगे बैठा. दारोगाजी, छोटे दारोगा के साथ जीप में आगे निकल गये थे.

पिछले दो-तीन वर्षों में बड़ी जातियों और छोटी जातियों के आपसी झमेले बेहद बढ़ गये थे. यह कड़वाहट छोटे-छोटे गांवों तक पहुंच चुकी थी. लगता था, अगले वर्षों में इधर वाले तीनों जनपद चंबल घाटी बनने जा रहे हैं. पुलिस विभाग में नियुक्तियों, तबादलों, प्रमोशनों का आधार भी खास-खास जातियों के हितों को सामने रखकर ही बनाया जाने लगा था. योग्यता की उपेक्षा पहले से ज्यादा होने लगी. राजनीतिक दलपतियों के हस्तक्षेप अक्सर सुने जाने लगे. अस्थाई मंत्रिमंडल कोढ़ में खाज साबित हो रहे थे.

ऐसी हालत में ठाकुर रिपुदमन सिंह को यह बदनाम थाना दुरुस्त रखने के लिए मिला था. कोई साफ-साफ बतला नहीं रहा था कि नये दारोगाजी यहां तीन वर्ष पूरे रहेंगे. इनसे पहले जाहिद अली खां साहब सात साल रहकर गये हैं. जाते-जाते खां साहब को बड़ी हुज्जत का सामना करना पड़ा. गनीमत यही थी कि छोटा लड़का, बख्तावर संपूर्ण क्रांतिवाले पिछले आंदोलन में मिसाबंदी की पूरी मियाद सेंट्रल जेल में गुजार आया था. यह तय था कि बख्तावर विधान सभा का मेंबर होगा. आगे चलकर हुआ भी यही... नतीजा अच्छा ही रहा. खां साहेब सूली पर नहीं लटकाये गये, तबादला भर होकर रह गया. यों खां साहब पर पब्लिक के गुस्से का टेंपर बहुत हाई था... इमर्जेंसीवाले दिनों में जिस हिसाब से खां साहब का हौसला बुलंदी पर उठा, उसी मात्रा में आमदनी भी आपकी खूब बढ़ी... इस बात पर साथी लोग बख्तावर की मीठी चुटकियां लेते हैं तो वह कहता है, 'मौके की बात है, आपके अब्बाजान क्या बैशनों होटल खोलते!"

ठाकुर रिपुदमन सिंह को यह थाना भारी पड़ रहा था. अंचल के गांवों में राजपूतों की अच्छी आबादी थी. वे चाहते थे कि बीस वर्षों के बाद आया हुआ ठाकुर दारोगा यहां कम से कम पांच साल तो जरूर टिके. लेकिन अपनी बिरादरी के दारोगा को निश्चित अवधि तक थाने में टिकाये रखना सिर्फ ठाकुरों पर ही निर्भर नहीं था. और जातियों के प्रमुख लोग इसमें ठाकुरों का साथ दें, तभी ठाकुर रिपुदमन सिंह

लघुकथा

चोरी

□ रामस्वरूप दीक्षित

वह एक माह से गर्मियों की छुट्टियां बिताने अपने गांव गया हुआ था. लौटकर आया तो बाहर का ताला टूटा हुआ था. पड़ोसियों से पूछताछ की तो सबने यही कहा, "किसी का ताला टूटते देखकर ताला तोड़नेवाले को रोकने जैसे वाहियात काम के लिए भला किसे फुर्सत है?"

अंदर गया तो देखकर उसका सर चकरा गया. घर का सारा सामान बिखरा पड़ा था. उसकी एक मूल्यवान अंगूठी और एक घड़ी के साथ ही कुछ नकदी, बर्तन और कपड़े गायब थे.

चोरी की रिपोर्ट करने वह कोतवाली चल दिया. कोतवाली के आंगन में कोतवाल साहब अपने एक सिपाही के साथ बैठे गपशप कर रहे थे. वह जैसे ही अंदर पहुंचा उसकी आंखें फिर गयी. उसकी अंगूठी कोतवाल के और घड़ी सिपाही के हाथ की शोभा बढ़ा रही थी.

वह बिना रिपोर्ट लिखाये तेज कदमों से बाहर आ गया. □

चार-पांच वर्ष चल सकते हैं.

हरिजनों को अपना अलग दारोगा चाहिए था, मुसलमानों को अलग, महिलाओं से पूछा जाता तो जरूर ही वह भी किसी महिला को ही दारोगा के रूप में यहां पसंद करतीं. थाने में बारह जवान थे. उन पर एक दारोगा, एक छोटा दारोगा और हैड कांस्टेबल. मालखाने में नये माडल की आठ बंदूकें थीं, दस पुराने माडल की. रिवाल्वर थे. बेतार का सिलसिला जिला हैडक्वार्टर से अभी-अभी छह महीना पहले जुड़ा था. एक जीप थी, दो मोटर साइकिलें. मोटे मजबूत किस्म के बीस-पच्चीस लट्ठ भी थे ही. पिछले वर्ष नया-नया पुलिस वैन मिला था. इमर्जेंसी वाले पीरियड में जो वैन था उसे पड़ोसी थाने के कॉलेजोंवाले छात्रों ने फूंक डाला था.

हाजत में बंद डाकुओं का गुस्सा उनकी चीखों से जाहिर हो रहा था. दिन ढल रहा था फिर भी वे भूखे-प्यासे थे. उनमें से एक तो रह-रहकर कराह उठता था.

थाने का मेहतर हाजत की सलाखों के सामने आकर खड़ा हुआ तो घुटी चांदवाले अधेड़ डाकू ने उससे कहा, ''क्या यमराज के नाती पीने को पानी भी नहीं देंगे?''

मेहतर बोला, ''अभी तो आपका खाता खुलेगा. फिर छोटे दारोगा साहेब आपसे पूछ-ताछ करेंगे. तब जाकर डाक्टर बाबू का नंबर आयेगा. वह आपको जब अच्छी तरह देख लेंगे, तभी दाना-पानी मिलेगा...''

दूसरे डाकू ने नफरत में थूका, ''साले, लैक्चर पिलाता है! हमको यहां का रुटीन बतला रहा है! हरामजादे!''

मेहतर बूढ़ा था. गाली सुनकर ताव खा गया. अपना झाड़ूवाला हाथ डाकुओं की ओर बढ़ाकर बोला, ''बस, अभी कुछ देर में तुम्हारा भूत उतरने ही वाला है...''

पिछले दो-तीन वर्षों में बड़ी जातियों और छोटी जातियों के आपसी झमेले बेहद बढ़ गये थे. यह कड़वाहट छोटे-छोटे गांव तक पहुंच चुकी थी. लगता था, अगले वर्षों में इधरवाले तीनों जनपद चंबल घाटी बनने जा रहे हैं.

दो रोज बाद कपिल बाबू दारोगा से मिलकर इतना भर मालूम कर सके कि लगता है, डाकुओं ने गलत-सलत बातें बतलायीं.... पते की बात वही थी जिसके बारे में पुलिसवालों को पहले से ही मालूम था.

सदानंद, रामशंकर सिंह और कपिल ने आपस में विचार-विमर्श करके तय किया कि नये दारोगा पर इस डाका कांड के बारे में जल्दबाजी के लिए किसी तरह का दबाव नहीं डालेंगे. चूंकि गहनों का डब्बा डाकुओं से छीनकर छोटी बहू के हवाले कर दिया गया था, कोई और नुकसान नहीं हुआ था. हां, स्वामिभक्त कुत्ता कुर्बान हो गया था. इस बात का सभी को भारी अफसोस था. दो सप्ताह बाद दारोगाजी ने ठाकुर सदानंद सिंह के घर पर पहुंचकर निरगुन मंडल को 251 रुपये की नगद राशि का पुरस्कार दिया. उसी दिन शाम को बी.डी.ओ. (अंचल-अधिकारी) महोदय के हाथों और सुरेश को भी पुरस्कृत किया गया. इसी के लिए विद्यालय में छोटा-सा समारोह हुआ था. जल्दी-जल्दी में:
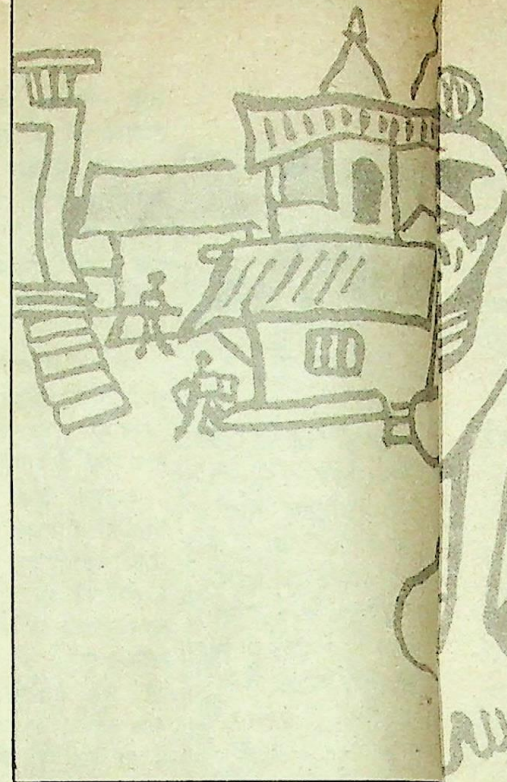
बालिकाओं ने मालाएं तैयार कीं. इन बालकों के गले में बी.डी.ओ. साहब ने स्वयं अपने हाथों से एक-एक माला डाल दी और नगद राशि के बंद लिफाफे थमा दिये.

ठीक मौके पर, समारोह की समाप्ति के क्षणों में, जाने किधर से बाबा, हरिजनानंद प्रकट हुए. गमछे की पोटली खोलकर उन्होंने गेंदे के पीले फूलों की मालाएं निकालीं. आगे बढ़कर दोनों बालकों के गले में एक-एक माला डाल दी. उपस्थित छात्रों-छात्राओं ने जोर से तालियां बजायीं. हरिजनानंद ने कहा, ''भाइयो, मैं बी.डी.ओ. साहब से अनुरोध करता हूं कि वे टाईप करवाकर वीरता का एक-एक प्रमाण-पत्र हमारे इन बहादुर छात्रों को अर्पित करें. अभी न सही, दस-पंद्रह रोज बाद ही सही, *यह काम* तो बी.डी.ओ. साहब को करना होगा...''

''जरूर, जरूर! बाबाजी का आदेश है तो यह काम होगा ही. हमारे दिमाग में भी यह बात आयी थी लेकिन वक्त की कमी के कारण यह काम आज नहीं हो सका... महीना भर के अंदर ही मैं यहां आऊंगा और इन वीर बालकों को प्रमाण पत्र मिलें हो सकता है, इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए मैं जिलाधीश महोदय को यहां ले आऊं...''

इस पर 'हरिजनानंद' बोले,''अब ऐसा न हो कि आप, हुजूर, किसी मिनिस्टर-फिनिस्टर को इस काम के लिए तकलीफ दें.''

बाबा गरीबदास के इस कथन के ऊपर लोग भभककर हंस पड़े. बी.डी.ओ. का चेहरा गंभीर हो गया. उसे मालूम था कि आज तक कभी कोई मंत्री इस विद्यालय के प्रांगण में नहीं बुलाया गया.

संयोगवश कपिल और माया में से कोई भी उस दिन यहां उपस्थित नहीं था. हां, प्रधान अध्यापक पाठकजी जरूर मुस्तैद थे.

अगले ही दिन ललित और सुरेश ने अपना-अपना लिफाफा विद्यालय के दफ्तर में जमा करवा दिया था. कैशियर ने लिफाफे खोलकर नोट गिन लिये. कुल मिलाकर 502 रुपये थे.

''यह तो तुम दोनों की अमानत रही. अब यह बताओ कि विद्यालय इस रकम को किस काम में लगाये, तुम क्या चाहोगे?''

ललित ने कहा, ''बैडमिंटन के लिए कोर्ट तैयार करवा दीजिए आप लोग... कुछ और लगे तो विद्यालय के मनोरंजन वाले फंड से लगा लीजिएगा...''

गांव के बाहर, जहां इस वफादार कुत्ते को निरगुन मंडल ने दफनाया था, वहां चबूतरा बनाकर बरगद का एक पौधा जमा दिया गया. मंडल को इसके लिए बाबा गरीबदास ने तैयार किया था.

निरगुन को मालिक का वह कुत्ता बेहद प्यारा था. लोग उसे सोनिया कहकर पुकारते थे. ठाकुर साहेब अलसेसियन के इस पिल्ले को रांची से ले आये थे. अभी चार वर्ष पूरे नहीं हुए थे. दिन को बंधा रहता था, रात को खुला. रोटी, दूध और कच्चे गोस्त के अलावा और कुछ नहीं खाता था. जीने के नीचे, पुरानी दरी तहाकर रख दी गयी थी. वही सोनिया का विश्राम स्थल था. एनामेल की गहरी-चौड़ी प्लेट में खाना खाता था, दूध पीता था, पानी पीता था.

निरगुन के पास, रात के समय वह बार-बार लेटा करता. दिन के वक्त बूढ़ा ही बीच-बीच में सोनिया की सुध लिया करता. दोनों में प्रगाढ़ अपनाया था.

हरिजनानंद ने सोनिया का एक नाम रख लिया था—'सेनापति'. किसी ने बाबा से पूछा, ''सेना तो है नहीं, फिर सेनापति कैसे हुआ?'' गरीबदास का सीधा-सा जवाब होता, ''सोनिया के अंदर सौ-डेढ़ सौ जवान हमेशा मौजूद रहते हैं. वे सारा दिन आराम करते हैं, रात के वक्त अपने सरदार की निगरानी में उनकी कूच-कवायद चलती है...'' बाबा की ऐसी बातें सुनकर निरगुन मंडल हंसते-हंसते लोटपोट हो जाता. कहता, ''गरीबदास जी, सोनिया के अंदर फिर तो परेड का मैदान भी होगा, तबेले भी होंगे! अच्छी-खासी छावनी आबाद होगी सोनिया के कलेजे में!'' ऐसी बातों पर सदानंद सिंह के नौकर-चाकर वर्ग का ही नहीं, परिवार के लोगों का भी मनोरंजन होता है. तभी लोग कभी-कभार फुसफुसाकर कहते, ''बिना अफीम के ही हरिजनानंद पर नशा छाया रहता है.''

चाहे कुछ हो, सोनिया की समाधि पर बरगद का पौधा लगाना किसी को नहीं अखरा. माया ने तो निरगुन से यहां तक कहा कि इस बरगद के साथ-साथ तुम्हारा भी नाम हमेशा के लिए जुड़ा रहेगा.

कपिल और सदानंद और गजाधर जैसे दो-तीन और भी धनी किसान थे. इन सबकी हमदर्दी निरगुन मंडल के प्रति थी. इन्होंने अपने बचपन से ही इस चरवाहे की सेवा और प्यार के पल चखे थे. निरगुन के प्रति कृतज्ञता से इनका रोम-रोम पुलकित हो उठता. सदानंद और गजाधर के रिश्तेदार उसे अपने-अपने साथ ले चलने को उतावले थे. दिखाऊ तौर पर सदानंद भले ही कह देते कि हां-हां, ले जाइए निरगुन को, हमारा काम कोई और देख लिया करेगा. मगर अंदर ही अंदर सदानंद निश्चिंत थे कि निरगुन इस परिवार को छोड़कर किसी भी कीमत पर कहीं और नहीं जायेगा...

निरगुन की निगाहों में लालच का कोई भी मतलब नहीं था, बूढ़े की संपूर्ण आस्था इसी परिवार के प्रति समर्पित थी. आज से सत्तर वर्ष पहले, दस-ग्यारह की उम्र में वह नानी की उंगली पकड़कर सदानंद की दादी के दरबार में आया था. उस जमाने में इनके यहां दो हाथी थे, चार घोड़े. घोड़ों की हिन-हिनाहट और हाथियों की चिंघाड़ पहली बार कानों में तभी पड़ी थी... अब कारों और जीपों की भड़भड़ाहट और हार्न की आवाजें कानों को नहीं सुहातीं. कपिल मालिक को इसलिए देवता मानता है कि दो वर्ष रखकर ट्रैक्टर को हटा दिया....कपिल मालिक की दलील निरगुन को बिल्कुल भा गयी कि खेती-बाड़ी के काम में, रहन-सहन के आराम में मशीनों का इस्तेमाल कम से कम करना चाहिए... माया दीदी की भी यही राय है कि मशीनों को अपने काबू में रखना चाहिए. ऐसा नहीं कि हम खुद ही मशीनों के गुलाम बन जायें... तभी तो संत विनोबा यहां आकर पूरे सात दिन, सात रात रहे. कपिल मालिक को संत का आशीर्वाद फला है. दिन दूनी, रात चागुनी बढ़ोतरी हुई है... मिनिस्टर और हाकिम लोग तरसते हैं कि कपिल मालिक उनको बुलौआ भेजे.

निरगुन मंडल अकेले में इसी तरह अपने आप से बातें करता रहता था. किसी की आहट पाते ही उसका स्वागत आलाप रुक जाता. माया की

थाने का दारोगा उन्हीं की बिरादरी का है, यह खुले आम उनकी तरफदारी करता चलेगा. एस.पी. कमजोर दिलवाला हरिजन है, उसके ऊपर नीचे ज्यादातर बड़े अधिकारी ऊंची जातियों के ही लोग जमे हुए हैं.

नौकरानी, बासमती ने यह अफवाह उड़ा दी थी कि बुढ़वा घंटों बड़बड़ाता रहता है... छोटकी ट्रांजिस्टर बिगड़ जाने पर जिस तरह गड़-गड़ गुड़-गुड़ करता रहता है, उसी तरह निरगुन मंडल की गड़बड़ाहट भी रात-दिन चालू रहती है. हमारी दीदी चाहें तो इस बूढ़ी मशीन की मरम्मत हो सकती है.

लेकिन सयाने लोगों के पास-पास बैठे रहने पर निरगुन अच्छा भला गंभीर नजर आता था. निवेदिता विद्यालयवाले पाठकजी निरगुन की बड़ी तारीफ करते थे. उनका कहना था कि यदि सदानंद बाबू इसे हमारे सुपुर्द कर दें तो हमारा भारी कल्याण हो. एक दिन पाठकजी ने अपनी मंडली में कहा, "जी नहीं, मैं तो निरगुन को कबीर का अवतार मानता हूं. लोग उपहास की मुद्रा में मंडल की चर्चा करते हैं तो मेरे चित्त को बड़ा ही क्लेश पहुंचता है...."

परंतु सदानंद और उनके परिवारवाले किसी भी स्थिति में निरगुन मंडल को अपनी परिधि से अलग देखना नहीं चाहते थे.

पिछले निर्वाचनों की तरह मौजूदा निर्वाचन भी ढेर सारी अफवाहों की बाढ़ में डूबता-उतराता, वायुमंडल में आगे-आगे नजर आ रहा था. पड़ोस के ठाकुर कमलनयन सिंह पिछली लोकसभा में चुने गये थे. भविष्य में अपनी ही बिरादरी का एक युवक उनके प्रतिद्वंद्वी के नाते जोरों में उजागर हो गया था. भाई के दरबार में दिल्ली तक वह इमर्जेंसी के दिनों में ही पहुंच गया था. वोट बटने का अंदेशा समझदार लोगों को बुरी तरह परेशान कर रहा था.

विद्यालय के अध्यापकों और बड़े छात्रों में भी फुस-फुस जोर पकड़ रही थी. दो अध्यापकों ने प्रकृति-चिकित्सा और धरेलू झंझटों का बहाना बनाकर छह-छह सप्ताह की छुट्टियों के लिए आवेदन पत्र दे दिये. दसवीं और ग्यारहवीं कक्षाओं के चार-पांच विद्यार्थी छात्रावास से चुपचाप खिसक गये थे. एक सप्ताह के अंदर उनके पत्र दफ्तर की टेबुल पर थे. किसी की बहन को कैंसर की शिकायत थी, वह उसके साथ बंबई जाने वाला था, किसी के पिता की डाकुओं ने पिटाई की थी, वह पिता की चिकित्सा में व्यस्त हो गया है... किसी का बहनोई बहन के तीनों बच्चे छीनकर ले गया है, वह अकेली बहन को छोड़कर कैसे आये!

इन आवेदन पत्रों को देखकर कपिल के माथे में दर्द हुआ, लेकिन माया देर तक हंसती रही.

"लो, अब संभालो अपने आदर्श विद्यालय को! कदम-कदम पर तुम यही घुट्टी हमें पिलाते आये कि संस्था को पालिटिक्स की धूल से हर हालत में बचाए रखना है... हमेशा तुम्हारे होंठों पर गुरुदेव रवींद्र, महायोगी रमण महर्षि, रोम्या रोलां और आइंसटीन जैसे बड़े-बड़े नाम उभरते रहते हैं. क्या तुम अपनी इस मानस पुत्री, इस शिक्षण संस्था को सचमुच ही राजनीति से बचाकर रख पाये हो? आज तुम हमें अच्छी तरह खुलासा करके समझाओ कि इन आवेदन पत्रों का क्या मतलब है? कागज की इन टुकड़ियों को गलाकर वह कौन-सा अचार तुम नयी पीढ़ी के लिए तैयार करने जा रहे हो..."

सुंदर-सुमुख-गौरवर्ण कपिल आहिस्ता से उठे और अधिष्ठाता वाले कुटीर के आगे, फूलों की क्यारियों के मध्य सुर्खी बिछी पगडंडी पर चहल-कदमी करने लगे.

माया ने बाहर झांककर कपिल की ओर देखा. मुस्कराकर बोली, "प्लीज, कपिल, मेरा यह मतलब नहीं था. मैं सदा से तुम्हारे सुख-दुख की साथिन रही हूं. तुम्हारी परेशानियों में पिछले पच्चीस वर्षों से मेरा साझा रहा है. भविष्य में आजीवन हमारी यह साझेदारी अटूट रहेगी—मैं काफी के लिए कहके आयी हूं. अभी हम काफी लेंगे फिर नदी किनारे बांध पर घंटा आधा घंटा घूमेंगे..."

जवाब में कपिल ने भी हल्की मुस्कराहट का पुट देकर माया की ओर देखा.

माया और कपिल सप्ताह में तीन दिन, शाम को विद्यालय में आते थे. मंगलवार, गुरुवार और शनिवार. इन तीन दिनों की संध्या के दो-दो घंटे विद्यालय के लिए निश्चित थे. दूसरे दिनों में अध्यापक, कर्मचारी, व्यवस्थापक, चाहे जब कभी कपिल तक पहुंच सकते थे. प्रधानाध्यापक (पाठकजी) तो अक्सर जिला केंद्र और प्रदेश की राजधानी तक यात्राओं में साथ देते थे.

प्रत्यक्ष राजनीति में विद्यालय के किसी भी व्यक्ति का शामिल होना यों तो वर्जित दीखता था, किंतु इस सिलसिले में कुछ तथ्य परस्पर विरोधी लगते थे.

जे.पी. वाले पिछले आंदोलन में यहां से आठ-दस छात्र और दो-तीन अध्यापक चुपचाप खिसक गये थे. उस उथल-पुथल में जमकर उन्होंने भाग लिया था. पांच छात्र और दो अध्यापक जेलों में रहे. उन्हीं में से तीन मीसा बंदी थे. दोनों अध्यापक आजकल विधान सभा के मेंबर हैं. विद्यालय के अधिकारी अब खुले आम उनकी प्रशंसा करते थे. कहा करते, "उन्होंने निवेदिता विद्यालय की कीर्ति पताका को चंद्रलोक में फहरा दिया है."

पास-पड़ोस के लोग 'धसान' कहते थे. यह नदी बागमती की शाखा थी. दो धाराओं में विभक्त होकर सात-साठ ग्रामों को घेरती हुई आगे जाकर मिल गयी थी. बरसात के मौसम में ही भरी-पूरी नजर आती थी. इस वर्ष वर्षा में थोड़ा-थोड़ा पानी तलैया की शक्ल में चमक रहा था. जहां-तहां खेतिहरों ने पानी उलीचने के लिए बांस खड़े कर रखे थे. दरभंगा से समस्तीपुर को जोड़ने वाली सड़क धसान के किनारे-किनारे आगे निकल गयी थी. तटवर्ती अंचलों को दो जगहों पर लांघती हुई. गांव से सड़क को जोड़नेवाला बांध अमराइयों के बीच से आगे की तरफ बढ़ गया था. कहीं फालतू हवाखोरी के लिए न तो इच्छा थी और न इसके लिए उनके पास वक्त ही था. कभी-कभार अगर कोई आहिस्ता-आहिस्ता इस बांध पर चलता दिखता तो उसे कमजोर और लगभग अपंग समझा जाता था या फिर हवाई खयालों में डूबा हुआ आधा पागल जानकर लोग उस पर हंस देते.

लेकिन माया और कपिल महीने में एकाध बार

जीप लेकर इधर निकल आते तो इसका कुछ और ही मतलब निकाला जाता. खेत में काम करते हुए और गाय-भैंस चराते हुए लोग अगले रोज अपने टोले मुहल्ले में बतलाते, "कल शाम को कपिलेसर बाबू और उनकी जनाना बांध पर बड़ी देर तक मटरगस्ती करते रहे..." दोनों के मन में जब बहुत-सी बातें जमा हो जाती हैं तो इसी तरह अकेले-अकेले टहलने-घूमने निकल आते हैं....

बातचीत में बार-बार सूखे का जिक्र आ रहा था. सुलोचना और विवेक की पढ़ाई के बारे में भी कुछ बातें हुईं. देश के बारे में, समाज के बारे में थोड़े बहुत विचार व्यक्त किये गये. विद्यालय के बारे में जानबूझकर दोनों ने चर्चा नहीं की...

कपिल ने कहा, "इस बार पटना गये तो श्याम बेनेगल की एक अच्छी फिल्म देखने का सुयोग मिल गया. डक्यूमेंट्री किस्म की फिल्म है. कहते हैं, अधूरी है. आधा हिस्सा आगे कुछ वर्षों में दिखलायेंगे. अमूल वाला प्रोजेक्ट शुरू करने में जो दिक्कतें सामने आयीं, उन्हीं को आधार बनाकर फिल्म तैयार की गयी है. वहां के दूध-उत्पादक किसानों ने एक-एक रुपया चंदा करके पांच लाख रुपये जुटाये थे. उसी रकम से श्याम बेनेगल ने इस फिल्म को तैयार किया. पटने में लगभग दो सप्ताह चली थी. मैं अपने एक मित्र के साथ रविवार की मैटिनी शो में जा बैठा था. भारी भीड़ थी उस रोज...मुझे बार-बार तुम्हारी याद आयी माया!"

माया ने इलायची छीलकर तीन-चार दाने कपिल के मुंह में डाले और खुद अपने मुंह में भी तीन-चार दाने डाल लिये. फिर बोली, "सुना है कोई कुरियन साहब हैं. केरल के रहने वाले हैं. ईसाई सज्जन. आपने पिछले तीस वर्षों से अपने को अमूल वाले प्रोजेक्ट के लिए समर्पित कर रखा है. डेरी फार्मिंग का प्रशिक्षण लेकर अमेरिका से लौटे थे और तभी से गुजरात के दूध-उत्पादक किसानों के बीच बस गये..."

अंत में, वापसी के लिए जीप की ओर बढ़ते हुए दोनों ने तय किया कि होली के बाद अपन अमूल वालों का करिश्मा देखने जायेंगे.

जीप स्टार्ट हुई तो कपिल स्वागत शैली में बोले, "कुरियन ने जरूर ही चालू किस्म की राजनीति से अपने को अलग रखा होगा."

माया चुपचाप ड्राइव कर रही थी. निगाहें सीधे सड़क की तरफ थीं.... कपिल भी चुपचाप सामने देख रहे थे.

घूम-घामकर वापस आये तो दो मित्र प्रतीक्षा में बैठे दिखायी पड़े.

"अभी आयी..." माया जीप लेकर गैरेज की दिशा में मुड़ गयी. कपिल ने कहा, "रमेश, कई दिनों से तुम्हारी याद आ रही थी. अच्छा हुआ कि तुम आ गये..." दूसरे आगंतुक की ओर देखकर कपिल ने जानना चाहा—"इनको शायद मैंने तुम्हारे घर पर गत् वर्ष देखा था. नाम नहीं याद आ रहा है...."

"मोतिहारी के देहात में अध्यापक हैं. गणित में एम.ए. किया था... और," झुककर कान में कहा. "तुम्हारी सिंह-बिरादरी के हैं." फिर तीनों ने ठहाके लगाये. कपिल ने कहा, "सिंह बिरादरी का होना क्या कोई अभिशाप है किसी के लिए? यह क्या अपने वश की बात है कि हम किसी खास जगह कुल-कमल होकर पैदा हों?"

बासमती प्लेट में बिस्कुट और मूंग की दालमोठ लाकर सामने रख गयी. शीशे के तीन गिलास, स्टेनलेस स्टील का पानी भरा जग. दो मिनट बाद भरी हुई चायदानी और कप प्लेट ले आयी. गिलासों में पानी भरा. कपिल ने छोटा टेबुल खुद ही उठकर सामने ले लिया था. बासमती बोली, "सहजन के फूलों वाले पकौड़े तल रही हैं. दीदी ने कहा है, दस मिनट बाद आयेंगी..."

रमेश ने कहा, "क्या हर्ज है, तब तक चाय का एक दौर चले..."

"हां, तुम तो पुराने चाय खोर हो!"

"यहां भला और क्या मिलेगा! ठाकुर कपिलेश्वर सिंह पर तो प्रयोगों के दौरे आते रहते हैं... नहीं, मैं झूठ कहता हूं!"

कपिल को हंसी आ गयी. दो बिस्कुट प्लेट से उठाकर उन्होंने रमेश को थमाये और दो अध्यापक महोदय को. हंसते-हंसते बोले, "प्रयोगों के दौरे क्या अकेले मुझ पर ही आते हैं! रमेश, सच बतलाओ, तुम खुद को प्रयोगों से अछूता मानते हो?"

अध्यापक ने कपिल का पक्ष लिया. कहा, "एक्सपेरिमेंट्स न चलें तो सृष्टि का विकास कैसे होगा! रमेश बाबू, आप पुराने पत्रकार हैं. पत्रकारिता के क्षेत्र में जाने कितने प्रयोग किये होंगे..."

थोड़ी देर बाद बासमती ने आकर पूछा, "दीदी ने कहा है, अच्छी सूजी आयी हुई है, रमेश बाबू को पसंद हो तो मद्रासी उपमा तैयार करूं... हलवा भी इसका अच्छा ही रहेगा..." रमेश ने अध्यापक महोदय से पूछा, "आपके लिए तो मद्रासी उपमा नयी चीज होगी, शायद हलवा ही आपको पसंद आये..."

"अरे बाबा, जो भी लाना हो जल्दी लाओ. ये दोनों सज्जन जरा देर बाद ही वापस जाने की हड़बड़ी में होंगे..."

चाय का पहला दौर खत्म हुआ तो हलवा और पकोड़े साथ ही आ गये. रमेश ने मुस्कराकर कहा, "हां भाई, अपन तो ऐसी बिरादरी में पैदा हुए, जहां आदि और अंत मिठाइयों से ही होता है. मद्रासी उपमा फिर कभी आकर चख लेंगे."

ऊपर-ऊपर की हल्की-फुल्की बातें होती रहीं. दिल्ली, लखनऊ, हरियाणा, कर्नाटक, मध्यप्रदेश और आसाम-बंगाल की बातें छिटपुट रूप में चलती रहीं. कपिल लेकिन अंदर-अंदर अच्छी तरह समझ रहे थे कि गणित के अध्यापक को लेकर सिफारिश की कोई बात होगी. रमेश कपिल के पुराने साथी थे. मिलने पर, कैसी भी भीड़-भाड़ हो, दस मिनट अकेले में फुस-फुसाकर दिल की बातें अवश्य कर लेंगे. अंत में माया प्रकट हुई. बड़ी-बड़ी आंखें नचाकर बोली, "माफ कीजिए रमेश बाबू, अब अगर आपकी आज्ञा हो तो मैं भी आधा कप चाय ले लूं..."

"वाह! यह भी खूब रही! कसूर तो आपका बहुत

बड़ा है! इतनी देर से हमें यहां बैठा रखा है और खुद अंदर अग्निदेवता की उपासना में बेफिक्र होकर बैठ गयीं!"

दूसरी बार चाय आ चुकी थी. बासमती एक प्याला और रख गयी थी. रमेश ने अपने हाथों से माया के लिए चाय निकाली.

"रमेश, यह तुम क्या कर रहे हो? उसको पकोड़े नहीं लेने दोगे!" इस पर तीनों फिर हंसने लगे और माया ने सचमुच एक पकोड़ा उठा लिया.

चाय का अपना प्याला लेकर माया बैठक खाने के अंदर से 'दिनमान' और 'सारिका' उठा लायी. यह संकेत था कि रमेश और कपिल दस-पंद्रह मिनट के लिए अंदर बैठेंगे और अध्यापक महोदय अपना ज्ञान वर्द्धन करेंगे. अंधेरा उतर आया था. यहां से निकलने पर गांव के बाहर नुक्कड़ पर रिक्शा मिलने वाला था.

बाबा गरीबदास थाने के दारोगा को गालियां देते हुए कुटी से निकले और दो रोज बाद उसी दारोगा को गालियां देते हुए उन्होंने कुटी में प्रवेश किया.

पीछे-पीछे उनके लिए खाना लेकर वह बालक भी आता दिखाई पड़ा. पास आया तो बाबाजी ने कहा, "मुझे भूख नहीं है! तू खा ले या वापस ले जा!"

निवेदिता विद्यालय का एक कर्मचारी साईकिल से पहुंचा. प्रणाम करने के बाद उसने कहा, "कपिल बाबू ने आपको याद किया है. मैं तीसरी बार आपकी खोज में आया हूं. पता चला, आप अभी लौटने वाले हैं. कपिल बाबू ने कहा है, बाबाजी थके होंगे, कल सबेरे आकर मिलें..."

गरीबदास ने सिर हिलाकर कहा, "सबेरे तो नहीं, दोपहर तक आ सकूंगा."

थोड़ी देर बाद भगत लछमनदास मिलने आया. संत रैदास की प्रतिमा को भगत ने भक्तिभाव से प्रणाम किया. चबूतरे के तीन परिक्रमाएं पूरी करके कुटी के पास आया. बाबाजी ने माचिस की डिबिया और दो अगरबत्तियां थमाकर भगत से कहा, "कई दिनों से यहां धूपबत्ती नहीं जली है. पूजा का सामान कुल्लम चुक गया था. बाजार से ले आये हैं..."

प्रतिमा के सामने बोरी बिछाकर तीनों बैठकर गाने लगे—

"प्रभुजी तुम चंदन हम पानी
जाकी बास अंग-अंग मां समानी
प्रभुजी तुम दीपक हम बाती
जाकी जोत बरै दिन राती
...."

संत रैदास के इन पदों को भगत बार-बार दुहरा रहे थे. गरीबदास और बालक साथ दे रहे थे. अगरबत्तियों की खुशबू फैल रही थी... बालक कुटी के अंदर से खंजरी ले आया. भगत ने बालक के हाथ से खंजरी ले ली और कबीर का पद गाने लगा—

"तेरे दया धरम नहिं मन में
मुखड़ा क्या देखे दरपन में!
...."

पद की कड़ियों को लछमनदास के साथ-साथ बाकी दोनों भी दुहरा रहे थे. बूढ़े का गला, अधेड़ का गला और बालक का गला-तीन कंठों के स्वर मिलकर अखर नहीं रहे थे. खंजरी में घुंघरू के महीन दाने फिट थे, कुल मिलाकर भजन का भाव-भीना माहौल उभरने लगा था.

दस मिनट बाद गरीब दास उठ खड़े हुए. गौर से लछमन दास के चेहरे को देखा. आंखों से आंसू बह रहे थे. गरीबदास ने सोचा—यह बेबसी के आंसू हैं... हजार... हजार वर्षों से अछूतों की समूची जातियां इसी तरह आंसू बहाती आ रही हैं. ये लाचारी के आंसू हैं, दीन-हीन भावों के आंसू हैं....

सोचते-सोचते गरीबदास जी वहीं आंगन में चहल-कदमी करते रहे. जरा देर बाद बालक भी प्रतिमा के सामने से उठकर कुटी की तरफ आ गया. उठते समय बालक ने हल्के से भगत का कंधा छू लिया था. यह इशारा था कि लछमनदास जी भी भजन खत्म करें. लेकिन भगत जी थोड़ी देर जमे रहे. भजन चलता रहा, खंजरी ढपली बजती रही.

बालक ने लछमनदास के कान में कहा, "बाबाजी ने खाना नहीं खाया है. होंठ सूखे हुए हैं. चेहरा उदास है. लगता है, दिन में नहीं खाया होगा. मैं कहीं से दूध ले आता हूं. दूध तो इन्हें पिला देना चाहिए. आप कहिएगा, जरूर मान जायेंगे. कई दिनों के बाद मिले हैं. आप बातचीत कीजिए. मैं वापस लौटूं, आप तभी यहां से जाइयेगा."

बच्चे का यह कहना भगत लछमनदास को बहुत अच्छा लगा. "मैं आया, बाबाजी खाली पेट क्यों सोयेंगे. आखिर, हम लोग हैं किसलिए."

प्रतिमा के सामने से उठाकर बोरी बीच आंगन में बिछा दी गयी. बाबा और भगत दोनों बैठ गये.

भगतजी हथेली पर सुर्ती मलने लगे. गरीबदास ने कहा, "संक्षेप में गांव का हाल समाचार बताइए..."

भगत ने दबी जुबान में कहना शुरू किया, "एक-एक परानी के अंदर डर समा गया है. दहशत के मारे लोग गूंगे हो गये हैं. कोई किसी से नजर नहीं मिलाता... उधर वो राच्छस दनदनाता घूम रहा है... हाल-समाचार क्या पूछते हैं बाबाजी! चमारों की समूची बस्ती भागकर कहां जायेगी! पचास पलिवाड़ हैं न?"

बाबा गरीबदास चुपचाप सुन रहे थे. एक शब्द भी उनके मुंह से नहीं निकला. जरा देर बाद उठकर फिर आंगन में चहल-कदमी करने लगे... लछमनदास सुर्ती फांक चुका था. उसे बालक ने कहा था बैठने के लिए. मगर भगत को लगा कि बाबा गरीबदास रात में पानी पी लें तो पी लें. दूध नहीं पियेंगे, उनसे पिया ही नहीं जायेगा..

"सबेरे-सबेरे आऊंगा," कहकर लछमन दास पगडंडी की ओर बढ़ गये.

अगहन की पूर्णिमा के चार दिन बाकी थे.

चांदनी खिली हुई थी. लगता था, पंद्रह दिन बाद रात्रि का आकाश स्वच्छ नहीं होता. ठंडक बढ़ती जायेगी. कोहरे का झीना आवरण सन्नाटे को, निशीथ की घड़ियों में अपनी लपेट में भली भांति

लघुकथा

वक्रता

□ भगवती प्रसा

द्विवेदी

"कुछ मिले मालिक!" भिखारी ने आवाज लगायी.

"अभी बोहनी नहीं हुई है... चलो फूटो!" सेठजी ने उस पर एक उपेक्षापूर्ण दृष्टि डाली और फिर नाश्ता करने में मशगूल हो गये.

"कई दिन से भुखाइल हुईं मालिक! कुछ भी तो मिले माई-बाप!" वह बार-बार मुंह में आये पानी को गले के नीचे

समेट लिया करेगा. तब सामने वाला पीपल साफ नहीं दिखाई पड़ेगा. अबकी तरह पीपल की डालों को कोई गिन नहीं पायेगा. पूरे वृक्ष का आयतन मोटे तौर पर ही तब आभासित होगा.. पीपल के इर्द-गिर्द खेतों में सरसों की हरी फसल तब घनी धुंध में डूबी होगी. और आगेवाली अमराइयां घने काले रंगों की चिकनी लीपा-पोती जैसी लगा करेंगी...

बाबा गरीबदास की चहल कदमी थमी नहीं थी. अपनी परछाई से ही बातें करने का जी कर रहा था.

गरीबदास ठमककर खड़े हो गये, हाथ उठाकर अपनी परछाईं से बोले, "तू उसका क्या कर लेगा? मालिक लोग चमारों की बस्ती को फूक देंगे, सौ-पचास इनसानों को जलाकर खाककर देंगे... तो भी मालिक लोगों का तू क्या बिगाड़ लेगा? थाने का दारोगा उन्हीं की बिरादरी का है, यह खुले आम उनकी तरफदारी करता चलेगा. एस.पी. कमजोर दिलवाला हरिजन है, उसके ऊपर-नीचे ज्यादातर बड़े अधिकारी ऊंची जातियों के ही लोग जमे हुए हैं... यह बेचारा तेरे लिए क्या हलाक होगा! तू ठहरा बापूजी का प्यारा हरिजन बालक.... तेरे लिए स्वर्ग का फाटक खुला हुआ है. नियम-निष्ठा से रहेगा तो तेरे को इसी जनम में संत रैदास की तरह लोग पूजेंगे... तब यही मालिक लोग तेरी तारीफ अखबारों में छपवाया करेंगे. तब तेरी यह कुटिया छतोंवाली, कई मंजिलों की बिल्डिंग की तरह अंधेरी रात में भी दूर से चमका करेगी. तेरे महर्षि की यह प्रतिमा तब संगमरमर की बनी होगी. इस तरह ढाई ईंटोंवाले चबूतरे को बांस के छोटे बाड़े में घेर-घारकर महर्षि को नहीं रखा जायेगा.. अच्छा-खासा मंदिर खड़ा हो जायेगा. तब हरिजन मंत्री कारों पर लदकर तुझसे परामर्श करने आयेंगे बेटा!"

बाबा को इस बात पर हंसी आयी. ठहाके लगाकर खुशी में चीखने का जी करने लगा...

हल्कापन महसूस हुआ तो चहल-कदमी में गति आ गयी. एक-एक पग के साथ मन बंधा नहीं रह गया. लगा कि पंख निकल आये हैं, लगा कि मन शरीर का साथ छोड़कर फुर्र से बाहर उड़ गया है, जैसे चमगादड़ छप्परों वाले पुराने घर के अंदर से फुर्र से निकलकर उड़ जाते हैं.

बाबाजी ने मन में अपने पंछी को ढील दे दी. बिल्कुल खुला छोड दिया उसे

कुटिया के तंग बरामदे में बोरी बिछी थी. बालक सरौता और सुपारी वाला बटुआ अंदर से निकालकर बोरी पर रख गया था. यह छोटा-सा रंगीन और नफीस बटुआ बाबाजी चित्रकूट से ले आये थे. आज से दो वर्ष पहले रामायण मेला और जाति तोड़ो सम्मेलन के सिलसिले में उधर का चक्कर लगा था. बालक को अच्छी तरह मालूम था कि बाबा कभी-कभी सारी रात बोरी पर बैठकर सबेरा कर लेते हैं... बीच-बीच में कतर-कतरकर सुपारी चबाना और जुगाली करते जाना इस रतजगे में बाबाजी के लिए भारी सहारा होता है... हां, दोनों घड़ों में पानी भरा होना चाहिए.

गरीबदास पालथी मारकर दीवार के सहारे बैठ गये. तटस्थ भाव से मन के पंछी की उड़ान देखने लगे. सरौता और सुपारी बटुए के अंदर से मानो अपने आप निकल आये, अपने आप सुपारी के कतरे होंठों के अंदर पहुंचकर जीभ को कसैला जायका महसूस कराने लगे...

अपने आप को संबोधित करके गरीबदास ने बोलना शुरू किया, "बेटा, हिम्मत से काम ले! बेधड़क आगे की तरफ कदम बढ़ा!... ऐसा नहीं करेगा तो दुनिया तेरा कचूमर निकाल देगी... हरे धनिये की तरह पीसकर लोग तुझे चाट जायेंगे! सौ-पचास जीवों का भला करने में तुझे थोड़े बहुत उलटे-सीधे काम करने पड़ेंगे...सिर्फ फासला तै करना, सिर्फ चलते जाना ही काफी नहीं होगा. नये सिरे से तुझे पगडंडियां बनानी होंगी.. नयी राहों के निर्माण की कोशिश में, हो सकता है तेरे पंख बार-बार झुलस जायें, तू बुरी तरह घायल हो जाये, नयी राहें बनाने के सिलसिले में, यह सब झेलना होगा तुझे...!"

बाबा को बीच में दो बार पानी पीना पड़ा.

आज पहली बार उन्हें लगा कि जीव को जीव का सहारा हर हालत में चाहिए. अकेले में इनसान की अकल को जंग लग जाती है. अपना सूनापन पहले अपने को ही खस्ता बना देता है... इसी से लोग तोता पालते हैं, गिलहरी पालते हैं, बंदर के बच्चे को लाड़-प्यार से लादे फिरते हैं. कंधों पर कुत्ता, घोड़ा, गाय, बकरी, नेवला, सांप—क्या नहीं पालते हैं लोग! अपने अंदर भरोसा और ताजगी भरने के लिए इनसान आप ही अकेला काफी नहीं होता हर हालत में उसे साथी चाहिए...

गरीबदास ने तय कर लिया, वह इस बार महीना पंद्रह रोज के अंदर ही कुत्ते का पिल्ला कहीं से ले आयेंगे. यह पिल्ला इनसान की बोली भले नहीं बोलेगा, लेकिन दिल के मतलब को बखूबी समझेगा... धोखा नहीं देगा—साथ निभाने में जान की बाजी लगा देगा, परेशानी की घड़ियों में चुपचाप दर्द बटायेगा...

नये सिरे से दस-बीस बालकों-बालिकाओं की भर्ती करके एक आश्रम भी चालू किया जा सकता है—बाबा ने सोचा—लेकिन, आश्रम चलाने के लिए शुरू में ही दस-बीस हजार रुपये चाहिए, दस-बीस एकड़ जमीन चाहिए, आश्रम की बुनियाद तभी पक्की होगी जब मालिक लोगों में से दो एक प्रभुओं का जमकर सहारा लिया जायेगा... गरीबदास, तू जिस मालिक का सहारा लेगा, उसी के हुकूम चलेंगे न तेरे आश्रम में. जो मिनिस्टर, जो बड़ा हाकिम तेरे आश्रम को दस-बीस हजार की सरकारी मदद दिलवायेगा, वह क्या यों ही तेरे को खुला छोड़ देगा? फिर एक दूसरा झंझट भी तो लगा रहेगा... वह झंझट, वह झमेला ऐसा होता है कि बड़े-बड़े आश्रमों की मटियामेट हो जाती है—जिन बालकों और बालिकाओं को तू उनके बचपन में ही अपने आश्रम में घेर-घारकर रखना शुरू करेगा, उनके मां-बाप, उनके रिश्तेदार, उनके पुराने मालिक बीच-बीच में उन्हें आश्रम से खिसकाते रहेंगे, तब तू क्या करेगा?

जबरन गटककर गिड़गिड़ाता रहा, मगर सेठजी ने उसकी आरजू-मिन्नतों की जरा भी परवाह नहीं की.

"स्साला!" एकाएक भिखारी के मुंह से फूटा और वह बाज-सा झपट्टा मार, थाली समेत नाश्ता छीनकर नौ-दो-ग्यारह हो गया. थाली की कोर से उनकी बायीं हथेली भी लहूलुहान हो गयी.

सेठजी कभी अपनी हथेली को देख रहे थे तो कभी अपनी तिजोरी को... 'तो क्या उस पूंजी का भी यही हश्र होगा?' सोचते हुए वह सिर से पैर तक कांप उठे. □

प्रत्यक्ष राजनीति में विद्यालय के किसी भी व्यक्ति का शामिल होना यों तो वर्जित दीखता था, किंतु इस सिलसिले में कुछ तथ्य परस्पर विरोधी लगते थे

तेरे आश्रम का भट्टा नहीं बैठ जायेगा! धीरे-धीरे सिखाया-पढ़ाया हुआ तोता जब पिंजड़े से उड़ जाता है तो दिल को भारी कचोट नहीं पहुंचेगी? गांधीजी को जिंदगी में चार-चार बार अपने आश्रमों का अंत देखना पड़ा था. अंग्रेज सरकार भी बापू के पीछे पड़ी रहती थी. कभी जेलों में ढुका लेती थी, कभी बड़े लाट की कोठी में उनके फलाहार का इंतजाम करती थी... अपने समाज के दकियानूस लोग बापूजी को पसंद नहीं करते थे—सेठों में से कुछ तो जरूर ऐसे थे जोकि आश्रम को नये सिरे से स्थापित करने में उनकी मदद के लिए हमेशा आगे-आगे रहे...

मन का पंछी बाहर इधर-उधर के चक्कर मारकर पड़ोस वापस आ गया. अब वह निवेदिता विद्यालय के अधिष्ठाता वाले काटेज की मुंडेर पर आकर बैठ गया, अपने हरे परों को अपनी लाल चोंच से खुजलाता रहा... बड़ी देर तक परों को सहलाने-खुजलाने की यह लीला दिखती रही, यहां तक कि गरीबदास अपने आप में मुस्कराने लगे... मन का पंछी कपिल बाबू के कंधे पर फुदकता नजर आया तो बाबा ने सोचा—बालक कटोरे में ढककर दूध रख गया है....

डब्बे के अंदर चबेना भी था, अलग छोटी हंडिया में गुड़ के डले भी थे. बाबा को आंतों के अंदर कुलबुलाहट महसूस हुई. वह डलिया में से चूना और गुड़ निकाल लाये, दूध का कटोरा पास में रख लिया.

दाने चबाते-चबाते गरीबदास इस नतीजे पर पहुंचे कि दुपहर नहीं, अभी सबेरे-सबेरे वह कपिल बाबू से मिलने जायेंगे.

बात भी सच थी. दोनों को इस वक्त एक दूसरे का सहारा चाहिए था. दोनों एक-दूसरे के लिए अनिवार्य थे...

रात्रि शेष की ठंडी बयार हेमंत ऋतु की प्रकृति में अधिक से अधिक तरावट घोल रही थी. उस सन्नाटे में 'जानकी एक्सप्रेस' के भारी-भरकस इंजन का भोंपू साफ-साफ सुनाई दे गया.

गरीबदास जी दूध पीकर लेटे तो जरा-सी झपकी आ गयी.

इन ग्रामांचलों में इस बार भी मुख्य फसल—धान की खेती मारी गयी थी. सूखे का प्रकोप यों तो समूचे राज्य को झेलना पड़ रहा था लेकिन हरिनगर के मध्यम और बड़े किसान अपने खेतों की सिंचाई के सिलसिले में भाग्यवान् निकले. उनका पंपिंग सिस्टम बिजली के अभाव का शिकार नहीं हुआ था. आसमानी अमृत वर्षा न सही, धरती के अंदर का संजीवन रस, उन्हें काफी मात्रा में मिलता रहा. शतप्रतिशत तो नहीं, सत्तर प्रतिशत अगहनी फसल यहां हासिल होने वाली थी.

यह सब कपिल बाबू और ठाकुर सदानंद सिंह जैसे जागरूक भू-स्वामियों की मुस्तैदी का नतीजा था... तरुणाई के दिनों में इन दोनों की माध्यमिक शिक्षा काशी-विद्यापीठ के अंदर हुई थी. माया को बड़ौदा और वनस्थली में रहकर नौ वर्षों तक अपना आरंभिक जीवन ढालने का सु-अवसर मिला था. गांव के दो युवक कृषि विज्ञान और पशु-पालन में स्नातक-कोर्स पूरा करके गत वर्ष पंतनगर से लौटे थे, उन्होंने ग्राम की अपनी सीमा के अंदर ही अपना-अपना कर्मक्षेत्र विकसित करने का संकल्प ले लिया था—अपने अभिभावकों से उन्हें पूरा सहयोग मिल रहा था. उनको कपिल और सदानंद की सिफारिश पर एक-एक लाख का सरकारी लोन मिलने वाला था.

कपिल और सदानंद पिछले तीन-चार वर्षों में पंजाब, हरियाणा, राजस्थान, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, तमिलनाडु, केरल, आंध्र जैसे विकासशील राज्यों के कई चक्कर लगा चुके थे. माया और दीपा भी बीच-बीच में उनके साथ घूम-फिर आयी थीं. कन्या-गुरुकुल (देहरादून) में पढ़ी थीं. मां के प्रति गाढ़ी ममता के कारण, उसने दूसरी शादी नहीं की. स्त्री-शिक्षा और समाज-संस्कार के कामों में अपनी दिलचस्पी के लिए इन दिनों बड़ी लोकप्रिय हो रही थी. एक बार पूर्वी जर्मनी, दो बार बलगारिया और एक बार क्यूबा देखने का मौका मिल चुका है दीपा सिंह को. अपने ग्रामंचलों के भावी विकास की परिकल्पनाएं इन चारों के आपसी विचार-विनिमय का खास टापिक थीं...

मां का बंधन न होता तो दीपा निवेदिता विद्यालय की प्रधान अध्यापिका रहती. माया से उसका गहरा लगाव था. महीने में कम से कम दो बार तो वह हरिनगर जरूर आ धमकती. दीपा के आग्रह के चलते ही माया ने महिला-समिति की जिला-शाखा का अध्यक्ष होना स्वीकार किया था—यह दीपा ही थी जिसकी बदौलत पाठक-सरीखे सुयोग्य एवं सु-व्यवस्थित सज्जन इस विद्यालय को हैडमास्टर के तौर पर हासिल हुए. वह माया की तरह ही अपने को इन छात्रों-छात्राओं की 'टू मदर' मानती थी....

देश के पूर्वी राज्यों में पैदा हुई होती तो माया का नाम श्यामली होता. बड़ी-बड़ी आंखें, पतली नाक, पतले होंठ, लंबोतरा चेहरा. बड़े बालों का सादा जूड़ा, मुख मंडल के सौंदर्य को संतुलित करता था. लंबी-छरहरी आकृति समूचे बदन को, देखनेवालों की नजरों में बार-बार रेखांकित-सी किये दे रही थी... दीपा का गठन माया की तुलना में, बिलकुल ही और क़िस्म का था. आंखें तो बड़ी-बड़ी अवश्य थीं, लेकिन चेहरा गोल-मटोल था. नाटे कद के दुहरे बदन पर छोटी-सी गर्दन खूब फबती थी.

पाठकजी ने गणित के उन अध्यापक महोदय को अपने विद्यालय में अस्थायी तौर पर बहाल कर लिया था. इसलिए नहीं कि वह सिंह बिरादरी का था, न ही इसलिए कि कपिल बाबू के पुराने मित्र रमेश जी ने उसकी सिफारिश की थी. बहाल उसे पाठकजी ने इसलिए किया कि वह व्यक्ति सचमुच ही गणित पढ़ाने की क्षमताओं से लैस था. उसकी हिंदी और अंग्रेजी भी अच्छी थी. मौतिहारी के माध्यमिक स्कूल से यह महोदय इसीलिए ऊब गये थे कि वहां आवास का प्रबंध नहीं था और छोटी जातियों के नव-धनिक वर्गों की गुटबंदी का वहां बहुत अड्डा था. यहां निवेदिता विद्यालय के अंदर और भी ढेर-सारी सुविधाएं थीं. छात्र-छात्राएं अनुशासित एवं स्वस्थ-प्रसन्न थे. स्टाफ में अंदर-बाहर पारिवारिक किस्म का भाई चारा था. उपयोगी वस्तुओं का टोटा नहीं था. खाद्य पदार्थों की शुद्धता और ताजगी की गारंटी थी. सारा वातावरण अनूठा प्रतीत होता था. साथ-साथ रहने पर—नुक्ता-चीनी के लायक छिट-पुट बातें यहां भी माहौल में कभी-कभार तैर आती थीं...

पाठकजी सांवली सूरत वाली थुल-थुल काया के मालिक थे. गोल गालों, मझोली आंखों, छोटे कानोंवाला भारी-सा चेहरा था. हंसने लगते तो गालों में गड्ढा उभर आता. आवाज भरी-भरी-सी लेकिन मिठास में घुली-घुली-सी थी. उनकी बातें सुनते रहना कानों को बड़ा ही भला लगता था. पाठकजी को क्रोध की मुद्रा में शायद कभी किसी ने देखा हो. विद्यालय का एक-एक व्यक्ति उनको पिता की गहरी श्रद्धा और ममता से देखता था. विद्यालय के विकास की दिशा में कपिल बाबू जो भी प्रयोग कर रहे थे, उन सभी के लिए पाठकजी का आंतरिक सहयोग एवं समर्थन उन्हें प्राप्त था.

आपका पूरा नाम था श्री नीलांबर पाठक एम.एस-सी. करने के बाद अनेक गैर-सरकारी एवं सरकारी उच्च माध्यमिक स्कूलों में वर्षों तक अध्यापन कार्य किया था. दीपा के पिता अपने राज्य में पब्लिक-सर्विस कमीशन के सुयोग्यतम सदस्य थे. पाठकजी उन्हें अंग्रेज की भांति मानते रहे. उन्हीं के जोर डालने पर पाठकजी जिला स्कूल का उप-प्राचार्य पद छोड़कर निवेदिता विद्यालय आ गये थे.

भगत लछमनदास धूप में बोरी बिछाकर लेटा हुआ था.

मुनिया का छोटा देवर भगत की कमर में तेल की मालिश कर रहा था पास में प्लास्टिक की पीली
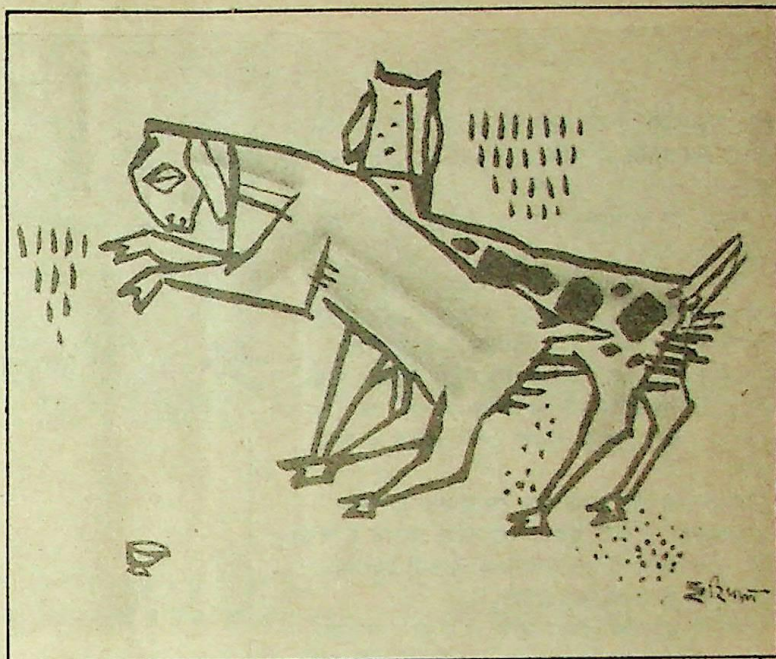
कटोरी में सरसों का तेल था. भगत की आंखें मुंदी हुई थीं.

गठिया की हल्की शिकायत थी. जाड़े के मौसम में थोड़ा-बहुत परेशान रहते थे भगत. यह कोई अधिक दुखदाई बीमारी नहीं थी. भगत के खुद के शब्दों में 'यह एक किस्म का सुख-रोग था.' उनका कहना था कि बुढ़ापे में कोई न कोई हल्की बीमारी लगी रहे तो अच्छा ही रहता है. लोग बाग पूछने आते हैं. घरवालों को सेवा के मौके मिलते रहते हैं. दवादारू चाटने पीने से मिजाज खुर-खुरा बना रहता है...

पिछली रात में जमकर ओस पड़ी थी. सबेरे पहर-भर कोहरे के कारण सरज नहीं नजर आया. अभी दुपहर में धूप खिली थी. धूप में लेटे-लेटे लछमनदास को आराम महसूस हो रहा था. झपकियां आ रही थीं. उसने करवट बदलकर कहा, "रहने दो सूरज, बस करो. जरा देर सोने दो..."

सूरज तेल की कटोरी लेकर चला गया.

फसल उगाहने के दिन थे. पिछले चार-पांच दिनों से पढ़ाई बंद थी. शाला वाला बरामदा सुबह और रात को देर तक बैठकबाजी का अखाड़ा बन जाता था. अलाव के इर्द-गिर्द बुजुर्ग अड्डा जमाते थे. कल पता चला था कि ठाकुर गजाधर सिंह का वह भांजा, चतुरभुज, चार-पांच दिनों से थाने की हाजत में बंद था. अब दो-एक दिन के अंदर पहुंचा देंगे. जमानत पर उसके छूटने की उम्मीद नहीं है.

ठाकुर की तरफ से किसी ने गांव में यह खबर फैला दी है कि चतुरभुज अपनी दादी को लेकर प्रयागराज गया हुआ है, अभी महीना भर नहीं लौटेगा...

भगत को इन बातों की असल जानकारी बाबा गरीबदास से मिल सकती थी. लेकिन, बाबाजी पिछले चार दिनों से बस्ती से बाहर थे. आज शाम

"हमारी बस्ती के पचास के पचासों परिवार अब जमीन हासिल करेंगे. अपनी-अपनी जमीन के आप ही मालिक होंगे. बीज, खाद हल-बैल सिंचाई का इंतजाम पंचायत की तरफ से होगा...."

तक उनके लौटने की बात थी. गरीबदास की सांवली सूरत और छोटी आंखोंवाला चेहरा उसे इस वक्त बार-बार याद आ रहा था...

भगत को नींद आ गयी थी. बालक आकर दो बार झांक गया था.

मुनिया की बकरी के दोनों बच्चे उछल-कूद करते आंगन में खेल रहे थे. हल्का कालापन और हल्की सफेदी में चमकते हुए ये चितकबरे बच्चे बेहद खूबसूरत लगते थे. आंगन के किनारे-किनारे उगी हुई हरी दूबों को टूंगने का मानो अभिनय कर रहे थे. अलग-अलग छलांग लगाते, फिर आपस में गुथ जाते.

खिलवाड़ का उनका यह सिलसिला देर तक चलता रहा. बकरी अंदर, घरों वाले आंगन में बंधी थी, बीच-बीच में इन बच्चों की कच्ची मिमियाहट के जवाब में में-में कर उठती.

बकरी का एक बच्चा जोरों से छलांग लगाकर भगत की पीठ को लांघ गया. उसकी पिछली टांगों की हलकी छुअन से भगत की आंखें खुल गयीं....

जरा देर बाद शाला की अध्यापिका फुलेसरी सामने नजर आयी. उसके हाथ में अखबार था. पास आयी तो लछमनदास ने देखा—खुशी के मारे फुलेसरी का मुखड़ा दमक रहा है. आंखों में कई गुनी अधिक चमक आ गयी है. सांवली सूरत वाली वह लड़की भगत को इतनी खूबसूरत कभी नहीं लगी थी...

भगत ने कहा, "बिटिया बड़ी खुश नजर आ रही है. क्या हुआ है तेरे को आज? लगता है, तेरे नाम का लाटरी टिकटवाला नंबर इस अखबार में छपा है..."

"हां, नाना! आप सच कहते हैं, यह लाटरी जीतने की ही खबर है... अकेली मेरी ही जीत नहीं हुई है, हमारी समूची बस्ती के सभी लोगों के नाम वाले नंबर छपे हैं इसमें..."

भगत लछमनदास फुलेसरी की खुशी में खुलकर अपनी खुशी जाहिर नहीं कर पा रहे थे. उन्हें लाटरी जीतनेवाली यह बात अनबूझ पहेली-सी लग रही थी. वह समझ नहीं पा रहे थे कि ऐसी क्या खबर आयी है अखबार में जिससे फुलेसरी का चेहरा इतना अधिक दमक रहा है...

भगत संभलकर उठ बैठे. बोले, "बहन, किसी को आवाज दो, प्यास लगी है..."

बालक फुलेसरी के पीछे आकर खड़ा हो गया था. वह दौड़कर पानी का लोटा ले आया. भगत आधा लोटा पानी गट-गट करके पी चुके तो कहा, "अब तू संक्षेप में बतला! क्या छपा है अखबार में?"

फुलेसरी एक ओर बोरी पर लछमनदास के सामने बैठ चुकी थी. दैनिक समाचार पत्र 'लोकबंधु' के पन्ने को उसने हाथ में थाम रखा था. भगत की ओर देखती हुई कहने लगी, "इस बस्ती के ही नहीं, समूचे हरिनगर के लिए बहुत बड़ा शुभ समाचार छपा है. अगले पांच वर्षों के अंदर बीस लाख रुपये की लागत से बीसों छोटे-छोटे धंधे यहां चालू होंगे. इधर के जितने भी खेत-मजदूर हैं, सबको काम मिलेगा. फिलहाल उन्हें एक-एक एकड़ जमीन तो इसी छमाही में मिलने जा रही है. हमारी बस्ती के पचासों के पचासों परिवार अब जमीन हासिल करेंगे. अपनी-अपनी जमीन के आप ही मालिक होंगे. बीज, खाद, हल-बैल सिंचाई का इंतजाम पंचायत की तरफ से होगा...

अचरज के मारे भगत का मुंह खुल गया था. दोनों तरफ टूटे दांत थे, उनके बीचों-बीच लाल जीभ की छोर बहुत भली लग रही थी... भगत ने जानना चाहा, "मगर कौन करेगा यह सब?"

हाथ चमकाकर फुलेसरी बोली, "कपिल बाबू, ठाकुर साहब सदानंद सिंह, माया दीदी, दीपा जी, अपने बाबा गरीबदास जी, बी.डी.ओ. साहेब, दारोगाजी दो जने एम.एल.ए. साहेब, गांव के मुखिया जी, पाठकजी, यह कुल मिलाकर तेरह ठो नाम छपे हैं. अखबार में... इस सबकी मीटिंग पिछले रविवार को कपिल बाबू के बैठक खाने में, बंद कमरे के अंदर हुई थी. उसी मीटिंग में ग्राम विकास का यह निर्णय लिया गया था..."

लछमनदास ने उंगली के पोरों पर गिनकर अपने आपसे कहा, "सात रोज हो गये, आज शनिवार है न!"

फुलेसरी बोली, "बैंक की जिला शाखाओं के दो बड़े-बड़े हाकिम भी इस मीटिंग में बुलाये गये थे... हां, उनके नाम भर नहीं छपे हैं..."

खुशी के मारे भगत लछमनदास की आंखें गीली हो आयीं. वह कुछ बोलना चाहते थे, लेकिन प्रसन्नता के आवेग में घिघ्घी बंध गयी थी. दोनों हाथ जोड़कर भगत ने बाबा गरीबदास और कपिल बाबू के नाम पर माथा झुका लिया. भगत को बाबा गरीबदास ने एक बार बतलाया था कि बाल दिवस के मौके पर दो आदमी यहां आये थे, वे दोनों ही गरीबों के बहुत बड़े हितचिंतक थे... लछमनदास ने सोचा—जरूर ही ऐसे अनूठे समाचार को उन्हीं दोनों ने इस अखबार में छपवाया होगा....

पूस महीने के आरंभिक दिनों की मीठी धूप अमृत बरसा चुकी थी, दिन ढल रहा था. हाल में ब्याई हुई जवान बकरी आंगन से बाहर आकर, बरामदे के निकट अपने दोनों बच्चों को दूध पिला रही थी. फैली हुई टांगों के अंदर मोटे-मोटे दोनों थन लटक रहे थे, दूध से भरे-भरे, तने हुए..... दोनों बच्चे अपनी-अपनी गरदन ऊंची करके एक-एक थन को चूस रहे थे. उनकी अगली टांगें उठी हुई थीं.

अखबारों के पन्ने भगत के करीब रखकर फुलेसरी जा चुकी थी. भगत ने इधर-उधर देखा, गीली आंखों की गमछे को खूंट से पोंछ लिया.

भगत तब तक बकरी के उन बच्चों को दूध पीते देखते रहे जब तक बच्चों का पेट नहीं भर गया.

उपन्यास का चित्रांकन
हरिपाल त्यागी

पुस्तक रूप में यह उपन्यास वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित हो रहा है.

संवेदना के अटपटे सूत्र

□ विष्णु प्रभाकर

जन्म : 29 जून, 1912 (मिर्जापुर, मुजफ्फर नगर, उ.प्र.)
प्रमुख कृतियां : 'निशिकांत', 'तट के बंधन', 'कोई तो', 'तीसरा आदमी' (उपन्यास). 'आवारा मसीहा' (जीवनी). 'धरती अब भी घूम रही है', 'पुल टूटने से पहले', 'संघर्ष के बाद', 'मेरी प्रिय कहानियां', 'इक्यावन कहानियां' (कहानी संग्रह). 'कुहासा और किरण', 'अब और नहीं', 'तीसरा आदमी', 'मेरे श्रेष्ठ एकांकी' (नाटक तथा एकांकी)
संप्रति : स्वतंत्र लेखन.
संपर्क : 818, कुंडेवालान, अजमेरी गेट, दिल्ली-6

दो यायावर एक देश में पहुंचे. नारी वहां पुरुष से प्रबल थी. उन्हें अचानक उसी देश के किसी दूर-दराज के दूसरे नगर में जाना पड़ा. समय को देखते हुए वह यात्रा वायु-मार्ग से ही संभव हो सकती थी.

लेकिन उनकी निराशा की कोई सीमा नहीं रहो जब उन्हें पता लगा कि उस दिन जाने वाले किसी भी यान में कोई स्थान रिक्त नहीं है.

"अब!" दूसरे यायावर ने दुम्बी स्वर में कहा.

अपने स्वभाव के अनुसार पहले यायावर ने उत्तर दिया, "चिंता मत करो हम जायेंगे और आज ही जायेंगे."

"पर कैसे?"

प्रश्न की चिंता किये बिना पहले यायावर ने कहा, "आओ, उनके कार्यालय में चलते हैं."

एक विशाल कक्ष में अनेक ग्रुपों में बैठे थे. उनके किरानी और अफ्सर उनमें अधिकांश महिलाएं थीं. वे मुस्करातीं और सिर हिला देतीं, "आज कोई स्थान नहीं है."

"पर हमारा जाना नितांत आवश्यक है और हम परदेसी हैं."

एक युवती ने उत्तर दिया, "जब स्थान ही नहीं है तो देश-परदेस का क्या अर्थ है?"

अचानक पहले यायावर ने देखा कि उत्तर की ओर जो प्रकोष्ठ है, वह अपेक्षाकृत बड़ा है. उसके बीच एक ऊंची चौकी है और उस पर रखी कुर्सी पर एक अपेक्षाकृत कृष्ण वर्ण कृशकाय युवती बैठी है. किसी भी दृष्टि से उसे सुंदर नहीं ही कहा जा सकता था पर निश्चय ही वह किसी ऊंचे पद पर है. क्षण भर में एक युक्ति सूझ गयी है उसे. उसके थोड़ा पास जाकर ऊंचे पर प्रार्थना भरे स्वर में कहा, "क्या आप हमारी सहायता करेंगी?"

युवती ने चकित-विस्मित दृष्टि उठाकर उस सौम्य दर्शन विदेशी को देखा. क्षण भर झिझकी दृष्टि फिर मिली फिर स्थान से उठकर उनके पास आयी, "कहिए, मैं आपके लिए क्या कर सकती हूं?"

पहले यायावर ने मानो युगों का परिचय हो, ऐसे स्वर में कहा, "हम अमुक देश के यायावर हैं. आपके सुंदर देश के अमुक नगर में हमारा आज ही पहुंचना आवश्यक है....."

युवती ने विवशता के स्वर में कहा, "पर वहां का बुकिंग तो कभी का बंद हो चुका है. कोई स्थान शेष नहीं है."

"वह तो हम जानते हैं तभी तो आपकी शरण में आये हैं. आप प्रबंध कर सकती हैं."

वे कौन से सूत्र थे जिन्होंने कठिनाई के समय में उस अनजान देश के एयरपोर्ट पर उस अनजान युवती को दो यायावरों की सहायता के लिए प्रेरित किया?

युवती मुस्करायी, "आप कैसे जानते हैं?"

"अंतःप्रेरणा मैडम, अंतःप्रेरणा! आपको देखकर हमें लगा कि आप कुछ कर सकती हैं."

युवती के चेहरे पर सहसा एक दीप्ति फैल गयी जिस कारण उसका असुंदर चेहरा भी आकर्षक हो उठा. वह हंसी और बोली, "मैं तो कुछ नहीं कर सकती पर एक रास्ता बताती हूं आपको. वह सामने केबिन नं. 8 है. उसमें एक बड़े अधिकारी बैठे हैं. उनके पास चले जाइए. वे मना करेंगे पर आप तब तक न उठिये जब तक वे 'हां' न कर दें. और मेरी चर्चा बिल्कुल न कीजिए. प्रभु ईशु की कृपा से आपका काम हो जायेगा."

और यह कहकर उसने दोनों यायावरों की ओर प्रेम से हाथ हिलाया और चली गयी. वे दोनों यायावर मुड़कर उस केबिन में चले गये जहां वह रौबदार अफसर बैठा हुआ था. उसने आश्चर्य से उनको देखा पूछा, "आप कहां से आये हैं और क्या चाहते हैं?"

पहले यायावर ने अपनी समस्या विस्तार से उन्हें समझाते हुए कहा, "हमें आज वहां पहुंचना बहुत जरूरी है. हमें हवाई जहाज के दो टिकट चाहिएं."

"दो टिकट! वहां की दोनों उड़ाने भर चुकी हैं. अब मैं क्या कर सकता हूं?"

"आप चाहें तो सब कुछ कर सकते हैं. हमें वहां होने वाली संगोष्ठी के बारे में लिखना है. किसी भी तरह हो....."

"हूं"..... उस अफसर ने फोन उठाया. एक नंबर, दो नंबर, तीन नंबर, चौथे नंबर पर उन्होंने कहा, "हमारे कोटे में दो सीटें शेष हैं. वे मुझे चाहिए."

उधर से उत्तर आया, "ले लीजिए."

फोन रखकर उन्होंने एक पत्र लिखा और पहले यायावर को देते हुए कहा, "केबिन नं. 12 में चले जाइए. आपको टिकट मिल जायेंगे."

दोनों यायावरों के चेहरे खिल उठे, उन्होंने गदगद होकर कहा, "आपका यह उपकार कभी नहीं भूलेंगे. ये हमारे कार्ड है, कभी जरूरत हो तो......"

उन्होंने कार्ड लिये, सहज भाव से धन्यवाद दिया. दोनों यायावर बाहर जा रहे थे तो सोच रहे थे कि वे किसके ऋणी हैं इन अफसर के या युवती के.

बाहर आकर उन्होंने उस युवती की ओर देखा और खुशी में भरकर हाथ हिलाया. उसने भी उत्तर में उत्फुल्ल भाव से हाथ हिलाया. तब उसके नयनों में संतृप्ति की जो दीप्ति चमक उठी थी, वही मानवता की पहचान है. □

यह ठाठ फकीरी...

□ राजेंद्र यादव

अपने साठ साल के जीवन और चालीस साल के लेखन के बाद यह शायद वह समय होता है जब लेखक अपनी अब तक की लेखन यात्रा और जीवन यात्रा का पुनरावलोकन करता है. वह यह आकलन करने की कोशिश करता है कि इस यात्रा में उसने क्या खोया है और क्या पाया है? उसके कितने सपने पूरे हुए और कितने अधूरे रह गये? क्या सब कुछ वैसा ही घटा है जैसा उसने चाहा था? ऐसा ही एक आकलन राजेंद्र यादव अपनी लेखन और जीवन यात्रा का कर रहे हैं.
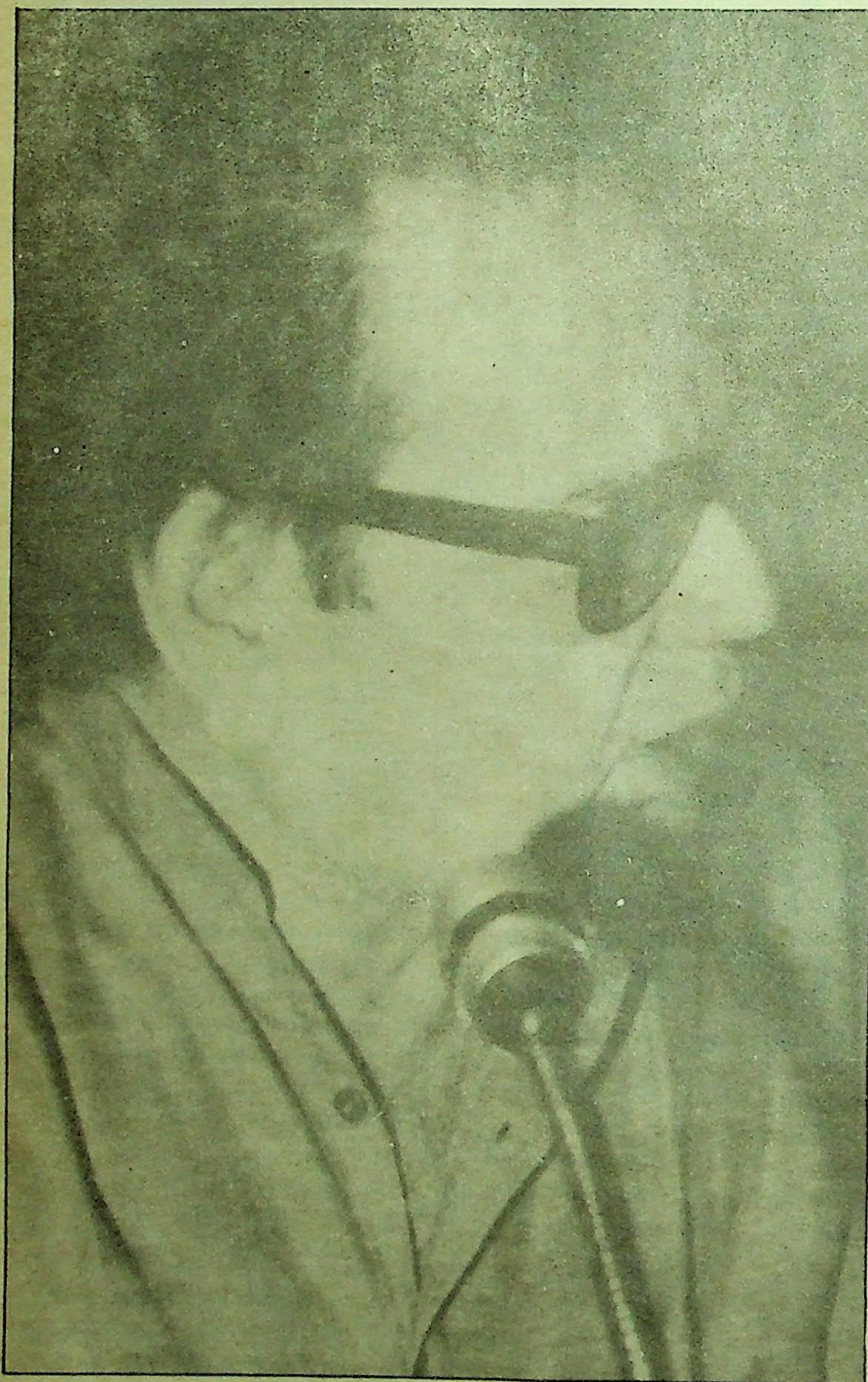
दोस्तो,
आखिर यह दुर्घटना मेरे साथ ही गयी. सुखद संयोग आप हमेशा अ लिए चुनते हैं—शायद लॉटरी मेरे ही न निकल आये. दुर्घटनाएं हमेशा दूसरों के सा घटित होती हैं. क्या दिल्ली में लाखों छोड़कर बम सीधे मेरे यहां ही गिरेगा? हजा गाड़ियों में क्या टक्कर के लिए मेरी ही गाड़ 'चुनी' जायेगी? जब दूसरे लोग साठ के हु करते थे, उनके आयोजन और समारोह होते तो हमें खासी चिढ़ छूटती थी—सारा दृश्य ब हास्यास्पद लगता था. एक उल्लू का पट्ठ गुड्डे की तरह सजा-सजाया मंच पर बै आत्म-मुग्ध भाव से मुस्करा रहा है. लो मालाएं पहना रहे हैं या उसमें उन महानता के अनुसंधान कर रहे हैं जो या तो हैं ही नहीं मंच से उतरते ही उसकी सबसे बड़ी दुर्बलता हो जायेंगी.. उन्हीं पर वे झुंझलायेंगे औ

खिझलायेंगे... क्या मेरे साथ भी यही होने जा रहा है?

कुछ खतरनाक बीमारियों को हम महसूस करते हुए भी टालते हैं—अपने को बहकाये रखते हैं कि नहीं, यह वह बीमारी नहीं, कुछ यों ही-सा है, और अपने आप ठीक हो जायेगा. जहां तक हो सके डाक्टर का मुंह देखना स्थगित करो, कहीं अपने भीतर धुएं जैसे फैले डर की वह कंबख्त तसदीक न कर दे... इस तरह के आयोजन, उम्र के साठ साल पार कर आने की सचाई की तसदीक करते हैं—बुढ़ापे पर ठप्पा लगा देते हैं—अब कहां बचकर जाओगे बच्चू..? मगर मैं क्या करूं, मुझे भीतर से एहसास ही नहीं होता कि मैं 'पकड़' लिया गया हूं या उम्र के चंगुल में आ गया हूं. किसी ने अस्सी साल की बुढ़िया से पूछा कि "अम्मा अब तुम्हारी उम्र हो गयी है. बताओ, तुम्हें कैसा लगता है? क्या ऐसा महसूस करती हो कि सब कुछ खत्म हो गया है?" ईमानदारी से उसने बताया, "मैं अभी से कैसे बता सकती हूं? अभी तो मैं कुल अस्सी की हुई हूं." मेरे भीतर भी अभी कुछ भी तो नहीं मरा... वही हसरतें, वही अरमान. वही कुछ कर गुजरने के बलबले... कितनी क्रूर है यह सद्भावना जो सब कुछ को समाप्त कर देने की मानसिक मजबूरी पैदा करती है...

पता नहीं क्यों, अपने नगर में इस उत्सवी आयोजन में बैठकर मुझे राजकपूर की फिल्म 'मेरा नाम जोकर' का अंतिम दृश्य याद आ रहा है, जहां सामने सारे अंतरंग, अपने, आत्मीय और वे सब बैठे हैं जिन्होंने उसकी जिंदगी को ढाला है. मंच पर खड़े होकर शायद वह सबसे बच्चन के शब्दों में यही कह रहा है—"हूं जैसा तुमने कर डाला" मगर 'जोकरत्व' के पीछे छिपी है असफलता और हताशाओं की भयंकर ट्रेजडी... मैं अपनी स्थिति उतनी ट्रैजिक तो नहीं पाता, मगर ओढ़े हुए 'व्यक्तित्व' का एहसास तो बना ही है. शायद मैं वह नहीं हूं जो दिखायी देता हूं. क्या हूं, मैं खुद भी नहीं जानता. बस, यही एक भावना शिद्दत से छटपटाती है कि अभी ये सारे जामे-लबादे उतारकर बहुरूपिये की तरह अपनी असलियत को धमाके से प्रकट कर डालूं... मगर कौन-सी असलियत? इसी संभ्रम में सिर्फ गालिब की तरह यही कहने को मन करता है कि "बनाकर फकीरों का हम भेस गालिब, तमाशाए-अहले-करम देखते हैं..." कचोट भी होती है कि जो इस फकीरी भेस तक ही रह जाते हैं, क्या उन्हें पता है कि भीतर कौन-सा एयार बैठा है?

यह बहुरूपिये का विभिन्न रूपों में कैद हो जाना है या अपने आपका अतिक्रमण..? बाहरी रूप आदमी की आड़ है या विस्तार? हममें से अधिकांश अपने कीमती कागजों की मूल प्रति कहीं तिजोरियों-लॉकरों या अलमारियों में बंद रखते हैं और अपने साथ लिये फिरते हैं प्रतिलिपियां. कल को नष्ट हो जायें या खो जायें तो मूल प्रति बची रहे. क्या सारे बहुरूपिये अपने 'मूल चेहरे' को कहीं सुरक्षित जगहों पर छोड़ आते हैं. और सिर्फ मुखौटों के सहारे ही जिंदगी काट देते हैं? एक विशेष मेकअप में रहनेवाली सुंदरी जब लोगों को अपने रूप पर मुग्ध होते देखती है तो कहीं यह आशंका भी उसको लगातार कचोटती ही होगी कि किन्हीं आत्मीय क्षणों में इनमें से किसी ने 'असली रूप' को देख लिया तो? क्या गुजरेगी उस पर..? और वह आत्मीय क्षण हमेशा स्थगित होता रहता है, अभिनंदन और प्रशंसाएं बटोरता 'मेकअप' ही हम सबके लिए असली व्यक्ति बन जाता है.

बहरहाल जो भी कुछ मैं हूं वह प्रतिलिपि हो, मेकअप हो, मुखौटा हो या सचमुच अपना विस्तार हो... आप सब का दिया हुआ है. मैं अपनी आंतरिक ईमानदारी से स्वीकार करता हूं कि जो कुछ मेरे भीतर अच्छा, प्यारा या जीवंत है; वह सब कुछ मित्रों, आत्मीयों और मेरे अंतरंगों ने दिया है, और जो कुछ गलत, खराब या अरुचिकर है—वह सब मेरी अपनी कमाई है. चाहें तो इसे आत्मस्वीकृति कह लें कि मैं तहेदिल से आप सभी का बहुत कृतज्ञ हूं और यह कृतज्ञता ही मेरा बल है. लोग शिकायतें करते हैं कि जिंदगी में उन्हें कटुता, विश्वासघात, अपमान और गलत-फहमियां ही मिली हैं. लोगों ने उनके साथ न्याय नहीं किया. यह बात नहीं कि यह सब मेरे साथ नहीं हुआ है—मगर मित्रों ने जितना सम्मान, प्यार और अपनापन दिया है—वही सब बार-बार उफन-उफनकर आता है. हम जो कुछ भी दूसरों को देते हैं, या तो अपने आपको उससे वंचित करके देते हैं या किसी और का हिस्सा देते हैं. कभी-कभी सचमुच यह सोचकर अभिभूत हो उठता हूं कि अपने को कितना स्थगित और वंचित करके मित्रों ने मेरे अस्तित्व और व्यक्तित्व को अपना खून दिया है. इस तरह हमेशा दूसरों से यों लेते रहना भीतर कहीं अपराध-बोध भी पैदा करता है. मैं तो शायद बदले में एक प्रतिशत भी नहीं दे पाता. अगर आप सब लोगों के हाथों का सहारा न होता तो मैं भी शायद जिंदगी के न जाने किन गुमनाम अंधे कुओं में ही शेष हो गया होता.

मेरी सारी जिंदगी इन अंधे कुओं से बाहर आने की प्रक्रिया रही है. अगर कोई मुझसे पूछे कि क्या मेरी जिंदगी का कोई एक सूत्र रहा है, तो शायद मेरा ध्यान इसी प्रक्रिया की तरफ जायेगा. अपने शरीर, भूगोल, मन और बुद्धि की सीमाओं के पार जाने की कोशिश... उन्हें अतिक्रमित कर सकने का प्रयास... जो कुछ मुझे दिया गया है, या मिला है उससे ऊपर उठने के उपक्रम को ही आप मेरा विकास भी कह सकते हैं. वह मैंने अनुभवों के माध्यम से किया है, संबंधों के माध्यम से किया है और शायद किया है स्वाध्याय के माध्यम से... अगर मैं अपनी जीवनी लिखने बैठूं तो निश्चय ही वह भी इन्हीं अतिक्रमण-प्रयासों की सफल-असफल गाथा होगी. स्मृतियों में रहना, स्वप्नों में जीना मुझे बेहद प्रिय है—वह न होता तो लेखक बन सकना भी संभव नहीं था. मगर न कभी अतीत मेरे लिए इतना बड़ा बोझ बना कि चलना मुश्किल हो, न भविष्य इतना हावी रहा कि हर संबंध और व्यक्ति को सीढ़ी बनाकर उस भविष्य तक उठ जाऊं... अतीत और भविष्य, दोनों मेरे संदर्भ रहे हैं, वर्तमान को पीसनेवाले चक्की के पाट नहीं. एक मेरे घर के पीछे का किचिन-गार्डन है तो दूसरा सामने का लॉन, जिसके पार सड़कों और मैदानों का खुला विस्तार है. यही कारण है कि मुझे भविष्य से, आनेवाली असुरक्षा से कभी रत्ती भर भय नहीं लगा. मैंने कभी नहीं सोचा कि आगे क्या होगा? मेरे पास न कभी बैंक-बैलेंस रहा, न बीमा, न भविष्य निधि, न पेंशन. इस बारे में कभी चिंता भी नहीं रही. भरोसा रहा तो मित्रों पर और कहीं न कहीं से कुछ हो जायेगा का विश्वास. और इसी बूते पर हर उम्र में जिंदगी का जुआ खेलता रहा... नवीनतम जुआ चार वर्ष पहले 'हंस' निकालने का था... हां, साथियों को देखकर इधर कुछ डर लगने लगा है. आगे उम्र के जिस दौर में प्रवेश कर रहा हूं, वहां कुछ भी हो सकता है. अपने डेढ़-दो हजार के बैंक बैलेंस से कैसे उसका सामना करूंगा? कहीं कुछ गहरे विश्वास चटखने लगे हैं और कोशिश में हूं कि इतना तो कुछ कर ही लूं कि बढ़ती महंगाई के बावजूद साल-दो-साल निकाले जा सकें... भावनात्मक स्तर पर परोपजीवी हर कलाकार होता है लेकिन शारीरिक रूप से परोपजीवी होना अब डराता है... पहले यह चुनौती था. मेरी जिंदगी भौतिक और आर्थिक रूप से निरंतर घाटे, और मानसिक-भावनात्मक रूप से समृद्ध होते जाने का इतिहास रही है. लोगों को विश्वास नहीं होता कि अमूर्त संतोषों और निराकार उपलब्धियों के लिए मैं मूर्त और ठोस चीजों को यों छोड़ता चला गया हूं. दूसरा मुझसे अगर ऐसा कुछ कहता तो शायद मैं भी यकीन नहीं करता—मगर औरों के अविश्वास और अपने विश्वास की द्वंद्वात्मकता में मैंने साठ

उधो, मोहे ब्रज बिसरत नाहीं.....

हम सबका एक घर होता है—बहुत प्यारा, संपूर्ण, सुरक्षित और स्वस्तिदायक शरण्य...

फिर हम बड़े होते हैं तो घर 'छोटा' होता जाता है, छूट जाता है. जिंदगी भर हम उसी घर की तलाश में भटकते रहते हैं—कभी सोच में, कभी सपनों में, कभी रचनाओं में, भौतिक उपलब्धियों में, प्रशस्तियों में, विद्रोह और समझौतों में—कभी निष्क्रियताओं में तो कभी कर्म की दुनियाओं में....

मगर उम्र का, स्थान का, विश्वासों का, मूल्यों और मान्यताओं का भावनाओं और सुरक्षाओं का वह घर हमें कभी नहीं मिलता. लौटकर जायें भी तो पीछे छूटा हुआ घर न तो घर ही रह जाता है, न हम...जो कुछ मिलता है वह 'अपना घर' नहीं होता और हम सोचते हैं : कहीं कोई घर होता भी है? इस सचाई का सामना करने से भी हम डरते हैं कि कहीं ऐसा तो नहीं है कि सचमुच कोई घर हो ही नहीं और हम एक भ्रम को जीते रहे हों....

क्या है यह "घर का भ्रम जो हमेशा खींचता रहता है? यह भी तो तय करना मुश्किल है कि घर की तलाश आगे की ओर है या पीछे की ओर? यह स्मृति है या स्वप्न? विजन या नॉस्टेल्जिया? या फैलकर बेहतर दुनिया के लिए आस्था?

कभी भी अधूरी छूट जाने के लिए अभिशप्त एक अंतहीन यात्रा ही क्या हमारी नियति है? उपलब्धियों के नाम पर कुछ पड़ाव, कुछ नखलिस्तान... चंद तस्वीरें बुतां... अनेक पात्रों के नामों से की जानेवाली कुछ आत्म-स्वीकृतियां...

राजेंद्र यादव

(पड़ाव-दो की भूमिका से)

साल निकाल ही दिये... अब तो यह सुनकर असफलता बोध भी नहीं होता कि "ऐसा हो ही नहीं सकता कि आपने अब तक कुछ बनाया ही न हो..."

अपने को न मैं बहुत कंजूस मानता हूं, न शाहखर्च... फिज़ूलखर्च तो बिल्कुल भी नहीं. खाने की थोड़ी भी चीज फेंकना या बेकार करना बहुत बड़ा अपराध लगता है और बाजार में दो-चार रुपये के कोल्ड ड्रिंक या होटल में बीस तीस रुपये देना बहुत-बहुत अखरता है, फिर यह चाहे अपनी जेब से हो या दूसरे की... यात्राएं करने का मुझे शौक हमेशा रहा है, मगर अपने पैसे से सैकिंड या पहले थर्ड-क्लास में होती थीं, अब ए.सी. या विमान में—संस्थाओं की ओर से. सक्रिय जिंदगी के चालीस-पैंतालीस साल बसों, ट्रामों, रिक्शों में निकालने के बाद कार रखना मुझे अपना शौक या रौब नहीं जरूरत और मजबूरी भी लगती है—खास तौर पर दिल्ली जैसी जगह में जहां, दूरियां लंबी और स्कूटर मनमौजी हों... हां, पहले उस प्रक्रिया में कहानियां या विचार मिलते थे, अब सिर्फ दूरियां तय होती हैं.

अपने को सीमित खर्चों में ही समेटकर रखने के पीछे भी एक विश्वास और एक भय है, शायद लिखने के प्रारंभिक दिनों में ही मन में यह बात घर कर गयी थी कि लेखक को स्वतंत्र होना चाहिए—कोई भी समझौता उसे ईमानदार नहीं रहने देता. इसके लिए जरूरी है कि लेखक आत्मनिर्भर हो—लेखन से अलग ऐसी महत्वाकांक्षाएं न पाली जायें जो या तो लेखन के साथ सौदा करने के लिए मजबूर करें या फिर चालाकी और झूठ की जिंदगी में धकेल दें... इस लेखकीय स्वाधीनता के लिए बहुत कुछ छोड़ना होगा. अपने आस-पास लेखकों के किस्से सुनता था, कथनी और करनी के अंतर देखता था और अपने आप से डर जाता था. मेरे साथ तो टूट जाने, समझौते करने के बहुत कारण थे, कैसे बनाये रखूंगा मैं इस लेखकीय स्वाधीनता की गरिमा को? और इसी द्वंद्व में भीतर अपने आप कुछ निर्णय होने लगे. लेखन के साथ मेरा रिश्ता निहायत व्यक्तिगत और आत्मीय है और वह वहीं तक रहेगा. हर क्षण यह दिखाते रहना कि आप लेखक हैं, बाकी लोगों के साथ व्यवहार में एक तनाव और दूरी बनाये रखेगा. हर संबंध में आप एक विशेष व्यवहार की अपेक्षा करेंगे और जगह-बेजगह लेखक होने को भुनायेंगे... लेखक के प्रति विशेष सम्मान, लिहाज या सावधान दया, कहीं भी व्यवहार को स्वाभाविक नहीं रहने देगी. आप लेखक हैं और रहेंगे, मगर हमेशा ऐसा दिखायी देते रहना क्यों जरूरी हो? लेखक आप सिर्फ अपनी मेज पर या अकेले कमरे होंगे—बाकी समय एक साधारण आद हैं—लोगों में घुलता-मिलता, हंसता-बोलता इसी लेखकीय द्वंद्व में मैंने सन् 50 से पहले ए कहानी लिखी थी 'देवताओं की मूर्तियां'. इ नाम से संग्रह भी आया. कहानी इस धारणा खिलाफ थी कि लेखक अपने आपको देवता मूर्ति की तरह 'बाकी सबसे अलग और महान बनाकर प्रस्तुत करे... अपने व्यक्तित्व के सा मेरा सारा संघर्ष यही बना रहा सामाजिक-पारिवारिक रूप से मुझे ए सामान्य और साधारण व्यक्ति होना है, लेख मेरा निजी मामला है. अंतरंग कक्षों और नेपथ्य में चलनेवाला व्यक्तिगत कार्य व्यापार... आ जब अक्सर लोग कहते हैं कि मैं अपने व्यवहा या बातचीत में कहीं भी लेखक नहीं लगता अपने प्रयास की सफलता पर संतोष होता मगर हमेशा ही यह स्थिति इतनी आसान नहीं थी. बाहरी प्रभावों और दबावों से कहीं अप भीतर के बहुमूल्य को सुरक्षित रखने का ग एक अजीब बहुरूपियापन देता है. लगता आप वह नहीं हैं जो दिखायी दे रहे हैं. आप वे बदलकर लोगों में घुलते-मिलते एक जासूस 'मैं कैसी आसानी से लोगों को बेवकूफ बना र हूं कि वे मुझे अपने में से ही एक समझ रहे हैं, यह एहसास भीतर से एक अजीब रोमांच औ पुलक से भरे रखता है... और सहसा ही. आ किसी विचित्र नाटक के पात्र, सूत्रधार औ दर्शक में बदल जाते हैं. लेकिन यहीं सबसे बड़ अंतर्विरोध है. सफलतापूर्वक लोगों की निगाह से अपने आपको छुपाये और बचाये रखने क सुख और भीतर से उठती कसमसाहट कि 'क्या अब असलियत प्रकट कर दी जाये.' ट्रेजडी और द्वंद्व यहीं है—सामान्य होने और दीखने की आकांक्षा और सिर्फ सामान्य के धरातल प लिये जाने का प्रतिरोध—जैसे एक राज भिखारी के वेश में लोगों को धोखा भी दि रखना चाहे और जब लोग उसके साथ सिर्फ भिखारी की तरह व्यवहार करें तो उन्हें जताना भी चाहे कि वह क्या है. मगर मैं राजा कहा सिर्फ राजेंद्र हूं.

है न नाटकीय स्थिति? इसी पर मैंने अने कहानियां लिखीं और बाद में टॉमस मान की अद्भुत कहानी पढ़ी, 'टोनियो क्रोगर'. आद और लेखक होने का तनाव और इस यातना गुजरता द्रष्टा. कोई पूछता है कि— "क्या सम आ गया है कि सब कुछ उद्घाटित कर दि जाये?' सब कछ स्वीकार या कनफैस करने यह भीतरी दबाव जब अक्सर ए... सवाल रूप में सिर उठता है कि, 'क्या कनफैस कर है? अपने किये सही या गलत में से कि

सार्वजनिक रूप से स्वीकार करना है?"—लेकिन बहुत ईमानदारी से पाता हूं कि 'किन के साथ कहां मैंने गलत किया है,' की सूची के अलावा मेरे पास कुछ भी स्वीकार करने को नहीं है. मैं स्वीकार करता हूं कि अपने भीतर चलते इस द्वंद्व, संघर्ष और नाटकीयताओं ने ही मुझे इतना बांधे रखा है कि मैं अपने लिए स्वयं अपना केंद्र बना रहा हूं. इस आत्म-केंद्रिकता ने न मुझे अच्छा पति रहने दिया है, न पिता, न प्रेमी... सिर्फ मैं दोस्त ही अच्छा हूं; क्योंकि दोस्ती किस्तों में निभायी जानेवाली जिम्मेदारी है—चौबीस घंटों या पूरी जिंदगी की नहीं. पूरी जिंदगी तो मैंने कहीं और दे रखी है. वहां पता नहीं उसका कुछ बना है या नहीं.

जो मेरे बहुत निकट हैं वे मुझे बहुत बंद व्यक्ति समझते हैं—अधिकांश की राय है कि मैं बहुत ही खुला और उन्मुक्त हूं. मैं सिर्फ इतना जानता हूं कि मैं मुगालतों में नहीं रहता. हमेशा बहुत कीमती और बहुमूल्य को छिपाने के लिए ही आप चौकन्ने नहीं होते, अपनी दरिद्रता और दयनीयता को लेकर भी आप चौकस होते हैं...

हो सकता है मेरा सारा लेखन और सारी जिंदगी एक मीडियाकर की जीवनी ही बनकर रह गयी हो, मगर मेरे माध्यम से कुछ महान और विशिष्ट हो रहा है—इस मुगालते के बिना एक क्लर्क तक नहीं जी सकता तो मैं फिर भी लेखक हूं... हालांकि यह भी जानता हूं कि मुझ जैसे लेखक हर भाषा में दर्जनों भरे पड़े हैं... इस अंधविश्वास के मारे कि पता नहीं इतिहास कब कहां से उठाकर कहां रख दे.

मगर इतिहास जिन रास्तों से उठाकर आज किसी को शीर्ष पर रखता है, उनमें से अधिकांश को मैंने खुद ही तो बंद कर रखा है. लेखन बेहद नाजुक, स्वतंत्र और पवित्र फूल की तरह है और उसे हर प्रदूषण या गर्म हवा से बचा कर रखना है, इस कुंठा ने मुझे कहां कुछ भी करने दिया? मैं खुशामदें और नौकरियां कर सकता था, सम्मान और पुरस्कार ले सकता था, समझौते और सौदे कर सकता था! कुछ हिस्से को किराये पर किये जानेवाले काम की तरह करके मकान, फ्लैट और दुनिया-भर की चीजें जमा कर सकता था—आखिर मेरे पास डिग्रियां भी थीं और संपर्क भी, सूझ-बूझ भी थी और कुछ उपलब्धियों का सम्मान भी. ऐसा तो नहीं है कि मुझे कुछ चाहिए नहीं था. आखिर साथियों और सहयोगियों ने किया ही है—सत्ता के आसपास घूमकर लेखकीय प्रतिष्ठा को भूलकर या भुलाकर! मगर अपनी इस कुंठा का क्या करूं, जो हर बार हाथ पकड़ लेती है कि जो पूरे सम्मान से और अपनी शर्तों पर मिलेगा, वही लेना है. झूठ, धोखे, खुशामद और तिकड़म से सारी जुगाड़ करना और फिर मंच पर लेखकीय गौरव का गुणगान करना मुझे ऐसा फरेब लगता है जिसके खिलाफ मैं ही क्या, हर लेखक लड़ता रहा है. रग-रग में फैले कैंसर की तरह यही हेकड़ी लेखन और जबान में फूट पड़ती है कि हर समझौता, लेखन की धार को कुंठित करता है. जब आपको कुछ चाहिए ही नहीं, तो फिर खुलकर वही क्यों न किया या लिखा जाये जो आप महसूस करते हैं. आखिर हम नहीं कहेंगे तो कौन कहेगा?—पता नहीं जब सचमुच इम्तहान का मौका आयेगा तो यह हेकड़ी कितनी रहेगी, मगर एमर्जेंसी के आतंक से लेकर हर प्रलोभन को इसने बर्दाश्त किया है, इसका गवाह सिर्फ मैं हूं. शायद मन्नू भी. और मैं इस बात का भी गवाह हूं कि इस सबको न मैंने त्याग, बलिदान, उत्सर्ग का नाम देकर महिमान्वित किया, न माथे पर मोर मुकुट की तरह सजाकर कीमत वसूली... हां, अपने चुनाव का परिणाम कहकर अपने लिए संतोष जरूर निचोड़ता रहा...

चुनाव के साथ-साथ अक्सर जिन दूसरी बातों पर बार-बार सोचने का मन करता है, वह है लेखकीय मर्यादा, साधना, मुआवजा. सचमुच इन शब्दों का कुछ मूल्य भी है या परंपरा और संस्कार से मिले ये ऐसे कुछ शब्द हैं जिन्हें हम ढो रहे हैं? हमारे अस्तित्व की शर्त है शब्द और आज शब्द अवमूल्यन की जिन तलहटियों में जाकर खो गया है—वहां से निकालने की सामर्थ्य और निष्ठा किसमें है? लेखन और उससे जुड़े इन महिमामय शब्दजाल से चिपके रहना कहीं सिर्फ एक अंधविश्वास ही तो नहीं है? वह सचमुच कितनी भयानक मानसिक प्रलय का क्षण होगा जब इस सबसे विश्वास अंतिम रूप से टूट जायेगा. आखिर यह शंका तो होती ही है कि जब पुस्तक या शब्द-मात्र अपने अस्तित्व की हारी हुई लड़ाई लड़ रहे हैं तो उनसे चिपके आप कहां हैं, क्या कुछ बदला है आपने इन चालीस-पैंतालीस वर्षों में? उपलब्धियों के कौन से सूत्र और कौन से कीर्ति शिखर छोड़ जायेंगे आप? 'देवताओं की मूर्तियां' से लेकर 'वहां तक पहुंचने की दौड़' कहीं अपनी ही पूंछ पकड़कर चकरघिन्नी खाते कुत्ते का उन्माद भर तो नहीं है? परिवार, प्रियजनों, आत्मीयों को झूठे देवता की बलि चढ़ाकर खुद एक व्यर्थता बोध में जीते चले जाना, जिंदगी को कौन-सा अर्थ देना है? आज जो प्रतिष्ठा या यश है वह इसलिए नहीं कि मैंने बहुत कुछ किया है, बल्कि सिर्फ इसलिए है कि मैं मृत्यु को इतने दिन चरका देते रहने में सफल हो गया हूं. हमारे यहां सम्मान या तो मृत्यु को मिलता है या उम्र को. या फिर उस पद को जहां से आप किसी का नुकसान कर सकें. जो न किसी को लाभ पहुंचाने की हैसियत में हो, न नुकसान उसे तो संघर्ष की लंबी राह से गुजरना पड़ता है. समय को ही अंतिम निर्णायक मानने का संतोष जीते हुए... तब क्या 'पद' ही है आपकी प्रतिष्ठा का मूल्यांकन?

और क्या यह सारी जिंदगी यों ही व्यर्थ गयी? यह मेरी व्यक्तिगत अर्थ-हीनता है या एक विशेष समय में होने की नियति जहां कुछ भी सार्थक नहीं रह गया है? मुझे अक्सर चेखव के नाटक 'तीन बहनें' की याद आती है. इस व्यर्थता-बोध की मारी इरानी अवसाद के क्षणों में कहती है, "काश, जो कुछ हमने जिया है वह सिर्फ जिंदगी का रफ ड्राफ्ट होता और इसे फेयर करने का एक अवसर हमें और मिलता." सुनते हैं इस पर एक जर्मन या फ्रेंच नाटककार ने एक नाटक लिखा है. इसी वाक्य से प्रेरित एक साहब इस रफ-ड्राफ्ट को फेयर करने बैठे हैं और जिंदगी की एक-एक निर्णायक घटना को उठाकर जांच-परख रहे हैं कि अगर फिर से वह क्षण आये तो वे क्या करेंगे? हर घटना को सामने रखते हैं, उसका विश्लेषण करते हैं और हर बार अपने आपसे पूछते हैं कि अगर मैं उस समय यह न करता तो आखिर क्या करता? उस स्थिति में दूसरा क्या निर्णय लिया जा सकता था? मित्रों, प्रेमिका, या जीवन के एक विशेष ढर्रे से लेकर हर जगह वे पाते हैं कि उस समय जो निर्णय उन्होंने लिये हैं; सिर्फ वही लिये जा सकते थे. जो कुछ उन्होंने किया उसके सिवा और कुछ कर ही नहीं सकते थे. रफ हो या फेयर उनकी जिंदगी वही होती, जो है....

व्यर्थ हो या सार्थक, मैं भी वही हो सकता था जो हूं... जो कुछ मुझे मिला था, अपने भरसक मैंने उसका सर्वश्रेष्ठ उपयोग ही किया है. न शायद इससे ज्यादा सामर्थ्य थी, न प्रतिभा... एक भ्रम और आशा आज भी पाले हुए हूं कि कभी अपने मन की अनुकूल स्थितियां हुई तो शायद वह कुछ कर सकूं जो करना चाहता हूं—अब तक के अपने किये से अलग और श्रेष्ठ... शायद अद्भुत अभी मैंने कुछ भी किया ही कहां है? अभी असली व्यक्ति कहां आया है... अभी तो उसकी प्रतिलिपि भर ही आपके सामने है...

बहरहाल, जो भी कुछ है, वह यही है... अव्यवस्थित, विश्रृंखलित... "मेरे शब्द शब्द विश्रृंखल; मेरे चरण चरण भरमाये..."

अपने बुजुर्ग कवि नजीर अकबराबादी के शब्दों में कुछ जोड़कर कहूं तो "हकीर कहो, फकीर कहो... आगरे का हूं...." □

ज़हरबाद

□ राजेंद्र यादव

जन्म : 28 अगस्त, 1929 (आगरा)
प्रमुख कृतियां : 'यहां तक—पड़ाव : एक' व 'पड़ाव : दो', 'देवताओं की मूर्तियां', 'खेल खिलौने', 'जहां लक्ष्मी कैद है', 'छोटे-छोटे ताजमहल', 'खेल', 'टूटना', 'अपने पार' (कहानी संग्रह). 'सारा आकाश', 'उखड़े हुए लोग', 'कुलटा', 'अनदेखे अजाने पुल' (उपन्यास). 'कहानी : स्वरूप और संवेदना', 'प्रेमचंद की विरासत' व 'अठारह उपन्यास' (आलोचना) के अतिरिक्त 'औरों के बहाने'
संप्रति : 'हंस' का संपादन.
संपर्क : 103, एस.एफ.एस. (डी.डी.ए.) फ्लैट्स, हौज खास, नई दिल्ली-16

मैं बहुत व्यक्तिगत बात कह रहा हूं. सही है कि आज अमृतसर में या पंजाब में रहनेवाला जिस आतंक में रह रहा है, उसमें व्यक्तिगत क्या है? कहीं भी कोई मार दिया जा सकता है, सोते हुए, खाते हुए, घर लौटते हुए या बस में यात्रा करते हुए, मजा यह कि अक्सर मरनेवाले को पता भी नहीं होता कि वह क्यों मर रहा है? जरूरी नहीं है कि वह हिंदू ही हो या सिख हो तो सरकारी मुखबिर ही हो—वह शांत और तटस्थ भी हो सकता है. कभी उसका अपराध सिर्फ हिंदू या अपराधी सिख होना हो सकता है तो कभी सिर्फ आदमी होना... क्योंकि इससे दहशत या नफरत का माहौल बनता है... और आतंकवादी यही तो चाहते हैं... और यही तो अमरीका या पाकिस्तान की साजिश है. मगर साहब, हम भी तो उसी मिट्टी की उपज हैं जहां के ये आतंकवादी हैं. डर है, दहशत है, असुरक्षा है—सब है. मगर रहे... हमें तो अब आदत पड़ गयी है. जैसे युद्ध के दिनों में वियतनामियों को पड़ गयी थी. औरत रोटी बना रही है, बच्चे खेल रहे हैं, आदमी क्यारियां गोड़ रहा है, अचानक अमरीकी जहाज आते हैं—धांय-धांय-धांय बम गिराते हैं, गोलियां बरसाते हैं. कुछ मर जाते हैं, कुछ घायल हो जाते हैं, मकान, झोपड़ियां जल जाती हैं—रोना-पीटना, इलाज-मदद... और घंटे भर बाद औरत फिर रोटियां बनाने लगती है, बच्चे खेलने लगते हैं... बनी रहे माहौल में असुरक्षा और दहशत... उसके लिए कोई जिंदगी थोड़े ही रुक जायेगी.

तो जनाब, यह सब नहीं. मेरी बात बहुत व्यक्तिगत है. इसलिए आप जो कुछ सुनना चाहते हैं वह नहीं, मैं अपनी बात सुनाऊंगा और सिर्फ पांच मिनट लूंगा. जानता हूं आपको भी काम करने हैं. फिर मैंने आपकी सुविधा का समय भी नहीं पूछा था. यूं ही आ गया. खैर अब बात तो आपकी सुननी ही है. दरअसल, मेरी समस्या शुरू हुई दो साल पहले से. मैं आपकी संस्था का सदस्य हूं. हम कुछ लोगों ने पंजाब का माहौल देखकर आतंकवाद और सांप्रदायिकता के खिलाफ पढ़ने-लिखनेवालों का विरोध जताने के लिए एक सद्भावना सम्मेलन किया. हालांकि मेरी ऐसी कोई हैसियत नहीं है, बैंक में छोटा-सा क्लर्क हूं मगर शायद कुछ अधिक उत्साही रहा होऊंगा. इसलिए लोगों का ध्यान भी गया. खूब भाषण हुए लेकिन बाद में धमकियां मिलीं कि या तो ये

ज़हरबाद यानी टिटनेस. एक ऐसा रोग जो शरीर में कहीं भी छोटा-सा घाव लगने से पैदा होता है और पूरे शरीर में ज़हर फैल जाता है. ऐसा रोग जब व्यक्ति से समाज में और फिर देश में संक्रमित होने लगता है तब क्या होता है?

सब बकवास बंद करूं या फिर नतीजा भुगतने को तैयार रहूं. सच कहूं, मैं भीतर से कांप उठा. घर से बाहर कदम रखते डर लगता था और पलट-पलटकर देखता था कि पता नहीं, वापस इस सबको देख पाऊंगा या नहीं. मां से कुछ इस अंदाज में विदा मांगता जैसे युद्ध पर जा रहा हूं. मैं अपने को हिम्मत दिलाने की कोशिश करता कि हम लोगों ने न किसी का नाम लिया, न किसी के विरुद्ध कुछ किया. यही तो कहा था कि दुनिया का कोई धर्म नफरत नहीं सिखाता. एक शहर और प्रांत में रहना है तो प्यार और भाईचारे से रहें. इसमें ऐसी बुरी बात क्या थी? फिर धमकियां व्यक्तिगत रूप से मुझे तो दी नहीं गयी थी. 'सांप्रदायिक सद्भाव की बातें करने वालों को देख लेंगे' जैसी सामान्य धमकी सिर्फ मेरे ऊपर ही कैसे लागू होती है? मगर फिर लगता, धर्मांध लोगों को इन सब बारीकियों से क्या मतलब? उनके हाथ तो जो पड़ जाये. ठांय-ठांय! मरे बेगुनाह तो भी एक खौफ, एक दहशत तो फैलती ही है, सद्भावनावालों की हिम्मत टूटती है. अब मेरी क्या हालत हो गयी, मैं बयान नहीं कर सकता. हर आदमी के हाथ में पिस्तौल लगती और हर स्कूटरवाला किसी न किसी आतंकवादी की अखबारों में छपी तस्वीर से मिलता-जुलता लगता. अक्सर मैं चलते-चलते चौंककर रुक जाता और सहमकर दीवार से चिपका हुआ, पीछे आनेवाले को आगे निकल जाने देता. रात में नींद आनी बंद हो गयी. हवा से पेड़ का पत्ता भी हिलता तो मैं उछलकर चारपाई के नीचे होता... मेरा खाना-पीना-रहना-उठना-बैठना सब हराम हो गया.. और लगने लगा कि मुझे सांप्रदायिक लोग नहीं मारेंगे. मैं खुद मर जाऊंगा. या अपने आप को मार डालूंगा. अपनी जैसी सोच के लोगों के बीच भी दिल धड़कता रहता, उनमें से पता नहीं भीतर से कौन हो, कैसा हो.

आखिर मैंने तय किया कि मैं गांव चला जाता हूं. वहां भी कुछ समस्याएं उठी हुई थीं. मेरे दूसरे भाई ने सारी खेती-बाड़ी दबा ली थी. और खुले-खजाने कहता था कि मैं किसी को कुछ नहीं दूंगा, जिससे जो बन पड़े, कर ले! उसके लिए न मां थी, न भाई. मुझे तो यह भी लगने लगा था कि कुछ दिन पहले बाप की गांव में जो

मौत हुई थी, वह भी हत्या ही थी. वही गांव में रहता था और सब कुछ संभालता था. अब तो सबसे कहता था कि शहरवाले भाई ने ज्यादा तीन-पांच की तो उसे भी काटकर फेंक दूंगा... मैंने सोचा, एक बार जाकर समझाऊं. शायद कुछ बात बने. तो भाई साहब, मैं पहुंचा गांव. उसके यहां नहीं गया. क्या मालूम मार डाले या पानी-खाने में जहर ही दे दे. एक जान-पहचानवाले के यहां ठहरकर संदेसे भिजवाये, बड़े-बूढ़ों को बीच में डालकर समझाने की कोशिश की—मगर बेकार... यहां भी मुझे चौकन्ना ही रहना पड़ता था. हाथ में पैसा है, गांव में उसका असर है, पता नहीं क्या कुछ करा दे... लेकिन जब लगा कुछ नहीं होगा तो वहां के दो-चार वकीलों से सलाह की कि बराबरी के हक का केस तो कम से कम दर्ज करा ही दूं. अब आप विश्वास नहीं करेंगे, जैसे ही वकील भाई का नाम सुनते, वैसे ही कान को हाथ लगा लेते, "ना बाबा. हमारे भी बाल-बच्चे हैं. हम इस केस को नहीं ले सकते." अब तो सचमुच, मुझे भी डर लगने लगा. इस कमबख्त का तो गांव में ऐसा आतंक है. मुझे लगा कि यहां तो कोई लाश उठानेवाला नहीं मिलेगा. वापस शहर में जाने में ही समझदारी है. और मैं चुपके से वापस शहर में आ गया. मगर स्थिति गले नहीं उतर रही थी और भीतर से खून खौलता था कि अजीब धांधली है कि जिसका जो मन हो सो कर ले... इसे तो बर्दाश्त नहीं किया जा सकता. लेकिन करूं क्या, समझ में नहीं आता था. हां, इससे एक अजीब बात यह जरूर हुई कि शहर में मुझे जो हर कदम पर खतरे की गंध आती थी, वह अपने आप ही कहीं उड़ गयी. अब मुझे हर जगह भाई का षड्यंत्र दिखाई देने लगा था. जब गांव में उसका इतना आतंक है तो जरूर उसने अब तक सारे कागज अपने हिसाब से बनाकर सब जगह अपना नाम ठोक लिया होगा...

"तो भाई साहब, मैंने शहर के एक वकील को तैयार किया. उसे लेकर गांव गया. सब खेत मकान दिखा दिये. बड़े-बूढ़ों से मिला दिया. फिर पता नहीं क्या हुआ कि तीसरे दिन वकील ने मना कर दिया कि आपके पास सही कागज-पत्तर या प्रमाण नहीं है, इसलिए मैं केस नहीं ले सकता. मैं तो सन्न रह गया. बहुत खुशामद-बरामद की. मगर वह बंदा मानकर ही नहीं दिया. जरूर भाई ने या तो उसे माल चरा दिया, या फिर डरा-धमका दिया. मगर साहब, बात यहीं खत्म नहीं हुई. एक दिन घर जाकर देखता हूं तो मां नहीं है. सारा घर खाली पड़ा है. इधर-उधर पूछा, पास-पड़ोस में देखा. वह तो कहीं निकलती ही नहीं थी. सारा घर संभालती थी और मेरे पीछे पड़ी रहती थी कि बहू ले आऊं. कोई रिश्ता ही नहीं आता तो मैं
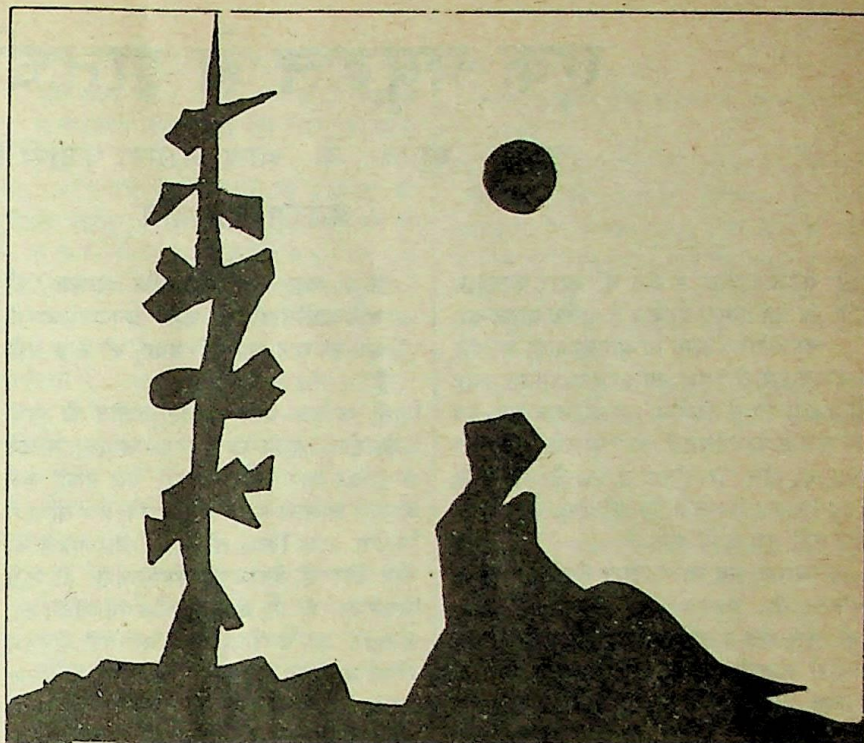
रेखांकन : प्रबोध पाटकर

शादी कहां से कर लेता. कुछ लोगों के कहने पर एक नर्स से शादी की बात चली तो लड़की ने ही मना कर दिया. हां, तो मैं बता रहा था कि मां खो गयी. सारे दिन इधर-उधर भटककर मैं थाने गया. वो साले पूछते हैं कि मां का दिमाग तो खराब नहीं था. कहीं निकल गयी होगी, हम कहां से ढूंढ़कर लायें... बोलो, उल्लू के पठ्ठो, अगर मां का दिमाग खराब है तो तुम्हारा फर्ज नहीं बनता कि उसे ढूंढ़कर लाओ? कोई आदमी पागल है तो तुम उसकी रिपोर्ट भी नहीं लिखोगे? खैर साहब, मैंने तय किया कि नौकरी जाये भाड़ में. मैं मां को ढूंढ़कर ही रहूंगा... भाई ने पुलिसवालों की जेब गरम कर दी तो जायें साले ऐसी-तैसी में... और मैं मां को खोजता-खोजता ही यहां आया हूं. मेरे कपड़े और हुलिया देखकर आपको भी अजीब लग रहा होगा. मगर मैं क्या करता. मेरे कपड़ों का बैग ही साले किसी उठाईगीरे ने मार लिया ट्रेन में... अच्छा, आपको नहीं लगता कि मेरे खिलाफ एक भयानक साजिश की गयी है और मुझे हर तरह परेशान करने की कोशिश की जा रही है. चलिए, मैं माने लेता हूं कि भाई ने लालच में जमीन-जायदाद मार ली, मुझे और मां को बेदखल कर दिया.. मगर उस सद्भावनावाली मीटिंग के बाद ही क्यों किया? पहले भी तो कर सकता था! पुलिसवाले रिपोर्ट न दर्ज करें. वकील मेरा केस न लें. मां गायब हो जाये. ट्रेन में कपड़े-लत्ते उठा लिये जायें—जो लड़की मुझसे शादी करने को तैयार थी, वह फटाक से मना कर दे, किसी से सुना था, बैंकवाले मेरे ऊपर तरह-तरह के आरोप लगाकर, मुझे ड्यूटी से गायब दिखाकर मेरे खिलाफ कार्रवाई करने जा रहे हैं— और अब मैं वापस जाकर देखूं कि मेरी गैरहाजिरी में मेरे घर चोरी हो गयी है, या उस घर में कोई और साहब जमे बैठे हैं— इन सारी बातों से मैं क्या समझूं...? आपको नहीं लगता कि यह बहुत बड़ी साजिश या बहुत बड़ा जाल है और मुझे जड़ से खत्म करने की कोशिश है... मान लीजिए, मैं यहां से बाहर निकलूं और दो आदमी मुझे दबोचकर पेट में छुरा उतार दें, या स्कूटरवाला बैठाने से इंकार कर दे या दनदनाती हुई कोई कार, बस ऊपर चढ़ती चली आये तो इस सबको आप सिर्फ एक संयोग और घटना मानेंगे? इस सबके पीछे आपको किसी का हाथ नहीं दिखायी देता... जी नहीं. मैं तकदीर या भगवान को नहीं मानता. पढ़ा-लिखा आदमी हूं और ऐसे अंध-विश्वासों से दूर रहता हूं. मगर इतना जरूर मानता हूं कि जो लोग आपको खत्म कर देना चाहते हैं उनके हाथ बहुत लंबे हैं, उनकी चालें बेहद बारीक हैं और अपनी इन्हीं हरकतों से वे आपको हर समय सताते रहते हैं...

मैं जानता हूं आपको मेरी बातों पर विश्वास नहीं आ रहा. मगर मेरे साथ तो ये सब गुजरा है, रोज गुजर रहा है—मैं कैसे न मानूं? और देखिए, मुझे मेहरबानी, करके इस तरह मत देखिए वर्ना मुझे आपसे भी डर लगने लगेगा और मैं समझूंगा कि आप भी उसी साजिश में शामिल हैं... □

एक फ्यूडल से बातचीत

राजेंद्र यादव के साथ सुधीश पचौरी की अंतरंग बातचीत

वे अपने दरबार में बैठे थे. अक्षर प्रकाशन का वह कमरा दरबार है राजेंद्र यादव का. चमकदार रेशमी या बोस्की कुर्ता था और सफेद कश्मीरी शाल. बाल ताजा शायद सुबह ही श्याम रंग में रंग दिये गये थे. उन्हें साठ वर्ष का होने से बेहद चिढ़ है. आप पूछिए, कहिए कि साठ के होने पर कैसा लगता है तो राजेंद्र चिढ़कर कह सकते हैं कि अरे काहे के साठ के. हम नहीं हुए अभी साठ के.

दरअसल, यह आदमी चिर कैशोर्य में रहना चाहता है. शायद वह सबसे बेहतरीन, निश्चिंत और कुलांचे मारनेवाली उम्र होती है. हमारी बातचीत ठीक यहीं से शुरू होती है. शायद उनकी छवि की कुल प्रतीति मुझे एक ऐसे किशोर की लगी जो बुजुर्ग दिखने से, बूढ़ा होने से कतरा रहा हो और बुढ़ापे को आने से मना कर रहा हो...

सुधीश पचौरी : आपने अपनी साठ-वार्षिकी के अवसर पर नेशनल पब्लिशिंग हाउस द्वारा प्रकाशित कथा संकलन 'पड़ाव एक-दो' की भूमिका को 'ऊधो मोहि ब्रज बिसरत नाहीं' शीर्षक दिया. क्या यह अतीत राग है? ब्रज की ऐसी विकल याद क्यों आ रही है?

राजेंद्र यादव : हर रचनाकार के पास अपने अनुभवों का एक 'पूल' होता है.

नहीं, ब्रज को लेकर यह व्यथा क्यों है? पहले तो यह कहीं नहीं नजर आती?

नहीं, दरअसल, उस उम्र की ओर हम बार-बार लौटते हैं जो हमारी सबसे 'सैंसिटिव' रही है और जो अनुभव हमने उस उम्र में एक्वायर किये होते हैं. कैशोर्य का जगत बेहद 'अनफिल्टर्ड' होता है, अदूषित होता है. कच्चे मिट्टी के लौंदे की तरह के अनुभव होते हैं. वे ही जीवन भर हमें शेप देते हैं.

क्या यह अनुभव अभी ज्यादह हुआ यानी साठ वर्ष के होने पर या पहले भी कभी कचोटा इस चीज ने?

मेरे साथ यह हमेशा रहा. वह जीवन एक 'मदर टिंक्चर' की तरह रहा. जब जीवन रुकने लगता है तो हम बार-बार वहां से जीवन लाते हैं. प्रेरणा लाते हैं.

क्या यह सब सिर्फ इसलिए हो रहा है कि यह रचना प्रक्रिया का हिस्सा है? मुझे लगता है, यह आंशिक सत्य है, एक बड़ा सत्य क्या यह नहीं कि समाज की भविष्यहीनता भी कहीं छनकर आपके अतीत राग (नॉस्टैल्जिया) को बढ़ा रही है?

किसी हद तक भविष्यहीनता अतीत की तरफ धकेलती है. थोड़ा-सा रुको इस जगह... सोचने दो... अरे यार, सोचने दो... अब देखो, जब आज से चालीस साल पहले हमने, हम लोगों ने लिखना शुरू किया तो उससे कुछ पहले या उसी दौर में नेहरू की 'डिस्कवरी' ही नहीं लिखी जा रही थी, वात्स्यायन अपने जीवन का, इतिहास का पुनरावलोकन कर रहे थे. इन चीजों के पीछे जेल थी, जेल यात्रा थी. किंतु पिछले चालीस वर्षों में हिंदी में किसी ने इतिहास में झांकने तक की कोशिश नहीं की, किसी ने इतिहास नहीं देखा.

उम्र के एक खास पड़ाव पर पहुंचे 'नयी कहानी' दौर के महत्वपूर्ण कथाकार राजेंद्र यादव से बातचीत करते हुए जनवादी आलोचक सुधीश पचौरी ने मुद्दे तो बहुत से उठाये... आइये देखें, यह साक्षात्कार हमें इन चीजों को समझने में कितनी मदद करता है...!

क्या यह आधुनिकतावाद का असर नहीं कहा जा सकता कि उसने अतीत से, परंपरा से, शास्त्र से काट दिया हमें?

हां, किसी हद तक ऐसा कह लो... अब उदाहरण ले लो. माइथोलौजी की पुनर्व्याख्या करने का काम बहुत पहले हुआ था. पुनर्जागरण या नवजागरण—कुछ भी कह लो, उस जमाने में. उस वक्त जातीय पहचान की छटपटाहट थी. वह चलन एक वक्त में रुक गया सो रुक गया. हम लोगों के लिए 'मिथ' आदि सब बेकार हो गये. इतिहास में जाकर आधुनिक समस्याओं को रिफ्लैक्ट नहीं किया. न निर्मल ने किया, न कमलेश्वर ने, न राकेश ने, न मैंने.

किंतु ब्रज की याद में जड़ों की ओर लौटने के संकेत मिलते हैं....

वह अतीतरागी टाइटिल है. आदमी वर्तमान को पार करके स्मृति के जरिये जाता है. यही तो स्मृति है मेरी. यही तो संपत्ति है मेरी. तो मैं तो जाऊंगा. फिर आऊंगा.

मैं फिर इसमें छिपी भविष्यहीनता को रेखांकित करूंगा. क्या आप भी फील नहीं करते कि एक आसान-सा, समस्या रहित भविष्य का सपना लगभग नष्ट हो गया है. और आदमी पीछे खतरनाक ढंग से जा रहा है?

भविष्य का सपना कौन दिया करता है? वह व्यक्तिगत नहीं हुआ करता. उस सपने को हमेशा सामाजिक आंदोलन देते हैं. आज आंदोलन दिशा नहीं दे रहे हैं. व्यक्तिगत सपने कोई मदद नहीं किया करते. जब आंदोलन ने सामाजिक शक्तियों के साथ कोलैबोरेट करना बंद कर दिया तो लेखक क्या करे? उसका भविष्य कहां से आये? डेस्पेयर तो होगा ही.

मैं आपकी पत्रिका के दो संपादकीयों पर थोड़ी-सी बातचीत यहां जरूरी समझता हूं. पहला संपादकीय वह जिसमें आपने कट्टरपंथी हिंदुओं से एक तर्कशील एवं प्रगतिशील हिंदू के रूप में चुनौतीपूर्ण शैली में बहस-सी उठायी है. यह शायद सितंबर अंक में है और अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि किसी लेखक ने पहली बार (बहुत दिन बाद) खुद को हिंदू कहा है फिर भी वह शर्म के मारे गड़ नहीं गया है. मुझे यह अच्छा लगा. किंतु बताइए कि ऐसी जरूरत क्या आन पड़ी कि ऐसा लिखा जाता है?

इसलिए करना पड़ा, वे हिंदू तत्ववादी प्रायः कहते मिलते हैं कि वो (यानी मुसलमान) तो कम्युनल है, हिंदू कम्युनल नहीं होते. ऐसा कहकर वे अपने सांप्रदायिक होने का औचित्य देते रहते हैं. किंतु मुझे लगता है कि हम हिंदू सबसे ज्यादह कम्युनल हैं. यह मैं अपने भीतर के संस्कारों को टटोलते हुए कह सकता हूं. मैं पिछले चालीस वर्ष से मंदिर नहीं गया, पूजा

नहीं की. किंतु आजकल ऐसी जड़ताओं को कभी-कभी अपने भीतर जागृत पाता हूं तो धक्का लगता है, दुख होता है, व्याकुलता होती है, घबराहट होती है. रिटैलियेशन में मेरे मन में कभी-कभी सड़ा हिंदू धर्म जागने लगता है. तब मैं उन लोगों की आसानी से कल्पना कर सकता हूं जो धार्मिक वृत्ति के होते हैं. आम लोग, हम हिंदू सामाजिक आचरण में ही कम्युनल होते हैं, दोहरे मानक रखते हैं.

किंतु यह संपादकीय में क्यों? आखिर इतना पर्सनल क्यों लिखा? किसे एड्रेस किया है यह?

लेखकों को, बुद्धिजीवियों को, खुद को, सभी को. प्रगतिशीलों ने अब तक समझा हुआ था कि हम धर्म से ऊपर हैं. सैक्यूलर हैं और हम खुश रहते थे, आत्ममुग्ध. यह अनरियलिस्टिक एप्रोच थी. अब जब यह महसूस होता है कि मैं मानो एक हिंदू के रूप में मारा जा सकता हूं या एक हिंदू होने के नाते बचा लिया जा सकता हूं तो गहरा धक्का लगता है. हवाई होने के चक्कर में हम इस तथ्य को नकारते रहे कि हम हिंदू हैं. हमें मानना चाहिए कि हम भी हिंदू हैं. फिर तय करें कि कैसे हिंदू हैं हम. हम नीरद चौधरी की तरह औपनिवेशिक हो जायें या देसी हो जायें.

क्या जातीय पहचान की तड़प है यह?

वही है. नीरद चौधरी जैसे कह सकते हैं कि जो उकड़ूं पाखाना करते हैं, वे क्या सोच सकते हैं? यह उपनिवेश का उच्छिष्ट दिमाग है. उनका बस चलता तो भारत में जन्म ही न लेते. किंतु हमारी तो एक जातीय पहचान है.

आपने हिंदू को अत्यंत पिछड़ा कहा, दोरंगा कहा?

हां, हिंदू एक बेहद लद्दड़ कौम है (मेरी हंसी छूटती है) कौंच-कौंच करके तंग कर दिया. तात्कालिक राजनीति के लिए सरकार ने कोर्ट का हैंडिल दिया तो खड़े हो गये, ताल ठोंकने लगे. उधर कांग्रेसी, कम्युनिस्ट—वे भी कांग्रेस के संस्कारों वाले हैं, बहुत कुछ एक ही थैली के चट्टे-बट्टे. वे सैक्यूलर होने का मतलब सिर्फ इतना समझते हैं कि अल्पसंख्यकों को प्रोटैक्शन दो. इससे उकसावा मिलता है, रिटैलियेशन होता है.

क्या बढ़ती सांप्रदायिकता का यही एक कारण है या जीवन में असंतोष और दुख भी धर्म की ओर धकेलते हैं....

असंतोष तो है. अमानवीयकरण है. धर्म की ओर जाता है आदमी किंतु यह धर्म तो पाखंड है. यह वह भक्त कवियों वाला धर्म नहीं है. यह तो बूर्जुआवर्ग का कारनामा है, उसने इतना बड़ा राक्षस खोल दिया है कि डर लगता है. अब कौन कैसे कंट्रोल करेगा इसे?

यानी सैक्यूलर होने के अधिक गहरे अर्थों की ओर जाना—यही इशारा है आपके संपादकीय का? जड़ों की ओर जाता है वह?

हां. प्रगतिशील लोगों को अपनी जड़ों को भी देखना चाहिए. हमने अपने औजारों को ही लक्ष्य मान लिया था. मार्क्स और मार्क्सवाद एक वैज्ञानिक दृष्टि जरूर है किंतु वह लक्ष्य तो नहीं है, लक्ष्य तो मनुष्य समाज ही है. वह तो एक जरिया हो सकता है, औजार. अपने देश की जरूरतों के अनुसार हम उसे पढ़ते, समझते. किंतु प्रगतिशील सोच ने हर चीज बेहद प्रेडिक्टेबल कर दी. अब हर चीज प्रेडिक्टेबिल कैसे संभव थी? जड़ पदार्थ भले प्रेडिक्टेबिल हों, चेतन पदार्थ नहीं हो सकते. अब उनका विस्फोट हो रहा है.

यही आना था, अक्तूबर के संपादकीय में अपने इसी 'प्रेडिक्टेबिलिटी' के ध्वंस यानी समाजवादी व्यवस्था के भीतर हो रहे परिवर्तनों पर लिखते हुए मार्क्सवाद की ओर पुनः जाने पर जोर दिया है. आपसे सहमति होते हुए पूछना चाहूंगा कि समाजवादी व्यवस्था के भीतर परिवर्तनों के कारण तमाम बाह्य ही हैं या आंतरिक भी हैं? इनका हमसे कैसा संबंध हो सकता है?

दरअसल क्रांति के बाद समाजवादी देशों ने समझ लिया कि हम दुनिया से स्वयं को इम्यून कर लेंगे. इंसुलेट कर लेंगे और शुद्ध प्रबुद्ध बने रहेंगे.

यह तो ट्रॉट्स्की का कहना था कि एक देश में समाजवाद संभव नहीं है...

हो सकता है कहा हो. मैं भी यही मानता हूं. ऐसा इम्यून होना संभव ही नहीं था.

गोर्बाचेव ने शायद समझा, रियलाइज किया कि आज के समाज में 'बंद' इम्युनाइजेशन संभव नहीं....

यह प्रगतिशीलता बाकी दुनिया को भूलकर थी. अलग-थलग था यह सब.

यहां से नयी कहानी पर बात ले आयी जाये. यह 'नयी कहानी', नामकरण कहते हैं, आपका है जबकि श्रेय लूटा नामवर ने?

न मैंने, न नामवर ने यह नाम ईजाद किया. सच तो यह है 'कल्पना' में 1954-55 में दुष्यंत कुमार का एक लेख आया था और ऐसा ही लेख उसने अपनी पत्नी राजो के नाम से धर्मयुग में उन्हीं दिनों छपवाया था. वह बहुत-सी चीजें पत्नी के नाम से लिखा करता था. नामवर की चालाकी यह रही है कि जो चीज क्लिक करती है, उसे मार लेते हैं, अपनी जेब में रख लेते हैं.

तो आपने स्थिति साफ क्यों नहीं की? श्रेय क्यों लेने दिया?

(चुप ही रहे यादव जी)

यह ज्यादती क्यों सहन की आप लोगों ने उनकी?

साप्ताहिक हिंदुस्तान में 1964-65 में मैंने 'कहानी, नयी कहानी' शीर्षक से एक लेखमाला लिखी थी, आठ अंकों में. यह नाम जब नामवर अपनी किताब का रखने लगे तो हमने कहा भी कि क्यों रखते हो? किंतु नहीं माना उन्होंने. दरअसल वे 'ग्रैबर' हैं. मंच ग्रैब करते हैं आजकल.

किंतु, आप लोग स्वयं ग्रैब करने देते हैं. हम लोगों के साथ तो वे ऐसा कभी नहीं कर पाते?

1951 में प्रतीक में मेरी कहानी 'खेल-खिलौने' छपी. उसी में शिवप्रसाद सिंह की 'दादी मां', छपी. मेरी कहानी शहरी मध्यवर्ग पर थी, उनकी ग्राम पर. तभी से नयी कहानी में शहरी बनाम ग्रामीण की बहस शुरू हुई. कमलेश्वर, राकेश के आने तक मेरे, मार्कंडेय के दो-दो संकलन आ चुके थे.

तो अब आप सीनियारिटी का रौब मार रहे हैं, उन पर मारिये जिन पर चले. नामवर पर तो कोई रौब नहीं मारा जाता आप लोगों से.

क्या करते?

खंडन करते, तथ्य स्पष्ट करते, उनके झूठ को सामने रखते ताकि सनद रहती. डर काहे का?

छोटे-मोटे रूप में करते रहे... अब देखो 1965-66 में मेरे संकलन 'कथायात्रा' और 'एक दुनिया समानांतर' आये और दोनों ही नाम कमलेश्वर ने यूज किये.

अब रोते रहिए कि हाय फलां लूट ले गया, ढिमका चुरा ले गया. एफ.आई.आर. तो तत्काल हुआ करती है.

नामवर की पर्सनैलिटी बड़ी डॉमीनेटिंग रही है.

रामविलास जी का व्यक्तित्व हैडमास्टर का है जो अपने छात्रों को डांट-फटकार सकता है किंतु क्षुद्रता कम रहती है पर नामवर के व्यक्तित्व में एक 'बुली' रहता है. इस 'बुली' से टकराये नहीं आप लोग?

दोनों में बड़ा फर्क है. रामविलास पुराने मूल्यों के हैं. निजी रिश्तों का पूरा खयाल-सम्मान करते हैं, निभाते हैं. निराला को महान सिद्ध करना है तो करेंगे. किंतु नामवर ऊपर से रचना का नाम लेंगे, भीतर से व्यक्तिगत संबंधों को तरजीह देंगे. उनका यह नाटक काशीनाथ के वक्त खत्म हो जाता है. वे ब्लड रिलेशंस के मामले में बेहद पर्सनल हैं.

कुछ लोग उन पर जातिवादी, ठकुरवादी तक होने का आरोप लगाते हैं यद्यपि मैं ऐसा नहीं मानता.

वे लगते तो नहीं किंतु कभी-कभी ऐसा आभास जरूर देते हैं.

कहानी के भविष्य को लेकर आपने जो दो गोष्ठियां अयोजित कीं, उनकी उपलब्धि क्या है?

अभी क्या मूल्यांकन करें? अभी कुछ नहीं हुआ है. हां, संवाद की जरूरत और बढ़ी है. कथा की चिंता इधर बड़ी लगी है. लोगों ने गंभीरता से बात की. और बातचीत की भाषा भी वही नहीं थी जो पिछले बीस साल से जार्गन से बोझिल हो चली है. एक ताजी एप्रोच नजर आती है इधर कहानी के सोच में. लोगों ने इसे पसंद भी किया है. एक मजदूर एक जमीदार को अंत में मार लेता था, या चार मजदूर हड़ताल करके दम लेते थे, उस पांखड का अंत हुआ लगता है.

अखिलेश की 'चिट्ठी' कहानी बेकार नौजवानों के नाकमयाब होकर लौटने की बात कर रही है. कहानी में समाज के लौटने की खबर देती है. जैसी कि 'चिट्ठी' में है? क्या कहानी में भागलपुर की कोई खबर नजर आती है? संजय के 'कामरेड के कोट' में भी यह खबर नहीं दिखती. क्यों?

युवा लेखक, खासकर प्रगतिशील जनवादी जब लेखक बनते हैं तो अपने अतीत को झाड़-पोंछकर फेंक देते हैं. फिर इस सब सामाजिक ह्रास को आउटसाइडर की तरह से देखते हैं. बिहार, यू.पी., दिल्ली आकर वे सैक्यूलर हो जाते हैं. जाति-बिरादरी से ऊपर उठ जाते हैं. जब लौटकर जाते हैं तो वैसे ही

भागलपुर ने कहानी के कथित यथार्थवाद के पाखंड की धज्जियां उड़ा दी हैं. इस सांप्रदायिक हिंसक विघटन की खबर किस कहानी में है. असगर, अब्दुल बिस्मिल्लाह, स्वयं प्रकाश आदि को छोड़कर. खासकर उनके नाम बताएं जो बिहार के यथार्थ को बेच रहे हैं?

असगर, अब्दुल बिस्मिल्लाह, स्वयं प्रकाश, यही हैं.

वीर राजा हैं, विभूतिनारायण राय हैं, भीष्म साहनी हैं, किंतु इन अंचल विशेष के कथाकारों के नाम बताएं जबकि वे तमाम क्रांतिकारी हैं.

नहीं, कोई नहीं है.

मन्नूजी आपको सामंतीय संस्कारवाला कहती हैं एकदम फ्यूडल?

नहीं कहती.

कहती हैं. आप कैसे कह सकते हैं कि नहीं कह सकती?

वे जनरली कहती हैं कि मैं, कमलेश्वर, राकेश आदि उस पीढ़ी के लोग मिजाज से फ्यूडल हैं, एटीट्यूड फ्यूडल हैं. अभी कल ही कमलेश्वर थे तो वे कल ही गालियां दे रही थीं कि चार-चार शादी चाहते हैं स्त्रियों के प्रति सामंतीय दृष्टि है.

दो चाय खत्म हो चुकी थीं. हरिनारायणजी अखिलेशजी चक्कर मारने लगे. सो अपन उठ लिये. □

अगली सुबह राकेश चले गये थे

□ चंद्रगुप्त विद्यालंकार

दिसंबर 1954 में जब मैंने भारत सरकार के 'आजकल' का संपादन प्रारंभ किया तो पाया कि समीक्षार्थ आयी पुस्तकों के ढेर में मोहन राकेश लिखित 'आखिरी चट्टान तक' भी है. राकेश तब तक लगभग अज्ञात थे, इसी से शायद पिछले संपादक ने उनकी रचना प्राप्ति-स्वीकार वाले ढेर में डाल दी थी. मैंने वह पुस्तक पढ़ी तो मुझे उसमें असाधारण ताजगी दिखाई दी. मेरी राय से वह एक सफल और जीवंत यात्रावृत्त था. विशेषतः एक नये लेखक की कलम से. मैंने 'आजकल' में 'आखिरी चट्टान तक' की विस्तार से चर्चा की. पाठकों का ध्यान इस नये लेखक की ओर आकर्षित किया. मेरी राय में यात्रावृत्त साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग होते हैं, यद्यपि हिंदी में इस विधा की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया था. पूरे अधिकार के साथ लिखा गया 'आखिर कहां तक तुम' मुझे बहुत पसंद हो आया था, साथ ही मैं उसके लेखन के प्रति विशेष आशावान हो गया.

कुछ ही दिनों के बाद मुझे राकेश का स्नेहपूर्ण पत्र आया. उन दिनों वह शायद शिमला के पास किसी शिक्षा संस्था में काम कर रहे थे. दिल्ली आये तो वह मुझसे मिले. मैंने पाया कि मोहन राकेश एक बहुत जिंदादिल, समझदार और मेधावी युवक हैं. दृष्टि की तीक्ष्णता भी उनमें यथेष्ट है. पहली ही मुलाकात में वह मेरे काफी नजदीकी बन गये. उनकी उन्मुक्त हंसी से मुझे दो अन्य साहित्यकारों की याद आ गयी. दोनों हिंदी साहित्य में मूर्धन्य स्थान पर हैं—प्रेमचंद और हजारीप्रसाद द्विवेदी. तब तक मुझे यह कल्पना भी नहीं थी कि शीघ्र ही मोहन राकेश हिंदी जगत का एक सितारा बन जायेंगे.

पांचवीं दशाब्दी की समाप्ति से पूर्व ही मोहन राकेश मेरे बहुत निकट आ गये. जो कुछ वह करना चाहते थे, उसके संबंध में उन्होंने कई पत्र मुझे लिखे. अन्य भी कितने ही नये लेखकों से मेरे निकट संपर्क रहे हैं. तभी से, जब मैंने लाहौर से पहले दैनिक 'जन्मभूमि' (1931) का संपादन किया था और 1932 में लाहौर ही से विश्व साहित्य ग्रंथमाला का संपादन और संचालन. पर मोहन राकेश में इरादे की जो दृढ़ता थी, जो निश्चय कर लिया, उसे सभी उपायों से कारगर बनाने को जुट पाने की जो शक्ति थी, वह मैंने अन्य किसी में नहीं देखी.

मोहन राकेश अपनी पसंद के कुछ ऐसे नये लेखकों का एक गुट बनाना चाहते थे, जिनका दृष्टिकोण समान हो. उनकी इच्छा थी कि वे सब एक दूसरे से अधिक से अधिक विचार-विनिमय करें, उनमें परस्पर दिमागी अंडरस्टैंडिंग हो (लिखें चाहे वे जो कुछ—एकदम अकेले रूप में—पूरी तरह स्वेच्छा से) और जो एक दूसरे को अधिक से अधिक प्रकाश में लाने की कोशिश करें. उनमें एक तरह का भाईचारा रहे, जो आज की दुनिया में ज्ञात होने के लिए और आगे बढ़ने के लिए नितांत आवश्यक है. इस संबंध में मुझसे उनकी विस्तारपूर्वक बातचीत हुई. मैं उनसे सहमत नहीं था. मोहन राकेश तो मुझसे करीब 20 साल छोटे थे, पर मैं जानता हूं कि मेरी अपनी पीढ़ी के कुछ लेखक भी असाहित्यिक उपायों से आगे बढ़े हैं. उन्होंने स्पष्ट रूप से गुट भले ही न बनाया हो, अपने चारों ओर एक घेरा-सा जरूर बना लिया था—ऐसे लोगों का जो उन्हें मान्यता दें, उन्हें अपना गुरु या मार्गदर्शक मानें. कुछ लेखकों ने अपने बारे में योजना बनाकर दर्जनों लेख लिखवाये थे, सच्चे-झूठे सभी उपायों से आगे आने की, प्रसिद्धि प्राप्त करने की चेष्टा की थी.

मोहन राकेश अपनी पसंद के कुछ ऐसे नये लेखकों का गुट बनाना चाहते थे जिनका दृष्टिकोण समान हो. उनकी इच्छा थी कि वे सब एक दूसरे से अधिक से अधिक विचार विनिमय करें...

उन्हें सफलता भी मिली. पर मैंने वैसा कभी नहीं किया था. मुझे यह सब एकदम नापसंद था. लाहौर में मेरा गुट बन सकता था. मुझे केंद्र में रखकर घेरा बनाने की तो कुछ मित्रों ने कोशिश भी की थी. पर मुझे वह स्वीकार्य नहीं था. मोहन राकेश की यह बात मानने का तो मेरे लिए सवाल ही नहीं उठता था. मेरा दृष्टिकोण जानकर राकेश ने मुझसे कहा था, "जानते-बूझते भी यदि आप वर्तमान युग की इस प्राथमिक आवश्यकता की अवज्ञा करते रहे हैं और करते रहना चाहते हैं तो यह आपकी इच्छा!"

क्रमशः उनके और मेरे दृष्टिकोण में अंतर बढ़ता गया. कई बातों में, विशेषतः व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन संबंधी बातों में हम दोनों के रवैये दूर होते चले गये. दिल्ली में एक जगह अचानक उनकी दूसरी पत्नी मुझे मिलीं. जिस भारी व्यथा से वह मेरे सामने रोयीं, मुझे बहुत दुख हुआ था. दोनों में मन-मुटाव हो चुका था. एक तरह से वे पृथक भी हो गये थे—पर मैंने राकेश को, इस संबंध में अयाचित सलाह तक देने की कोशिश नहीं की थी कि यदि दोनों में कोई समझौता हो जाता तो मुझे खुशी होती. हिंदी में जो गुटबंदी बढ़ रही थी, मैं चाहता था कि मोहन राकेश उसे हटाने का प्रयत्न करें. उनका दृष्टिकोण भिन्न था.

फिर भी मेरे उनके पारस्परिक संबंध अंत तक बहुत अच्छे रहे. अपने एक अत्यंत श्रेष्ठ उपन्यास का विमोचन उन्होंने मुझसे ही करवाया था. दिल्ली में जब 'भारती' की स्थापना हुई तो मुझे उसका संयोजक बनाया गया था. संविधान में इस संस्था का सिर्फ एक ही अधिकारी रखा गया था—संयोजक. 'भारती' की पहली बैठक बड़ी धूमधाम से आयोजित की जा रही थी. उसमें सिर्फ एक ही लेख पढ़ा जाना था. उसी पर विस्तार से चर्चा भी होनी थी. मेरे अनुरोध पर मोहन राकेश ने यह लेख लिखना और पढ़ना स्वीकार कर लिया था.

जिस सांझ मोहन राकेश का देहांत हुआ, उसकी प्रातः उन्होंने मुझे टेलीफोन किया. मैं चंडीगढ़ गया हुआ था. उन्होंने मेरी पत्नी से कहा कि वह आते ही मुझे अवश्य फोन करें.

मैं रात के ग्यारह बजे लौटा. पत्नी ने राकेश का संदेश दिया. मैंने कहा—'अब देर हो गयी है. प्रातः उन्हें फोन करूंगा.'

पर प्रातःकाल के अखबारों से समाचार मिला कि मोहन राकेश सदा के लिए चले गये हैं. वहां, जहां एक दिन हर किसी को जाना है. मैं तत्काल उनके निवास स्थान न्यू राजेंद्र नगर की ओर रवाना हो गया था. □

दालचीनी के जंगल

☐ कमलेश्वर

जन्म : 6 जनवरी, 1932 मैनपुरी (उ.प्र.)
प्रमुख कृतियां : 'राजा निरबंसिया', 'कस्बे का आदमी', 'खोई हुई दिशाएं', 'मांस का दरिया' (कहानी संग्रह). 'एक सड़क सत्तावन गलियां' 'समुद्र में खोया हुआ आदमी', 'आगामी अतीत' (उपन्यास) व 'नयी कहानी की भूमिका' (आलोचना)
संप्रति : स्वतंत्र लेखन व दूरदर्शन के लिए फिल्म-निर्माण में संलग्न.
संपर्क : डब्ल्यू-26, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-110016

जब भी उसे मौका मिलता तो वह मुर्दाघर में जाकर बैठ जाता. वैसे उसे अस्पताल में कभी-कभी लोगों ने इधर-उधर बैठे या घूमते भी देखा था. किसी को कुछ भी पूछने की जरूरत नहीं पड़ती थी... अस्पतालों या स्टेशनों पर कौन किसे पूछता है कि तुम कहां से आये हो? मरीज और मुसाफिर से कोई उसका नाम-धाम नहीं पूछता.

उस दिन भी वह आराम से मुर्दाघर में ही बैठा था. वैसे जगह तो नहीं थी--मुर्दे एक-दूसरे पर बोरों की तरह चिने हुए थे. मुर्दाघर--मुर्दाघर से ज्यादा गोदाम-सा लग रहा था. उसे इस बात से राहत मिलती थी कि मुर्दे कुछ बोलते नहीं थे. इंसानी आवाजों से उसकी नसें फटने लगती थीं... दिमाग में आवाज धुंध की तरह गूंजती थी तो उसे लगता था जैसे उसकी खोपड़ी में आतिशबाजी की चरखियां घूम रही हों.... उड़ती चिनगारियां कानों के रास्ते निकल रही हों....

कैसी थी वह दुर्घटना कि आदमी को अपना नाम तक भुला दे. किसका षड्यंत्र है यह जो आदमी से पहले उसका नाम और फिर उसकी पूरी दुनिया ही छीन लेता है?

ऐसा तभी होता था जब मुर्दाघर के बाबू के साथ कोई किसी मुर्दे की शिनाख्त-पहचान के लिए आता था. कुछ आवाजें तभी आती थीं और उसके दिमाग में चरखियां चलने लगती थीं.

ज्यादातर मुर्दे ऐसे थे जो गैस की घुटन से मरे थे... और अब सांस रोके हुए हुए आराम से पड़े थे. उनमें से बहुत-से मुर्दों को वह अच्छी तरह पहचानता था. बस, उनके नाम उसे याद नहीं थे. मुर्दों को भी उसका नाम याद नहीं था... अपने नाम को याद करने के लिए वह दिमाग पर बहुत जोर डालता था, पर उसे याद ही नहीं आता था. कभी-कभी तो अपना नाम याद करते हुए उसके दिमाग से खून और आग के इस तमाशे में वह बेहाल और बदहाल हो जाता था और तब उसे मुर्दाघर में ही खामोशी और शांति मिलती थी. फव्वारे धीरे-धीरे सूख जाते थे और चरखियां बुझ जाती थीं... लेकिन फिर कुछ और होने लगता था... उसके फेफडों में गरम लूं के अंधड़ चलने लगते थे और आंखें फुलझड़ियों की तरह चिटचिटाने लगती थीं... सामने सलमा-सितारे उड़ने लगते थे.

कभी-कभी मुर्दे आपस में बात करते थे और किसी एक मुर्दे के दुख-सुख में शामिल हो लेते थे--"अच्छा हुआ, अब आराम से तो सो रहा है... नहीं तो रोज आकर सूदखोर सताता था. बेचारा भागा-भागा छुपता फिरता था. पांच लड़कियां थीं सामने और एक लंगड़ा बेटा... 'तीन लड़कियां तो पार लग गयीं, वे सल्तानियां अस्पताल के मुर्दाघर में पड़ी हैं, दो का पता नहीं." दूसरा मुर्दा खबर देता तो तीसरा पूछ लेता, "इसे मालूम है?"

"मालूम है, तभी तो इतनी बेफिक्री से पड़ा है. चैन की नींद ले रहा है!"

"कोई औरत नहीं आयी अपने यहां?"

"वो सब सुल्तानियां में पड़ी हैं!"

"आखिर इज्जत का सवाल भी तो है... मर्द-मुर्दाघर में वो लाज-शरम से मर जातीं!"

जब मुर्दे बातचीत कर रहे थे, तब उसे अपनी बीवी का खयाल भी आया था... उसकी सूरत सामने नाच रही थी, पर नाम उसका भी याद नहीं आता था. वह उसे क्या कह के पुकारे! किस नाम से आवाज दे? उस रात तो वह बड़े का गोश्त पका रही थी जिस रात गैस फटी. सर्दियां की रात थी और चूल्हा दोनों तरह से गर्मी दे रहा था. लपटों से भी और पकते गोश्त की खुशबू से भी. उसकी बीवी रह-रहकर उसे देख के मुस्करा रही थी.... वह दिन एक अच्छा दिन था जब इतने दिनों बाद दोनों गोश्त खाने वाले थे... उसकी बीवी ने उसे बताये बिना जो पैसे बचाये थे. उन्हीं से वो बड़े का गोश्त लायी थी...

"तुम्हें अगर दस दिन कलिया न मिले तो तुम मेरा कलिया बना देते हो!" उसकी बीवी ने उसे मनुहार भरा ताना दिया था और शोखी से मुस्करा दी थी. उसकी सहेली ने विदा के वक्त उसे कन्नौज के इत्र की एक छोटी-सी शीशी दी थी... जिसका चावल बराबर फाहा वह अपनी तुड़ी में दवा लेती थी और तब वह कस्तूरी की तरह महकती थी. उसकी बीवी को अपने तराई के जंगल बहुत याद आते थे... जिनमें हिरनों के झुंड घूमते रहते थे और जहां बरसात के दिनों में भीग कर दालचीनी के पेड़ महका करते थे. उन भागते जंगलों की महक उत्तरी हवाओं पर तैरती आती थी... जिसके लिए उसकी बीवी भोपाल में बहुत तरसती थी.

...उसकी बीवी का तन-बदन भी दालचीनी के जंगलों की तरह भीगती और महकता था...

मुर्दाघर में तेजाब महकता था... ठीक वैसा ही जैसा गैस फटने पर महका था... लेकिन अब वो आदी हो गया था... इस तेजाबी गैस की महक का. वही महक तो पकते कलिया की सोंधी महक में घुल-मिल गयी थी और उसके बाद उसकी आंखों में गंधक सुलगने लगा था. धुआं निकलने लगा और उस धुएं के बीच और बाद फिर उसे उसकी बीवी दिखाई ही नहीं पड़ी थी.

उसके बाद तो अब चार साल हुए... हमीदिया अस्पताल का वह मुर्दाघर भी छूट गया, जहां वह राहत के लिए छुपकर बैठा करता था--उस दिन मुर्दाघर में गर्मी बहुत ज्यादा बढ़ गयी थी. ठेकेदार ने पूरा बर्फ ही नहीं दिया था और जितनी सिल्लियां आयी थीं, वे गल चुकी थीं. तेजाब की महक वाला गंदला पानी नालियों में बीमार सांप की तरह सरक रहा था. गर्मी न बढ़ती तो वह नहीं निकलता. गर्मी भी थी और चौकीदार ने उसे देख भी लिया था. इसलिए निकलना ही पड़ा.

जब दिमाग में फव्वारे नहीं फूटते थे और चरखियां नहीं चलती थीं तो कुछेक टुकड़े उसे याद आते थे. उसके बाद उसे कुछ याद नहीं आता था... अपना नाम तो कभी याद ही नहीं आता था... मुर्दाघर से निकलकर वह चुपचाप जहांगीराबाद की तरफ चला गया था... फिर छोला रोड से स्टेशन... ग्रीन पार्क... शाहजहानाबाद से घूमता हुआ लोहा बाजार... और फिर ठंडी हवा ने उसे खींचा था तो श्यामला हिल्स की तरफ निकल गया था.

राहत तो कहीं मिलती नहीं थी और मुर्दाघर का चौकीदार कुछ जरा ज्यादा चौकस हो गया था. अब वो घुसने ही नहीं देता था और घुस भी जाये तो वह गालियां देकर निकाल देता था. गनीमत यही थी कि जब से गैस फटी थी, भला हो उन लोगों का जो मुफ्त लंगर चला रहे थे, इसलिए उसे खाना मिल जाता था. वे दवाइयां भी देते थे पर वह तो दवाइयों से परे जा चुका था...

लेकिन उसे कुछ भी तो पूरा-पूरा याद नहीं आता--टुकड़े-टुकड़े में याद आता है फिर खो जाता है--सब कुछ.

एक भीड़ में तो वह भी शामिल हुआ था. हजारों की भीड़ थी—हाय हाय करती और मुआवजा मांगती! झंडे थे, लोग थे, दफ्तियां थीं... कुछ पैसे भी मिले थे पर उसके बाद तो कुछ याद ही नहीं आता... तभी से तो वह सब कुछ भूला हुआ है... कई बार तो उसकी और जिस झुंड में भी वह शामिल हुआ था, उसकी तस्वीरें खिंची थीं... लोगों ने सिनेमा भी उतारा था... एक अखबार में उसकी तस्वीर भी छपी थी, पर उस पर उसका नाम नहीं था. अगर होता तो कम से कम वह अपना नाम तो जान लेता.

नाम की कमी ने उसे बहुत सताया था. इसी हाल में वह मुर्दाघर से बेदखल किये जाने के बाद निकला था. चौकीदार ने बहुत गालियां दी थीं. अब वहां वह पुराने वाले और उतने मुर्दे तो नहीं थे... मुर्दों की यह बस्ती भी उजड़ गयी थी जिससे पहचान और नाम की मुसीबत और बढ़ गयी थी. आखिर मुर्दों में से शायद कोई उसे पहचानता... नाम लेकर पुकारता....

आखिर हमीदिया अस्पताल के फाटक से वह जब निकल रहा था तो किसी ने उसे देखकर और चौंककर कहा था, "अरे तू!"

तब एक पल के लिए उसे लगा था कि कम से कम यह एक आदमी है जो उसे पहचानता भी था और नाम से जानता भी था--इसीलिए तो वह उसके पीछे भागा था, यही चीखता-पूछता हुआ--"मेरा नाम तो बता दे!"

लेकिन पहचाननेवाला वह आदमी तो इस बुरी तरह डर के भागा था कि चौक बाजार तक पीछा करने के बावजूद वह उसे नहीं पकड़ पाया था और फिर उसी तरह अनाम-गुमनाम रह गया था.

इस दौड़-भाग के बाद उसके दिमाग में खून के फव्वारे फिर फूट पड़े थे और आतिश की चरखियां फिरने लगी थीं. दौड़ते-दौड़ते वह हांफने लगा था और लस्त होकर तालाब के किनारे बैठ गया था. इन्हीं झीलों के कारण दक्षिणी भोपाल के लोग बच गये थे... नहीं तो शायद पूरा का पूरा भोपाल बेहोश पड़ा होता, अंधा हो जाता या हरेक के फेफड़े फट जाते. एक पूरा का पूरा शहर मर जाता.

वहीं झील किनारे तब कुछ लोग बात कर रहे थे--बहुत बड़ी कंपनी है अमरीका की. उनके लिए हमारी जान की कीमत कीड़े-मकोड़ों से ज्यादा नहीं. वे तो आज से तीस-चालीस बरस पहले अपना गेहूं समुंदर में फेंक देते थे, जब अपना भारत भूखों मरता था... इन्होंने जान-बूझकर यह कंपनी भारत में लगायी थी और वे अपनी गैसों को आजमाना चाहते थे. वह होश में आते-आते यह सब सुन रहा था और फिर बेहोश-सा हो गया था. उसे सबसे ज्यादा अफसोस इसी बात का था कि वह आदमी जो उसे उसका नाम बता सकता था, भागकर भीड़ में खो गया था और अब उसे उसका नाम बतानेवाला शायद कोई नहीं था.
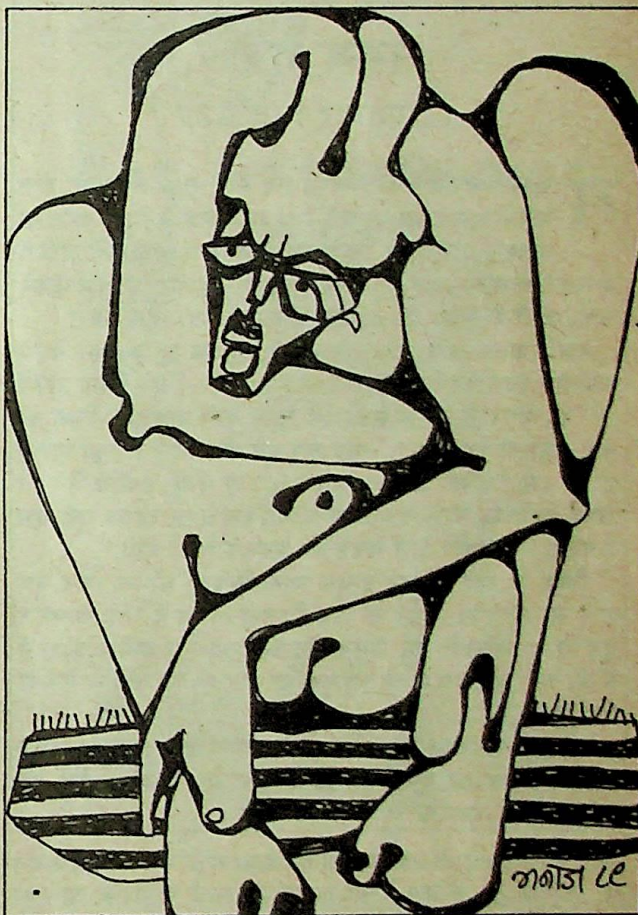
रेखांकन : मनोज कुलकर्णी

वह भोपाल को पहचानता था... भोपाल का नाम भी जानता था, पर भोपाल न तो उसे पहचानता था, न उसका नाम जानता था.

इसी जान-पहचान और नाम के झंझट को निपटाने के लिए उसने सोचा था कि वह अपनी ससुराल चला जाये--तराई वाले इलाके में, जहां दालचीनी के जंगल महकते थे और कस्तूरीवाले हिरन घूमते थे--पर उसे तो अपनी बीवी का नाम तक याद नहीं आ रहा था... न उसकी बस्ती का... और फिर उसे वहां पहचानता कौन? पहचान भी लेता तो भी क्या वह उसका नाम उसे बता सकेगा? या उसकी बीवी का?

यह होशी-बेहोशी का अजीब आलम था.

न जाने कितने नीम-हकीम डाक्टरों को काम मिल गया था. वे हमीदिया, सुल्तानिया, जयप्रकाश और अब नेहरू अस्पताल में नौकरियां पा चुके थे और उसके या उस जैसों के नाम पर रोटियां तोड़ रहे थे लेकिन उसका नाम वे भी नहीं जानते थे...

भारत भवन में किसी बड़े जलसे के विरोध में उसे भी एक बैनर पकड़ा दिया गया था... "भोपाल.गैस त्रासदी! जशन मत मनाओ, हमारा मातम मनाओ!" लेकिन भारत भवन वालों ने भी उसे नहीं पहचाना था. उसने सुना था कि उसका कोई शायर एक लाख रुपये की थैली उसी भवन से उसी जैसों की रहनुमाई करते हुए ले आया था, पर न उसे अपने शायर का नाम मालूम था. न शायर को उसका.

खैर, पैसे की उसे जरूरत नहीं थी कभी सरकार दे देती थी, कभी कुछ अमरीकावाले चंदा करके भेज देते थे. लेकिन जो फव्वारे उसके सिर में फटते थे और सुलगती हुई चरखियां चलती थीं, वे उसे जीने नहीं दे रही थीं.

लघुकथा

समय चक्र

□ रणवीर सिंह सेठी

संपत्ति के बंटवारे को लेकर पिता और पुत्र में ठन गयी. बात मारपीट तक जा पहुंची. आवेश में पुत्र ने पिता का गला दबाकर मार डाला. फिर रात के अंधेरे में लाश एक बोरी में डालकर झील में फेंकने पहुंच गया. ज्यों ही वह लाश झील में फेंकने लगा, बोरी से पिता की आवाज आयी, "बेटा! जरा ठहरो."

पुत्र एकदम चौंक पड़ा. पिता की आवाज सुनकर पहले तो भयभीत हुआ पर फिर हिम्मत करके बोला, "तुम जिंदा हो?"

"हां, मगर मैं तुमसे प्राणों की भीख नहीं चाहता." पिता का दबा-दबा-सा स्वर फूटा, "यदि तुम मुझे झील में फेंकना ही चाहते हो तो इस घाट को छोड़कर अगले घाट से फेंको, क्योंकि मैंने भी अपने पिता को उसी घाट से फेंका था. इस तरह शायद मुझे उस अपराध का प्रायश्चित करने का अवसर मिल जाये."

पिता के मुख से इस प्रत्युक्र वास्तविकता को जानकर पुत्र ठगा-सा रह गया. समय का चक्र कितना निर्मम है? यह जानकर पुत्र को आत्मग्लानि हुई. उसके होंठ कांप उठे—'जवानी के जोश में मैं भी वही अपराध करने जा रहा था और शायद भविष्य में मेरा बेटा भी...'

यह सोचकर वह सिहर उठा और बोरी की रस्सी खोलकर तत्काल पिता को मुक्त कर दिया. एक अपराधबोध दोनों की आंखों में तैर रहा था. □

और अब तो दवा भी नहीं मिलती थी. डाक्टरों ने मिलकर उसे पागल करार दे दिया था. लेकिन किसी डाक्टर ने उसके पागल हो जाने का कारण नहीं बताया था. उस वक्त वह फटी-फटी आंखों से अपने चारागरों को देखता रहा था और एक पल बाद ही सैकड़ों फुलझड़ियां उसकी आंखों से छूट पड़ी थीं. तब से उसकी जिंदगी बारहबाट हो गयी--

उसी दिन उसे एक बड़ा डाक्टर मिला था. वह मुर्दाघर के पिछवाड़े पीपल के नीचे रहता था. वह अस्पताल से फेंकी हुई टीके की छोटी-छोटी शीशियां जमा करता था और उन्हीं से अपन मरीजों का इलाज करता था. जब डाक्टरों ने उसे पागल घोषित कर दिया. तो वह बड़ा डाक्टर खिड़की के पास, बाहर खड़ा हंस रहा था. और जब उसे गैस के मरीजों की लाइन से धक्के मारकर निकाला गया तो इसी बड़े डाक्टर ने उसे बांह से पकड़ा था और अस्पताल के कचरे के ढेर पर बैठा दिया था. वह बड़ा डाक्टर वहीं खिड़की के पास खड़ा बड़बड़ा रहा था--दुःख घोड़े की चाल सरपट आता है और वीटी की चाल जाता है! दुःख घोड़े की चाल सरपट आता है...समझा!"

वह बड़ा डाक्टर उसे पीपल के नीचे ले गया था. उसका इलाज करने. टीके की पचासों शीशियां उसके पास थीं. बड़े डाक्टर ने हवा में से पर्चा और कलम उठाया, पूछा, "नाम!...उम्र... मोहल्ला..."

फिर खुद ही बोला था, "कोई बात नहीं..." और तब उसने एक झन्नाटेदार थप्पड़ उसके जड़ दिया था और कटखने बंदर की तरह चीखा था—"कुड़ुम-कुड़ुम की झइयम-झइयम... झइयम-झइयम! अबे साले ठीक से बजा!" बहुत देर तक दोनों बैंड बजाते रहे थे.फिर बड़ा डाक्टर थककर चूर हो गया था और लेटते हुए बोला था, "बेटा! मेहनत कर और दरिया में डाल!... अबे साले, देश में रहता है तो परदेसी की तरह रह! कचरा खा और कुत्ते की तरह मर जा!" फिर वह बड़ा डाक्टर हंसने लगा था और उससे बोला था, "रो!... जोर से रो..."

उसे रुलाई नहीं आ रही थी पर न जाने क्यों उसकी आंख में आंसू भर आये थे बड़े डाक्टर ने उसकी आंख की कोर पर टीके वाली शीशी लगाकर उसकी आंखों के आंसू निचोड़ लिये थे!

मैंने तेरे आंसू ले लिये हैं! जांच के बाद तेरी दवा तय करूंगा!... सबकी जांच अदालत में चल रही है... फटे हुए फेफड़ों की दवा अदालत देगी... फूटी हुई आंखों की दवा अदालत देगी... जबलपुर की बड़ी अदालत!... दुख घोड़े की चाल सरपट आता है... अपने दुख का भाव बता! कित्ते रुपये किलो है तेरा दुःख, बोलता क्यों नहीं साले!" और बड़े डाक्टर ने हाथ उठाया ही था और इससे पहले कि झन्नाटेदार एक और थप्पड़ उसके पड़ता, वह भाग खड़ा हुआ था. बाजार पहुंचकर उसे राहत मिली थी.

बाजार में अखबारवाला चीख रहा था, "भोपाल गैस कांड का निपटारा...सुप्रीम कोर्ट ने साढ़े सात सौ करोड़ दिलवाया..."

और एक आदमी प्लास्टिक की अपनी थैली को गेंद बनाता बोला, "साला मटन चालीस रुपये किलो हो गया!"

तभी एकाएक कलिया की सोंधी महक ने उसे घेर लिया... चूल्हे पर चढ़ा कलिया और दालचीनी के भीगे जंगलों की तरह महकती उसकी बीवी... दालचीनी के जंगलों की तरह महकता उसका भोपाल... सब जीते-जागते थे, जंगल भी, वह भी और उसकी बीवी भी...

उसने फिर दौड़ लगायी. बड़ा डाक्टर टीके की शीशियां हिला-हिलाकर आंसुओं की जांच कर रहा था. अभी उसकी जांच-रपट तैयार नहीं हुई थी.

वहां से वह सेफिया कालिज की तरफ भागा और भागता-भागता जहांगीराबाद पहुंचा. इस दौड़ में उसे चार साल लग गये थे. जहांगीराबाद की झोपड़पट्टी में जब वह पहुंचा तो अपनी झोपड़ी का रास्ता उसे नहीं मिला... उसे लगा कि वह अपने घर का रास्ता भी भूल गया है. यह तो कहो अच्छा हुआ कि जब वह बदहवास- सा रास्ता खोजता घूम रहा था तो किसी ने उसकी बांह पकड़कर पूछा था, "तू कहां था अब तक?"

उस-किसी ने इतना पूछा ही था कि उसने कसकर उस-किसी को पकड़ लिया था ताकि वह भागने न पाये और उसका नाम बता जाये. उस-किसी ने सवाल फिर दोहराया, "तू अब तक कहां था?"

"तू मेरा नाम जानता है?"

"नाम! क्यों मसखरी करता है मुश्ताक!"

"मुश्ताक! मुश्ताक! मुश्ताक!.... यह आवाज सब दिशाओं रिक्शे-तांगों की आवाज साफ-साफ सुनाई पड़ने लगी. सब कुछ जैसे नाम लौटने के बाद अपनी जगह लौट आया था. मुश्ताक दर्जी की दूकान में मशीन चलने लगी थी और कपड़े सिलने लगे थे... और उसकी बीवी प्यार से झगड़ने लगी थी—"तुम दूसरी औरतों का नाम मत लिया करो... मुझे अच्छा नहीं लगता."

"तूने इतनी मेहरबानी की है यार तो मुझे मेरे घर का रास्ता बी बता दे! मुश्ताक ने उस-किसी से पूछा था."

"तेरा घर! तेरा घर तो अब रहा नहीं मुश्ताक!" उस-किसी ने कहा.

"क्यों? मेरी बीवी... और अपने दिमाग पर जोर डालने के बाद भी

जब फौरन मुश्ताक को अपनी बीवी का नाम याद नहीं आया, तो उसने आहिस्ता और शर्मिंदगी से पूछा, "मेरी बीवी का नाम क्या था यार?"

"क्यों, उसका नाम भी भूल गया? भूलना ही बेहतर था... अच्छा किया?..."

"क्यों? अच्छा क्या किया?... खैर, वो बाद में, पहले जरा नाम तो याद दिला यार!"

"शबनम!"

"हां! हां! शबनम! शब्बो... शब्बो... और फिर दूर तक दिशाएं गूंजती चली गयीं— शब्बो! मुश्ताक! शब्बो! मुश्ताक...!

अपनी लौटी हुई खुशियों के जोश में उसे सब कुछ याद आ गया था. वह सब कुछ पहचान गया था. उसने उस-किसी, जिसका नाम अब उसे याद आ गया था, उसी दुल्लन को छाती से लगा लिया था, "मेरे दोस्त... मेरे यार... तूने मुझे मेरी सारी दुनिया लौटा दी!...! चल घर तो चल दुल्लन...शब्बो चाय बनायेगी..."

"शब्बो अब इधर नहीं है!" दुल्लन ने मायूसी से बताया.

"क्यों? कहां चली गयी? मायके लौट गयी?" मुश्ताक ने पूछा

"नहीं... वो छज्जा देखता है मुश्ताक! वो छज्जा जिस पर टीवी की छतरी लगी है... वो कबूतरों की छतरी वाला छज्जा नहीं...वो वो..." दुल्लन बता रहा था, "शब्बो तीन साल से वहीं बैठती है. एक साल तो उसने जैसे-तैसे तेरा इंतजार किया. फिर वहीं उस छज्जेवाले कोठे पर बैठने लगी... क्या करती! न तू था, न जिंदगी का कोई वसीला था."

एक भयानक सन्नाटे में मुश्ताक का दिमाग सुन्न-सा रह गया था. फिर दालचीनी के जंगल नायलन की साड़ियों की तरह धू-धू करके जलने लगे थे... दिमाग में खून के फव्वारे फूटने लगे थे और आतिशी चरखियां चलने लगी थीं... आंखें फुलझड़ियों की तरह चिटचिटाने लगी थी, फेफड़े धौंकनी से आग को सुलगाने लगे थे... कानों से गर्म धुएं के बगूले फूटने लगे थे...

मुश्ताक ने चारों तरफ देखा—हल्के-से मुस्कराया और फिर एकदम चीखता हुआ दौड़ पड़ा.

वह जगह-जगह रुकता था... चीख-चीखकर कहता था—"फुल प्लेट चार हजार... हाफ प्लेट पचास हजार... क्वाटर प्लेट चार लाख! कितना गोश्त हुआ?... हिसाब लगाओ... कितना गोश्त हुआ...?"

और वह फिर दौड़ पड़ता था. कहां, उसे खुद पता नहीं था. फिर कहीं रुककर वह चीखता था—"हिसाब लगाओ! घटाओ, जोड़ो... तकसीम करो... सात अरब पचास करोड़! पैसों का पहाड़! श्यामला हिल्स नहीं... अमरीकी पैसों का पहाड़.. फुल प्लेट चार हजार... हाफ प्लेट पचास हजार... क्वार्टर प्लेट चार लाख! कितना गोश्त हुआ? हिसाब लगाओ... जोड़ो, घटाओ..."

हमीदिया अस्पताल के गेट पर पहुंचकर मुश्ताक लगभग भाषण-सा देने लगा था—

"सबकी जाच अदालत में चल रही है... मिथाइल आइसो साइनेट गैस...एम.आई.सी. हवा में बह रही है... फटे हुए फेफड़ों की दवा अदालत देगी! फूटी हुई आंखों की दवा अदालत देगी! दुःख घोड़े की तरह सरपट आता है! भोपाल गैस कांड का निपटारा... अमरीकी पैसों का पहाड़..दालचीनी के जंगल जल रहे हैं पता है तुम्हें? मटन चालीस रुपये किलो! खरीदा तुमने...मस्ती करो बेटा मटन चालीस रुपये किलो...खा के देखो यारो! सात अरब पचास करोड़ रुपयों का पहाड़—फुल प्लेट चार हजार, जो टूट गयी है, हाफ प्लेट पचास हजार जो चटक गयी है, क्वाटर प्लेट चार लाख जो गैस की चपेट में पड़ी है,... जोड़ो, घटाओ, तकसीम करो और हिसाब लगाओ... फिर हासिल बताओ... वो बुत देखा है सालो तुमने... जो कहता है—हमें न हिरोशिमा चाहिए, न भोपाल... हमें सिर्फ जिंदा रहने दो... यह उनकी याद में है सालो जो गैस कांड में दो और तीन दिसंबर की रात सन चौरासी में मर गये या मार डाले गये... फुल प्लेट चार हजार... हाफ प्लेट पचार हजार, क्वार्टर प्लेट चार लाख!... हा! हा! अमरीकी कंपनी यूनियन कार्बाइड का कमाल!... ये साले अपनी गैसों की तासीर हम पर आजमा रहे हैं...

"जंगल कट रहे हैं... इंसान कटे पेड़ों की तरह मुर्दों में बदल रहे हैं... गोश्त ही गोश्त.. ज़िंदा गोश्त, मुर्दा गोश्त... मरता हुआ गोश्त!... गोश्त की मंडी खुल गयी यारों—गोश्त की मंडी... मुर्दा गोश्त.की मंडी, जिंदा गोश्त की मंडी... एक बुत अपनी कहानी कहता खड़ा है... दूसरा बुत बिस्तर में पड़ा है... दालचीनी के जंगल देखे हैं सालो! औरत का जिस्म बीस रुपये रात... लगाया हिसाब, जोड़ा, घटाया, भाग दिया, क्या हिसाब पड़ा? बताओ न, बहुत हिसाब आता है तुम्हें—औरत का जिस्म
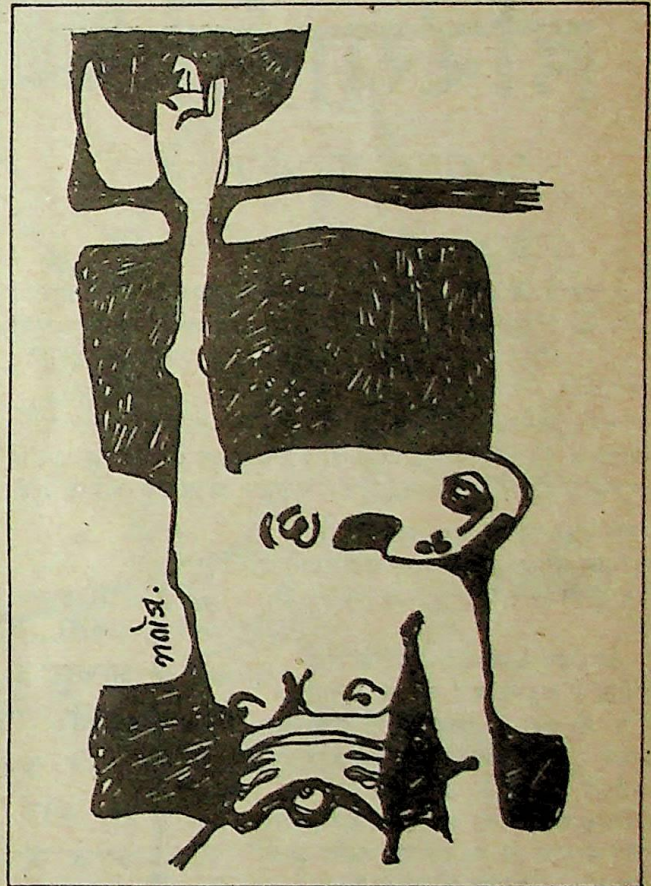
रेखांकन : मनोज कुलकर्णी

बीस रुपये रात... मटन चालीस रुपये किलो और इंसान का गोश्त ग्यारह रुपये किलो..."

इसी समय मुश्ताक के एक झन्नाटेदार झापड़ पड़ा. तमाशबीन देखकर हंस पड़े—बड़ा डाक्टर मुश्ताक को पकड़कर ले गया था, वहीं पीपल के नीचे... जहां उसकी टीके वाली शीशियां रखी थीं. मुश्ताक वहीं बैठ गया. हंसता हुआ. तभी बड़े डाक्टर ने पूछा, "क्या बक रहा था वहां?"

मुश्ताक ने उसे देखा फिर बड़बड़ाया, "पैसों का पहाड़! औरत का जिस्म बीस रुपये रात... मटन चालीस रुपये किलो! इंसान का गोश्त ग्यारह रुपये किलो..."

"कित्ते रुपये किलो है तेरा दुःख! बताता क्यों नहीं साले!" बड़ा डाक्टर चिल्लाया था, फिर शीशी हिलाते हुए बोला था, "जांच के बाद तेरी दवा तय करूंगा! कुड़ुम-कुड़ुम की झइयम-झइयम! कुड़ुम-कुड़ुम की झइयम-झइयम...."

और फिर बड़े उत्साह से दोनों बैंड बजाते रहे थे. □

शीशों के पार उगी हरियाली

जन्म : 14 अक्तूबर, 1931 (बाड़ेछीना, अल्मोड़ा)
मूल नाम : रमेश चंद्र सिंह मटियानी.
प्रमुख कृतियां : 'चिट्ठी रसैन', 'हौलदार', 'मुठभेड़', 'गोपुली गफूरन' (उपन्यास). 'मेरी प्रिय कहानियां', 'चील', 'प्यास और पत्थर', 'अतीत तथा अन्य कहानियां', 'अहिंसा तथा अन्य कहानियां' (कहानी संग्रह)
संप्रति : स्वतंत्र लेखन एवं 'जन पक्ष' का संपादन.
संपर्क : 261-ए, कर्नल गंज, इलाहाबाद, (उ.प्र.)

□ शैलेश मटियानी

"इसी खिड़की से कूदी थी?"—प्रश्न के साथ-साथ, मिस आचार्य ने खिड़की में लगे शीशों पर धीमे-धीमे अपनी उंगलियां फेरीं और फिर धीरे-धीरे खिड़की के दोनों पल्ले बाहर की ओर खोल दिये.

सुंदर, और संक्षिप्त, किंतु एक तरह से अपने आपमें पर्याप्त से पहाड़ी शहर के इस महिला सुधारगृह का रकबा इतना छोटा है कि अधिक खूबसूरत ही नहीं, बल्कि सटीक ढंग से कहना हो तो उसे 'महिला कुंज' कहा जा सकता है, क्योंकि शहर के लगभग अंतिम छोर के इस ऊंचे स्थान पर पुरुषों की आवाजाही नहीं के बराबर ही है.

कदाचित कुछ अधिक प्रतीकात्मक पद्धति में कहना चाहें तो इसे 'स्त्रियों का द्वीप' भी कहा जा सकता है; क्योंकि नीचे मुख्य सड़क पर चलते जब भी ऊपर को झांकिये, स्त्रियों की उपस्थिति नीचे को आवाज लगाती-सी आभासित होगी. खास तौर पर तब तो अवश्य ही, जबकि आप इस बात से अवगत हों कि ऊपर किस प्रकार की स्त्रियों का—बल्कि कहें कि किस प्रकार की स्त्रियों को स्थान है!

अब बिजली में जगमगाता है यह पहाड़ी शहर, किंतु अभी कुछ ही वर्ष पूर्व वो तमाम मकान राह में लालटेन लिये उपस्थित मालूम पड़ते थे, जिनकी खिड़कियों पर शीशे मौजूद हों. रात के गहराते जाने के साथ-साथ कुछ ऐसा सन्नाटा भरता जाता शहर में कि लगता, जैसे लोग ही नहीं, मकान भी सो गये हों. तब अगर कहीं देर रात को खिड़की के पल्ले खोलिये तो कुछ क्षणों को शहर के किसी अदृश्य झील में अंतर्लयित हो गये होने का भ्रम भी हो सकता था, किंतु इस वक्त तो सुबह है. इस वक्त जहां तक दृष्टि जाये, सभी ओर आद्य शंकराचार्य से 'इधर देखो, इधर...इधर देखो, इधर.' कहती-सी प्रकटता छायी हुई है. चारों ओर माया के प्रकट रूप की तरह सम्मोहित करता-सा प्रकृति का विस्तार. ऊपर वृक्षों में डूबी पड़ी-सी पर्वतश्रेणियां और नीचे घाटियों में खेतों के बीच माता के दूध की भांति बहती-सी नदियां!

रास्ता तो तब सुमिता आचार्य के सामने भी खुला था पर अपने लिए दरवाजे उसने खुद बंद कर दिये थे...और छह साल बाद आज जब राधिका उसी रास्ते पर चल पड़ी थी तो...?

मिस उपाध्याय को यह सृष्टि का सुबह-सुबह का एकाएक ही प्रकट होना भीतर तक चकित कर देता है. खिड़की के पल्लों को खोलते ही, आज भी सबसे पहले उनका ध्यान प्रकृति के विस्तार की ओर ही गया. फिर अपने में लौटीं तो सुधार गृह के ठीक नीचे झांकने पर, गलियारे में उगी हरी-हरी घास उनकी आंखों में छा गयी. कुछ क्षणों को वो जैसे उस नीचे से ऊपर तक झिलमिलाती हरितिमा में डूबी ही रह गयी. उन्हें अपने भीतर ओस की बूंदें बनती-सी अनुभव होती रहीं. उन्हें लगा कि जैसे बाहर उपस्थित प्रकृति ने उनके भीतर के विषाद को देख लिया है और कह रही है—मुझसे छिपाने की जरूरत नहीं!

चश्मे के शीशों पर उंगलियां फिराते हुए, मिस सुनीता आचार्य को एकाएक कुछ ऐसी अनुभूति हुई कि घास नीचे गलियारे में नहीं, बल्कि खिड़की के शीशों पर ही उगी हुई है. जैसे स्वयं से ही चौंक उठी हों, अपने-आपको छिपा लेने की-सी कोशिश में, खिड़की के पल्ले बंद करते हुए, अपना माथा उस पर टिका दिया उन्होंने.

पारबती चौकीदारनी, मिस आचार्य की इस आकस्मिक अन्यमनस्कता से, कुछ चिंतित हो गयी, "हुजूर मिस्साब, राधिका पातर के भाग जाने से ऊपर गवर्रमिंट से आपकी औफीसरी को कोई नुकसान पहुंचेगा क्या?" फिर वफादारी जताने लगी, "मगर मिस्साब, भागी तो राधिका आपकी नहीं, हम लोगों की लापरवाही से ठहरी. गवर्रमिंट पूछेगी तो खुद मैं चश्मदीद गवाही दूंगी, हुजूर ! हमारा भी कोई खास कसूर नहीं. हम लोग कहां जानती थीं कि उस रांड को अपनी अथाम जवानी का इतना जहर चढ़ा हुआ? बाबा रे, एक बांस ऊंची खिड़की से कूदकर भी मस्तानी के हाथ-पांव नहीं टूटे! ऐसी खतरनाक औरतों को तो डिस्टिक जेल में रखना चाहिए, हुजूर मिस्साब! अहा, कितनी ऊंची-ऊंची दीवारें ठहरीं डिस्टिक झेल की, और कैसे-कैसे तीखे कांच चढ़ाये हुए! पहले-पहले तो डर लगता था, बाद में घर ही जैसा लगने लगा. खैर... हुजूर मिस्साब, यह राधी तो बड़ी बदजात और हरामखोर

औरत निकली. गवर्नमेंट ने रहम करके, औरत जात समझकर, यहां बाप के जैसे घर में रख दिया पातर को! डेढ़ महीने पकाया-तताया बम बजाकर खा गयी सरकारी अन्न, अपने ही खसम की जैसी कमाई समझकर—और आखिर को चुड़ैल हमारी मिस्साब को जो फंदे में डाल गयी."

कभी-कभी कितनी विचित्र-सी लगती है यह बात कि सृष्टि के ऐसे विपुल तथा स्तब्ध कर देने वाले विस्तार के बीच कितनी टुच्ची-सी समस्याओं में घिरे होते हैं हम. रात जाने कब तक खुद के निचाट एकांत पर सोचती रही थीं मिस आचार्य और सुबह-सुबह पार्वती चौकीदारनी

रेखांकन : मनोज कुलकर्णी

ने एक ऐसी सूचना दी है जो ऊपरी सतह पर जितनी सामान्य, गहरे अर्थ में उतनी ही भीतर तक बेधनेवाली है; क्योंकि एक तरह से यह झील में कंकर का गिरना है. लगता है, कल रात के सारे विषाद को कोई शब्द-शब्द सुन रहा था और उसने ही यह घटना घटित की है.

कैसे कई बार किसी अदृश्य के इंगित की भांति प्रकट होती हैं जीवन में घटनाएं, सहसा ध्यान नहीं जाता किसी का; क्योंकि सन्नाटे को भी सुन सकने की गुंजाइश तभी बनती है, जब चित्त कहीं गहरे तक डूबा हो. खासकर स्मृतियों में. क्योंकि कदाचित् खुद के भीतर आलोड़न-विलोड़न नहीं तो पत्थर का गिरना भी कुछ नहीं. भीतर झील है तो कंकर ही काफी हैं.

साथ में खड़ी पावनी जैसे यह बताने को ही सूचना लायी हो कि जीवन के तार कहां तक जाते हैं. पारबती चौकीदारनी बालविधवा है. बाकी उमर न-जाने कैसे काटी, चालीस साल की उमर में एक हलवाई के ऊपर हर्जे-खर्चे का दावा करने और उसके खारिज होने के बाद, तीन साल पहले इस महिला सुधार-गृह में आ गयी थी. जिसके ऊपर दावा किया था, वह चौथे ही महीने मर गया और तब से धीमे-धीमे पारबती की जिंदगी की धार थमती चली गयी और सुधार-गृह की इंचार्ज मिस आचार्य ने उसे यहां चौकीदारनी रख लिया.

शुरू-शुरू में पारबती को गंदी गालियां बकने की आदत थी. सुधार-गृह में ज्यादतर असामाजिक वृत्तियोंवाली या लावारिस प्रकार की औरतें आया करतीं और पारबती चौकीदारनी उनसे तरह-तरह की बातें पूछकर, फिर उलटे उन्हीं को गाली देती. उसका रौब-दाब बिल्कुल निगरानी-हाकिम का जैसा होता और उसकी परेशान करने की आदत की कोई मिस आचार्य से रिपोर्ट भी कर देती कभी तो सिर्फ मामूली-सी डांट-फटकार उसे पड़ जाती और वह भी अकेले में. बाद में, पारबती उस शिकायत करनेवाली औरत की ठुड्डी को अपने भोंथरे अंगूठे से ऊपर की ओर उठा देती "क्यों दुलहन, बड़ी शरम लगी अपना चरित्तर कहते में? बड़ा शूल चुभ गया कलेजे में? अरी, मेरी यार, खड़ी होती तू भी जब कलक्टर सैप की कचहरी में तो पता चला कि काले कोटों से अपना सारा जिस्म ढांकने के बाद वकील लोग कैसे-कैसे सवाल पूछते! कलक्टर सैप को तो मैं बिशन हलवाई का नाजायज गर्भ बताती रही, मगर वकील सैप ने जिरह करी तो मेरे मुंह से नाम किसन पनवाड़ी का भी निकल पड़ा! और मैं फालतू औरत करार दी गयी!... और ससुरा मेरा दावा खारिज हो गया. बिशन हलवाई की बदफेली पर साधो सींग वकील का काला लबादा पड़ गया और मेरी इज्जत पर किसन पनवाड़ी का कत्था..."

एक भद्दी गाली बिशन हलवाई को देते हुए, पारबती चौकीदारनी शिकायत करनेवाली औरत की ठुड्डी अंगूठे से नीचे को दबा देती तो वह भी हंस पड़ती और एक ही सरोवर की मछलियां होने की-सी अनुभूति, उसे भी गांठ-गांठ खोलती चली जाती.

खुद बहुत कड़ी चोटें सहने के बाद थमी पारबती में उन अपनी जमीन से उखड़ चुकी औरतों के लिए सहानुभूति भी कम नहीं थी. गालियां बकना भी बहुत-कुछ उसी कचोट की प्रतिक्रिया थी, जो अपनी-जैसी दूसरी को देखते ही ताजा हो उठती.

मिस आचार्य का ठाली समय उसकी निहायत ऊबड़-खाबड़, लेकिन

अनुभवों की चाशनी में पगी हुई-सी बातों में बहल जाता, मगर गालियों से उन्हें वितृष्णा ही होती. धीरे-धीरे, उन्होंने पारबती की यह आदत कुछ छुड़वा भी दी. जाने क्यों अचानक ऐसा हुआ कि प्रत्येक के व्यवहार के पीछे उसका बीता हुआ बोलता सुनाई पड़ने लगा. तब जाने क्यों मन में यही भाव बनता गया कि किसी के तत्काल को ही मत देखो. एक करुणा और क्षमा का-सा भाव अनायास ही बनता गया और पार्वती को भी जगह निकलती चली गयी.

मिस हुज़ूर को बुरा लगता है, यह देखकर, पारबती ने अपने को थोड़ा बदल लिया, मगर कल रात राधिका के भाग जाने के बाद से उसने गालियां देनी शुरू कीं तो थम ही नहीं रही थी. मिस आचार्य ने कोई विरोध नहीं किया और पारबती समझती रही, राधिका को गालियां देने से मिस हुज़ूर को कुछ शांति मिल रही है. जबकि मिस आचार्य एक तरह से अनुपस्थित-सी होती चली गयी थीं.

लोकतंत्र

जरथुस्ट्र अपने लिए नहीं दूसरों के लिए जीना चाहता था. एक दिन जरथुस्ट्र ने किसी दार्शनिक को पढ़ा, "हमारे दोस्त ही वास्तव में हमारे सबसे बड़े दुश्मन हैं." जरथुस्ट्र ने अपने साथियों की परीक्षा लेने का विचार किया कि, ये जो सब उसके साथी, दोस्त होने का दावा करते हैं, वास्तव में क्या हैं!

इत्तफाक से जल्दी ही एक मौका जरथुस्ट्र के हाथ लगा. उसके साथी संख्या में पांच थे. जरथुस्ट्र ने एक नगर परिषद का अध्यक्ष बनना चाहा. उन पांचों में से एक जरथुस्ट्र के विरोध में खड़ा हुआ. अंततः वोट डालने की नौबत आ गयी.

जरथुस्ट्र की मानसिकता बड़ी उच्च कोटि की थी. वह हर एक को अपने जैसा ही समझता था. आखिर मतदान के बाद जरथुस्ट्र ने पाया कि उसके तमाम साथी दूसरे के पक्ष में मतदान कर गये हैं. जरथुस्ट्र एकमात्र था, खुद को वोट देने वाला. वह अपनी मान्यताओं पर दृढ़ रहता था और अपना आदर्श खुद बनाता था.

जरथुस्ट्र का मन खट्टा हो गया. इस घटना से उसे आघात पहुंचा. जरथुस्ट्र समाज की सड़ी-गली मान्यताओं का विरोध करता था और परिवर्तन चाहता था. वह उस रात बड़ा परेशान रहा. जरथुस्ट्र ने सोचा कि वह अपनी गुफा में लौट जायेगा... जहां उसके दो अभिन्न मित्र सांप व बाज उसका इंतजार कर रहे थे.

जरथुस्ट्र ने पाया कि लोकतंत्र भीड़तंत्र में तब्दील हो गया था□

प्रस्तुति : आनंद धौलाखंडी

जब पहली बार मिस हुज़ूर को पारबती ने सूचना पहुंचायी कि कल रात खिड़की से कूदकर राधिका भाग गयी और अभी तक लापता है तो मिस आचार्य एकदम बौखला उठी थीं. मगर धीरे-धीरे उनकी बौखलाहट कम होती गयी और चित्त उदासी में घिरता गया. जाने कहां से एक कोहरा-सा उगता और आच्छादित करता चला गया. मिस आचार्य का यह सूचना पाने के बाद का एकाएक ही क्रुद्ध और फिर तत्काल ही उदास हो जाना पार्वती को इसी भ्रम में करता गया कि राधिका के भाग जाने से उत्पन्न संकट का परिणाम है यह; लेकिन मिस आचार्य की उदासी और भावुकता का कारण वह नहीं था जो पारबती समझती रही.

उनकी उदासी और भावुकता की तह में तो था राधिका का वह जीवट जो उसे इतने ऊंचे से कुदा ले गया और मिस आचार्य ने नीचे झांका तो खिड़की ही नहीं, बल्कि चश्मे के शीशों तक. पर गलियारे में की हरी घास की प्रतिच्छायाएं महसूस होने लगी हैं!

उन्हें लग रहा है, जैसे धीरे-धीरे गलियारे की यह घास उगी और बढ़ी होगी, ठीक इसी तरह, कल रात राधिका के मन में भी बरसों लंबे बिछोह की स्मृतियां उगती चली गयी होंगी. और.... और जब हरियाली उसकी बिना चश्मे की आंखों की पुतलियों तक बढ़ आयी होगी तो वह खिड़की खोलकर कूद पड़ी होगी!

मिस आचार्य की आंखें भर आयीं, यह सोचते ही कि जिस हरियाली के आंखों तक उग आने पर राधिका—जैसी परित्यक्ता भी इतनी ऊंचाई पर से कूद पड़ी, वो स्वयं सिर्फ खिड़की के शीशों पर माथा टिकाए ही रह जाती हैं. उनका कहने को मन हुआ जरूर कि—'पारबती, अचानक सामने उमड़ आयी नदी को पार करना बहुत कठिन होता है.' लेकिन सिर्फ देखती ही रह गयीं.

पारबती उनकी इस विचित्र स्थिति पर न-जाने क्या सोच रही होगी, यह चिंता रहते भी, मिस आचार्य खिड़की के शीशे के साथ टिका हुआ अपना माथा हटा नहीं पायीं. चश्मे का फ्रेम उनके भरे-भरे कपोलों पर टिक गया और आंसू किनारे पर थम गये. मिस आचार्य को लगता रहा, समय ही नहीं, बल्कि प्रसंग के भी बीतते ही जाने के बाद, अब उनका जीवन एक ऐसा शीशमहल बन चुका, जिसकी खिड़कियों पर माथा टेकते-टेकते ही, शायद, उनकी सारी उम्र बीत जायेगी. खिड़की के पार उपस्थित विस्तार की ओर उड़ान भरने का अवसर अब नहीं आना.

लगातार छह वर्ष इस सुधार-गृह में आयी औरतों की देख-रेख और इनके मनोवैज्ञानिक अध्ययन में बिता देने के बाद, आज पहली बार मिस आचार्य को तेजी से अनुभव हुआ कि आवश्यकता तो उन्हें खिड़की के पल्लों से कहीं ज्यादा, खुद के अतीत की परतों को खोलने की है, लेकिन जान पड़ता है कि प्रसंग बीत जाये तो जगह का विस्तार भी कुछ नहीं दे पाता, सिवा एक यहां-से-वहां तक की रिक्तता के.

इस बात को लेकर न-जाने कितनी-कितनी अफवाहें प्रचलित थीं, जान-पहचान तथा बिरादरी के लोगों में कि आखिर मिस आचार्य विवाह क्यों नहीं करतीं. देखने में बदसूरत होतीं, तो बात समझ में आती. गरीब घर की होतीं—विधवा मां, छोटे भाई-बहनों की परवरिश का बोझ होता तो लोगों को जान पड़ता कि यह अकेला होना नहीं, बल्कि कुटुंब के लिए जूझना है और तब विवाह नहीं करने के कारणों को लेकर ज्यादा टीकाएं करने का मौका नहीं मिलता. जबकि मिस आचार्य सुशिक्षित भी हैं और परिवार आर्थिक रूप से समृद्ध हैं. पिता पहाड़ के नामी समाज सुधारकों में रहे. हालांकि अनेक बैठी प्रकृति के लोग उनकी गिनती समाज सुधार का धंधा करनेवालों में भी करते रहे, लेकिन समाज सुधार के मामले में दीपक-तले का अंधेरा जितना रहा हो, बाकी कहीं कोई फांक बाहर को मुंह खोले दिखाई नहीं पड़ी. दीपक-तले के अंधेरे को भी उनके पास यही तर्क रहा कि दीपक जब भी जलेगा, नीचे अंधेरा रहेगा जरूर. उनके इस तर्क के चलते ही तो मिस आचार्य का भविष्य शीशमहल की पारदर्शिता में से दिखाई दे जानेवाली रहस्यमयता में डूबा रह गया.

लोग उनके विवाह न करने के बाहरी कारणों को ढूंढा करते हैं और किसी भी प्रकार के अपवाद को मिस उपाध्याय सिर्फ इसलिए बहुत-कुछ स्वाभाविक मानकर उपेक्षित करती रहीं कि मनुष्य ही जटिल नियति का अनुभव है. कट्टर कर्मकांडी और कठोरचित कहे जानेवाले पिता का करुणाजनक अंत उनके भीतर आज भी यथावत् है. विद्यमान है समुद्र में गिरती मशाल की-सी पिता के प्राणांत की वह हृदय विदारक अनुगूंज जो शब्दों से परे के संघात की भांति बेधती चली गयी थी भीतर तक और आज भी, जब स्मरण करो, तत्काल उदित हो उठती है.

हां, जहां तक उनके चित्त का सवाल है, विवाह न करने का जो कारण उनको है, उसने स्मृति जी विता के एक ऐसे शीशमहल में कैद कर दिया है, जहां कोई खिड़की ऐसी नहीं, जिसके पल्ले बाहर की ओर खोले जा सकें. उसमें तो सिर्फ शीशे-ही-शीशे हैं और अलग-अलग शीशों में व्यतीत के ही प्रतिबिंब देखते रहने थकने के बाद, माथा टिका देने के अलावा और कोई उपाय शायद, शेष नहीं.

इस जगह से चारों तरफ झांको तो प्रकृति का कैसा अनुपम विस्तार

दिखाई पड़ता है. हालांकि प्रकृति को भी पुरुष की संगिनी ही माना गया है लेकिन वह अंतर्धान कहां दिखाई देता है? मिस आचार्य को लगता है कि शायद वो खुद भी प्रकृति होती जा रही हैं. उनका पुरुष उनमें ही अंतर्लयित होता गया है.... लेकिन प्रकृति तो जाने कितनी वस्तुओं को स्वयं में से प्रकट करती रहती है? वनस्पतियों से लेकर खनिजों तक के अपार को? यहां तक कि आकाश से बरसे जल तक को पहाड़ पहले अपने में समोते हुए, बाद में नदियों, झरनों और स्रोतों के रूप में बाहर प्रकट करते हैं, लेकिन उनमें अब कहां कुछ प्रकट होना है, सिवा अपनी ही प्रतिच्छायाओं के, जो कि खिड़कीके शीशों तक को झील बना देती है.

यह सुबह का वक्त था. मिस आचार्य नहाकर धूप में निकल आयी थीं और लगता था कि प्रकृति ने भी यही किया है. उन्होंने मुंह-सामने की घाटियों की ओर देखा. नीचे दूर बहती कोसी नदी धरती की कोख से प्रकट हुई-सी आभासित होती रही. उम्र के इस चौंतीसवें वर्ष में अपने को, बाहर ही नहीं, बल्कि भीतर भी एक ऐसे स्थान पर पाती हैं मिस उपाध्याय, जहां से स्वयं को सिर्फ इसी भांति देखा जा सकता है.

जब महेश का लताओं को अपने में समेटते वृक्ष की तरह छाना प्रारंभ हुआ था तब ऐसी तटस्थता नहीं थी, मगर जब जिंदगी-जब जातिवाद व छुआछूत मिटाने का संकल्प हाथों में लिये-लिये, भाषण देते फिरनेवाले पिता ने उसको महेश से सिर्फ इसलिए अलग कर दिया कि वह पितलिया ब्राह्मण हुआ, उससे रिश्ता नहीं हो सकता, तब से जाने क्यों यही मन बनाते चलना पड़ा कि हर वस्तु को थोड़ा-सा फासले पर रखकर ही देखो.

ऐसा नहीं कि पिता के हठ का कोई विरोध नहीं किया हो, मगर माता-पिता, भाई-बहनों से संबंधों को अंतिम रूप से तोड़ लेने की हद तक जाना भी कहीं-न कहीं खुद का टूटना ही जान पड़ा. इसी से हुआ कि यहीं रहो और सहो. कहने को मां से कहा ही था—''अगर जानती कि बाबू का सारा समाज-सुधार सिर्फ बाहर के लोगों को ही है तो पहले ही सोचती कि आगे पांव नहीं रखना है. अब फैली बेल समेटना है. हो नहीं पायेगा मुझसे.''

बेटी का कहना मां के कानों में तो झरने के बहने की आवाज की तरह भरता गया लेकिन यह कलकल सदानंद आचार्य के कर्णकुट्टरों में भी इसी भांति अनुगूंज उत्पन्न कर सकेगी, यह भरोसा बंधना तो कठिन हो हुआ.

हरिप्रदा बौराणज्यू ने यह बात कितनी तहों में करके पहुंचायी थी सदानंद आचार्य तक? चाहती थीं कि किसी तरह ये मान जायें तो बाकी जाति-बिरादरी के लोगों के कटाक्ष तो सुन लिये जायेंगे. जब एक तरफ बेटी के जीवन का सवाल है तो इससे बड़ा अपने अहंकार को क्यों मानो?... लेकिन हर वस्तु अनुपात से चलने वाली हुई. जहां प्रेम अधिक, अहंकार कम है तो बात कुछ और होगी. जहां अहंकार और सांप की फुत्कार के बीच का फर्क नदारद हो गया हो, वहां कदाचित् कहीं कोने-कोने में कुछ प्रेम भी है जरूर तो क्या होना है, क्योंकि पलड़ा तो आखिर उसी तरफ झुकना है, जिस तरफ को भार ज्यादा हो.

हर आदमी में दो पलड़े हैं. सदानंद आचार्य इस नियम का अपवाद कहां होते? लेकिन अहंकार का भार अधिक होने से बेटी के प्रति प्रेम कस्तूरी होकर रह गया. जब एक पलड़े पर कस्तूरी और दूसरे पर पत्थर है तो जाहिर है कि पत्थर कस्तूरी को भारी पड़ेगा.

हरिप्रदा बौराणज्यू ने सुमिता वाली बात को रात के एकांत में कहा था. रात में आवाज और ज्यादा गूंजती है.

सदानंद आचार्य ने पत्नी को जोर से डांटा था, ताकि बगल के कमरे में सोई सुमिता उनके मंतव्य को साफ-साफ सुन ले.

वह बत्ती बुझाकर सो चुकी थी. सिरहाने के पास ही खिड़की थी. उसके शीशों पर सड़क के किनारे खड़े पोल में लगे बल्ब का प्रकाश पड़ रहा था. कमरे में अंधेरा था, क्योंकि खिड़की के शीशों पर से छनकर आती रोशनी बहुत ही मद्धिम थी और पीली पड़ चुकी बेल की तरह ऊपर-ऊपर ही अटक गयी थी. हालांकि कभी-कभी लगता था, उस मद्धिम प्रकाश के दबाव से खिड़की की चिटकनी अपने-आप खुल जायेगी. आंखें भी कैसे कानों से जड़ गयी थीं और सुमिता को बगल के कमरे में चीखते सदानंद आचार्य की आवाज साफ-साफ दिखायी दे रही थी. जैसा उनके उद्गार अंधेरे में आकार ग्रहण करते चक्कर काट रहे हों. चीखते हुए सदानंद आचार्य कैसी आकृतियां बना रहे होंगे, इतना वह आंखें बंद किये-किये ही स्पष्ट अनुभव कर रही थी.

*** बहूरानी जी**

मां की आवाज उसने नहीं सुनी थी. सिर्फ अनुमान लगा लिया था कि मां ने उसकी बात शायद धीमे स्वर में ही दोहरायी होगी... मगर सदानंद आचार्य की बातें साफ-साफ सुनायी दे रही थीं. लगता था, सार्वजनिक
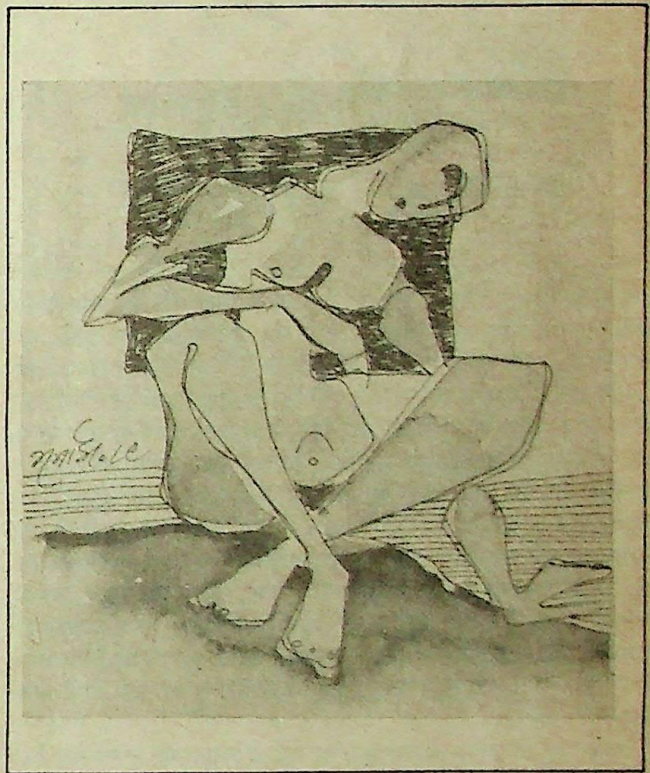
रेखांकन : मनोज कुलकर्णी

भाषण देते समय दोफांक खरबूजे की तरह फैलनेवाले उनके होंठ, इस समय, आपस में मिचमिचाकर, झाग छोड़ रहे होंगे.

संबोधित वो सुमिता की मां को ही कर रहे थे—''अरी हरिप्रदा, तुम भला गार्गी-मैत्रेयी की तरह मुझ प्रकांड ब्राह्मण को क्या उपदेश दोगी? कहती हो कि तुम तो सारे देश में से छुआछूत और जातीयता मिटाने की बात करते हो? अच्छा, तुम ही बताओ कि सिर्फ एक मैं करता हूं वैसी बातें, याकि देश के सभी बड़े-बड़े नेता करते हैं? कितने कांग्रेसी और गांधीवादी नेताओं ने अपनी लड़कियां डोमों या मुसलमानों के ब्याहीं? कितनों के घर में छोटी जाति की बहुएं आयीं? अरी भगवान राजनीति, राजनीति हुई और परिवार, परिवार. नेता के रूप में मैं सारे देश का ठहरा, मगर सदानंद आचार्य के रूप में मुझे सिर्फ अपने समाज, अपने धर्म का रहना जरूरी हुआ. नहीं तो, एक हजार एक शूद्रों के कंठ में यज्ञोपवीत डलवाने के बाद, महाभोज समारोह के समय मैंने एकादशी के व्रत का नाटक काहे को रचाया? सिर्फ इसलिए ही कि कहीं उन चंद साल पहले तक भैंस का शिकार खाते चले आये अछूतों का छुआ हुआ मुझे ही न खाना पड़ जाये! 'महात्मा गांधी, महात्मा गांधी' बहुत

रेखांकन : मनोज कुलकर्णी
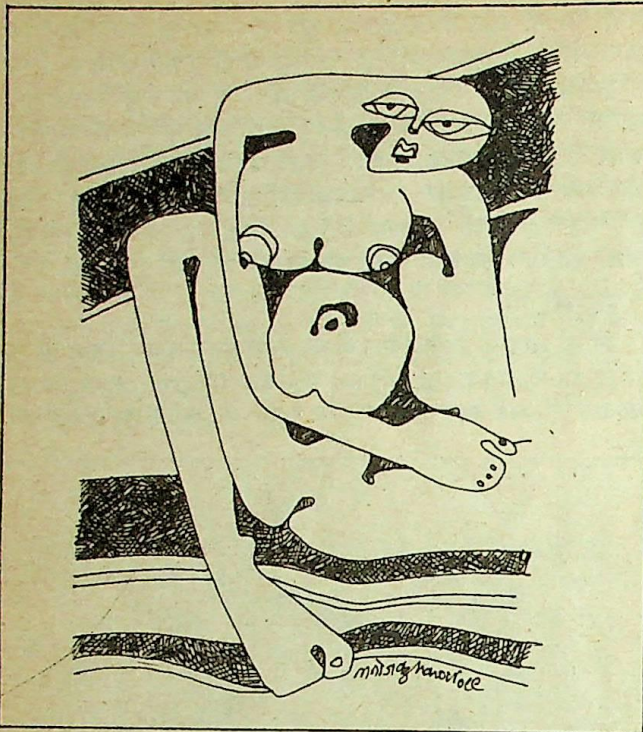
चिल्लाती हो तुम? सिर्फ अछूतों के हाथ.का खा लेने से अगर लोग महात्मा गांधी हो जाते होते तो आज वह हिंद से क्रिस्तान बन गया जगन्नाथ सिह सबसे बड़ा गांधी हो गया होता, सिर्फ मिस्टर जेम्स नहीं कहलाता, जो कमुली से कैथरिन बनी शिल्पकारनी की जूती तक उठा लेता होगा! महात्मा गांधी की खोदी हुई सड़क पर कितनी दूर तक जाना है, उसे किस तरह इस्तेमाल करना है, इसे सदानंद आचार्य—जैसे मर्मज्ञ कांग्रेसी नेता ही जान सकते हैं, हरिप्रदा! राजनीति कूटनीति हुई. हम चाणक्य के कुलावतंस ठहरे. हममें और भेड़ों में फर्क हुआ. मूर्खों को यह बताना जरूरी ठहरा कि हम तुम्हारी खातिर ही लड़ रहे. संग्राम आंखें मूंदकर कूदनेवालों के वश की वस्तु नहीं ठहरा, सुमिता की इजा!... आग का खेल ठहरी राजनीति. खुद के अंग बचाने जरूरी हुए. घरफूंक तमाशा देखने से कुछ नहीं होना. राजनीति करने को जरूरी हुआ ये कि मियां मरे तो हलुवा, बीवी मरे, तो हलुवा!... अंग्रेज जायें, वाह वा! नहीं जायें, वाह वा!..."

राजनीति के प्रवाह में सदानंद आचार्य जैसे यह भी भूलते गये कि प्रसंग क्या है. रात के सन्नाटे और अंधेरे में उनका अपने अंगों को बिल्ली के पंजों की भांति समेट रहे होना सन्नाटे को बार-बार भीतर तक कंपा जाता था हरिप्रदा जैसे अंधेरे में डूबी जा रही थीं. वो पोथी जैसी बांचते रहे थे— "सबको अपने स्थान में रहना होता है, हरिप्रदा! सुमिता के छोटी जात में जाने की लहर बहुत दूर तलक जायेगी. इससे छोटियों का ही नहीं, आगे आने वालों का भी सवाल सामने रखना जरूरी होगा. जात जितना आधार देती, उतना ही अपने से बांधती भी जरूर. इस जगत में बिना बंधन का कुछ नहीं. लमधोतिया पंडितों की वाणी ही नहीं, नाक में भी फ्वां-फ्वां ठहरी. जिससे और किसी वस्तु से नहीं, उससे फ्वां-फ्वां से निबटेंगे. कल ये ही लोग दृष्टांत उछालते दिखाई देंगे कि विजयालक्ष्मी की शादी मुसलमान से खुद गांधीजी ने नहीं होने दी."

कुछ देर थमे रहने के बाद, सदानंद आचार्य ने फिर कहा था—"पानी में उतना ही उतरना ठीक, जितने से पार पा सको. समाज से पहले कुटुंब ठहरा. कुटुंब डुबोनेवालों को समाज भी मूर्ख ही ठहराने वाला हुआ....गांधीजी की प्रेरणा से शुद्धि-समारोह में गया जरूर ठहरा मैं, लेकिन तुमको बताया नहीं था कि एक हजार अछूतों के उस शुद्धि-यज्ञ में सिर्फ भगवान सत्यनारायण का चरणामृत ग्रहण करने पर भी, सीधे घर न आकर हरद्वार जाकर चंद्रायणी कराके प्रायश्चित करने के बाद वापिस लौटा? भय से ऊपर कोई नहीं."

हालांकि सदानंद आचार्य का आहत दर्प अंधेरे में भी दृश्यमा हुआ-सा जान पड़ता था और आवाज आकार धारण किये वि करती अनुभव हो रही थी, फिर भी जाने क्यों हरिप्रदा को यही आ हुआ कि प्रकट हो गया ही पूर्ण नहीं है! अंधेरे में ही हाथ बढ़ाकर, अनु से, सदानंद आचार्य के मुख तक ले गयी, तो वहां आर्द्रता पाकर उंगलि एकाएक ही सिहर उठीं.

पत्नी की उंगलियों के स्पर्श से उनके मुख पर की त्वचा में एक धी कंपन-सा हुआ. हरिप्रदा डरीं कि शायद अब गुस्से से फट पड़ेंगे कि क्या मूर्खता कर रही हो और हाथ को दूर झटक देंगे... लेकिन उन्हों कुछ भी कहा नहीं. बस, धीमे से पत्नी के हाथ को जरूर मुंह पर से ह दिया. उनके गहरे निःस्वासों की आवाज की आवाज, अंधेरे में, सुनाई दे र हरिप्रदा की और वो स्वयं भी जैसे उतना ही डूब गयीं अंधकार में.

लघुकथा

यम के वंशज

□ सुकेश साहनी

"बहिन जी!" उसने दर्द से कराहते हुए पुकारा, ए बहिन जी!"

इमरजेंसी वार्ड के ड्यूटीरूम में नर्स बैठी ऊंघ रही थी. उसने उस औरत की पुकार की तरफ कोई ध्यान नहीं दिया. आज वह फुरसत में थी. केवल इस देहाती औरत के अलावा और कोई केस नहीं था.

"बहिन जी... नर्स गुस्से में पैर पटकती हुई उसके पास आयी." काहे चिल्ला रही हो..."

भौंत तकलीफ...!" मारे दर्द के उसके दांत भिंच गये थे.

"तकलीफ नहीं तो क्या मजा आयेगा! पेट में बच्चा डलवाते समय क्यों नहीं सोचा! चुपचाप पड़ी रहो! सुबह से पहले कुछ नहीं होने का." नर्स ने आंखें निकालकर कहा और बड़बड़ायी, "मेमसाब के दर्द हो रहा है... पूरा अस्पताल सिर पर उठा रखा है...!" और ड्यूटीरूम में लौट आयी.

उधर कुछ देर की चुप्पी के बाद उस औरत ने फिर चिल्लाना शुरू कर दिया था, "अरे ओ बहिन जी!.... ओफ! क्या करके

कुछ क्षणों को दोनों ही जैसे एक सरोवर में डूबे-से पड़े रहे. आखिर सदानंद आचार्य ने ही सन्नाटा तोड़ा—" सुमिता की इजा, पर्वतों तक की छाती फटती रहती, मैं तो मनुष्य ठहरा. आदमी की सबसे बड़ी हार बेटी का बाप होने में ही ठहरी. कभी-कभी तो लगता कि सृष्टि को भी ईश्वर ने बोझ नहीं संभाल पाने पर ही प्रकट किया होगा. बेटी का बोझ, आदमी को, धरती के बोझ से कम कहां होने वाला हुआ?"

सुमिता को तब यही लग रहा था कि आचार्य रात के सन्नाटे में यज्ञोपवीत को तक्षक नाग की तरह ही फटकार रहे हैं. उसके कमरे तक उनके विषाद का पहुंचना तो कठिन था, किंतु आवाज अंधेरे को चीरती मालूम पड़ती थी.

आचार्य का कहना तब मशाल की रोशनी की भांति कहां आ रहा था. तब तो सिर्फ शब्द प्रकट हो रहे थे, नेपथ्य नहीं.

"कह दे, उस पतिता से कि जहां तक तू अभी आगे बढ़ी है, वहां तक की बात किसी ने नहीं देखी. और देखी भी होगी, तो इस शहर में किसी माई के लाल में दम नहीं कि सदानंद आचार्य की लड़की पर उंगली उठा दे.. मगर आगे की तो सारा समाज देखेगा और फिर हमें अपने बेटों के लिए

ही पितलियों की बेटियां नहीं लानी पड़ेंगी, बल्कि सिल्का को भी चीलों के हवाले होना पड़ेगा. आदमी जात के नहीं, तो कम-से-कम औकात में बराबर का हो. उन हलफोड़ बामनों से हमारी क्या बराबरी? कह दे उस ढीठ से कि एक तेरे हठ के कारण पूरा खानदान डूब जायेगा! नहीं मानी, तो खिला दूंगा जहर उसे और खुद भी खा लूंगा. सदानंद आचार्य की आंखें बंद हो जाने के बाद लोगों की जबान खुलती रहे, भगवान त्रिपुरारि उसके सारे पाप क्षमा कर देंगे."

पिता के उस चीत्कार में सिर्फ अहंकार ही नहीं, बल्कि जाने कितना गहरा विषाद भी था, लेकिन अनुपात न तब ठीक था, न बाद में ही हो सका.

"हजूर मिस साब! आपके सिर में कुछ तकलीफ हो रही क्या?"—पारबती चौकीदारनी ने पूछा तो मिस आचार्य थोड़ा-सा संभलीं. बोलीं, "पारबती, जरा नीचे किसी दूकान से कोई सिरदर्द की दवा ला दे मेरे लिए. जबसे यह नजर का चश्मा लगाना शुरू किया, कभी-कभी सिर बहुत दुखने लग जाता है."

पारबती चली गयी तो मिस आचार्य की गीली आंखों में तैर आया वह व्यक्ति, जो राधिका को अपने जिम्मेदारी पर वापस ले जाने को तीन दिन पैदल चलकर महिला-सुधारग्रह पहुंचा था.

उम्र चालीस सें कुछ ज्यादा ही होगी. सिर के बाल सूखे. टोपी के किनारे किसी पशु की पूंछ के बालों की भांति बाहर निकले हुए. पांवों में जूता नहीं. कपड़े फटे-पुराने. जब मिस आचार्य ने पूछा कि, "क्यों, ऐसे ही खोज-खबर लेने आ पहुंचे या कि सचमुच प्रेम करते हो राधिका से?" तो बुरी तरह शरमा गया था. अरण्य में के किसी जंतु की-सी चमक कौंध उठी थी उसकी आंखों में. उसने पांवों को पानी में डुबो रहे होने के से संकोच में झोले में से एक सस्ती, किंतु बिलकुल नयी धोती उन्हें दिखाई थी. जैसे उसका सर्वस्व धोती में ही घुला हुआ हो. उसकी आंखों में आंसू आ गये थे और वह चुपचाप खड़ा रह गया था.

बाद में, पारबती के समझाने पर, झिझकता हुआ बोला था, "मिस हजूर, मैं तो एकदम गंवार आदमी ठहरा गांव का. मेरा कसूर माफ होना
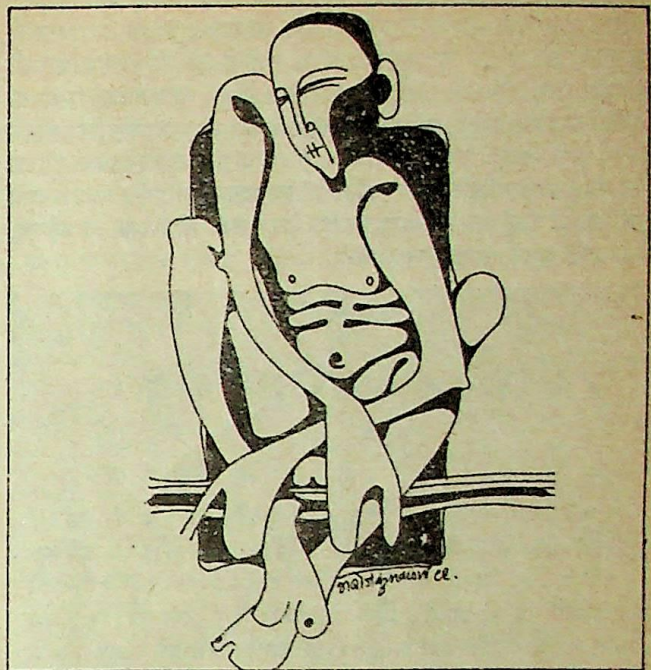
रेखांकन : मनोज कुलकर्णी

चाहिए. हुजूर, बीस-बाईस बरस बीत गये होंगे अब. इस रांडी की शादी मेरे ही साथ होने वाली थी, मगर इसके बाप को न-जाने क्या सनक चढ़ी, जबान पलटकर, दूसरी जगह दे दिया. समय के साथ घाव भी भर जाता कहते, मिस हजूर! मगर गहरे घाव में जो दाग रह जाता, वो कहां जाता? घर-बिरादरी और खुदगर्जी का जोर पड़ने पर मैंने भी शादी कर ली. खेती-पाती और जानवरोंवाला ठहरा. दिन ऐसे बीतते चले, बीस-बाईस साल जाने कहां और कब बीत गये. काल आदमी को कहां ठहरने वाला हुआ, मिस हजूर? होते-करते, अंगारों के ऊपर छारा आ गया. वो तो अभी पिछले महीने सुना कि इस रांडी के मालिक ने दो साल पहले इसे निकाल दिया और वह भी कलंक लगाकर. बेचारी अभागिनी कलंक को ढोते-ढोते दर-दर ठोकर खाती फिरी होगी. कलियुग का जमाना ठहरा, मिस हजूर! अब आपसे ज्यादा क्या कहूं, बेचारी बिगड़ती-बिगड़ती फालतू हो गयी. जबसे सुना, हजूर, कि औरतों की जेल में इसे रख दिया गया, परमेश्वर साक्षी है, सुख का एक ग्रास नहीं तोड़ा..."

कहते-कहते, उस गंवार की आंखें छलछला आयी थीं. हाथ जोड़ दिये थे उसने और मिस आचार्य के पांवों में झुककर बोला था, "हुजूर, आपकी दया-माया का जस सुना. अपनी पहली घरवाली से भी बात कर ली. वह भी राजी हो गयी आखिर! फालतू-आवारा, जैसी भी हुई, हुजूर, अपनी आंखों में तो इसकी सिर्फ तभी की तस्वीर हुई... जबकि यह बिजुली-जैसी चमचमाती खेत-जंगल को निकलनेवाली ठहरी... और मैं उल्लू का पट्ठा जोड़ मार देनेवाला हुआ—डकौले कि तलि-म्यार नामाक चरयौ मांजी तु छाजलि भलि..." (मेरे नाम के मंगल सूत्र में बहुत सुंदर लगेगी तुम.)

इससे आगे, उससे बोला नहीं गया. मिस आचार्य की भी आंखें भर आयी थीं, मगर चश्मे का निचला किनारा उन्होंने तब भी कपोलों पर ऐसे टिका लिया, जिससे आंसू दिखें नहीं. अपने-आप में ठहर कर रह गये आंसुओं में ही जैसे कितना खुद का व्यतीत भी झिलमिला गया.

सदानंद आचार्य ने स्कूल जाने में बंदिश लगा दी थी और तब एक रात न जाने कहां से सारी बातें पता करके, महेश उसी शीशेवाली खिड़की के पास आकर खड़ा हो गया, जहां से वह जाने कितनी बार सड़क पर चलते-चलते ओझल होता देखती रही थी उसे.

घर की ऊपरी मंजिल के ठीक सामने पड़ते सड़क के टुकड़े पर पाकर

डाक्टरनी को बुलवाय लेओ....हाय...हाय दइया रे! अरे अब तो आय जाव... मरि जाव...अब नाहीं बचब." चीखने-चिल्लाने की आवाजें बढ़ती जा रही थीं और नर्स इतमीनान से बैठी ऊंघ रही थी. थोड़ी देर बाद उसका चिल्लाना बंद हो गया.

"बहिनजी! अब तो आय... जाय... बच्चे का तो... उठाय लेओ हिंया से..." औरत की थकी-थकी आवाज सुनकर नर्स चौंकी और फिर उसने लापरवाही से अंगड़ाई ली.

"अरे माया!" नर्स ने जमादारिन को आवाज दी. देख तो जरा बारह नंबर को, बच्चा अलग कर दे. ये लोग इतने गंदे होते हैं कि पास जाते भी उल्टी आती है."

वार्ड ब्वाय मुख्यद्वार पर आकर चिल्लाया, "बारह नंबर के साथ कौन है? चलो, सिस्टर बुलाती है."

अस्पताल के बाहर की भीड़ से एक देहाती आदमी तेजी से उठकर वार्ड ब्वाय के पास आ गया. ड्यूटीरूम में पहुंचकर वह सकुचाया-सा एक तरफ खड़ा हो गया. उसकी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर हुआ क्या है!

"इधर दस्तखत करो." स्टाफ नर्स ने कागज उसकी ओर बढ़ा दिया, उसने इशारे से बताया कि वह अंगूठा लगायेगा. बिना कुछ समझे उसने कागज पर अपना अंगूठा लगाया और एक तरफ खड़ा हो गया. कागज पर लिखा था. मैं अपनी मृत पत्नी एवं बच्चे की लाश लिये जा रहा हूं. मैं अस्पताल में की गयी चिकित्सा से संतुष्ट हूं. मुझे यहां के किसी कर्मचारी से कोई शिकायत नहीं है. □

के पेड़ों की छाया पड़ती तो सड़क भी आईना हो गयी जान पड़ती. महेश, उस दिन, छाया की भांति ही नीचे आ खड़ा हुआ था. बंद खिड़की के बाहर की उसकी फुसफुसाहट सुनाई नहीं दे रही थी, मगर फिर भी अंदाजा लगा लिया कि उसे ही पुकार रहा होगा. अत्यंत रहस्यमय-सा लगता रहा था उसका यह रात के सन्नाटे में खुद की आवाज से खिड़की को थपथपाना. उसकी दबी-सी आवाज, सड़क के पोल से खिड़की के शीशों पर पड़ने वाले मद्धिम प्रकाश की तरह, खिड़की के शीशों को थपथपाती रही थी और सुमिता को लगा था कि उसने नहीं भी खोला, तो शायद, चिटकनी अपने-आप खुल जायेगी.

लघुकथा

सुविधा-शुल्क : एक

□ शैलेंद्र सागर

अपनी ईमानदारी के लिये चर्चित अधिकारी के घर इस वर्ष की चौथी पार्टी थी. मुझे निमंत्रण पत्र मिला तो अटपटा लगा. विवाह की तीसवीं वर्षगांठ का भला क्या महत्व हो सकता है, मैं समझ ही नहीं सका. किंतु फिर लगा कि जब संपूर्ण देश स्वतंत्रता की चालीसवीं वर्षगांठ इतने बड़े पैमाने व धूमधाम से मना सकता है तो एक वरिष्ठ अधिकारी अपने विवाह की तीसवीं वर्षगांठ आखिर क्यों नहीं मनाये...!

फिलहाल मुझे जाना तो था ही... वह विभाग के आला अफसर हैं. जिन पर मेरे कारोबार का सारा दारोमदार है. मेरा न जाना उनकी शिकायत व रोष का कारण बन सकता था.

इसके पूर्व भी तीन अवसरों पर मैं उनके निवास पर आयोजित ऐसी पार्टियों में सम्मिलित हो चुका था जिसमें एक बार पोते का जन्मदिन, दूसरे लड़के का बी.ए. की परीक्षा में उच्च द्वितीय श्रेणी में पास होना व तीसरा उनके पर्यवेक्षण में निर्मित पुल का समय से पूर्व पूरा हो जाना कारण थे.

आज भी जब मैं उनके घर पहुंचा तो पूर्व की भांति पांच-छह सौ परिचित अधिकारी सहयोगी, गणमान्य नागरिक व व्यापारिक गण तथा मुझ जैसे कारोबारवाले वहां मौजूद थे. अच्छी खासी चहल-पहल थी. भोजन का बंदोबस्त एक कनिष्ठ अधिकारी के जिम्मे था और साज-सज्जा का दायित्व मेरे एक साथी ठेकेदार पर था. वे सब अति व्यस्त दीखते थे.

मेरी निगाहें टटोलती उन अधिकारी पर जा टिकीं जो हमेशा की तरह एक ओर सपत्नी खड़े आगंतुकों का गर्मजोशी से स्वागत कर रहे थे.

मैंने अपनी जेब का लिफाफा हाथ में लिया, उसकी गर्मी को आंका और मुस्कराते हुए उनकी ओर बढ़ गया. □

तब भी, बगल के कमरे में सदानंद आचार्य खांस रहे थे. वह इतना भलीभांति समझ रही थी कि उसके खिड़की खोलते ही, महेश खुद अंदर न आकर, उसे बाहर बुलायेगा और फिर वही सुबह वाला प्रस्ताव रख देगा सामने...और...तब खिड़की के पल्ले खुले ही रह जायेंगे. पिंजरे की खिड़की की तरह.

मिस आचार्य को कल कितने वर्षों के बाद यह अनुमान लगाना कितना विचित्र लगा था कि यदि उस दिन सचमुच महेश के साथ चल दी होतीं, उस खुली खिड़की के पार के विस्तार की ओर तो क्या खुद सदानंद आचार्य भी घर की उस खुली पड़ी रह गयी खिड़की से ठीक उसी तरह नहीं झांकते, जैसे आज राधिका के भागने पर उसने झांका है? लेकिन शायद, उनमें यह अथाह खिन्नता तब भी नहीं ही आ पाती, जो मनुष्य
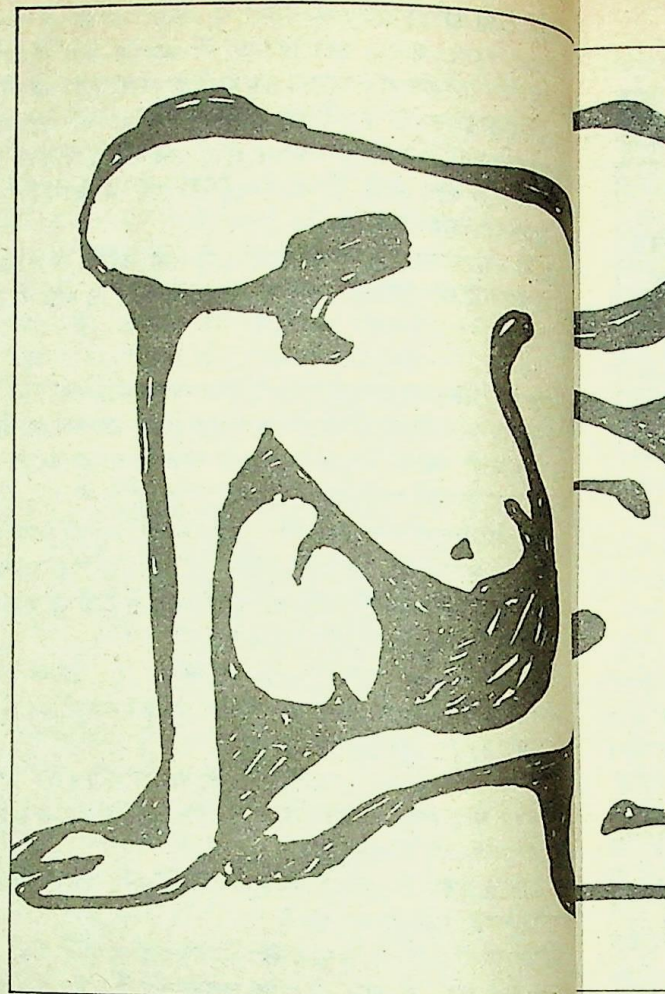
रेखांकन : मनोज कुलकर्णी

को ईश्वरीयता की हद तक उदार बनाती है. शायद उसके बाद वे सचमुच आत्महत्या कर लेते. वह अहंकारी व्यक्ति न-जाने क्या-कु कर डालेगा, इस कल्पना से सिहरकर ही तो सुमिता एकाए 'चोर-चोर' चिल्ला उठी थी. महेश की गहरे अंधेरे में मद्धिम-मद्धि रोशनी की तरह फैलती आवाज या खिड़की के शीशों के पार गंदले ज में के प्रतिबिंब की भांति ओझल उसकी उपस्थिति का सामना करने की शक्ति उसमें नहीं थी और अचानक ही चिल्ला पड़ने के सिवा महेश को खिड़की के उस पार से हटाने का कोई दूसरा उपाय उसे सूझा नहीं था.

क्या कभी यह अचंभा भी घटित हो सकता है कि जब वो प्रौढ़ावस्था को भी पार करने जा रही हों, तब एकाएक महेश भी ठीक इसी भांति उपस्थित हो जाये उनके सामने?

वह काल के इंगित-जैसा प्रतीत होता जा रहा था. उसकी उपस्थिति को टालने के लिए ही उन्होंने कल उसे थोड़ा सख्ती से मना कर दिया था कि जब तक साक्षी नहीं होंगे और खुद राधिका उसके साथ जाने की हामी नहीं भर देगी, वह राधिका का अपने साथ नहीं ले जा सकता. कानूनी लिखा-पढ़ी करनी होगी.... और वह रो पड़ा था—"मिस हुजूर, इ शहर में तो मैं एकदम अजनबी आदमी ठहरा."

मिस आचार्य को जब एहसास हो रहा है कि जब सिर्फ दफ्तरी खानापूरी के लिए उन्होंने उसे वापस लौटा दिया और सारी सदाशयता कहीं अपने ही अंतरिक्षों में टकराती रह गयी, तब उस पिता को क्या कहें जो जाने कितनी सांकलों में जकड़ा था?

लगता है उसने आफिस से खोज-बीन करके इस मकान का पत
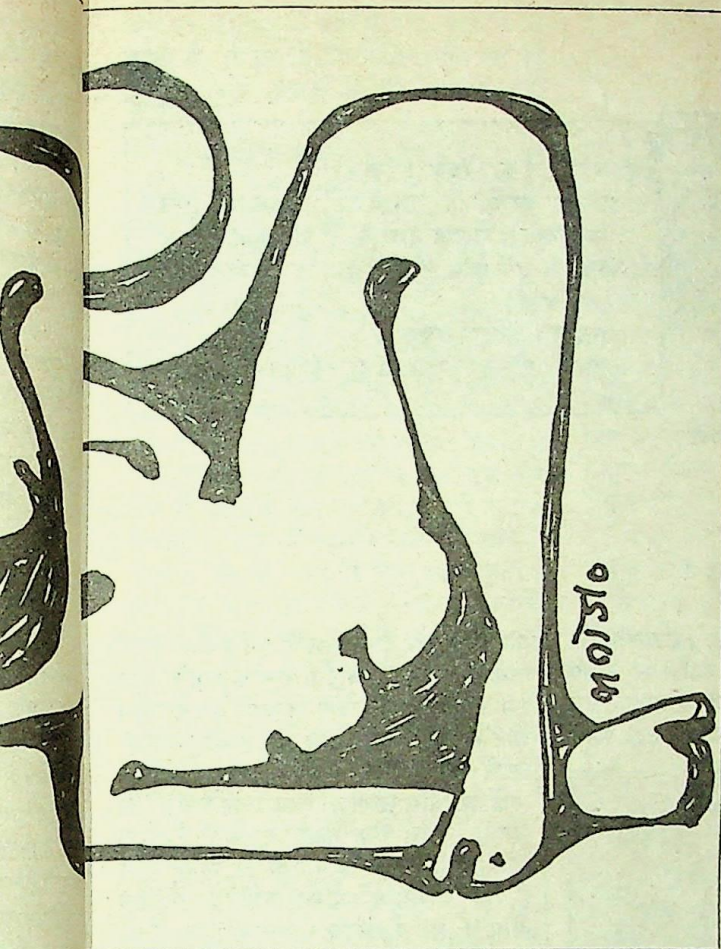
लगाया होगा, जहां औरतें रखी जाती हैं. फिर रात को चोरों की तरह नहीं, जन्म-जन्मांतरों के खोजी की तरह आकर, चुपचाप इस खिड़की के नीचे खड़ा हो गया होगा और धीमे-धीमे पुकारा होगा, ''राधिका, राधिका!'' और खिड़की के शीशों पर उसकी फुसफुसाहट का दबाव पड़ते ही, राधिका जाग गयी होगी और उसने, खिड़की के शीशों के पार, सपने में अपने को पुकारती-सी किसी आकृति को देखा... और किसी पिंजरे में की खिड़की की भांति इस सुधार घर की खिड़की के पल्ले भी खुल गये होंगे....

काश, उस रात उन्होंने भी महेश की आवाज से उस खिड़की के शीशों को देर तक कांपने दिया होता. चिटकनी खुलने दी होती. जो दीवार उसके और महेश के बीच खड़ी थी, उसके शीशे इतने मजबूत तो नहीं थे कि उन्हें तोडा ही न जा सके. चाहने पर उस शीशमहल की खिड़की भी खोली जा सकती थी... लेकिन...लेकिन.... क्या कहा था कल उस खुद को गंवार बताने वाले न कि–काल आदमी को कहां ठहरता है?

अब जो मिस आचार्य ने चश्मा ऊपर को उठाया तो रुके हुए आंसू नीचे तक बह निकले.

पारबती ने पानी का गिलास और गोली देते हुए ''ले आयी हूं, मिस हजूर!'' कहा, तो मिस आचार्य की आंखें और भी तेजी से बहने को हो आयीं. उन्होंने, पारबती को हाजिरी रजिस्टर लाने को लगाकर खिड़की दुबारा खोली और धीरे से सिरदर्द की गोली नीचे गलियारे की ओर फेंककर, पानी का गिलास मुंह से लगा लिया. याद आ गया उन्हें फिर पिता का वह मरण से कुछ क्षण पहले का अपने पास बुलाना और कहना कि–''सुमिता, मुझे तुमको स्वयं से भिन्न देखना कठिन हुआ. अब तुम्हें स्वयं से स्वतंत्र कर रहा...''

दर्प के अभ्यासी पिता का वह दीनों की भांति का हाथ जोड़ना और फिर उन कांपते हाथों का व्याध के वाणों से बिंधे पक्षी की भांति का नीचे आ गिरना...

पिता का वह पहाड़ की भांति का ढह पड़ना अभी तक नहीं गया है स्मृति से. बाद में मां बताया करती थीं कि रात के एकांत में कैसे रोया करते थे सदानंद आचार्य... कोई शब्द नहीं होता था. सिर्फ आंसू बहते जाते थे, जैसे पहाड़ से पानी फूटता हो.

पार्वती खड़ी ही थी. वह कुछ बोलती कि इससे पहले ही मिस आचार्य ने तय कर लिया कि कोई रपट नहीं लिखायी जायेगी. वो खुद दर्ज कर देंगी कि वह अपनी राजी-खुशी से खुद उनकी उपस्थिति में उसके साथ गयी.

अब जो उन्होंने एक बार फिर खिड़की के पार तक देखा तो लगा कि जैसे खिड़की के उस पार के सारे दृश्य एक अद्भुत-सी झिलमिल उत्पन्न करते हुए, उनकी आंखों में समा गये हैं और अब बाहर देखने को कुछ भी नहीं. वह सारी हरीतिमा, जो अब तक खिड़की के शीशों के पार थी, उनमें ही सिमट आयी है. □

लघुकथा

सुविधा शुल्क : दो

□ शैलेंद्र सागर

जब से नया थानाध्यक्ष आया था, पूरे क्षेत्र में उसकी ईमानदारी और कमठता का ढोल पिटा हुआ था. अपराधियों में खलबली मच गयी थी. पुलिस व्यवस्था बड़ी चुस्त-दुरुस्त लगने लगी थी. थाने पर बड़े-बड़े बोर्ड लग गये थे. 'दलालों का प्रवेश वर्जित,' 'रिपोर्ट लिखाने की कोई फीस नहीं है,' 'पैसा मांगने वाले कर्मचारी की शिकायत थानाध्यक्ष से करें.'

चंदर हलवाई की दूकान से रात उसका सारा सामान चोरी हो गया था.

''मिठाई की दूकान से भला कोई क्या चोरी करेगा..?'' चंदर की पूरी बात सुनकर थाने के प्रधान लिपिक ने हंसकर कहा.

''दीवानजी, मेरे सारे कढ़ाव, थाल चले गये. तीन-चार हजार का माल था.''

''लाला, किसी को किराये पर तो नहीं दे दिये?''

''...''

''अच्छा, बता किसने चोरी की?''

''दीवानजी, मुझे पता होता तो पहले खुद ही नहीं निबट लेता...'' चंदर ने झल्लाकर तनिक ऊंचे स्वर में कहा.

''चीख क्यों रहा है? सुबह-सुबह रपट लिखाने आया है. वो भी खाली हाथ! यह नहीं कि एकाध किलो मीठा ही ले आता...कम से कम मुंह मीठा कर काम शुरू करते तो दिन अच्छा तो गुजरता...''

''दीवानजी, मीठे की क्या कमी! अभी भेज दूंगा...''

''चल छोड़ अब... पहले तेरा काम कर दें. कागज, कार्बन लाया है.''

चंदर ने नकारात्मक सिर हिला दिया.

''जा, वो सामने की दूकान से एक दस्ता कागज, दो पैंसिल और तीन, चार कार्बन ले आ...''

चंदर उठकर चल दिया और अपनी जेब में पड़े एकलौते दस के नोट की नियति पर मन ही मन मुस्करा दिया. □

शाम

□ कृष्ण बलदेव वैद

जन्म : 1927 डिंगा (पंजाब)
प्रमुख कृतियां : 'खामोशी', 'आलाप' (संपूर्ण कहानियां). 'उसका बचपन', 'गुजरा हुआ जमाना', 'विमल उर्फ जायें तो जायें कहां' व 'काला कोलाज' (उपन्यास)
संप्रति : स्वतंत्र लेखन.
संपर्क : सी-2/9, एस.डी.ए. नई दिल्ली-110 006

बार की मालकिन और लड़कियां जापानी थीं लेकिन ग्राहक सब विदेशी नजर आते थे. सब अलग-अलग अकेले बैठे यूं पी रहे थे जैसे कोई ऐसी दवा जिससे उनका दर्द बढ़ता जा रहा हो. सबके सब झुके हुए थे. आंखें बुझी हुई थीं. मैं एक ऐसे कोने में बैठा था जहां से सिर उठाने पर मुझे सब कुछ दिखाई दे जाता था. मैं बीच-बीच में सिर उठाकर सब कुछ देख लेता था. मेरी आंखें भी बुझी हुई थीं. मैं भी पी रहा था लेकिन मेरे दर्द पर मेरी दवा का कोई असर नहीं हो रहा था. मैं उस शहर में दो दिन के लिए रुक गया था और वह वहां मेरी पहली शाम थी. मुझे रह-रहकर महसूस हो रहा था कि मैं उस बार में, उसी माहौल में, पहले भी एक बार एक शाम गुजार चुका था. इस एहसास को आधार देने के लिए ही मैं बार-बार सिर उठाकर बुझी हुई आंखों से इधर-उधर देख लेता था—बार की मालकिन को, काम करती लड़कियां को, अलग-अलग बैठे अजनबियों को, बार की सजावट को, बोतलों को. मेरा दर्द किसी नीले पत्थर की तरह भीतर पड़ा हुआ था और मैं उसकी धड़कन की प्रतीक्षा में पी रहा था. मुझे उस शहर में कोई काम नहीं था, मेरा वहां कोई वाकिफ नहीं था, इसीलिए मैं वहां दो दिन के लिए रुक गया था. मैं हल्का-सा हैरान हो रहा था कि मैं कैसे उस बार में पहुंच गया था जहां मालकिन और काम करनेवाली लड़कियों के अलावा सब लोग विदेशी थे और अलग-अलग अकेले बैठे यूं पी रहेथे जैसे कोई ऐसी दवा जिससे उनका दर्द बढ़ता जा रहा हो. मैं सोच रहा था कि मेरा दर्द क्यों किसी नीले पत्थर की तरह भीतर पड़ा हुआ है, उस पर दवा का असर क्यों नहीं हो रहा है, उसकी धड़कन कब शुरू होगी. मैं कुछ और भी सोचता लेकिन तभी एक औरत अपनी मेज से उठकर अपना गिलास उठाए मेरी मेज पर आ बैठी. बैठने से पहले उसने मुझसे इजाजत नहीं मांगी. बैठते ही उसने मेरी आंखों से अपनी आंखें मिलायीं और मुझे अपना गिलास उठाने का इशारा किया. मैं अपना गिलास उठा लिया.
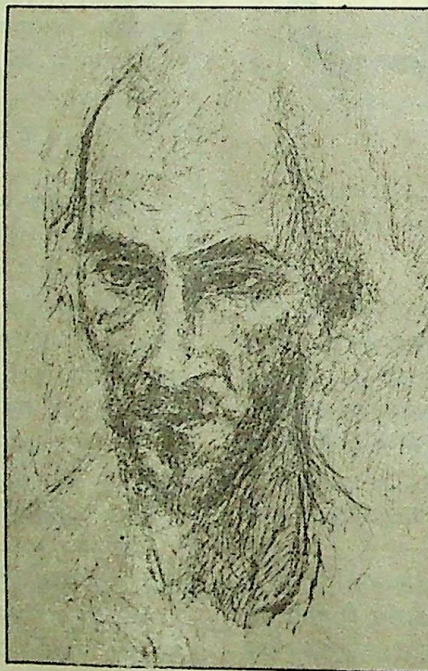
एक-एक घूंट साथ-साथ पी लेने के बाद हमने गिलास मेज पर रख दिये. मेरे दर्द ने धड़कना शुरू कर दिया. मेरी आंखों में कुछ रोशनी हुई. औरत आम सूरत की थी लेकिन उसकी आंखें आम नहीं थीं. उसमें से जैसे उसकी आत्मा झांक रही हो. मुझे लगा कि उन आंखों को चूम लेने से मुझ जैसे किसी भी बेचैन को कुछ देर के लिए करार आ सकता है. उसकी आंखों का ही असर रहा होगा कि मैंने अनायास अपनी भाषा में बोलना शुरू कर दिया: "मुझे एक ही बीमारी है; हर शाम कुछ पी लेने के बाद अप[illegible] नाकामी का नमक चाटना शुरू क देता हूं, कु[illegible] इस अंदाज से जैसे कोई जानवर अपना ज[illegible] चाट रहा हो; मुझे नाकाम लोग अच्छे लगते [illegible] अपने लगते है; उनसे एक खास खुशबू आती [illegible] मुझे कामयाब लोगों की चिकनाहट अच्छी न[illegible] लगती; उससे एक तीखी बू आती है; मे[illegible] विश्वास है कि हर कामयाबी की कीमत हो[illegible] है, हर कामयाब व्यक्ति कमोबेश बेईमा[illegible] होता है; हर कामयाब व्यक्ति कई दूसरों [illegible] नाकामी का कारण होता है, कई दूसरों [illegible] नाकामी के कारण ही ऊपर चढ़ता है, आ[illegible] बढ़ता है; मुझे इस विश्वास से कोई शांति न[illegible] मिलती; मुझे इस विश्वास की सच्चाई पर श[illegible] होता है; मुझे विश्वास है कि मैं नाकाम हूं, दूस[illegible] की नजर में भी, अपनी नजर में भी; हर शा[illegible] कुछ पी लेने के बाद अपनी नाकामी का नम[illegible] चाटना मुझे अच्छा तो नहीं लगता, लेकिन [illegible] इस लत को छोड़ नहीं सकता, छोड़ना न[illegible] चाहता, डरता हूं कि यह भी छूट गयी तो शा[illegible] पर अबूर कैसे पाऊंगा; दिन तो किसी न कि[illegible] तरह कट ही जाता है पर शाम तो कुछ पीक[illegible] और नाकामी का नमक चाटकर ही कटती है; [illegible] ऐसा नाकाम हूं जिसे अपने बारे में कोई भी भ्र[illegible] नहीं, जो अपने आपको कोई भी छूट नहीं देता, जो किसी को कोई छूट नहीं देता, जिसे कि[illegible] कामयाबी से तसल्ली नहीं मिलती; मेरा द[illegible] किसी नीले पत्थर की तरह मेरे भीतर प[illegible] रहता है; मैं उसकी धड़कन की प्रतीक्षा में ह[illegible] शाम कुछ न कुछ पीता रहता हूं; जब व[illegible] धड़कना शुरू कर देता है तो मैं बोलना शु[illegible] कर देता हूं; बोलते वक्त पीता नहीं; जब बो[illegible] चुकता हूं तो फिर पीना शुरू कर देता हूं; लेकि[illegible] एक हद के बाद न पी सकता हूं, न नाकामी क[illegible] नमक चाट सकता हूं, न बोल सकता हूं; आ[illegible]

तौर पर उस हद के बाद नींद या बेहोशी आ जाती है; सोचता हूं किसी दिन मौत भी आ जायेगी; इस खयाल से भी तसल्ली नहीं मिलती..."

उस औरत के हाथ ने बढ़कर मेरे हाथ को पकड़ लिया. उसके दबाव में यह संकेत भी था कि मुझे अब खामोश हो जाना चाहिए और यह आश्वासन भी कि उसने मेरी बात समझ ली है. मैंने अपने हाथ के जवाबी दबाव से उसे धन्यवाद भी दिया और यह संकेत भी कि अगर उसे कोई आपत्ति न हो तो हमारे हाथ कुछ देर और एक दूसरे को दबा सकते हैं. मेरे दर्द की धड़कन ठीक चल रही थी. वह औरत मेरी ही उम्र की थी. उम्र का एहसास मुझे हर स्थिति में रहता है. शाम को यह एहसास और साफ और तेज हो जाता है. इस एहसास से मुझे हरारत मिलती है, शाम की ठंडक कुछ कम हो जाती है. मैं सोच रहा था, आज की शाम आम शामों से थोड़ा-सा ऊपर उठ गयी है. अगर यह अजनबी औरत मेरे पास न आ बैठती तो भी मैं बोलता तो शायद वही जो मैंने बोला लेकिन तब मुंह ही मुंह में बोलता, इस औरत ने मेरी आवाज को खोल दिया, इसकी भाषा न जाने क्या है, देश न जाने कौन सा है. उसी क्षण पहली बार मुझे यह यकीन-सा हो गया कि उस बार में अलग-अलग बैठे सभी लोग अलग-अलग देशों के थे, अलग-अलग भाषाएं बोलने वाले थे. इस यकीन का कोई आधार नहीं था. मैंने सिर उठाकर इधर-उधर देखा. कुछ लोग अपनी-अपनी जगह से उठाकर किसी दूसरे की मेज पर जा बैठे थे. जो अभी तक अकेले बैठे थे वे मुझे अपने से ऊंचे जान पड़े. मैं कुछ और सोचता लेकिन तभी उस औरत ने मेरा हाथ छोड़कर अपनी भाषा में बोलना शुरू कर दिया. मुझे उस भाषा का नाम भी मालूम नहीं लेकिन वह कह रही थी: "मुझे एक ही बीमारी है: हर शाम कुछ पी लेने के बाद अपनी नाकामी का नमक चाटना शुरू कर देती हूं, कुछ इस अंदाज से जैसे कोई जानवर..."

मुझे मैली-सी हंसी आ सकती थी लेकिन नहीं आयी, रुखा-सा रोना भी आ सकता था लेकिन नहीं आया. जब उस औरत का बयान अंत के करीब नजर आया तो मैंने हाथ बढ़ाकर उसका हाथ पकड़ लिया. मेरे दबाव में यह संकेत भी था कि उसे अब खामोश हो जाना चाहिए और यह आश्वासन भी कि मैंने उसकी बात समझ ली है.

उसके बाद हम चाहते तो उसके या मेरे होटल में जाकर बाकी की शाम साथ गुजार सकते थे. बाकी की रात साथ सो सकते थे, लेकिन हमने ऐसा नहीं किया. हमने आखिरी बार एक दूसरे का हाथ दबाया और उठकर बाहर चले आये. मैंने उसकी आंखों को चूमा, उसने मेरी आंखों को. फिर वह अपने होटल चली गयी, मैं अपने. □

आम आदमी

□ राजेश पंत

तालियों की गड़गड़ाहट के साथ नेताजी का भाषण समाप्त हुआ. मंच से उतरते ही चमचों की भीड़ ने उन्हें आ घेरा. एक बोला, "भाषण बहुत ही बढ़िया था, आपने तो कमाल कर दिया..." दूसरा बोला, "वाह... क्या लच्छेदार भाषण था... तालियां बजाते पब्लिक के हाथ एक क्षण को भी नहीं थमे..." और इस प्रकार चापलूसों का तांता उमड़ पड़ा. नेताजी फूले नहीं समाये. एक अनोखी चमक उनके चेहरे पर छा गयी. तभी कुछ सोचते हुए रूमाल से माथे पर उभर आये पसीने को पोंछते हुए, अपने पी.ए. को हाथ के इशारे से बुलाकर कहने लगे, "...यार... भाषण तो तुमने कमाल का ड्राफ्ट किया, शाबास... पर भाषण में... 'आम आदमी'... 'आम आदमी' बहुत बार आया.... मसलन 'आम आदमी' के जीवन स्तर को उठाना होगा. 'आम आदमी' के लिए सुविधाओं को जुटाना होगा. 'आम आदमी' को बचाना होगा. हमें 'आम आदमी' को बेहतर सुविधाओं के साथ इक्कीसवीं सदी में ले जाना है. 'आम आदमी' को... वगैरह-वगैरह." ...फिर एक हल्की-सी सांस भरते हुए, जिज्ञासु की सी मुद्रा में बोले, "भला ये 'आम आदमी' है क्या बला!" नेताजी की बात सुन पी.ए. समेत सभी चमचे दंग रह गये. पर नेताजी ने पूछा था, इसलिए 'आम आदमी' के अर्थ से उन्हें परिचित तो करवाना ही था न.

इसीलिए पी.ए. सकपकाते—सकपकाते बोला, "सर, 'आम आदमी' एक सर्वव्यापी प्राणी है. यह प्राचीन समय से ही हर देशकाल में पाया गया है. हमारे देश में तो ये बहुतायत से है. इसे सुविधाओं के थोड़े से लालच से अपने पक्ष में किया जा सकता है. यानी. इसे हांका जा सकता है... अरे नहीं, हांके तो पशु जाते हैं. फिर पशु भी कई बार गुस्से में आ जाता है. पर इसके तो धैर्य का कहना ही क्या!" चमचा न. एक आम आदमी की चारित्रिक, सामाजिक हालत पर टिप्पणी करनेसे अपने को रोक नहीं पाया. देखो, 'इस पर कितनी ही मार पड़े... मसलन मंहगाई, राशन, दूध, मिट्टी के तेल की किल्लत, यह सब चुपचाप सहता रहता है."

भला चमचा न. 2 खामोश कैसे रहता! दांतों को निपोरता हुआ दार्शनिक अंदाज में बोला, "भाग्यवादी यह 'आम आदमी' सभी तरह की विपदाओं को भाग्य की नियति मानकर भोगता रहता है. कभी अपना आक्रोश व्यक्त नहीं करता. यदि कभी गुस्सा आ भी जाए तो अपने घरवालों पर मन की भड़ास निकाल लेता है.

चमचा नं. 3 जो काफी देर से अपनी बारी के इंतजार में था. पहले चमचे की बात खत्म होते ही बोल पड़ा, "...और हुजूर यह 'आम आदमी' ही तो हर बार चुनाव का अहम मुद्दा होता है. इसी के भोलेपन की वजह से ही तो हम सत्ता में आते हैं."

"नहीं जनाब नहीं" तभी चमचों की भीड़ को चीरता हुआ एक आदमी आगे आया. दिखने में वह पागल-सा लगता था. बोला, "यह ठीक है यह 'आम आदमी' हर चुनाव मेंमुद्दा बनता है, अव्यवस्था के प्रति आक्रोश नहीं व्यक्त करता... मरता... साहब... 'आम आदमी' की सबसे बड़ी खासियत यह है कि... वह जब 'खास आदमी' बनता है तब वह भी 'आम आदमी' को भूल जाता है.

पागल से दिखने वाले व्यक्ति की बात सुन सब चमचे अवाक एक दूसरे का मुंह ताकने लगे. नेताजी थे कि शून्य में कुछ खोज से रहे थे. शायद उन्हें अपननी असलियत याद आ गयी थी... □

जो याद है—

रामकृष्ण शर्मा

हरिशंकर परसाई

हाल खचाखच भरा था. नगर का बुद्धिजीवी वर्ग वहां उपस्थित था. एक प्रोफेसर साहब एक साल अमेरिका में रहकर आये थे. यह करीब चालीस साल से ऊपर की बात है. तब अमेरिका जाना अब जैसा आम नहीं था. अब तो चाहे जो अमेरिका चला जाता है. तब बिरला ही जाता था. सरकारी कालेज के प्रोफेसर का अमेरिका जाना बड़ी नियामत थी.

प्रोफेसर साहब अमेरिका के बारे में बता रहे थे. निश्चित ही वे बहुत प्रभावित होकर आये थे और भाव-विभोर होकर अमेरिकी जीवन की तारीफ कर रहे थे. तभी एक नवयुवा उठा और कहा, "सर, टेल अस एबाउट दी लिंचिंग आफ नीग्रोस इन अमेरिका." प्रोफेसर साहब लड़खड़ा गये. कुछ बोले नहीं, तो फिर उसी युवक ने पूछा, "सर, न्यूयार्क की सड़कों पर औसतन कितने नीग्रो लिंचिंग से रोज मारे जाते हैं."

प्रोफेसर साहब ने घबड़ाते हुए कहा, "आई डोंट नो!" वही युवक बोला, "यदि आप यह काला तथ्य नहीं जानते तो अपनी 'एलिस इन, वंडरलेंड' कथा सुनाते जाइये." युवक बैठ गया. सबकी नजरें उसकी तरफ थीं. प्रोफेसर साहब ने आठ-दस वाक्य बोले और बैठ गये.

वह युवक अकड़ से चला और अपने दोस्तों के साथ बाहर ठहाके लगाने लगा. बोल रहा था, "दीज स्लीपी प्रोफेसर्स हैव नो ईयर्स, आइज़ एंड ब्रेंस."

मैं उससे तभी परिचय करना चाहता था. पर मौका ठीक नहीं था. कुछ समय बाद मैं अपने एक कवि मित्र के साथ सड़क पर जा रहा था कि सामने से वही आदमी आया. मित्र ने मेरा परिचय उससे कराया. वह एकदम गले मिला और हम दोस्त हो गये. मैंने कहा, "मैं उस मीटिंग में था जिसमें तुमने उन प्रोफेसर की हुलिया बिगाड़ दी थी."

उसने कहा, "व्हाई डिड यू नॉट चैलेंज हिम?"

मैंने कहा, "यू डिड दी जॉब वैल."

तभी होटल आ गया. वह एकदम रुक गया और बोला, "आदमी समोसे खायेगा."

हम तीनों भीतर गये और समोसे खाये. उस युवक का नाम, समझ लो रामकृष्ण शर्मा. अब नाम से कुछ नहीं होता. मनोविज्ञान में एम.ए. और शिक्षण शास्त्र में बी.टी. था. खूब अध्ययनशील था. अंगरेजी और हिंदी साहित्य का विशेष अध्ययन था. मार्क्सवाद का उसने विशेष अध्ययन किया था. इतिहास का भी ज्ञाता था.

पर वह असामान्य व्यवहार कभी-कभी कर बैठता था. जैसे सड़क पर खड़े हो गये और बोले— 'आदमी चाय पीयेगा'. जब तक साथी उसे चाय न पिलायें, वह टलता नहीं था. इसी तरह बोलने में वह असंयम कर बैठता था. उलझ पड़ना उसकी आदत थी. 'सो आई एम कनफ्रंटिंग ए मीडियाकर'—ऐसा सामनेवाले से बोल देता और झंझट शुरू हो जाती. वह तीखी बातें अंगरेजी में ही बोलता था इसलिए मुझे मजबूरन अंगरेजी वाक्य देने पड़ रहे हैं. वह अंगरेजी बहुत अच्छी बोलता और लिखता था.

पर सिलसिले से न वह काम कर पाता, न जी पाता. घर की आर्थिक हालत खराब थी. उससे बहुत कमाने की आशा की जाती थी. वह कभी बेकार रहता और कभी कुछ महीनों के लिए माध्यमिक विद्यालय में अध्यापक हो जाता. आखिर नियमित अध्यापकी उसे मिल भी गयी. पर वह घुटा हुआ था. जो करना चाहता था कर नहीं पाता था. जो नहीं करना चाहता था, वो करता. घर में इसीलिए उसकी पटती नहीं थी. वह पी-एच.डी. कर सकता था, विश्वविद्यालय में अध्यापक हो सकता था, बहुत लिख सकता था—यह सब दब गया. वह विद्रोही हो गया. असामान्य हो गया. बाहर वह सनकी माना जाने लगा और बहुत मन लोग उसे गंभीरता से लेते थे.

उम्र उसकी बढ़ रही थी और शादी हो नहीं रही थी. लोग शादी के लिए कहते थे तो वह चिढ़कर कहता, "एव्री बडी सेज़ गेट मेरिड, गेट मेरिड बट व्हेअर इज दी गर्ल?" उसका ऐसा खयाल था कि लड़की वाले आते हैं, मगर जाति के एक-दो लोग उन्हें बहका देते हैं कि वह तो पागल है.

मैं और वह एक ही स्कूल में काम करते थे. वह ट्यूशनें भी करता. दिमाग उसका बिगड़ता जाता था. वह कुछ मादक द्रव्यों का भी सेवन करने लगा था. सबसे बड़ी पीड़ा उसकी अब तक शादी न होना था.

मैं अकेला रहता था. महीने भर मैंने उसे अपने घर में रखा. वह बार-बार भावुक हो उठता. परिवार की बात करता और रो पड़ता. अपनी दुर्गति पर पछताता और रो पड़ता. कहता—"व्हाट एम आई मेड फार एंड व्हाट आई एम डूइंग! गेट मी ए कापी, आई शैल राइट!"

मैंने उसे मोटी कापी दी. उसने उस पर शीर्षक लिखा—'रिफार्म वर्सेस रिवोल्यूशन' दो-तीन पृष्ठ भी लिखे. अच्छे लिखे. मैं खुश था, इसका मन लिखने में लग रहा है. पर दूसरे दिन फिर उसका वही हाल. गर्दन अकड़ाकर चलता था. चौड़ा सीना था, पुष्ट देह थी. दूसरे दिन उसे सनक का दौरा आया तो एक प्रोफेसर से उलझ पड़ा. बहस करते-करते बहका—"आई हैव नो कंप्लेंट एगेंस्ट यू बट टेल मी दी नेम आफ दैट ईडियट हू मेड यू ए प्रोफेसर!"

रात को मैं दरवाजे में ताला लगाता था. उसने कहा—"ताला क्यों लगाते हो?" मैंने कहा, "सुरक्षा के लिए. पहले से ही लगाता हूं." उसने कहा, "नहीं, तुम मेरे कारण ताला लगाते हो. तुम्हें डर है कि मैं रात को कहीं भाग जाऊंगा." मैंने कहा, "ताला तो मैं हमेशा से लगाता हूं. पर हां, मुझे तुम्हारे मूड का भरोसा नहीं." उसने सांस छोड़ी और बोला, "दैट इज माई ट्रेजडी. नोबडी ट्रस्ट्स मी."

आखिर मैं डाक्टर डिसिल्वा के पास ले गया. डाक्टर उसे जानते थे. पूछा, "यस शर्मा, व्हाट इज दी मैटर. आई हीअर थिंग्ज अबाउट यू. यू सेड, यू वेअर डूइंग सम रिसर्च."

शर्मा बोला—"यस, आई एम डूइंग रिसर्च

आन 'एडोलेसेंट एंबीशंस (किशोर महत्वाकांक्षाएं).''

डाक्टर ने पूछा, ''हाऊ फार है यू गॉन?'' उसने कहा, ''आई एम दी रिजल्ट बिफोर यू टु हैल विथ रिसर्च!''

डाक्टर समझ गया. पूछा, ''दस्त कब से नहीं गये?'' शर्मा ने कहा, ''तीन दिन से.'' फिर पूछा, ''डू यू टेक नरकॉटिक्स? (मादक पदार्थ)'' शर्मा ने कहा, ''यस, समटाइम्स.'' शर्मा ने कहा, ''नो डाक्टर, आई एम नॉट एन एडिक्ट यट.'' डाक्टर ने दस्त की दवा दी. कुछ 'ट्रेंक्विलाइजर्स' वगैरह लिख दिये. कुछ दवाईयां पास से दीं. कब्ज दूर करने के उपाय बताये.

वह बेतहर हो गया. नशा भी नहीं करता. पर अकड़ वैसी ही रही और सनक भी. उसकी महत्वकांक्षाएं डूबने लगीं. अब एक ही धुन उसे थी—शादी कर ले और साधारण आदमी की तरह रहे. पर लड़की कहां?

एक दिन मेरे पास नागपुर के दो आदमी आये. अपना परिचय दिया और उसका फोटो दिखाया.

बोले, ''इन्हें आप जानते हैं?''

मैंने कहा, ''हां, ये मेरे साथ अध्यापक हैं.''

वे बोले, ''हमने यह फोटो नागपुर में डाक्टर को दिखाया था. उसने कहा कि यह आदमी कुछ-कुछ पागल होना चाहिए.''

मैंने पूछा, ''इस आदमी से आपको क्या मतलब है?''

उन्होंने कहा, ''हम अपनी लड़की की शादी इनसे करना चाहते हैं. नागपुर में कुछ लोगों ने कहा कि जबलपुर में आपसे मिलो. वे सही बात बतायेंगे.''

मैंने कहा, ''आपने मेरे सामने संकट उपस्थित कर दिया. यह आदमी मेरा दोस्त भी है. पर लड़की की जिंदगी का सवाल है. मैं झूठ नहीं बोलूंगा. देखिये यह आदमी परम बुद्धिमान है. ऐसे कम होते हैं. यह पागल कतई नहीं है. यह कभी-कभी असामान्य व्यवहार करता है और इसे 'मूड' आते हैं. इसलिए लोग इसे थोड़ा सनकी समझते हैं. मैंने भी इसे यहां बहुत अच्छे डाक्टरों से लक्षण इसलिए हैं कि इसकी शादी नहीं हुई. इसकी शादी हो जाये तो यह बिलकुल ठीक हो जायेगा. अब आप समझ लीजिये.''

नागपुरवालों ने शादी तय कर दी. वह परिवार विदर्भ का था.

शर्मा ने शादी की बात किसी को नहीं बतायी. उसे डर था कि यहां के लोग लड़की वालों को बहका देंगे. सिर्फ मुझे यह बात मालूम थी. उसके दूसरे मित्रों को भी नहीं मालूम था.

वह चुपचाप शादी करने अमरावती चला
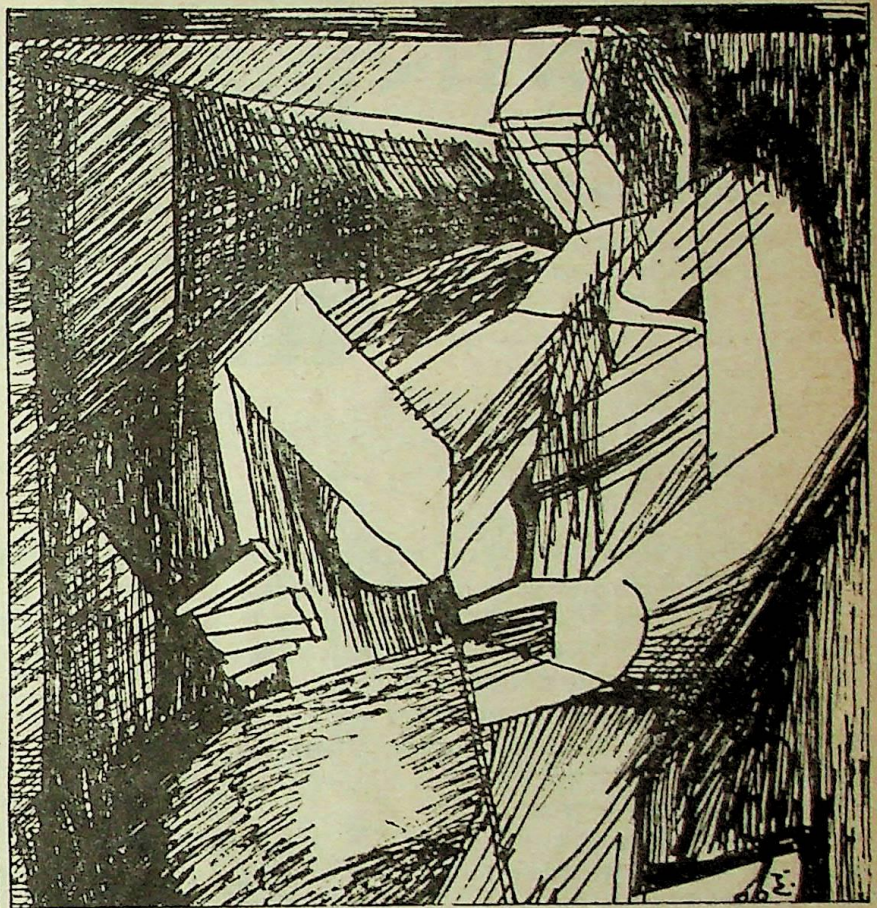
रेखांकन : हरिपाल त्यागी

गया.

शादी करके, दुलहन लेकर लौट रहा था. रेलगाड़ी के उसी डब्बे में हमारा एक मित्र प्रकाश चंद था. पर न उसे मालूम था कि इस डब्बे में शर्मा है और न शर्मा को मालूम था कि प्रकाश इसी डब्बे में है.

प्रकाश ने जबलपुर लौटकर बताया कि शर्मा की शादी हो गयी. मगर वह तो वैसा का वैसा ही है. गाड़ी स्टेशन से चली और सिगनल के पास रुक गयी. डब्बे के बाहर गुल-गपाड़ा हो रहा था. मैंने खिड़की से देखा, दूल्हा के लिबास में एक आदमी गार्ड से बहस कर रहा है. कह रहा था, ''दि ट्रेन विल नाट मूव!'' गार्ड समझा रहा था, ''आप मामूली बात के लिए ज़िद कर रहे हैं.'' उसने कहा, ''बात मामूली नहीं है. इट इज ए मेटर आफ सालेम मेरिज. जब तक हमारा आदमी प्लेटफार्म से उस टोकनी को लेकर नहीं आ जाता—दी ट्रेन विल नाट मूव! यू अंडरस्टेंड मी? आई शै पे दी फाईन.'' आदमी खाली हाथ लौट आया. लंड्डू की टोकनी किसी ने उठा ली थी.

प्रकाश ने बताया, वह जब डब्बे में घुसा तो मुझे देखा, ''तुम प्रकाश?'' मैंने कहा, ''तुम्हारे ये क्या ठाठ हैं!'' उसने कहा, ''व्हाई, आई गौट मेरिड. शी इज माई वाईफ.''

उसने पत्नी से परिचय कराया.

प्रकाश ने मुझसे कहा, ''डाक्टर तो कहते थे यह शादी के बाद ठीक हो जायेगा. पर रेल में मैंने देखा कि वह तो वैसा ही सनकी है.''

मैंने, ''बारात लौटते वक्त ही कैसे ठीक हो जायेगा? एक-दो महीने पत्नी के साथ रहेगा तो ठीक हो जायेगा.''

वह अलग दो कमरे लेकर रहने लगा. हमें घर भी ले गया. पति-पत्नी बाजार जाते. मित्रों के घर जाते. ठीक-ठाक हो गया.

हमें आशा थी कि अब इसकी महत्वकांक्षा और प्रतिभा जागेगी और यह कोई विशेष काम करेगा.

पर वह बुझ गया था. गृहस्थ की हैसियत से ही वह संतुष्ट था. उसने जबलपुर छोड़ दिया. अमरावती में लेक्चरर हो गया. सुखी और संतुष्ट गृहस्थ. कुछ साल बाद सुना कि हृदयाघात से उसकी मृत्यु हो गयी. एक असामान्य आदमी को परिस्थिति ने सामान्य बनाकर खत्म कर दिया. □

राजकुमार

□ आनंद प्रकाश जैन

जन्म : 1927, मुजफ्फर नगर के शाहपुर में.
प्रमुख कृतियां : 'कठपुतली के धागे', 'तीसरा नेत्र', 'पलकों की ढाल', 'पीले हाथ', 'कुणाल की आंखें', 'तांबे के पैसे' (ऐतिहासिक उपन्यास), 'आग और फूस', 'आठवीं भंवर' (सामाजिक उपन्यास), 'संशय का युग', 'अतीत के कंपन', 'काल के पंख', 'लाल पन्ने' (कथा-संग्रह)
संप्रति : स्वतंत्र लेखन व वकालत.
संपर्क : 10, वरुणा बिल्डिंग, मार्ग-21, चेंबूर, बंबई-400 071

एक रियासत है आहनपट्टी जहां के हजारों राजकुमार और राजकुमारियां इस देश के विभिन्न भागों में पल-बढ़ रहे हैं. कैसी थी यह रियासत और कैसे थे इसके राजकुमार?

भला, आहनपट्टी का नाम तो आपने सुना नहीं होगा न, यह एक बहुत बड़ी रियासत का नाम है, जो दूर-दूर तक फैली हुई है. आजकल भारत सरकार के कब्जे में है. मेरी जड़ें इसी रियासत में हैं. जब मैंने बरगद जैसे बाबा के साये तले होश संभाला था, तभी एक दिन उन्होंने मुझे बता दिया था कि मैं इस रियासत का राजकुमार था.

मैं आया था इस रियासत के एक छोटे-से स्टेशन काजीपुर पर लगभग अठारह साल बाद. जब मैं बाबा से बिछुड़ा था, तो कितना रोया था. बाबा भी रोये थे. आज जब मैं अपनी जड़ें तलाश करने के लिए वापस इस स्टेशन पर उतरा हूं तो यह खासा लंबा-चौड़ा हो गया लगता है. सब-कुछ बदला-बदला-सा लगता है. बाबा ने जब अठारह साल पहले एक भले-से मुसाफिर के साथ बंबई भेजा था, वह दृश्य मुझे पूरी तरह याद है.

"बाबू साहब, मैंने आप पर कोई एहसान नहीं किया," बाबा ने कहा था उस मुसाफिर, "मैं तो टिकट-चैकिंग के लिए डिब्बे के अंदर घुसा था. इस भारी से बक्से में सामान ज्यादा लगा और किसी मुसाफिर ने इसकी मिल्कियत का दावा नहीं किया तो इसे उतारना पड़ा.एंट्री करके मालखाने में जमा करा दिया. अब आप दस दिन बाद आये हैं और इसके अंदर के तालाबंद सामान का पूरा हवाला दे रहे हैं तो स्टेशन मास्टर और रेलवे पुलिस के सामने खोल लेते हैं. हवाला सही निकला तो बक्सा आपका, साहब."

बक्सा जब मिल गया था तो बाबा ने उस मुसाफिर को ऐसे ही नहीं जाने दिया था. बक्से में लगभग पांच लाख के जेवर-कपड़े कूते गये थे. इसलिए जिद करके उसका बीमा करवाया था. फिर मुसाफिर को जिद करके अपने साथ घर ले आये थे. खाना खिलाया था. रात भर आराम करके सुबह की गाड़ी से जाने का वादा लिया था. सुबह उस मुसाफिर ने सकुचाते हुए जब चार-पांच हजार का एक जेवर उन्हें तोहफे में देना चाहा था तो बाबा ने साफ इनकार कर दिया था. नाराज नहीं हुए थे—कहा था : "आप कुछ दे सकते हैं तो मैं भी आपको कुछ दे सकता हूं. यह लड़का देख रहे हैं न आप. कैसा लगता है आपको?"

चकित से मेरी ओर देखकर उन बाबू साहब ने कहा था, "बिल्कुल एक राजकुमार की तरह."

"जी हां," बाबा ने बिना फूले ही कहा था, "इसका नाम ही राजकुमार नहीं है, यह है भी एक राजकुमार. उस वक्त यह छह महीने का रहा होगा, जब रात के ग्यारह बजे के करीब यह मुझे इसी स्टेशन की एक बेंच पर सोता दिखाई पड़ा था—और दूर इसका कोई लगा-सगा इसे वहां छोड़कर भागता चला जा रहा था. फिर क्या हुआ—जब तक मैं दौड़कर उसे पकड़ूं, कहीं अंधेरे से एक गोली चली और वह वहीं ढेर हो गया. पुलिस कार्रवाई हुई, तफतीश हुई, जब पता चला कि इसका वह रिश्तेदार रियासत आहनपट्टी का एक मुलाजिम था. काफी खोजबीन के बाद यह भी पता चला कि यह इसी रियासत की एक होनेवाली रानी का नाजायज बेटा था, जिसे अपना ही बेटा होने के बावजूद रियासत का राजा ब्याह के दहेज में लेने को तैयार नहीं था. मगर राजकुमार तो राजकुमार ही होता है, साहब—चाहे ब्याह से पहले हो चाहे बाद में. इसीलिए मैंने इसे पाला—और आप देख रहे हैं इसके चेहरे का नूर, टपका पड़ता है. अभी कुल छह साल का है, मगर जो काम करता है, शान के साथ करता है, पूरा करता है, और एक ऐसी खास नफासत के साथ करता है जो एक अच्छे राजघराने की बपौती होती है."

"वाह! कौन-सी रियासत है वो टी.टी. साहब?" मुसाफिर ने पूछा था.

"आहनपट्टी—शायद आपने नाम सुना हो. खासी बड़ी रियासत है. मगर अब तो घराने बाकी रह गये हैं—रियासतें, जमींदारियां सब-की-सब सरकार के कब्जे में चली गयी हैं और वही उनका इंतजाम करती है. राजाओं को सिर्फ तनखाएं और भत्ते मिलते हैं. मेरी मानें तो आप इसे साथ ले जाइये. कुछ ही दिनों में आपको ऐसा महसूस होगा कि आप सिर्फ एक बक्सा लेने यहां तशरीफ नहीं लाये थे, बल्कि दस बक्सों की कीमत का एक रतन ले कर वापस गये थे."

आज मैं समझ सकता हूं कि बाबा ने ये सब बातें बढ़ा-चढ़ाकर कही थीं, खुद अपने माल की कीमत बढ़ाने के लिए. यह बात नहीं थी कि वह मुझे प्यार नहीं करते थे, बल्कि कई रातें मैंने उनकी छाती से लगकर सोयी थीं. वह मुझे कुछ बनते देखना चाहते थे और जिसे सौंपना चाहते थे, उसके बक्से के माल की कीमत से उसकी हैसियत का अंदाजा लगाकर ही मुझे उसे सौंप रहे थे. बंबई बहुत बड़ा शहर है. यहां तकदीरें बनती हैं. बस, जरा-सा सहारा चाहिए—पैर टिकाने भर को.

इस बीच शुरू-शुरू में बाबा की कई चिट्ठियां आयी थीं बंबई—मेरी कुशल-क्षेम पूछने के लिए और कुछ बहुत प्यारे शब्द मेरी आंखों की राह दिल में उतार देने के लिए—कुछ सीखों भरे, कुछ तारीफों भरे—मुझे यह याद दिलाने के लिए मैं एक राजकुमार हूं और राजकुमारों की आन-बान को बट्टा न लगने दूं. फिर जब उस भले मुसाफिर ने एक दिन मुझे गोद ही ले लिया, तो बाबा की चिट्ठियां आनी कम हो गयी—एक दिन बंद ही हो गयी. मैं भी नहीं लिख पाया. बंबई एक व्यस्त नगर है.

"आप सही कहते हैं," मैंने विनम्रता से कहा. "मगर मैं कवि हूं, शायर हूं, लेखक हूं, कहानीकार हूं..."

"बस!" वह पल्ला-सा झाड़ते हुए बोले.

"देखिए, मैं ऐसा-वैसा कवि नहीं. मैं फिल्मी गीत लिखता हूं, अफसाने लिखता हूं—आपने मेरी लिखी फिल्में 'गुलाम शहजादी', 'इस देश में चांदी बहती है', 'राज-रोग', 'सोलह साल बाद' जरूर देखी होंगी."

"ओह!" अब स्टेशन मास्टर साहब की निगाहों में मेरे लिए इज्जत पैदा होती दिखायी दी, "हमारा अहोभाग्य कि आप इस स्टेशन पर तशरीफ लाये—मगर क्या सिर्फ इसलिए कि एक बुजुर्ग और रिटायर्ड स्टेशन मास्टर से मुलाकात करें?"

"जी नहीं, मैं अब एक नयी फिल्म प्रोड्यूस करना चाहता हूं—'अठारह साल बाद' और उसकी कहानी की तलाश में आया हूं." मैंने कहा.

"वाह, 'सोलह साल बाद' के बाद 'अठारह साल बाद'!"

रेखांकन : हरिपाल त्यागी

बंबई, जहां स्टेशन तो बहुत बड़े-बड़े बन गये हैं, मगर जो एक एहसान-फरामोश शहर है. यहां आकर इनसान अपनी जड़ें भूल जाता है ओर अगर यहां की झोंपड़पट्टियों के कीचड़ में ही रुलता न रह जाये, तो ताड़ के पेड़ की तरह आसमान में उठता चला जाता है और अपनी जड़ें उसे दिखायी देनी बंद हो जाती हैं.

कुछ दिन पहले एक चिट्ठी मिली थी—किसी महिला के हाथ की लिखी लगती थी 'राज' नाम से. कोई लड़का भी हो सकता था. लिखा था बाबा बहुत बीमार थे—बचने की उम्मीद नहीं थी. एक बार मुझे देखना चाहते थे. मगर मैं हतभागा कहा आ पाया था फौरन. लगभग पूरा महीना ही गुजर गया था अब तो. ट्रेन से उतरते ही स्टेशन मास्टर साहब से मिला. एक नये मगर प्रौढ़ व्यक्ति थे बाबा का अतापता पूछा, तो बोले, "आप उल्फतराय जी की बात करते हैं? अरे साहब, क्या हमेशा टी.टी. ही बने रहते? स्टेशन मास्टर हो गये थे. तीन साल पहले रिटायर हुए थे. उन्हीं की जगह तो मैं आया था. मगर आप उनके कौन लगते हैं? नाम तो आपका इतना जाना-पहचाना लगता है कि किसी भी राह चलते को पकड़ लो, उसका भी यही नाम निकल आयेगा."

"जी हां, सरकार ने प्रेम के परिणाम की उम्र बढ़ा दी है न."

वह हंसे तो फिर खूब हंसे. फिर बोले, "खूब तरक्की की आपने. लेकिन अफसोस, मुझे आपको इत्तला देनी पड़ती है कि बाबू उल्फतराय साहब तो अब रहे नहीं. अपने आखिरी सफर पर रवाना हो चुके हैं..."

दिल बैठ गया. अपने ऊपर बहुत गुस्सा आया. चेहरा भी शायद रहम के काबिल बन गया. वह बोले—"देखिए, उनकी एक लड़की है. अभी उसी क्वार्टर में रहती है. आप चाहें तो उस से मिल लीजिए. मैं एक कुली को आपके साथ भेजे देता हूं."

"कोई जरूरत नहीं है. धन्यवाद. मुझे रास्ता मालूम है."

क्वार्टर का दरवाजा खटखटाया. बाबा की कोई लड़की नहीं थी, यह मुझे याद था. मैं जब तीन साल का था तभी गुजर गयी थी उनकी पत्नी. मगर तब से तो इक्कीस साल बीत चुके हैं. हो सकता है उन्होंने बाद में शादी कर ली हो. मुझे बेटे की तरह मानते थे. शादी में बुलाते जरूर. मगर मैं भी तो हतभागा कभी आ नहीं पाया था. बंबई में महादेवजी की चिप्पक जो लगी रहती है.

"कौन है?" अंदर से एक मधुर-सा स्वर सुनाई पड़ा.

रेखांकन : हरिपाल त्यागी

मैं भंडारा करवा सकता हूं. पर क्या इन दस गांवों में से एक की भी भुखमरी मिटा सकता हूं?

मैं प्रवचन दे सकता हूं. सैकड़ों की भीड़ को रुला सकता हूं. मैं हर स्कूल, हर कालेज में जाके कुछ न कुछ ऐसा बोल सकता हूं जो सुनने लायक हो, मनन करने लायक हो. किंतु बिना राजनीतिक छल-छंद के तो स्कूल कालेज तक नहीं खुलते और बिना गुंडे पाले यह राजनीति भी नहीं चलती. मैं इस लड़के को क्या कहूं? इसके पिता को कैसे और क्या समझाऊं?

मैं रोता हूं निःशब्द. नहीं! मैं सबके सामने रोता हूं. मुझे रोने में शर्म नहीं. यह सार्वजनिक विलाप है मेरा. इसमें किसकी शर्म!... क्या यह केवल मेरी व्यक्तिगत विडंबना और व्यक्तिगत असमर्थता के आंसू हैं?....मुझे देखो, मुझे समझो मेरे लोगो! मैं,... जो, कुछ भी नहीं कर सकता तुम्हारे लिए. मैं... जो तुम्हीं जैसा निरुपाय और तुम्हीं जैसा दुर्बल हूं. तुमसे भी कहीं गया-बीता. तुम लोग मूर्ख ही सही, डरपोक और अंधविश्वासी ही सही, अपना घर तो चला रहे हो कम से कम. तुम्हारी ही दी हुई भीख पर पलनेवाला मैं अकिंचन भला तुम्हें क्या दे सकता हूं?...

मैं हंसता हूं, खिलखिला पड़ता हूं एकाएक. उन्हें मेरी इस खोखली हंसी में अपने दुधमुंहे बच्चे की निष्पाप छवि दिखाई दे रही है. परमहंस, बालवत् हो गया हूं मैं उनके लिए.

यह साक्षात् मेरी मां आरती का थाल लिये मेरे सामने खड़ी है. उसके पीछे वह मेरी मामी—मेरे पगले मामा की वह जनमदःखी पत्नी, जिसे देखकर मैं कांप उठता था, जिसका सामना करने से मैं भरसक कतराता रहता था...वह कैसे यहां आ गयी—वह तो कब की स्वर्ग सिधार चुकी थी!... वह मन्नो, मेरी बहन. और वह... मीरा!!!

''बंद करो यह सब..!'' मैं बुरी तरह चीख पड़ता हूं! उठकर खड़ा हो गया हूं मैं. जाने क्या-क्या बके जा रहा हूं मैं! मुझे क्या हो गया है! यह कैसा आर्त्तनाद मेरे भीतर से उमड़कर सारी दुनिया को जड़-मूल से उखाड़ता बहाए ले जा रहा है. उखड़ने दो... बहने दो... कुछ भी न बचा रहे. कुछ भी. सब डूब जाये, सब बह जाये इसी प्रलय में. अभी. बिल्कुल अभी.

ओ मां! ओ जगज्जननी! मुझे मारती क्यों नहीं? कूटती क्यों नहीं? अपनी वह एकमात्र बची-खुची पहचान भी मुझसे मत छीन मेरी माई! मुझे जीते जी नरक में मत डाल अपने ही हाथों से.

ओ पिता! ओ बहन! मुझे इतना कठोर दंड मत दो. कोई और दंड दो मेरे अपराधों के लिए, कुछ और कुछ और. यह नहीं.

और... तू? इस जोगिनी भेष में? मेरी परीक्षा लेने आयी है? मुझे ढूंढ ही डाला तूने आखिरकार? मैं कैसे तुझे पकड़ाई दे दूं? कैसे तेरे हाथों खुद को खिलौने की तरह सौंप दूं—अधर में झूलने के लिए. मैं वह बंसी नहीं हूं मीरा! वह बंसी तो कभी का मिट गया.

मैं तो महज उसका प्रेत हूं, प्रेत. और तू?

नहीं. प्रेतात्मा! नहीं.

मैं कहीं डेरा नहीं डालता. मैं बस आता हूं और जाता हूं मुझे लोगों से डर नहीं लगता. अपने आप से डर लगता है. तुम लोग बांधते हो बुरी तरह; और मुझे बंधने में सुख मिलता है. मुझे उस सुख से डरना चाहिए. मैं दुख से कभी नहीं डरा क्योंकि दुख मेरा सहोदर है. साक्षात् दुःख की कोख से जन्म लिया है मैंने. अपनी जन्मदात्री से कैसा डर!

लघुकथा

मोहभंग

□ भगवती प्रसाद द्विवेदी

ट्रेन से दिल्ली जाने के क्रम में जब लखनऊ स्टेशन आया तो मैं अपने को रोक नहीं पाया और ट्रेन से उतरकर विद्यार्थीजीवन के अपने एक जिगरी दोस्त सुशील से मिलने उसके घर की ओर चल पड़ा. आजकल वह लखनऊ विश्वविद्यालय में ही प्राध्यापक है. बी.एच-डी. तक हम दोनों ने एक ही साथ हॉस्टल के एक कमरे में ही रहकर शिक्षा ग्रहण की थी. एम.एस-सी. में मैंने गोरखपुर विश्वविद्यालय में दाखिला लिया था और उसने बी.एच.यू. में. फिर हमारी मुलाकात नहीं हो सकी थी. चूंकि उसका पुश्तैनी मकान लखनऊ में ही हजरतगंज मोहल्ले में है, अतः मैं सीधे उसके आवास की तरफ ही जा रहा था.

दरवाजे के सामने पहुंचकर जब मैंने कॉलबेल पर उंगली रखी तो एक लड़का दौड़ा हुआ आया. वह मेरा नाम-पता पूछकर वापिस लौटा. मगर काफी समय गुजर जाने के बावजूद दोस्त का आगमन नहीं हुआ. मैं अधीर हो उठा.

तभी दोस्त ने एकाएक प्रकट होकर अपनी सवालिया निगाहें टिका दीं, ''कहिये?''

किंतु सुख से मैं सदा ही शंकित और भयभीत रहा हूं. आज से नहीं, जुग-जनम से. उस सुख से भी, जो तुम्हारे साथ मुझे मिलता है. इस सुख का आदी मैं नहीं हूं और नहीं होना चाहता. मैं अपने और तुम्हारे जीवन को अकारण और अनर्गल जीवन को कोई असंदिग्ध अर्थ देना चाहता हूं. मुझे अक्सर भ्रम हुआ है कि वह अर्थ मुझे पकड़ाई दे रहा है. फिर अचानक अपने-आप यह फिसल जाता है हाथ से और मैं छूंछा का छूंछा ही बचा रह जाता हूं.

पर..... मैं पहले की तरह कुंठित और हताश नहीं. मैंने इसी शरीर से, इसी मन से. इन्हीं नसों और नाड़ियों से कुछ पकड़ा है, कुछ पाया है, जो... मेरा मन कहता है... सब स्वार्थों का स्वार्थ है, सब अर्थों का परमार्थ है.... जिसे पाने का क्षण सचमुच मुक्ति का ही क्षण है;.... जिसे पाने के बाद कुछ भी पाना शेष नहीं रह जाता; जहां सारी तृष्णाएं विरत हो जाती हैं, जहां सारे अपराधों की क्षमा है, सारी अभीप्साओं की पूर्ति है, जहां पैठकर, जहां से स्थिर दृष्टि जमाकर ही इस संसार को जैसा वह है,

वैसा देखा जाना संभव है और जैसा उसे होना चाहिए, वैसा उसे बनते देखाना भी...

और मेरी...मेरी जिद है, अंतरात्मिक जिद है कि मैं तुम सबको अपने साथ वहां ले चलूं. भले इस जिद ने मुझे हास्यास्पद बना डाला हो भले इस जिद ने मुझे कहीं का नहीं रख छोड़ा हो.

मेरी मोह-माया मुझे जैसे ही कहीं पर अटकाने और रमाने लगती है, मैं खूंटा तुड़ा कर भाग निकलताहूं. यहां कुछ भी ताजा और निर्दोष नहीं रह सकता. यहां सब कुछ फट जाता है, खट्टा पड़ जाता है बहुत जल्दी. यह विकृति हर कहीं विद्यमान है. हममें से कोई भी इससे ऊपर नहीं. एक अनासक्ति ही है जो हमें इस संसार में लिथड़ने से और सड़ने से बचा सकती है. वह अनासक्ति ही कर्म-कौशल है. वह अनासक्ति ही योग-यानी सबसे, जुड़ने का, सब होकर जीने का एकमात्र उपाय और मार्ग है. बिना उसके, प्रेम और सहानुभूति और कर्म की...नीति और नैतिकता की सारी बड़ी-बड़ी बातें सिर्फ जाल हैं, आत्म-प्रवंचना हैं

"सुशील! मुझे पहचाना नहीं? मैं हूं तुम्हारा दोस्त रवि... हम दोनों बी.एस-सी. में क्लासफेलो थे. दिल्ली जा रहा था तो सोचा, तुमसे मिलता चलूं. एक लंबा अरसा गुजर गया हम दोनों को मिले हुए." मैंने आह्लादित होते हुए कहा.

"मगर मैं तो आपको अभी भी नहीं पहचान पा रहा हूं." उसके चेहरे से अब भी अजनबीपन चिपका हुआ था.

मैंने फिर एक बार कोशिश की, "मैं पटना का रविशंकर मिश्र हूं... तुम्हारा दोस्त रवि!"

"खैर, छोड़िये! कहिये, कैसे आना हुआ? किसी लड़के की यहां कॉपी आयी हुई है क्या... या अपने लड़के का एडमिशन कराना है, अथवा यूनिवर्सिटी में कोई काम आ पड़ा है?" उसकी आंखों में कई सवाल तैर रहे थे.

"मगर यार! मैं तो तुमसे सिर्फ मिलने आ गया था. क्या दोस्त से मिलने के लिए किसी काम का होना जरूरी है?" मैंने प्रतिप्रश्न उछालते हुए कहा.

"बगैर किसी काम के? सहज मिलनेके लिए?" दोस्त अब भी अचंभित था. उसने हकलाते हुए फिर कहा, "माफ करना भाई, यूनिवर्सिटी का समय हो गया है. फिर कभी..." और वह एकाएक तेज कदमों से बाहर निकल गया.

मैं दोस्त को आंखों से ओझल होने तक देखता रहा. लगा, जैसे मैं अपने मित्र के घर नहीं, बल्कि किसी जंगल में भूल से आ गया होऊं. □

जहां कहीं भी मेरा स्वागत होता है, वहां भी अपने उस स्वागत को मैं मन ही मन तिरस्कार की तरह झेलता हूं, तिरस्कार की तरह भोगता हूं. मैंने तुमसे ठोकरें नहीं खायीं. मुझे अब भला किसकी परवाह है!

इन दिनों मुझ पर एक अजीब-सी सनक सवार हो गयी है. जैसी कि पहले कभी नहीं हुई थी. मैं लोगों से कहता हूं—अरे तुम क्या अंधे हो? तुम क्या देखते नहीं, तुम्हारा गांव सड़ रहा है, तुम्हारा मनप्राण-बुद्धि सब सड़ रहे हैं. उन्हें सड़ने से बचाओ. क्या तुम्हें दुर्गंध नहीं आती? कैसी नाक है तुम्हारी? ये लड़के तुम्हारे कहां जा रहे हैं? ये तुम्हारी ही मोहमाया के मारे हुए हैं. ये उसी से बिदके हुए हैं. तुम्हारी आसक्तियों से, और तुम्हारी उदासीनता से. यह उदासीनता तुम्हारी एक भयंकर ढोंग है, भयंकर पाप है. तुम अनासक्त कहां हो? तुम तो बहुत ही लालची हो, स्वार्थी हो. कभी पूछते तक नहीं, तुम्हारा लड़का यह सब जो बटोर रहा है, कहां से बटोर रहा है. अनासक्ति का एक नया ही पाठ आज कल मेरे

रेखांकन : हरिपाल त्यागी

भीतर जोर मार रहा है, जिसे मैं अधेड़ों और बूढ़ों पर ही नहीं, लड़कों और नवयुवकों पर भी अक्सर आजमाता रहता हूं. कोई मेरी सुनता है, कोई नहीं सुनता. कोई सुनके हंस देता है, कोई मुंह बिरा देता है. कोई चुप रह जाता है, कोई बहस में उतर आता है. मुझे बहुत मजा आने लगा है इस सबमें. मैं एकाएक फिर से वाचाल हो उठा हूं. मेरी यह नयी-नयी वाचालता उस वाचालता से सर्वथा भिन्न है, जिसकी निष्फल और हताश परिणति ने मुझे गूंगेपन में ढकेल दिया था. मैं फल की कामना नहीं करता. यहां तक कि जमीन की गोड़ाई-निराई भी नहीं करता. केवल बीज बिखेर देता हूं. जो जहां पनप जाये. मैं लड़कों को पकड़ता हूं, स्कूल मास्टरों को भी पकड़ता हूं. हां, उन मास्टरों को भी—जिनसे कभी मुझे वितृष्णा थी. अब मैं उन पर भी भरोसा करता हूं. वे कितना भरोसा मुझ पर करते होंगे, यह अलग बात है. वे खुद पर ही भरोसा करें, इतना मेरे लिए काफी है.

तुम्हारा गांव उजड़ रहा है, तुम्हारी खेती उजड़ रही है. तुम्हारी श्रद्धा और तुम्हारी बुद्धि उजाड़ी जा रही है और तुम्हें इसका पता तक नहीं चलता. तुम्हारे खेत, तुम्हारे जंगल, तुम्हारी स्मृति, तुम्हारी संतति, तुम्हारी जीविका, तुम्हारी भूमिका सब कुछ तुम्हारी आंखों के सामने, उजाड़ा जा रहा है और वह भी तुम्हारी सहमति से. यह सब हो रहा है, दिनदहाड़े हो रहा है और तुम इतने भोले हो, इतने अनजान हो कि इतनी बड़ी ठगी और इतनी बड़ी लूट, तुम्हें दीखती तक नहीं?

क्या यह भोलापन पाप नहीं? इस फूल को देख रहे हो? इससे अधिक निर्दोष और निष्पाप कुछ हो सकता है इस सृष्टि में? मगर देखो, अब यह सड़ रहा है और इसकी दुर्गंध किसी कचरे की दुर्गंध को भी मात दे रही है. खर-पतवार भी जब सड़ते हैं तो कम से कम ऐसी दुर्गंध तो नहीं आती उनसे. और खर-पतवार को सड़ने में थोड़ा वक्त भी तो लगता ही है. इस फूल को सड़ते मगर बिलकुल देर नहीं लगती. लगता है जैसे सड़ने के लिए ही जनमा था. उसके भीतर जैसे इस सड़न को रोकने का कोई इंतजाम नहीं, कोई बचाव नहीं. उसने कभी जाना ही नहीं कि बिगड़ना और सड़ना क्या होता है. क्या इस अज्ञान पर गर्व किया जा सकता है?

यह निरीह और प्रतिकार-विहीन, इतनी आसानी से सड़ांध की गिरफ्त में आ जानेवाला भोलापन भला तुम्हारे किस काम का? □

(लेखक के सद्यः प्रकाश्य उपन्यास 'जाने-अनजाने' का एक अंश)

नया कवि

□ हिमांशु श्रीवास्तव

जन्म : सन् 1934 बिहार.
प्रमुख कृतियां : 'लोहे के पंख' सरीखे उपन्यास सहित आठ उपन्यास. कहानियों व रेडियो नाटकों के क्षेत्र में अपनी पीढ़ी के महत्वपूर्ण कथाकार.
संप्रति : स्वतंत्र लेखन.
संपर्क : बेलवर गंज, पो० गुलजारबाग, पश्चिम दरवाजा, पटना-800 007

आधुनिक ढंग से सजा-संवरा हॉलनुमा कक्ष. दो-तीन सुंदर आलमारियों में रखे ग्रंथ शीशों के उस पार से चमक रहे थे. संपादक की गद्देदार चक्रिल कुर्सी! इस कुर्सी के उस हिस्से पर, जिससे पीठ टिकायी जाती है, अभी-अभी कार्यालय का चपरासी अच्छी तरह देखभाल कर एक सफेद तौलिया फैला गया था. कुर्सी के सामने बड़ी मेज के दायें-बायें और सामने कई कुर्सियां रखी हुई थीं. मेज पर एक ओर कई पत्रिकाएं भी रखी हुई थीं—बीच में कलमदान.

सब कुछ यह आभास दे रहा था कि यह एक अच्छी पत्रिका के संपादक का कार्यकक्ष है. कुछ यह आभास दे रहा था कि यह एक अच्छी पत्रिका के संपादक का कार्यकक्ष है

घड़ी ने अभी-अभी ग्यारह बजाये थे. संपादकाचार्यजी तभी अपनी कुर्सी पर आ विराजे. बड़ी-बड़ी आंखें, उन्नत ललाट, तीन-चौथाई सफेद हो चुके बड़े-बड़े बाल, जिनकी लटें गर्दन तक फैली हुई थीं, पीछे की ओर संवरे हुए. स्वस्थ शरीर. चक्रपाणि अर्थात् संपादकजी ने पत्रिकाओं की ओर उड़ती नजर डाली ही थी कि सहकारी संपादक ने कक्ष में प्रवेश करते हुए उनका अभिवादन किया. संपादकीय गांभीर्य और गुरुता के साथ चक्रपाणि ने मुंह से 'हुं' निकालकर पूछा, "कहो भाई विनोद, कुछ ऐसी रचनाएं आयी हैं, जिनका उपयोग विशेषांक में किया जा सके."

ऐसा क्या था आनन की कविता में कि संपादक महोदय न तो उसे छाप पा रहे थे और न ही वापस कर पा रहे थे!

"जो आयी है, उन्हें आपके सामने रख रहा हूं." विनोद ने सहमे हुए स्वर में कहा. फिर उसने एक फाइल उनके आगे रख दी. फाइल खुली हुई थी और उसमें लगभग एक दर्जन रचनाएं थीं.

चक्रपाणि ने अपने मोटे लेंसवाले चश्मे को पोंछते हुए कहा, "इतनी रचनाएं इकट्ठे मैं कहां पढ़ पाऊंगा! कुछ पर तुमने निशान लगा दिये होते तो अच्छा होता. खैर, मैं देख लूंगा."

"जी." कहकर विनोद बगल में अपने कमरे की ओर जाने लगा. इस कक्ष में भीतर की ओर ही कीमती सनमाइका की दीवार बनी थी, जिसका दरवाजा भीतर-ही-भीतर संपादक और सहकारी संपादकों और प्रूफरीडर के कमरे को परस्पर जोड़ता था. विनोद को क्षण भर के लिए रोकते हुए चक्रपाणि ने कहा, "समय कम है. हम विशेषांक के प्रकाशित हो जाने की तिथि की घोषणा दो दैनिक समाचार-पत्रों में कर चुके हैं."

"जी." रुकते हुए विनोद बोला.

"रचनाओं का चयन कर लेना बहुत जरूरी है. इस बात का ध्यान रखना कि अभी कोई लेखक-कवि मेरे पास आने न पावे."

"जी, कह दिया जायेगा कि संपादक जी अभी नहीं आये हैं."

"हां, बाहर चपरासी बैठा होगा, उसे भी समझा दो और हां, जितनी जल्द हो सके, एक प्याली कॉफी..." "जी..." कहकर विनोद अपने कमरे में आ गया. बीच का दरवाजा इस तरह भिड़का दिया कि कोई झांके भी तो कुछ पता न चले.

विनोद ने अपना असंतोष चक्रपाणि के समक्ष कौन कहे, अपने कमरे में साथ काम कर रहे अन्य सहकारी संपादकों के सामने भी कभी व्यक्त नहीं किया. उसने कभी अपने मित्र कवि-लेखकों को भी यह आश्वासन नहीं दिया कि उनकी रचनाएं वह अपनी पत्रिका में प्रकाशित करा सकता है. वह यही मानता आ रहा है कि रचनाओं को स्वीकृत-अस्वीकृत करने के अर्थ में उस व्यक्ति का निर्णय ही अंतिम होना चाहिए, जिसका नाम संपादक के रूप में छपता है. सहकारियों को ईमानदारी से मात्र सहकारी की ही भूमिका निभानी चाहिए, सभी राग-द्वेष-आकांक्षा से अपने को मुक्त रखकर. हालांकि संपादक महोदय सहकारियों की प्रशंसा में कभी-कभी ऐसे शब्द बोल जाते हैं, जिनका प्रकारांतर से यही अर्थ निकलता है—तुम सभी इस पत्रिका का संपादन करने में सक्षम हो. किंतु बड़ी चालाकी से रचना-चयन का सर्वाधिकार मात्र अपने पास ही सुरक्षित रखते हैं. सहकारी अपने कमरे में उनकी इस चालाकी पर झुंझलाते हैं और सुन-समझकर विनोद उनसे कहता है, "अरे दोस्तो, यह मत भूलो कि जिस प्रकार सूरदास जी ने बाल-स्वभाव का कोना-कोना झांक लिया, उसी प्रकार अपने संपादकजी साहित्य-सृजन के अनुशासन का हर कोना झांक चुके हैं."

फिर व्यंग्य-भरी हंसी. दबा-दबा ठहाका.

"और हम जैसे सड़कों पर चीख-चीखकर अखबार बेचनेवाले हॉकर हैं!" सहकारी लगभग एक साथ बोल पड़ते.

विनोद मौन रह जाता और फिर कोई एक सहकारी अपनी जगह से उठकर कहता, "चलो, अब हम कैंटीन में चलें. शराब पीकर नहीं, गरम-गरम कॉफी पीकर यह गम गलत करें. मेरे खयाल से इस मुद्दे को भूल जाना ही बेहतर होगा."

छह साल कुछ इसी प्रकार पीछे निकल गये हैं. पत्रिका निकलती रही है, ग्राहकों की संख्या बढ़ती रही है.

आज भी ऐसा ही हुआ है. एक बज चुका है. चक्रपाणि अपने कक्ष में विराजमान हैं. बढ़िया डॉट पेन दायें हाथ में है और वे एकाएक कुछ अप्रत्याशित रूप से गंभीर हो उठते हैं. उनके मन का स्वाद कुछ कसैला हो उठता है. पांच-सात रचनाएं, जिनमें कहानियां हैं, गंभीर निबंध, साहित्यिक संस्मरण और कुछ कविताएं.

चक्रपाणि ने तय कर रखा है कि पत्रिका के प्रथम पृष्ठ पर कोई जानदार-धारदार कविता होनी चाहिए और अभी जिन कविताओं को अब तक देख चुके हैं, उनमें से कोई एक तक उनकी कसौटी पर खरी नहीं उतरी है. छपने लायक तो है, मगर प्रथम पृष्ठ पर नहीं. किंतु, अब जो एक लंबी कविता उनके सामने है, उसे बार-बार पढ़ रहे हैं और देख रहे हैं उस कविता के कवि का नाम है—आनन. और, कवि के इस छोटे—से नाम ने उन्हें परेशान कर रखा है. कविता के साथ एक छोटा-सा पत्र भी है, जिसमें सूचनाएं मात्र हैं. पहली सूचना यह कि अमुक शीर्षक कविता प्रकाशनार्थ भेजी जा रही है और दूसरी सूचना यह कि रचना वापसी की स्थिति के लिए टिकट लगा लिफाफा संलग्न है. किसी प्रकार की आभारा स्वीकृति का सूचक एक शब्द नहीं.

चक्रपाणि को क्रोध छू लेता है—औपचारिकता के मात्र दो-तीन शब्द लिख देने में क्या नुकसान था! कवि के रूप में जाने यह युवक कब स्थापित हो पायेगा, कुछ कहना मुश्किल है और स्थापित हो ही जायेगा, भला इसकी क्या गारंटी है! वे बुदबुदा पड़े—'आती है उर्दू जबां मंजते-मंजते.'

फिर उन्हें स्मरण आता है, पिछले साल किसी महीने वह इस कार्यालय में आया था, उनसे मिला था, उनके संपादन-सहयोगियों के कक्ष में घंटा भर बैठा था. और, जब वह उनसे विदा लेने लगा था, तो उन्होंने उससे कहा था, "रचनाएं भेजा कीजिए. यथाशक्य उन्हें प्रमुखता देकर प्रकाशित करूंगा."

बाहर के विशाल जनपथ पर बसें दौड़ रही हैं, तिपहिये दौड़ रहे हैं, कारें हॉर्न देती हुई गुजर रही हैं. इस मंजिल के नीचेवाली मंजिल में पत्रिका का प्रेस चालू है. इन सभी की आवाजें उनके कानों तक कुछ देर पहले पहुंच रही थीं, मगर अब न जाने क्यों नहीं पहुंच रही हैं. कितना ध्यान केंद्रित हो गया है आनन पर! उसकी इस सामने पड़ी कविता पर!

तीस साल से नीचे की उम्र का यह आनन. स्वस्थ शरीर, मंझले आकार की खुली-खुली आंखें, जिनमें वेधकशक्ति भी है. बिखरे-बिखरे बालों को देखने से पता चलता है कि उन्हें यदाकदा पीछे की ओर संवारा भी जाता है. पिछली बार जब वह यहां आया था, तो अपना संक्षिप्त परिचय देते हुए उसने यह भी कहा था, "अपने भवानीपुर में ही एक हाई स्कूल में अंग्रेजी पढ़ाता हूं."

मास्टर है, मास्टर!

कौन बड़ी बात हुई! इस मेज के अगल-बगल तो यूनिवर्सिटी प्रोफेसर तक आकर बैठते रहे हैं.

दृष्टि एक बार पुनः आनन की कविता पर जाती है. कविता की पंक्तियां, कविता के अक्षर जैसे आंखों को नोच डालने के लिए उनके चश्मे के मोटे लेंस को छेदकर लांघ जाना चाहते हैं. वे पलटकर आनन की कविता को रख देते हैं.

इधर सहकारी संपादक आपस में अपेक्षतया धीमे स्वर में बातें कर रहे हैं.

"पत्रिका का पहला फॉर्म रुका पड़ा है."

"गनीमत है कि दूसरे फॉर्म से एक निबंध प्रारंभ होता है."

"मुसीबत तो तब आयेगी, जब पहले फॉर्म के भीतर से कुछ मैटर शेषांश के लिए निकल आयेगा."

"अब क्या किया जाये? संपादकजी ने ही तो कह रखा है कि पहले फॉर्म में प्रथम पृष्ठ पर कोई धारदार कविता रहेगी."

"प्यारे, सवाल यह है कि वह धारदार कविता है कहां?"

"इसका निर्णय तो संपादकजी ही करेंगे."
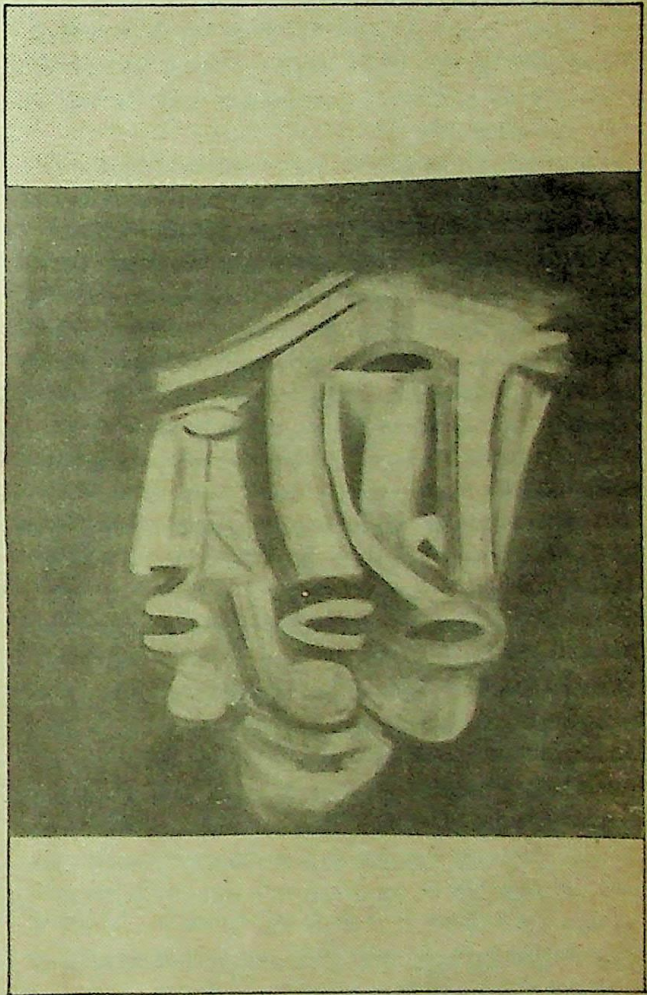
"छोड़ो, यह सवाल हम भगवान के भरोसे छोड़ दें."

"मगर शामत भगवान पर नहीं, हम पर आयेगी."

"क्यों, हमारे पास कोई तर्क नहीं है क्या?"

"संपादकजी तर्क नहीं सुनेंगे, गुंजाइश खोजेंगे और यह काम हमारे जिम्मे का काम बतलायेंगे."

"हां, यह बात तो है. चलो, कोई रास्ता निकल ही आयेगा. समझेंगे, एक बार फिर इंटरव्यू के लिए यहां आये."

"मगर वह धारदार कविता..."

"वह किसी कवि की प्रतिभा के गर्भ में होगी."

कैमरा संपादकजी के कक्ष में.

निकट का अतीत जैसे अनामंत्रित मेहमान की तरह चक्रपाणि के

सामने वाली कुर्सी पर आकर बैठ जाता है. उसके आकर बैठ जाते ही चक्रपाणि की मेज पर हल्का-सा धुआं फैल जाता है और उसमें से उभरता है—भवानीपुर का वह युवा कवि.

स्वाभिमान के साथ विनयशीलता भी होनी चाहिए. होश के बिना हिम्मत पंगु है. उद्दंडता अपराध के दीपक में सींक का काम करने वाली होती है. चक्रपाणि उस आनन से जैसे कहने लगते हैं.

अभी ढ़ाई माह पहले चक्रपाणि भवानीपुर गये थे. एक साहित्यिक समारोह के मुख्य अतिथि बनाये गये थे. तीसरे दिन लौटे. नये-पुराने अनेक साहित्यकार मिले. सबने पत्रिका की भूरि-भूरि प्रशंसा की. उनकी संपादन-कला पर न्योछावर होते से प्रतीत हुए. आगे-पीछे घूमते हुए. मगर यह युवा कवि आनन तो कहीं नहीं दिखा. एक साहित्यकार से उन्होंने उसके विषय में जिज्ञासा प्रकट की तो उसने अन्यमनस्क भाव से कहा, "आनन शायद ही किसी साहित्यिक गोष्ठी में जाते हैं. मिलने-जुलने में भी बहुत परहेज बरतते हैं. स्कूल से अपने घर और अपने घर से स्कूल. कभी-कभार सब्जीमंडी में झोला थामे मिल गये, तो हमें ही उन्हें टोकना पड़ता है."

"अच्छा, अच्छा." चक्रपाणि ने जैसे तटस्थता व्यक्त की. और, उस तटस्थता ने भीतर-ही-भीतर एक ऐसे दर्द का रूप धारण कर लिया था, जिसे व्यक्त नहीं किया जा सकता था. आनन की इस कविता पर वे बार-बार कुछ धारणाएं बनाते और देखते-देखते वे धारणाएं परस्पर मारकाट मचाने लगती थीं. चक्रपाणि महाशय जिस पत्रिका के संपादक हैं, उसमें किसी नये लेखक की दो-तीन रचनाएं प्रकाशित हो जाने का अर्थ लगने लगता था कि वह रेखांकित हो गया. इनमें से कुछ को स्वतः बधाइयां मिलती थीं और कुछ बधाइयां संग्रह करने स्वयं स्थानीय समवर्गियों के यहां पहुंच जाते थे काफी हाउसों में, होटलों में, उनके आवासों पर और मैगजीन स्टालों पर. और, जब भरपूर बधाइयां मिल जातीं, तो परम स्थितप्रज्ञसिद्ध भाव से बोलते, "अभी मैं उस रचना को भेजने के पक्ष में नहीं था, आदतन उसे दो-चार बार पढ़कर यथोचित संशोधन करना शेष रह गया था. मगर चक्रपाणि जी के दो-तीन व्यक्तिगत पत्र आ गये, लिहाजा..."

तो इस रूप में बधाइयां बटोरने का चांस चक्रपाणि आनन को नहीं देंगे और हर्गिज नहीं देंगे.

वे कविता को एक बार फिर आद्योपांत पढ़ जाते हैं. एक तूफान उनके मन के वृक्ष का आलिंगन करता है. वृक्ष चरमरा उठता है... हुंह... इतना आसान नहीं है—साहित्य के क्षेत्र में रातोंरात मशहूर हो जाना! मन और तन दोनों का स्वयं अपहरण कराना होता है यश के हाथों! क्या समझता है आनन अपने को! भवानीपुर में मेरी उपस्थिति की सूचना क्या उसे नहीं मिली होगी? अवश्य मिली होगी. न जाने किस गुमान के वश होकर मिलने नहीं आया. और भी साहित्यकार तो हैं भवानीपुर में, इस आनन ने ही गालिब की गर्वोक्ति को ओढ़ने की कोशिश क्योंकि... 'हैं और भी दुनिया में सुखनवर बहुत अच्छे...' बिजली की नन्हीं-सी कौंध पूरे आसमान में उजाला नहीं छिटका सकती!

आनन व्यावहारिकता से चूक जाने वाला युवा कवि है.

ज्वार आ रहे हैं बड़ी तेजी से, मगर भाटे के साथ लौट जाने में आनाकानी कर रहे हैं. चक्रपाणि व्यावहारिकता को अपने रोजमर्रा के व्यवहार-निकष पर आंकने लगते हैं—मैं तो इस पत्रिका का संपादक हूं, मगर मैनेजर अपने कमरे में मुझे बुलाता है, वह मेरे कमरे में नहीं आता. मैं जाता हूं उसके कमरे में, चाहे वह पांच-दस बार ही क्यों न बुलाये! दुनियादारी का यह एक बहुत बड़ा हिस्सा है कि एक ही व्यक्ति किसी के सामने गुर्राता है तो किसी के सामने दांत भी निपोड़ता है. जो मुख्यमंत्री अपने सचिवालय में सिंह बना होता है, वही मुख्य मंत्री प्रधान मंत्री के सामने भीगी बिल्ली बनकर खड़ा होता है. मूर्ख आनन इतना जान ले कि स्वाभिमान भी अपनी सीमाओं में ही शोभा पाता है!
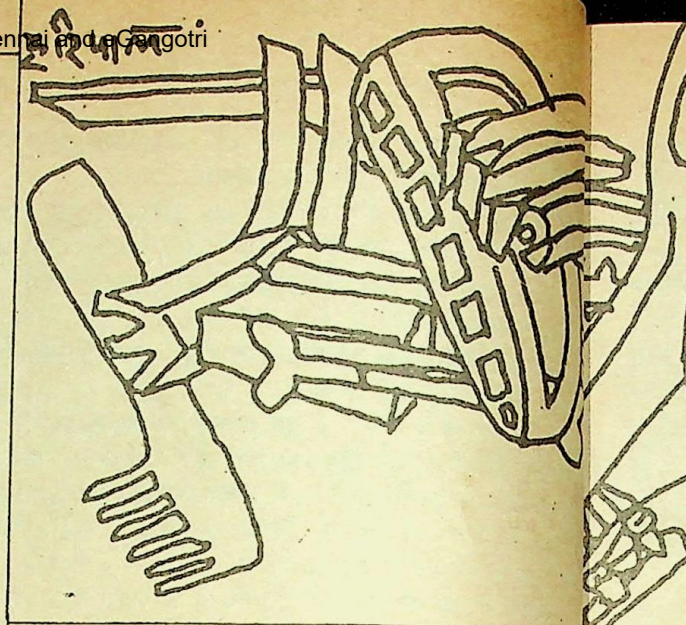
हल्की आवाज होती है—चूं. बीच के दरवाजे को इसी ओर हल्की आवाज होती है—चूं.

बीच के दरवाजे को इसी ओर धकेलकर विनोद आता है.

चक्रपाणि का ध्यान-भंग होता है. विनोद खड़ा हो गया है. चक्रपाणि पूछते हैं, सूखे स्वर में, "क्या है भाई?"

"रचनाएं दे गया था."

"हां, ये क्या सब पड़ी हैं. इतनी जल्द तो नहीं हो पायेगा कुछ और प्रथम पृष्ठ पर कोई धारदार कविता जानी ही है."

"जी."

"धारदार रचना चाहिए. बादलों के उस पार से झांकनेवाला चांद नहीं चाहिए..." चक्रपाणि बोल रहे थे.

विनोद के मुंह से निकल गया, "जी, ऐसे चांद की जरूरत है, जो बादलों के गाढ़ेपन को चीरकर उस पार से इस पार आ रहा हो."

चक्रपाणि ने कहा, "ओह, ऐसा शंखनाद भी नहीं, वरना काव्य की मार्मिकता धूमिल पड़ जायेगी; वह दीवारों पर लिखी इबारत हो जायेगी. मैं देख रहा हूं, कोई कविता इस लिहाज से दृष्टि में गड़ जाये कि वह पत्रिका के प्रथम पृष्ठ पर देने योग्य प्रतीत हो तो मैं खुद तुम्हारे कमरे में आ जाऊंगा."

और, विनोद वापस हो जाता है.

बीचवाला दरवाजा फिर बंद!

चक्रपाणि ने आनन की कविता फिर एक बार पढ़ी. इस बार फिर उसका वह पत्र पढ़ा, जिसमें इस बात का उल्लेख था कि रचना-वापसी की स्थिति के लिए टिकट लगा लिफाफा संलग्न है. चक्रपाणि गंभीरता के इन क्षणों में जैसे मुस्करा पड़े. भीतर-ही-भीतर बोल पड़े—ऐसा लिफाफा रचना के साथ नहीं भी आया होता तो कार्यालय के खर्च पर कविता लौटायी जाती.

और, यह कविता लौटेगी.

नया कवि है और अपने को जनजागरण का शंखनाद करने वाला समझता है! खैर, तो रचना-वापसी का भी सुख बटोर ले. बहुत सारी कविताएं आयी हैं. उनमें से ही कोई एक प्रथम पृष्ठ पर प्रकाशित होगी, मगर आनन की कविता लौटेगी, जरूर लौटेगी और बहुत जल्द लौटेगी. चक्रपाणि का मनोवेग और भी तीव्र हो जाता है. वे सोचते हैं—आनन की यह कविता यदि सामान्य ढंग से लौटायी जायेगी, तो भला उन्हें कितना सुख मिलेगा! वे स्वयं उसकी कविता को दूसरे लिफाफे में डालेंगे, अपने पैसे से टिकट मंगवाकर उस पर चिपकायेंगे, उसका पता लिखेंगे और हां, जब अपने ही हाथ से उसे लेटर बॉक्स में डालेंगे, तब उन्हें रचना लौटाने का पूरा सुख मिलेगा.

पंखा चल रहा है, मगर उन्हें लगता है, पंखा नहीं चल रहा है. आनन
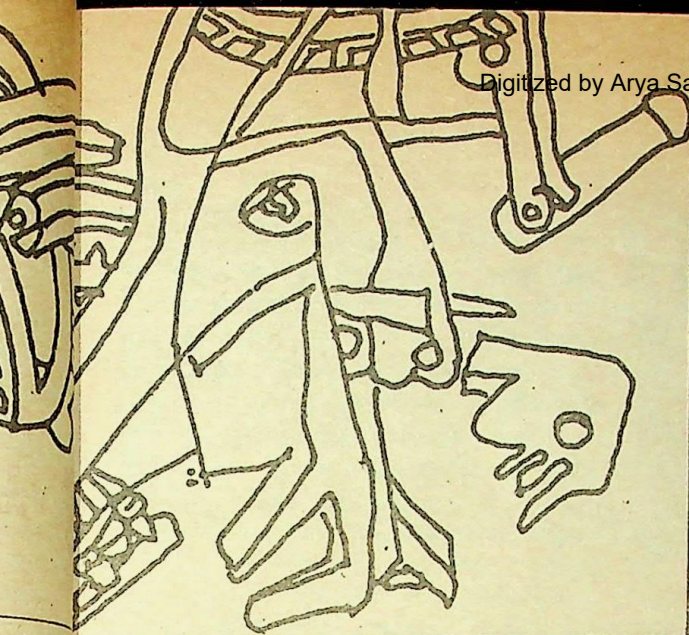
वाली कविता वह फिर पढ़ने लगते हैं. क्या बकवास है—

> इससे बड़ा कोई सफेद झूठ,
> और क्या होगा कि—
> देवताओं ने जन्म दिया मनुष्य को.
> देवताओं के पुरखे तो मनुष्य हैं,
> और मनुष्यों के बीच जनमे
> कवियों-कथाकारों ने
> ही अमरता दी देवों को, देववंशजों को.
> इसलिए सीनियर है मनुष्य,
> देवता जूनियर है.
> कृष्ण के वियोग में राधा नहीं गली,
> गला तो कविहृदय.

उंह...!

चक्रपाणि घंटी बजाते हैं और बाहर दरवाजे पर बैठा चपरासी सहमा-सहमा आकर खड़ा हो जाता है. चक्रपाणि आदेश देते हैं—आर्टिस्ट को बुलाओ!

दस मिनट बीतते-न-बीतते अधेड़ आर्टिस्ट मुलगांवकर सामने हाजिर होते हैं. उनके आगे आननवाली कविता रखते हुए चक्रपाणि कहते हैं, "पूरी कविता दो-तीन बार पढ़ लीजिए और खुद सोच-समझकर एकदम सार्थक भावचित्र बनाइए. घर लेते जाइए. कल 'फर्स्ट आवर' में मुझे चाहिए. अरे हां, इस संबंध में सहकारी संपादकों को कुछ न बतलाइए."

"जी अच्छा." कहकर श्री मुलगांवकर कविता उठा लेते हैं.

चक्रपाणि के दिल का बोझ कुछ हल्का होता है—वाह मजा तो तब आयेगा, जब इस बने-बनाये भावचित्र के साथ आनन की कविता लौटेगी.देखकर अनुमान लगायेगा कि कविता तो प्रकाशित ही होने वाली थी, मगर जाने क्यों भावचित्र बन जाने के बाद लौटा दी गयी. ऊहापोह में पड़ेगा—कविता के साथ यह भावचित्र क्यों भेज दिया गया! कविता लौटने का दुःख अगर उसे बुखार का मरीज बनायेगा तो साथ में लगे इस भावचित्र को बार-बार देखकर उसे न्यूमोनिया अवश्य हो जायेगा.

पांच बजते-बजते चक्रपाणि दफ्तर से बाहर निकल गये. बाकी रचनाएं मेज पर पेपरवेट से दबा गये थे. घर आये, चाय पी, नाश्ता नहीं किया. दस साल के पोते ने खुशखबरी सुनायी, "बाबा, मेरी कहानी पूरी हो गयी और कल मैं उसे बच्चों की पत्रिका में छपने के लिए भेज दूंगा."

चक्रपाणि ने झूठी मुस्कान के साथ कहा, "चलो, ठीक है. बड़े होकर संपादक बन जाना."

मानव-जन जितना ही जटिल है, उतना ही सरल भी. जो कभी अपनी ही मनोग्रंथियों के उलझाव में अनगिनत घंटे गुमसुम रहता, वही कभी दुनियादारी पर घंटों खुलकर बातें करता है. जिसकी आंखों में कभी मात्र घृणा के भाव तैरते होते हैं, वही कभी बहुत प्रेमालु भी हो जाता है. जो कभी मुहर्रमी चेहरा बनाये रखने में ही अपनी सार्थकता मानता है, वही कभी बात-बात पर हंसकर, ठहाके लगाकर आनंदातिरेक को व्यक्त करता है. इतना ही नहीं, वह कभी जिससे कोसों दूर रहना चाहता था, उसी की निकटता पाकर हर्षोत्फुल्ल हो उठता है. मन के इस खेल का रेफरी बनना असंभव नहीं, तो कठिन अवश्य है.

सुबह हुई. कुछ दिन ढला और लगभग ग्यारह बजे चक्रपाणि अपने गुरु-गंभीर व्यक्तित्व के साथ फिर अपने कक्ष में आये. विनोद पांच मिनट बाद फिर सामने आ खड़ा हुआ. चक्रपाणि बोले, "समझ गया भाई. प्रथम पृष्ठ पर देने के लिए कोई धारदार कविता चाहिए न!"

"जी, अंत का एक फार्म रुका हुआ है, शेषांश के लिए."

चक्रपाणि ने कुछ सोचकर कहा, "समझ में नहीं आता कि क्या किया जाये. लोग सशक्त रचनाएं भेजते नहीं और जब रचनाएं वापस कर दी जाती हैं, तो संपादक के नाम अशालीन शब्द मुंह से निकालते हैं."

"जी." विनोद कुछ ऐसे बोला, जैसे किसी यंत्र ने यह उच्चारण कर दिया हो.

"देखो, थोड़ी देर और सोचने दो. कुछ समझ में नहीं आ रहा है. मेरा खयाल है, प्रथम पृष्ठ पर कविता के स्थान पर हम बौद्धकालीन कोई बोधकथा दे दें. ठीक रहेगा न!"

विनोद क्षण भर चुप रह कर बोला, "जी, आपका विचार उत्तम है." फिर उसने पूछा, "तो अभी चलूं?"

"हां, अभी तो..."

विनोद सनमाइका वाला दरवाजा खोलकर अपने कमरे में चला गया. सहकारियों ने लगभग एक ही प्रश्न किया, "क्या हुआ, कविता मिली?"

"नहीं, अभी सोच-समझ रहे हैं." विनोद बोला.

तब सबने होंठ बिचका लिये.

उधर चक्रपाणि बायें हाथ की उंगलियों पर हिसाब लगाने लगे कि यदि आज कविता वापस कर दी जाये तो भवानीपुर कब पहुंच जायेगी. साथ ही डाक-तार विभाग की निष्क्रियता पर भी सोचने लगे कि आर्टिस्ट मुलगांवकर पहुंच गये. आते ही उन्होंने आनन की कविता के भावों पर बनाया अत्यंत सार्थक और सुंदर चित्र उनके आगे रख दिया. उस पर उड़ती नजर डालकर चक्रपाणि ने कहा, "धन्यवाद. बहुत बढ़िया बनाया है. मगर, थोड़ा और सोचना-विचारना पड़ेगा."

"तो चलूं?"

"हां."

अब चक्रपाणि में वैचारिक गतिमानता के साथ शारीरिक गतिमानता भी आ गयी. बगल के रैक से उन्होंने सामान्य और बड़े आकार का एक-एक लिफाफा उठाया. उन्हें ठीक से देखा. सामान्य आकारवाले लिफाफे में भावचित्र के साथ कविता नहीं समा पायी. तब उन्होंने बड़े आकार वाले लिफाफे को उठाया. उसमें कविता ओर कविता के आधार पर बना भावचित्र डालने का प्रयास करने लगे. मगर, जाने क्यों, उनके हाथ थरथराने लगे. उंगलियां कांपने लगीं. दोनों चीजें (कविता और भावचित्र) जैसे उछल-उछलकर बड़े लिफाफे से बाहर आने लगीं. एकाएक वे फुसफुसाये—"ना, ऐसा नहीं होना चाहिए." और बड़ी तेजी से बगल में अपने सहकारियों के सामने आ खड़े हुए. सब सहमगये. चक्रपाणि ने सबको देखा और विनोद के सामने आनन वाली कविता भावचित्र के साथ रखकर कहा, "लो, इस कविता को प्रथम पृष्ठ पर छापो. यह पौरुषेय वृति का काव्य है. कवि नया है तो क्या?" □

एक सार्वजनिक विलाप

जन्म : 15 सितंबर, 1937 (अल्मोड़ा)
प्रमुख कृतियां : 'गोबर गणेश', 'किस्सा गुलाम' (उपन्यास), 'जंगल में आग', 'मुहल्ले का रावण' (कहानी संग्रह), 'पर्वत से नदी', 'कछुए की पीठ पर', 'हरिश्चंद्र आओ' (कविता संग्रह) व नाटक—'मारा जाई खुसरो'.
संप्रति : हमीदिया कालेज, भोपाल में अंग्रेजी-विभागाध्यक्ष.
संपर्क : 3/2, प्रोफेसर्स कालोनी, भोपाल-462 002

□ रमेश चंद्र शाह

मैं अब मुक्त हूं. एक मुक्त परिव्राजक. जीवन के सीमांतों पर टहलती एक परछाई, जिसका कोई अपना स्वार्थ नहीं, कोई अपना व्यक्तित्व नहीं. हर घर मेरा घर है; और मेरा कोई घर नहीं. कोई मां-बाप, भाई-बहन, पुत्र-कलत्र नहीं. कुछ भी नहीं बनना मुझे, सब होकर सबको देखता-सुनता और भुगतता में भूल जाना चाहता हूं अपना भूत, अपना भविष्य, अपना मोह-छोह सब कुछ.

नहीं! यह सच नहीं है. मुझे अब भी जीवन से लगाव है—एक बेमतलब और उबाऊ, फिर भी दुर्निवार्य लगाव. आखिर वह क्या है जो मुझे मेरे बावजूद खींचलाता है इन बस्तियों में? मैं तो नहीं चाहता, मैं तो रस्सी तुड़ाकर जैसे जानवर भागता है, जैसे अपराधी भागता है जेल की दीवार फांदकर, वैसे ही बार-बार भागता हूं अपनी कंदरा की ओर. भय को मैंने वश में कर लिया है; घनघोर एकांत ही मेरा सबसे बड़ा सुख है, सबसे बड़ा नशा जो मेरे सारे संशय सोख लेता है, सारे द्वंद्व डुबा देता है. सारा ब्रह्मांड भी मुझ पर टूट पड़े तो भी मेरा बाल बांका न होगा, ऐसी अनुभूति भी मैंने जानी है और इसी शरीर से, इसी मन से जानी है—यदि अनुभव के उस क्षण में शरीर और मन का कोई भी अर्थ शेष रह जाता हो तो. रहता ही होगा, नहीं तो कौन यह सब अनुभव करता है? कौन मेरे हजार हाथों से इस सब कुछ को असीस देने की सामर्थ्य अपने भीतर महसूस करता है.... कि मैं जिसे भी छू भर दूंगा, वही मुक्त हो जायेगा मेरी तरह.... कि जो कुछ भी मुझे हो रहा है, वह सबको हो सकता है... कि हर कोई मेरी पहुंच के भीतर है और मैं खुद सबकी पहुंच के भीतर हूं. वे व्यर्थ ही फंसे हुए हैं, व्यर्थ ही कष्ट भुगत रहे हैं वहां. क्यों नहीं वे देख सकते, क्यों नहीं वे समझ सकते कि मैं उन्हीं जैसा, उन्हीं में से एक होते हुए भी इस फंसावट से निकल सका हूं और वे भी निकल सकते हैं? उन्हें अपनी सामर्थ्य का, अपने सच्चे स्वरूप का ज्ञान क्यों नहीं हो सकता, जब मुझे हो सकता है?

"आओ..." मैं कहता हूं. मेरे पास आओ, मेरे लोगो. मैं इसी क्षण तुम्हें छुड़ा सकता हूं, इसी क्षण तुम्हारे सारे दुःख दूर कर सकता हूं... बस तुम्हें छूने भर की देर है—तुम्हारी सारी जंजीरें अपने आप टूट कर नीचे गिर पड़ेंगी. और इसमें मेरा कोई श्रेय नहीं; यह तो एक बिलकुल निरा और अनधिकृत संजोग है कि मैं यहां हूं समाधि में और तुम वहां संसार में. तुममें से कोई भी मेरी जगह हो सकता था. यह सत्य है और इससे बड़ा सत्य कुछ नहीं. बाकी सब प्रपंच है. बाकी सब अधूरा और टूटा और मिलावटी है. यही बस एक असंदिग्ध सत्य है कि तुम और मैं और हम सभी स्फुलिंग हैं, इस अंतर्ज्योति के—इस नीली लौ के जो हममें से प्रत्येक के भीतर जल रही है जाने कब से. एक अनादि और अनंत लौ.

"मैं रोता हूं निशब्द. नहीं, मैं सबके सामने रोता हूं. मुझे रोने में शर्म नहीं... यह सार्वजनिक विलाप है मेरा!" किसका विलाप है यह, किसके लिए और क्यों?

हां, यह लौ ही तो मैं हूं. तुम सब भी यही हो. इससे अलग मैं कुछ नहीं. इससे अलग तुम भी कुछ नहीं. इससे अलग जो कुछ भी है, सब अनर्थ है, और मिथ्या है.

जाने कितनी बार, कितने लोगों को, कितनी तरह से मैंने यह बात समझाने की कोशिश की है. मगर कोई नहीं सुनता. मेरी कोई नहीं सुनता. उलटे मैं ही गूंगा होता जा रहा हूं इस कोशिश में. क्यों नहीं कोई समझना चाहता मेरी इत्ती-सी बात को? क्या ये सब मूर्ख हैं? जिद्दी और अहंकारी हैं? ऐसा भी कैसे कहूं? तो फिर? यह लगातार की निष्फलता मुझमें ग्लानि उपजाती है. मैं क्यों इन दीवालों से अपना माथा फोड़ रहा हूं? मेरी बात सब तक नहीं पहुंच सक्ती, तो क्यों नहीं पहुंच सक्ती? क्या खोट है मुझमें? पढ़े-लिखे, अच्छे-बुरे, जड़ और संवेदनशील, सभी को तो मैं आजमा चुका. सभी एक से बंद और एक सरीखे बहरे क्यों हैं मेरे लिए? फिर वे क्यों मेरे पास आते हैं? मैं क्यों उनके पास जाता हूं? यह कैसी विवशता है? मुझे लगने लगता है जैसे मैंने कोई अपराध कर डाला है... गंभीर अपराध, अपने सबसे गहरे और सबसे मूल्यवान अनुभव के प्रति. जो कहा नहीं जा सकता, उसे कहने की कोशिश करके. पर क्यों? क्यों? क्यों?.... मेरा समूचा अस्तित्व चीख पड़ता है... क्यों नहीं कहा जा सकता? क्यों नहीं पहुंचाया जा सकता? मैं स्वयं इस कोशिश में गूंगा क्यों होता जा रहा हूं? इतना ही नहीं, स्वयं अपने उस पगला देनेवाले रोमांचकारी अनुभव पर ही मेरी पकड ढीली क्यों पड़ने लगी? हफ्तों

गुजर जाते हैं मुझे—समाधि नहीं लगती. मुझे हो क्या गया है? अपने अनुभव को कहने-पहुंचाने की कोशिश में ही मानो मैं अनुभव को खो बैठा हूं. क्यों मुझे संदेह होने लगता है रह-रहकर...अपने ही अनुभव पर?

बेकार है यह कोशिश—इससे कोई फायदा नहीं; उलटे नुकसान ही नुकसान है. तुमने खामखाह घिर जाने दिया है अपने को इन मूर्खों-अंधों-बहरों से, उनकी वाहियात तृष्णाओं और जरूरतों से. अभागे, तुमने यह क्या किया? वह निधि जो तुम्हें सौंपी गयी थी—बिना तुम्हारी पात्रता तक का विचार किये—वह तुम्हें क्या इसीलिए सौंपी गयी थी कि तुम उसे इस तरह बहा दो? किसने कहा था तुमसे कि तुम उतरो और बिछ जाओ. हर किसी के द्वारा रौंदे जाने को. अब ठीक है. भुगतो अपने कर्मों को.

भुगत नहीं रहा हूं तो और कर क्या रहा हूं मैं यहां? इतना प्रेम, इतनी घृणा, इतना गुस्सा मैंने कभी नहीं किया. इतना मैं कभी नहीं हंसा और इतना फूट-फूटकर भी मैं कभी नहीं रोया. न इस तरह कभी पहले मैं आपे से बाहर हुआ, न ही ऐसी लगाम मैंने कभी अपने ऊपर लगायी. धीरज और अधीरज की, सहानुभूति और विरक्ति की पराकाष्ठाएं मैंने भुगती हैं. इन्हीं दिनों, इसी शरीर और इसी मन से.

क्या जो कुछ मैंने अब तक के जीवन में जिया और जो कुछ नहीं जिया, वह सबका सब मुझसे अभी का अभी वसूला जा रहा है सूद समेत? वह सब जो मुझे करना था या नहीं करना था. वह सब जो मुझे सोचना था और नहीं सोचना था. वह सब जो मुझे भुगतना था और नहीं भुगतना था.

मेरा कोई बस नहीं. मैंने अब अपने को छोड़ दिया है इन सबकी मर्जी पर. ये चाहें जो करें मेरा.

यह मेरा बाप—नहीं, मेरे बाप से भी बड़ा बूढ़ा—मेरे पैरों पर अपना माथा रगड़ रहा है. धरती फट नहीं जाती और मैं उसमें समा नहीं जाता. मैं थक चुका, हार चुका. मेरे समझाने-बुझाने, डांटने-फटकारने, यहां तक कि एक बार गाली के साथ-साथ हाथ तक चला बैठने का भी कोई असर नहीं. मैं गुड़ हूं और ये मक्खियां.

नहीं! ये मेरे पांव नहीं हैं. यह मेरा शरीर नहीं है. न यह शरीर मेरा है, न यह मन ही मेरा है. मैं बिक गया हूं. बेमोल और बेभाव. मैं गुलाम हो गया हूं और मेरी जैसी हालत किसी गुलाम की भी नहीं होगी. है कोई मुझसे अधिक अभागा, मुझसे अधिक दयनीय और हास्यास्पद इस पृथ्वी पर?

''महाराज! यह बच्चा जन्म से लूला है. इसे ठीक कर दो महाराज...''

''महाराज! मेरा तो जो कुछ है, बस यही है. इसकी जीभ खुलवा दो महाराज. चार बरस का हो गया—एक आखर नहीं बोलता.

''मेरे पेट को ही जाने क्या हो गया है बाबा! सारे इलाज करवा चुका, कोई फायदा नहीं. भूख बिल्कुल नहीं लगती. खड़े होते ही चक्कर आने लगता है. नींद भी उड़ गयी है.''

''महाराज, उनकी लत के पीछे मेरे बच्चे तबाह हो गये हैं. दिन-रात मारते-पीटते रहते हैं. उन्हें समझा दीजिए महाराज, उनकी मति फेर दीजिए.''

''मैं घर-बार सब छोड़के आपकी शरण में आया हूं महाराज. मेरी किसी को जरूरत नहीं. मेरी औरत मुझे गाली देती है. मेरे लड़के सबके सामने मेरी मिट्टी पलीद करते हैं...''

''मुझे पढ़ाई से नफरत हो गयी है बाबा. पैसा लेकर पास करवानेवाले, नकल करवानेवाले मास्टरों से भी नफरत हो गयी है. वे गुंडों से डरते हैं और गुंडों से ही कालेज चलवा रहे हैं. मुझे नहीं करनी ऐसी पढ़ाई. मैं होस्टल से भाग आया हूं महाराज. मेरे माता-पिता जबरदस्ती फिर से मुझे उसी नरक में झोंक रहे हैं. उन्हें समझा दीजिए बाबा. वे आपकी बात सुनते हैं.''

वे मेरी बात सुनें, न सुने, मुझे सबकी बात सुननी है. मैं किसी को अनसुना नहीं कर सकता. किसी का दिल नहीं तोड़ सकता. मैं अब अपने
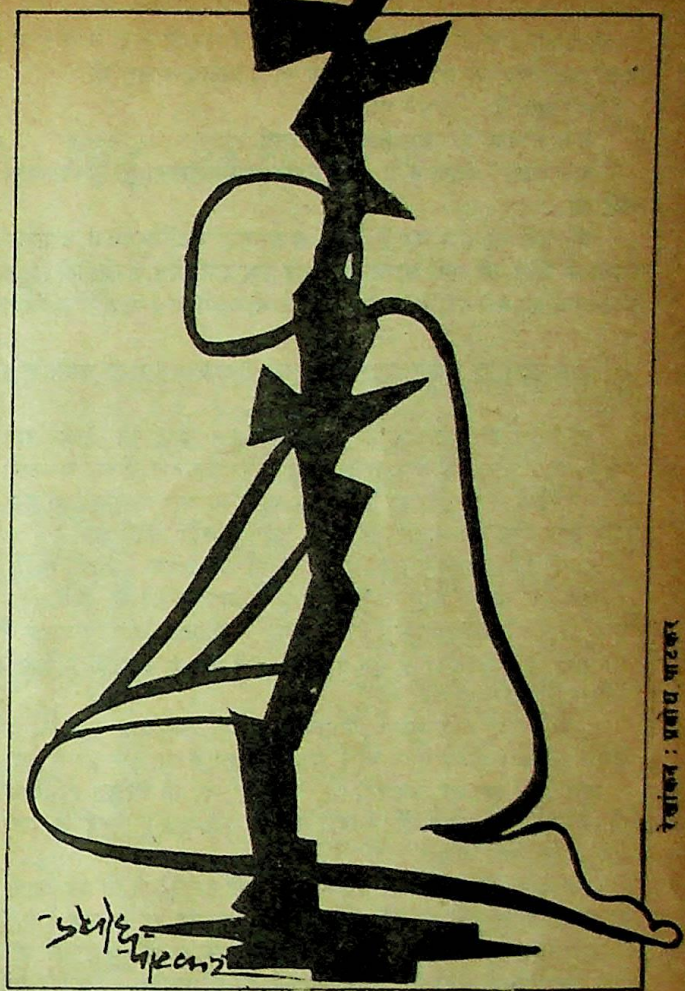
रेखांकन : प्रबोध पाटकर

मन का मालिक ही कहां रहा!

मेरे ये दोनों हाथ लूले हैं. ये किसी के लिए कुछ नहीं कर सकते. फिर भी मुझे सहसबाहु बनाने पर तुली हुई है दुनिया. मेरी इन दो आंखों से जितना दीखता है, वही क्या मुझे अंधा बनाने के लिए काफी नहीं था? मगर लगता है मेरे नित नयी आंखें उग रही हैं. हां, मैं इन लोगों के लिए हजार आंखों से देखनेवाला, हजार कानों से सुननेवाला और हजार पांवों से चलनेवाला एक विलक्षण महात्मा हूं; कोई इन्हीं जैसा आदमी नहीं. तो यही हो. यही हो.

...मैं अपनी जड़ी-बूटियां टटोल रहा हूं जो मैंने पहचान-पहचान के बड़े जतन से, इस जंगल से इकट्ठा की हैं. उस गुरुभाई का स्मरण करता हूं जिसने मुझे कभी यह सब बताया था मेरे ऋषिकेश-प्रवास के दौरान. मुझे अपनी जड़ी-बूटियों पर जितना विश्वास है, उतना ही विश्वास मुझे अपनी इस अन्धी और बहरी प्रार्थना पर है. हां...मैं प्रार्थना करता हूं—मैं, जो कुछ भी नहीं जानता. यह प्रार्थना का पुल है—एक बेहद कच्चा पुल, जिस पर मेरे डगमग करते पांव चल रहे हैं. यह वही पुल है जिसे मेरे पिता ने बचपन में ताबीज की तरह बांधा था मुझे. हां, यह वही कच्चा पुल है जिस पर चलता हुआ मैं स्वयं उसी पिता का ज्वर उतारने के लिए उस महाभिषक् को हनुमान की तरह अपने कंधों पर बिठाके ले आया था. क्या तब चमत्कार नहीं हुआ था? क्या चमत्कारों का युग बीत गया? वह कच्चा पुल तो कभी का, जवानी की पहली ही बाढ़ में बह चुका था. अब मेरा आर्त्तनाद कैसे पहुंचेगा उस पार तक?

क्या मैं इस औरत को उसका पति लौटा सकता हूं?

क्या मैं इस बालक को चलता-फिरता कर सकता हूं?

क्या मैं अपनी वाणी इस अबोध को सौंप सकता हूं?

दरवाजा खुला तो एक सांवली-सी जवान लड़की खड़ी दिखाई दी. मगर चेहरे पर जो कशिश थी, वह थोड़ी अलग-थलग थी.

"क्या बात है?" उसने पूछा.

"राज आपका ही नाम है?" मैंने पूछा.

"हां—क्यों?" आवाज में भी कशिश थी—झुंझलाहट तो बिल्कुल नहीं थी.

"जी, मेरा भी नाम राज है. बंबई से आया हूं. बदकिस्मत हूं, इसलिए बाबा के जीते-जी नहीं आ सका. मगर उस दरो-दीवार को देखे बिना लौट जाने का मन नहीं हुआ, जिसमें मैंने भी कभी पांच-छह साल जिया था."

उसके चेहरे पर एक मसर्रत की झलक, एक प्रसन्नता की चमक फैल गयी.

"तो बाहर ही क्यों खड़े हैं? अंदर आइए न. बाबा तो आपकी राह देखते-देखते बीत गये. हम तो दरकारी हैं, पर यह दरो-दीवार सरकारी है. कुछ दिनों में छोड़ना ही पड़ेगा. अच्छा हुआ आप पहले ही आ गये. फिर कोई नया किरायेदार देखने भी देता या नहीं, कौन जाने."

अंदर जाकर उसने एक पुरानी कुर्सी की तरफ इशारा किया, "बैठिए—मैं आपके लिए पानी लाती हूं." कहते-कहते वह मेरी तरफ घूमी तो एक विचित्र भाव से देखती बोली, "लीजिए, आप तो आंखों में ही पानी ले आये! मेरा तो इन पंद्रह दिनों में सूख ही चुका है. मैं पीने के लिए पानी लाने जा रही थी."

हास्य-व्यंग्य, मोह-ममता, उपालंभ, उपमा, अलंकार, सभी तो था उसके इन कुछ शब्दों में. हाथों में मुंह छिपाकर मैं फूट-फूटकर रो पड़ा.

कुछ क्षणों बाद वह कह रही थी, "लीजिए, मुंह धो डालिए और पानी पी लीजिए. अब बाबा लौटने वाले नहीं हैं. कोई इस रेलगाड़ी के सफर पर जाकर नहीं लौटता."

जब फिर भी मुझसे मुंह पर से हाथ नहीं हटाये गये तो वह बोली, "अब आप मुझे भी रुलायेंगे. राजकुमारों को यह शोभा नहीं देता."

अब मैंने मुंह पर से दोनों हाथ हटाकर, आंसुओं के धुंधलके के पार उसे देखा. उसके चेहरे पर हल्की-सी हंसी का आभास था—और वह मुझे फिल्मी दुनिया की हर अभिनेत्री से ज्यादा सुंदर लग रही थी.

मैंने मुंह-हाथ धोया. उसने तौलिया दिया. फिर वही पुरानी मेज सामने ला कर रखी. उस पर एक तश्तरी में वही सोंधा-सा गुड़ जिसे चखे जमाना बीत गया था और पानी का गिलास था.

"बिना कुछ मीठा खाये पानी न पीजिए. सफर के बाद यह जरूरी है," वह कह रही थी. बाबा भी यही कहा करते थे.

गुड़ की डली मुंह में रखते-रखते मैंने पूछा, "बाबा ने बाद में ब्याह कर लिया था क्या?"

"मैं बाबा की बेटी नहीं हूं. मगर वही मेरे पिता थे—मेरे पालनहार थे. मेरे आदि-गुरु थे. उन्होंने मेरे बचपन से पाला है मुझे—तब मैं रही हूंगी तीनेक बरस की."

मैंने प्लेट में रखा सारा गुड़ खा डाला. उसने सिर्फ पानी पिया, "मैं आपके लिए चाय बना कर लाती हूं."

मैंने सुना नहीं. पूछा, "तो फिर किसकी बेटी हैं आप?"

"किसी की नहीं. मैं एक राजकुमारी हूं," और वह हंस दी, "यही मेरा नाम भी है. बाबा ने रखा था."

"मगर...मगर कहां की राजकुमारी हैं आप?" मैंने पानी का गिलास हाथ में रखे-रखे पूछा.

"और कहां की होऊंगी?—आहनपट्टी की," उसने इठलाकर जवाब दिया.

मुझे अपनी जड़ें हिलती दिखाई दीं, जिन्हें मैं पहली और अंतिम बार खोजने आया था. मैंने पूछ ही लिया, "इस रियासत आहनपट्टी के कितने राजकुमार-राजकुमारियां हैं? मुझे भी बाबा आहनपट्टी का राजकुमार बताते थे."

लघुकथा

पीड़ा का अहसास

□ सतीशराज पुष्करणा

एक सज्जन प्रतिदिन अपने पड़ोसी से उनका स्कूटर मांगक ले जाते थे. व्यवहार आपस में खराब न हो, इसलि स्कूटरवाले को कुछ कहते न बनता था. एक दिन उन्हों प्रतिदिन स्कूटर मांगनेवाले सज्जन को उनके स्कूटर मांगने प कहा, "सुनो! अब मैं यह स्कूटर बेचना चाहता हूं."

"क्यों?"

"क्योंकि, इसी जरूरत तुम्हें है."

"मतलब?"

"प्रतिदिन तो इसका उपयोग तुम्हीं करते हो, मैं तो नाम मा को..."

"नहीं भाई साहेब! ऐसी बात नहीं है."

"खैर...मुझे तो बेचना ही है. मुझे पैसों की भी सख्त जरूर है."

"ठीक है! मुझे दे दीजिये."

"भाई साहेब! मैं भी अब इस स्कूटर को बेचना चाहता हूं."

"क्यों?"

"क्योंकि, इसकी जरूरत अब आप को है."

"मतलब?"

"प्रतिदिन इसका उपयोग तो आप करते हैं, मैं तो नाम मात्र को..."

"नहीं, ऐसी बात नहीं है."

"खैर....मुझे तो बेचना ही है. मुझे भी पैसों की सख्त जरूरत है."

"जरूरत और तुम्हारे जैसे संपन्न व्यक्ति को?"

"हां."

"भाई! तुम तो मेरी पीड़ा नहीं समझ पाये थे, किंतु मैं तुम्हारी पीड़ा समझ गया. अब तुम्हें स्कूटर बेचने की कोई जरूरत नहीं है. आज से मैं तुमसे स्कूटर नहीं मांगूंगा. □

अब वह खिलखिलाकर हंसी—मानो दीवाली की रात हो और हजा फुलझड़ियां छूट पड़ी हों—बोली, "लगता है एकदम बुद्धू हैं आप! हजा राजकुमार और राजकुमारियां होंगी भारत-मां की छाती पर फैली इ रेल की पटरियां की, जिन्हें बाबा उर्दू में आहनपट्टी की रियासत बोल थे. इन सब राजकुमार-राजकुमारियां को बाबा जैसे पालनहार न मिलते. लेकिन हम दो तो बाबा को मिले—और उनमें बाबा ने अप तरीके से अच्छे राजकुमारों और राजकुमारियों जैसे आत्मविश्वा स्वाभिमान और उन्नति की चाह भरी. मैंने एम.ए., बी.टी. किया है स्थानीय कालिज में लेक्चरर की पोस्ट के लिए आवेदन भी कि है—शायद मिल जाये—और आप तो... जो हैं सो हैं ही. मैंने आपकी कु फिल्में देखी हैं—'सपनों का महल', 'बुलंद दरवाजा', 'दीवाने-आम' लगता है, आपने अपने राजकुमार को खूब शान से जिया है."

अब मुझे भी हंसी आ गयी. खूब जी खोलकर हंसा. स्टेशन मास्टर के जो फिल्में गिनायी थीं, वे मैंने नहीं लिखी थीं.

मगर मैं अब कुछ और ही सोच रहा था. पानी पिया और गंभीर स्व में, उसकी आंखों में आंखें डालकर, बोला, "अब मैं एक असली फि बनाना चाहता हूं—'राजकुमारी'."

"जी!" वह मानो आसमान से गिरी. □

चुनाव के बाद का अवसाद

□ गोपाल चतुर्वेदी

फिलहाल अपने मन में बड़ा टुच्चा सन्नाटा है. साहित्यिक सन्नाटा लेखक-कवियों के अंतर में होता है. वह इसका फायदा उठाते हैं. मूड के अनुसार कभी रूमानी कविता-कहानी लिखते हैं, कभी क्रांतिकारी. हमारे अंदर का खालीपन ऐसा है जैसे मोहल्ले में अखंड जागरण खत्म होकर यकायक खामोशी छा गयी हो. या बारात की विदा के बाद 'राजा की आयेगी बारात' के नारे लगाते किराये के लाउडस्पीकर को दूकानवाले उठा ले गये हों. आसपास का झंडों, नारों और पोस्टरों का मेला उठ गया है. चारों ओर चुप्पी है. गंगादीन सड़क पर घूम रहे हैं.

"क्यों भैया, कुछ खो गया है क्या?" हमने जानना चाहा.

"नहीं बाबू, सड़क के झंडे बटोर रहा हूं."

"क्यों?"

"पहले चुनाव में चड्ढी बना ली थी, दूसरे में बनियान. इस बार तो रूमाल लायक कपड़ा भी नहीं है," उन्होंने शिकायत की.

हमें विश्वास होने लगा कि हमारे नेता देश की गरीबी चुनाव के झंडे बांटकर हटाने को कृतसंकल्प हैं. पर अब तो प्रजातंत्र का महाकुंभ संपन्न हो चुका है, राम जन्म भूमि का शिलान्यास भी.

चुनाव की तैयारी के दंगल के दौरान यदि दंगों का दावानल भड़का भी तो क्या हुआ. हजारों घर ही तो उजड़े होंगे. चंद वोट तो उनके हाथ लगे. जानें तो जाती ही रहती हैं. मरना तो सबको है. दंगे-फसाद से बचते तो भूख की बलि चढ़ते. आबादी ज्यादा है न. गनीमत है कि आजादी की मुहिम में काम आये. वर्ना न भ्रष्टाचार हटता न जनता को उसकी शक्ति की धरोहर ही वापस मिल पाती. अगर वह नहीं चुने जाते तो यह सब कैसे होता! अब तो बस हिसाब लगाना है कि आनेवाले पांच साल में कितना कमाना है. चुने जाने पर भी यदि चूके तो घाटे का सौदा होकर रह जायेगा जीवन!

पानवाले के अखबार के एक-एक पन्ने को बांटकर सामूहिक पाठ करते थे लोग! इतनी अनुकरणीय भाईचारे की भावना थी. मजाल है कि कोई दूसरे के पढ़े बगैर पन्ना उलट दे. अच्छे

नागरिक का एकमात्र कर्तव्य दूसरे की सुविधा का खयाल रखना है. कुछ तकदीरवालों ने उचित भुगतान लेकर हर दल के बैनर और पोस्टर वितरित किये. 'सर्व धर्म समभाव' के राष्ट्रीय अंदाज में पान की दूकान पर हर दल के झंडे लहरा रहे थे. पानवाले के एक शागिर्द ने सवाल किया, "किसको वोट दोगे उस्ताद!"

"मतदान और गुप्त दान का महत्व गोपनीयता में निहित है," उन्होंने उत्तर दिया दूकान और देश दोनों में गुपा-चुपी का बड़ा खुफिया माहौल था. मन में अपनी पसंद तय किये लोग मौन थे. कहीं कोई गुप्तचर एजेंसी सरकार को सही खबर न दे दे.

अपने इरादे को राज रखने में कई फायदे हैं. अपने चिरंतन मध्य-वर्गीय हीन भाव के अहम की कुछ तुष्टि होती है जब भिक्षा पात्र लेकर याचक बने बड़े आदमी दरवाजे आयें. पैसे तो लेंगे नहीं, कुछ प्रचार सामग्री ही 'फ्री' में टिका जायेंगे. रद्दीवाला कुछ कीमत तो लगायेगा ही. कल तक जिनके संतरी-पी.ए. भगा देते थे, आज "भैया-मुन्ना" की गुहार लगाते हैं. हम तो चाहते हैं कि जनतंत्र खूब फले-फूले. अभी पांच साल में एक बार चक्कर लगाते हैं. और तरक्की हुई तो जल्दी-जल्दी आयेंगे. थोड़े दिन के लिए सिगरेट-पान का जुगाड़ होगा. पहले धूल झोंककर फुर्र हो जाती थी उनकी मोटर. इधर हमें भी सवारी का अवसर मिलता है. बस नारे लगाओ, नाश्ता-पानी पाओ.

पता नहीं लोग क्यों कहते हैं कि कई नावों में बैठना मुश्किल है. हम तो हर दल की मोटर में एक बार बैठ चुके हैं. हर क्षेत्र में इतने उम्मीदवार हैं कि एक ही कार का दूसरी बार नंबर आते-आते चुनाव हो चुका होता है. ऐसे अपना तजुर्बा है कि काफी शरीफ होते हैं चुनाव के प्रत्याशी. बड़े मेहमान-नवाज और खातिर सेवा करनेवाले. पैरों में छाले पड़ जाते हैं पदयात्रा करते-करते. फिर भी प्रार्थना करते हैं, "भाई जी! भैंस-पुरी के चौराहे पर आठ-दस ठौ हार-माला डलवा दीजियेगा!"

अब आप दस माला के पैसे वसूलें और पांच ही उनके ऊपर बर्बाद करें तब भी वह 'उफ' नहीं करते. इसी मालातंत्र को भुगतते-भुगतते अगर वह चुन लिये जाते हैं तो उन्हें 'प्रजातंत्र' हो जाता है. वह माला पहनने के पैसे वसूलते हैं और हर संभव प्रयास कर जनता की छूत की बीमारी के संपर्क से दूर रहते हैं.

अपनी तो निजी राय है कि त्योहारों में क्या धरा है जो चुनाव में नहीं होता. होली-दीवाली पर हम सब उधार घर फूंक तमाशा देखते हैं. वहीं मतदान के त्योहार में दूसरे के खर्चे पर हर दिन होली होती है और रोज रात दीवाली. रंगीन झालर-झंडियों से पूरी गली अधेड़ फिल्मी नायिका के मेकप-सी बजती है. कभी गालीवाले गाने बजते हैं, कभी आत्म-प्रशंसा की फिल्में दिखायी जाती हैं. बिना किसी आदर्श और विचारधारा के, राग-द्वेष और लाग-लपेट के किसी भी तमाशे का दर्शक होने का मजा ही

कुछ और है. दो मुर्गे लड़ रहे हैं. आप कभी इस मुर्गे के साथ हैं कभी उस के. "जीतेगा भाई जीतेगा, अपना मुर्गा जीतेगा" का शोर है. कहीं गला न बैठे लोग दवा-दारू लिये हाजिर हैं. आपकी स्फूर्ति को बरकरार रखने के लिए मिठाई-नमकीन तैयार है, आपके श्रम के मेहनताने के बतौर नकदी नोट. कोई मुर्गा हारा तो अपनी बला से और जीता तो पौ-बारह. ऐसे भी मुर्गों में क्या फर्क है जो नेताओं में हो. किसी दल के आने और किसी के जाने से ऐसा क्या खास होता है जो पिछले सालों में नहीं हुआ. झुग्गी-झोपड़ी को महल बनाने के नारे,
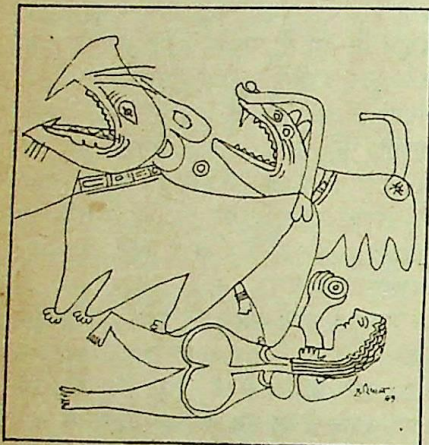
रेखांकन : हरिपाल त्यागी

खेतों-गांवों में बिजली-पानी, निरक्षर को शिक्षा, साक्षर को रोजगार, कार्यकुशल सरकार और सत्तावालों का शिष्ट व्यवहार आजादी के बाद से अब तक सिर्फ वोट-भुनाने के थोथे और कोरे वादे ही तो रहे हैं.

यदि यही सब करना होता तो क्यों कोई भी दल 'अजगर' का सहारा लेता या ब्राहमण-ठाकुर की गोट बिठाता. कहने को सब के सब खालिस समाजवाद लाते हैं. कोई पूछे कि फिर क्यों चुनाव के वक्त सबको अपने-अपने धर्म, वर्ण, गोत्र और संप्रदाय याद आते हैं. कोई रामराज्य के ख्वाब दिखाता है तो कोई बाबा से आशीर्वाद में लात खाता है. हमने गलती से एक बार योग्य उम्मीदवार को वोट देने की बात की तो हमारे बुजुर्ग ने हमें समझाया, "नागपंचमी का मौका है इलैक्शन. किसी न किसी सांप को दूध पिलाना है. पर इसका यह मतलब नहीं कि नागनाथ और सांपनाथ में कोई फर्क है!"

"वोट किस आधार पर दें?"

"जात-पांत के आधार पर. अपनी बिरादरी का सांपनाथ हुआ तो कभी तो वक्त-जरूरत साथ देगा."

यों हमें यकीन है कि चुनाव से बड़े फायदे हैं.
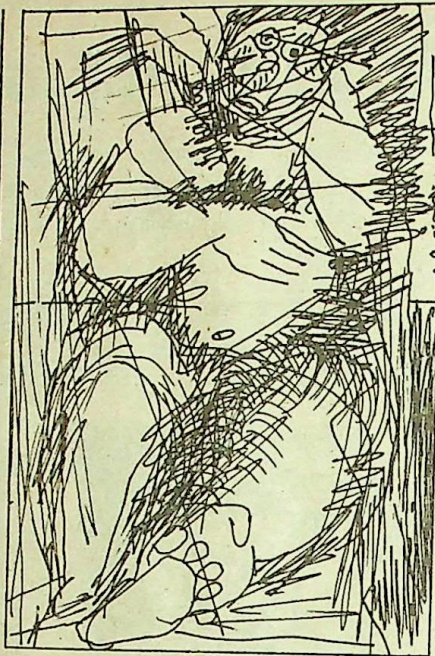
रेखांकन : हरिपाल त्यागी

समाजवाद नहीं आ रहा न सही, परिवारवाद तो आ ही रहा है. एक ही घर का कोई सदस्य विधायक बनता है, कोई सांसद. पांच साल बाद पिता पुत्र को अवसर देता है और पति-पत्नी को. धन का समान वितरण एक रिश्तेदार से दूसरे परिवार तक होता है. क्यों न हो. सियासत की कमाई बड़ी चांस की कमाई है. न चुने जाने पर हाथ-पैर कट जाते हैं. दुर्घटना रेल की हो या हवाई जहाज की. मरे और घायल शिकार को क्षतिपूर्ति का पैसा मिलता है. पर पालिटिक्स में हारने के हादसे का कोई बीमा तक नहीं है. बीमे की रकम न सही, परिवार का पट्टा ही सही. कई लड़ेंगे तो कोई न कोई जीतेगा. हमारे प्रजातंत्र का मूल वाद वंशवाद है.

विद्वान बताते हैं कि शुरुआत में हमारी जाति प्रथा पेशे पर निर्भर थी. क्षत्रिय रक्षक था तो ब्राहमण भक्षक. जो कुछ न था, रिआया था. रोना यही है कि तब जनतांत्रिक व्यवस्था न थी. नहीं तो जनसेवकों और नेताओं की भी जरूर अलग जात होती. नाम से आदमी का काम पहचाना जाता. बड़े लोगों का 'सरनेम' चुनाव-सूर्य और चांद होता, छोटों का चुनाव-तारा. जैसे रामचंद्र चुनाव चंद्र और ताराशंकर चुनाव तारा. ऐसे अब भी समय है. राजनीति के पेशे में परिवारों के प्रवेश को वर्ण-व्यवस्था के अंतर्गत लाया जा सकता है.

हमारे मुल्क में समझदारों की कतई कमी नहीं है. एक जमाना था कि लोग लहरें गिनकर पैसा कमाते थे. अब क्रिकेट मैचों के परिणाम और चुनाव के नतीजों पर सट्टा करते हैं. कहीं एक के दस हो जाते हैं, कभी दस का एक

आर्थिक क्षेत्र में चुनाव एक महत्वपूर्ण घटना है. कई तस्कर सत्ता-तंत्र की मुख्य धारा से जुड़े हैं. आर्थिक अपराधी काले धन को सफेद करते हैं. हजारों-लाखों की रोजी-रोटी का अस्थायी इतजाम होता है और करोड़ों के मुफ्त के मनोरंजन का. और तो और, चुनाव की घोषणा के बाद से लोग दूरदर्शन की खबरें तक सुनने लगे हैं. देश के समाचारों के बारे में भले विश्वास करें न करें, पर अंतर्राष्ट्रीय मसलों के बारे में इधर जनता की खूब ज्ञानवृद्धि हुई है.

आम आदमी के लिए चुनावों का शिक्षाप्रद पहलू भी है. सांप, बिच्छू, राक्षस, अजगर और के गहन प्रचार और विज्ञापन से जनता को वन्य जीवन की जरूरी-जानकारी मिलती है. उसको यह भी ज्ञानवर्धन होता है कि राजनीति में इस किस्म के इंसान ही कामयाब होते हैं.

पर अब तो मेला उठ चुका है. जीते नेता अचकन-शेरवानी सिलवाये धड़कते दिलों से प्रतीक्षा कर रहे हैं कि टेलीफोन बजे और उन्हें मंत्री पद की शपथ लेने का निमंत्रण मिले. पहली बार चुने गये सांसद अपनी सुविधाओं की गिनती कर जनसेवा का कर्तव्य निभा रहे हैं. साथ ही लगन और निष्ठा से सरकारी आवास की तलाश में जुटे हैं कि मकान हथियाकर उसका कुछ हिस्सा आवासहीन लोगों को किराये पर दे अपनी पार्टी के घोषणा पत्र को अमल में लायें. जनता याने हम और आप टुच्चे सन्नाटे के संत्रास से आक्रांत हैं. ऐसे अभी हमें और नेताओं को उम्मीद नहीं हारनी है. विधान सभा के चुनाव होने ही वाले हैं. हमारे अधिकतर ज्योतिषियों की भविष्यवाणी हमेशा की तरह गलत रही है. फिर भी वह साहसी यह अनुमान लगाने से नहीं बाज आ रहे कि आगे-पीछे मध्यावधि चुनाव भी होकर रहेंगे. क्या पता इसी से उनके और अपने दिन फिर से फिरें ◻

लाल पसीना

मॉरीशस में गन्ने की खेती करनेके लिए भारत से जहाजों में भर-भरकर मजदूर ले जाये जाते रहे. घोर अमानवीय स्थितियों में रहते हुए भी ये लोग लगातार संघर्ष करते रहे. इन्हीं मजदूरों के संघर्ष की महागाथा—'लाल पसीना' का पहला खंड सारिका में 1975-76 में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुका है. इस अंक से हम इस महागाथा के तीसरे खंड का धारावाही प्रकाशन प्रारंभ कर रहे हैं. यह खंड संपूर्ण महागाथा का एक अंश होते हुए भी अपने आप में पूर्ण रचना है.

□ अभिमन्यु अनत

जन्म : 9 अगस्त, 1937 मारीशस.
प्रमुख कृतियां : 'लाल पसीना' 'गांधी जी बोले थे', 'एक बीघा प्यार', 'आंदोलन' (उपन्यास) 'खामोशी के चीत्कार' (कहानी संग्रह) व 'नागफनी में उलझी सांसें' (कविता संग्रह)

रेखांकन : पाली

हरि से यह कहा गया था कि वह उन बातों का विरोध न करे. जो उससे बड़े थे, वे यह भी कहते रहे थे कि खेतों में जो कुछ होता रहता है, उसे ही खेतों का कानून मानकर चलना चाहिए. रामबरन चाचा तो उससे यहां तक कह गया था कि वक्त के साथ वह भी उन्हीं लोगों की तरह उन सारी बातों का आदी हो जायेगा और तब उसे अपने आप क्रोध आना बंद हो जायेगा. इस पर वह अपने आप से पूछता रह गया था कि सात वर्षों से उन खेतों से जुड़े रहना बहुत कम समय था क्या? लोग उन बातों के आदी होकर चुप थे पर हरि यह मानने को तैयार नहीं था कि वह भी दस-पंद्रह सालों के बाद चुप्पी साध लेना सीख लेगा. अपने मजदूर दोस्तों का यह कह जाना भी अच्छा नहीं लगता कि ऐसा तो उस पहली घड़ी से होता रहा है, अंतिम घड़ी तक होता रहेगा.

लोग अपनी-अपनी मृत्यु को अंतिम घड़ी माने हुए थे. हरि ने रामबरन और सुग्रीम चाचा से कहा था कि अगर उस तरह के कानून को अंतिम घड़ी तक चलना ही है तो उस अंतिम घड़ी के आने में देर नहीं होने की. उसके साथी मजदूरों को उसकी इस तरह की बातें बड़ी ही फिजूल की बातें लगतीं इसलिए वे उसके साथ तर्क करने की जरूरत तक नहीं महसूस करते. हरि चाहता था कि वह उन लोगों से अधिक बातें करके उन्हें स्थिति को उस तरह स्वीकार किये बैठे रहने से रोक सके.

ईख के इन हरे-भरे खेतों के बीच से कभी वह किसी पिड़की या मैना को निकलकर आसमान को उड़ जाते देखता तो खयालों में खो जाता. इन खेतों में न जाने कितने मजदूर उससे पहले नाता जोड़े हुए थे और फिर एक न एक दिन वे इन परिंदों की तरह इन खेतों को छोड़कर उसी तरह चले गये. ये परिंदे तो शायद कभी न कभी फिर अपने इस विस्तृत घोंसले को लौट भी आते होंगे. पर इन खेतों को मजदूर कभी अपना घोंसला नहीं बना सका, एक बार छोड़कर वे फिर नहीं लौट पाये. लेकिन पंछियों और मजदूरों के बीच एक बहुत बड़ा अंतर तो था ही. पंछी जब खेतों से उड़ जाते तो हवा में न तो लकीरें खींचते हुए जाते और न ही आकाश में लीकें काटते हुए. लेकिन मजदूर तो इन खेतों में जी-मरकर, विदा होकर भी चप्पे-चप्पे पर अपने श्रम और सपनों की छापों को छोड़ जाता है. हरि को इस बात का दुख था कि उस छाप, उस मुहर के बावजूद वे खेत न उसके हुए, न उसकी संतानों के. पीढ़ी दर पीढ़ी वे खेतों को जोतते रहे, हरियाली देते रहे, चीनी के रूप में सफेद सोना तो उगाते रहे पर अपने लिए नहीं औरों के लिए. बदले में खुद फसल काटते रहे तंगहाली की, सजाओं की और गालियों की.

सबसे ताजा घटना थी कल सुबह की. रामबरन चाचा को उसकी पचहत्तर साल की उम्र का लिहाज किये बिना कोठी के मालिक ने गंदी-गंदी गालियां सुना दी थीं. हरि को उन गालियों से अधिक दुख इस बात का हुआ था कि रामबरन चाचा उन गालियों को उस दोपहरी गरमी में शरबत की तरह हलक के नीचे उतार गया था. हरि समझ नहीं सका था कि लोग ऐसी गालियां इतनी आसानी से कैसे पचा जाते थे.

धूपीली दोपहर उमस लिये हुए थी. पिछले तीन-चार दिनों की भारी बरसात के कारण चार-पांच इंच भीतर तक भीगी हुई थी. कुदाली में लस्सेदार माटी के चिपक जाने के कारण उसने अपनी कमर से बंधी खंखोरनी से कुदाली की माटी की परत को खंखोरा फिर उस खुरपे को कमर में खोंस लिया था. वह खुरपा अगर उसकी कमर से खुंसा हुआ नहीं होता तो

रस्सी के सहारे भूल रहा होता. कुदाली के साफ होकर कुछ हलके हो जाने पर हरि उससे फिर ईख के पौधों के इर्दगिर्द की घास निकालने में लग गया था. गन्ने के उन खेतों में नयी घटनाएं कम ही घटा करती थीं.

मालिक के खेतों में पहुंच आने की खबर सभी खेतों में फैल चुकी थी. सोम और मंगल को मालिक कोठी के दूसरे इलाकों में मुआयने पर था. आज जब आया तो हमेशा की तरह दो-दिन पहले के कामों का भी साथ-ही-साथ निरीक्षण कर रहा था. एक-एक मजदूर के आगे-पीछे चक्कर काटता रहा. हरि के पास आकर ठिठक गया. आज के काम को देख चुकने के बाद उससे पूछा, "परसों और कल तुमने कहां काम किया था?"

"ये ही बगल वाली दोनों कतारें हैं."

आंद्रे रोबियार ने बगल की दोनों कतारों को कुछ दूर तक जाकर देखा और अपने छाते के साथ फिर से हरि की बगल में आ गया. उसके छाते का छोर इसलिए कुछ ज्यादा नुकीला था ताकि वह उससे मजदूरों को कोंच-कोंचकर काम करवा सके. एक बार जब उसने हरि को छाते से कोंचा था तो हरि ने अपने 'हाथ की कुदाली' से छाते को ऊपर उछाल दिया था. उसके बाद आंद्रे रोबियार ने फिर कभी उसे छाते से कोंचने का साहस नहीं किया.

हरि अपने बाप से कहीं अधिक अपने मामा पर गया था. उसी की तरह लंबा और पुष्ट. नाक-नक्श भी उसने अपने मामा के ही पाये थे. दोनों में एक बात जो बहुत भिन्न थी उसकी चर्चा करती हुई उसकी मां कहा करती थी, "तुम्हारा मामू तो बात-बात पर नाराज हो जाता था. उसका गुस्सा तो बस उसकी नाक पर होता था. अच्छा हुआ कि तुम उससे बच गये."

क्रोध उसे भी आता था पर वह उसे उसी गति के साथ दबा लेना भी जानता था.

एक बार उसने कोठी के एक सरदार से कहा भी था, "मैं तुम्हारी हर गाली, हर अपमान को चुपचाप सह लेता हूं इसका यह मतलब नहीं कि मुझे उबलना नहीं आता. जिस दिन मैं बिगड़ूंगा उस दिन सारा कर्ज चुकाना पड़ जायेगा तुम्हें!"

आंद्रे रोबियार के कानों तक यह बात पहुंची थी. वह जानता था कि हरि कोई प्रसुप्त ज्वालामुखी था जो कभी भी विस्फोट कर सकता था. हरि को देखता हुआ बिन कुछ कहे वह बीच के पत्थरों की मुंडेर को पार करके रामबरन चाचा के बेटे के पास पहुंच गया. मालिक की परछाई भी अभी उसके पास नहीं पहुंची थी कि उसने सिर से अपने फूलदार रूमाल को उतारकर कहा, "बोंजूर मीस्ये."

उसके उस अभिवादन का उत्तर आंद्रे रोबियार ने सवाल से दिया, "तुम इतने आगे कैसे आ गये?"

"साहब सुबह से कमर सीधी नहीं की है."

"तुम्हारे पिछले दो दिनों का काम कहां है?"

"दायीं ओर साहब."

वह मुंडेर पार करके उधर गया. घुटनों तक आ गये गन्ने के पौधों के हरे कोमल पत्तों को अपने छाते से हटा-हटाकर देखने के बाद वह चिल्लाया, "कहां हुआ है इसमें काम? दरियों में घास अब भी बनी हुई है. इधर आओ!"

संतोष को अपने सामने के काम को छोड़कर पिछले दो दिनों में किये काम की ओर लपक जाना पड़ा. आंद्रे रोबियार लंबे-लंबे पगों से कोई सात-आठ पग चला. छाते से पौधों को हटा-हटाकर संतोष को दिखाते हुए चिल्लाता रहा, "अगर कल और परसों तुमने इन दरियों से घास निकाला भी तो फिर ये सब क्या है?"

संतोष के पास उत्तर था पर मालिक के प्रश्न का उत्तर देने का कोई मतलब ही नहीं था. इसलिए वह चुपचाप खड़ा रहा.

"साले कामचोर, मुंडेर पर बैठकर मुफ्त में तनख्वाह क्योंनहीं ले लेता!"

"साहब यह तो जहां-तहां लोयों घास है. यह तो दूसरे दिन उग जाती है."

"तुम मुझे बनाने की कोशिश मत करो! उधर का काम छोड़ो, पिछले दो दिनों के इस काम को ढंग से करके ही उधर का काम पूरा करोगे."

"लेकिन मालिक इस लोयों घास को फिर से निकालने में पूरा दिन लग जायेगा. मेरा आज का ठेका पूरा नहीं हो पायेगा."

"तुम अगर पिछले दिनों के इस काम पर फिर से हाथ नहीं फेरोगे तो तुम्हारी दोनों दिन की तनख्वाह जब्त कर ली जायेगी!"

"आज का काम नहीं पूरा हुआ तो आज की भी पूरी मजूरी नहीं देंगे आप?"

"तुम जानो. तुम कौन-सी तनख्वाह खोना चाहते हो, एक दिन की या दो दिन की?"

संतोष से कुछ कहा नहीं गया. पिछले दिनों के काम को दोबारा करने को उसे विवश होना पड़ा. पूरे छह सौ फुट में जगह-जगह उग आयी लोयों घास उसे कुदाली लेकर निकालनी थी.

अपने जिम्मे के काम को करता हुआ हरि सभी कुछ सुनता और देखता भी रहा. इसमें
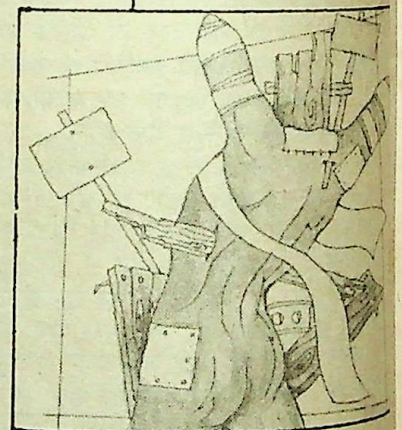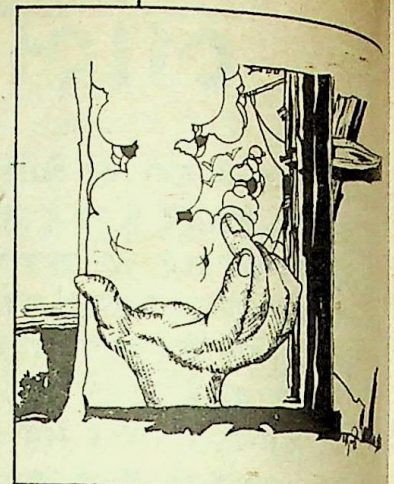
कुछ भी नया नहीं था. शायद ही कोई सप्ताह ऐसा होता था जब कि कोठी के मजदूरों को पूरे हफ्ते की तनख्वाह बिना किसी अड़चन के पूरी की पूरी मिली हो. उसके अपने साथ जब पहली बार वैसा हुआ था तो उसने विरोध तो किया था लेकिन उसके उस विरोध का कोई असर नहीं हुआ था. उससे बस इतना कहा गया था कि अगर वह चाहे तो काम करे और न चाहे तो न करे. तीन दिन पहले सुग्रीम चाचा जैसे कोठी के सबसे फर्माबरदार मजदूर को इसलिए खेतों से लौटा दिया गया कि वह खेतों में दस मिनट देरी से पहुंचा था. उस घटना के कुछ दिन पहले छोटे मालिक ने रामबरन चाचा की पत्नी को खाद के ढेर पर यह कहते हुए ढकेल दिया था कि, "तुमसे कहा गया है कि खाद उठाते समय ईख की पत्तियों को हटा दिया करो! तुम खाद छोड़कर केवल सूखी पत्तियां उठा रही हो!" धक्का खाकर हमेशा बीमार रहनेवाली देवंती खाद की ढेरी पर मुंह के बल जा गिरी थी.

इन बातों को देखते हुए हरि जब अपने साथी मजदूरों से पूछता कि आखिर कब तक वे लोग उस तरह के सारे जुल्मों को चुपचाप सहते रहेंगे तो लोग कहते, "जब तक किस्मत में सहना लिखा है."

इस तरह के उत्तर से हरि तिलमिला उठता. लोग कोठी के सारे शोषण को अपनी किस्मत माने बैठे थे. उसने एक-एक करके लोगों से बातें करके देख ली थी. गांव की बैठक में सामूहिक रूप से उसने सभी से बातें की थीं. एक बार नहीं, कई बार. पर कोई उसकी मांग पर विशेष ध्यान देने को तैयार नहीं हुआ. जो उसके बहुत करीब थे, वे उसे समझाते कि पानी में रहकर मगरमच्छ से बैर कर जाने की बात सोचना पागलपन है. वे लोग उसे उस तरह के पागलपन से बाज आने की राय देते.

एक बार तो वह काम छोड़कर चला भी गया था पर घर की हालत और दूसरी जगह नौकरी के अभाव के कारण दूसरे ही सप्ताह लौट आया था. तब संतोष ने कहा था, "यार, अगर पूरे परिवार के लिए दो जून रोटी कमानी है तो मुंह, आंख और कान बंद करके काम करते रहना होगा."

हरि ने तब मुंह तो बंद कर लिया था पर कान और आंखों को भी उसी तरह बंद किये रहना उतना ही आसान नहीं था. उसके अपने घर पर विधवा मां थी, दो छोटी बहनें और पांच छोटे भाई थे. अपना लेकर नौ पेटों को भरने की जिम्मेवारी नहीं होती तो उतनी सरलता से वह अपना मुंह बंद नहीं कर लेता. ग्यारह वर्ष की उम्र से ही वह नौकरी कर रहा था. इन खेतों में सबसे पहले अपनी मां के साथ पहुंचा था. तब वह रोजाना दस-पंद्रह पैसे पाकर काम करता था. उसने अपनी मां के साथ निराई के काम से नौकरी शुरू की थी. तीन महीने बाद वह लड़कों की टोली में शामिल होकर गन्ने काटने-लादने का काम आरंभ कर सका था. उस काम के लिए तीस पैसे मिलते थे. पहले दिन जब उसकी अपनी हथेली में वे तीस पैसे आये थे तो वह झूम उठा था. उसकी मां ने उसकी उस पहली कमाई से रोट और पेड़े बनाकर हनुमानजी को प्रसाद चढ़ाया था.

आंगन के हनुमानजी के चौंतरे के आगे हरि ने लाल ध्वजा फहरायी थी. उसने अपनी मां को हल्दी और दूध का अर्घ्य देते समय विनती करते सुना था, "हे महावीर सामी, हमर बेटा के अपन ही जैसन बल ताकत दिमाग दे ताकि ऊ हम सबन के बोझ संभाल सकी."

पूरे दो वर्ष बाद वह बड़े लोगों के पहले दर्जे के साथ मजदूरों की बगल में काम कर सकने के योग्य समझा गया था. आज से दो वर्ष पहले उसने अपनी मां को नौकरी करने से रोक लिया था. मां कहती रही थी कि नौ जनों के पेट एक बच्चे की कमाई से कैसे भरे जा सकते थे. हरि को पंद्रह-सोलह की उम्र में ही अपने को मर्द मान लेना पड़ा था. उसने अपनी मां से कहा था कि एक अकेला मर्द नौ तो क्या चाहे तो बीस पेट भी पाल सकता है. मां ने उसकी बात नहीं मानी थी. इसलिए अधिया पर गाय लेकर पालने लगी थी ताकि आमदनी थोड़ी बहुत बढ़ सके. हरि ने गाय के पालने का पूरा बोझ अपनी मां पर नहीं रहने दिया. काम से लौटते हुए वह भी एक खेवा घास सिर पर लिये ही घर लौटता था.

फसल के दिनों में गाय के लिए आहार जुटाने में अधिक कठिनाई नहीं होती थी. कटाई के वक्त हरि कोमल अगौरे की पुलियों को चुनकर अलग रख लेता था. खाने के समय कभी-कभार फायदा उठाकर वह उन गेंड़ों को टुकड़ियाकर गोनी के बोरे में रख लेता था. गाय उन बुकनियायी गेंड़ों को चाव से खा लेती पर बाड़े की दोनों बकरियां उस आहार को खाने से इनकार कर जातीं. उनके लिए पंजे भर घास जुटा पाना आसान होता था. लेकिन वह आसानी कटनी के दिनों तक ही सीमित रहती. कटाई हो जाने के बाद गन्ने की पत्तियां मिलना बंद हो जाता और वैसी हालत में काम के बाद जंगल से घास काटकर घर लौटने में कभी रात के सात भी बज जाते.

घर देर से पहुंचने के कारण वह बस्ती की बैठका में होनेवाली हिंदी की पढ़ाई और बाद में रामायण के होने वाले सत्संगों में नहीं पहुंच पाता. बैठका का प्रधान उसे कई बार टोक चुका था. एक बार तो उसने यहां तक कह दिया था, "तुमने तो कभी वायदा किया था
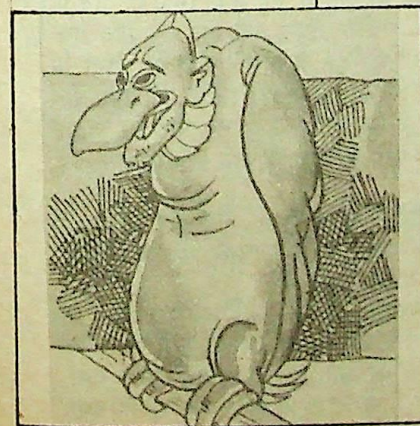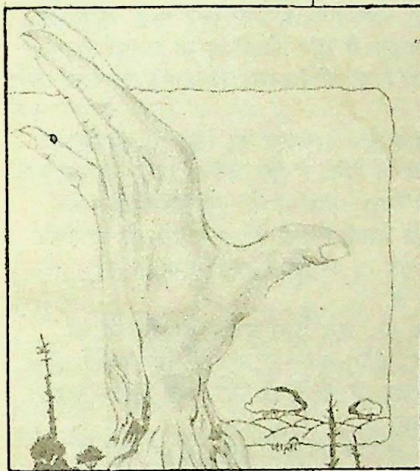
हरिप्रसाद कि जिस तरह तुमने बैठका में निःशुल्क हिंदी का ज्ञान पाया, अपने बाद के बच्चों को भी तुम उसी तरह हिंदी पढ़ाओगे. बस, चार ही महीने उन्हें पढ़ाकर अपना वायदा पूरा कर गये. रामायण के सत्संग में भी अब नहीं आते.''

महेंद्र सिंह की वह बात हरि को लग गयी थी. उसे भी कई बार इस बात का पछतावा होता रहा था पर एक ओर गांव की बैठका और बच्चों की बात थी, धर्म का प्रश्न था तो दूसरी ओर उसकी मां,उसके भाई-बहन तथा गाय बकरियों की बात थी. वह किसी को भी कम महत्व देना नहीं चाहता था. परिवार की देख-रेख तथा गाय की सेवा से उसे जहां संतुष्टि थी, वहीं इस बात का पछतावा था कि वह बैठका से अपना संपर्क बंद किये बैठा था. उसी रात उसने अपने से छोटे भाई विजय से बात की थी. विजय तेरह साल का था. सरकारी स्कूल की छठी कक्षा में पढ़ रहा था. हरि और विजय के बीच दो बहनें हुई थीं. एक तो रसोई में आग लग जाने के कारण जलकर बस तीन सप्ताह की होकर ही मर गयी थी. हरि से दो बरस ही छोटी थी. अब तो हरि के बाद देवी आती थी. उससे तीन साल छोटी थी. वीणा विजय के डेढ़ साल बाद जनमी थी. बाकी तीन भाइयों में बड़ा नौ साल का था और दोनों जुड़वें आठ साल के थे. सबसे छोटा सात साल का होने को था. महेंद्र सिंह हरि के बाप का भी गुरु था और उसका भी, इसलिए उसकी बात को वह महत्व दिये बिना नहीं रह सकता था. उसी रात उसने विजय से कहा था, ''हफ्ते में सिर्फ दो दिन भाई. मैं जानता हूं, स्कूल पहुंचने के लिए तुम्हें तीन मील चलना पड़ता है और लौटने में भी उतना ही लंबा फासला तय करना पड़ता है. फिर भी अगर तुम दो दिनों की जिम्मेवारी अपने ऊपर ले लोगे तो मैं दो दिन बैठका जा सकूंगा.''

विजय ने अपने भाई की बात मान ली थी. मंगल और शक्रवार को स्कूल से लौटते हुए वह गाय के लिए घास का प्रबंध भी कर लेता. इन दो दिनों में हरि बैठका में बच्चों को पढ़ा भी लेता और रामायण के सत्संग में हिस्सा भी ले लेता. कभी-कभी उसे इस खयाल से दुख होता कि उसने विजय को उसकी उम्र से कहीं ज्यादा जिम्मेदारी दे छोड़ी थी पर फिर अपने को आश्वस्त करने की कोशिश करता कि यह तो अच्छा है, इसी उम्र से उसे पारिवारिक दायित्व समझने का अवसर मिल रहा है.

यह बात हरि ने उस दिन अपनी मां से भी कही थी, जब घास काटते हुए विजय को बिरनियों ने जमकर बिंधा था. उसके सूज आये मुंह और सूजन से बंद हो गयी आंखों को देखती हुई मां जब दुखी हो उठी थी तो हरि ने विजय के चेहरे पर प्याज का मरहम लगाते हुए अपनी मां को आश्वस्त करने के लिए यही कहा था.

लाबुर्दोने कोठी के विस्तृत फैले ईख के हरे-भरे कॉटेज बस्ती से अधिक दूर नहीं थे. हरि दो अलग रास्तों में खेतों को पहुंचता और घर लौटता था. कभी जब जल्दी नहीं होती तो चक्करदार पगडंडियों से होकर वह खेतों को जाता था और जब जल्दी होती थी तो रेल की पटरी से होकर गुजरने वाले छोटे रास्ते को पकड़ लेता था. स्कूल के दिनों में इन पटरियों से स्कूल आने-जाने में उसे दोगुना समय लग जाता था क्योंकि तब तो रास्ते भर मित्रों के साथ खेल-खिलवाड़ करते हुए जाता था. आज हरि को जल्दी नहीं थी फिर भी उसने पटरी का रास्ता चुना था घर लौटने के लिए. बचपन के वे दिन याद आ जाने के कारण मन में चाह पैदा हो गयी थी कि उसी बचपन की मौज-मस्ती के साथ वह पटरी से चलते हुए रास्ते के आम और जामुन के पेड़ों पर पत्थर उछालता हुआ चले.

आम के पेड़ों पर मौसम के आखिरी फल बचे हुए थे. खाने की इच्छा न रखते हुए भी जहां पके हुए आम दिखायी पड़ जाते, वह अपने हाथ के छोटे से पत्थर को निशाना साध कर चला ही देता. निशाना चूक जाने पर नीचे से दूसरा पत्थर उठाता. इस तरह तीन बार में अगर आम नीचे नहीं आता तो वह उसे चिड़ियों के लिए छोड़कर आगे बढ़ जाता. बचपन में वह, जब तक पेड़ के पक्के या कच्चे आम नीचे नहीं आ जाते थे, वह अपने मित्रों के साथ पत्थर चलाता ही रहता था. पेड़ों पर चढ़ने के लिए लड़के इसलिए तैयार नहीं होते थे क्योंकि एक बार उनके दो साथियों को कोठी के रखवाले ने पकड़कर मालिक के सामने खड़ा कर दिया था. एक बार एक पेड़ की डाल से सोम नीचे गिरा तो उसकी गरदन की हड्डी टूट गयी और उसकी मृत्यु हो गयी. तब से लोग यह कहने लगे थे कि उन पेड़ों में भूत-प्रेतों का वास था. बच्चों से कहा जाता कि वे दिन के बारह बजे उन पेड़ों के नीचे न जायें क्योंकि ठीक बारह बजे ही सोम नीचे गिरा था.

इस बात को लेकर गांव की कुछ औरतें वहां दीये जला आती थीं. एक बार सुखदेव की पत्नी के यह कह देने पर कि उस जगह मनौती कर आने पर ही उसका पति कोठी का सरदार बना था, कई औरतें वहां मनौतियां करने पहुंच जाती थीं.

जहां रेल की पटरी मुड़ गयी थी, वहां से एक पगडंडी थी जो बस्ती को पहुंचती थी. पिछवाड़े में जो टीला था, उसकी बगल में एक दूसरी पगडंडी थी जिससे गांव की औरतें कुएं पर पहुंचती थीं. उसी पगडंडी से हरि ने संतोष को आते हुए देखा. वह ठिठक गया. संतोष अभी दूरी पर ही था कि हरि ने उससे पूछा, ''खरगोश के पीछे दौड़ रहे थे क्या?''

"नही तो!"

"तो फिर मधुमक्खियों के छत्ते खोजने निकले होगे!"

जब वह पास आ गया तो दोनों साथ चल पड़े. दोनों अभी एक साथ कुछ ही कदम चले थे कि संतोष ने कहा, "तुम जानते हो हरि, इस सप्ताह मुझे सिर्फ चार दिन की तनख्वाह मिली है. दो दिन के पैसे काट लिये गये."

यह कोई नयी बात नहीं थी फिर भी हरि चलते-चलते एकाएक खड़ा हो गया और बोला, "लेकिन उस दिन तो तुम एक घंटे में पिछले काम को पूरा करके फिर से अपने काम में लग गये थे, इसका यह मतलब हुआ कि तुमने छह दिन काम किया था."

"सरदार ने बताया कि सोम और मंगल के मेरे काम से मालिक संतुष्ट नहीं हुआ. तीन और लोगों की तनख्वाह काटी गयी है."

"तो वह पुराना खेल फिर शुरू हो गया!"

"मुझे अपनी औरत को डाक्टर के पास ले जाना है. बच्चे को जन्म दिये आज आठवां दिन हो गया, उसके शरीर से खून का बहना अभी तक नहीं रुका है. जो पैसा मिला है, उससे तो हफ्ते भर का अनाज भी नहीं आ पायेगा. धाई मौसी कह रही थी कि उसे फौरन डाक्टर के पास ले जाना चाहिए." हरि कुछ नहीं बोला. दोनों चुपचाप चलते हुए बस्ती पहुंच आये. बगल के खुले मैदान में गांव के बच्चे गुल्ली-डंडा खेल रहे थे. खेल से कहीं ज्यादा शोर मचा हुआ था. कंधे पर ढोलक लटकाये और मन मारे पवंरिये को गांव से निकलते देख हरि को यह जानते देर नहीं लगी कि संतोष की पत्नी की बीमारी के कारण उसे वहां सोहर-ललना गाने नहीं दिया गया. बिन कुछ कमाये बच्चा जनमने वाले घर से खाली हाथ लौटने का दुख था उस पवंरिये के चेहरे पर.

उसकी ओर देखते हुए हरि का एक पांव जमीन पर जमे हुए गंदले पानी में जा पड़ा. उसने अपने पांव में लग गयी कीचड़ को बगल की घास में पोंछते हुए संतोष से कहा,

"तुम घर आकर मुझसे दवा का पैसा ले जाना."

सीता ने उस पहले ही अवसर पर प्रकाश को कोठीवालों के विरुद्ध जाने से रोका था. गन्ने के खेतों और शक्कर कारखानों में काम करनेवाले मजदूरों को छोटी-सी भूल की उतनी बड़ी सजा मिलने का वह पहला अवसर नहीं था. लेकिन उस बार के दंडित उन दो मजदूरों के पक्ष में कोठी के मालिकों के खिलाफ खड़े होने का प्रकाश के लिए वह पहला अवसर था. अगर सभी मजदूर उसकी बातों को मान जाते और कोठी के सभी तीन सौ मजदूर अगर उसके पीछे चलकर कारखाने तक पहुंचते तो मालिकों को मजबूरन अपना निर्णय बदलना पड़ जाता.

पर अगर वैसा नहीं हुआ तो उसका सबसे बड़ा कारण यही था कि प्रकाश के साथ केवल पचास मजदूर ही जुट पाये थे, उस अन्याय के विरोध में. इसीलिए उसकी मां ने अपनी मीठी भोजपुरी में कहा था, "जिनके लिए खतरा मोल लेते हो, वे ही लोग साथ नहीं देते. यह भी मत भूलना कि जिन लोगों के साथ तुम लड़ना चाहते हो, वे हम जैसे नहीं हैं. उनके पास ताकत भी है पैसा भी. वे इस मुल्क के खुद ही न्यायालय हैं, खुद ही न्यायाधीश और खुद ही न्याय. इन लोगों के खिलाफ लड़कर अपनी तबाही करने पर क्यों तुले हुए हो!"

उसकी चाची मीरा ने भी सीता के स्वर में स्वर मिलाकर उन्हीं बातों को उसके सामने रखा था. उसकी उन बातों में हिदायत नहीं थी आग्रह था. अनुग्रह था कि वह अपने को औरों के लिए संकट में न डाले. इस पर प्रकाश ने हंसकर उससे कहा था, "चाची, तुम मेरी चिंता मत करो. मेरी मिट्टी बड़ी ही ठोस गूंधी गयी है. कोई संकट आये, झेल लेंगे."

जब शहर में होनेवाली बैठक में हिस्सा लेने के लिए प्रकाश ने कोठी के मजदूरों के सामने आहान किया था गन्ने के खेतों के बीच के बेसुमार टीलों में से एक के ऊपर खड़े होकर. उस समय उस चिलचिलाती धूप में उसके आगे-पीछे फसल के बाद के विस्तृत फैले हरे-भरे खेतों में उस तरह के टीले सौ से ऊपर ही थे. करीब पचास फुट ऊंचे वे टीले जिनकी ओर अपनी दायीं बांह को घुमाते हुए उसने उंगली से संकेत किया था. उन टीलों की मूक गवाही में अपने सामने के सभी मजदूर साथियों को उन खेतों के पहले मजदूरों की यातनाएं सुनायी थीं जिनके पसीने की बूंदों के लिए माटी तरसती थी.

अपने से पहले के उन मजदूरों की उस व्यथा-कथा को उन लोगों ने पहली बार नहीं सुना था. बचपन से ही वे अपने बाप-दादों की नंगी पीठों पर उन कोड़ों और बांसों की बौछारों के बारे में सुनते आये थे. उनमें अब भी एक-दो ऐसे मजदूर मौजूद थे जो उन दारुण दंडों को भुगत भी चुके थे. कुछ गवाह रह चुके थे उन तमाम यातनाओं के. उस दिन जब प्रकाश ने उनके सामने बातें की थीं तो अतीत के वे दृश्य उनके सामने सजीव हो गये थे. फिर भी शहर में होनेवाली बैठक में हिस्सा लेने के लिए कई मजदूर डरते-झिझकते रह गये थे.

बाद में कुछ जवान मजदूर अपने बीच के अपने से बड़े और अपने समय के उन गवाहों

से कई सवाल कर बैठे थे.

"क्या प्रकाश का यह कहना सही है कि इस देश के चारों ओर इस तरह के सैकड़ों-हजारों टीले हैं?"

"इन भारी-भरकम पत्थरों को उतने ऊपर कैसे ले जाया गया होगा?"

"अगर इन सारे पत्थरों को धरती की छाती चीरकर बाहर नहीं निकाला गया होता तो क्या यह पत्थरीली जमीन इतनी उपजाऊ हो सकती थी?"

मजदूरों में बहुत कम ऐसे थे जो पास-पड़ोस की चंद बस्तियों से आगे कभी जा पाये थे. जो जा पाये थे, वे अपने को अधिक अनुभवी बताने के लिए प्रश्नों के उत्तर अपने-अपने ढं से दे गये थे. खेतों के बीच के पत्थरों के उन ऊंचे टीलों के खड़े होने के सौ साल बाद प्रकाश मजदूरों से बातें कर रहा था. उन सौ सालों में उन मजदूरों के जीवन में कोई विशेष परिवर्तन नहीं आया था. उस दिन प्रकाश ने इसी बात पर जोर देते हुए कहा था कि जबतक सभी मजदूर एकसूत्र में नहीं बंध जाते, तब तक उनके जीवन में सुधार नहीं आ सकता. उ दिन-रात मजदूरों के पीछे पाकर ही उसकी मां उसे हिदायत देती रहती थी और सीता के साथ-साथ मीरा भी उससे अनुरोध करती कि वह अपने को खतरे में न डाले. मां और चा की हिदायतों के आगे वह चुपचाप रह जाता था. और जिस दिन प्रकाश के घर सरकारी चिट्टी आयी कि मजदूरों को भड़काने की गतिविधियों और राजनीतिक मामलों में हिस्सा लेने के लिए उसे नौकरी से बरखास्त किया जा रहा था तो भी मीरा चुप रही. वह सीता थी जो चिट्ठी मिलने के वक्त से सूर्योदय तक बोलती रही थी.

"मेरी बातों को न सुनने का ही नतीजा है यह!"

उसकी सारी बातें इसी एक वाक्य के इर्द-गिर्द घूमती रह गयी थीं. उसके बेटे को जब सरकारी स्कूल में बच्चों को पढ़ाने का काम मिला था तो सीता सोचती कि सबसे अधिक खुशी उसे ही हुई थी. उसकी उस नौकरी के चले जाने का सबसे अधिक दुख भी. वह सोचती, उसे ही हुआ था. लेकिन प्रकाश जानता था कि उसके अध्यापक बनने पर सबसे अधिक खुशी मंगल और मीरा को हुई थी. नौकरी के चले जाने से भी वे ही दोनों अधिक दुखी हुए थे.

और गांव में जिस व्यक्ति को उस नौकरी के चले जाने का सबसे कम दुख हुआ था, वह कोई और नहीं, प्रकाश ही था. सरकारी नौकरी से हटाये जाने के बाद उसने जब खेतों में नौकरी की थी, तभी उसने मजदूरों के दुखों को देखा और झेला था. उसका कलेजा फट गया था, उसका खून खौलने लगा था. और तभी से वह उन सभी मजदूरों के पक्ष में खड़ा हो गया था

एक बार जब पड़ोस के कुछ गांवों के मजदूरों से मिलकर लौट रहा था. अपने गांव के पास उसे वह अठारह-उन्नीस वर्ष का नौजवान मिला. उसने उसके सामने हाथ जोड़कर कहा था, "मैं आपसे पढ़ने के लिए आया हूं."

"मुझसे पढ़ने?" मैं तो गन्ने के खेतों में मजदूरी करता हूं. और....और इस उम्र मेंतुम पढ़ने की सोच रहे हो? भाई तुम रहते कहां हो?"

"मैं काटेज रहता हूं."

"तुम स्कूल कभी नहीं गये क्या?"

"छठी तक की परीक्षा दी है मैंने..."

"तो फिर?"

"मुझे इस देश के कुछ खास लोगों से सवाल करने हैं, उनके सवालों के उत्तर देने हैं. वे लोग मेरी भाषा नहीं समझते और मैं उन लोगों की भाषा इतनी कम जानता हूं कि मुझमें न तो सवाल करने की क्षमता है और न ही उनके सवालों के उत्तर देने की."

"कौन हैं ये खास लोग?"

"इस देश के पूजीपति. मैं उनकी भाषा सीखकर उनसे उन्हीं की भाषा में सवाल करना चाहता हूं."

इस जवाब पर प्रकाश चुप रहकर सोचता रह गया. फिर उसके कंधे पर हाथ रखे रखे एक कदम आगे बढ़ाते हुए उसने उसका नाम पूछा था, "तुम्हारा नाम क्या है?"

"हरि."

"किसके बेटे हो तुम?"

"शिवचरण रामनारायण का."

इस पर प्रकाश ने उसे हैरत से देखा था और चंद मिनटों की चुप्पी के बाद बोला, "मैं उन्हें जानता था."

दोनों के बीच और भी बातें हुईं और जब दोनों गांव के करीब पहुंच आये तो हरि ने प्रकाश के दोनों प्रश्नों का उत्तर एक ही वाक्य में दिया, "हां, मुझे आपका घर मालूम है और मैं हर शनिवार की शाम आपके के यहां पहुंच जाऊंगा."

सप्ताह बाद जब दोनों दूसरी बा मिले थे तो प्रकाश के घर पर. उस दिन

लघुकथा

दो फौजी

फिक्र तौंसवी

उर्दू से अनु : मुनव्वर हुसैन

युद्ध के मोर्चे पर एक देश के फौजी ने शत्रु देश के फौजी से कहा, "अगर मैं तुम्हें मार डालूं तो?"

"तो मैं देश के लिए मर मिटने वाला शहीद कहलाऊंगा!"

"अगर तुम मुझे मार डालो तो?"

"तो तुम देश के लिए मर मिटने वाले शहीद कहलाओगे."

"और अगर हम दोनों एक-दूसरे को मार डालें तो?"

"तो हम दोनों अपने-अपने देश के लिए मर मिटने वाले शहीद कहलायेंगे."

"और अगर हम दोनों इंसानियत दिखलायें और एक-दूसरे के मित्र बन जायें तो?"

"तो हम दोनों अपने-अपने देश के लिए मर मिटने वाले शहीद कहलायेंगे."

"और अगर हम दोनों इंसानियत दिखलायें और एक-दूसरे के मित्र बन जायें तो?"

"तो हम दोनों देश द्रोही कहलायेंगे. □

प्रकाश ने हरि के बारे में उसी के द्वारा उसकी पूरी जानकारी पायी थी. उस दिन शक्कर कारखाने की अपनी नौकरी से घर न जाकर हरि सीधे प्रकाश के यहां आ गया था. उसे अंग्रेजी और फ्रेंच सिखाने से पहले प्रकाश ने उससे लगातार कई प्रश्न कर लिये थे, "तुम जिन लोगों का सामना करना चाहते हो उनका सामना कर सकते हो? तुम जानते हो वे कितने ताकतवार हैं? मेरी असफलता को अच्छी तरह जानते हुए भी मेरे छोड़े हुए रास्ते पर चलने की हिम्मत कैसे कर रहे हो?"

हरि ने उन तमाम सवालों का एक सीधा जवाब दिया था, "मैं आपकी असफलता को नहीं, आपके संघर्ष को आगे बढ़ाना चाहता हूं."

उस दिन से हरि नियमित रूप से हर शनिवार की शाम प्रकाश के घर पहुंच जाता. कभी घर होकर जाता तो गांव की किसी साईकिल पर आ जाता था और अगर सीधे फैक्टरी से आता तो पैदल ही. एक दिन जब हरि ने प्रकाश से जानना चाहा कि किस गुरु से उसने उतनी अच्छी बातें सीखी थीं तो प्रकाश पहले हंस पड़ा था. फिर गंभीर होकर बोला था, "यों तो मेरे गुरु का नाम प्रेमसिंह है लेकिन मेरा सही गुरु कोई और था."

"कौन?"

"मदन जी?"

प्रकाश ने उसकी ओर हैरानी के साथ देखकर पूछा था, "तुम्हें मदन चाचा की जानकारी कैसे मिली?"

"मैं तो यह भी जानता हूं कि आप उन्हें मदन चाचा नहीं बल्कि मन चाचा कहा करते थे."

"हां...मैं उसे मन चाचा ही कहा करता था..."

और इसके साथ ही प्रकाश खो गया था उन अंतिम घड़ियों में जब उसने मदन को एक दिन अचानक हमेशा के लिए खो दिया था.

...उसके अपने कंधे पर गन्नों का बोझ था जब उसे मदन की मृत्यु की खबर मिली थी. उसे और उसके दूसरे मजदूर साथियों को अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ था. प्रकाश को तो उस समय तक उस खबर पर यकीन नहीं हुआ था, जब तक वह खुद मदन के शव के सामने नहीं पहुंचा था....

...समय ठिठक गया था. माहौल की उस गतिहीनता के बीच प्रकाश के अपने भीतर से उसका हृदय बहुत जोर से चीत्कार उठा था.

"मन चाचा!..."

...पर आवाज बाहर नहीं आयी थी. उसका अपना वही आंतरिक हिस्सा मदन के शव से जा लिपटा था और लिपटकर बिलख उठा था. लेकिन अपने शरीर के उस असहय बोझ के साथ प्रकाश दहलीज के पास खड़े का खड़ा रह गया... न आगे बढ़ा था और न ही झुक सका था. उस सामीप्य की सुदूरता को वह लांघ नहीं पा रहा था.

...झोंपड़ी के भीतर फर्श पर की चटाई पर अकुलाहट भरा सन्नाटा था. पीतल के लोटे के फूलों के पास मिट्टी का टिमटिमाता हुआ दीया एक दूसरे बुझे हुए दीये की निगरानी कर रहा था, उस भारी बोझिल सन्नाटे में. उस सन्नाटे से चंद ही पगों की दूरी पर मदन के शव को घेरे कुछ आत्मीय जनों के दहाड़ें मारकर रोने की आवाजें थीं. सिसकियां थीं... फिर भी प्रकाश के अपने जेहन के भीतर का सन्नाटा उतना ही शांत था जितना चटाई पर का शव. मदन के माथे पर का वह टीका उससे पहले कभी उतना चमकीला नहीं था.

उस कजराली खामोशी के बीच से एक दूधिया ध्वनि उसके अपने कानों में आयी, "तुमने पहुंचने में देर कर दी प्रकाश! तुम्हारे हाथों आखिरी बूंद पानी की उम्मीद लिये तुम्हारा नाम लेता हुआ मदन हमें छोड़ गया!"

...मदन! किसन सिंह का वह बेटा. बस्ती का सबसे आत्मीय, जो खुद अपनी कभी की आबदार आंखें गंवा देने के बाद देख तो नहीं पाता था पर जिसके साहस, जिसके शब्द, जिसकी आवाज से बेसुमार मजदूरों को अपनी स्थिति-परिस्थिति को सही परिप्रेक्ष्य में देखने की शक्ति मिली थी... प्रकाश ने रोदन और सिसकियों के बीच उस आवाज को सुना तो था पर जान न सका था कि कहनेवाला कौन था. जिधर से आवाज आयी, उधर उसकी नजर भी नहीं मुड़ पायी थी. और जब उसके पांव हिले थे तब उसे अपनी धड़कनों का एहसास हुआ था और अपने गालों पर आंसुओं की गरमी को महसूस कर तब कहीं वह मदन के पार्थिव शरीर पर झुक सका था. जिस ठंडेपन का प्रकाश ने अपनी दसों उंगलियों से एहसास किया था, उससे उसका निचला होंठ सूखे पत्ते की तरह कांपकर रह गया था...

पिछली सभी घड़ियां सिमटती हुई आंखों के सामने आयी थीं और फिर एक बहुत भारी घटाटोप में विलीन होती चली गयी थीं. बस इर्द-गिर्द की आवाजों को सुनता रहा था.

...चपरपाई पर पहुंचाये जाने की थोड़ी ही देर बाद उसने आंखें और सांसें हमेशा के लिए बंद कर ली थीं. तब भी वहां उपस्थित लोगों को यकीन नहीं हुआ था कि उसने आंखें

लघुकथा (गुजराती):

तीसरी कृति

ललित केवलिया

अनुवाद : डॉ. कमल पुंजाणी

एक दिन मुझे तार मिला—'हमारी चित्र-प्रदर्शनी के माडर्न-आर्ट विभाग की ओर से आपकी तीसरी चित्र-कृति को प्रथम पुरस्कार प्रदान किया गया है। बधाई!'

तार पढ़कर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ. मैंने तो दो ही चित्र-कृतियां भेजी थीं. यह तीसरी कृति कहां से टपक पड़ी? मेरा मन उसे देखने के लिए मचल उठा. दूसरे ही दिन मैं प्रदर्शनी जा पहुंचा. माडर्न-आर्ट विभाग में अपनी उस पुरस्कृत कृति को देखकर मैं चकित हो गया. वास्तव में वह कोई चित्र नहीं, परन्तु प्रेषित दो चित्रों की सुरक्षा के लिए उन पर लपेटा गया एक आर्ट-पेपर था जिस पर मेरे पांच वर्षीय पुत्र ने ब्रश से आड़ी-तिरछी लकीरें खींच दी थीं. □

हमेशा के लिए बंद कर ली थीं.

...प्रकाश रोता हुआ पूछता रह गया था, ''मन चाचा! अब हौसले कहां से मिलेंगे...''

यादों की अंतहीन झलकियां जेहन से उतर-उतरकर आंखों से गुजरती रहीं.

...मीरा की चिंता जले सातवां दिन था वह. मदन की रोशनीहीन आंखों से एक बूंद आंसू नहीं टपका था. दाह क्रिया के बाद मदन ने बड़े ही रहस्यात्मक ढंग से प्रकाश से कहा था, ''सात दिन और ठहर जाती!''

...वह बात जो प्रकाश की समझ में तब नहीं आयी थी, उस समय समझ में आ सकी थी जब वह अपने हाथों मदन की चिता को आग दे रहा था. तब उसका अपना हृदय किसी बच्चे के द्वारा घुमा-घुमाकर छोड़ी हुई रस्सी की तरह ऐंठ गया था...

हरि अपने सामने के प्रकाश को अतीत की उस स्मृति में खोये हुए देखता रहा था. उसके उस ध्यान को भंग कर जाने की उससे हिम्मत नहीं हुई थी. उस दिन दोनों के बीच उससे आगे कोई बात नहीं हुई थी.

दूसरे दिन प्रकाश ने पढ़ाई के बीच सवाल के लहजे में कहा था, ''मन चाचा ने किसन सिंह को उन लोगों के सामने टूट जाते हुए देखा. मैं मन चाचा को अपना सभी कुछ खोते हुए देखता रहा. इधर कुछ दिनों से खुद को कहों का ने छुटा हुआ पाते आ रहा हूं. और अब तुम भी वैसे ही प्रण के साथ सामने आये हो. शुरू-शुरू में सोचा था, दो-तीन बार की मुलाकातों में तुम्हें इस सनक से रोक लूंगा. अब लगता है, तुम्हें रोकना मुझसे नहीं हो सकेगा.''

''प्रकाश भैया, मैं मजदूरों का एक संघ बनाना चाहता हूं.''

''बना पाओगे?''

''क्यों?''

''इन मजदूरों को, जो मालिकों से कहीं अधिक अपनी परछाइयों से डरते हैं, एक सूत्र में बांध पाना उतना आसान नहीं.''

''आपने तो कठिन नहीं कहा. कह रहे हैं कि उतना आसान नहीं.''

''अब भी कह रहा हूं उतना आसान नहीं.''

''कोशिश करके देखना है.''

''मैं कोशिश करके देख चुका हूं.''

''मुझे भी वैसा करके देख लेने दीजिये. किसन दादा, मदन चाचा और आपकी कोशिशें अगर बेकार गयी होतीं तो आज मजदूरों के जीवन में यह जो थोड़ा-बहुत परिवर्तन आ सका है, नहीं आ पाता. मेरी अपनी कोशिश भी तो मजदूरों की हालत में थोड़ा-बहुत सुधार ला ही सकती है. बस आपका हाथ मेरे सिर पर होना जरूरी है.''

प्रकाश ने अपने हाथ को बिना कुछ कहे हरि के सिर पर रख दिया था. यह एक महीने पहले की घटना थी.

आज दोनों फिर उसी इमली के पेड़ के नीचे बैठे हुए थे. घर के भीतर से चक्की के चलने की आवाज आज भी आ रही थी. जांते की घड़घड़ाहट के साथ सीमा के धीमे स्वर में जंतसार की दो पंक्तियों के गाने की आवाज भी रह-रहकर आ जाती थी. हरि आज अपने गांव से साईकिल लेकर आया था इसलिए लौटने की जल्दी नहीं थी. प्रकाश के सामने इतमिनान के साथ पालथी मारे बैठा वह उसे ध्यान से सुन रहा था. प्रकाश उसे छठी कक्षा की किताब से विक्टर ह्यूगो की संक्षिप्त रचना भोजपुरी में समझाता रहा.

उन्नीस साल की कैद की सजा भुगतने के बाद जां वॉल जां की रिहाई हुई. अपने परिवार को भूख से मरने से बचाने के लिए उसने एक रोटी चोरी की थी. उसी के जुर्म में उसे पांच साल कैद की सजा सुनायी गयी थी. कैद से भागने की चेष्टा में उसकी सजा उन्नीस साल की कर दी गयी थी.

कहानी के इस हिस्से पर आकर प्रकाश ने पुस्तक बंद कर दी. हरि को देखते हुए बोला, ''एक रोटी के लिए एक आदमी की पूरी जवानी छीन ली गयी उससे! यह समाज उन्नीसवीं सदी का है. आज हम बीसवीं को पहुंच गये. पर वह कानून सौ साल बाद आज भी बना हुआ है. रोटी आज भी मुट्ठी भर लोगों की मुट्ठियों में है और आज भी हजारों लोग रोटी के मुहताज हैं.''

यह कहकर वह चुप हो गया. अपने हाथ की पुस्तक को नीचे बिछे अंगोछे पर रखकर बोला, ''आज के लिए बस!''

हरि खयालों में खोया था. प्रकाश ने उसे सजग करने के लिए फिर से कहा, ''आज के लिए यहीं बस करते हैं.''

थोड़ी देर इधर-उधर की बात करने के बाद हरि अपनी जगह से खड़ा होते हुए बोला, ''तो फिर मैं चलूं?''

''अगले शनिवार को मेरा मन खुद तुम्हारी ओर आने को कर रहा है. क्यों कैसा रहेगा?''

लघुकथा

शार्टकट

कमलेश भारतीय

''भाई साहब, जरा रेलवे स्टेशन तक जाने का कोई शार्टकट...''

''शार्टकट तो है, पर...''

''पर क्या? जल्दी बताइये!''

''आप उस रास्ते से जाना पसंद करेंगे?''

''क्यों? क्या हुआ उस रास्ते को?''

''आप उस रास्ते से नाक पर रूमाल रखकर और दीवारों का सहारा लेकर पांव रखते ही जा सकेंगे... आपको लगेगा कि आप अब गिरे...अब कीचड़ में फंसे... अब... अब जाने... क्या हो जाये!''

''शार्टकट की ऐसी बुरी हालत क्यों?

''क्योंकि आपकी तरह सभी लोग शार्टकट ही इस्तेमाल करते हैं। बड़े रास्ते से होकर, चक्कर काटकर कोई जाना नहीं चाहता. पर ठहरिये...''

''हां, कहिये...''

''बुरा तो नहीं मानेंगे?''

''अरे भाई, जल्दी कहो न, मुझे गाड़ी पकड़नी है!''

''यही बात जिंदगी पर लागू नहीं होती?''

''सो कैसे?''

''अब देखो न, सफलता की गाड़ी हर कोई पकड़ना चाहता है और इसके लिए हर आदमी शार्टकट अपना रहा है, चाहे शार्टकट कितना ही...''

''बस, बस, अपने उपदेश अपने पास रखिये... जनाब, मुझे भी सफलता चाहिए!''

''तो, चलते-चलते, इतना तो सुनते जाइये कि मेहनत का कोई शार्टकट इस दुनिया में नहीं है!!!'' □

''नेकी और पूछ-पूछ!''
''मूसा भाई ने आपको सलाम कहा है.''
''मूसा?''
''कभी इसी गांव में रहता था.''
''अरे मूसा वही, हनीफ चाचा का बेटा न!''
''हां!''
''मुझे नहीं मालूम था कि वह कॉटेज में रहता है. कैसा है?''
''अच्छा है.''
''कितने बच्चे हैं उसके?''
''दो.''
''यहां था तो नयी-नयी शादी हुई थी. कोई बच्चा भी नहीं था. तुम दोनों साथ ही काम करते हो?''
''मेरा तो सबसे अच्छा दोस्त वही है.''
''तब तो मुझे तुम्हारे गांव जल्द से जल्द पहुंचना होगा. मेरा भी सलाम तुम उसे कह देना और कह देना कि समय मिले तो मुझसे मिलने जरूर आये.''

वह उसकी पहली जहाज यात्रा थी.
और इतिहास की अंतिम यात्रा भी थी. कोई सत्तर वर्ष पहले वह यात्रा शुरू हुई थी.
पहले जहाज ने बिहार के मजदूरों को कलकत्ता के बंदरगाह से उठाया था और उन्हें समंदर पार मारीच के मोरिशस द्वीप में जा फेंका था. तब से सत्तर वर्षों तक वह सिलसिला चलता रहा. जहां बेशुमार लोग देश में फैली भुखमरी, शोषण, बेकारी और जिल्लत भरी जिंदगी से बचने के लिए अपनी जन्मभूमि, अपने गांवों, अपने घरों, अपने आत्मीय जनों से विलग होकर रोटी की तलाश में निकले. वहीं कुछ लोग ब्रिटिश साम्राज्य की क्रूर यातनाओं से बचने के लिए देश छोड़ने को विवश हुए. भारतीयों के हुजूम अपने देश से विदाई लेकर उस अनजान द्वीप को पहुंचते रहे जहां उन्हें पत्थरों के नीचे से सोना मिलने की उम्मीद थी. उस यात्रा में बिहार के लोग बहुत बड़ी संख्या में निकले. उनके साथ जुड़ते गये मद्रास, आंध्रप्रदेश तथा महाराष्ट्र के लोग. हिंद महासागर के मोरिशस द्वीप तक वह हुजूम पहुंचता रहा.

पहले जहाज से पहुंचे किसी यात्री ने बाद में पहुंचे जहाज के एक यात्री से सवाल किया था, ''हम लोग तो जहाज में भेड़-बकरियों की तरह लाये गये थे. तुम लोग कैसे आये.''

उत्तर मिला था, ''हम लोग आटे-चावल के बोरों की तरह लाये गये और गोदामों में फेंक दिये गये.'' लोगों को यह पता नहीं था कि जो जहाज ले जाता था वह लौटाता नहीं था. जहाज खाली आता गया, आदमियों को माल की तरह भर कर ले जाता रहा. कोई उधर से लौटता तब तो पता चलता कि उस द्वीप के पत्थरों के नीचे सोना नहीं बल्कि मजदूरों के अस्थिपंजर दबे हुए थे.

वह सहदेव ठाकुर की पहली यात्रा थी पर जो जहाज उसे मोरिशस ले जा रहा था, वह अपने सिलसिले की अंतिम यात्रा तय कर रहा था. भारतीय मजदूरों को कुलियों के रूप में ले जाने की आखिरी खेप! कुली इतिहास की अंतिम यात्रा. सत्तर वर्षों में पांच लाख से ऊपर भारतीयों को उस बंजर पड़े द्वीप में पहुंचाया जा चुका था. उन पांच लाख में सहदेव ठाकुर का बाप भी था, भाई भी थे. जिनका इधर वर्षों से न कोई पत्र मिला था न कोई खबर मिली थी.

सहदेव ठाकुर जहाज के अन्य भारतीय यात्रियों से अलग रूप में यात्रा कर रहा था. उसका यात्रा खर्च मोरिशस के फ्रांसीसी पूंजीपतियों की ओर से नहीं चुकाया गया था. उसने तो खुद अपने खर्चे को वहन किया था. वह अन्य यात्रियों की तरह गन्ने के खेतों में मजदूरी करने नहीं बल्कि अपने बाप और भाई की तलाश में निकला था. चार दिनों से उसका जहाज फेनिल लहरों को चीरता हिंद महासागर की मौजों से टकराता हुआ आगे बढ़ रहा था. उन चार दिनों से वह देख रहा था अनुबंध पर यात्रा कर रहे उन मजदूरों की हालत को. उसका अपना केबिन था लेकिन वह उसमें सो नहीं पाया. बाकी लोगों को उस दयनीय स्थिति में देखकर उसकी हिम्मत नहीं हुई खुद ठाठ से सो लेने की.

कोई साढ़े चार सौ मजदूर थे उस जहाज में. जहाज ने जब कलकत्ता का बंदरगाह छोड़ा था तो वह संख्या तीन सौ थी. डेढ़ सौ लोग बंबई के बंदरगाह पर सवार हुए थे. जो लोग कलकत्ता से यात्रा में थे उन्हें ऊपर डेक पर जगह दी गयी थी. लोग गठरी और बिस्तर को फर्श पर रखकर उन्हीं पर सोते थे. जिन लोगों ने बंबई में जहाज पकड़ा था, उन्हें चावल दाल के बोरों के बीच जगह दी गयी थी. उनकी अपनी हालत भी खुद बोरों ही जैसी थी. पहले ही दिन जब उन मजदूरों को खाना परोसा गया तो सहदेव ठाकुर दहल गया था. उसने तुरंत जहाज के गोरे रंग के फ्रांसीसी कप्तान से भेंट की थी. उसने उससे बिना किसी

लघुकथा

सांप और नेवला

नरेश चंद्र 'नरेश'

जंगल में सांप और नेवले की लड़ाई जब कभी हो जाती हो नेवले के द्वारा सांप मार दिया जाता. ऐसा न था कि लड़ाई में नेवले को सांप न काटता हो और सांप का जहर नेवले पर न चढ़ता हो. सांप को मारने के बाद 'सर्पदंश' से पीड़ित नेवला सीधा नदी के किनारे भागता और जमीन खोद कर केचुओं को खा जाता था. केचुए सांप के जहर को खत्म कर देते हैं.

सांपों को एक दिन नेवलों के केचुओं को खाने वाली बात विदित हो गयी.

एक दिन जंगल में पुनः सांप और नेवले की लड़ाई हुई...

और जैसे ही सांप को मारकर नेवला नदी के किनारे पहुंचा तो उसने देखा-नदी के किनारे कई सांप उसका रास्ता रोक कर खड़े हैं.

नेवला जैसे ही जमीन खोदकर केंचुए खाने की कोशिश करता, सांप उस पर हमला कर देते और उसे डंसते जाते. सांपों से लड़ते-लड़ते नेवले पर जहर का असर होने लगा...

और दूसरे दिन अखबार में एक खबर छपी—

...लोकप्रिय, निर्भिक और बहादुर पत्रकार की नदी के किनारे हत्या. □

भूमिका के पूछा था, "यह किस तरह का खाना इन लोगों को दिया जा रहा है?"

उस फ्रांसीसी कप्तान को अंग्रेजी आती थी. उसने कहा था, "यह जो कुछ इन्हें दिया जा रहा है, हम अपनी ओर से दे रहे हैं. इनकी यात्रा के भाड़े के साथ खाने का पैसा नहीं चुकाया गया है."

"बिन पसाये चावल, उबला हुआ आलू का एक टुकड़ा वह भी अधसीझा. इसे तो जानवर भी खाने से इनकार कर देगा."

"यह शिकायत आप मुझसे क्यों कर रहे हैं?"

"तो फिर किस से करूं?"

"जो आदमी इन्हें अपने साथ लिये जा रहा है, वह भी तो जहाज में है."

सहदेव ठाकुर उस आदमी से भी मिला. वह भी कोई बिहारी ही था. सहदेव ठाकुर के प्रश्न के उत्तर में उसने बड़ी ही बेरुखी के साथ कहा था, "मैं क्या कर सकता हूं? मैं तो अपने ठेके को पूरा कर रहा हूं."

उस ठेकेदार ने इससे आगे किसी भी प्रश्न का उत्तर नहीं दिया था. सहदेव ठाकुर ने दोबारा जहाज के कप्तान से भेंट की थी. उसने उससे मांग की थी कि अगर मजदूरों के भात के साथ कोई पतली-सी दाल की भी व्यवस्था हो जाती तो उसकी ओर से वह बहुत बड़ा मानवीय व्यवहार मानता. घंटा लग गया था उसे कप्तान को समझाने में. अंत में उसने बात मान ली थी. सातवें दिन के बाद ही मजदूरों को थोड़ा जायज खाना मिलना शुरू हुआ था. उनके सोने के लिए भी ठाकुर ने बेहतर व्यवस्था की मांग की पर उसके लिए कप्तान ने अपनी असमर्थता बतायी थी. उसने तो यह कहा था कि बहुत पहले ही वह कलकत्ता स्थित मोरिशस के पूंजीपतियों के दलाल को यह बता चुका था कि बहुत ज्यादा माल लादे जाने के कारण जहाज में जगह कम रह गयी थी इसलिए वह ढाई सौ से ज्यादा यात्रियों को लेने की स्थिति में नहीं था. पर कंपनी वाले उसे आखिरी खेप मानकर अधिक बोझ के लिए तैयार हो गये थे.

"जब कंपनी खुद बात मान गयी थी तो मैं क्या कर सकता था?"

अपने केबिन में जाने से पहले सहदेव ठाकुर देर रात तक उन मजदूरों के बीच ठहरा रहता. पीछे छोड़ आये घर-द्वार, परिवार, रिश्ते, नाते सभी की यादों से पैदा हो आये दर्दों को भुलाने के लिए वे धीमे स्वर में कजरी-बिरहा गाकर मन को मना लेते. उनमें से कुछ लोग उसके अपने इलाके के भी थे. औरत, मर्द, बच्चे, सभी को सिमट-सिमटकर सोना पड़ता था. सुबह की औपचारिकताओं को पूरा करने के लिए कतारों में खड़ा होना पड़ता था. नहाने-धोने का कोई विशेष प्रबंध न होने के कारण बहुत कम पानी से उन्हें अपने हाथ-मुंह धोने को बाध्य होना पड़ता था. डेक और माल विभाग दोनों जगहों से दुर्गंध आती रहती थी और सभी को उसी माहौल में रहना पड़ रहा था.

अपने इलाके के एक आदमी ने भोजपुरी में उससे कहा था, "ठाकुर साहब, हमें तो यह कहा गया था कि बड़ी ठाठ की यात्रा होगी. खाने-पीने का कोई कष्ट नहीं होगा जहाज में. ई त सभी कुछ नरक जैसन लगता बा भैया."

जहाज में चार-पांच बच्चे भी थे. यात्रा के दसवें दिन से कुछ यात्री बीमार होने लगे थे. पहले दो बच्चे बीमार हुए थे. ठाकुर को उसी के इलाके के रामदरस ने बताया था, "दूनों लयकवन के पेट झरत बा."

दूसरे दिन से बड़े लोग भी बीमार होने लगे थे. किसी को बुखार, किसी को उल्टी. दवा-दारू का कोई भी प्रबंध नहीं था. जहाज में जो डाक्टर था वह हर वक्त नशे में रहता था. सभी मर्ज की एक ही दवा थी उसके पास. वही सफेद रंग का कोई सिरप.

यात्रा के बीसवें दिन तीन मुर्दों को पानी में फेंका गया. जब उनके दाह संस्कार पर जोर दिया गया तो कप्तान ने कह दिया था, "इन लाशों को और तीन दिन जहाज में रखेंगे तो उनकी बीमारी पूरे जहाज के लोगों का लग सकती है."

लोग डर गये थे और कप्तान की मर्जी के सामने चुप रह गये थे. दो दिन बाद एक बच्चा और दो औरतों की मौत हुई. इन तीनों को पहले मरनेवालों की तरह दस्त और उलटी नहीं हुई थी बल्कि उन्हें नीमोनिया हो गया था. जोरों की बारिश होने के कारण जहाज के डेक पर सोते हुए भीगे थे और दो ही दिन बाद उनके फेफड़े जकड़ गये थे.

ठाकुर उन दो भाइयों की लाशों को अपने हाथों समुद्र के हवाले करते समय आरा जिले के बारे में सोच उठा था. उस जगह को वह बहुत अच्छी तरह जानता था. उसका अपना ननिहाल था वहां. उस जगह की किसी एक बस्ती की किसी एक झोंपड़ी में उन दो भाइयों की बूढ़ी मां अब भी आस लगाये हुए होगी कि उसके दोनों बेटे मारीच देसवा से बहुत धन कमाकर लौटेंगे. छोटे भाई की मृत्यु बाद में हुई थी. उसका सिर ठाकुर की गोद में था. उसने अपनी आखिरी सांसों को पल भर अधिक थामे रखने की प्रक्रिया के साथ ठाकुर से

लघुकथा

स्वागत

श्रीकांत चौधरी

पूरी अयोध्या नगरी लगभग कर रही थी. खुशी उल्लास, का समंदर ठाठें मार रहा था. गीत संगीत की सरिता बह रही थी. श्रीराम और सीता लंका विजय के पश्चात चौदह वर्ष का बनवास पूरा कर वापस लौट रहे थे.

पूरी अयोध्या में मुख्य मार्गों पर ही नहीं, हर गली कूचे में स्वागत द्वार लगाये गये थे. मुख्य सड़क जैसे फूलों की ही बनी थी. करोड़ों दीये जगमगा रहे थे. स्वागत गान गाये जा रहे थे, पुष्प वृष्टि हो रही थी.

राजमहल में हर जगह सुगंध, गुलदस्ते और कीमती कालीन फर्श पर बिछे थे. कुल मिलाकर दस बीस करोड़ रुपये खर्च हुए थे.

रामचंद्रजी व सीताजी और अन्य सभी साथी सहयोगी चकित स्तब्ध और परम आनंदित थे.

लक्ष्मणजी से न रहा गया, उन्होंने भरत जी से पूछा, "भैया, इतना भव्य, विराट दिव्य अनमोल आयोजन आपने कैसे कर लिया?"

"भैया लक्ष्मण, इस कार्यक्रम के प्रायोजक थे—सोल-गेट एंड मोवरेज कंपनी प्रा. लि. अयोध्या. प्रसिद्ध दंत मंजन, फर्नीचर और साबुन के निर्माता." भरत जी का उत्तर था.□

कहा था, ''मेरी मां हमसे बोली थी कि चाहे कुछ भी हो, हम उसकी मौत से कम से कम एक दिन पहले जरूर उसकी आंखों के सामने पहुंच जायें. ऐसा तो नहीं हुआ ठाकुर जी... पर काश मेरी इन चंद सांसों के पूरा होने से पहले मेरी मां मेरी आंखों के सामने आ जाती!''

आज वे सब बातें सहदेव ठाकुर को इसलिए याद आ रही थीं क्योंकि दिन में पूर्वी इलाके का दौरा करते हुए उसे उसका वह जहाजी दोस्त रामदरस मिल गया था. कोठी में काम करनेवाले भारतीय मजदूरों की दयनीय दशा और अपनी हालत सुनाते हुए रो पड़ा था.

''ठाकुर साहब, ई सभी कुछ लालच के फल होवेला. वहां अपनी भूमि पर जो मिल जाता था, उससे गुजारा तो हो ही जाता था. रूखेल सूखेल ही सही, बूखे त नै मरत रहली से. स्वरग के लालच में नरक में आ गईल स ठाकुर साहब!''

जिस समय वह इन बातों को सोच रहा था, उसकी अपनी आंखों में भी आंसू डबडबा आये थे. मियां फरीद ने उससे पूछा था, ''क्या बात है सहदेव भाई, पहली बार तुम्हारी आंखों में आंसू देख रहा हूं.''

लेकिन वे आंसू बहे नहीं. आंखों के भीतर ही सूखकर रह गये. सहदेव ठाकुर उस 'मक्का-मदीना' को अपने हाथ की साफी से पोंछता रहा. बच्चों को चित्र दिखानेवाला यह यंत्र उस कमरे के एक कोने में पड़ा हुआ था जो वह फरीद से किराये पर लिये हुए था. गन्ने के खेतों की जिंदगी से ऊबकर जब मियां फरीद शहर आ गया था तो दाऊद के दिये हुए पच्चहत्तर रुपये उसके पास थे. अपने परिवार की जीविका के लिए अपने इस यंत्र को बत्तीस रुपये में खरीदा था. तब बहुत बड़ी रकम थी वह बत्तीस रुपये. उसका पूरा परिवार उस पैसे से महीनों जी सकता था. उस बोझिल यंत्र को कंधे पर लादे वह गांव-गांव घूमा करता था. एक पैसे में दो बच्चों को पंद्रह मिनट तक देश-विदेश के साथ मक्का की तस्वीरें दिखाता था. बच्चे गोलाकार शीशों के इर्दगिर्द अपने दोनों हाथों को रखे बाहर के उजाले को घेरे, शीशों के द्वारा बड़े आकार के हो जानेवाले उन तमाम चित्रों को देख-देखकर मुग्ध हो जाते थे. ठाकुर अपने सुर में बोलता जाता, ''देख लो बच्चो, मक्का मदीना. देख लो दुनिया भर का मेला. तुम भी घर पर खुदा की इबादत कभी न भूलना. बोलो बच्चो, अल्लाह-ओअखबर, देख लो बच्चो राम-रावण की लड़ाई. देखो आ गया हनुमान. जो भोले-भाले लोगों को सताता है, वह रावण की मौत मरता है. बोलो बच्चो, जय सियाराम की-जय हनुमान की!''

जिस पहले दिन उस यंत्र को लेकर फरीद और सहदेव के बीच बातें हुई थीं तो सहदेव ने पूछा था, ''तो इस धंधे को छोड़ा क्यों?''

''एक तो बड़ी थकान होती थी और फिर इसकी शान जाती रही.''

''शान जाती रही से क्या मतलब?''

''बच्चे एक ही चीज कितनी बार देखते! उन्हीं दिनों एक दोस्त की मेहरबानी से दूध का काम शुरू करने का मौका मिल गया था. दूध बेचकर तीन गुना अधिक आमदनी हो जाती थी इसलिए इस धंधे को बंद कर दिया.''

''मगर दोस्त, बच्चों के साथ मिलनेवाली वह खुशी....!''

''हां वह तो अब नहीं मिलती पर इतने बड़े परिवार को पालने के लिए उस तरह की खुशियों को गंवाना ही पड़ता है. सचमुच उस काम में बहुत खुशी मिलती थी. मैं घर लौटता था तो कठिनाई से मेरी ढोंकरी में बीस-पच्चीस पैसे होते थे पर खुशियों से मन बड़ा चुहड़गर होता था.''

तभी अनायास सहदेव ठाकुर के मुंह से निकल गया था.

''मैं तुमसे यह मक्का-मदीना खरीदना चाहता हूं.''

''क्या करोगे खरीदकर?''

''गांव-गांव का दौरा करूंगा.''

''पागल हो गये क्या?''

''बिलकुल नहीं. गांव-गांव घूमकर बच्चों का मनोरंजन करूंगा. थोड़ी बहुत कमाई भी होती रहेगी और वैसा करके अपने परिवार में से किसी न किसी को ढूंढ़ निकालने में शायद सफल भी हो जाऊं.''

''तुम अब भी सोचते हो उन्हें ढूंढ निकालोगे?''

''इसीलिए तो भारत से यहां आया हूं.''

दूसरे ही दिन फातमा की मदद से वह उस तस्वीर दिखानेवाले यंत्र की सफाई में लग गया था. दो दिन लगे थे सिर्फ उसके ऊपर से जंग छुड़ाने में. तीसरे दिन से उसने उस पर रंग चढ़ाना शुरू कर दिया था. दूकान से चार-चार रंग खरीद लाया था. फातमा की पसंद से ही उसने रंगों को इस्तेमाल किया था. एक बार जब फातमा के रसोई में चले जाने पर उसने शीशों के घेरे भाग को पीले रंग से रंग दिया था तो फातमा को वह पसंद नहीं आया था. उसने उस रंग को फिर से साफ करके उसकी जगह लाल रंग चढ़ाया था और तब फातमा खुश हो गयी थी.

लघुकथा

चिंता

रमेश चंद्र पंत

राज्य में सर्वत्र शांति छायी हुई थी. जनता अमन-चैन की बांसुरी बजा रही थी. दुःख-दैन्य का कहीं नामोनिशान नहीं था. शेर और बकरी एक घाट पर पानी पीते थे. लोगों में एक-दूसरे पर इतना विश्वास था कि वे बेखटके कभी भी कहीं आ-जा सकते थे. दरवाजे हमेशा खुले रहते थे. चोरी-डकैती, द्वेष-हिंसा, अविश्वास-संशय आदि नामों को जनता लगभग भूलती-सी जा रही थी.

अचानक राजा को लगा कि यदि अधिक दिनों तक यही स्थिति रही तो फिर राजा एवं प्रजा में फर्क ही क्या रह जायेगा. यदि लोगों के बीच मेल-मिलाप, भाई-चारे की भावना इसी तरह पनपती गई तो कभी भी हमारे लिए मुश्किल हो सकती है.

सो, राजा ने एक समुदाय-विशेष के लिए कुछ अतिरिक्त सुविधाओं की घोषणा कर दी. घोषणा प्रसारित होते ही राज्य में दंगे शुरू हो गये. लोग घरों में कैद हो गए. दरवाजे-खिड़कियां हर समय बंद रहने लगे और राजा निश्चिंत होकर सोने लगा. □

फातमा मियां फरीद की छह बेटियों में सबसे बड़ी तेरह-चौदह उम्र की थी. जब सहदेव ठाकुर नया-नया आया था तो उसके सामने अपनी बड़ी बेटी का परिचय देते हुए मियां फरीद ने कहा था, ''यह मेरी बड़ी बेटी है. महराजिन है?''

''क्या है?''

''महाराजिन.''

''महाराजिन का क्या मतलब हुआ?''

''सधुवाईन भाई.''

''सधुवाईन?''

''याने कि यह लड़की मांस-मछली कुछ नहीं खाती.''

''अरे भाई, यह बात है तो फिर मेरा खाना-पीना यही तैयार करेगी. मैं भी उसी की तरह शाकाहारी हूं. तुम चाहो तो कमरे के किराये के साथ एक अठन्नी ज्यादा ले लेना. आज से यह तुम्हारी नहीं मेरी बिटिया है.''

''वाह भाई जान, क्या सचमुच ही तुम हिंदुस्तान ही से आये हो!''

''क्यों?''

''रिश्ता बाप-बेटी का बनाते हो और बात अठन्नी देने की करते हो!''

उस दिन से उस साठ से ऊपर के सहदेव ठाकुर की पूरी देख रेख फातमा के जिम्मे थी. एक रात फरीद मियां यों ही बातों के दौरान ठाकुर से पूछ बैठा था, ''सहदेव भाई, तुम मुझे एक बात बताओ. इस मुल्क में आज हजारों हिंदुओं के घर हैं फिर क्या वजह है कि तुम उनमें से किसी का घर न चुनकर, सीधे एक मुसलमान के घर आ बसे?''

इस पर ठाकुर मुस्कराता रह गया था और फरीद को अपना सवाल दोहराना पड़ा था. उस दूसरी बार के सवाल पर ठाकुर ने कहा था, ''बहुत बड़ी भूल हो गयी यार.''

फरीद की समझ में जवाब आया ही नहीं. उसे अपनी ओर जिज्ञासा भरी दृष्टि से देखते हुए ठाकुर ने आगे कहा, ''मुझे तुमसे पहले ही पूछ लेना चाहिए था.''

''क्या?''

''यही जो तुम अभी कह गये. मैं तो यह सोचता रह गया था कि तुम भी हिंदुस्तान से आये हो!''

अपनी उसी गंभीरता के साथ ठाकुर ने पूछा, ''क्या तुम हिंदुस्तान से आये हो?''

''क्या बात करने लगे तुम?''

''पूछ रहा हूं, क्या सचमुच तुम हिंदुस्तान से आये हो या अरब से?''

''तुम अरब से आये होगे ठाकुर, मैं नहीं! मैं तो हिंदुस्तान से आया हूं... भारत से.''

''मैंने भी यही सोचा था पर...''

''पर क्या?''

''यार, तुम्हें हिंदुस्तानी जानकर अपना देश बंधु जानकर तुम्हारे पास आया और तुम हिंदू-मुसलमान की बात करने लगे! याद है, एक बार तुम खुद मुझसे पूछ बैठे थे–'वाह भाई जान! क्या सचमुच ही तुम हिंदुस्तान ही से आये हो!' आज मेरी तबीयत तुमसे यही सवाल करने को कर रही है. कुछ मामलों में तो भारत में अड़े हुए अंग्रेजों को हमारी पहचान हमसे अधिक है. वे जब हिंदुस्तानियों पर गोलियां दागते हैं तो हिंदू-मुसलमान का खयाल किये बिना हर हिंदुस्तानी को बराबर का निशाना बनाते हैं.''

''भाई जान, भूल हो गयी.'' और फरीद मियां ने हाथ जोड़ लिये थे.

जब पड़ोस के किसी व्यक्ति ने एक बार फरीद मियां से शिकायत की कि क्यों भाई तुम कैसे मुसलमान हो, तुम्हारे घर से पूजा की घंटी बजती है तो उसने अपने उस पड़ोसी से पूछा था, ''क्यों, तुम्हें मेरे घर से नमाज की आवाज नहीं सुनाई पड़ती क्या?''

''वह तो सुनाई पड़ती है.''

''तो फिर क्या?''

एक दूसरे दोस्त की इसी तरह की शिकायत पर उसने छोटा-सा जवाब दिया था, ''मेरा घर हिंदुस्तान है!''

अगले अंक में

क्या सहदेव ठाकुर को मिले अपने बाप और भाई?... क्या हुआ हरि और प्रकाश की लड़ाई का?.... गोरे मालिकों के अत्याचार किस कदर भारतीय मूल के मजदूरों में संघर्ष की भावना को प्रबल करते रहे... इन्हीं और ऐसे ही सवालों के जवाब.

लघुकथा

अपना वंश

''किस जन्म का बदला ले रहा है तू मुझसे?'' लोगों की नजरों से अपने को बचाकर घर-घर काम करके जो कुछ भी मैं कमाकर लाती हूं, तू सबका सब दारू में उड़ा देता है और अब तो तूने एक महीने की पेशगी पगार भी खत्म कर डाली, तू ही बता अब और कहां से लाऊं मैं तेरे लिए...! कैसा पति है तू मेरा? अरे तुझे तो यह भी नहीं पता औरत पेट की भूख तो सहन कर लेती है, मगर मां बनने की भूख काले नागों की तरह डसती रहती है उसे. और फिर ऊपर से पड़ोसिनों के ताने.''

''ए सुनहरी! सुन, तू रोती क्यों है! अब माफ भी कर मुझे, दारू के चक्कर में मैं तो भूल ही गया था, सच, कितनी अच्छी है तू! देख वो दारू की हट्टी वाला है ना, वो भी तो तेरी बहुत ही तारीफ करता रहता है. तू ऐसा कर, आज काम पर मत जा मेरी दारू की चिंता भी मत कर, इंतजाम हो जायगा आज शाम को उसे घर ले आऊंगा. वो तो तेरे लिए एक साड़ी भी ले आयेगा... और फिर हमें अपना वंश भी तो चलाना है.''

दास वीरेंद्र चैतन्य

नीला चांद : इतिहास के द्वारा इतिहास का अतिक्रमण

□ प्रभाकर श्रोत्रिय
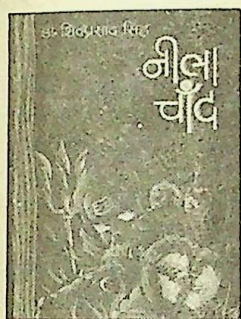
नीला चांद (उपन्यास): शिवप्रसाद सिंह, प्रकाशक: वाणी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1988 : मूल्य : 150 रुपये.

'**गली आगे मुड़ती है**' में शिवप्रसाद सिंह ने बंद गलीवाली रुद्ध मानसिकता के विलोम में भारतीय संस्कृति की जिजीविषा को रेखांकित किया था, जो अंधे मोड़ों के बावजूद नयी दिशा खोजने का निरंतर उद्यम करती रही है. उस उपन्यास का माध्यम भी काशी था और हाल में प्रकाशित उनके वृहद् उपन्यास '**नीला चांद**' की कथा भूमि भी काशी ही है जिसे लेखक ने अंतरंग गहराई और संपूर्णता में लिया है. असल में काशी केवल एक नगरी नहीं है, वह दीर्घकाल से भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक विरोधाभासों का केंद्र रही है. वहां योग और भोग, सच्ची धार्मिकता और पाखंड, गंदगी और निर्मलता, प्रचंडता और कोमलता, जात-पांत की संकीर्णता और जातीय सहिष्णुता विद्वत्ता और मूर्खता, उग्र साधना और वैष्णवता, कमनीय कला और हिंस्र शोषण—बिल्कुल बेमेल दिमागों के पड़ोसियों की तरह रहते रहे हैं. कदाचित इसीलिए अर्द्ध नारीश्वर को वहां लास्य और तांडव दोनों रचाने पड़ते हैं अतः जो लेखक काशी को अपने समूचे रंगों में बुनना चाहता है, उसे काशी के बहाने संपूर्ण भारतीय संस्कृति, जीवन-व्यवस्था, जीवन-चेतना और विसंगतियों का समवेत साक्षात्कारी होना होता है. मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि शिवप्रसाद सिंह ने काशी को इसी व्यापक भूमिका में पहचाना है.

लेखक ने ऐसे समय का संधान करना चाहा है जिसमें काशी का वह स्वरूप उद्‌घाटित हो जो "त्रिकंटक को भी हिला देता है"; "**धगद् धगद् धगद् ज्वलम्**" के तांडव से अशिव का ध्वंस कर देता है और '**नंदीश्वर के ज्योतिर्लिंग के विशाल स्तंभ-सा धरती और आकाश को जोड़ देता है.**" (भूमिका) परंतु यह मानना गलत होगा कि यहां किसी समय की कोई काशी अवतरित कर देना ही लेखक का प्रयोजन है. निस्संदेह घटना-चक्र का केंद्र काशी है, सारे कारक तत्व भी वहां आ जुटे हैं,तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, नैतिक और वैयक्तिक स्पर्द्धाओं और विसंगतियों का मंच भी वही है, भूमिका में स्वयं लेखक ने भी काशी के ऐतिहासिक निरूपण की प्रामाणिकता पर ही बल दिया है, फिर भी इस उपन्यास का कथ्य काशी नहीं है. वह कथा-पटल है, किसी हद तक रंग और तूलिका भी हो सकती है और जो चित्र उभरा है वह भी तत्कालीन काशी का है. परंतु इसमें जो ध्वनि है, क्रिया व्यापार में संचलित जो अभिप्राय है व्यापक सृजन-दृष्टि है वह वास्तव में सारी विसंगतियों के बीच प्रज्ज्वलित भारत का मूर्त्त सांस्कृतिक चैतन्य है; अशिव को क्षार कर देनेवाली अमोघ इच्छा शक्ति की अभिव्यक्ति है, वर्ण-वर्ग की विषमता के प्रति उसकी मौलिक असहमति, विद्रोह और घृणा है, जो उपन्यास में मानवाधिकार की समानता का उद्‌घोष करती है.

काशी नरेश कलचुरी कर्ण (लक्ष्मी कर्ण) ने जैजाक भुक्ति के राजा चंदेल वर्मा की अमानुषिक हत्या कर दी. वे इस समय ध्यानस्थ थे. उनकी रानी ने कर्ण की काम लिप्सा का ग्रास बनने की अपेक्षा पति की चिता में भस्म हो जाना श्रेयस्कर समझा. बर्बर कर्ण ने कलातीर्थ खजुराहों को भी आग में झोंक दिया. अर्थात् साधनारत राजयोगी की रक्ताग्नि, सती की चिताग्नि और कला की ध्वंसाग्नि, '**नीला चांद**' की आदि ज्वाला है. यही ज्वाला प्रतिक्रिया के रूप में कीर्तिवर्मा की आंख और संकल्प में उतर गयी. भाई और भाभीजू की बलिवेदी पर की गयी उसकी प्रतिज्ञा में, उसी क्षण कर्ण का वध हो चुका था. बीच में भी वास्तविक वध के अनेक अवसर आये. परंतु जब तक सक्रिय कथा-व्यापार से उसके संपूर्ण दुष्कर्म घनीभूत नहीं हो गये और उसके विरुद्ध जन-आक्रोश पूरी तरह संगठित नहीं हो गया—कर्ण का वध नहीं किया गया. यह भारत की महाकाव्य परंपरा के अनुरूप ही हुआ.

उपन्यास का नायक कीर्तिवर्मा स्कंदगुप्त की तरह निस्पृह लेकिन कर्तव्य परायण है. वह न तो सत्ता लोलुप है, न हिंसा व्यवसायी. उसका व्यक्तिगत आक्रोश लोकोन्मुखी प्रवृत्ति के कारण जनपीड़क आततायी के विरुद्ध विद्रोह और विद्रोह की जनाकांक्षा का प्रतीक बन जाता है. इस प्रकार 'जैजाकभुक्ति' को मुक्त करने का उसका संकल्प कर्ण की बर्बरता और अनाचार के परिप्रेक्ष्य में जन-मुक्ति के संकल्प में परिणत हो जाता है. गृहहीन, राज्यहीन कीर्तिवर्मा ने अपने संग्राम का केंद्र काशी को चुना है. क्योंकि '**शत्रु से बचने का**' (और संभवतः उसके विनाश का भी) '**उत्तम स्थान वही है जो शत्रु का निवास हो.**' (पृ. 20).

परंतु उपन्यास में इतिहास के निर्वाह से अधिक काशी की प्रतीकात्मक सत्ता को महत्व दिया गया है—जहां पवित्रता, अध्यात्म, जीवन और कला-मूल्य अपनी पराकाष्ठा पर हों, वहीं उनका ध्वंस सर्वाधिक दारुण प्रभाव उत्पन्न कर सकता है. दूसरी बात यह है कि काशी सत् के मंगल और असत् के विनाश-कर्ता शिव की भूमि है. इसलिए वहां लास्य और तांडव एक साथ संभव है. इस सांस्कृतिक अवधारणा में वस्तु तत्व की संश्लिष्ट संरचना बहुत अर्थवान हो उठी है. संभवतः इसीलिए न केवल कीर्तिवर्मा, बल्कि मां शीलभद्रा, रज्जुक गाहड़वाल, नरेश, नृपतिचंद्र, वाममार्गी तांत्रिक और देशभर के अनेक शासक काशी में किसी न किसी साभिप्राय संयोग से ऐसे न्यायालय का रूप लेते हैं जहां पक्ष-विपक्ष के सारे साक्ष्य एकत्र हों.

काशी के स्वाभाविक शासक गाहड़वाल नृपतिचंद्र से अहम्मन्य कर्ण ने सत्ता लगभग छीन ली थी. वे निःसत्व से अपनी पांथशाला में सामंत जैसा उपेक्षित जीवन जी रहे थे. गाहड़वाल प्रजा या तो काशी में दर्प-दलित हो रही थी या चरणाद्रि और कंतित जैसे सीमावर्ती नगरों में सिमटी-सिकुड़ी पड़ी थी. अपने शत्रु द्वारा दलित गाहड़वालों की मुक्ति में सहयोग देना कीर्तिवर्मा का राजनैतिक चातुर्य भी था और नैतिक कर्तव्य भी. भले ही नृपतिचंद्र, मदन या गोविंद चंद्र से सहायता की आशा करना व्यर्थ था, फिर भी काशी में उनसे सहानुभूति रखनेवाली प्रजा विपुल परिमाण में थी, स्वयं रज्जुक और पारस जैसे कुछ गाहड़वाल भी अत्यंत योग्य और विश्वसनीय थे. गोविंद चंद्र को काशी का नरेश बनाने की प्रतिज्ञा करते हुए कीर्तिवर्मा ने न केवल अपने पितामह के वचन को पूरा करने का संकल्प लिया बल्कि गाहड़वाल प्रजा और उनके विश्वस्तों को अपने पक्ष में भी कर लिया. इसके अतिरिक्त तमाम उपेक्षित जातियों अर्थात नटों, केवटों, डोमों, हरिजनों, आदिवासियों आदि को स्नेह, सद्भाव और सहानुभूति से अपना सहयोगी और प्रशंसक बना लिया. भूमिका में लेखक ने धरती और आकाश को मिलानेवाले नंदीश्वर के जिस स्तंभ का उल्लेख किया है वह इस संरचना में सार्थक हो उठा है. समाज की निम्नतम जातियों से राजत्व की उच्चता (कीर्तिवर्मा) और अध्यात्म की उत्कृष्टता (मां शीलभद्रा) का जुड़ जाना पृथ्वी और आकाश को मिलानेवाले स्तंभ की ही रचना है. कर्ण के राजनैतिक, नैतिक और आध्यात्मिक पतन की पराकाष्ठा वहीं होती है जहां वह मां शीलभद्रा पर अपने गुंडों द्वारा आक्रमण कराता है और उनकी मृत्यु हो जाने पर अपनी क्षुद्र-पाशविकता का नग्न प्रदर्शन करता है. इस तरह उच्चकोटि की आध्यात्मिक शक्ति को भी अपने आक्रमण का लक्ष्य बनाने के कारण कर्ण का विनाश नैतिक और आध्यात्मिक अनिवार्यता हो जाती है. मुझे तो नंदीश्वर के मंदिर से

कर्ण के मुकुट को लक्ष्य करके संधान किया गया कीर्तिवर्मा का बाण एक प्रतीकात्मक परिकल्पना भी लगती है. कीर्तिवर्मा दृढ़ इच्छाशक्ति का प्रतीक है. इसलिए अगर वह दंभी कर्ण के मुकुट को खंडित करता है और कौलाचार्य की आंख फोड़ता है तो यह एक तरह से आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति द्वारा दुराचारी दंभी राजा और धार्मिक पाखंड दोनों का विखंडन है.

अंततः कीर्तिवर्मा कर्ण को काशी से पलायन करने को बाध्य कर देता है और मार्ग में ही भगोड़े वर्मा और उसके पुत्र को तीरों से बेंध देता है. उसके कर्ण मेरुप्रसाद, त्रिपुरी और माहिष्मती को आग लगाकर एक ओर खजुराहो के दहन और भाई-भाभी की चिता का प्रतिशोध ले लेता है, और दूसरी तरफ गाहड़वाल और चंदेल प्रजा को कर्ण के कुशासन से मुक्ति भी दिला देता है. अपने बूते पर जीती हुई काशी नृपतिचंद्र और गोविंदचंद्र को सौंपकर वह लंका विजयी राम या स्कंदगुप्त के आदर्श का निर्वाह करता है. गोविंद की मां राल्हदेवी की स्वार्थी और संकीर्ण मनोवृत्ति के बदले वह जो उदात्त आचरण करता है, उससे न केवल उसका स्वाभिमान और आत्मविश्वास प्रकट होता है बल्कि एक बार फिर सिद्ध हो जाता है कि गाहड़वालों से सहयोग लेना उसकी उदारता और दूसरों को यथोचित सम्मान देने की भावना थी. सभी युद्धों में कीर्ति की भूमिका अत्यंत गतिशील और निर्णायक है, फिर भी उसकी नम्रता, सौजन्य और साथियों को बड़प्पन देता है. उसी तरह अंतिम निर्णायक युद्ध में कर्ण और उसके घायल पुत्र को अपने सेना नायक गोपाल भट्ट की प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए, जीवित रूप में चालुक्य सोमेश्वर को सौंप देना आदर्श भारतीय शासक द्वारा ही संभव था.

गाहड़वालों और चंदेलों का **'नीला चांद'** का प्रयोजन नहीं है. कलचुरी कर्ण के विरुद्ध ऐतिहासिक सत्ता-संघर्ष दिखाना यहां जो युद्ध होता है वह सदाचार का कदाचार से; प्रकाश का अंधकार से है. समान प्रवृत्ति के पात्र अपने-अपने पक्ष से जुड़कर इस युद्ध को व्यापक अर्थवत्ता देते हैं. कीर्तिवर्मा के पक्ष में सत्ता, धर्म, लोक और संघर्ष की विध्यात्मक शक्तियां केंद्रित हैं नृपतिचंद्र, गोविंदचंद्र, मां शीलभद्रा, पाशुपताचार्य वृषध्वज, स्वाभिमानी विद्वान बलदेव उपाध्याय, वीरता के विग्रह गोपाल भट्ट, राजनयिक अनंत, शक्ति-स्वरूपा गोमती; नट बब्बर, बिरजूसिंह यदुवंशी, पारसदेव, आदिवासी लोचन केवट रामचंद्र और संपूर्ण दलित वर्ग है : जिसे समाज में निम्न कोटि का माना जाता है, लेकिन जो उच्च मानवीय मूल्यों से संपन्न हैं. इधर कर्ण के साथ सभी कुटिल मनोवृत्ति के लोग हैं, चाहे वह उसका बेटा यशः कर्ण हो, या दामाद जातवर्मन, अथवा कौलाचार्य चंडेश्वर, वामाचारी तांत्रिक या धूर्त पंडित विनायक भट्ट. इन दो सीमांतों के बीच युद्ध का परिणाम वही होना था, जो भारतीय सांस्कृतिक और सृजन-दृष्टि का प्रयोजन है. **'नीला चांद'** में उद्घाटित काशी का अतीत, इतिहास का लेखाजोखा नहीं है, बल्कि वह समकालीन जीवन के लिए त्रुटियों और उपलब्धियों का साक्ष्य है. एक सृजनशील लेखक को इतिहास का यह लाभ मिलता है कि वहां वह समय को पूरे आयाम में देखता है क्योंकि वहां आदि और अंत एक ही पटल पर घटित होते हुए दिखाई देते हैं. जब यह अतीत वर्तमान में परावृत्त होता है तो अदृश्य भी दृश्यमान हो जाता है. जाति और धर्म को लेकर विघटन के जिस नये दौर से हम गुजर रहे हैं वह अंततः मनुष्यता विरोधी है और उसकी बुनियाद में अपनी ही सड़ांध है जिसे मिटाने के बजाय हम ढंक रहे हैं. इतिहास ने इसे देखा और भोगा है, साहित्य उसे हमारे बोध में पुनर्सृजित करता है, ताकि हम उन अनुभवों का लाभ लें. परमयोगिनी मां शीलभद्रा केवट के बेटे से कहती हैं : **"तू मत भूल कि गर्हित लोग अपनी सड़ांध छिपाने के लिए जाति का सहारा लेते हैं, अपने को ब्राह्मण या क्षत्रिय कहते हैं और तुम लोगों को शूद्र कहते हैं, वे वस्तुतः नीच और मनुष्यता विरोधी है."** (पृ. 337).

इस उपन्यास में ऐसे मनुष्य विरोधी लोग भी सक्रिय हैं जिनके पतन का विश्वास कृति दिलाती है. वह कहती है कि जहां जो श्रेष्ठ है—चाहे धर्म में, चाहे समाज में, चाहे शासन में—वह इस विषमता और शोषण का विरोधी है, और जो निकृष्ट है वह सर्वत्र मानव विरोधी घृणा का पक्षधर है. इतिहास के माध्यम से व्यक्त सर्जना का यह सत्य क्या वर्तमान को भी देख सकनेवाली आंख नहीं देता—जिसके आगे कारण और कार्य की पूरी श्रृंखला खुली पड़ी है?

हमारे समय में, शायद किसी भी ऐतिहासिक समय की तुलना में, मानव मूल्य और नैतिकता अपने को सबसे अधिक निस्सहाय पा रही है. **'नीला चांद'** नैतिक मनुष्य की उच्चाटित आत्मा को नया संबल देता है. उसका यह नया 'भरत वाक्य' है जो मनुष्य के लिए ऐसा सूत्र है जिससे वह सारे पराभवों को विषय में बदलने की सामर्थ्य विकसित कर सकता है—**"जैसे हर व्यक्ति के अंदर एक आंगन है, एक तुलसी चौरा है, वैसे ही सबके छोटे-छोटे आकाश में एक नीला चांद भी होता है. ढकोसलों से नहीं, नियति को जाननेवाले दंभियों की भविष्यवाणियों से नहीं, तू खुद कालिमा में डूबकर अपने मन के आंगन में जगमगाता नीला चांद देख लेगा, उसका नाम है अमोघ इच्छा शक्ति."** (पृ. 465).

भारतीय संस्कृति और जीवन मूल्यों को जिन्होंने आध्यात्मिक और व्यक्तिवादी प्रचारित करने की कोशिश की है, वे या तो नासमझ हैं या फिर षडयंत्रकारी. क्योंकि भारतीय संस्कृति एकांत अध्यात्मवाद और भौतिकवाद दोनों की विरोधी है, वह एकांत व्यक्तिवाद और समाजवाद का भी विरोध करती है. वह इनके बीच ऐसे संतुलित और समन्वित विवेक पर बल देती है जो दोनों का उपयोग जीवन की सार्थकता और साभ्यता के लिए कर सके. मां शीलभद्रा योगिनी होते हुए भी दुःशक्तियों के विनाश और समतामूलक समाज की रचना में हाथ बंटाती है. लोकमंगल और लोकमुक्ति के लिए किये गये कीर्तिवर्मा के युद्ध, नैतिकता और मानव मूल्य से संपृक्त होकर आध्यात्मिक गरिमा प्राप्त करते हैं. दुश्चरित्र शत्रु के मुख से अपने लिए 'चरित्रहीन' शब्द के उच्चारण तक से उसे इतना धक्का लगता है कि अपनी समस्त विजय और संघर्ष-साधना भी व्यर्थ लगने लगती है. क्या आज की माटी चमड़ी के नेता कल्पना भी कर सकते हैं कि कोई राजा के इस बात के लिए जीवन में सर्वाधिक दुखी हो सक कि उसके गंदे शत्रु ने उसे 'चरित्रहीन' कह दि यानी राजा का चरित्र इतना निष्कलंक होना चा कि नीच से नीच शत्रु भी उस पर उंगली न उठा स क्योंकि वह केवल व्यक्ति नहीं है. गोमती की सांत्व के उत्तर में कीर्ति कहता है : **"आपको समाज का नहीं होगा, पर एक अनपढ़ प्रजा के राजा के चरित्र के अतिरिक्त और क्या होता है, पर उसकी भोली-भाली प्रजा प्राण निछावर क है."** आज यही आंतरिक मूल्य-संवेदन आध्यात्मिकता हमारी राजनीति से छिन चुकी इसी का परिणाम है कि लोग बेशर्मों की त रिश्वतें, दलाली, अस्मतें बल्कि देश तक को ह जाने में संकोच नहीं करते. उनके लिए 'चरित्रहीन' कहलाना मानो यातना का कारण नहीं, गर्व की है. संपूर्ण उपन्यास में ऐसी भांति-भांति की वर्ज पीड़ा और विद्रोह अग्नि की तरह धधक रहा होता है, इसलिए इसका पूरा रचना-विधान प्रतिरोध और प्रखर ऊर्जा से प्रज्ज्वलित है, जि इतिहास का ढांचा भी जल गया है और शहर का रह गया है केवल मूल्य बोध, संघर्ष-चेतना परिवर्तन की अदम्य इच्छाशक्ति जिसके लि देश-काल कोई सीमा नहीं होता.

इतनी विस्तृत कृति में जो संरचनात्मक त्रुटि दिखाई देती हैं, वे बहुत महत्व की नहीं हैं, हालांकि होतीं तो बेहतर था.

कुल मिलाकर 'नीला चांद' इतिहास के पटल भारतीय संस्कृति की ऊर्जा और संकल्प; उ मानक और मूल्य की भव्य प्रतिष्ठा महाकाव्यात्मक प्रयास है. उसमें हमारे समय अक्स और चरित्र इतना साफ दिखाई देता है, इतिहास हमारे समय को दिशा दे रहा हो. उपन्यास में इतने गहन सांस्कृतिक और मानवीय संदर्भ इतनी मार्मिक सूक्तिमत्ता और काव्यात्मकता इतना प्रवाह और जीवंतता है कि यह कृति वर्त उपन्यासों के बीच अलग से अपनी पहचान क करने की क्षमता रखती है.

बधाई

भारतीय ज्ञानपीठ की ओर से प्रतिवर्ष हिं की किसी एक विधा पर आयोजित यु लेखन प्रतियोगिता के अंतर्गत वर्ष 1989 लिए घोषित नाटक विधा के प्रतियोगियों युवा रचनाकार विवेकानंद की नाट पांडुलिपि 'अंततः' को सर्वश्रेष्ठ चुना गया इस प्रतियोगिता में चालीस वर्ष से कम आ के वे रचनाकार शामिल होते हैं जिनकी घोषित विधा में तब तक कोई पुस्तक प्रकाशित न हुई हो. ज्ञानपीठ के निदेशक सर्वश्री पांडुरंग राव, बिशन टंडन औ ज्ञानपीठ के सचिव श्री बालस्वरूप राही बार के निर्णायक मंडल के सदस्य थे.

सारिका परिवार की ओर से प्रतियोगि जयी कृतिकार को हार्दिक बधाई.

काल और समय की कैसी धड़कन

□ अखिलेश

हिंदी कहानी संग्रह, सं. भीष्म साहनी प्रकाशक : साहित्य अकादेमी, रवींद्र भवन, 35 फिरोजशाह रोड, नयी दिल्ली-110 001, मूल्य : पचास रुपये.

जब भीष्म साहनी ने हिंदी कहानी पर एक पुस्तक संपादित करने का अनुरोध स्वीकार किया तो विशेष प्रसन्नता हुई कि उनके जैसे समर्थ और दृष्टिवान लेखक द्वारा हिंदी कहानी के श्रेष्ठ और प्रतिनिधि हिस्से का चयन होगा. और यह चयन गतिशील यथार्थ की पृष्ठभूमि में होगा. जिसके कि वह महत्वपूर्ण स्तंभ हैं.

समीक्ष्य पुस्तक '**हिंदी कहानी संग्रह**' में कुल तीस कहानियां और लगभग सोलह पृष्ठों की एक भूमिका है. भूमिका (या इसे आप संपादकीय भी कह सकते हैं) में भीष्मजी ने लिखा है, "**मैंने सोचा, लेखकों की तालिका की जगह उत्कृष्ट रचनाओं की तालिका बनाना बेहतर होगा! इनमें से सर्वोत्कृष्ट पच्चीस** कहानियां चुनना भी ज्यादा आसान होगा? पर फौरन सवाल उठा : क्यों मुझे केवल बेजोड़ कहानियां चुनने को कहा गया है, या ऐसी कहानियां **जो अपने काल का प्रतिनिधित्व भी करती हों?**"

'काल का प्रतिनिधित्व' के संदर्भ में भीष्म साहनी की ये पंक्तियां भी दृष्टव्य हैं : "**यदि यह संकलन किसी हद तक हमारे स्वातंत्र्योत्तर कालखंड की कहानी की सही झलक दे पाया है, इससे हम अपने समय की धड़कन को महसूस कर पाते हैं तो इसे मैं सार्थक प्रयास ही मानूंगा.**"

तो काल का प्रतिनिधित्व करना और समय की धड़कन बनना भीष्म साहनी की दृष्टि में इस संग्रह की कहानियों का प्रमुख वैशिष्ट्य है. लेकिन उन्होंने यह स्पष्ट करने की कोशिश नहीं की कि कृष्ण बलदेव वैद की '**मेरा दुश्मन**', निर्मल वर्मा की '**परिंदे**' और कृष्णा सोबती की '**बादलों के घेरे**' कहानियां भारत के किस कालखंड का प्रतिनिधित्व करती हैं और समय के किस हिस्से की वे धड़कन बन सकी हैं.

क्या भीष्म साहनी की बातों से यह निष्कर्ष निकाला जाये कि वह ये बातें कथ्य की दृष्टि से नहीं बल्कि शिल्प की दृष्टि से कह रहे थे. ऐसा हो भी सकता है क्योंकि वह एक जगह महत्वपूर्ण कहानी की पहचान बताते हुए कहते हैं, "**जिसमें नये स्वर सुनाई पड़ें, जो कहानी के क्षेत्र में किसी नये आयाम के जुड़ने का भास दे, जो कहानी बने बनाये चौखटे को लांघने का भास दे.**"

अब यह समझ पाना मुश्किल है कि अमृत लाल नागर की '**दो आस्थाएं**', अमृत राय की '**भोर से पहले**', शिवप्रसाद सिंह की '**नन्हों**', हृदयेश की '**तोते**' आदि कहानियों में कौन-सा नयापन है. सच तो यह है कि ये पिटी हुई लकीर को पीटनेवाली कहानियां हैं. ऐसा लगता है, भीष्म साहनी दुविधा में हैं, इसीलिए परस्पर अंतर्विरोधी बातें कहते हैं. जैसे नयेपन की वकालत के ठीक पहले उन्होंने कहा, "**उत्कृष्ट कलाकृति हुए बिना भी कोई कहानी महत्वपूर्ण हो सकती है.**"

'**हिंदी कहानी संग्रह**' की कहानियों के संदर्भ में भीष्म साहनी की एक अन्य बात भी उल्लेखनीय है : "**मुझे लगा कि मुझसे प्रतिनिधि कहानियों की ही अपेक्षा अधिक की गयी है, जो अपने काल की प्रवृत्तियों को प्रतिबिंबित करें.**" ध्यान देने की बात है, काल का प्रतिनिधित्व काल की प्रवृत्तियों के प्रतिबिंबन में बदल गया. एक सामाजिक मामला विशुद्ध साहित्यिक मामला बन गया. भीष्मजी के समाज के स्थान पर साहित्य केंद्रित होने का कारण यह लगता है कि वह साहित्य अकादमी द्वारा प्रकाशित इस कहानी संग्रह में विचारधारा और बदलाव यानी बदलाव की विचारधारा से थोड़ी दूरी बनाए रखना चाहते हैं. और साहित्य की दुनिया में जो भी मर्यादित व्यक्ति ऐसा करना चाहता है, उसके पास बदलाव की विचारधारा के बरक्स दो शब्द जरूर होते हैं: संवेदन और मानवतावाद. भीष्म साहनी भी लिखते हैं : "**कहानीकार का संवेदन ही मूलतः उसका दिशा निर्देश करता है, उसका तर्क अथवा उसकी नपी-तुली मान्यताएं नहीं.**" हालांकि वह इस बात को अच्छी तरह जानते होंगे कि मनुष्य के संवेदन के स्वरूप निर्धारण में सामाजिक हालात के साथ-साथ उसके तर्क और नपी-तुली मान्यताओं की निर्णायक भूमिका होती है. इसीलिए अलग-अलग वर्ग की अलग-अलग संवेदना होती है और एक ही वर्ग में संवेदन के वैविध्य का कारण तर्क और विचार ही होते हैं.

भूमिका से एक और उद्धरण : "**जैसे कविता कहने वाले को पंक्ति सूझती है और पंक्ति में सब कुछ मौजूद होता है, भाव, व्यंजना, शब्द, लय.**" यहां भी विचार गायब. हालांकि एक जगह चलते-चलते विवेक, तर्क, मान्यताओं और रूप सौष्ठव का उल्लेख है. इसमें कोई अर्थ निकालना चाहे तो निकाल ले. वैसे उन्होंने साफ-साफ कह दिया है: "**अस्तित्ववादी विचारधारा हो या समाजवादी विचारधारा अथवा कोई और विचारधारा रही हो. यहां हमें इस बहस से मतलब नहीं.**"

भीष्म साहनी को यह सुखद लगता है कि "**कहानी ने अपनी जमीन को नहीं छोड़ा, न ही अपनी मानवतावादी दृष्टि को ही छोड़ा है.**" मानवतावादी दृष्टि की तरह ही कुछ अन्य अमूर्त तत्व और भी हैं संपादकीय में. जैसे 'प्रमाणित' और 'सजीव'. अस्तु.

फिलहाल भीष्मजी ने संग्रह की कहानियों के संबंध में काल का प्रतिनिधित्व करने का जो मानदंड बनाया, संग्रह का मूल्यांकन उस नजरिये से करना जरूरी है. भीष्म साहनी लिखते हैं: "**यदि यह संकलन किसी हद तक हमारे स्वातंत्र्योत्तर कालखंड की कहानी की सही झलक दे पाया है, तो इसे मैं सार्थक प्रयास ही मानूंगा.**" इस दृष्टि से स्वतंत्रता के बाद की सबसे पहली पीढ़ी के कहानीकारों के संग्रह में अमृतलाल नागर, हरिशंकर परसाई, अमृत राय हैं. सवाल है, क्या अमृतलाल नागर और अमृत राय अपने समय के प्रतिनिधि कहानीकार हैं? क्या इनकी कहानियों में तत्कालीन कालखंड प्रतिबिंबित हो सका है? सभी जानते हैं अमृतलाल नागर एक बड़े उपन्यासकार होने के बावजूद कहानीकार के रूप में ऐतिहासिक योगदान नहीं दे सके हैं. एक कहानीकार के रूप में उनसे अधिक महत्वपूर्ण भगवती चरण वर्मा थे. फिर भगवती बाबू की क्या बात की जाये, जब संग्रह में यशपाल और उपेंद्रनाथ अश्क तक अनुपस्थित हैं. आपत्ति का बिंदु अमृतलाल नागर का होना नहीं है. होने को तो विष्णु प्रभाकर को भी होना चाहिए था. आपत्ति का बिंदु तो यशपाल और अश्क का नहीं होना है. और सबसे बड़ी बात उस दौर में, जब फ्रायडवाद प्रगतिशील चेतना की धार को रोक रहा था, तब उसको बचानेवाले कथाकार भैरवप्रसाद गुप्त भी नहीं हैं.

इसके बाद सन पचास से साठ तक के दौर की कहानी आती है, जिसमें नयी कहानी आंदोलन ने हिंदी कहानी को संपन्न किया. निश्चय ही यह समय हिंदी कहानी का महत्वपूर्ण समय था पर इतना भी क्या कि हिंदी कहानी संग्रह की कुल तीस कहानियों में से आधे से अधिक उसी दौर के लेखकों की कहानियां हैं. और तब जबकि भीष्म साहनी ने स्वयं कहा है कि उन्होंने श्रेष्ठ कहानियों का संकलन नहीं बल्कि स्वातंत्र्योत्तर कालखंड की झलक देने के इरादे से संपादन किया है. क्या भारतीय इतिहास के इन चालीस वर्षों के कालखंड में दस वर्ष शेष तीस वर्षों से इतने अधिक महत्वपूर्ण हैं? फिर अत्यंत विनम्रतापूर्वक यह प्रश्न करना चाहूंगा कि कृष्ण बलदेव वैद की '**मेरा दुश्मन**', निर्मल वर्मा की '**परिंदे**', रामकुमार की '**बेरी का पेड़**' उस समय के किस सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करती हैं? और यदि इन्हें श्रेष्ठ कहानी होने के नाते संकलित किया गया है, तो क्या भीष्मजी की दृष्टि में श्रेष्ठ कहानी के जो पैमाने हैं, उन पर ये श्रेष्ठ हैं? रही बात दूसरों की दृष्टि में श्रेष्ठ होने की, तो उसमें सर्वाधिक उपयुक्त यह होता है कि भविष्य किसी रचना के बारे में क्या निर्णय देता है. कहना न होगा, इन कहानियों

और इनके कहानीकारों के बारे में भविष्य ने क्या फैसला सुनाया. फिर हम भीष्म साहनी से यह उम्मीद भी करते थे कि जिन्हें सत्ता ने नहीं पहचाना, उन्हें वह पहचानेंगे. उस दौर के ज्ञान-प्रकाश और ओमप्रकाश श्रीवास्तव जैसे कथाकारों को इस संग्रह में स्थान मिलता, तो सार्थकता में वृद्धि होती.

उसके बाद यानी साठ से सत्तर के दशक को लिया जाये तो ज्ञानरंजन, काशीनाथ सिंह और गिरिराज किशोर को छोड़कर शेष महत्वपूर्ण लोग गायब हैं रवींद्र कालिया, दूधनाथ सिंह, श्रीकांत वर्मा इसराइल, ममता कालिया, राम नारायण शुक्ल वर्मा महेंद्र भल्ला जैसे लोगों की एक साथ अनुपस्थिति आश्चर्यजनक है. यदि हिंदी कहानी संग्रह में कृष्ण बलदेव वैद हो सकते हैं, तो फिर किस तर्क से दूधनाथ सिंह नहीं हो सकते? और उस स्थिति में, जबकि वैद के दौर की कहानियां आधे से अधिक हों.

सबसे दिलचस्प तो सत्तर से अट्ठासी तक के कालखंड का प्रतिबिंबन है. इस लंबी अवधि की कहानी से केवल दो कहानीकारों का चयन हुआ है, असगर वजाहत और मिथिलेश्वर. दो में भी मिथिलेश्वर को कभी भी हिंदी कहानी में प्रतिनिधि स्थान नहीं मिला. क्या उनकी संकलित कहानी **'हत्यारों की वापसी'** का हिंदी कहानी में कोई छोटा-मोटा स्थान भी है? आश्चर्य है, भीष्म साहनी जैसे व्यक्तित्व ने उदय प्रकाश, स्वयं प्रकाश जैसे समर्थ कथाकारों को उपेक्षित कर मिथिलेश्वर का चयन किया. पर सबसे प्रमुख बात इस अठारह साल की कहानी से केवल दो कहानीकार! क्या इसलिए : **"वयस्क पाठकों को युवा लेखकों की चीजें पसंद नहीं आतीं, वे उस साहित्य से जिससे वे अपने युवाकाल में प्रभावित हुए थे, इतने अभ्यस्त हो चुके हैं, कि उन्हें बाद का लिखा पसंद नहीं आता."** (भूमिका से)

वैसे हो सकता है, हृदयेश, रामदरश मिश्र, गोविंद मिश्र आदि को युवा लेखकों के रूप में रखा गया हो. क्योंकि ये कथाकार बहुत दिनों से लिखते रहने के बावजूद हिंदी कहानी में अपना कोई स्थान नहीं बना सके हैं, लेकिन इनसे संभावनाएं तो हैं ही.

अंत में कुछ अन्य बातें : हिंदी में लघु पत्रिका आंदोलन शोषणमूलक व्यवस्था के विरुद्ध भाषा का एक सांस्कृतिक आंदोलन था पर भीष्मजी का मत है : **"लघु पत्रिकाओं की भूमिका इस दृष्टि से बड़ी सराहनीय रही है, उन्होंने युवा लेखकों को हतोत्साह होने से बचाए रखा."**

भीष्मजी ने भूमिका में शिकायत की है कि मुस्लिम परिवेश की कहानियां कम लिखी गयी हैं जबकि लिखी जानी चाहिए. इसमें सिखों और ईसाइयों को भी जोड़ना चाहिए. वैसे बात अभाव की है तो हिंदी में हरिजनों, मजदूरों आदि पर कितनी कहानियां लिखी गयी हैं?

भूमिका में महिला लेखकों की एक सूची दी गयी है, जिसमें शिवानी का भी नाम है. कोई इंदु बाली भी हैं, जबकि चित्रा मुद्गल, मेहरून्निसा परवेज, सुधा अरोड़ा जैसों का कोई जिक्र नहीं.

चलते-चलते एक उद्धरण : **"स्वतंत्रता को संभालना, उसे सुदृढ़ बनाना, प्रशासन चलाना राष्ट्रीय जीवन के लिए नये-नये आधार स्थापित करना बहुत बड़े काम हैं जो एक दिन में पूरे नहीं किये जा सकते. हम शायद जरूरत से ज्यादा उतावले हो रहे थे. नदियों पर बांध बनाने में, कल-कारखाने खड़े करने में, धरती की कोख में से खनिज पदार्थ निकालने में, कृषि और उद्योग के विकास में, इन बातों में वक्त लगता है. हजारों साल की गरीबी एक दिन में छू-मंतर नहीं हो जाती."**

ये विचार कांग्रेस के किसी नेता के नहीं, बल्कि भीष्मजी के हैं, जिन्हें उन्होंने इस पुस्तक की भूमिका में व्यक्त किया है.

मैं ये बातें करना नहीं चाहता था क्योंकि भीष्म साहनी बहुत सारे लोगों की तरह मेरे भी सबसे प्रिय कथाकारों-नाटककारों में हैं. उनके साहित्य से मैंने कुछ पाया है कि हिंदी कहानी संग्रह पर अपने विचार कृतघ्नता लग रहे थे लेकिन इसलिए कह सका क्योंकि भीष्म साहनी जैसे अग्रजों ने नयी पीढ़ी को यही शिक्षा दी है कि यदि कुछ गलत लगे तो उसे व्यक्त करने से विमुख नहीं होना चाहिए.

कामकाजी औरतों की आधुनिक 'गीता'

कई बार वर्षों तक कुछ एहसास लेखक को सालते रहते हैं. लेखक कुछ नाजुक रेशों को धीरे-धीरे जोड़ता रहता है. यह रेशे जब एक फार्म का रूप ले लेते हैं तब दस्तावेज के रूप में 'युद्धरत' जैसा उपन्यास सामने आता है. आज आधुनिक उपन्यास सामने आ रहे हैं. आज आधुनिक उपन्यास कोई सुखद स्थिति में नहीं है, फिर भी कुछ उपन्यास अपनी पहचान की तलाश जारी रखे हुए जरूर हैं. उनका यह प्रयत्न जीवन के प्रायः हर क्षेत्र में देखा जा सकता है. यह क्षेत्र राजनीति भी हो सकता है और व्यवस्था द्वारा परिवर्तित आम आदमी के संघर्ष के युद्ध का युद्धरत क्षेत्र भी हो सकता है. परिवेश जहां अपने चक्रव्यूह में इंसानी हम और उसकी मजबूरियों का घेराव करता है वहीं आम आदमी अपने बचाव के लिए उससे एक तरफा युद्ध भी करता है. विजयी कौन है इसका निर्णायक समय है और वह मजबूर युद्धरत इंसान है जिसने व्यवस्था के रावणीरूपी चक्रव्यूह की नाभि का भेद जान लिया है.

'युद्धरत' की व्यवस्था यदि लालफीताशाही अवरसचिव मुले हैं तो शालिनी उस व्यवस्था की नाभि तक पहुंचने वाली मजबूर लेकिन होशियार आज की कामकाजी क्लर्क औरत है. शालिनी और सुधांशु दोनों उपन्यासकार के आदर्श हैं दोनों मध्यवर्ग से हैं और दोनों अपनी अस्मिता के लिए युद्धरत हैं. शालिनी पति से मुक्त हो अपने पिता और भाई-बहिनों के साथ अधिक दिन नहीं रह पाती. पिता पर गबन का आरोप लगता है और कई वर्षों के केस के पश्चात पिता की पोस्ट पर जब शालिनी बैठती है तो उसका हमदर्द बापनुमा आफिसर अपनी कृपा के कमीशन के रूप में उसका शरीर मांगता है. शालिनी की यात्रा यहीं से पलायन के रूप में होती है. इस कुचक्र के पश्चात उसकी नियुक्ति एक आफिस में अवरसचिव मि. मुले के साथ एक स्टेनो के रूप में हो जाती है. मि. मुले जो शालिनी से पहले वाली स्टेनो को रखैल बनाए हुए हैं इस स्टेनो पर भी हाथ साफ करना चाहते हैं. आफिस का क्लर्क सुधांशु शालिनी को इस दलदल से मुक्त कर मिनिस्टर के स्टाफ में रखवा देता है. मि. मुले जो शालिनी को घर पर बुलाकर उसकी इज्जत लूटना चाहता था वही अब दुबके हुए कुत्ते की तरह शालिनी का स्वागत करता है. सुधांशु पर इनक्वायरी करने का आरोप लगाकर उसकी पदोन्नति रोक दी जाती है. शालिनी के पिता की मौत के पश्चात शालिनी आवारा भाई और मजबूर छोटी बहिन के साथ दुनिया में अकेली रह जाती है. सुधांशु पदोन्नति न होने से मानसिक रोग से ग्रस्त हो जाता है. अंत में शालिनी और सुधांशु दुनिया से टक्कर लेने के लिए संगठित हो जाते हैं.

इस कहानी के साथ-साथ दफ्तरों का पूरा परिवेश है. क्लर्क लड़कियां बॉसों के साथ मैटिनी शो देखती हैं, उनके साथ हमबिस्तर होती हैं और पदोन्नति लेती हैं. मिस्टर शर्मा जैसे लोग दफ्तर में रहते हुए भी व्यापार करते हैं. मि. मुले बड़ी नौकरी के लिए कमीशन के सदस्यों को अपनी पत्नी भेंट करते हैं.

इस प्रकार प्रस्तुत उपन्यास जहां आधुनिक नारी की मार्मिक गाथा का दस्तावेज है वहीं सभी लोगों के लिए अनिवार्य रूप से पढ़नेवाला एक आदर्श उपन्यास भी है. अगर इसे आज की कामकाजी औरतें नहीं पढ़तीं तो जिंदगी में वे एक बेहतरीन सार्थक और यथार्थ पहलू से अनभिज्ञ रह जायेंगी. अगर मैं इसे दफ्तरों में नयी और पुरानी नौकरी करनेवाली कामकाजी औरतों की आधुनिक गीता कहूं तो कोई अतिशयोक्ति न होगी.

□ डॉ. जगमोहन चौपड़ा

युद्धरत : रमेश गुप्त,
राजेश प्रकाशन, ए 7/46, कृष्णा नगर, दिल्ली-110 051

सामाजिक संघर्ष के बीच पलता हुआ सपना

अध्यक्ष मंडल के आदरणीय सदस्यगण, मंच पर बैठे बुजुर्ग और साथी, मैं किस-किस का नाम गिनाऊं? गुना के निवासी बंधुओं, कोने-कोने से आने वाले लेखक बंधुओ, आपने मुझे जो इज्जत बख्शी, मैं उसका आभार मानता हूं, ऐसा कहते हुए, अपने नाम को सार्थक करते हुए भीष्म साहनी ने 13 अक्तूबर, '89 को गुना में म.प्र. प्रगतिशील लेखक संघ के पांचवें राज्य सम्मेलन का उद्घाटन किया. उन्होंने आगे कहा, मुझे अपने साथियों से मिलकर बल मिलता है. आशाओं को, विश्वासों को बल मिलता है. अगर मेरे बस में होता तो मैं प्रत्येक सम्मेलन में सर के बल पहुंचता. आज मुझ बहुत से समर्पित साथी याद आ रहे हैं. प्रलेस के आंदोलन को सज्जाद जहीर ने, फैज ने, कृश्नचंदर ने, प्रेमचंद ने अपनी जिंदगियां दी हैं. अनेक मित्रों के योगदान को हम नहीं जान पाते जो इस आंदोलन में नींव के पत्थर हुए पर उन साथियों की देन को हम नहीं भूल सकते.

मुझे याद है कि जब इप्टा में सक्रिय रूप से काम करता था. ख्वाजा अहमद अब्बास के नाटक को हम दंगाग्रस्त क्षेत्रों के बीच खेलने जाया करते थे. बंबई में मोहम्मद अली रोड पर हमने पथराव के बीच भी अपने नाटक जारी रखे हैं. दर्शन, रवि, सुमित और पाश के बलिदान को हम नहीं भूल सकते. 100 से अधिक लेखक पंजाब में गोली के शिकार हो गये. हम लगातार संघर्षरत हैं फिर भी देश की परिस्थिति को पूरी तरह मोड़ने में आज हम सक्षम नहीं हैं. फिर भी प्रगतिशील लेखक संघ की विचारधारा को हम लोगों के बीच लगातार फैला रहे हैं. हमें सफलता अवश्य मिलेगी. इस लहर में शिथिलता और उतार चढ़ाव आये. आज दंगों को रोकने के लिए जाखिम उठाने की शक्ति और प्रेरणा आंदोलन से ही मिलती है.

सांस्कृतिक क्षेत्र के मंच पर हम मानता के आधार पर इकट्ठा हुए हैं. अपने अतीत की सुंदर संस्कृति को आंखों की पलकों में उठाकर रखते हुए धर्मांधता का विरोध करना आज की जिंदगी से जुड़ना है वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना है. प्रलेस के आंदोलन ने समाज और विश्व को, एक अंतर्राष्ट्रीय दी है. इसी दौरान मुकेश जैन ने भीष्मजी का एक पोर्ट्रेट बनाकर उन्हें भेंट किया. यशवत व्यास ने भीष्म साहनी पर केंद्रित एक लघु पुस्तिका भेंट की इसी क्रम में हरिशंकर परसाई, अमृतलाल नागर, रामविलास शर्मा, गुरुदयाल सिंह, विष्णु प्रभाकर, इंद्रनाथ चौधरी के शुभकामना संदेश का डॉ. रमाकांत श्रीवास्तव द्वारा वाचन किया गया. वे 15 अक्टूबर को सर्वसम्मति से म.प्र. प्रगतिशील लेखक संघ मे महासचिव चुने गये. इप्टा के साथियों द्वारा "ऐ साक नसीनों उठ बैठा" और "मार हथोड़ा कर-कर चोट" जैसे जनगीतों द्वारा भीष्मजी का सम्मान किया गया. राष्ट्रीय प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव राजीव सक्सेना द्वारा प्रमोद वर्मा, खगेंद्र ठाकुर, विश्वनाथ त्रिपाठी, डॉ. विजय अग्रवाल और हेमलता की पुस्तकों का विमोजन किया गया. वसुधा, आदमी ऋतुगंध और आकंठ के नये अंकों को जारी करते हुए केदारनाथ सिंह ने कहा, "लघुपत्रिका आंदोलन रचनाकारों की ओर से स्वतः स्फूर्त होकर आया था. बीच में जड़ता, विकृति और भटकाव भी आया. अनेक पत्रिकाएं जागृत हुईं. उन नये लेखकों को साथ लेकर ये पत्रिकाएं सक्षम रूप से सामने आ रही हैं. म.प्र. प्रगतिशील लेखक संघ महासचिव ज्ञानरंजन ने आंदोलन की गतिविधियों का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया.

प्रगतिशील लेखक संघ के आंदोलन के कंधे से कंधा मिलाकर चलनेवाले हम-कदम साथी शिवकुमार सहाय ने 'परिमल प्रकाशन' की ओर से दो पुरस्कारों के शुभारंभ की घोषणा की. 501 रुपये का 'सोमदत्त पुरस्कार' 'उस आदमी के उठने तक' काव्य संग्रह के लिए हरिशंकर अग्रवाल को और 501 रुपये का 'राजेश्वर सिंह पुरस्कार' 'हाते के बाहर' कहानी संग्रह के लिए शीतेंद्र नाथ चौधरी को प्रदान किया गया. इसी क्रम में पूरनचंद्र जैन ने अहर्निश, अनवरत काम करनेवाले साथियों को स्वागत व अभिनंदन किया.

म.प्र. प्रगतिशील कलाकार संघ द्वारा राजीव शुक्ला के संयोजन में लगायी गयी 'कला प्रदर्शनी' का उद्घाटन करते हुए भाऊ समर्थ ने कहा, "चित्रों और प्रदर्शनी के माध्यम से साहित्य आम जनता के बीच, जनता का स्वागत करने के लिए बीच रास्ते पर आ गया है. ये कृतियां हमारे आंदोलन को गति देने में सक्षम और समर्थ हैं. इन रचनाओं में बेहतर दुनिया बनाने की ओर बढ़ते हुए कदम हैं."

14 अक्टूबर को सुबह और शाम के सत्र में क्रमशः कर्मेंद्र, शिशिर और भगनंदन त्रिपाठी द्वारा दो आलेख पढ़े गये. संचालन भगवत रावत और डॉ. मलय ने किया.पर्दे के पीछे पूरी हिम्मत ताकत और विश्वास के साथ कुमार अंबुज और सत्येंद्र रघुवंशी सहित गुना और अशोक नगर के ढेर सारे साथियों की दिन और रात के अनवरत परिश्रम और समर्पण की भावना को व्यक्त करने के लिए मेरे पास शब्द नहीं है, जिनके दम खम पर यह आयोजन सफल हुआ. □

प्रस्तुति : महावीर अग्रवाल

भविष्य के लिए शिक्षा-एक अनुशीलन

□ डॉ. भगवतीशरण मिश्र

□ कुंवर नटवर सिंह बोलते हुए

"स्वतंत्रता के पश्चात् भी हम शिक्षा के क्षेत्र में बहुत अधिक प्रगति नहीं कर सके हैं. भारत में साक्षरता का औसत अभी पचास प्रतिशत भी नहीं है." यह विचार था विदेश राज्य मंत्री श्री नटवर सिंह का, जिन्होंने ब्रज अकादमी, वृंदावन के दशम, वार्षिक समारोह का उद्घाटन करते हुए व्यक्त किया. इस अवसर पर अकादमी की ओर से 'भविष्य के लिए शिक्षा' विषय पर एक संगोष्ठी भी आयोजित की गयी थी. श्री सिंह ने इस दिशा में किये जा रहे ब्रज-अकादमी विशेषकर, अकादमी के प्राण श्री श्रीपाद बाबाजी के प्रयासों की सराहना की और कहा सरकार अकादमी के लक्ष्यों की प्राप्ति में आवश्यक सहयोग करने में पीछे नहीं रहेगी.

अपने उद्बोधन-भाषण में श्री श्रीपाद बाबा ने अत्यंत प्रांजल और प्रेरक भाषा में कहा कि ब्रजभूमि की रस-संस्कृति अक्षुण्ण है और शताब्दियों से ब्रज के साधु-संतों और मनीषी चिंतकों ने अध्यात्म, भक्ति और विश्वबंधुत्व की जो रस-धार यहां प्रवाहित की है वह ब्रज की खोयी गरिमा को पुनर्स्थापित करके रहेगी.

इस समारोह की सबसे बड़ा आकर्षण रही मास्को विश्वविद्यालय की प्राच्य विद्यापीठ की आचार्या प्रो. नतालिया साजानोवा, जिन्होंने मुख्य अतिथि के रूप में बोलते हुए भारत की प्राचीन परंपरा और आधुनिक उपलब्धियों की चर्चा करते हुए शिक्षा को अध्यात्मोन्मुख बनाने पर जोर दिया. प्रसिद्ध छायावादी कवि जयशंकर प्रसाद की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए इस विदुषी महिला ने सबका मन मोह लिया और ब्रज अकादमी की उपलब्धियों और इसके सत्प्रयासों की भूरि-भूरि प्रशंसा की.

समारोह का शुभारंभ सर्व श्री वासुदेव कृष्ण चतुर्वेदी और श्री प्राण गोपालाचार्य के मंगलाचरण से हुआ. सर्व श्री लव-कुश ने संस्कृत श्लोकों के गान से समारोह के आरंभ को एक संगीतमय वातावरण प्रदान किया.

श्री देवी प्रसाद दुबे ने यह अभिलाषा प्रकट की कि ब्रज अकादमी को अपने महत् उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए शीघ्र ही एक विश्वविद्यालय में परिवर्तित कर देना उचित है. श्री दुबे ने यह भी सूचित किया कि तीर्थ यात्रा पर एक अंतर्राष्ट्रीय संगोष्ठी ब्रज अकादमी द्वारा आगामी वर्ष में आयोजित की जा रही है.

महत्वाकांक्षी औरत की कहानी : 'लालसा'
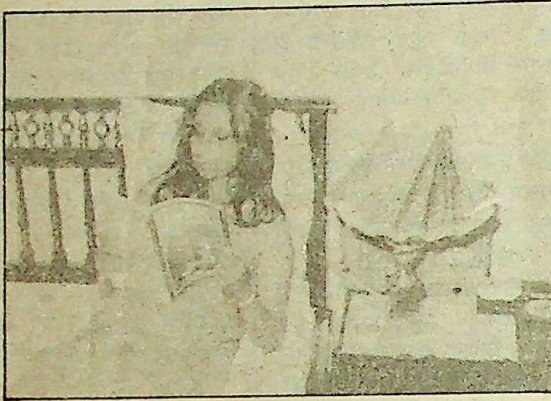
□ लालसा के एक भाव प्रवण दृश्य में जयश्री अरोड़ा

एक महत्वाकांक्षी नारी की कहानी है 'लालसा'. कहानी की नायिका मंजुला जीवन में खुशी का आधार ज्यादा से ज्यादा पैसा इकट्ठा कर लेना ही मानती है. एक दौलतमंद उद्योगपति की लालसा इस रूप में पूरी भी हो जाती है कि वह जयकिशन साहनी नाम के एक उद्योगपति से विवाह कर लेती है. पर यहीं से शुरू होता है मंजुला का अकेलापन... क्योंकि उसका पति अत्यधिक व्यस्त रहने के कारण घर पर अधिक समय नहीं दे पाता. बीमार और दुखी मंजुला डाक्टर चौधरी के संपर्क में आती है. यह निकटता इतनी बढ़ जाती है कि चौधरी से मंजुला के विवाहेतर संबंध हो जाते हैं. पति का घर छोड़कर मंजुला उसके साथ रहने का मन बनाकर चौधरी के घर जाती है... पर आश्चर्यजनक रूप से चौधरी उसे साथ रखने से इनकार कर देता है. कुंठित मंजुला अब अलग घर लेकर रहना शुरू कर देती है. यह स्थिति देख उसकी कालेज के दिनों की मित्र विमि जय और मंजुला से अलग-अलग मिलती है. यह मुलाकात असरदार साबित होती है और दोनों को ही अपनी-अपनी भूल का एहसास होता है. विमि जय को इस रूप में तैयार कर लेती है कि वह जाकर मंजुला से मिले. विमि की कोशिशें रंग लाती हैं और वह जाकर मंजुला को वापस घर ले आता है. दोनों साथ-साथ रहने लगते हैं. मंजुला समझ जाती है कि खुशी परिवार तोड़कर हासिल नहीं की जा सकती. बेमतलब डोलते रहने से भी इसे हासिल नहीं किया जा सकता. जय भी यह तय कर लेता है कि वह घर पर अब ज्यादा समय दिया करेगा. अतः खुशी लौट ही आती है. 'लालसा' को सार्थक अभिव्यक्ति देने वाला यह धारावाहिक दूरदर्शन पर दोपहर के वक्त प्रत्येक बुधवार को दिखाया जा रहा है. इसकी निर्देशक हैं—कंचन वर्मा और सहनिर्देशक हैं—शशि सक्सेना. जानेमाने दूरदर्शन कलाकार एस.एम. जहीर, जयश्री अरोड़ा, सुधीर जैन, विनीता मलिक और सोमनाथ नागर इस धारावाहिक में प्रमुख भूमिकाएं अभिनीत कर रहे हैं. धारावाहिक के प्रोड्यूसर हैं—डी.पी. रल्हन.

'के.आर. फिल्म्स' के लिए इस धारावाहिक की कहानी, स्क्रीन-प्ले और संवाद-लेखन का काम किया है जाने-माने कथाकार प्रदीप पंत ने. टूटते परिवारों की बढ़ती हुई संख्या को देखते हुए ऐसे धारावाहिक महत्वपूर्ण साबित हो सकते हैं. □

राजस्थानी अकादमी का आंचलिक सम्मेलन

राजस्थानी भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अकादमी बीकानेर के सहयोग से ग्राम मंच के तत्वावधान में बीकानेर संभाग के साहित्यकारों का आंचलिक सम्मेलन दिनांक 1 व 2 अक्तूबर को श्रीगंगानगर में संपन्न हुआ.

इस दो दिवसीय सम्मेलन का उद्घाटन राजस्थानी के प्रख्यात कथाकार श्री अन्नाराम सुदामा ने दीप प्रज्वलित कर किया. इस अवसर पर श्री सुदामा ने उपस्थित लेखकों को संबोधित करते हुए कहा, "साहित्य दुःख और आनंद की पराकाष्ठा से उपजता है. सुख-दुःख और संवेदना की कोई जाति नहीं होती. साहित्यकारों को समाज को वह साहित्य देना चाहिए जो दूरिया कम करे. वर्तमान में देश में निर्भीकता नहीं है. सत् साहित्य निर्भीकता से पनपता है. आज देश और देश की मिट्टी के प्रति किसी की भी ममता नहीं है."

समारोह के द्वितीय सत्र विभिन्न कथाकारों द्वारा क वाचन और कथाओं पर समीक्ष की गयीं.

रात्रि को राजस्थानी के न गीतकार श्री गजानन वर्मा अध्यक्षता में एक कवि सम्म का आयोजन किया गया.

दूसरे दिन 2 अक्तूबर राजस्थानी भाषा, साहित्य संस्कृति पर सर्वश्री भंवर सामोर, सवाई सिंह शेखावत डॉ. परमेश्वर सोलंकी व्याख्यान हुए.

इस अवसर पर राजस्थ भाषा, साहित्य और संस्कृति विशिष्ट सेवा के लिए सर्व श्याम महर्षि और रूपराम अकादमी और ग्राम मंच की से सम्मानित किया गया.

इस दो दिवसीय आंचलि सम्मेलन में बीकानेर संभाग लगभग 125 साहित्यकारों भाग लिया.

दुर्गे

हिंदी राष्ट्रीय एकता की संजीवनी

महामहिम उपराष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा ने हिं अकादमी, दिल्ली द्वारा हिंदी पखवाड़े के उपलक्ष्य प्रकाशित ग्रंथ 'संकल्प' का विमोचन करते हुए कहा कि "हिंदी देश को जोड़नेवाली भाषा के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता की संजीवनी शक्ति है. इसलिए हिंदी-भाषा और साहित्य की सेवा के लिए उठाया गया हर कदम सराहना के योग्य है." 'संकल्प' ग्रंथ की प्रशंसा करते हुए महामहिम उपराष्ट्रपति ने कहा कि "इसमें प्रकाशित प्रतिष्ठित विद्वानों के लेख हिंदी की सेवा के लिए नयी प्रेरणा देंगे." उन्होंने यह सुझाव भी दिया कि "आज चारों ओर के वातावरण को देखते हुए हिंदी में ऐसी छोटी-छोटी पुस्तकें भी प्रकाशित की जानी चाहिए जिनमें देश के बारे में जानकारी हो तथा हमारी संस्कृति, इतिहास और साहित्य के बारे में विचार हों ताकि नयी पीढ़ी को स्वतंत्रता आंदोलन, शहीदों की कुर्बानी और हमारी सांस्कृतिक धरोहर की सच्ची जानकारी मिल सके."

इस अवसर पर राजधानी के अनेक विद्वान, लेखक, कवि साहित्यकार, बुद्धिजीवी और पत्रकारों की उपस्थिति में महामहिम उपराष्ट्रपति को अकादमी का प्रतीक चिह्न एवं साहित्य भी भेंट किया गया.

पारसनाथ बुल्ली की गजलें

जन्म : 1954 गाजीपुर
एक दशक से भी अधिक समय से गजल लेखन में सक्रिय.
संप्रति : निरीक्षक सेंट्रल एक्साइज विभाग, गाजियाबाद, उ.प्र.
संपर्क : 524 कमला नेहरू नगर, गाजियाबाद (उ.प्र.)

एक
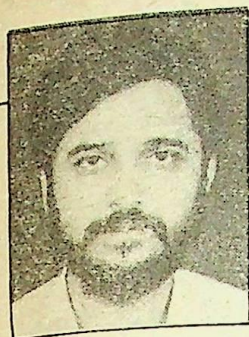
किसी विचार को लेकर जिहाद छिड़ती है,
तभी निजात की सूरत कहीं निकलती है.

जबान अपनी कहानी कभी नहीं कहती,
ये आदमी के तजुर्बों के साथ चलती है.

कभी वो बुद्ध, कभी मार्क्स और कभी गांधी,
विरोध करने की आदत कहां बदलती है.

ये दर्द आज तुम्हें किसलिए लगा जंगली,
महानगर की जिसे कोख नित्य जनती है.

मैं मोहभंग के पश्चात रह गया तन्हां,
यहीं से मेरी कलम जंग में उतरती है.

मैं सिर्फ अपने लिए जी के क्या करूं भाई,
ये कह के चेतना सारे जहां से जुड़ती है.

कला के पारखी नारों से डर गये 'पारस',
गजल विरोध के स्वर में उन्हें अखरती है.

दो

माहौल में जिस शख्स के रहने से घुटन है,
अफसोस उसी शख्स के कब्जे में चमन है.

जलसे की सदारत के लिए आये हैं हजरत,
पूछे कोई उनसे कि उन्हें शौके सुखन है.

आराम के सामान बहुत हो गये लेकिन,
इस दौर के इंसान के हिस्से में थकन है.

इक मस्त बड़े जोर से ये कह के हंसा था,
पैसे की जोड़ तोड़ में, बंदों की लगन है.

आवाज निकलते ही कई तीर चलेंगे,
खामोश ही रहने का, जमाने में चलन है.

तुम किसको जगाते हो जरा सोच लो 'पारस',
लोगों के तो जहनों में बसा कुंभकरन है.

तीन

ख्वाब की अंधी सुरंगों में चला जाता नहीं,
अब अलग लैला के किस्सों में मजा आता नहीं.

आप पूजा कीजिये या कत्ल करके आइये,
आपके अच्छे बुरे से शहर का नाता नहीं.

अपनी चादर से सफेदी जब से मैंने नौंच ली,
मैं किसी भी दाग से, धब्बे से घबराता नहीं.

राह के पत्थर को ही बागी बना ऐ संगतराश,
सर उठाकर शाह राहों से कोई आता नहीं.

फासला कायम रहे, साहब का ये इरशाद है,
और हमसे दरिंदों में अब रहा जाता नहीं.

झूमकर कैसे उसे हम दाद दें 'पारस' बता,
वो गजल पढ़ता है लेकिन वो गजल गाता नहीं.

चूहा पुराण.
चूहा, सरकारी हस्पताल के डॉक्टर का.
सूँ...कल
जुकाम लगा
है - सोचता
क्यों न
का इंजैक्शन
लिया जाए.
चूहा, बैंक मैनेजर का.
अरे! तुम्हारे बिल का तो पूरा एक सेंटीमीटर पलस्तर उखड़ा हुआ है - चलो मैं तुम्हें सरकार से लोन दिलवाता हूं - पचास हजार की डिमांड काफी रहेगी न.
चूहा, जाने माने सम्पादक का.
जितना आनंद रचनाएँ फाड़ फाड़ कर फेंकने में है उतना तो कुतरने में भी नहीं.
अस्वीकृत
चूहा, क्रिकेट अम्पायर का.
कह दिया न एक बार कि मायके चली जाओ - तुम्हें मालूम नहीं कि हम लोग अपना निर्णय नहीं बदलते - चाहे वो कितना भी गलत क्यों न हो.
चुहिया, बम्बई की फिल्म हीरोइन की.
अरे! ऐसे कपड़े तो मैं सिर्फ तभी पहनती हूं जब 'सीन' की 'डिमांड' हो.
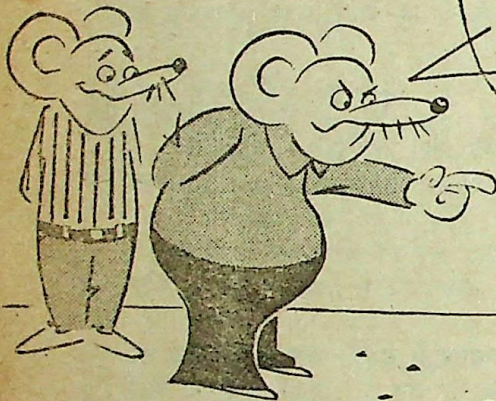
गपशप
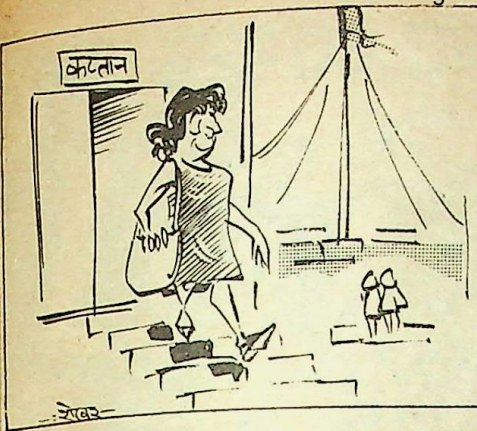
श्रीमान 'क' की प्रेमिका उस दिन अपनी नयी चमचमाती साइकल से उतरी और खुश होकर दोनों हाथ फैलाकर श्रीमान 'क' से बोली, "आज मैं बहुत खुश हूं. तुम जो चाहे मुझसे ले सकते हो."

श्रीमान 'क' ने आव देख न ताव.

अपनी प्रेमिका की साइकल के पैडल पर पैर रखा और रफूचक्कर हो गये.

एक अस्सी वर्षीय कुंवारे सज्जन अपने डाक्टर मित्र के पास गये और गंभीर स्वर में बोले, "डाक्टर, मैं शादी करना चाहता हूं. जब मैं मरूं तो मेरा कोई वारिस तो हो."

डाक्टर ने सलाह दी, "इरादा बुरा नहीं है पर यदि वारिस चाहिए हो तो एक पेइंग गेस्ट जरूर रख लेना."
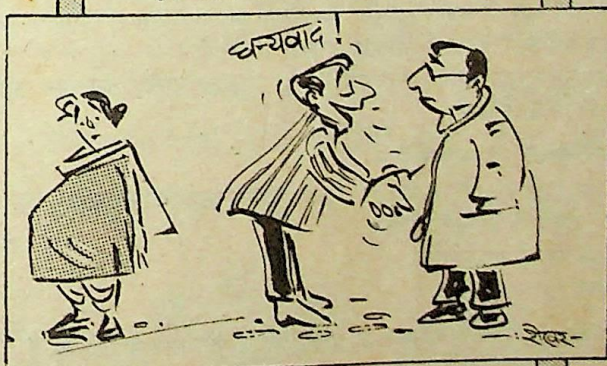
तीन चार महीने बाद वह फिर डाक्टर से मिले और उनका आभार प्रकट करते हुए बोले, "बहुत-बहुत धन्यवाद डाक्टर, अब मुझे वारिस मिल जायेगा."

"क्या तुमने पेइंग-गेस्ट रखा था."

"रखा नहीं रखी. और अब वह प्रेग्नेंट है."

समुद्री यात्रा कर रही एक युवती की डायरी के कुछ पृष्ठ :

पहला दिन : आज मैं बहुत खुश हूं, स्वयं जहाज के कप्तान ने आकर मुझसे कहा है कि अगले दिन वह मुझे जहाज की सैर करायेगा. यात्रा कर रहे 500 लोगों में से यह सम्मान केवल मुझे ही मिल रहा था.

दूसरा दिन : कप्तान के साथ काफी देर घूमने के बाद उसने मुझसे कहा कि या तो मैं रात को उसके केबिन में आ जाऊं वरना वह कल पूरे जहाज को समुद्र में डुबो देगा.

तीसरा दिन : और मैंने 500 यात्रियों को मरने से बचा लिया.

श्रीमान कई डाक्टरों को दिखा चुके थे पर कोई उनके रोग को समझ नहीं पा रहा था. किसी ने उन्हें मनोचिकित्सक के पास जाने की सलाह दी.

मनोचिकित्सक ने उनसे कहा, "तुम हमेशा यही सोचो कि दिन-ब-दिन तुम ठीक होते जा रहे हो."

एक हफ्ते बाद जब श्रीमान 'क' फिर से उसके पास गये तो उसने पूछा, "कहिए, अब आपको कैसा लग रहा है?"

"डाक्टर साहब, दिन में तो लगता है ठीक हूं, पर रात को फिर से बेचैनी होने लगती है." श्रीमान 'क' का जवाब था.

श्रीमान 'क' की पत्नी से उनकी सहेली ने पूछा, "बहुत लोग कहते हैं कि तुम्हारे पति बिल्कुल किताबी कीड़े हैं."

"तुम्हारी आधी बात तो सही है." श्रीमति 'क' कुछ सोचते हुए बोली, "किताबी तो नहीं हैं."

श्रीमान 'क' को अपनी पत्नी से बहुत प्रेम था. एक बार किसी ने उनसे कहा कि उनकी पत्नी किसी परपुरुष से प्रेम करती है और वह व्यक्ति रोज दिन में उनके घर आता है. श्रीमान 'क' इस बात की सचाई जांचने के लिए दिन में अचानक घर आ गये. घंटी बजायी. पत्नी ने दरवाजा खोलने में काफी देर की तो श्रीमान जी का शक बढ़ा. जब वे घर के अंदर घुसे तो उन्होंने देखा कि उनकी पत्नी घबरायी नजरों से बार-बार बालकनी की तरफ देख रही है. वे सीधे बालकनी में आ गये. बाहर देखा कि एक आदमी सड़क पर तेजी से भाग रहा है. अब तो उन्हें जरा भी शक नहीं रहा कि वही उनकी पत्नी का प्रेमी है और उनसे डरकर भाग रहा है. वहीं एक लकड़ी का पुराना बक्सा पड़ा था. श्रीमान 'क' ने उसे ही उठाया और भागते हुए आदमी पर फेंक मारा. वह आदमी वहीं ढेर हो गया.

पत्नी की बेवफाई से श्रीमान 'क' को इतना आघात पहुंचा कि वे भी वहीं ढेर हो गये.

कुछ ही देर बार श्रीमान 'क' चित्रगुप्त के पी.ए. के सामने लगी लाइन में थे. सब लोग अपने-अपने आने का ब्यौरा दे रहे थे. उनके आगे दो व्यक्ति थे.

पहले ने बताया : मैं बस पकड़ने के लिए तेजी से भाग रहा था कि कहीं से एक बक्सा मेरे ऊपर आ गिरा और मैं मर गया.

श्रीमान 'क' को बड़ा पछतावा हुआ कि उन्होंने बेकार अपनी पत्नी पर शक किया. यहां तो मामला ही दूसरा था.

दूसरे का बयान था : मैं तो उस बक्से के भीतर था जिसे इन श्रीमान ने फेंका था. □

उत्तर रेलवे आपके नित्य जीवन का अभिन्न अंग
UREA
ज़रा विचार कीजिए !
उत्तर रेलवे आपके जीवन को
अनगिनत तरीकों से किस प्रकार
आनन्ददायी बनाती है।
सामाजिक जीवन का शायद ही कोई ऐसा
पक्ष हो, जिसका रेलवे से सम्पर्क न हो। हम रेलकर्मी
कर्म को ही धर्म मानते हैं।
ऐसी जीवन दायिनी रेखा है जो करोड़ों को भोजन, ईंधन
और ऊर्जा उपलब्ध कराती है।
रेलवे विभिन्न क्षेत्रों को एक सूत्र में पिरोने वाली कड़ी है – भिन्न को
अभिन्न बनाती है।
उत्तर रेलवे आपके आराम को अधिक आनन्ददायी बनाने की चेष्टा में संलग्न है।
यह आपको विभिन्न प्राकृतिक स्थलों – राजस्थान के रेगिस्तानों से हिमालय की
हिमाच्छादित बर्फ़ीली चोटियों तथा पंजाब, हरियाणा व उत्तर प्रदेश के हरे-भरे मैदानों में ले
जाती है।
उत्तरी भारत में रेलवे लगभग सवा सौ वर्षों से राष्ट्रीय विकास के प्रत्येक प्रयास – परिवहन, हरित क्रांति,
ऊर्जा उत्पादन, तीव्र औद्योगीकरण आदि में सक्रिय योगदान दे रही है।
उत्तर रेलवे प्रतिदिन 900 मेल/एक्सप्रेस एवं सवारी गाड़ियों में 11 लाख यात्रियों का वहन करती है। साथ ही
प्रतिदिन 2 लाख टन माल ढोया जाता है।
उत्तर रेलवे की दैनिक गतिविधियों में शामिल हैं –
– 47,000 टन अनाज का उत्तर के उपजाऊ क्षेत्र से देश के विभिन्न भागों को परिवहन.
– 62,000 टन कोयला, उद्योगों के लिए पहुँचाना.
– 15,000 टन पेट्रोलियम पदार्थों का यातायात.
– 17,000 टन खाद ढोना.
ये सब देश में आत्म-विश्वास तथा आत्म-सम्मान की भावना की जागृति लाने में सहायक हैं।
रेल पटरियों का जाल, जीवन दायिनी शिराओं और धमनियों की भांति काम कर रहा है।
उत्तर रेलवे करोड़ों देश वासियों के भविष्य को उज्ज्वल बनाने में सतत प्रयत्नशील है।
भारतीय रेल
उत्तर रेलवे
उत्तरी क्षितिज में स्थिर और निरंतर चमकता हुआ नक्षत्र है – उत्तर रेलवे
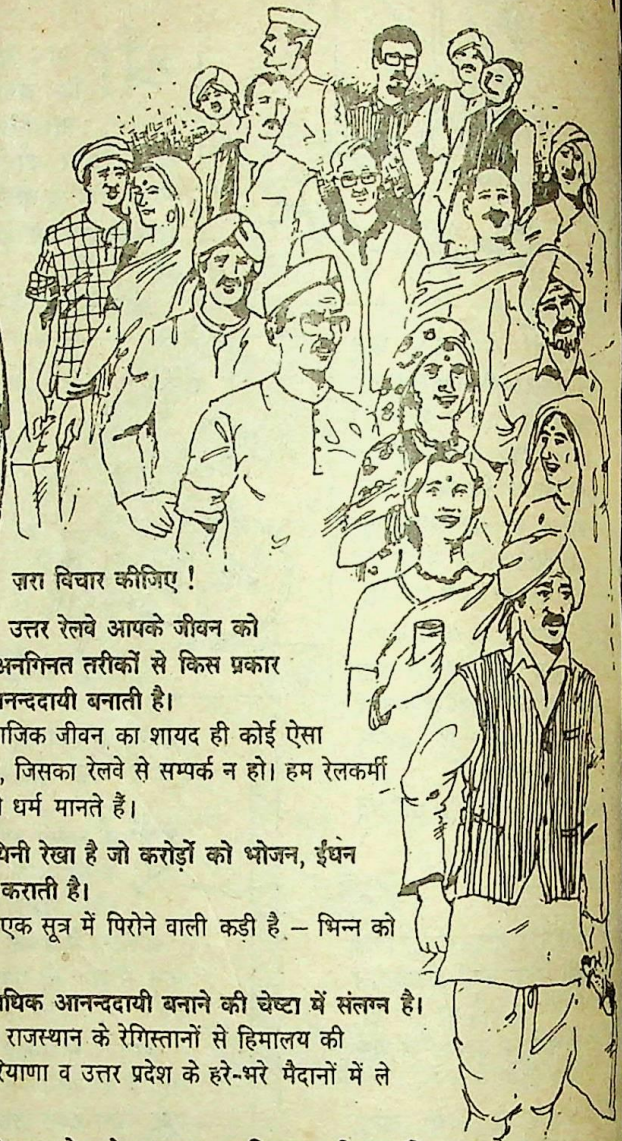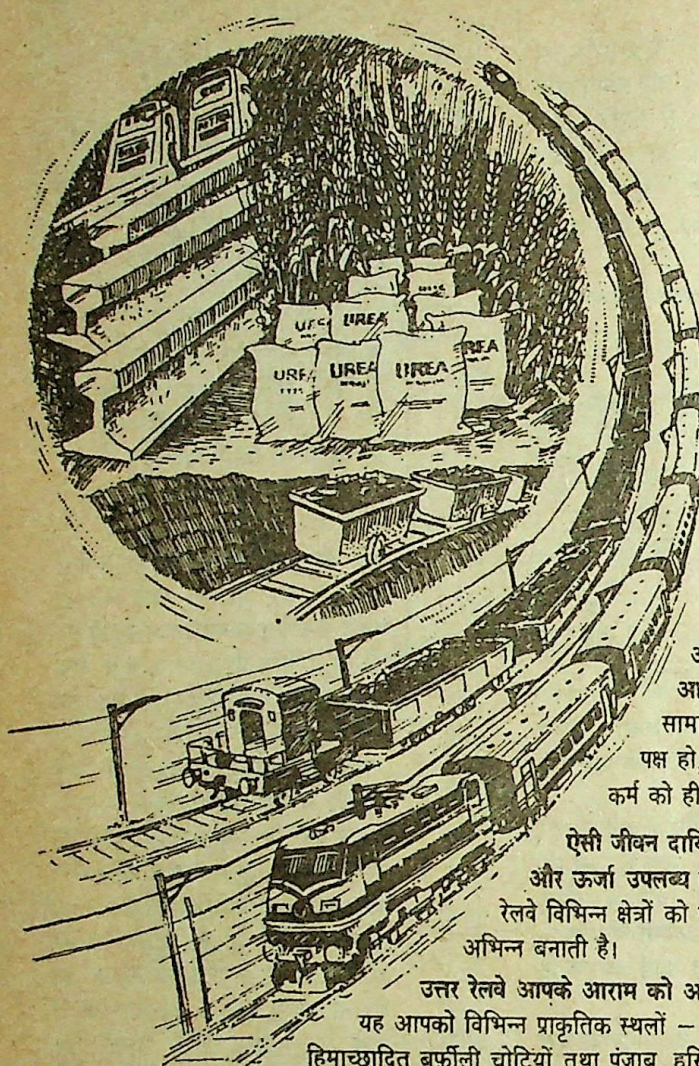
बैनेट कोलमैन एंड कं. लिमिटेड, स्वत्वाधिकारी के लिए रमेश चंद्र द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, 10 दरियागंज नयी दिल्ली-110002 से मुद्रित व प्रकाशित. पंजी. कार्यालय, डॉ. दादाभाई नौरोजी रोड, बंबई-400001. शाखाएं, 7 बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नयी दिल्ली-110002; 139, आश्रम रोड, अहमदाबाद-380009; 105/7 ए, एस. एन. बनर्जी रोड, कलकत्ता-700014; एस. एंड बी. टावर्स, 88, महात्मा गांधी रोड, बंगलौर-560001; 8-9 अनुपम चैंबर्स, टोंक रोड, जयपुर-302004.

U-89
Regn. No. G6/TN/MS
Regn. No. KRN/BG/C
RJ 2954
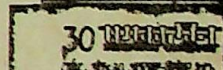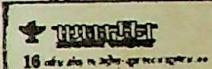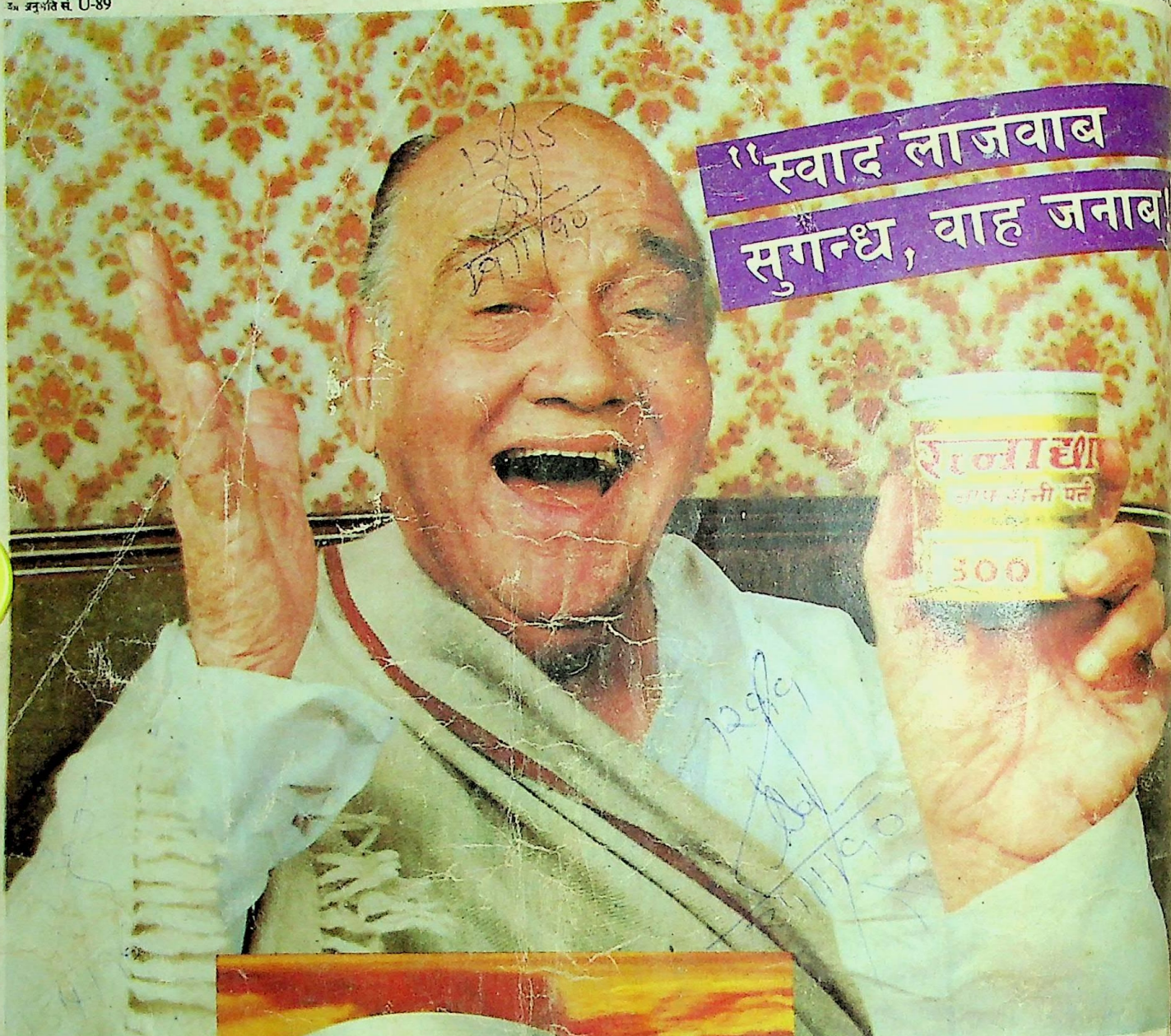
डायमंड पाकेट बुक्स में

ओशो रजनीश

का

भगवान शिव पर

आध्यात्मिक

चिंतन
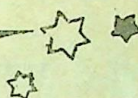
ओशो रजनीश का

आलौकिक साहित्य अल्पमोली पेपर बैक संस्करण में उपलब्ध है।

शिवसाधना	10.00
शिव दर्शन	10.00
कुंडलिनी यात्रा	10.00
कुंडलिनी जागरण और शक्तिपात	10.00
कुंडलिनी और सात शरीर	10.00
कुंडलिनी और तंत्र	10.00
जात हमारी ब्रह्म है	10.00
सुखिया सब संसार दुखिया दास कबीर	10.00
जोतहि जोति समानी	10.00
मन लागा यार फकीरी में	10.00
कृष्ण:गुरू भी सखा भी	10.00
कृष्ण:जिज्ञासा खोज उपलब्धि	10.00
साक्षी कृष्ण और रासलीला	10.00
कृष्ण : साधना रहित सिद्धि	10.00
कृष्ण और हंसता हुआ धर्म	10.00
संभोग से समाधि की ओर-I	10.00
संभोग से समाधि की ओर-II	10.00
संभोग से समाधि की ओर-III	10.00
संभोग से समाधि की ओर-IV	10.00
गुरू गोविन्द दोउ खड़े	10.00
हीरा पायो गांठ गठियायो	10.00
मेरे तो गिरधर गोपाल	10.00
राम नाम रस पीजै	10.00
राम नाम निज औषधि	10.00
दादू सहजै देखिए	10.00
नहीं जोग नहीं जाप	10.00
जित देखूं तित तूं	10.00
तेरा साईं तुज्झ में	10.00
निरगुन का बिसराम	10.00
लिखा लिखी की है नहीं	10.00
दरिया झूठ सो झूठ है	10.00
योग दर्शन-5	5.00
योग दर्शन-6	5.00
योग दर्शन-7	5.00
योग दर्शन-8	5.00

डायमंड पाकेट बुक्स प्रा. लि. 2715, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

सारिका कथा पहेली

कथा पहेली

दिसंबर : 1989

सर्वशुद्ध हल

1. उषा प्रियंवदा द्वारा लिखी गयी 'प्रसंग' कहानी.
2. ममता कालिया की कहानी 'सुलेमान'.
3. लावण्य
4. 'अस्तराग'
5. 'भारतीय साहित्य में आध्यात्मिक चेतना' विषय पर आयोजित अखिल भारतीय संगोष्ठी के समाहारकर्ता विष्णु प्रभाकर.
6. मेहरुन्निसा परवेज की कहानी 'अपने होने का एहसास'.
7. चित्रा मुद्गल.
8. 'इंस्तिंजा का ढेला'
9. दास्ताने अलफ लैला उर्फ किस्सा हजार रातें के अंतर्गत प्रकाशित 'महिला द्वारपाल की कहानी'.
10. 'अपने होने का एहसास'

4000 प्रतियोगियों में इस बार सर्वशुद्ध हल भेजने वाली एक मात्र प्रतियोगी हैं :-

श्रीमती मधुरिमा दीक्षित
द्वारा श्री दिनेश दीक्षित
105/13, दीक्षित बाग,
झांसी-284001

कहानियां गौर से पढ़िये और 200 रु. के पुरस्कार जीतिए!

'सारिका कथा पहेली' में भाग लेने के लिए आप सभी आमंत्रित हैं. प्रतियोगियों से अनुरोध है कि वे पूर्तियां इसी पृष्ठ पर भेजें. इस बार के प्रश्न जनवरी :1990 के अंक पर आधारित हैं. कार्यालय में पूर्तियां पहुंचने की अंतिम तारीख 25 फरवरी है. दूर-दराज के जिन इलाकों में पत्रिका देरी से पहुंचती है वहां के पाठक 25 तारीख के बाद भी पूर्तियां भेज सकते हैं... पर यह उल्लेख अवश्य होना चाहिए.

कथा पहेली : फरवरी : 1990

रिक्त स्थान भरिये...

1. युवा लेखकों के संदर्भ में अपने अतीत को झाड़-पोंछकर फेंक देने की बात कथाकार...ने उठायी है.
2. "प्रदर्शनी में यहां इन छवियों का चुनाव विद्यालय के बच्चों ने नहीं किया होगा. लगता है, इनमें से किसी छात्र का रिश्तेदार कॉलेज का कोई नक्सलाइट स्टूडेंट है, उसकी राय से बाववाले ये चित्र छांटे गये हैं."
   यह संवाद..में.. का है.
3. नये स्तंभों में सर्वाधिक आकर्षक स्तंभ..है.
4. महत्वाकांक्षी नारी के रूप में..को कहानी का आधार चरित्र बनाया गया है.
5. यह पात्र जिन कहानियों के हैं उनके नाम कोष्ठक में लिखें—
   पारबती [   ], विनोद [   ]
   हरि [   ], दामोदर [   ].
6. 'रक्षक ही भक्षक बने' की बात..की रचना..पर लागू होती है.
7. ....के अंत में पात्रों की आंखों में तैरता अपराधबोध रचना को प्रभावपूर्ण बना गया है.
8. "कभी भी अधूरी छूट जाने के लिए अभिशप्त एक अंतहीन यात्रा ही क्या हमारी नियति है?" कथाकार का यह प्रश्न..से लिया गया है.
9. इस अंक की सर्वश्रेष्ठ रचना..है.

नाम : ______________________

पता : ______________________

विश्व-प्रसिद्ध शृंखला

जनरुचि के 50 लघु विश्वकोशों की एक अनूठी संग्रहणीय शृंखला

मूल्य: 18/- प्रत्येक
डाकखर्च: 4/- प्रत्येक
एक साथ चार पुस्तकें
मंगाने पर डाकखर्च माफ

■ प्रामाणिक पाठ्य-सामग्री ■ प्रत्येक पुस्तक सैकड़ों दुर्लभ चित्रों से सुसज्जित ■ सरस कथा शैली ■ फोटोटाइप सैट ■ बढ़िया कागज पर ऑफसैट छपाई ■ बहुरंगी आवरण ■ वाजिब दाम

इस शृंखला का मूल उद्देश्य एक औसत पाठक को अंतर्राष्ट्रीय घटनाचक्र से जोड़कर उसकी चेतना को प्रबुद्ध करते हुए उसके ज्ञान-क्षेत्र का विस्तार है।

उदाहरणार्थ **रोमांचक कारनामे** में सरकंडे की नाव में की गई 13,000 मील की समुद्री यात्रा जैसी अनेक सच्ची कथाएं हैं तो **खोजें** में मिट्टी के तेल, पेनिसीलीन आदि खोजों के पीछे छिपे प्रयासों का रोचक विवरण है। **अनसुलझे रहस्य** में बरमूदा ट्राइएंगल से लेकर रक्त मिलाकर शराब पीने वाली जातियों तक के रहस्य हैं तो **खेल और खिलाड़ी, 101 व्यक्तित्व** व **वैज्ञानिक** जीवनी-प्रधान पुस्तकें हैं। **विनाश-लीलाएं** व **दुर्घटनाएं** में मर्मांतक तबाहियों का लेखा-जोखा है तो **गुप्तचर संस्थाएं, जासूस** व **जासूसी कांड** में जासूसों की रोमांचकारी गतिविधियां हैं। **सभ्यताएं, मिथक एवं पुराण कथाएं** और **प्रेरक-प्रसंग** किसी भटके हुए मन के लिए प्रकाश-स्तंभ हैं तो **हत्यारे** में रक्त-पिपासु हैवानों की कथाएं हैं। **रोमांस-कथाएं** तथा **हस्तियों के प्रेम-प्रसंग** में लैला-मजनूं से लेकर हिटलर, कैनेडी, चार्ली चैपलिन, नेहरू जैसे व्यक्तियों के दिलों की धड़कनें हैं तो **अनमोल खजाने** में रहस्य और रोमांच से भरे खजाने हैं। **दुस्साहसिक खोज-यात्राएं** में कोलंबस, मार्को पोलो जैसे खोज-यात्रियों की गौरव-गाथाएं हैं तो **जन-क्रांतियां** में सभी महत्त्वपूर्ण क्रांतियों का ब्यौरा है। **भूत-प्रेत घटनाएं, अलौकिक रहस्य** तथा **मांसाहारी तथा अन्य विचित्र पेड़-पौधे** पढ़कर आपकी रातों की नींद उड़ जायेगी। **कुख्यात महिलाएं** व **विलासी सुंदरियां** में मर्लिन मनरो, जैक्लीन कैनेडी जैसी औरतों का निजी जीवन है तो **सनकी तानाशाह, राजनैतिक हत्याएं, तहलका-पलट घटनाएं** व **आतंकवादी संगठन** में आपको विश्व-कूटनीति का असली चेहरा दिखायी देगा।

कुल मिलाकर प्रत्येक पुस्तक अपने क्षेत्र से संबंधित सभी [illegible] वाला एक सचित्र **मिनि एनसाइक्लोपीडिया** है।

पुस्तक महल खारी बावली, दिल्ली-110006

[illegible] दरियागंज, नई दिल्ली-110002

अगला अंक

सारिका समय समाज और संस्कृति की पहचान

मार्च : 1990

हमने भी खूब कैमराकारिता की. जिसको आप कहते हैं चमचागिरी, उसे भी किया... खूब आगे-पीछे घूमे कैमरा लटकाए. गला से लेकर गली तक के फोटो खींचे. और बेहिसाब खींचे. आज भी राजनीति में टांग और फोटो खींचने-खिंचवाने के अलावा होता ही क्या है...?

राजनीति तो चलिए राजनीति है... पर समाज में क्या हो रहा है आजकल...? कोई गालिब के घर कोयले का डिपो खोल रहा है तो कोई पूछता है क्या वह आयेगी? कोई आलू की कीमत बढ़ा रहा है तो कोई अपने ही बारे में खुशफहमी पाल बैठा है. कोई क्रूर मजाक करने में लगा है तो कोई 'सरकार आयी है दरवाजे पर' दिखा रहा है. कोई अपना ही फोटो महान बता रहा है तो कोई राधेजी पर व्यंग्य लिखने से ही इनकार कर रहा है.

होली के खुशनुमा माहौल में
रंग-तरंग लिए प्रस्तुत है—

व्यंग्य-विनोद-अंक

इस बार संगत कर रहे हैं—
मुज्तबा हुसैन, गोपाल चतुर्वेदी, फिक्र तौंसवी, शिवानंद कामड़े, रमेश गुप्त, शेरजंग जांगली, पूरन सरमा, श्रीकांत चौधरी, विनोद शंकर शुक्ल. साथ में चालीस अन्य व्यंग्यकारों की लघु व्यंग्य कथाएं

तथा

अरुण प्रकाश की संपूर्ण उपन्यासिका.

कोंपल कथा

साथ ही

विशेष मॉरीशस कथा खंड

- अभिमन्यु अनत, रामदेव धुरंधर, विराम केवल, लोचन विदेशी और पूजानंद नेमा की कथा-रचनाएं व मॉरीशस की लोक-कथाएं.
- मुकेश जीबोध व धर्मानंद भट्ट की कविताएं.
- मॉरीशस की बाल फिल्म.
- महात्मा गांधी मॉरीशस में...

सारिका

समय, समाज और संस्कृति की पहचान

वर्ष : 30, अंक : 453, फरवरी : 1990

The Times of India
One Hundred and Fifty Years
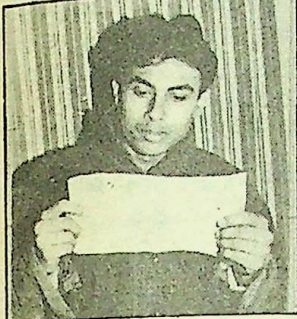
उपन्यास

उपन्यास

10. यूं होता तो क्या होता? :

अविनाश

"मैं तुम्हारी पीड़ा समझता हूं कामायनी. तुम्हारे साथ हुए व्यक्तिगत अन्याय और अपमान से जिस तरह तुम तड़पी हो, वह भी मैं समझता हूं. और इसके लिए स्वयं मैं भी बहुत कुछ अंशों में उत्तरदायी हूं. काश, मैंने उस समय तुम्हें वर लिया होता, तुम्हारे आत्मिक सौंदर्य को परख लिया होता, तो शायद तुम्हारी जिंदगी का इतना आहों भरा वीराना आशियाना न बनता, मंदाकिनी भी शायद इतनी गुमराह न हो पाती, अरुण का भी गम कम होता और ड्रग्स के चंगुल से बच जाता, चंद्रकांत अंकल को भी जिंदगी के चंद और हसीन लमहे जीने को मिल जाते—और, सबसे बड़ी बात यह होती कि एक अदद समूचा परिवार शायद इस तरह जलकर राख न होता. सोचता हूं कि गर यूं हुआ होता तो क्या होता? महज एक अदना से आदमी की अदना—सी हरकत से समूचे समाज की गतिविधियों को नया मोड़ मिल गया होता.

कथा रचनाएं

26. हो भी और नहीं भी :
हंसराज रहबर

30. पिशाच पुरुष :
यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'

38. पहली सवारी :
सुरेंद्र अरोड़ा

42. गुहार :
कृष्णा अग्निहोत्री

48. नाचो जी.आर. यार :
अमरीक सिंह दीप

56. मिर्जा दावत अली बेग :
मुज्तबा हुसैन

58. तीन सौ बाईस किलोमीटर :
प्रमोद सिनहा

धारावाही उपन्यास

52. लाल पसीना :
अभिमन्यु अनत

संस्मरण

35. भाभी जी :
अज्ञेय

स्थायी स्तंभ

8. आपकी बात
25. कविताएं : **नागार्जुन**
63. कृतियां
66. हलचल

आवरण :
गणेश पाइन की कलाकृति
बीर बहादुर

प्रकाशक :
रमेशचंद्र

संपादक :
अवधनारायण मुद्गल

उपसंपादक :
सुरेश उनियाल
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन

आवरण एवं सज्जा प्रबंधक :
लोकेश भार्गव

सीनियर मैनेजर विज्ञापन :
एस.एस. मेहता

मैनेजर रिसपांस :
डा. राजेंद्रपाल जैन

प्रोडक्शन :
हरेंद्र सिंह नेगी
उदेश कुमार

अंक सज्जा :
किनमिन

● **संपादकीय, विज्ञापन, प्रसार एवं व्यवस्था** : 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, दूरभाष : 3271911

● टाइम्स हाउस, 7 बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002 दूरभाष : 3312277, (20 लाइनें)

अन्य कार्यालय

● डा. दादाभाई नौरोजी मार्ग, बंबई-400 001.

● फ्रेजर रोड, पटना

● अनुपम चैंबर्स, टोंक रोड, जयपुर

● 33 आश्रम रोड, अहमदाबाद-1

● 13-1-2 गवर्नमेंट प्लेस ईस्ट, कलकत्ता-700 062

● 'गंगा गृह' तीसरी मंजिल 6-डी नगामबक्कम हाई रोड, मद्रास-600 034

● 88 महात्मा गांधी रोड, बंगलूर

● 407-1 तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411 002

ओझाओं की शिकार निर्मलाएं

'**भैसोंवाली गली**' गुजराती से अनुवादित कहानी (सारिका : दिसंबर 89) पढ़ी. आज भी देश में रूढ़ियों और अंधविश्वासों का शिकंजा इस कदर जकड़ा हुआ है कि उससे निकलने के लिए हमें कई दशकों को झेलना पड़ेगा. कारण इन कुरीतियों की जड़ें इतना गहरायी हुई हैं कि उन्हें छू-मंतर नहीं किया जा सकता. नश-नश में व्याप्त इन सामाजिक कुरीतियों से निजात पाने के लिए हमें मानसिक स्तर पर स्वस्थ एवं साफ होना पड़ेगा. जब तक हम इनसे जकड़े रहेंगे तब तक सैकड़ों हजारों निर्मला को ओझाओं का शिकार होते रहना पड़ेगा. जुल्म, शोषण, अत्याचार का विरोध न कर मात्र मनोरंजन की नुस्खा तलाशते रहने की मानसिकता जहां रहेगी वहां शिवराम ओझा विधवा निर्मला को प्रेतमुक्त करने के बहाने उसके शरीर को चाकू से मूली की तरह काटकर भरी भीड़ में नंगा कर उसके गुप्तांगों में मिर्च का चूरा ठूंसने के बाद भी गर्व महसूस करता रहेगा. अशोक जैसे विज्ञान के विद्यार्थी की आवाज शोर में खोकर उसका छटपटाकर रह जाने के सिवाय कोई चारा नहीं बचेगा.

□ **बंशीलाल बंशी, बोकारो**

ईगो से लगाव

कृष्ण बलदेव वैद की कहानी '**पुतला**' (दिसंबर 89) बहुत उत्कृष्ट एवं यथार्थपरक थी. मूल्यों में पारस्परिक प्रतिद्वंद्विता, जीवन की गतिशीलता व आधुनिकीकरण के लबादों ने इंसान के मस्तिष्क व स्नायुतंत्र को बेतरह उत्तेजित कर दिया है और व्यक्ति विशेष 'नेचुरल' एवं 'सुपर नेचुरल' के द्वंद्व में सदा फंसा रहता है. पूर्ण और अपूर्ण ये दो शब्द न सिर्फ प्रश्न बल्कि जीवन को 'एक्सीलरेट' करनेवाले 'ल्युब्रिकैंट' के रूप में परिणत हो चुके हैं जबकि वास्तविकता यह है कि कोई भी जड़ या चेतन इन दोनों में से किसी एक से समवेत सान्निध्य नहीं रख सकता, अंतर्मन में उभरी छवि को ही पूर्ण व शाश्वत के रूप में देखने का विश्वास ही समस्त कुंठा व आक्रोश का कारण है और यह कुंठा कभी फ्रस्टेशन, कभी टेंशन, कभी एक्जिविशनिज्म तो कभी शोडिज्म के रूप में प्रकट होकर मनोविज्ञान के विश्लेषकों को दिग्भ्रम में डाल देती है. दरअसल ईगो से लगाव व्यक्ति को निष्पक्षता से दूर करता जा रहा है और दैनिक जीवन में मानसिक द्वंद्व नियति बनती जा रही है.

□ **जयंत चक्रवर्ती, पटना सिटी**

विश्वसनीय नहीं?

दिसंबर अंक में प्रकाशित '**नरवंश**' उपन्यास ही कुछ अच्छा लगा.

आबिद सुरती की कहानी '**भैसोंवाली गली**' में विधवा की दुर्दशा अंध विश्वास, झाड़-फूंक का ऐसा वीभत्स चित्र खींचा गया है जो विश्वसनीय नहीं लगता. अमीर गरीब के अंतर पर लिखी '**घोड़ा**' भी प्रभावक नहीं है. आज की अंधी व्यवस्था पर तीखा व्यंग्यात्मक लेख है गोपाल चतुर्वेदी का '**सरकार, संस्कृति और पुरस्कार**' जो पठनीय है दरोगाजी, विधायक और मौलाना किस प्रकार गरीबों को फंसाकर लूटते हैं इसे **डाकू ओये थे**' कहानी में दर्शाया गया है. शेष कहानियां तो बिल्कुल ही अरोचक तथा साधारण है.

□ **नव किशोर जैन लखनऊ**

सुखद परिवर्तन

सारिका का दिसंबर 89 अंक देखा. बहुत परिवर्तन है. बहुत सुखद परिवर्तन. "**डाकू आये थे**" (जवाहर सिंह) '**शवासन**' (मोहन थपलियाल) और '**आना समाजवाद का**' (रमेश गुप्त) ही पढ़ सका था कि सुलतानपुर से लखनऊ की यात्रा के बीच पत्रिका संभवतः अखिलेश या किसी अन्य मित्र के साथ लग गयी. बहुत ही ताकतवर कहानी है '**शवासन**' नैरेसन में क्या ताकत है. पलभर में कहां से कहां पहुंचा देते हैं. मोहनजी. उनसे लखनऊ में मिलकर बधाई देनी है. उस दिन पत्रिका के साथ पता हाथ से निकल गया था.

जवाहर सिंह ने बहुत सीधे और शानदार ढंग से बता दिया है कि वे डाकू अब आउट डेटेड हो गये जो रात के अंधेरे में मुंह से नकाब लगाकर आते थे और लूट मारकर जंगलों पहाड़ों में छिपने के लिए मजबूर थे. अब वे आते नहीं, दिन-दहाड़े खुद आसामी को बुला लेते हैं. जाइये और लूट का माल सौंपकर चरण पूजिए. अंग्रेज कथाकार जवाहर सिंह को मेरी बधाई.

□ **शिवमूर्ति, मिर्जापुर**

गरिमामयी परंपरा को आगे बढ़ाया है.

मैं सारिका की एक लंबे समय से नियमित पाठक हूं महिला कथाकार विशेषांकों में अपने पत्रिका की गरिमामयी परंपरा को आगे बढ़ाया है. दिसंबर अंक में आबिद सुरती की कहानी '**भैसोंवाली गली** वास्तव में बेजोड़ है. कहीं भी ऐसा नहीं लगा कि केवल एक कहानी पढ़ रही हूं. अंत में ओझा की विद्रूप हरकत और कथन मन को कड़वाहट से भर गया. यथार्थ के इतने समीप पहुंच जाने के लिए आबिद सुरती की पैनी कल्पना किस-किस मोड़ से गुजरी होगी.

□ **मधुरिमा दीक्षित, झांसी**

संतुलित अंक

विजयकांत की कहानी के साक्ष्य, कहानी के बजाए औपन्यासिक क्यों लगते हैं? यह सवाल, '**ब्रह्मपाश**' को पढ़ते हुए मुझे कुरेद गया. दरअसल, विजयकांत की इस कहानी के भीतर दादा ठाकुर, बिसो साह से जो बदला लेता है या जुल्म ढाता है, वह सामंती आत्मरक्षा के तर्क के स्तर पर तो ठीक है. किंतु, यह घटना, कथा के भीतर घटित क्यों होती है, इसका कोई कारण इस कहानी में नहीं उभरना, कथा की पूरी सशक्तता को एक पक्षीय बनाती है. दूसरी ओर इस अंक के भीतर सुभाष पंत की कहानी '**घोड़ा**' की चर्चा करना विशेष रूप से उल्लेखनीय है. सुभाष पंत इस कहानी में एक मनोवैज्ञानिक यथार्थ को प्रकट करते हैं. इसके भीतर एक मजदूर का अपने प्रबंधक के घर के भीतर पैठ की छटपटाहट और उससे अपनी पीड़ा और हास्यास्पद स्थिति का अवलोकन कथाकार के शिल्पगत चातुर्य को दिखाता है. इस कहानी से जो सबसे बड़ी बात उभर कर आती है, वह यह है कि बच्चे का खेल कितना बड़ा सार्वजनिक अपमान करा सकता है, एक वैसे बेबस आदमी का, जिसको बड़े व्यक्तियों का दिखाऊ प्रोत्साहन पाने की ललक हो. सुरेश सेठ और मोहन थपलियाल प्रभावित करते हैं. आबिद सुरती ग्रामीण जीवन के डायन ओझावाली मंत्र-तंत्र की संस्कृति पर चोट करके, कथा लेखन के लिए विषय की कमी नहीं है को सिद्ध करते हैं. पूरा अंक संतुलित है. ऐसे ही सजग समाज की रचनाओं का निर्वाह सारिका करता रहे, अपनी तो यही कामना है.

□ **शैलेश सृष्टि, मुजफ्फरपुर**

क्या निर्धन होना अभिशाप है?

सारिका के पिछले तीन अंक बहुत ही अच्छे थे. महिला कथाकारों का एक विशिष्ट संकलन बन गया सारिका का प्रयास. दिसंबर अंक में सुभाष पंत की कहानी '**घोड़ा**' आर्थिक विषमता की पराकाष्ठा है. क्या निर्धन होना अभिशाप है? आदमी को धन की तराजू में तोलकर अच्छा या बुरा साबित करना आज की भौतिकता प्रधान धारा का परिणाम है. वस्तुतः कहानी हृदय को छू लेने वाली है. कहानीकार को इतनी अच्छी कहानी के लिए बधाई तथा सारिका को इतनी अच्छी कहानी छापने के लिए. कहानी '**पुतला**' भी कृष्ण बलदेव की एक अच्छी कहानी है जो चोट करती है पुरुष की उस भावना पर जो अपने पुतले की भी उपेक्षा सहन नहीं कर सकता किंतु नारी के जीवित शरीर पर अत्याचार के पूरे-पूरे अध्याय लिखने में जरा भी संकोच नहीं करता. नारी के प्रति एक पक्षीय दृष्टिकोण रखने वाले लोगों के लिए यक एक सशक्त चोट है.

□ **नीलम मुकेश, उरई.**

खेद सहित निवेदन

जनवरी : 1990 के अंक में मुद्रण की असावधानी वश कुछ प्रतियों में श्री रमेश चंद्र शाह की कहानी 'एक सार्वजनिक विलाप' के अंतिम दो पृष्ठ श्री आनंद प्रकाश जैन की कहानी 'राजकुमार' के दूसरे पृष्ठ के बाद आ गये हैं और 'राजकुमार' का अंतिम पृष्ठ 'एक सार्वजनिक विलाप' के दो पृष्ठों के बाद. जिन पाठकों के पास यह प्रतियां पहुंची हैं, वे कृपया सुधार कर पढ़ लें. असुविधा के लिए हमें बहुत खेद है.

- संपादक
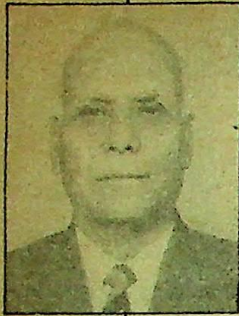
यूं होता तो क्या होता?

□ अविनाश

जन्म : मई 1921, लखनऊ (उ.प्र.) सन् 1938 से 1946 तक 'सुधा', 'माधुरी', 'विशाल भारत', 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका', 'चित्रपट', 'माया', 'मनोहर कहानियां' व 'नवयुग' आदि में कहानियां व लेख प्रकाशित.
प्रमुख कृतियां : 'अधूरी साधना' (कहानी संग्रह) व 'अंतर्कथा' और 'निर्वसना' (उपन्यास)
विविध : 'नेशनल कॉल', 'इंडियन न्यूज क्रॉनिकल', 'नवभारत टाइम्स', 'टाइम्स ऑफ इंडिया' से संबद्ध रहने के बाद संप्रति अनुज प्रकाशन का संचालन व दूरदर्शन हेतु लेखन.
संपर्क : अनुज प्रिंटर्स, सी-1106 सेक्टर-ए-3 महानगर, लखनऊ-226 006

नयी दिल्ली रेलवे स्टेशन का सात नंबर का प्लेटफार्म. लखनऊ से आनेवाली गोमती सुपरफास्ट के आने में अभी आधा घंटा बाकी है. मैं कुछ जल्दी स्टेशन आ गया हूं. एक बेंच पर बैठा, एक मैगजीन में छपी सलमान रशदी की सैटेनिक वर्सेज और अयातुल्ला खुमैनी के मृत्युदंड के फतवे की दास्तान पढ़ रहा हूं.

इतने में एक तीस-बत्तीस वर्षीया लड़की, वेशभूषा से क्रिश्चियन लगनेवाली एक अधेड़ महिला के साथ, प्लेटफार्म पर चहलकदमी करती हुई मेरे सामने से दो-तीन बार निकल जाती है. पहले मेरा ध्यान उसकी तरफ नहीं जाता, फिर एकदम से उसकी नीली-लाल साड़ी मुझे उसकी तरफ आकर्षित करती है. रंगों का अजीब चयन है. नीली जमीन पर चटख लाल रंग के फूल, लाल किनारी और लाल ब्लाउज. नीला रंग शांत, स्थिर मनस्थिति का द्योतक है तो लाल एक गर्म, खलभले मन का प्रतीक. इन दोनों का समन्वय कैसा?... मैं सोचने लगता हूं.

पर इतने में ट्रेन आ जाती है और एक अजीब तरह की हलचल प्लेटफार्म पर मच जाती है.

फिर, मैं चेयरकार के डिब्बे में एक चेयर पर बैठा हूं और वह क्रिश्चियन महिला मेरे सामने दूसरी तरफ की कतार में दूसरी चेयर पर विराजमान है तथा नीली-लाल साड़ीवाली लड़की उसके पास,बीच के पैसेज में खड़ी है. तब मैं खुलकर देखता हूं कि अरे, यह तो कामायनी हैं. एक अनजानी घबराहट से न जाने क्यों मेरा मन एकदम धड़कने लगता है तथा मैं अनायास ही अपने हाथ का अखबार खोलकर झट से अपने मुंह पर फैला लेता हूं.

कामायनी उस अधेड़ स्त्री को सी-ऑफ करने आयी हैं और उसी से बातें कर रही हैं. उन्होंने मुझे देखा भी, देखकर पहचाना भी, या नहीं.... यह मैं कतई नहीं जानता. पर मेरे दिल की धड़कन उन्हें देखकर जरूर तेज हो गयी है.

पांच-छह वर्षों का अंतराल, केवल एक पत्र और तीन सूक्ष्म मुलाकातों का परिचय. पर न जाने कैसे कामायनी ने इस समय मेरे अंतर्मन को झकझोर रखा दिया है.

फिर ट्रेन की सीटी बजती है. कामयानी उस अधेड़ स्त्री से कहती है, "आंटी, अगली बार दिल्ली आने पर मेरे यहां एक रात जरूर बिताइयेगा. सिक्सटीन अपान नाइन, अजमल खां-रोड. अभी से कहे देती हूं." और फिर वह झट से ट्रेन से नीचे उतर जाती हैं.

पर सबसे आश्चर्य की बात यह कि कामायनी के उतरते ही, मैं भी, अपना ट्रैवलिंग किट कंधे पर टांग, एक हाईस्पीड विद्युत चालित यंत्र की तरह सीट से उछलकर, बिना कुछ सोचे-समझे दूसरे दरवाजे से, रेंगती हुई ट्रेन से नीचे कूद पड़ता हूं.

कामायनी बड़े सधे कदमों से, एक अत्यंत संयमशील व्यक्तित्व का परिचय देती मेरे आगे चली जा रही हैं. मैं उनसे थोड़ी दूर, उनके पीछे चल रहा हूं. फिर वह, बिना मुंह मोड़े, उसी तरह मंथर गति से पुल पर चढ़ जाती हैं और भीड़ में विलीन हो जाती हैं.

मैं पहाड़गंज—रामनगर के जिस होटल से अभी प्रायः डेढ़ घंटे पहले स्टेशन आया था, उसी होटल में वापस आकर उसी पुराने कमरे को पुनः बुक कराकर, सफेदपोश छह इंची डनलोपिलो गद्दे पर, बिना बूट खोले या ट्यूनिक उतारे लेट रहता हूं. जेब से मैक्डावल व्हिस्की की क्वार्टर की बोतल निकालता हूं और दो-तीन घूंट नीट घुटककर आंखें बंद कर लेता हूं.

और तब मुंदी आंखों के सामने से गुजरने लगता है यादों का काफिला. छह महीनों के सूक्ष्म समय में ही जिंदगी को एक मोड़ से दूसरे मोड़, दूसरे मोड़ से तीसरे मोड़ पर ले जानेवाली घटनाओं की तस्वीरें बंद आंखों के सामने सजीव होकर उतरने लगती हैं और मुझे लगता है कि शायद यह यादें—बकौल किसी शायर—इसलिए मन के किसी कोने में दबी पड़ी थीं जिससे जिंदगी के घाव सदा ताजा बने रहें. सच ही, कुछ यादें घाव बनकर दिल को इस तरह चीर जाती हैं कि मन उनको पुरने नहीं देता.

उन्नीस सौ तिरासी-चौरासी की बात है. पिताजी का ट्रांसफर कानपुर हो गया था और मैं एयर-फोर्स में फ्लाइंग आफिसर के पद पर नियुक्ति के बाद ट्रेनिंग समाप्त करके ताजा-ताजा घर लौटा था. मेरे नौकरी में आ जाने से और मुझे एयर-फोर्स की नीली ट्यूनिक-तिर्छी-टोपी में देखकर पापा, मम्मी, भइया, भाभी, बिंदु और नन्हें, सभी खुश थे. घर में इस मौके को मस्ती से 'सेलिब्रेट' करने का वातावरण बन गया था. कई दिनों तक खासा-अच्छा जश्न रहा. इसी क्रम में पापा ने एक दिन रात्रि भोज का भी आयोजन कर डाला, जिसमें अन्य व्यक्तियों के अतिरिक्त चंद्रकांत अंकल भी बुलाये गये.

मैं तब तक चंद्रकांत अंकल को नहीं जानता था. मम्मी से मालूम हुआ कि वह पापा के
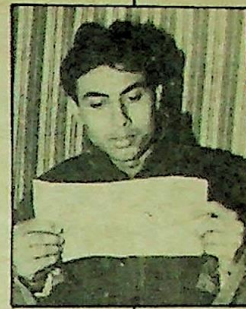
क्या पुरुष के बिना नारी का जीवन सार्थक हो सकता है? क्या सामंती व्यवस्था से निकलकर तमाम सुख सुविधाओं के बावजूद नारी पुरुष के बगैर खुद को 'पूर्ण' कह सकती है? ...आखिर उन सवालों का जवाब क्या है जो एक इंसान की जिंदगी से जुड़े होकर भी पूरे समाज की सच्चाई बनकर उठ खड़े होते हैं...!

बचपन के सहपाठी और गहरे दोस्त हैं. यहीं कानपुर में रहते हैं, पापा का यहां ट्रांसफर होने पर अर्से के बाद उनसे मिलना हुआ है. मम्मी ने यह भी बताया कि चंद्रकांत अंकल ने आर्थिक दृष्टि से बड़ी मार खायी है और जिंदगी में कभी हंसकर जी नहीं सके. इधर लंबी बीमारी के कारण उनकी नौकरी भी जाती रही है. पत्नी पहले ही साथ छोड़ गयी थीं. अब ग्रहस्थी चला सकना और दो-दो जवान बेटियों को किनारे लगा सकना तथा एक युवा बेटे को किसी योग्य बना सकना उनके लिए एक विकट समस्या बन गयी है. परंतु पापा के हृदय में उनके लिए अपार स्नेह है और वह हृदय से उनके लिए कुछ करना चाहते हैं.

पापा चंद्रकांत अंकल के लिए क्या करना चाहते हैं—यह मुझे दो-एक दिन बाद मालूम हुआ.

बहरहाल डिनर पार्टी में कोई विशेष बात नहीं हुई चंद्रकांत अंकल ने विशेष कुछ खाया नहीं. एक कोने में ही बैठे रहे. हां, उनके साथ आयी उनकी पुत्री मंदाकिनी खूब हंस-हंसकर सबसे बतियाती रही. गोरा चिट्ठा रंग, लंबा कद, बॉब्ड हेयर—काफी स्मार्ट-सी लग रही थी वह. मेरी निगाहों से भी बच न सकी. जाते समय हाथ जोड़कर बड़ी रसियायी आवाज में मुझसे कहने लगी, "धीरेंद्रजी, जाने के पहले हम लोगों की कुटिया पवित्र करके जाइयेगा तो हम लोग अपने को धन्य समझेंगे."

इस पर, पास ही खड़े चंद्रकांत अंकल बोले, "हां बेटे, तुम्हारे पिता और हम बहुत पुराने दोस्त हैं—जिगरी. कल ही तुम लोग मेरे घर आना. तुम तो मेरी जिंदगी के चिराग बनकर आये हो. कितनी तुम्हारे आने की आस लगाये बैठा था."

मैं चंद्रकांत अंकल की बात कुछ समझा, कुछ नहीं समझा. पर हाथ जोड़कर नमस्ते करते हुए शिष्टता के नाते इतना जरूर कह बैठा, "अंकल आऊंगा, जरूर आऊंगा. मुझे अपना ही बेटा समझिये."

फिर पार्टी खत्म हुई और घूम-घूमकर विदा लेकर लोग जाने लगे. देखते ही देखते बंगला खाली हो गया. ठेकेदार मेज-कुर्सियां और हलवाई अपना सामान बटोरने लगा. और हम घर के लोग आगंतुकों के व्यवहार और व्यंजनों के स्वाद पर टिप्पणी करने ड्राइंग रूम में बैठ गये.

तभी पापा ने राज खोला. कहने लगे, "धीरेंद्र, तेरी नौकरी लग गयी, अब तेरा विवाह हो जाना चाहिए."

"पापा अभी...?" मैं कुछ हिचकिचाकर बोला.

"अरे क्यों बनते हो भइया जी?" भाभी बोल पड़ीं, "कितना रस ले-लेकर तो बतिया रहे थे? निगाहें जैसे उसकी तरफ से हटती ही न थीं."

पापा और भाभी की बात से मैं कुछ बौखला-सा गया. मम्मी से पूछा, "मम्मी, यह क्या है?"

मम्मी बोलीं, "बेटे, तेरे पापा ने चंद्रकांत बाबू की लड़की से तेरे विवाह का प्रस्ताव मंजूर कर लिया है. तुझे कल ही उनके घर विधिवत् उनकी लड़की देखने और पसंद करने जाना है."

"ओफ-हो मम्मी, बात इतनी जल्दी इतनी आगे बढ़ा दी और मुझसे पूछा तक नहीं?"

"नहीं भइया जी," भाभी बोलीं, "अंतिम निर्णय तो तुम्हारी पसंदगी-नापसंदगी के आधार पर ही लिया जायेगा. इतना एलाउंस तो पापाजी ने रखा ही है. क्यों पापाजी?"

"देख धीरेंद्र," पापा बोले, "तुझे मैं साफ-साफ बता दूं. चंद्रकांत मेरा पुराना दोस्त है, हम दोनों का बहुत आत्मीयता का संबंध रहा है. अब यह बात और है कि मैं जिंदगी में तरक्की करके आफिसर बन गया, लक्ष्मी की भी मुझ पर कृपा रही—और चंद्रकांत एक प्राइवेट फर्म में क्लर्क की नौकरी करके ही घिस-पिट गया. यही नहीं, वह अपनी जिम्मेदारियां भी अभी निभा नहीं पाया है, और जिंदगी की बिसात खत्म होने को आ गयी है. ऐसे में मैं उसके लिए कुछ करना चाहता हूं. वह कम से कम अपनी बड़ी लड़की की शादी अपने सामने, अपने हाथों से कर देना चाहता है. तेरे लिए बात उठाने की पहले उसकी हिम्मत नहीं पड़ी थी, पर मेरा दिल टटोलने के बाद उसने बात उठायी और अब तेरी तरफ से बड़ी उम्मीदें बाध रखी हैं. और उसी ने नहीं, शायद उसकी बेटी ने भी, ऐसा मेरा अनुमान है. पर मैं तुझ पर भी, चंद्रकांत से अपनी दोस्ती का वास्ता देकर अपना कोई पूर्व निर्णय थोपना नहीं चाहता. मैंने चंद्रकांत से साफ कह दिया है कि बात पक्की तभी समझी जायेगी जब तू उसकी लड़की को पसद कर लेगा. रही लेन-देन की बात, सो न मैं इसके पक्ष में हूं, न तू. भगवान ने यों ही हमें काफी दिया है."

पापा की बात खत्म होते ही भाभी ने नमकीन चुटकी ली, "अब आयी समझ में बात धीरेंद्र भइया? जाइये, सो सकिये तो सोइये जाकर. लेकिन सपने कभी बहुत डसते हैं, ध्यान रखियेगा." और वह खिलखिलाकर हंस पड़ीं.

मैं फिर जब उठकर वहां से चलने लगा तो बिंदु बोल पड़ी, "भइया, कल ठीक छह बजे, शाम. याद रखियेगा." और वह भी हंसने लगी.

चंद्रकांत अंकल का मकान हरबंस मोहाल की एक गली में था. अतः कार हम लोगों को सड़क पर ही छोड़नी पड़ी. पर गली में चंद कदम चलना दूभर हो गया.

मकान पुराना और सड़क के मेनहोल से रह-रहकर उठती सड़ांध का शिकार था. आंगन छोटा था, एक कोने पर नलका लगा था. अगल-बगल कई कमरे बेतरतीब बने थे. उन्हीं के बीच कहीं रसोई भी झांकती नजर आ रही थी. एक, थोड़े से बड़े कमरे ो ड्राइंग रूम का रूप प्रदान करने का प्रयास कि । गया था. ड्राइंग रूम क्या था—वह उठने-बैठने, खाने-पीने, सोने का बहुउद्देश्यीय क ा था. किनारे की दीवार के भरभुराये प्लास्टर ो रंगीन वॉल पेपर से ढकने की कोशिश की गयी थी. सोफा एक पीस स्टील ट्यूब का जरूर रखा था पर उसकी फटी पेशिश को पलंग की चादर से इस विशेष अवसर के लिए ढक दिया गया था. एक पढ़ने की मेज, तख्त और कुछ कुर्सियां भी दीवार के किनारे तरतीब से लगी थीं. प्रायः हर
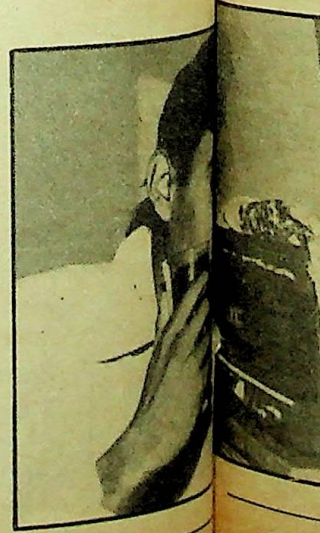
देवी-देवता के कैलेंडर दीवारों की शोभा बढ़ा रहे थे, गर्द खाये बदरंग प्लास्टिक के फूलों का एक गुलदस्ता मेज पर रखा था.

ड्राइंग रूम कहे जानेवाले इस कमरे में बैठते-बैठते हम लोगों की अजीब हालत हो गयी थी... लेकिन खैरियत यह थी कि कमरे में फ्लोरोसेंट ट्यूब के अतिरिक्त एक दो सौ वाट का बल्ब भी लगा दिया गया था जिससे चेहरे-मोहरे सबके साफ नजर आ रहे थे.

चंद्रकांत अंकल और उनके पुत्र अरुण ने हम सबका स्वागत किया और यथास्थान सोफे-कुर्सियों पर बिठाया. फिर इधर-उधर की शिष्टाचार की बातों के बाद, अरुण ने अंदर से एक ट्रे में नाश्ता लाकर छोटी मेज पर सजा दिया. भुजिया, बेकरी के बिस्किट, आलू की कचरी, तले पापड़, प्रसाद की चढ़ी बर्फी (जैसा एक बर्फी के कोने पर लगे लाल रंग और फूल के एक कण से भासित हो रहा था) और चाय.

पापा-मम्मी आये नहीं थे. भइया भी कन्नी काट गये थे. बस मैं, भाभी और बिंदु आये थे. हम तीनों एक अजीब-सी ऊहा-पोह की हालत में अपनी सांसें रोके भावी वधू के कमरे में आने और उसे देखने की औपचारिकता निभाकर जल्दी से जल्दी खिसकने की ताक में थे.

तभी मंदाकिनी, जिसे मैं कल पार्टी में देख चुका था, और सच कहा जाये तो–जिसकी तरफ मैं मन ही मन आकृष्ट भी हो चुका था, एक दूसरी लड़की जो प्रत्यक्षतः उसकी बड़ी बहन थी, का हाथ पकड़े लिवाकर कमरे में आयी. चंद्रकांत अंकल ने परिचय कराया, "बेटे, यह मेरी बड़ी बेटी है, कामायनी. इसी से तुम्हारे विवाह का प्रस्ताव है. और यह छोटी मंदाकिनी है जिससे तुम कल मिल चुके हो."

कामयानी ने सकुचाकर, सिर नीचा किये हम सबसे नमस्ते की और भाभी के कहने पर वहीं तख्त के किनारे पर टिकी-टिकी-सी बैठ गयीं.

कामायनी को देखकर मेरी सांस ऊपर की ऊपर और नीचे की नीचे रह गयी. वह इतनी सुंदर न थी, मुख पर कोई कांति न थी, हाव-भाव और चाल-ढाल से भी दबी, खिसियासी-सी लग रही थी. मंदाकिनी इसके ठीक विपरीत, आधुनिक लड़कियों की तरह लिपस्टिक-मैस्करा से सजी-धजी और–इस समय शायद विशेष रूप से धारण किये जीन्स और टी-शर्ट में बड़ी स्मार्ट लग रही थी.

मैं, भाभी और बिंदु, तीनों ही कामायनी को देखकर तथा यह जानकर कि उसके ही रिश्ते की बात चंद्रकांत अंकल ने उठायी है, स्तब्ध रह गये. न जाने कैसे कल मदाकिनी को देखकर प्रायः हम तीनों ने ही यही समझा था कि विवाह की बात मंदाकिनी से ही हो रही है. हम लोगों में से किसी को यह पता न था कि मंदाकिनी चंद्रकांत अंकल की छोटी बेटी है न जाने कैसे हम लोगों ने सोच लिया था कि यही बड़ी है. बल्कि मैं तो रात भर यही सोचता रहा था कि चंद्रकांत अंकल का आर्थिक राबा-ढाबा चाहे जैसा भी हो, मंदाकिनी कम से कम ब्याहने योग्य जरूर है और अपने व्यक्तित्व से हमारी एयर-फोर्स की सर्किल में खूब जम सकती है.

पर यहां तो मामला ही कुछ और निकला. मंदाकिनी छोटी और उसमें तथा उसकी बड़ी बहन में जमीन-आसमान का अंतर निकला. मुझे खूब अच्छी तरह याद है, उस दिन,उस क्षण मेरे अंतर में कहीं एक धक्का-सा लगा था. लगा था जैसे मेरी आशा को कहीं किसी ने झुठला दिया और इसी बात को लेकर, न जाने क्यों, मनोवैज्ञानिक रूप से मेरे मन में कामायनी की तरफ से एक खिंचाव-सा पैदा हो गया था.

खैर, नाम-मात्र का नाश्ता-पानी करके हम लोग चलने को तैयार हो गये. पर इस पर मंदाकिनी हम लोगों को रोककर, हंसकर बेधड़क बोली, "अरे वाह जीजा जी–जीजा कह सकती हूं न? आप तो ऐसे चल दिये जैसे आपको मेरी दीदी से कुछ लेना-देना ही नहीं. अरे इनसे कुछ बात कीजिये, इनकी पढ़ाई-कढ़ाई, नृत्य-संगीत के बारे में पूछिये. जानते हैं, यह बड़ा अच्छा नृत्य करती हैं." फिर आंखें मटकाकर, "दो बार टी.वी. पर प्रदर्शन कर चुकी हैं–हां..."

कामायनी सिर नीचे किये ही बैठी रहीं. भाभी और बिंदु ने उनसे दो-चार प्रश्न किये, इधर-उधर की बातें उड़ा थीं. अरुण से कुछ पूछताछ की और फिर चंद्रकांत अंकल से यह कहकर उठ खड़ी हुई कि घर जाते ही वह पापा से विचार करके और मेरे मन की बात समझ-बूझकर, जैसा होगा उन्हें सूचित करेंगी.

इस तरह बड़े घिसे-पिटे तरीके से, मरियल वातावरण में, ढहते हुए परिवार की एक निरीह कन्या को देखकर हम लोग, अपनी पद-पदवी और विलासिता की भावना में चूर, मन ही मन हंसते हुए, अपने घर लौट जाये.

पर बात यहीं खत्म नहीं हुई. रास्ते में ही मुझे चुप देखकर बिंदु ने पूछा, "दादा, चुप क्यों हैं इतने?"

भाभी ने कहा, "भई जो भी कहो, मंदाकिनी कीचड़ का कमल जरूर है."

"पर न जाने कैसे बड़ी-छोटी लड़कियों के बारे में हम लोगों को इतनी बड़ी मिस-अंडरस्टेंडिंग हो गयी." बिंदु ने कहा.

"अब पापाजी से हम लोग क्या कहेंगे? क्यों भइया जी?" भाभी ने पूछा.

मैं बोला, "पापा अगर चंद्रकांत अंकल से हमदर्दी रखते हैं और उनकी मदद करने के लिए मुझसे कोई अपेक्षा करते हैं तो मैं मंदाकिनी से विवाह करने को राजी हो सकता हूं. कामायनी से विवाह करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता."

मैं अकारण गंभीर हो उठा था. भाभी जरा देर चुप रहकर बोलीं, "बात तो ठीक है. लड़की ही मेन क्राइटीरियन है. और अगर लड़की ही मन न भायी तो सब बेकार."

रास्ते में फिर और कोई बात नहीं हुई, लेकिन घर आते ही विस्तार से चर्चा छिड़ गयी.

भाभी से सब हाल सुनकर और मेरे मन की जानकर पापा बोले, "ठीक है. इसमें परेशान होने
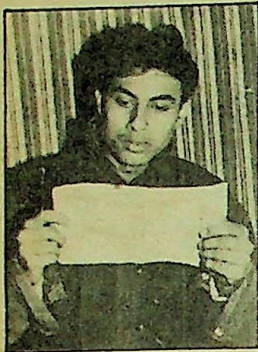
की क्या बात? मैंने तो चंद्रकांत से पहले ही कह दिया था कि संबंध के लिए मैं राजी हूं पर पसंद धीरेंद्र की होगी. सो अगर धीरेंद्र मंदाकिनी को पसंद करता है तो विवाह मंदाकिनी से ही होगा. क्या फर्क पड़ता है? आखिर चंद्रकांत को भी तो दोनों ही लड़कियों को पार लगाना है. सो अगर छोटी का वक्त आ गया हो तो वही सही पहले."

पापा की बात सुनकर मुझे एक राहत-सी महसूस हुई और मैं भी थोड़ा बोल्ड हो आया. मैंने कहा, "चंद्रकांत अंकल के घर की दशा देकर मेरा भी मन जरूर भर आया था पर कामायनी से विवाह की बात सोचकर मैं एक असमंजस में पड़ गया था. पापा, आपके निर्णय ने मुझे बचा लिया."

फिर पापा की दो टूक बात पर घर में सभी ने अपने-अपने तरीके से टिप्पणी की और इस अध्याय को रात भर के लिए समाप्त करके सोने चले गये.

सबेरे पापा के कोई खबर भेज सकने के पूर्व चंद्रकांत अंकल स्वयं उनसे मिलने आ गये.

पापा ने रातवाली बात उनसे दोहरायी तो वह एकदम से चिंतित हो उठे. पापा से कहने लगे, "तुम्हारी बात तो अपनी जगह ठीक है, मनीष. ब्याह तो मुझे दोनों का ही करना है. पर बड़ी को बिठाकर छोटी को ब्याह देने से लोग क्या कहेंगे? और इससे फिर बड़ी का भी मन टूट जायेगा. यही नहीं, अब तुमसे क्या छिपाना, मैं तो सोचे बैठा हूं कि बड़ी ब्याह जाये तो मेरे बाद वह कम से कम मेरे इस टूटे हुए घर की जिम्मेदारियां उठा ले. मैं जानता हूं कि उसमें यह क्षमता है कि वह मेरी जगह ले सकती है."

पर पापा उनकी बात से राजी नहीं हुए.बोले, "चंद्रकांत, देर-सेबेर तो लगी ही रहती है. कभी बड़े का भाग्य पहले जागा, कभी छोटे का. और फिर, मंदाकिनी का विवाह पहले कर देने का यह अर्थ तो नहीं कि कामायनी घर में ही बैठी रहेगी. उसका वक्त आयेगा तो वह भी ब्याह जायेगी. बल्कि मेरा खयाल है कि मंदाकिनी को पहले निपटा देने से कामायनी के लिए वर ढूंढना आसान हो जायेगा. अभी जैसा मैंने सुना--दोनों के साथ होने पर मंदाकिनी ही पसंद की जाती है. और फिर भई, जहां तक मेरा सवाल है, मैं हूं तो पूरी तरह तुम्हारे साथ, पर मैं धीरेंद्र की राय को भी ताक पर तो नहीं रख सकता?"

पापा के इस तरह समझाने से चंद्रकांत अंकल की हिचकिचाहट दूर हुई और वह बड़ी तसल्ली की भावना लेकर हमारे घर से विदा हुए.

चलते समय चंद्रकांत अंकल दूसरे दिन आकर अपनी तरफ से पूरी तरह संबंध पक्का करने की बात कह गये थे.

"हां, इतना जरूर जानती हूं कि अगर मैंने इस वक्त इसका कहा न माना तो यह मुझे जिंदा नहीं छोड़ेगा. और यही नहीं, आपको भी अंग-भंग करके मरवा देगा. यह धमकी वह कई बार दे चुका है."

परंतु दूसरे दिन, उनके आने के पूर्व मुझे एक लिफाफा मिला. लिफाफा अरुण लेकर आया था, बंद था और उसमें कामायनी का यह सूक्ष्म-सा पत्र रखा था.
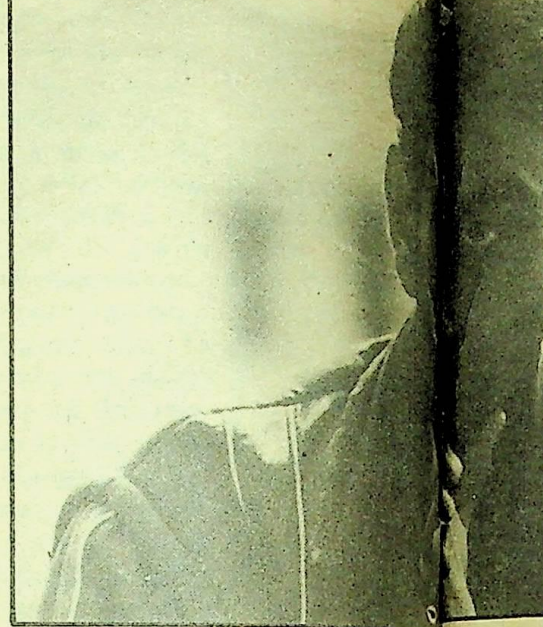
प्रिय धीरेंद्र जी,

इस तरह पत्र लिखने के लिए क्षमा चाहती हूं. परंतु विवाह संबंधी आपकी राय से अवगत हो जाने के बाद, मैं समझती हूं, अब मुझे आपको पत्र लिखने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए. कुछ बातें करना आवश्यक हो गया है. व्यक्तिगत रूप से मिलने पर ही की जा सकती हैं. क्या कहीं भेंट हो सकेगी? अधिक समय नहीं लूंगी.

— कामायनी

कामायनी का पत्र पढ़कर पहले तो मैं चौंका. कुछ जिज्ञासा हुई, फिर खट् से उसी पत्र पर लिख दिया—

'पांच बजे. मेघदूत. गेट से घुसने पर दाहिनी तरफ आखीर की रिजर्व टेबल.'

और पत्र वैसे ही मैंने अरुण को पकड़ा दिया.

मेघदूत होटल जब मैं पहुंचा तो कामायनी वहां पहले से ही बैठी मिली. मेरे पहुंचते ही उठकर उन्होंने बड़ी शालीनता से नमस्कार किया और हंसकर बोलीं, "आप आ गये. मैं कृतज्ञ हुई." फिर यथास्थान बैठकर, "आपको इस तरह यहां बुलाकर, मैं जानती हूं, मैंने अनधिकार चेष्टा की है. फिर भी आशा है,आपने बुरा नहीं माना होगा."

कामायनी एक पेस्टल कलर की सादी कॉटन की साड़ी पहने थीं. मेकअप विहीन चेहरे पर इस समय कल की अपेक्षा कुछ अधिक आत्मविश्वास की झलक थी.

मैंने कहा, "कहिये, क्या जरूरत आ पड़ी मुझे इस तरह बुला भेजने की?"

"बेशर्मी का तमगा तो पहले ही लगा चुकी हूं. फिर भी समझ में नहीं आता कि बात कहां से शुरू करूं?"

मैं कामायनी द्वारा इस तरह बुलाये जाने पर मन ही मन खीझ रहा था. बोला, "बेशर्मी का इकबाल कर लेने के बाद, जो कहना है वह तो आसान हो जाना चाहिए."

मेरी बात वह पी गयीं. थोड़ी देर चुप रहकर, सिर नीचा किये बोलीं, ''आपकी बात सही है. इसलिए प्रतिवाद करने का प्रश्न नहीं उठता. कथ्य इसलिए और आसान हो जाता है क्योंकि 'रिजेक्शन' की स्लिप लगानेवाले आप पहले व्यक्ति नहीं हैं—यकीन करेंगे यदि कहूं—ग्यारहवें हैं. किसी ने कुरूप कहकर रिजेक्ट' किया, किसी ने अनपढ़ कहकर. किसी ने धनाभाव में, तो किसी ने गृह-नक्षत्रों की आड़ लेकर. पर मनीष अंकल से मिलकर आपकी तरफ से न जाने क्यों आशा बंध गयी थी कि आप 'रिजेक्ट' नहीं करेंगे. पर मैं भूल गयी थी कि भाग्य भी तो कोई चीज होती है. भाग्य में यदि खारिज होते रहने का मार्का लगवाकर ही आयी हूं तो स्वीकारे जाने की बात कहां से पैदा हो सकती है?''

कामायनी की आवाज में एक टीस का पुट था, परंतु अपनी बात कह कर वह हंसने लगीं.

मैं न जाने क्यों उनके बेबाक आचरण और तीखे रुख से मन ही मन और खिंच गया था. मैंने कहा, ''जमाना 'सर्वाइवल आफ द फिटेस्ट' का है. जानती हैं?''

वह फिर हंसी. कहा, ''ठीक ही तो है. एक सर्वांगीण सुंदर, स्वस्थ, सुखी समाज बनाने के लिए आवश्यक है कि असुंदर, अशक्त और असहायों को रफा-दफा करते जाया जाये. और इसके लिए पुनः आवश्यक है कि ऐसे निस्सहायों को अविवाहित रहने का अभिशाप देकर उनकी जिंदगियों को सील-मोहर कर दिया जाये जिससे किसी तरह की भावी निर्बल संतति की उत्पत्ति ही न हो. यही निर्बल और असुंदर की छटनी करने का बढ़िया और कारगर तरीका है.''

मुझे उनके यह शब्द विष-बाण की तरह लगे. पर मैंने कोई उत्तर नहीं दिया. उन्होंने ही फिर कहा, ''लेकिन छटनी होने देना कोई चाहता नहीं. हर इनसान में जीने की तमन्ना होती है. वह जन्म लेकर संसार के सुख-ऐश्वर्य को जम कर भोगना चाहता है. वैसे तो कल आपको अपने यहां बुलाकर मेरे पापा ने आपका बड़ा अपमान किया. पर क्या यह नहीं हो सकता कि आप वह सब भूलकर अपने निर्णय पर एक बार पुनः विचार कर लें.''

''नहीं, इसका प्रश्न नहीं उठता. और आपके मुंह से यह बात सुनकर, आपको नहीं तो मुझे जरूर शर्म आ रही है.'' मैं अकारण कठोर हो आया.

''तो यह आपका अंतिम निर्णय है? क्या जरा भी गुंजाइश नहीं कि मैं अर्जी पुनः लगा सकूं? यह जान लीजिये कि आपके हाथ रख देने से मैं ही नहीं, मेरा सारा परिवार तर जायेगा, सबके भाग्य जाग जायेंगे. आप हमारे निम्न-मध्यमवर्गीय परिवार की मजबूरियों को नहीं जानते. पापा अभाव में, अपनी जिंदगी समय से पहले ही जीकर खप चुके हैं. मंदाकिनी को कोई रोकने-टोकनेवाला था ही नहीं. खुला वातावरण मिला. वह अपनी डगर जा रही है. अरुण भी ऐसे रास्ते पर भटक गया है जहां से उसे सीधी राह पर लाना एक टेढ़ी खीर हो गया है. मैं अकेली, कुमारीपन का ठप्पा लगाये, कुछ नहीं कर सकती. आपका साथ मिल जायेगा तो...''

मैं अब तक कामायनी की बात से बिलबिला उठा था. बीच में ही काटकर बोला, ''आपने क्या समझ रखा है? मैंने कोई धर्मशाला खोल रखी है? या हर ऐरे-गैरे की जिंदगी सुधारने का ठेका ले रखा है? मैं साफ-साफ बता दूं, मुझे जरा भी दिलचस्पी इस बात में नहीं है कि आपके परिवार का कौन-सा सदस्य किस राह जाता है. और जहां तक विवाह का प्रश्न है, मैं इस मामले में वर की पसंदगी-नापसंदगी को अहमियत देता हूं. और मेरी पसंद क्या है, यह आपको अच्छी तरह मालूम हो चुका है.''

बड़ी सख्त बात मैंने कह डाली थी... लेकिन कामायनी शायद बड़ी गमजदा लड़की थीं... और गम के घूंट पीने की आदी हो चुकी थीं. मेरी बात में छिपे तीखेपन और तिरस्कारपूर्ण कटाक्ष की ओर ध्यान न देकर, एकदम से बात पलटकर, कुछ मजाक के स्वर में बोलीं, ''अरे तो क्या वास्तव में मैं इतनी कुरूप हूं?''

''रूपवान या कुरूप होना एक 'रिलेटिव टर्म' है. एक व्यक्ति एक व्यक्ति को कुरूप न दिखकर भी दूसरे को कुरूप दिख सकता है.''

''बिलकुल ठीक कहते हैं आप. अब मेरा ही केस ले लीजिये. आप मुझे कुरूप समझते हैं. पर कइयों ने मेरे रूप की भूरि-भूरि प्रशंसा की. उनका कहना था कि यौवन कभी कुरूप नहीं होता.''

''उनकी आंखें जरूर आपके शरीर में उलझी रहती होंगी. वह लोलुप होंगे.'' मैं फिर कटु हो उठा.

पर वह उसी तरह हंसती हुई पूछ उठीं, ''अच्छा, आपकी दृष्टि में स्त्री का रूप कहां बसता है?''

''कहां-कहां बस सकता है? आप ही बताइये?''

''अब देखिये त्वचा में, डील-डौल में, आचार-विचार में, कर्मों में या फिर मन की गहराइयों में... आप कहां समझते हैं?''

बात यह है कि कामायनी और उसके परिवार को भुला देने की लाख कोशिश करके के बावजूद अगर किसी की सूरत मेरे मनस्पटल पर लगातार बार-बार उतरती रही है तो वह कामायनी की है.

मैं तत्काल कोई उत्तर न दे सकने की स्थिति में अपने को पाकर फिर उलझ पड़ा, "क्यों इतना स्मार्ट बनने की कोशिश करती हैं?"

"छिः छिः! मैं अपनी पीर कहने आयी हूं, स्मार्टपना दिखाकर बाजी जीतने नहीं. मुझे तो अपनी दासी समझिये. इसी से मैं अपने धन्य भाग समझूंगी."

"बड़ा बन-बनकर बोल लेती हैं?"

"मैं नहीं बोल रही, कोई प्रेरणा बुलवा रही है?"

"प्रेरणा या मजबूरी?"

"वही समझ लीजिये."

फिर थोड़ी देर कोई कुछ नहीं बोला. इसके बाद मैंने कुछ सामान्य स्वर बनाकर पूछा, "चाय मंगाऊं या कॉफी? खाने में क्या लेंगी?"

"केवल एक कप चाय. बस यही चलेगी." फिर, "चलिये, अपनी बात समाप्त हुई. अब आज्ञा हो तो दो बातें मंदाकिनी के बारे में कर लूं?"

"कहिये."

"आपने निश्चय कर लिया है कि आप विवाह मंदाकिनी से ही करेंगे?"

"मेरी तरफ से बात पक्की है. वह क्या सोचती हैं?"

"वह इस समय तो आप पर लट्टू है ही. आगे की कौन जाने?"

"आगे की? क्या मतलब?"

"याने कि आगे... भविष्य... की. भविष्य की जानता है कोई? मंदाकिनी ही कहां जानती."

"साफ-साफ कहिये न जरा."

"साफ-साफ कहूं तो यह समझिये कि मंदाकिनी अपनी डगर चलनेवाली लड़की है. जैसा कि मैंने अभी कहा था."

"जब हर बात इतना स्पष्ट करके कहने आयी हैं तो इसका भी जरा खुलासा कर डालिये. आपका मतलब यह तो नहीं कि मंदाकिनी दुश्चरित्र है?"

"यह मैं कैसे कह सकती हूं? वह मेरी बहन है. पर पापा के इतने निकटतम, सहृदय मित्र मनीष अंकल के इतने कृपाशील, दयावान लड़के को भी जान-बूझकर मैं खाई में नहीं ढकेल सकती. अगर आपको आगाह नहीं करती तो बड़ा भारी अन्याय हो सकता है."

मैं जोर से भड़क उठा. बोला, "मैं नहीं जानता था कि आप इस तरह इस हद तक गिर सकती हैं कामायनी जी, इतनी नीचता पर उतर सकती हैं! मंदाकिनी आपकी सगी छोटी बहन है. अपने स्वार्थ में आप इतना डूब गयी हैं कि उसका सुख आपसे देखा नहीं जाता?"

चुप्पी. दोनों तरफ से. फिर चाय आ गयी है. बियरर स्वयं दो कप बनाकर चला गया है. कामायनी की आंखों से दो बूंद आंसू टपकते हैं. पर वह उन्हें पोंछकर तत्काल ही स्वस्थ हो जाती हैं. कहती हैं, "मैं जानती थी कि मैं गलत समझी जा सकती हूं."

"जब साफ-साफ सब कुछ कह रही हैं तो गलत समझने की गुंजाइश कहां? आप जिस मंतव्य से जो कह रही हैं, वही तो समझ रहा हूं."

"मैं आपको दोष नहीं देती. दोष है तो मेरे भाग्य का."

"भाग्य नाम की कोई चीज नहीं होती. मैं उसमें विश्वास नहीं करता."

"फिर?"

"मैं कर्म को महत्व देता हूं. मनुष्य को फल उसके कर्मों के अनुसार मिलता है, और इसी दुनिया में."

"सच?"

"अपने-अपने विश्वास की बात है. मैं इसी में विश्वास करता हूं."

"पर मेरे कर्मों का फल मुझे तो मिला नहीं."

"कर्मों में खोट रहा होगा. अन्यथा सुकर्म निश्चय ही सुफल होते हैं."

"लगता है, पृथ्वी की कपटी भावनाओं से दूर, सुदूर आकाश में स्वच्छंद विचरण करनेवालों का चिंतन बड़ा साफ, निर्लिप्त और दार्शनिक हो जाता है..."

"यह लफ्फाजी छोड़कर और कोई मतलब की बात हो तो कर लीजिये."
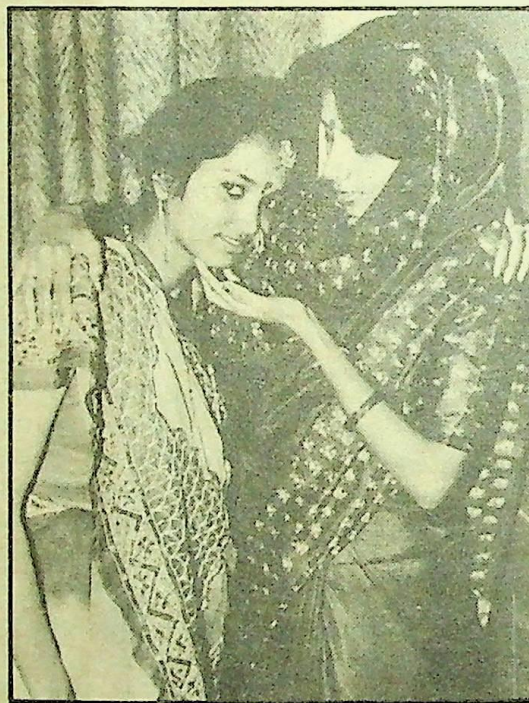
"नहीं, नहीं. मैं आपको ज्यादा रोकूंगी नहीं. मेरी दोनों बातें खत्म हो गयीं. बस इतना और बता दें कि विवाह आप कब करना पसंद करेंगे? अगले महीने 5, 7 और 13 की तारीखें निकलती हैं. होना ही है तो जितनी जल्दी हो जाये, उतना अच्छा. शुभस्य शीघ्रम."

"तारीख तय करने का अधिकार चंद्रकांत अंकल ने आपको दिया है?"

"मुझे तो सब कुछ करने का अधिकार उन्होंने दे दिया है. दिया कोई लिखत-पढ़त में नहीं. वह तो आप ही आप मेरे हाथ आ गया है. मुझे ही तो विवाह का सारा प्रबंध करना है. तारीख अभी आप मुझे बता दें. बाकी पक्की कल पापाजी के मनीष अंकल

लघुकथा

क्या हुक्म है मेरे जिन्न...!

□ नरेश चंद्र नरेश

समय बदला और 'जिन्न' जादुई चिराग से निकलकर कुर्सियों पर आ बैठ... और 'आका' चिराग में समा गया...

कल रात 'जिन्न' की पत्नी ने 'जिन्न' से कहा था, "बाजार में नया रंगीन टी.वी. टू-इन-वन आया है. अपना रंगीन टी.वी. आउटडेटेड हो गया है."

और आज अपनी कुर्सी पर बैठते ही 'जिन्न' ने चिराग रगड़ा तो एक 'आका' सामने आ खड़ा हुआ और पूछा 'क्या हुक्म है मेरे जिन्न'

"बाजार में एक नया रंगीन टी.वी. टू-इन-वन मॉडल आया है." बस इतना कह कर 'जिन्न' चुप हो गया तथा अपना काम करने लगा.

शाम को 'जिन्न' अपने आलीशान बंगले में पहुंचा तो उसने अपनी पत्नी को नये रंगीन टी.वी. पर एक नयी नीली-फिल्म देखते हुए पाया.

'जिन्न' मुस्कुराकर अपनी पत्नी से सटकर बैठ गया. □

से मिलने पर हो जायेगी.''

''सात मुझे सूट करती है.''

''ठीक. आपके योग्य तो हम लोग नहीं हैं. पर खातिर-तवज्जो में किसी तरह की कमी नहीं होगी.'' फिर सहसा उठ खड़े होकर, ''अच्छा चलूं. आपका जो समय नष्ट किया उसके लिए हाथ जोड़कर क्षमा मांगती हूं.''

और कामायनी कुछ भरे गले से इतना कहकर तथा भरी आंखों से मेरी तरफ देखती हुई, चली जाती हैं. मैं थोड़ी देर वैसे ही बैठा रहता हूं. फिर मेज पर रखे बिल का भुगतान उसी प्लेट में डालकर, उठकर बाहर चला आता हूं.

मेरा विवाह मंदाकिनी से हुआ. सारा प्रबंध बड़ी रुचि से, उत्तम साज-सज्जा और रुचिकर भोज-व्यवस्था के साथ, अपनी शक्ति से बाहर जाकर कामायनी ने ही किया.

एक दिन के लिए किराये पर लिये गये एक मकान
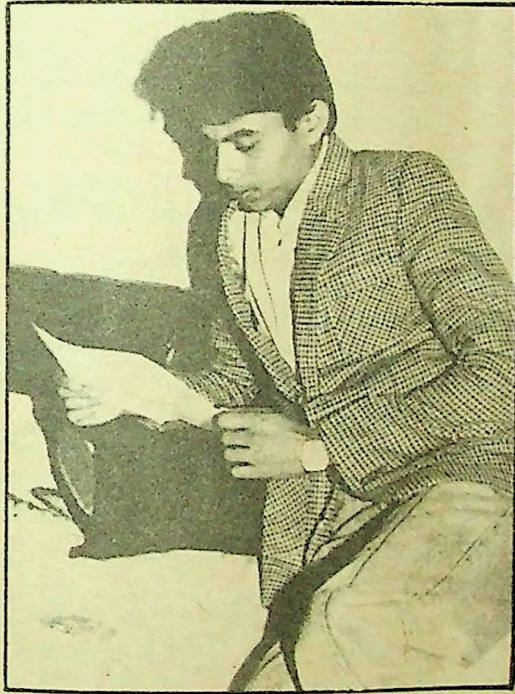
से विवाह संपन्न हुआ. दिन भर खूब रौनक रही. कामायनी इस दिन बदली हुई कामायनी थीं. कंधे से एक बड़ा-सा लेडीज बैग लटकाये, वह हंस-हंसकर बड़े संयम से, फुदक-फुदक कर स्वयं ही सारा प्रबंध कर रही थीं.

फिर विदा का समय आया, और मंदाकिनी को गले से लगाकर वह फफक पड़ीं. उससे कहने लगीं, ''किनी, मम्मी के जाने के बाद तुझे मैंने बहन नहीं, बेटी समझकर बड़ा किया है. आज तुझे एक सुपात्र के हाथों सौंप रही हूं. तुझे और तेरे पति को सुखी देखकर ही मैं भी सुखी रहूंगी. इतना याद रखना.''

फिर मुझसे, ''अब भइयाजी, आप इस घर के दामाद हैं, हमारे पूज्य हैं. मंदाकिनी बड़ी अल्हड़ है. उसकी भूलों को जरूर नजर-अंदाज कीजियेगा.''

और फिर वह रो पड़ीं.

मंदाकिनी को विदा कराकर मैं आजाद नगर के अपने बंगले में आया, और दूसरे ही दिन, पहली फ्लाइट से श्रीनगर के लिए हनीमून मनाने रवाना हो गया. लेकिन फ्लाइंग आफिसर बनने के बाद तेजी से घटित होनेवाली घटनाओं का क्रम अभी खत्म नहीं हुआ था.

श्रीनगर पहुंचते ही मुझे तत्काल अंबाला रिपोर्ट करने का हेडक्वार्टर से वायरलैस मिला और मुझे अंबाला पहुंचते ही, दूसरे दिन, कुछ नये हवाई जहाजों की डिलिवरी लेने, पाइलेट्स की एक टीम के साथ, पेरिस भेज दिया गया.

पेरिस में मुझे आशा के विपरीत, लगभग दो हफ्ते लग गये. मंदाकिनी मेरे साथ गयी नहीं थी. मैंने अपने फ्लैट में ही उसके रहने का, एक पड़ोसी मित्र के परिवार की निगरानी में, प्रबंध कर दिया था. एक आडर्ली को फ्लैट पर छोड़ दिया था. लेकिन लौटकर जब मैं अंबाला आया तो मंदाकिनी फ्लैट में न थी. आडर्ली यू.पी. का ही था—अब्दुल रज्जाक. वह मुझे देखकर फूट-फूटकर रोने लगा. फिर जरा स्वस्थ होकर बोला कि मेरे जाने के करीब सात-आठ दिन बाद एक साहबजादे मेम साहब से मिलने आये थे—साहबजादे क्या, लहीम-शहीम आदमी थे. चुस्त पैंट, डबल निट की बैगी, टी-शर्ट, गले में काला गंडा! मेम साहब ने बताया कि वह उनके घर से आये हैं, जीजाजी हैं. पहले दिन वह चाय पीकर चले गये. दूसरे दिन भी यही हुआ. पर तीसरे दिन वह यहीं रहे, और रात भर मेम साहब से न जाने किस बात पर झगड़ते रहे. सुबह मुझसे हनुमानजी के मंदिर का पता-ठिकाना पूछकर, मेम साहब को लेकर दर्शन कराने को गये तो आज दिन तक वापस नहीं आये. जब वह शाम तक नहीं आये तो मैंने घबड़ाकर बगल के स्क्वैड्रन लीडर भट्टाचार्य जी को खबर दी. उन्होंने जितनी हो सकती थी, छान-बीन की. कई लोगों को कई तरफ उन्हें ढूंढने भेजा, रात में कानपुर भी फोन मिलाया, परंतु उनकी कहीं कोई खबर न लगी.

अब्दुल की बात सुनकर मैं घबड़ा उठा. दौड़कर भट्टाचार्य के यहां गया, कानपुर पापा को फोन मिलाया, पर मंदाकिनी तो जैसे अदृश्य हो गयी थी. उसका कोई पता न चला.

रात को जब मैं लेटने गया तो पलंग पर तकिये के नीचे रखा मंदाकिनी का यह उखड़ा-पुखड़ा पत्र मुझे मिला—

''मेरे पास कोई संबोधन नहीं है जिससे मैं आपको संबोधित करूं. आज की रात मेरे लिए कत्ल की रात है. मेरे विवाह के पूर्व दीदी आपसे मिलने गयी थीं. उन्होंने आपको मेरे बारे में जरूर कुछ न कुछ बताया होगा. आपसे विवाह करके मैं अपने पापों की इतिश्री करके नये सिरे से जीवन जीना चाहती थी, पर शायद ऐसा मेरे भाग्य में बदा न था. अपने ही शहर के एक उद्योगपति के लड़के को मैं अपना दिल दे बैठी थी. उसने मेरा भोग किया, मुझे

घटना कथा

ठगी

□ दुर्गेश

स्टेशन पर लोग पंक्ति में खड़े रेल गाड़ी के टिकिट ले रहे थे. लाइन लंबी थी. पास खड़ा सिपाही लोगों से जोर-जोर से लाइन में लगने के लिए और धीरे-धीरे बिना टिकिट आधे किराये में यात्रा कराने के लिए कह रहा था. कई लोग सिपाही की बात मानकर लाइन से बाहर होकर सिपाही द्वारा बताये डिब्बे में आकर बैठ गये.

अगले स्टेशन पर टिकिट वाले और बिना टिकिट वाले अपने-अपने दरवाजों से निकलकर परस्पर चर्चा करने लगे.

टिकिट वालों ने कहा, ''आज तो टिकिट लेते समय लाइन लंबी थी, गाड़ी में भी भीड़ अधिक थी और गेट से बाहर निकलने में भी काफी समय लगा.''.

बिना टिकिट वाले बोले, ''हम न तो लाइन में लगे, न हमारे डिब्बे में भीड़ थी और सिपाही वाले रास्ते से आराम से निकल आये. किराया तो आधा लगा ही.''

''तब हम तो ठगे गये.'' टिकिट वालों ने एक साथ कहा. □

भ्रष्ट किया और फिर मुझे बंबई, लंदन आदि बड़े-बड़े शहरों की हाई सोसाइटी के ख्वाब दिखाने लगा. मैंने भी उसके साथ भाग जाने की मन में ठान ली थी पर महज दीदी की शक्ल देखकर उस वक्त रुक गयी थी. आप नहीं जानते, दीदी मेरी दीदी नहीं, मां है. उसका तो विवाह बहुत पहले हो चुका होता. एक लड़का उस पर जान देता था. पर दीदी ने मेरे और अरुण के खातिर उस वक्त उसको ठुकरा दिया. फिर उसके विवाह की बात पूरी तरह उसके हाथ से ही निकल गयी. सच बताऊं, आपकी तरफ से उसने बहुत आस लगा रखी थी. न जाने कैसे उसने सोच लिया था कि आप उसके जीवन में संकटमोचन बनकर आ रहे हैं—पर इस बार उसके और आपके बीच मैं फट पड़ी और आपने भी उसे ठुकराकर मुझे पसंद किया. फिर वही कहना पड़ता है, शायद यही विधि का विधान था. मैंने आपके साथ विवाह करने की रजामंदी क्यों दी जबकि मैं किसी दूसरे लड़के के मोहपाश में बंधी थी—यह बात आपके मन में जरूर उठ रही होगी. कारण यह था कि इधर मेरा प्रेमी इस तरह मुझे जाल में फंसाने लगा था जिससे मुझे डर लगने लगा था. वह मेरा इस्तेमाल करके मुझसे उच्चाधिकारियों और अपने मित्रों से, जिनसे उसका स्वार्थ सिद्ध होता था, 'इंटीमेट' होने की बात करता. आज के युग में स्त्री के बदलते 'मॉरल्स' पर लेक्चर देता, सामंती व्यवस्था से स्त्री के निकलने की, स्वतंत्र होने की, बड़ी-बड़ी बातें करता. मैं एक कदम उसकी तरफ बढ़ती, फिर किसी अज्ञात भय से घबड़ाकर दो कदम पीछे भाग आती. मन की इसी खींचातानी के बीच तुम्हारे और दीदी के विवाह की बात चल पड़ी और तुमने दीदी को नापसंद करके, मुझे पसंद कर लिया. मैंने भी सोचा कि शायद भगवान ने मुझे उससे मुक्ति दिलाने के लिए तुम्हें इन परिस्थितियों में हमारे यहां भेजा है. सो तुम्हारी इच्छा जानकर मैंने भी हामी भर ली. पर मैंने जब, दीदी के दिल को चूर-चूर कर, तुमसे विवाह करने की स्वीकृति दी तो मैं यह नहीं जानती थी कि मेरा प्रेमी कितना शातिर और शक्तिशाली व्यक्ति है और वह किस हद तक मेरा उपभोग और उपयोग करने की योजना बना चुका है. तुम्हारे पेरिस जाने के सात-आठ दिन बाद हमारा पता-ठिकाना मालूम कर वह यहां आ धमका था. आज वह यहीं, अभी, इसी फ्लैट में बगल के बेडरूम में सो रहा है. मैं आपकी स्टडी में बैठी आपको यह पत्र लिख रही हूं. उस व्यक्ति को, जिसको मैं अपना कौमार्य अर्पण कर चुकी हूं, मैंने अपने जीवन से हटा देने की बड़ी कोशिश की है. गत दो दिनों से मैंने उसकी कोई बात नहीं मानी है. आज अभी जोरों का झगड़ा हम दोनों के बीच हो चुका है. मरने-मारने तक की नौबत आ चुकी है. इस खूंखार आदमी का पैसेवाले गुंडों का बहुत बड़ा गिरोह है. वह कुछ भी कर सकता है. मुझसे यह अपने साथ चलने को कह रहा है. कहां ले जायेगा, क्या करेगा—मैं कुछ नहीं जानती. हां, इतना जरूर जानती हूं कि अगर मैंने इस वक्त इसका कहा न माना तो यह मुझे जिंदा नहीं छोड़ेगा. और यही नहीं, आपको भी अंग-भंग करके मरवा देगा. यह धमकी वह कई बार दे चुका है. मेरी कुछ समझ में नहीं आता. हर बात बुरी तरह हाथ से बाहर निकल चुकी है. मैंने जैसा बोया, वैसा मुझे ही काटना है. अतः कल प्रातः ही मैं उसके साथ जा रही हूं. उसके बाद मेरा क्या होगा—मैं नहीं जानती. मैंने आपके साथ विवाह रचाकर तथा आपको अपने बारे में अंधेरे में रखकर आपके साथ बड़ा अन्याय किया है. भगवान इस गुनाह के लिए मुझे कभी माफ नहीं करेगा. लेकिन अगर इस वक्त मैं और जरा भी अपने मन की करती हूं तो आपको भी खतरे में डालती हूं. तथा हो सकता है कि दीदी, पापा, अरुण के लिए भी खतरा मोल ले लूं. इसलिए यह रात मेरे जीवन की सबसे अंधेरी रात है और इसका सबेरा, हो सकता है और सबेरों की तरह, कभी लाल-लाल न हो. मैंने अपनी जिंदगी तबाह की है. आपकी की है. आपकी गुनहगार हूं. हो सके तो मुझे क्षमा कर दीजियेगा. आपके चरणों में मत्था टेकती हूं.

आपकी दासी मंदाकिनी

मंदाकिनी का पत्र पढ़कर दूसरे दिन मैंने पापा को फोन पर सब स्थिति बतायी. उसके दूसरे ही दिन वह और मम्मी हवाई जहाज से अंबाला दौड़े आये. हम लोगों ने साथ बैठकर सारी स्थिति पर यथोचित गंभीरता से विचार किया, खूब माथापच्ची की. पर जो होना था, हो चुका था. फिलहाल कोई और नतीजा, हम लोगों की उठक-बैठक से, निकलने वाला न था.

स्थिति से मायूस मन से साझा करने के अलावा कोई और चारा न था.

पापा, मम्मी भी हारकर एक दिन कानपुर वापस चले गये. मैं अपने मनोवेग को दबाकर अपने काम में जुट गया.

परंतु, इस घटना के बाद, मैं कानपुर नहीं गया—लगभग डेढ़ साल तक, और न ही कोई खैर-खबर इस बीच चंद्रकांत अंकल या उनके परिवार की ली.

फिर जब एक दिन मैं कानपुर गया तो पता चला कि चंद्रकांत अंकल गुजर गये हैं. अरुण भी जो ड्रग्स लेने लगा था, कई महीने तक अस्पताल में भर्ती रहकर स्वर्ग सिधार गया है. रही कामायनी, सो वह बेसहारा, एक दिन न जाने कहां गुम हो गयी. चंद्रकांत अंकल के परिवार की यही इतिश्री थी—जो मुझे सुनने को मिली थी. पर सच कहूं तो शायद मेरे मन पर यह सब सुनकर भी उस समय कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई या कम से कम मैंने ऊपर से यही दर्शाने का प्रयत्न किया.

पर तब से 5-6 वर्ष बीत गये हैं. आज मैंने अनायास कामायनी को देखा है और एकदम से विचलित हो उठा हूं. अब अगर मैं यह कहूं कि कामायनी मेरे खयालों में नहीं आयीं तो ईमानदारी की बात नहीं होगी. सच बात यह है कि कामायनी और उनके परिवार को भुला देने की लाख कोशिश करने के बावजूद अगर किसी की सूरत मेरे

कथा-विचार

औरत का घर

□ मनोरमा भटनागर

औरत का कोई घर नहीं होता. वह दूसरों के घर रहती है. विवाह से पहले पिता के घर उसे बचपन से एहसास कराया जाता है—वह माता-पिता पर बोझ है... पराये घर की है. विवाह के बाद पति के घर—उस घर को अपना कहने का थोड़ा अधिकार उसे मिलता तो है पर वास्तव में वह घर भी उसका नहीं होता. वह उसके पति का होता है क्योंकि पति अक्सर पत्नी की भर्त्सना करते यही कहता है, "निकल जाओ मेरे घर से!" ऐसी कोई पत्नी तो कभी कह नहीं पाती क्योंकि उसका कोई घर नहीं होता. आओ, समाज के इस सोच को बदल डालें और औरत का कोई घर बनायें. □

मनस्पटल पर लगातार, बार-बार उतरती रही है तो वह कामायनी की है. न जाने क्यों और किस तरह उसने मेरे मन को छेद कर छलनी कर रखा है.

—मेरी व्हिस्की खत्म हो चुकी है. आंखों में खुमारी छायी है. मन न जाने कहां-कहां भरम रहा है! मैंने इस परिवार को नष्ट किया है, धूल में मिलाया है. क्या भगवान मुझे कभी माफ कर सकेगा? कामायनी माफ कर सकेगी? यही सोचते-सोचते मैं सुध-बुध खोकर सो जाता हूं.

दूसरे दिन कामायनी के यहां जब मैं पहुंचा तो शाम ढलने को आ गयी थी... उनका फ्लैट 16/9 की तीसरी मंजिल पर था. इस तल पर जीने से चढ़कर आते ही, बायीं तरफ एक कंप्यूटर बेचने की कंपनी का दफ्तर था. दाहिनी तरफ एक छोटे से हाल में एक नृत्य का स्कूल, तथा ठीक सामने, दो कमरों का, किचन और बाथरूम युक्त एक सुईट. सामने ही एक पल्ले का प्लाईडोर लगा था, उस पर हिंदी में एक नेमप्लेट लगी थी, जिस पर सुंदर अक्षरों में लिखा था—कामायनी.

मैंने बजर दबाया. वह जैसे इंतजार में बैठी थीं. आकर, दरवाजे पर लगे छोटे शीशे से मुंह लगाकर अंदर से झांका और दरवाजा खोलकर बोलीं, "आइये भइया जी."

मैं थोड़ा हिचकिचाया, फिर हाथ जोड़कर नमस्ते करता अंदर आ गया. अत्यंत क्षीण-सी मुस्कराहट कामायनी के होंठों पर दबे-दबे उतरी, परंतु उसे तुरंत ही दबाकर वह सामने के सोफे पर बैठने का इशारा करके मुझसे कहने लगीं, "कल रेलवे स्टेशन पर आपको देखा था. डिब्बे में मुझे देखकर आपने अपने मुंह पर अखबार लगा लिया था. पर मैं जानती थी कि आपने मुझे देख लिया है. मैंने आपको सुनाने के लिए ही आंटी को अपना पता बताया था. मैं जानती थी कि आप आयेंगे जरूर. न जाने क्यों विश्वास हो गया था."

मैंने उनकी बात का कोई उत्तर नहीं दिया, बल्कि कमरे में टहल कर उसमें रखी चीजों का जायजा लेने लगा. फर्श पर छोटा-सा पर अत्यंत सुंदर मिर्जापुरी फर्शी कालीन बिछा था. तीन-पीस डनलपिलो के कीमती सोफे और दो अदद नाइलान बेंत की सुंदर हाफ-डक चेयर्स के बीच एक दो-दरी साइगान टाप की मेज रखी थी, जिसके नीचे के खाने में कुछ मैगजीनें बेतरतीब पड़ी थीं. कमरे के पर्दे वही आसमानी और लाल रंग के थे. दीवारों के नंगेपन को भरने के लिए एक तरफ स्वयं उनका कथक नृत्य की मुद्रा में एक इनलार्ज किया कलर-फोटोग्राफ लगा था. दूसरी तरफ एक बहुत सुंदर लैंडस्केप पेंटिंग. बायीं तरफ बेडरूम था, दायीं तरफ छोटा-सा किचन. पर किचन का दरवाजा ड्राइंग रूम में नहीं खुलता था. वह ड्राइंग रूम के सामने खाली पड़ी छोटी-सी गैलरी में खुलता था. इस गैलरी के आगे एक छोटा-सा छज्जा था और उसमें एक दरवाजा बेडरूम का भी खुलता था. गैलरी का इस्तेमाल डाइनिंग रूम के रूप में हो रहा था और इसके तथा ड्राइंग रूम के बीच एक मोटे राड पर मोटा-सा पर्दा पड़ा था. ड्राइंग रूम में दायीं तरफ की दीवार में एक ग्रिल लगी स्मोक्ड ग्लास की खिड़की भी थी. बैठक में एक टीकवुड का कबर्ड रखा था, जिसके टॉप पर सज्जा के अन्य छुट-पुट सामान और पुस्तकों के अतिरिक्त नटराज की एक पीतल की मूर्ति रखी थी और उनके परिवार का एक ग्रुप फोटोग्राफ तथा—मेरी आशा के बिल्कुल विपरीत—मेरा एयरफोर्स की ड्रेस में एक छोटा-सा चित्र, स्टीनलेस स्टील के एक सुंदर से फोटोफ्रेम में जड़ा हुआ. मैं अपने चित्र के सामने रुककर गौर से उसे देखने लगा, फिर कामायनी की तरफ आंखें फेरीं. वह झट से बोल पड़ी, "आपका ही है."

"सो तो देख रहा हूं."

"फिर? क्या इसे यहां नहीं होना चाहिए था?"

"कोई औचित्य बनता है?"

"क्या इस घर के दामाद के नाते भी नहीं?"

"जो रिश्ता जुड़ने से पहले ही टूट गया, उसकी दुहाई देना क्या?"

"रिश्ते, रिश्ते ही होते हैं. कारगर न होने पर भी जो बन जाते हैं, समाज की निगाहों में टूटते नहीं. मंदाकिनी के मर-खप जाने पर भी आप उसके पति ही कहलायेंगे और वह आपकी पत्नी. आइये बैठिये इधर."

"मैं आकर सोफे के एक कोने पर बैठ जाता हूं. वह सोफे पर मेरी बगल में न बैठकर पास पड़ी एक कुर्सी पर बैठती हैं, मेरी दायीं तरफ. मैं उन्हें तिरछा देखता हूं. उनका रंग, काला तो पहले भी न था, पर अब और खुल गया है. नाक-नक्श इस समय अच्छा लग रहा है. शरीर भरापुरा है, और प्रत्यक्ष है कि उसके साथ किसी तरह की ज्यादती नहीं की गयी है. देह क्षत-विक्षत नहीं हुई है. इस समय वह कुछ ऐसे ऐंगल से अनायास बैठ गयी हैं कि उनको देखने से एक अजीब तरह के नारी सौंदर्य का बोध हो रहा है. आवाज में उनकी एक संगीतमय रस-सा घुल गया है. इस समय उनको इतने समीप से देख कर न जाने मेरा मन कहां खिंचता चला जा रहा है.

उन्होंने बैठने के बाद, अपनी बात का क्रम जारी रखते हुए कहा, "और फिर, इस घर के मान्य होने के नाते मैं तो आपको सदा उसी दृष्टि से देखती हूं."

"घर बाकी रहा है कोई? चंद्रकांत अंकल का घर तो तबाह हो गया. आपका बसा नहीं."

"मेरा घर नहीं है?"

"अकेली इकाई से घर नहीं बनता. घर दो प्राणियों से बनता है."

"यह क्या दकियानूसी बातें लेकर बैठ गये? मैं पुरुष से निराश्रित होकर जी रही हूं. मैंने पुरुष के सहभाग की बिना अपेक्षा किये अपना यह घर बसाया है, जीवन बनाया है. मैं इस बात का प्रमाण हूं कि सामंतवादी समाज व्यवस्था और पुरातनपंथी सोच पर विजय पाकर आज स्त्री बहुत ऊंचे उठ गयी है. स्त्री आज केवल 'काम' नहीं है, 'कर्म' भी है."

"अच्छा?"

"आपको आश्चर्य हो रहा है भइया जी? जानते

लघुकथा

सिलसिला

□ अरुण अभिषेक

शहर में नये एस. पी. आये हैं. उनकी चुस्ती-फुर्ति से शहर के सभी मवाली और गुंडों के खून सर्द हो गये थे.

अब किसी चौराहे या नुक्कड़ों पर व्यसायियों के साथ ज्यादती नहीं हो रही थी.

सुधरे हालात से व्यवसायी सुख के सांस ले रहे थे. तभी एक पुलिस जीप होटल के दूकान के सामने ठहरी, "क्यों भाई, अब तो दूकान में गुंडई नहीं होती?"

"ना हुजूर, अब तो ठीक है."

"अच्छा भाई, इस खुशी में कुछ हो जाये!"

"तब तक टेबुल पर बहुत सारी प्लेटें सज चुकी थीं. दूकानदार ठगा-सा नये सिलसिला को समझने की कोशिश करने लगा. □
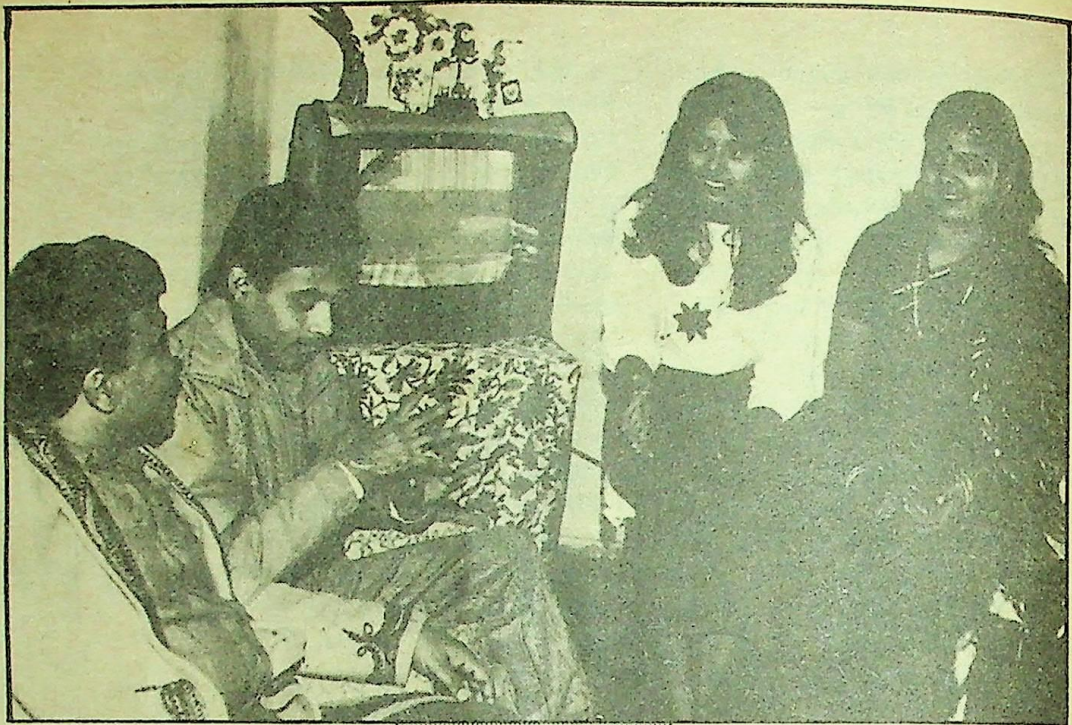
हैं, मैंने इन वर्षों में अपने को हर तरह से आत्मनिर्भर बना लिया है? न मुझे पुरुष के संरक्षण की जरूरत है, न मैं रोजी-रोटी के लिए पुरुष पर आश्रित हूं. न मैं अपने जीवन-यापन के किसी पहलू में अपने को पुरुष के अभाव में हीन, हेय, असमर्थ अथवा अशक्त पाती हूं."

"आप तो बड़ी-बड़ी बातें कर लेती हैं."

"कर ही नहीं लेती, इसी बिना पर जी भी लेती हूं. विचारकों का कहना है कि स्त्री सामान्यतः तीन रूपों में जीती है—पत्नी, रखैल या वेश्या. मैं इन तीनों में से कोई नहीं हूं, फिर भी आत्मतृप्ति के साथ जी रही हूं."

"लेकिन रह गयी इकाई बनकर ही."

"मुझे दुई की जरूरत नहीं."

"भगवान ने जीवन की प्रक्रिया कुछ बनायी ही ऐसी है कि इकाई अधूरी रहती है. उसे पूर्ण नहीं कहा जा सकता."

"इकाई मूलतः पूर्ण है. इकाई अगर पूर्ण नहीं तो पूर्ण क्या है?"

"जीवन यापन की क्रिया में इकाई पूर्ण नहीं है. उसमें पूर्णत्व दो इकाईयों के समायोग से ही आता है. और गणित में भी, इकाई का अपना महत्व तो है, पर जब तक उसके साथ दहाई नहीं लगती, अंकों का विकास नहीं होता. दहाई न होती तो अंकशास्त्र अधूरा ही रह जाता."

कामायनी चुप हो जाती हैं, आंखें नीची किये बैठी रहती हैं. ऐसा लगता है, जैसे मैंने उनके अंतर का कोई ऐसा तार छू लिया है जिससे वह कांप उठी हैं. थोड़ी देर में मैं ही पुनः कहता हूं, "बुरा न मानियेगा, आपके जीवन में पूर्णत्व का आभास न हो सकने की स्थिति बनाने में जितनी समाज की यह सड़ी-गली व्यवस्था जिम्मेदार है, उतना ही शायद मैं भी. और

"रिश्ते, रिश्ते ही होते हैं. कारगर न होने पर भी जो बन जाते हैं, समाज की निगाहों में टूटते नहीं. मंदाकिनी के मर-खप जाने पर भी आप उसके पति ही कहलायेंगे, और वह आपकी पत्नी."

इसके लिए मैं अपने को कभी क्षमा नहीं कर सका हूं. जानती हैं, मंदाकिनी के चले जाने के बाद से मेरी आंखों के सामने केवल आपकी तस्वीर उतरती रही है, आपके प्रति किये अन्याय और अपमान से मेरी आत्मा चीत्कार करती रही है?"

सहसा उनकी आंखें भर आती हैं, कंठ कांप उठता है. कहती हैं, "अब यह सब बातें न उठाइये, आपके हाथ जोड़ती हूं."

"कैसे न उठाऊं?" मेरा भी गला लरज जाता है, "जबकि रात-दिन मैं यही बात सोचता रहा हूं, यही बात मेरी आत्मा को, मेरी आत्मिक शांति को क्षत-विक्षत करती रही है! जबकि मेरा सुख-चैन, मानसिक संतुलन, सब कुछ इसी बात ने मुझसे छीन लिया है! मैं कैसे इसे न उठाऊं?"

न जाने कब कामायनी रो पड़ती हैं. पर तुरंत ही पल्लू से आंखें पोंछकर उठ खड़ी होकर कहती हैं, "आप मेरी छोटी बहन के पति हैं. मेरे मान्य हैं. आपको मेरी तरफ से इन सब बातों के सोचने का कोई अधिकार नहीं. चलिये, आपके लिए चाय बना लाती हूं. या काफी पियेंगे?"

और वह बिना मेरे उत्तर की प्रतीक्षा किये किचन में चली जाती हैं.

किचन में कामायनी को जरूरत से कुछ ज्यादा देर लग जाती है. मुझे न जाने क्या होता है कि मैं सहसा उठकर, किचन में आकर उनके पीछे खड़ा हो जाता हूं. किचन में एक ओर बड़ी-सी खिड़की बाहर की तरफ खुलती थी. इसी से लगा, खाना बनाने का सफेद टाइल्स लगा बड़ा-सा चबूतरा था. उसी पर मेरी तरफ पीठ किये वह खड़ी थीं. चबूतरे पर कई प्लेटें नाश्ते की लगाकर रख चुकी थीं. दो पतले बोन चाइना के सफेद जंजीरेदार काली लाइनिंग के कपों में
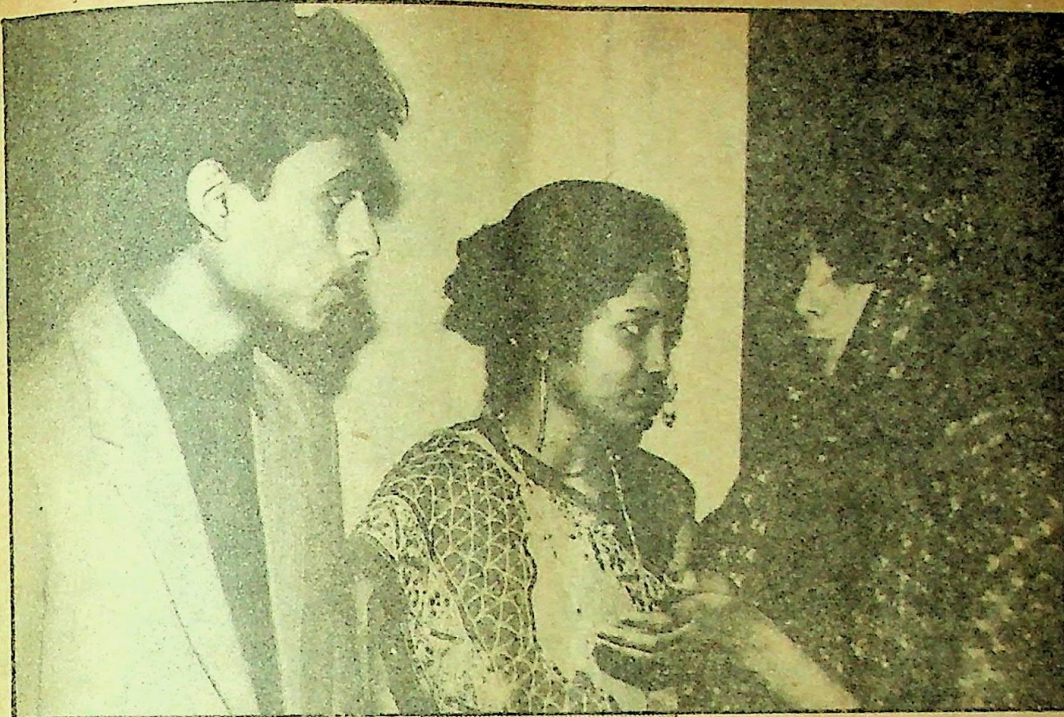
कॉफी और क्रीम बराबर-बराबर डालकर उसे चला रही थीं. नाश्ते में चाकलेट केक की कई स्लाइसेज, चीज की दर्जन भर पतली सैंडविचेज, नमकीन, तला हुआ मसालेदार काजू-बादाम, छेना-क्रीम-पिस्ता और भुरभुरे केसरिया खोये से बनाया नारायण भोग तथा गाढ़ी क्रीम में अल्फांजो आम के पतले कटे टुकड़े, कई डोंगों और प्लेटों में चबूतरे पर रखे थे.

नाश्ता देखकर मैं बोल पड़ा, "अरे??"

वह पलटकर घूमीं, बोलीं, "यहां क्यों आ गये?"

परंतु मैं उनकी बात का उत्तर न देकर नाश्ते की प्लेटों की तरफ ही घूरता रहा. उन्होंने मुझे इस तरह प्लेटों की तरफ घूरते देखकर कहा, "मैं जानती हूं, आप क्या सोच रहे हैं."

"क्या भला?"

"आपको कानपुर के नाश्ते की, जब आप मुझे देखने आये थे, याद आ गयी है—और आप उससे इसकी तुलना कर रहे हैं."

"आप कैसे जानती हैं?"

"मैं बहुत कुछ जानती हूं." फिर जल्दी से, "चलिये, मैं सब सामान ड्राइंग रूम में ले चलती हूं." और वह कॉफी के दोनों कप उठाकर ड्राइंग रूम की तरफ चल देती हैं.

मैं ट्रे में कुछ प्लेटें रखकर पीछे चलता हूं पर गैलरी में पड़ी डाइनिंग टेबल पर ही ट्रे को रखकर बैठ जाता हूं. कहता हूं, "नाश्ता यहीं करूंगा."

कामायनी ड्राइंग रूम में पहुंच चुकी थीं, परंतु पुनः वैसे ही कॉफी के प्याले लिये पलटकर डाइनिंग टेबल पर आ जाती हैं. किचन से बाकी सामान भी लाकर वहीं रख देती हैं.

फिर वह मेरे सामने बैठती हैं पर तुरंत ही गैलरी और ड्राइंग रूम के बीच पड़ा पर्दा सरकाकर गैलरी खोल देती हैं. मैं अब नोटिस करता हूं कि ड्राइंग रूम

"लोकापवाद!" वह एक तीखी हंसी हंसती हैं, "लोकपवाद का और मेरा तो चोली-दामन का साथ रहा है. और तुमसे डरने की कोई बात नहीं." फिर जरा-सा रुककर, "या हो सकती है?..."

से लगा बाहरवाले फ्लाईडोर पर पर्दा तो पड़ा है, पर दरवाजा बंद नहीं है, पहले से ही खुला है.

मैं कुछ बोलता नहीं. एकदम से खाने पर जुट जाता हूं. सैंडविचेज एक के बाद एक पेट में उतारने लगता हूं, फिर कॉफी सिप करता हूं, फिर मीठा-नमकीन खाता हूं, फिर कॉफी सिप करता हूं फिर केक के कई पीसेज प्लेट में रखकर कामायनी से कहता हूं, "बहुत भूख लगी थी."

कामायनी हंस पड़ती हैं. केवल हाथ में लिया एक सैंडविच का टुकड़ा ही कुतरती रहती हैं.

"कई बातें आपसे पूछने को हो गयी हैं."

"पूछिये, एक-एक करके."

"ईमानदारी से सही-सही उत्तर देंगी?"

"क्या मैंने कोई बेईमानदारी बरती है जो आप ऐसा पूछ रहे हैं?"

"नहीं, नहीं बरती. तुम्हारा व्यवहार जीवन में अपने प्रति, मेरे प्रति, मंदाकिनी के प्रति जितना बेबाक और निश्छल रहा है, उससे मैं अच्छी तरह वाकिफ हूं. और—सच कहूं—तो इसी बात ने साल-साल भर मेरा जीना दूभर कर दिया है."

"फिर?"

"फिर कुछ भी नहीं."

मैं गौर से उनकी आंखों में आंखें डालकर देखने लगता हूं. वह झट आंखें नीची कर लेती हैं. मैं पूछता हूं, "अच्छा, जब मैं कमरे में आया था तो तुम मुस्करा क्यों रही थीं?"

न जाने कब मैं 'आप' से 'तुम' पर उतर आया था उन्होंने मेज पर निगाह गड़ाये रखकर ही कहा, 'कल स्टेशन पर आपको देखकर विश्वास हो गया था कि आप मिलने जरूर आयेंगे. लौटते वक्त इसीलिए कुछ नाश्ता भी लेती आयी थी, पर शाम तक जब आप नहीं आये तो अच्छा नहीं लगा. फिर

जब एकदम से आ गये तो मैं मुस्करा पड़ी थी, यह सोचकर कि मेरा विश्वास झूठा नहीं उतरा.''

''मैंने तो तुम्हारे साथ ऐसा सुलूक नहीं किया था कि तुम्हारे ऐसे विश्वास का पात्र बन सकता. कैसे तुमने ऐसा विश्वास कर लिया था?''

''नहीं जानती.''

''अच्छा, अभी सच में मुझे यह नाश्ता देखकर कानपुर के नाश्ते की याद आ गयी थी. तुमने मेरे मन में उठी बात जान ली. तुमने यह भी कहा कि तुम बहुत कुछ जानती हो. तो तुम मेरे मन की और क्या जानती हो?''

''वह नहीं बता सकूंगी.''

''क्यों? बेईमानी न करने का वायदा किया है. याद है?''

''बेईमानी नहीं करना चाहती. पर एक्सप्लेन नहीं कर सकूंगी.''

''चलो, इसका जवाब पा लिया. जो बात एक्सप्लेन नहीं की जा सकती, वह कभी-कभी आप ही आप, एक्सप्लेन हो जाती है.''

वह मेरी तरफ देखती हैं, फिर आंखें नीची कर लेती हैं. मैं पूछता हूं, ''मैं 'तुम' पर उतर आया. तुम्हारा 'आप' कब तक चलता रहेगा?''

वह कुछ उत्तर नहीं देतीं. मैं ही फिर पूछता हूं. ''मेरे आने के बाद से ही तुमने सदर-दरवाजा खोल रखा है, यह पर्दा भी हटा दिया है. किस खयाल से?''

''यों ही.''

''यों ही नहीं हो सकता. मुझसे डर लग रहा है शायद. या फिर लोकापवाद के भय से?''

''लोकापवाद!'' वह एक तीखी हंसी हंसती हैं, ''लोकापवाद का और मेरा तो चोली-दामन का साथ रहा है. और तुमसे डरने की कोई बात नहीं.'' फिर जरा-सा रुककर, ''या हो सकती है?....''

''वह भी 'आप' से 'तुम' पर उतर आयी थीं. यह आत्मीयता मुझे अच्छी लगी. मैंने कहा, ''अपने दिल से पूछो.''

''नहीं हो सकती.''

''फिर?''

''तुम मुझे गलत न समझो, इसलिए दरवाजा खोल दिया था.''

''मैं गलत कैसे समझता?''

''एक बार 'रिजेक्ट' हो जाने पर भी खुद अपनी वकालत करने तुम्हारे पास पहुंची थी... मैंने सोचा कि इस बार तुम्हें ही घर में बंद करके रखने पर कहीं फिर किसी गलत बात का आभास न दे बैठूं.''

''और लोकापवाद की बात क्या वाकई कतई मन में न थी?''

वह चुप.

''जब भी कोई पुरुष मिलने आता होगा, इसी तरह मिलती होगी?''

वह फिर चुप.

''फिर कैसे कहती हो कि तुम पुरुष से निराश्रित अथवा आत्मनिर्भर होकर जी लेती हो? एक बात याद रखो, जब तक पुरुष का पल्ला नहीं पकड़ोगी,

निराश्रित और स्वच्छंद भी नहीं हो सकोगी. हमारे समाज में स्त्री के जीवन का सबसे बड़ा विरोधाभास यही है कि वह पुरुष के हाथों कलंकित होती है और पुरुष का साथ ही उसे कलंक से मुक्त कराता है.''

''उस सबके लिए मेरी उम्र बीत चुकी. उसका वक्त बीत चुका. अब तो जो है उसी को अच्छा कहकर जीना है.''

''मैं तुम्हारी पीड़ा समझता हूं कामायनी. तुम्हारे साथ हुए व्यक्तिगत अन्याय और अपमान से जिस तरह तुम तड़पी हो, वह भी मैं समझता हूं. और इसके लिए स्वयं मैं भी बहुत कुछ अंशों में उत्तरदायी हूं. काश, मैंने उस समय तुम्हें वर लिया होता, तुम्हारे आत्मिक सौंदर्य को परख लिया होता, तो शायद तुम्हारी जिंदगी का इतना आहों भरा वीराना आशियाना न बनता, मंदाकिनी भी शायद इतनी गुमराह न हो पाती, अरुण का भी गम कम होता और ड्रग्स के चंगुल से बच जाता, चंद्रकांत अंकल को भी जिंदगी के चंद और हसीन लमहे जीने को मिल जाते—और, सबसे बड़ी बात यह होती कि एक अदद समूचा परिवार शायद इस तरह जलकर राख न होता. सोचता हूं कि अगर यूं हुआ होता तो क्या होता? महज एक अदना से आदमी की अदना-सी हरकत से समूचे समाज की गतिविधियों को नया मोड़ मिल गया होता. लोग मात्र त्वचा के सौंदर्य से भरमकर मन और चिंतन से सुंदर, विवेकी, स्त्रियों के मन न तोड़ते. लोग लोगों के गम समेटते चलते, खुशियां बिखेरते चलते—और इस हृदयहीन सामंती व्यवस्था को नया हृदय देते, नयी दिशा देते.''

मैं भावुक हो उठा था. वातावरण गंभीर हो गया था. कामायनी के आंसू मेज पर टपकने लगे थे. जरा देर में संभलकर वह बोलीं, ''तुम कभी इस तरह मेरे बारे में या उन सामाजिक मजबूरियों के बारे में

घटना कथा

मजबूरी

□ हरियश

कांतिभाई एक अर्से से परेशान थे. उनकी परेशानी की वजह महज इतनी थी कि उन्हें अपनी लड़की की शादी के लिए कोई योग्य वर नहीं मिल रहा था. एक दिन कुछ लोग अपने लड़के की शादी का प्रस्ताव लेकर उनके घर गये. उन्हें देखते ही कांतिभाई स्कूल में पास हुए बच्चों की तरह खुश हो गये लेकिन दूसरे दिन पता चला कि कांतिभाई ने वह रिश्ता लेने से मना कर दिया. अगले रोज मैंने कांतिभाई से पूछा, ''क्यों कांतिभाई आपने शादी के लिए

इनकार क्यों कर दिया? आखिर लड़का तो ठीक था न."

"हां, लड़का तो इंजीनियर था." कांतिभाई ने बताया.

"तो फिर क्या मांग बहुत ज्यादा थी?"

"नहीं, यह बात भी नहीं है."

"तो क्या लड़के की मां बहुत डरावनी थी."

"नहीं ऐसा कुछ नहीं है."

"तो फिर क्या बात थी. लड़का इंजीनियर था. वे लोग कुछ मांग नहीं रहे थे. लड़की को लड़के का मां से कोई खतरा नहीं था. आपने इतना अच्छा रिश्ता क्यों मना कर दिया." मैंने पूछा.

"दरअसल लड़के ने बहुत सारी खूबियां तो थी लेकिन लड़का शेयर में पैसा नहीं लगाता था." कांतिभाई ने जवाब दिया. □

सोचोगे, जिनका मैं शिकार हुई, यह मुझे नहीं मालूम था. पर बीता वक्त वापस नहीं आता. बीती उम्र वापस नहीं आती. पापा चले गये, अरुण भी रोता-कराहता विदा हो गया, मंदाकिनी भी गुमराह होकर विदा होकर सदा के लिए बिछुड़ गयी. मैं गम पर गम पीती गयी. पर संतोष इसी बात का रहा कि एक निरीह समझी जानेवाली स्त्री होकर भी सब हादसों का मुकाबला कर सकी, सामंतवादी व्यवस्था से लड़ सकी, अपने पैरों पर खड़ी हो सकी और दंभी तथा लोलुप पुरुष समाज की चिलियालोचन से अपने को बचाकर रख सकी. स्त्री को नयी मिली आजादी की दृष्टि से यह भी कह सकती हूं कि मैं जिन परिस्थितियों में जी रही हूं, उनमें सुखी हूं. सब प्रकार से सुखी हूं. अतः तुम्हारे लिए अपने को दोषी समझकर संतप्त होने की कोई स्थिति नहीं बनती. मैंने पहले ही कहा था कि मैं नियतिवादिनी हूं जो नियति में लिखा था, वही हुआ. भूल जाइये वह सब."

"इसीलिए तो मैं नियति से भी कहता हूं कि यूं होता तो क्या होता? लेकिन अपने को मैं केवल सामाजिक दृष्टि से ही हारा हुआ नहीं मानता तुम्हें अस्वीकार करके भी मैंने बहुत बड़ी मात खायी है. मैं नहीं जानता था कि तुम प्रकारांतर से मेरे रगो-रंध्र में इस तरह व्याप्त हो जाओगी."

कामायनी चुप रहती हैं. मैं सहसा उनका हाथ अपने हाथों ले लेता हूं तथा मिन्नतभरे स्वर में कहता हूं, "क्या तुम्हें ग्रहण करके मैं इसका प्रतिकार नहीं कर सकता?"

"अब तो इस बात को सोचना भी पाप है."

"अगर मैं कहूं कि तुम्हारी बहन मंदाकिनी एक रात को भी मेरी नहीं हो सकी...तो भी?"

"क्या कहते हैं?" वह चौंक पड़ती हैं.

"तुम्हारे हाथ मेरे हाथ में हैं. झूठ नहीं बोलूंगा."

वह अपना हाथ खींचकर दोनों हाथों से अपना मुंह ढक लेती हैं. उसी तरह कहती हैं, "मैंने तुम्हें मंदाकिनी की तरफ से खूब सचेत करने की कोशिश की थी."

"मैं तुम्हें दोष नहीं देता. दोष मेरा है जो स्त्री को शरीर ही शरीर समझता रहा. लेकिन तुम्हें अब मैं जिंदगी के इतने लंबे रास्ते पर एकाकी चलते नहीं देख सकता. तुम समझती हो कि तुम अपनी जीविका अर्जित कर लेती हो, स्वावलंबी होकर जी लेती हो, पुरुष के अन्याय से लड़ने की सामर्थ्य रखती हो, अपने स्त्रीत्व की रक्षा कर लेती हो–तो यही सब कुछ नहीं है. अंततोगत्वा स्त्री का जीवन जिसकी प्रेरणा से सार्थक होता है वह पुरुष है, एकमात्र पुरुष. इसको मत भूलो. स्त्री के जीवन का सबसे बड़ा अभिशाप है उसकी कामना न की जाना."

कामायनी वहीं मेज पर अपने हाथों का चौघड़ा बनाकर उसमें अपना मुंह छिपा लेती हैं.

मैं उठकर, आकर उनके पीछे खड़ा हो जाता हूं. उनके कंधों पर हाथ रखकर कहता हूं, "मैं इतनी आत्मीयता से तुमसे बातें कर रहा हूं. जानती हो किस बिना पर? इस बिना पर कि गत पांच-छह वर्षों में मैं एक-एक क्षण तुम्हारे निकट आता गया हूं और मुझे विश्वास होता गया कि जैसे मैं ही तुम्हारा स्त्री-जीवन सार्थक करने के लिए जन्मा हूं."

मेरी बात सुनकर कामायनी का बांध जैसे टूट जाता है, वह जोर से फफक उठती है. उन्हें इस तरह विह्वल होते देखकर मैं कहता हूं "मैं ड्राइंग रूम में बैठा हूं. तुम्हारा उत्तर लेकर ही यहां से जाऊंगा.

और मैं आकर बाहर ड्राइंग रूम में बैठ जाता हूं. लेकिन वह भागकर अंदर बेडरूम में अपने पलंग पर गिर पड़ती हैं. लगभग आधे घंटे तक उनकी तरफ से किसी तरह की कोई हरकत नहीं होती.

फिर मैं उठकर धीरे-धीरे उनके बेडरूम में आता हूं और उनके पलंग के सिरहाने बैठ जाता हूं. वह पलंग पर उसी तरह आड़ी-तिरछी औंधी लेटी फफक रही हैं. उनके शरीर की रेखाएं एक क्षण को अजीब तरह से मुझे उद्वेलित करती हैं, परंतु शीघ्र ही मैं अपने को संयत कर लेता हूं. धीरे-से हाथ उठाकर उनके सिर पर रखता हूं. वह उचककर पलंग पर बैठ जाती हैं, दोनों घुटने उठाकर उनमें अपना मुंह छिपा लेती हैं.

मैं पूछता हूं, "क्या सोचा?"

वह अपना मुंह उसी तरह घुटनों में छिपाये कहती हैं, "जो तुम कहते हो वह अब संभव नहीं."

"क्यों? क्या तुम्हारे चिंतन में मेरा कोई स्थान नहीं रहा?"

"इससे मैं इनकार नहीं कर सकती."

"फिर?"

"आपके पैर पड़ती हूं मुझे इतनी बड़ी दया का पात्र न बनाइये. बर्दाश्त न कर सकूंगी."

"मैं जानता हूं कि मैंने तुम्हारे साथ अन्याय किया
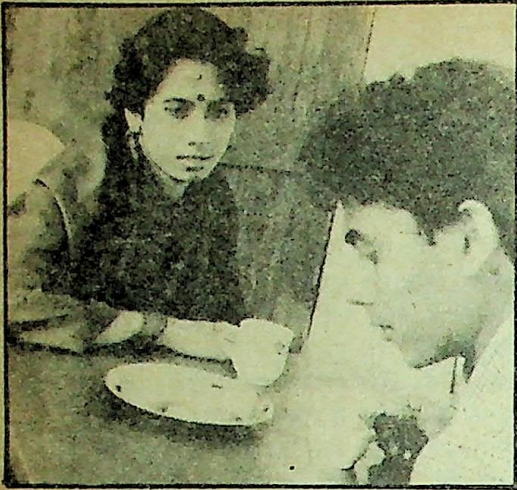
है. पर आज मैं तुम्हारी तरफ किसी दया की भावना से आगे नहीं बढ़ रहा हूं."

"फिर?"

"मुझे तुम्हारी जरूरत है?"

"उस दिन मुझे तुम्हारी जरूरत थी. पर तुम्हें न मेरी चाह थी, न तुमने मेरी बात को महत्व दिया था. फैसला करने का यही अधिकार मुझे नहीं दोगे आज?"

"उस दिन की मेरी और आज की तुम्हारी परिस्थितियों में अंतर है. आज तुम और मैं आत्मिक दृष्टि से नजदीक आ गये हैं."

"तो क्या हुआ?"

"तुम्हें मेरी जरूरत है. पुरुष की जरूरत है."

"आज के जमाने में स्त्री पुरुष का हाथ पकड़े बिना जी सकती है."

"इतनी अड़ियल न बनो कामायनी. समझने की कोशिश करो. स्त्री पुरुष के बिना जी सकती है पर स्त्री-जन्म सार्थक नहीं कर सकती."

"यह झूठ है." वह उसी तरह रोती हुई उत्तर देती हैं.

थोड़ी देर की चुप्पी के बाद मैं पूछ बैठता हूं, "तो यही तुम्हारा अंतिम निर्णय है?"

वह कुछ बोलती नहीं. मैं सहसा कठोर हो आता हूं.

"अपनी जिंदगी को अगर तुम सफल, सार्थक जिंदगी समझती हो तो यह तुम्हारी भ्रांति है. इस फ्लैट को अगर तुम अपना घर समझती हो तो वह भी तुम्हारी भूल है. स्त्री-स्वातंत्र्य की चाहे जितनी ऊंचाइयों पर तुम पहुंच जाओ पर एकाकी, तुम, कभी वह सुख नहीं भोग सकती जिसके लिए ईश्वर ने तुम्हारी रचना की है. तुम सदा अधूरी ही रहोगी. और यह घर, घर न होकर एक टूरिस्ट लॉज का कमरा मात्र. मुझसे प्रतिशोध लेना चाहती हो तो ले लो, पर अपने जीवन को, जो मनुष्य रूप में बड़े भाग्य से मिलता, इस तरह धू-धू करके न जलने दो...."

"...मैं ऐसी वादियों से तिरस्कृत होकर गुजरी हूं कि ऊंचाइयों पर खड़े लोगों की रहमत उठा नहीं पाती. मैं तुमसे फिर विनती करती हूं कि अब इस बात को न छेड़ो. हुआ—अब अनहुआ नहीं हो सकता है."

छायाकार
पवन महेंद्रू

मॉडल
धीरेंद्र
राजीव
कामायनी
रीता सिंह
धीरेंद्र के पिता
सुधीर श्रीवास्तव
धीरेंद्र की माता
संध्या श्रीवास्तव
मंदाकिनी
गीता
बहन
शिप्रा सिंह
कामायनी के पिता
अंजनि कुमार
नौकर
अनिल
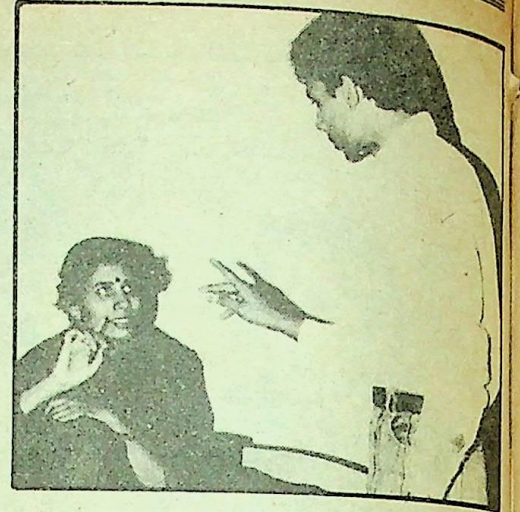
मैं फिर चुप हो जाता हूं. कामायनी की खुद्दारी पर जहां हैरत होती है, वहीं दिल में एक टीस भी उठती है. लगता है जैसे किसी ने दिल को सहसा तराशकर रख दिया हो. मैं फिर सहसा पूछ उठता हूं, "जीवन में एकाकी स्त्री होकर सब कुछ पा लिया है तुमने. पर जानती हो इस उपलब्धि की कीमत क्या चुकायी है?"

"बिना कीमत चुकाये कभी कोई चीज मिलती है दुनिया में?"

"नहीं मिलती. पर देखना यह होता है कि कीमत के अनुपात में उपलब्धि क्या है? तुम्हारे केस में—यदि सच कहूं तो—कीमत जीवन की आहुति है और उपलब्धि पुरुष से होड़ करने का कोरा दंभ."

इसके बाद हम लोग काफी देर तक चुप बैठे रहते हैं. एक अजीब तरह की निस्तब्धता कमरे में छायी रहती है.

"अच्छा, कभी-कभार मिलने आ सकता हूं?" मैं मायूस-सा होकर पूछता हूं."

"इसके लिए मैंने कब मना किया?"

"तो ठीक है. तुम्हें और दुखी नहीं करूंगा."

और मैं सहसा उठ खड़ा होता हूं. पर मेरा मन बोझिल हो गया है, पैर उठते नहीं.

फिर भी बड़े प्रयत्न से धीरे-धीरे अपने को खींचकर मैं बाहर आता हूं और बिना कुछ और बोले फ्लैट के बाहर आकर खड़ा हो जाता हूं.

लेकिन मेरे कानों में कामायनी की तेज हुई सिसकियां गूंज रही हैं और मुझे लगता है कि जैसे फ्लैट में ऐसी ठंडी बर्फीली बयार बसी हुई है जिससे अंदर की हर चीज कतरे-कतरे कटकर पिघल रही है. कामायनी ने एक स्वतंत्र आधुनिक नारी का ओहदा तो पा लिया है पर उसका नारीत्व मर गया है.

मैं सहसा फिर एक बार आंधी की तरह कामायनी के बेड रूम में घुस जाता हूं तथा कामायनी से कहता हूं, "ठीक है. मैं जा रहा हूं अभी, पर जिंदगी भर प्रतीक्षा करूंगा. इतना याद रखना."

और इस बार मैं उसी गति से बाहर आकर खट्-खट् करता जीना उतरकर, 16/9 अजमल खां रोड से बाहर हो जाता हूं. □

-एक-

सागर के सैकत पुलिन पर
सीपी की पीठ पर
तरंगित रेखाओं की
बहु-रंगी अल्पना
ऊपर औंधा आकाश
निबिड़ नील
नीचे श्याम सलिल वारुणी सृष्टि
सब कुछ भूल—
तिरोहित कर सब कुछ
अवचेतन मध्य
खड़े रहेंगे मनुपुत्र दिगंबर
पता नहीं कब तक
पश्चिमाऽभिमुख....
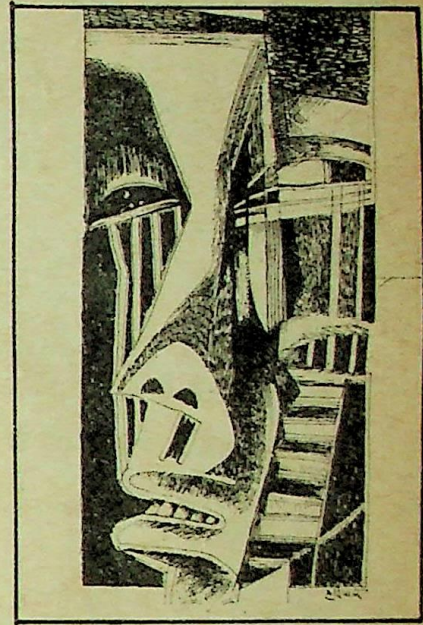
-दो-

चिर आकुल रीते प्राणों में
भर गया न जाने कितना रस
हिय आंगन में उतरे जाने
किन सुधियों के छौने सारस..
झुलसी अविकच पंखड़ियों पर
फाहों सी फुड़ियां पड़ी बरस
यह रोम-रोम में जगा गयी
मीठी सिहरन..
जादुई परस!
जादुई परस!!

-तीन-

गुरु गुड़, चेला चीनी
विदाई की बेला भाव-भीनी
करेगा कौन नुक्ताचीनी
जी हां, वो है चतुर पाजी
मशहूर है मेरा फूहड़पन—
जग जाहिर है मेरी लफ्फाजी...

हाल ही में जनकवि नागार्जुन को 'उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान' की ओर से 'भारत भारती' पुरस्कार से सम्मानित किया गया. घोषित तिथि से दो वर्ष बाद यह पुरस्कार मिलने पर नागार्जुनजी की टिप्पणी थी कि पुरस्कार घोषित होने के बाद छः महीने की अवधि के भीतर प्रदान कर दिया जाना चाहिए. उनका यह प्रस्ताव था कि यह पुरस्कार युवा साहित्यकारों को भी दिया जाना चाहिए....

इस अवसर पर सारिका परिवार की ओर से बधाई सहित प्रस्तुत हैं बाबा नागार्जुन की तीन नव्यतम कविताएं...

हो भी और नहीं भी

क्या शरीर से छोटा होना ही 'बौना होना' होता है... या इसके परे भी कोई सच है? तब क्या होता है जब किसी राष्ट्र का विचार ही बौना हो जाता है?
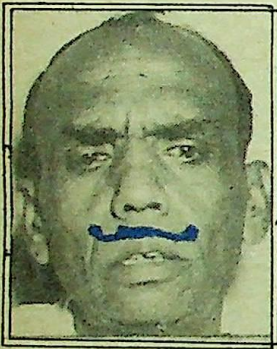
□ हंसराज रहबर

प्रमुख कृतियां : 'दिशाहीन', 'बिना रीढ़ का आदमी', 'आंके बांके' (उपन्यास). 'मेरे सात जनम' (जीवनी), 'वर्षगांठ' (कहानी संग्रह) विविध ऐतिहासिक महत्व की आलोचनात्मक पुस्तकें. संप्रति : स्वतंत्र लेखन. संपर्क : एस-16, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110 032.

लेखक भाई का खत आज फिर आया था. उसका यह तीसरा खत था. वही बात जो पहले दो खतों में थी, इस तीसरे खत में फिर दोहरायी गयी थी कि तुम सर्कस की नौकरी छोड़कर घर लौट आओ. जोकर की जिंदगी भी कोई जिंदगी है! मनुष्य को मान-सम्मान से जीना चाहिए.

पहला खत आया तो उसे आश्चर्य हुआ और वह विश्वास नहीं कर पाया कि पत्र वाकई उसके भाई विक्रम ने लिखा है, जो अब लेखक बन गया है, जिसके लेख, कहानी और चित्र पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं और उसने कई राष्ट्रीय पुरस्कार प्राप्त किये हैं. वह तो एक मंदबुद्धि व्यक्ति था, जो रट-रटकर बड़ी मुश्किल से इम्तहान पास किया करता था. शुरू के पंद्रह बरस उसने भाई के साथ एक ही छत के नीचे बिताये थे. एक दिन वह भाई से लड़-झगड़कर घर से भाग आया था और तबसे अब तक सर्कस में जोकर की भूमिका निभा रहा था. यह भूमिका निभाते उसे तीस-पूरे तीस साल बीत चुके थे. उसकी उम्र अब पैंतालीस बरस थी और वह स्वस्थ शरीर का प्रौढ़ व्यक्ति था. भाई से, घर के किसी भी प्राणी अथवा रिश्तेदार से उसका कोई संबंध नहीं था. सर्कस ही उसका जीवन और सर्कस ही उसका घर था. सर्कस में काम करनेवाले कलाकार उसके मित्र, बंधु और जो कुछ भी हो सकते थे, सिर्फ वही थे, उन छोटे-बड़े कलाकारों में वह भी एक कलाकार था. दुनिया उसे जोकर कहती है तो कहती रहे. वह जोकर की भूमिका निभानेवाला एक मनुष्य—एक कलाकार था और उसे अपनी कला पर गर्व था.

उसने भाई और घर की याद तक भुला दी थी. अब अचानक तीस बरस बाद विक्रम का खत आया तो उसका आश्चर्यचकित होना स्वाभाविक था. इस दौरान भाई लेखक बन गया है, ठीक है. उसे मान-सम्मान प्राप्त है, यह भी ठीक है, लेकिन भाई को उसके जोकर बने रहने पर क्या आपत्ति है? इससे भाई के मान-सम्मान पर क्या बट्टा लगता है? उसने खुद तो मान-सम्मान पा लिया है, मुझे मान-सम्मान दिलाने का कौन उपाय सोचा है? क्या वह मुझे घर पर बुलाकर और अपना मान-सम्मान दिखाकर चकाचौंध कर देना चाहता है?

वह अपने विक्रम भाई से दो साल बाद पैदा हुआ था यानी उम्र में उससे दो साल छोटा था. अजीब बात यह थी कि वह भाई से कद से भी दो फीट छोटा था. विक्रम का कद पांच फीट तीन इंच और उसका अपना कद तीन फीट तीन इंच था. कद के इस फर्क के कारण ही उनकी जीवन धाराएं अलग-अलग दिशाओं में बह निकली थीं. उसका नाम किशोर रखा गया था लेकिन इस नाम से उसे कोई नहीं पुकारता था, सब उसे 'बौना बौना' कहते थे. वह उनके लिए उपहास और मनोरंजन की वस्तु था. उसके पति उनका व्यवहार ऐसा था जैसे वह रबर का बना जापानी खिलौना हो. जब मुहल्ले के दूसरे बच्चे उसे 'बौना-बौना' कहते तो विक्रम भी उसनमें शामिल हो जाता और उसे चिढ़ाकर खुश होता.

विक्रम को पढ़ने के लिए स्कूल भेजा गया. उसकी शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाता था और बार-बार नसीहत की जाती थी कि अगर डाक्टर, इंजीनियरी या बड़ा अफसर बनना चाहते हो तो जी लगाकर पढ़ो और अच्छे नंबरों से परीक्षा पास करो. क्लास में फर्स्ट या सैकंड आओ. पिछड़ जाओगे तो महज एक क्लर्क बन सकोगे और फिर जिंदगी भर पछताओगे. लेकिन विक्रम पर नसीहत का यह असर होता कि वह रट-रटकर मुश्किल से इम्तहान पास करता और हमेशा पिछड़ा रहता.

लेकिन कद के बौनेपन ने किशोर के डाक्टर, इंजीनियरी या बड़ा अफसर तो क्या क्लर्क तक बनने की संभावना समाप्त कर दी थी. उसे स्कूल नहीं भेजा गया, इस खयाल से कि निरक्षर न रह जाये, घर पर हिंदी पढ़ाने की व्यवस्था कर दी गयी थी. उसे अपनी उपेक्षा अखरती थी. दूसरों के उपहास और मनोरंजन की वस्तु होने का एहसास कोंचता रहता था. जब उसकी आयु दस-ग्यारह बरस थी तो उसने एक बाल पत्रिका में 'कुत्ते की दोस्ती' नाम की विएतनामी लोककथा पढ़ी. भाव यह था कि दुनिया बनातेसमय कुत्ते ने भगवान से यह वरदान मांगा कि धरती
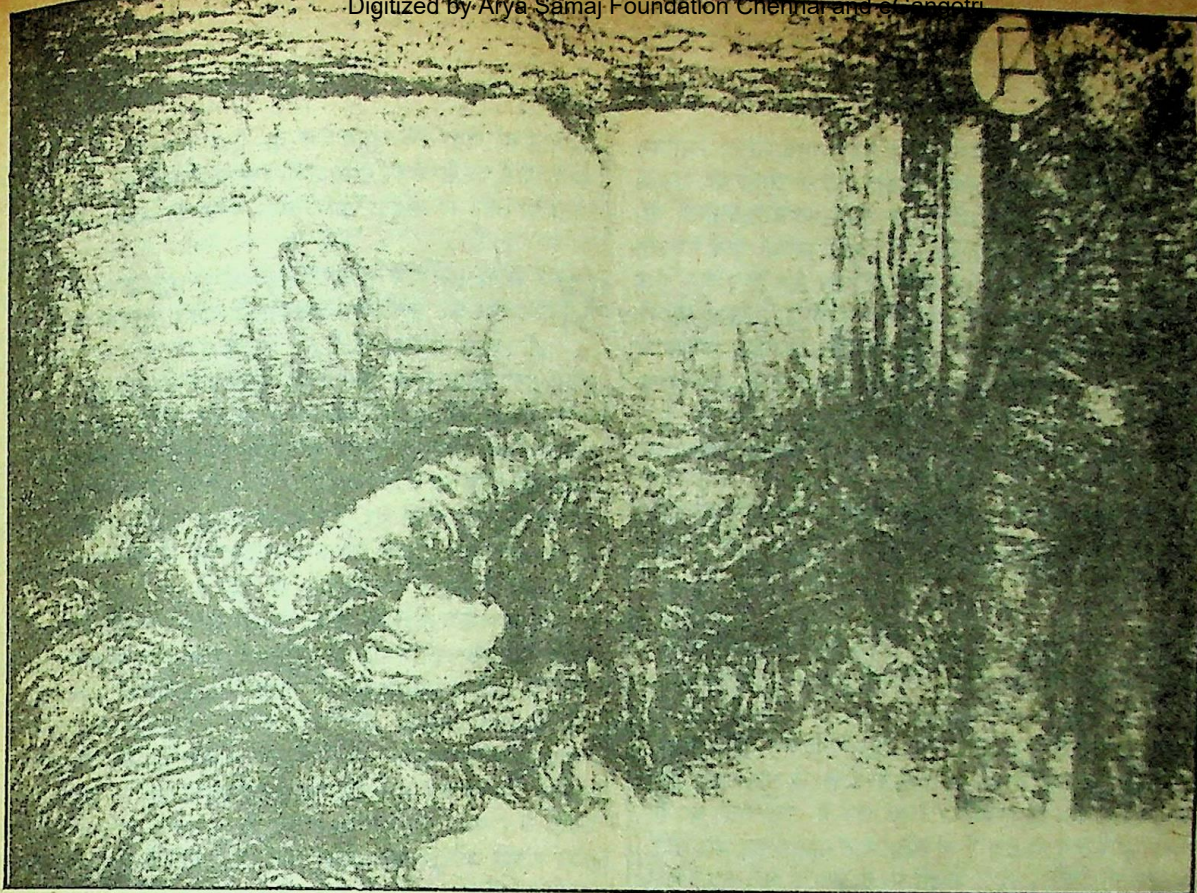
नवजोत की कलाकृति

पर जो सबसे बलवान प्राणी है, मैं उसका सेवक बनूं. भगवान ने कहा, "ठीक है. जाओ, धरती पर जाकर उस प्राणी को खोज लो." कुत्ता अपनी इस खोज में पहले हाथी और फिर शेर का सेवक बना. लेकिन उसे शीघ्र ही मालूम हो गया कि धरती का सबसे बलवान प्राणी हाथी या शेर नहीं मनुष्य है. तब से वह मनुष्य को सेवक अथवा दोस्त बन गया और अब तक बना हुआ है. कहानी का किशोर पर यह प्रभाव पड़ा कि कद बड़ा नहीं, बुद्धि बड़ी है. बुद्धि ही के कारण मनुष्य सबसे बलवान और सबसे श्रेष्ठ प्राणी है. 'मैं भी मनुष्य हूं, मनुष्य.' उसने मन ही मन दोहराया और उसकी गर्दन गर्व से ऊंची उठ गयी.

मन में विचार आ जाये तो मनुष्य उसे व्यक्त करने का उपाय भी सोच लेता है. किशोर ने चित्र उकेरने का अभ्यास शुरू किया. वह पुस्तक और पत्रिकाओं में देख-देखकर हाथी, शेर, हिरण और घोड़ा इत्यादि के और मनुष्य की आकृतियां बनाने लगा. धीरे-धीरे हाथ सध गया. दो-ढाई साल के अभ्यास से उसने अच्छे चित्र और अच्छे कार्टून बनाना सीख लिया. एक मर्तबा उसने एक कार्टून बनाया, जिसमें एक आकृति उसकी अपनी और दूसरी पड़ोसी लड़के रिप्पू की थी. रिप्पू मुहल्ले में सबसे लंबे कद का लड़का था. उसे अपने कद का अभिमान था. वह बौना-बौना कहकर किशोर का सबसे अधिक मजाक उड़ाया करता और फब्तियां कसा करता था. किशोर ने जो कार्टून बनाया, उसमें उसका अपना कद सामान्य और रिप्पू को बौना दिखाया गया था. "मूर्ख : यह क्या! बौना मैं नहीं, तू है!" रिप्पू ने चिढ़कर कहा.

"आदमी कद से नहीं, बुद्धि से बड़ा या बौना बनता है." किशोर ने उत्तर दिया और ठेंगा दिखाते हुए आगे कहा, "बौना तू है तू, जो सिर्फ कद देखता है, लेकिन भीतर का गुण नहीं देख पाता!" उसने अपना कार्टून विजय भाव से रिप्पू की आंखों के आगे फहराया. जो बच्चे वहां इकट्ठे हो गये थे, सबके सब ठहाका मारकर हंसे पड़े. रिप्पू का मुंह जरा-सा निकल आया वह किशोर के सामने वाकई बौना दिखाई पड़ा।

अपनी इस विजय से उसमें आत्म विश्वास पैदा हुआ और उसने चित्र उकेरने का अभ्यास जारी रखा. एक दिन उसने एक ऐसा चित्र बनाया जो इस कहानी पर आधारित था, जिसे पढ़कर उसके मन में 'मैं मनुष्य हूं' का भाव जाग्रत हुआ था. इस चित्र में हाथी, शेर और मनुष्य तीन आकृतियां थीं. हाथी और शेर कद और ताकत में बड़े होने के बावजूद धनुर्धारी मनुष्य के इशारों पर नाच रहे थे.

"यह है बुद्धि का चमत्कार!" उसने चित्र मुहल्ले भर के सामने प्रदर्शित करते हुए कहा.

सबने भूरि-भूरि प्रशंसा की और एक अधेड़ उम्र व्यक्ति ने अपनी पीठ थपथपाते हुए स्नेह-सिक्त स्वर में कहा, "शाबाश बेटा! यह चित्र तुम्हारी अपनी बुद्धि का चमत्कार है."

"खाक चमत्कार है! हाथी, शेर बेकार में बना दिये. मुहावरा तो यह है कि अक्ल बड़ी या भैंस!" विक्रम नाक सिकोड़कर विद्रूप भाव से बोल उठा.

और मुहावरा यह भी है, "बंदर क्या जाने अदरक का स्वाद!" किशोर ने उसी अंदाज में मुंह बनाकर उत्तर दिया. सब बच्चे खिलखिलाकर हंस पड़े.

"देखा, तुम्हें बंदर बता रहा है!" रिप्पू ने किशोर को उकसाया.

"बौने, बढ़-चढ़कर बातें मत बना!" विक्रम लड़ने पर आमादा हो गया.

"रट्टू तोते, तू भी ज्यादा टर्र-टर्र मत कर!" किशोर ने तुर्की-बतुर्की उत्तर दिया.

इससे बड़े भाई का अभिमान आहत हुआ. विक्रम ने आक्रोश में भरकर किशोर के हाथ से चित्र छीन लिया. किशोर चाहे कद और उम्र में छोटा था, पर शरीर से सुगठित और तगड़ा था. वह चित्र को फटने से बचाने के लिए भाई पर झपटा और हाथापाई में उसे धक्का दे दिया. विक्रम औंधे मुंह धरती पर जा गिरा. मुंह एक ईंट से टकराया और ऊपर के दो दांत टूट गये.

यह घटना पिछले दो साल के द्वेष और घृणा का परिणाम थी. जबसे चित्रों और कार्टूनों के लिए किशोर की प्रशंसा होने लगी थी, विक्रम के मन में भी प्रशंसा पाने की लालसा पैदा हुई. वह किताब से कविता, कहानी अथवा मुहावरे रट लेता और उन्हें दोहराकर विद्वता प्रदर्शित

करता था. लेकिन इस आधार की विद्वता से वह सुननेवालों को प्रभावित करने में असफल रहता. प्रशंसा हमेशा किशोर ही की होती थी. उम्र में छोटे और कद में भी छोटे भाई की प्रशंसा उससे सहन नहीं होती थी. इससे उसके मन में किशोर के प्रति द्वेष और घृणा का जो भाव उत्पन्न हुआ, उसे प्रकट करने का वह कोई भी मौका हाथ से न जाने देता. एक दिन किशोर के चित्रों की चर्चा करते हुए सामने वाली पड़ोसन उसकी मां से कह रही थी, "लीला, तुम्हारा यह छोटा लडका कितना समझदार और कितना गुणी है. भगवान ने जाने उसे किस अभिशाप के कारण बौना बना दिया!"

मां की ममता सिहर उठी. वह आर्द्र स्वर में बोली, "बहन यही तो दुख है. इस समझ और गुण के होते हुए भी कौन उसे अपनी बेटी देगा! बेचारा! उम्र भर कुंवारा रहेगा."

विक्रम ने मां के ये शब्द सुने और उसकी कुप्रवृत्ति ने उन्हें इस संक्षिप्त वाक्य में ढाल लिया—"बेचारा बौना! उम्र भर कुंवारा रहेगा." वह इस वाक्य को किशोर के सामने बीसियों बार दोहरा चुका था. किशोर ने अपने आक्रोश को हमेशा दबाये रखा. लेकिन आज वह अचानक उबल पड़ा.

तिलिया और चडनिया

तिलिया जब प्रसूति गृह में ही थी कि उसकी मां चल बसी. मरद की जात. औरत को बिसारते और दूसरा घर बसाते देर ही कितनी लगती है!

नयी वसंती किसी वासंती हवा-सी हिलकती घर में आ गयी. पिता तो उस हवा से ऐसे बंधे कि बस दीन दुनिया भूल गए. यहां तक कि पूर्व पत्नी की निशानी भी उसके पास है, भूल बैठे. अपनी सांस के हर एक तम को वसंती के आंचल से बांध लिया था. और वसंती? उसे तो तिलिया पूरी आंखों भी न सुहाती थी. उसने कई बार उसे मरवाने की कोशिश भी की. मगर नाकाम रही. आखिर बेटी जात थी. इतनी जल्दी कैसे मरती भला!

फिर वसंती को अपनी भी बेटी हुई. अब तो सौत की बेटी उसकी आंखों में बुरी तरह से चुभने लगी. जब दोनों बेटियां थोड़ी बड़ी हुईं तो उसने बारह-बारह वर्षों के लिए तिलिया और चडलिया को तिल और चावल की कोठी में डाल दिया. उसका अनुमान था कि बारह वर्ष के बाद तिलिया काली और बदसूरत होकर निकलेगी-तिल जैसी और उसकी बेटी दूधीचावल जैसी लंबी छरहरी और सफेद सुंदर हो जाएगी.

बारह वर्ष के बाद उसने पास पड़ोस के गांवों के युवकों को बुलवाया जो उसकी बेटी से शादी कर सकें? साथ ही, पास के एक गांव से उसने एक बूढ़े लंगड़े को भी बुलावा लिया—तिलिया के लिए.

अब उसने दोनों कोठियों का दरवाजा खोला. पर यह क्या? उन दोनों को देखते ही वह बेहोश हो गयी. तिल की कोठी से तितिलोत्तमा जैसी सुंदर कन्या निकली जिसे देखते ही सभी नौजवान उस पर मोहित हो गए. अंत में सबसे सुंदर और धनी नौजवान के साथ उसकी शादी हो गयी. और चावल की कोठी से जब चडलिया निकली तो उसकी कुरूप, हड़ीली और गलीज काया देखकर सभी नौजवानों ने तो मुंह फेर लिया. लंगड़ा भी लंगड़ाता हुआ अपने गांव वापस चला गया. □

प्रस्तुति : विभा रानी

भाई को रोता-चिल्लाता देख वह ऐसा भागा कि फिर लौटकर नहीं आया. उसे घर से और इस माहौल से घृणा हो गयी थी. उससे ने द्वेष सहन होता था और न आर्द्रता. वह किसी तरह भी बेचारा नहीं था.

तब से वह सर्कस में जोकर की भूमिका निभा रहा था. भागते हुए घोड़े की पीठ पर उचककर चढ़ जाना अथवा झूले से अचानक गिरना और कलाबाजियां खाते हुए धरती पर पांव के बल सीधे आ खड़ा होना इत्यादि करतब सीख लिये थे. इनसे तमाशाइयों का मनोरंजन होता था. वे हंसते, खूब हंसते, लेकिन वह खुद गंभीर बना रहता था. जोकर का यह विशेष गुण है और इसी से वह कलाकार माना जाता है कि दूसरे हसें और वह गंभीर बना रहे. दर्शकों की हंसी में विद्रूप और व्यंग्य बिलकुल नहीं होता था. वह स्वच्छ मन की शुद्ध हंसी थी, जिससे वातावरण खिल उठता था. इस वातावरण में सारे गम भूल जाते थे. खेल-तमाशे देखने का मकसद भी वही था.

कई बार एक ही तरह के करतब दिखाते-दिखाते और एक ही तरह की हंसी सुनते-सुनाते उसका मन ऊब जाता. वह सोचता कि कोई ऐसा नया खेल-ऐसा करतब दिखाये, जिससे दर्शकों की रुचि परिष्कृत हो और उनकी हंसी में विविधता आये. इसलिए वह अपनी आकृति बदलकर और नये-नये स्वांग भरकर मंच पर आता, लेकिन दर्शकों पर उसका विशेष प्रभाव न होता. वे उसके स्वांग का अर्थ तक समझ न पाते. बिना अर्थ समझे हंसी में गहराई या विविधता कैसे आती? वह छिछली और सतही जान पड़ती. लेकिन वह निराश नहीं हुआ. अर्जुन जब तर्क से विश्वस्त नहीं हुआ तो जैसे कृष्ण ने उसे अपना विराट रूप दिखाकर चकित किया था, किशोर ने भी अपने बौनापन पर हंसनेवाले दर्शकों को अपने भीतर का श्रेष्ठ मानव दिखाकर चकित कर देने की सोची.

उसने दो लंबे-लंबे बांस लिये. उनके दरम्यान में पांव रखने के लिए किल्लियां गाड़ दीं. किल्लियों पर पांव रखकर बांसों के सहारे चलने का अभ्यास शुरू किया, लेकिन संतुलन बनाये रखना कठिन—बहुत कठिन था. वह गिरता, उठता और फिर से चलने का अभ्यास करता. हफ्तों, महीनों के लंबे अभ्यास से संतुलन बनाये रखने में सफलता प्राप्त हो गयी. वह एक दिन इन बांसों पर खड़ा होकर मंच पर आया. तेज-तेज चलते हुए दो-तीन चक्कर लगाये और आखिरी चक्कर में हाथ ऊपर उठाकर और ताली बजाकर उद्घोष किया—"दर्शन करो! दर्शन करो!!" धरती का श्रेष्ठ प्राणी!

दर्शक हंसे जरूर, पर उनकी हंसी सतही और छिछली थी. वह दिल से नहीं फेफड़ों से निकली थी. वह उसके उद्घोष का अर्थ समझने में असमर्थ थे.

शेरों का खेल दिखानेवाले रिंग मास्टर भूरा से उसकी खूब पटती थी और वह अपने मन की बात सिर्फ उसी से कहता था, "भूरा भाई, लोगों के चिंतन में गहराई बिलकुल नहीं. उनकी हंसी हेशा छिछली और सतही होती है." उसने नये खेल की असफलता के बाद कहा.

"सुनो किशोर!" भूरा कुछ क्षण चुप रहने के बाद धीर-गंभीर दृढ़ स्वर में बोला, "जिस राष्ट्र का विचार बौना हो जाये, वह राष्ट्र बौना हो जाता है." किशोर जब सर्कस में आया, भूरा तभी से रिंग मास्टर था. अब उसकी आयु सत्तर के करीब थी. सिर के, मूंछों और भवों के बाल झक सफेद थे, लेकिन चेहरे पर एक भी झुर्री नहीं थी. दम-खम बराबर बना हुआ था. अपना खेल दिखाने के बाद किसी से कोई मतलब नहीं. वह दिन भर किताब पढ़ता अथवा चुप बैठा सोचा करता. सर्कस के सभी कलाकार उसकी इज्जत करते थे और प्यार भी करते थे. लेकिन उसके पास जाते हुए यों झिझकते थे, जैसे कोई तेज आंच के पास जाते हुए झिझकता है. सिर्फ किशोर था, जिसमें यह झिझक नहीं थी. वह निस्संकोच भूरा के पास चला जाता. बातचीत चाहे न तो निकट बैठे रहने ही में अपनेपन की स्निग्धता महसूस करता. दिल को दिल से राह

है. भूरा भी उसे अपने बेटे अथवा छोटे भाई की तरह प्यार करता था. उसकी जिंदगी का जो भेद किसी को मालूम नहीं था, वह किशोर को मालूम था. उसने एक मर्तबा डाका डाला था, यह राजनीतिक डाका था, जिस में एक आदमी की हत्या भी हो गयी थी. वारंट निकल गया था. गिरफ्तारी से बचने के लिए वह मफरूर हो गया और नाम बदलकर सर्कस में काम करने लगा.

भूरा का स्नेह किशोर के लिए दुनिया की सबसे अनमोल वस्तु था. वैसे सर्कस के छोटे-बड़े सभी कलाकारों से उसका मेल-जोल था. वह उनमें घुल-मिलकर रहता था. खुद के और उनके मनोरंजन के लिए वह अपनी चित्र और कार्टून बनाने की कला का प्रयोग भी करता रहता था. कई तरह के अभाव थे फिर भी जीवन आनंद से बीत रहा था. वह अपने सहकारी कलाकारों में बौना या बेचारा नहीं था.

तीस बरस बाद भाई का पत्र आया तो वह दुविधा में पड़ गया, जाये कि न जाये. पिछली कटुताएं याद आतीं तो मन जाने का नहीं होता था. लेकिन जब सोचता कि भाई का तीसरा खत है और उसने द्वेष त्यागकर आग्रह से बुलाया है तो मन जाने को ललकता. आखिर भाई, भाई है और घर, घर है. एक बार जाकर देखे तो सही कि विक्रम इतना बड़ा लेखक कैसे बन गया! उसने इतना आदर-सत्कार कैसे अर्जित कर लिया!

वह घर चला आया. देखा कि भाई के वाकई बड़े ठाठ हैं. पुराने घर की जगह एक नया आधुनिक मकान है. सोने का कमरा अलग, खाने का अलग और शानदार ड्राइंग रूम है, जिसमें सुंदर सोफा सेट, कीमती गलीचा, ऊंची-ऊंची गद्देदार कुर्सियां हैं दीवारों पर आकर्षक चित्र कोनों में स्टूलों पर रखी मूल्यवान कृतियां. फ्रिज, टी.वी. और वी.सी.आर. किसी चीज की कमी नहीं.

लेखक भाई ने बड़े तपाक से उसका स्वागत किया और अपना प्रकाशित साहित्य दिखाया. उसमें एक दर्जन के करीब कहानी-संग्रह थे. आठ संग्रह विक्रम की अपनी मौलिक कहानियों के थे ओर तीन-चार ऐसे थे, जिनका उसने दूसरों की एक-एक कहानी लेकर संपादन भर किया था, पर उन पर भी उसका नाम संपादक के रूप में नहीं, लेखक के रूप में गया था. आठ संग्रह जो उसकी अपनी कहानियों के थे, उनकी विशेषता यह थी कि पहले संग्रह में कुल आठ कहानियां थीं और एक कहानी के नाम पर उसका नामकरण हुआ था. जब नवीं कहानी लिखी तो पिछली आठ कहानियां शामिल करके दूसरा कहानी-संग्रह प्रकाशित हुआ. और उसका नामकरण इस नवीं कहानी के नाम पर हुआ. इसी तरह दसवीं कहानी पर तीसरा और ग्यारहवीं पर चौथा, संग्रह पर संग्रह प्रकाशित होते चले गये. संख्या बढ़ी, आकार बढ़ा और आकार के अनुपात से मूल्य भी बढ़ा.

''यह क्या चक्कर है!'' किशोर ने एक नजर पुस्तकों पर और एक भाई पर डालकर पूछा.

''चक्कर-वक्कर कुछ नहीं, यह प्रचार और व्यापार का युग है. इसमें सब चलता है.'' विक्रम ने किशोर की आंखों में आंखें डालकर उत्तर दिया और तनिक रुककर व्याख्या की, ''कोई नहीं देखता कि पुस्तक में क्या लिखा है. पुस्तक पाठक नहीं खरीदता, सरकार खरीदती है. हर राज्य में खरीद कमेटियां बनी हुई हैं. दो-तीन कमेटियों का मैं भी सदस्य हूं और दूसरी कमेटियों में दूसरे लेखक बंधु हैं. हमारा आपस का समझौता है कि वे मेरी पुस्तक खरीदवाते हैं और मैं उनकी खरीदवाता हूं. इन छह पुस्तकों के चार-चार संस्करण हो चुके हैं और ये पांच पुरस्कृत हुई हैं.'' उसके स्वर में तनिक भी उतार-चढ़ाव नहीं था. सहज भाव से यों बोल रहा था जैसे उसने निर्द्वंद्व और निर्विकार होने की सिद्धि प्राप्त कर ली हो, जैसे उसकी देह में कांटा चुभने की तनिक भी गुंजाइश न हो. ऊपर के जो दो दांत टूट गये थे, वे उसने सोने के लगवा लिये थे और बात करते समय खूब चमक रहे थे.

''अच्छा, यह बताइए कि आपने मेरे लिए क्या सोचा है? मैं घर पर रहकर क्या करूंगा?'' किशोर ने उसे बीच में टोककर पूछा.

''तुम्हें चित्र और कार्टून बनाने की कला आती है? शायद इस बीच अभ्यास छूट गया हो...''

''नहीं, यह मेरी हॉबी है. मैं सर्कस में भी चित्र और कार्टून बनाता रहा हूं.''

''अब अपनी इसी हॉबी का पेशा बना लो. किताबों के टाइटल बनाया करो. तुम्हारा दिमाग भी अच्छा है. एक टाइटल का दो-ढाई सौ रुपया आसानी से मिल जाता है. एक महीने में पांच-छह टाइटल और बाकी जो समय बचे उसमें मनमर्जी के चित्र बनाओ. चित्रों की प्रदर्शनी लगाओ. चर्चा में करवाऊंगा.'' उसने छाती पर हाथ रखकर आश्वासन दिया और सोने के दांत चमकाते हुए आगे कहा, ''एक बार नाम बन जाये तो फिर पैसा ही पैसा है!''

''और मान-सम्मान भी?''

''हां, हां. मान-सम्मान भी.'' किशोर के स्वर में जो विद्रूप था विक्रम ने उस पर बिलकुल ध्यान नहीं दिया, बात जारी रखी, ''मेरा 'मोहभंग' उपन्यास इस समय प्रेस में है. विषय है धर्म निरपेक्षता. यानी हीरो का धर्म में मोहभंग होता है. सबसे पहले तुम उसी का टाइटल बनाओ.''

विक्रम स्थानीय कालेज में हिंदी का प्राध्यापक था. हफ्ते में पांच-छह घंटे पढ़ाने के बाद फुर्सत ही फुर्सत थी. फुर्सत के इस समय के अलावा उसके पास शब्द भंडार भी वाफर था. क्लास में पढ़ाते समय जिस अबाध गति से बोलता था, घर पर उसी अबाध गति से कविता, कहानी उपन्यास और समीक्षा इत्यादि सभी विधाओं में लिखता था. किताबें छपती थीं. गोष्ठियों और परिचर्चाओं में भाग लेता था. रेडियो और टेलीविजन के प्रोग्राम मिलते थे. अब वह रट्टू तोता नहीं, साहित्य समाज का चर्चित और विख्यात प्राणी था. ऐसे ही चर्चित और विख्यात प्राणी उससे मिलने आते और वह उनसे मिलने जाता था.

किशोर ने भाई और उसके इर्द-गिर्द बने माहौल को कुछ ही दिनों में भलीभांति समझ लिया. भाई और माहौल में मकड़ी और जाले का संबंध है, यह बात भी उसकी दृष्टि से छिपी नहीं रही.

इस दौरान उसने टाइटल बनाने का अभ्यास भी कर लिया और भाई को 'मोहभंग' उपन्यास का टाइटल बनाकर दिखाया.

''वाह, वाह!'' विक्रम टाइटल देखकर खिल उठा और तारीफ करते हुए बोला, ''विचार भी ठीक है और रंग भी ठीक है. लेकिन मेरा एक सुझाव है.''

''क्या?''

''इस पृष्ठभूमि में एक मंदिर बनाओ और इस तरह बनाओ कि मंदिर हो भी और नहीं भी.''

''मतलब!''

''गोलमोल. कुछ भी सीधा और साफ-न होना ही साहित्य और कला है.''

किशोर को रिंग मास्टर भूरा की उक्ति स्मरण हो आयी. ''जिस राष्ट्र का विचार बौना हो जाये, वह राष्ट्र बौना हो जाता है.''

वह कुछ क्षण भाई की ओर देखता रहा और फिर धीरे-बहुत धीरे से कहा, ''बेचारा लेखक.''

विक्रम ने यह बात सुनी, शायद नहीं सुनी और शायद वह सुनना भी नहीं चाहता था.

अगली सुबह वह घर पर नहीं था. भाई को बिना कुछ बताये सर्कस में लौट आया. □

पिशाच पुरुष

मरना अच्छा जरूर है पर आसान नहीं... पर सोचने की बात यह है कि क्या मरने से समस्याएं खत्म हो जाती हैं? विरोध क्या महज विरोध के लिए किया जाता है... या विरोध करके सफलता पाना भी जरूरी है!
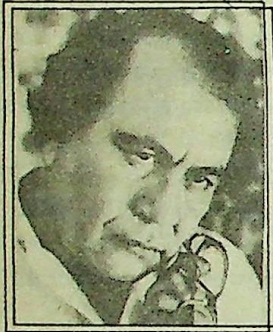
□ यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'

'जमारो' (राजस्थानी कथा संग्रह) पर इसी वर्ष साहित्य अकादमी पुरस्कार. प्रमुख कृतियां : 'काल-परिधि', 'हजार घोड़ों का सवार', 'एक और मुख्यमंत्री', 'प्रजाराम', 'सन्यासी और सुंदरी' व 'ढोलन कुंजकली' सहित पचास से अधिक उपन्यास. 'इक्यावन कहानियां', 'जंजाल तथा अन्य कहानियां', 'मिनखखोरी', 'पीटर बहुत बोलता है' सहित सत्रह कहानी संग्रह. 'हूं गोरी किण पीव री', 'जोग संजोग', 'जमारो', 'तास रो घर' (राजस्थानी साहित्य)
संप्रति : स्वतंत्र लेखन.
संपर्क : 'आशालक्ष्मी' नया शहर, बीकानेर-334 001.

उसे फिर भी ज्ञान नहीं हुआ. हालांकि जो त्रासदी उसके साथ घटी थी, भारतीय अध्यात्मिक दृष्टि से उसको ज्ञान हो जाना चाहिए था कि ये सब उसके कुकर्मों व पापों का फल है. पर सूरजभान इस त्रासदी का विश्लेषण कुछ और ही ढंग से करता था जैसे ये उसके पूर्वजन्मों के पापों का फल है. भाग्य के अमिट लेख मिटाये नहीं जाते. अपरिवर्तनशील हैं.

सूरजभान नेता, व्यापारी था. आधा सार्वजनिक कार्यकर्ता और आधा व्यवसायी. ठिगना कद, कंजी आंखें, भरा-भरा शरीर, आंखों में चमकती एक विचित्र ठंडी दहक. बार-बार कान में खुजली करना... वह पाजामा-कुर्ता पहनता था, वह भी खादी का. उसे एक ही रंग पसंद था—सफेद. कपड़े वह सदा लांड्री में धुलवाता था—एकदम झकाझक.

उसके पास काफी पैसा था पर वह सदा ईश्वर की सौगंध खाकर अपनी गरीबी का रोना रोया करता था. ठेकेदारी से लेकर जमीन की खरीदी-बेची का वह धंधा तक करता था.

हाल ही में सूरजभान की पत्नी का देहांत हो गया. कैंसर से.स्तन का कैंसर था उसे. जब वह बीमार पड़ी और रोग की जांच हुई तो डाक्टर ने उसे परामर्श दिया, "आप अपनी पत्नी को तुरंत ही बंबई ले जाइए... इन्हें कैंसर है. ईश्वर ने चाहा तो वह बच जायेगी."

वह कुछ क्षणों तक डाक्टर की ओर देखता रहा. उसकी आंखें गीली हो गयीं. एक कोमल तटस्थता से उसका चेहरा ढंक गया.

"क्या बात है?" डाक्टर ने फिर पूछा.

"डाक्टर साहब, मेरे पास इतने पैसे नहीं हैं. आप तो जानते हैं कि मैं तो अपना सारा समय सार्वजनिक कार्यों में लगा देता हूं. सच्चाई के लिए निरंतर लड़ाईयां लड़ता रहता हूं."

डाक्टर ने अविश्वास का भाव दर्शाते हुए कहा, "पर मैंने तो सुना है आपके पास काफी पैसा है? व्यवसाय करते हैं. सट्टा करते हैं?"

उसने अपनी आंखें गीली करके और रूखड़ आकृति को दुख से पोतने की चेष्टा करते हुए कहा, "डाक्टर साहब! बस लोगों को एक यही भ्रम है जो मुझे आज तक जिंदा रखे हुए हैं. यदि ऐसा नहीं होता तो बाजार में उधार ही नहीं मिलता." वह पल भर रुका. लंबा सांस लिया. फिर बोला, "डाक्टर साहब! मैं हनुमान बाबा की सौगंध खाता हूं मेरे पास कुछ नहीं है. किसी भी तरह गुजारा कर रहा हूं. प्लीज! मुझ पर दया कीजिए." वह हाथ जोड़कर कहता गया, "मेरी पत्नी को यह मत कहियेगा कि उसे कैंसर है. वह यह सदमा सहन नहीं कर सकेगी. हे भगवान, तू मुझे किस जन्म की यह सजा दे रहा है! मेरे पांच बेटियां हैं. मैं तो बरबाद हो जाऊंगा." उसके आंसू टप-टप बहने लगे.

डाक्टर ने उसे करुणा से देखा. फिर कहा, "इसमें मैं क्या कर सकता हूं. यहां की सुविधाओं तथा साधनों के अनुसार ही तो मैं इलाज कर सकता हूं पर इससे मरीज को खतरा ही रहेगा."

"आप यहीं इलाज कीजिए." उसने और दीनता से कहा, "डाक्टर साहब, यह बात आप मेरे भाइयों तथा परिवारवालों को मत कहियेगा. यह मेरी इज्जत का सवाल है. आप तो जानते हैं कि आदमी किस तरह घर-परिवार और समाज में अपनी स्थिति को बनाये रखता है. प्लीज... डाक्टर साहब...!"

डाक्टर ने उसे हलके से सिर हिलाकर आश्वस्त किया.

उसने आंसू पोंछने का अभिनय किया. फिर कहा, "आप और मैं, दोनों इस यंत्रणादायक कटु सत्य को जानते हैं कि मरीज के बचने की उम्मीद ना के बराबर है. आप भी निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह बच जायेगी.... और आप जानते हैं कि बंबई ले जाने का मतलब लाख-पचास हजार रुपये खर्च होना. यदि इतना पैसा खर्च हो गया तो फिर पांच-पांच लड़कियों की शादियां कैसे होंगी? सोचिये.... डाक्टर साहब... मैंने जो कहा, क्या वह गलत है!

ऐसी स्थिति में यदि आप मुझ पर दया नहीं करेंगे तो?... यह सिद्धांत

की बात नहीं है, मनुष्यता की बात है. प्लीज... मुझ पर दया कीजिए."

डाक्टर ने अपने मन के विरुद्ध दीर्घ निःश्वास लेकर कहा, "अच्छा जब आपने अपनी विवशता ही प्रकट कर दी फिर...? ओह! मनुष्य विवशताओं के हाथों का खिलौना है!.... पर...!"

"पर क्या?"

"आपने इतनी लड़कियां...!"

"ओह!" उसने पश्चाताप से कहा, "यह सब मेरी पत्नी की हठ का परिणाम है... लड़के के लालच में इतनी लड़कियां हो गयीं. वह सदा मुझे अपनी सौगंध दिलाकर कहती थी, "आपने यदि नसबंदी करा ली तो मेरा मरा मुंह देखेंगे!... वंशज तो होना ही चाहिए. नारी का पुत्र बिना कोई मूल्य नहीं. न जाने कहां से सीख आयी! नारी पुत्र बिना नरोधन बिना... सच तो डाक्टर साहब यह है कि न वह पुत्रवती हुई और न मैं धनवान... हम दोनों भाग्यहीन हैं."

उसका एक-एक संवाद बहुत प्रभावशाली था. डाक्टर शब्दों के चक्कर में आ गया. वह बात का समापन करते हुए बोला, "मुझसे तो बराबर इलाज कराइयेगा..."

"भगवान की सौगंध, इसमें कभी भी नागा नहीं होगा."

सूरजभान मुंह लटकाए डाक्टर के चैंबर से बाहर आ गया.

सूरजभान के पांच लड़कियां थी. निरंतर प्रसव-वेदना भोगने से उसकी पत्नी ऊब चुकी थी और उसे अपने आपसे वितृष्णा-सी हो गयी थी.

वस्तुतः सूरजभान अत्यंत ही प्रभावशाली ढंग से झूठ बोलता था. एक तरह से वह झूठ को सच की तरह बोलता था. उसके स्वर में झूठ खनकता ही नहीं था. अत्यंत गहरेपन से सत्य का प्रभाव डालता था उसका झूठ. उसके लिए शब्द हो गये थे—मूल्यहीन-अर्थहीन.

सूरजभान ने कभी भी उस स्त्री को अपनी स्त्री नहीं माना. केवल भोग की वस्तु समझा... वह अंधेरों में नंगी लड़ाइयां लड़नेवाला एक काम-कीट था... उसकी स्त्री नरबदा हाथ जोड़-जोड़कर उससे विनती करती थी, "ईसरी के बापू, आप आपरेशन करा लीजिए... यदि आप न कराना चाहें तो मेरे करवा दीजिए. सच, मुझमें बच्चे पैदा करने की शक्ति नहीं है. तीन बेटियां ही बहुत हैं. नसीब में बेटा नहीं होगा तो कैसे होगा! क्यों आप लड़के के मोह में लड़कियां इकट्ठी कर रहे हैं. आपका और मेरा जमारा (जन्म) खराब हो जायेगा."

उस समय वह क्रोध में आंखें लाल कर लेता. उसके जबड़े खिंच जाते. अजीब-सी गुर्राहट के साथ कहता, "यदि बेटा नहीं होगा तो हमारा जमारा ऐसे ही खराब हो जायेगा... अरे पगली, पालनेवाला में हूं—अंटी मेरी ढीली होती है, तुझे टाबर जनने में क्या जोर आता है?"

"जीव से जीव बहुत पीड़ से पैदा होता है."

वह उसे बाघ की तरह घूरता. हिंस्यता उसकी आंखों में दहकती. कहता, "मुझे उपदेश मत दे!.... ज्योतिषि ने मेरी जन्म-पत्री देखकर कहा है कि तेरे बेटा जरूर होगा. तू चप्पर-चप्पर कर मूड खराब मत किया कर!"

वह परास्त हो जाती. हथियार डाल देती और वह नशे में धुत उसे बेमन ग्रसता चला जाता.

जब पांचवीं बेटी हुई और वह अंधी हुई तो उसे बड़ा आघात लगा. फिर भी उसने नितांत दकियानूसी और जाहित मर्द की तरह कहा, "तेरी कैसी कोख है निरभागी? पहले बेटियां जनी और अब अंधी बेटिया जनने लगी."

उसने उतर में आंसू बहा दिये.

वह दांत पीसता हुआ फिर बोला, "किसने हमारी जन्मपत्रिया मिलायी थीं? मेरा जीवन ही खराब हो गया!"

वह केवल रोती रही.

□ मीना भार्गव की कलाकृति

अंधी बेटी के जन्म के बाद उसकी मानसिकता अत्यंत बीमार हो गयी. वह उद्विग्न और क्षुब्ध रहने लगा. उसमें मन में घृणा के कैक्टस उगने लगे.... यदि यह अंधी लड़की न मरी तो वह चिंता की आग में जीते जी जल जायेगा. आज वह स्वीकार करता है कि चिता मरे हुए को जलाती है और चिंता जीतेजी को.

वह कभी-कभी आंतरिक दुर्धर्ष संघर्ष में सामान्य स्थिति से परे होकर विक्षिप्त-सा बर्ताव करने लगता था. बेटियों को भद्दी-भद्दी गालियां देता और पीट देता था. यदि बीवी उसे कहती कि वे व्यर्थ में बच्चियों को क्यों डांट रहे हैं, क्यों पीट रहे हैं तो वह क्रूरता की सीमा लांघकर कहता, "चुप कर छाती-छोलणी, मेरे जीवन का सत्यानाश कर दिया-बेटियां जन कर! जैसी खुद उजड्ड वैसी ही बेटियां मूर्ख. अक्ल नाम की चीज ही नहीं है उनमें. न वे अच्छा काम करती हैं और न पढ़ती हैं. दिन भर घर-आंगन तोड़ती रहती है."

वह शांत रह जाती. वह जानती थी कि यह उसका पति राक्षस है... पिशाच है. वह अपनी बेटियों को अपने पति की अनुपस्थिति में कहती, "देखो मेरी लाडलियो, हमारे नसीब फूटे हुए हैं. तुम लोग समझदारी से काम लो."

"पर मां, पिताजी छोटी-छोटी चीज के लिए मना कर देते हैं और हमारी नाक स्कूल में कट जाती है. हमें वहां अपमानित होना पड़ता है. शिक्षकों की बातें सुननी पड़ती हैं."

बड़ी लड़की ईसरो विद्रोहात्मक स्वर में कहती, "ऐसे जीने से तो मरना अच्छा है."

"मरना अच्छा जरूर है पर आसान नहीं." मां समझाती, "फिर लाडी, मरने से किसी समस्या का अंत नहीं होता बल्कि वह समस्या और उलझ जाती है.... तुम सब शांत रहो. धैर्य रखो. तुम सबमें इतनी ताकत नहीं है कि अपने इस जल्लाद और नीच किस्म के बाप का विरोध कर

सको. केवल विरोध करने से तो बात नहीं बनती. विरोध करके सफलता पाना भी जरूरी है."

उसी समय किसी बर्तन के सीढ़ियों से गिरने की अप्रिय और डरावनी आवाज सुनायी दी साथ ही कर्कश-स्वर भी, "कुतिया, बर्तन क्या मुफ्त का आता है! जैसी मां वैसी बेटियां! सऊर नाम को नहीं."

तीसरी लड़की भयाक्रांत-सी एक कोने में दुबकी खड़ी थी. उसका बाप खूंखार भेड़िया-सा उसकी ओर देख रहा था. क्रूर हिंस्रता थी उसके नशीले नेत्रों में.

छोटी बेटी गीता का दिल धड़क रहा था. अनागत प्रहारों का विश्वास लिये हुए वह और दीवार से सट रही थी.

तभी वह झपटा. उसने उसकी चुटिया को निर्ममता से खींचकर जमीन पर गिराया. लातों व थप्पड़ों से पीटा. भद्दी-भद्दी गालियां दीं.

ईसरी ने आकर बाप को थामा और गुस्से में कहा, "क्या जान से मारेंगे इसे?"

"हां मारूंगा. इस रांड ने देखो 'गुणिया' सीढ़ियों से गिरा दिया है."

तीसरी ने रोते-रोते कहा, "ईसरी, मुझे न जाने जोर से चक्कर क्यों आ गया. अपने को बचाने के लिये मैंने गुणिया...!"

"पिताजी! आप मनुष्य नहीं कसाई हैं!" वह भीतरी घृणा से सने शब्दों में बोली.

"तू चुप रह वर्ना..."

इस अप्रिय मामले का अभी भी अंत नहीं होता, यदि कांग्रेस के जिलाध्यक्ष गोरधन भाई नहीं आ जाते. उनकी आवाज सुनते ही उसका बाप गिरगिट हो गया. एकदम रंग बदल लिया. निर्दयता से भरा उसका सांवला चेहरा सहसा कोमलता से भर गया.

"भीतर जाओ और भीतर ही रहना." उसने बेटी को आज्ञा दी और वह बाहरी बैठक में चला गया.

वह आदर भाव से मुस्कराता हुआ बोला, "आइए गोरधन भाई, कैसे आना हुआ?"

गोरधन भाई कुर्सी पर बैठ कर बोला, "सूरजभाई, आज समीप के गांव में एक मीटिंग है. ग्रामीण महिला विकास को लेकर चर्चा करनी है. आपको आना है और कुछ बोलना भी है. आप बहुत ही प्रभावशाली ढंग से बोलते हैं."

"अरे गोरधन भाई, हमें क्यों शर्मिंदा करते हैं!" सूरजभान ने विनम्रता से कहा, "मैं नाचीज आपके सामने क्या हूं?"

आप विश्वसनीय बातें करते हैं, चाहे वे हों ही नहीं. फिर आश्वासन देने में भी आप बहुत उदार हैं."

सूरजभान जैसे स्वप्न में खोता हुआ-सा बोला, "इस देश में नारियों की बड़ी ही दुर्दशा है. पुरुषों की ज्यादतियां सहते-सहते वह अहिल्याएं बन गयी हैं. फिर ग्रामीण औरतें... रूढ़ियों और अत्याचारों के अंधेरे में गुम है. उनका विकास..."

ईसरी दो गिलास पानी के लेकर आयी. सूरजभान ने स्नेह से पूछा, "बेटा! पानी ट्रे में लाती?"

गोरधन भाई ने कहा, "अरे क्या जरूरत है! ला बेटा... यह तेरा बाप है न, बड़े सलीके का आदमी है... इसे जरा भी बेठीक काम जचता नहीं."

ईसरी ने जलती निगाह से अपने बाप को देखा. फिर चलती बनी.

"हां, मंदिरवाली रोड का सड़क निर्माण का ठेका ले लें क्या?" जिलाध्यक्ष ने धीरे-धीरे कहा जैसे वह कोई रहस्य की बात उगल रहा है.

"लेना है." सूरजभान की आंखों में तृष्णा की दीप्ति जाग उठी.

"किसके नाम से लें."

"किसी भी नाम से ले लीजिए. सुनहरा अवसर मत खोइए."

"पार्टनरशिप में."

"हां."

तभी ईसरी आ गयी. उसने पूछा, "पिताजी, चाय बनाऊं, वैसे दूध नहीं है."

"ना बेटी ना." गोरधन भाई ने मना किया, "मैं अभी-अभी चाय पीकर आ रहा हूं."

सूरजभान ने जैसे झेंप मिटाते हुए कहा, "गोरधन भाई, दूध सप्लाई की व्यवस्था सही नहीं है. आज कंबख्त दूधवाला दूध ही नहीं दे गया. मेरा तो सुझाव है कि गली-गली, मोहल्ले-मोहल्ले में डेरी के डिपो खुलने चाहिए."

गोरधन भाई उठ गया. बोला, "शाम को रंग जमाना है."

पाप और पापी

□ रवि प्रकाश

बसंतो अब अधेड़ हो चली हैं. बच्चे, बूढ़े और इर्दगिर्द के लोग उन्हें लुपुरी दीदी कहते हैं. बसंतो का नाम लुपुरी कब पड़ा--यह अपने में रोचक घटना है. गांव के लोग, नातेदार और रिश्तेदार सभी उनका सम्मान करते हैं.

लुपुरी स्वभावतः बड़ी कंजूस थीं. वह बच्चों से कहतीं, तुम अपनी खुराक से भोजन का एक कौर (कवल) कम करो. अगर बच्चे एक-एक कवल कम भोजन करेंगे तो शरीर पर कोई दुष्प्रभाव न होगा मगर ऐसा करने से प्रतिदिन दोपहर और शाम के भोजन में दो रोटियों का आटा बचेगा. इस प्रकार एक महीने में और एक वर्ष में कितना आटा बचेगा!

लुपुरी का बड़ा लड़का बी.ए. पास करने के बाद फैक्ट्री में लायजन अफसर बन गया है. लुपुरी को चिंता खाये जा रही है कि बहू ऊंचे घर की आयेगी. उसकी साड़ियां लांड्री में धुलेंगी. बहू मुंह पर पाउडर पोतेगी. मंहगा साबुन, मंहगी चूड़ियां और छमक-छल्लो बनने के लिए नये-नये डिजाइनों की सैंडिलें जो सौ-डेढ़ सौ रुपयों की आती हैं, खरीदेगी और सरकस, सिनेमा जाने से ऊबेगी नहीं. युग बदल गया है तो क्या, हमें कुछ मर्यादाओं का पालन करना है. हमें कई अच्छी बातें विरासत में मिली हैं. वे मन में सोचतीं, हम बहू को समझायेंगी. लुपुरी की भांजी अक्सर पूछा करती, "भाभी कब आयेगी." लुपुरी भोली कहतीं, "परिवार संपन्न मिले तो भाभी आयेगी." लुपुरी की हार्दिक इच्छा थी कि बहू संपन्न परिवार की अवश्य हो ताकि बिना मुंह खोले हुए खूब रुपये-पैसे और गृहस्थी के सारे सामान

"आप चिंता न करें. परिवार नियोजन से लेकर नये कर्ज मिलने तक की चर्चा कर दूंगा. आपने वह विज्ञापन नहीं पढ़ा-रंग जमा दे धूप मचा दे."

दोनों खिलखिला कर हंस पड़े.

वह चला गया.

सूरजभान भीतर आया. उसे लगा कि ईसरी ने उसकी प्रतिष्ठा नष्ट कर दी है. एक बार क्रोध में उसका शरीर कांप गया. उसके अस्तित्व को नष्ट कर दिया.

वह चीखा, "ईसरी!"

ईसरी उसके पास आयी. उसने उसके चांटा मारकर कहा, "कमीनी! तूने जिलाध्यक्षजी के सामने क्यों कहा कि दूध नहीं है?"

"क्या सत्य बोलना अपराध है? वस्तुतः आज दूध घर में है ही नहीं."
"बंधी का दूध कहां गया?"
"मां को पिला दिया. उससे रोटी खायी नहीं जाती. जीव पर छाले हैं."
"तो दूध गली की मोड़वाली रंगा महाराज की दूकान से ले आती. भंवर की कोटड़ी से ले आती."
"वे नकद पैसा मांगते हैं."
"पैसा पैसा....पैसा....!" वह जैसे पराजित क्रोधित व्यक्ति की तरह पांव पटककर चेतावनी देता हुआ बोला, "तुम्हें कहे देता हूं कि आगे से ऐसी बात मत करना, वर्ना-तेरी हड्डी पसली एक कर दूंगा."

अंतिम शब्दों पर उसे गुस्सा आया. हालांकि अपने बाप के सामने अपने को अशक्त समझती थी पर अभी उसने अपनी भीतरी शक्ति को एकत्रित किया. एक युवा लड़की की सारी शक्ति, विद्रोह और विश्वास को सींचत किया. बोली, "आप हमारे बदन पर नील जमा सकते हैं, हमें भूखा... नंगा रख सकते हैं... पर आप एक बाप का धर्म नहीं निभा सकते.... प्रेम से हमें पाल नहीं सकते. हजारों रुपये होने के बाद भी हमें नरक की जिंदगी जीने को मजबूर करते हैं."

"तू भाषण देती है?" वह चीखा.
"नहीं, सच कह रही हूं. झूठे भाषण तो आप देते हैं." उसने संयम से कहा.

सूरजभान आगे बढ़ा-लड़ाकू मुद्रा में! ईसरी की नसें गर्म हो गयीं. सिर झुक गया. वह अब उसकी पाशविकता के सामने समर्पित हो जायेगी. इस क्रूर ठोस आकृति के भीतर वास्तव में पिशाच है, राक्षस है.

वह फिर तीव्रता से बोली, "मारो,... पिताजी मुझे मारो! आपको कसाईपन में ही मजा आता है."

सूरजभान क्रोध से सराबोर था. उसकी उंगलियां तड़प थी मुठ्ठियां भिंच गयीं. भीतर बार-बार ज्वालाएं भड़कतीं और शांत होती थीं.

वह सहसा पलटा और बोला, "बताऊंगा तुझे... आज तेरी खैर नहीं."

वह धड़धड़ाता चला गया.

नरक दर नरक मिलते जा रहे थे सूरजभान की बेटियों व बहू को. इधर वह उनकी और उपेक्षा करने लगा. खोखली नेताई और नेताओं के संपर्क से वह येनकेन प्रकारेण दान उपार्जन कर रहा था और एक दिन ईसरी को पता चला कि उसके बाप ने किसी सुनारिन को रखैल के रूप में रख लिया है. उसने उसे शहर की एक धनी बस्ती के मकान में रखा है. उस मकान के आगे भी रास्ता है और पीछे भी. उसे इस प्रमाणिक सच्चाई पर यकीन नहीं हुआ.

तब गिरिजा भुआ ने आंखें मटकाते हुए दार्शनिक की तरह कहा, "मुझे झूठ बोलने से क्या फायदा. मैं खामखा झूठ बोलकर पाप की भागिन क्यूं बनूं? तेरे बाप की झूठी बातें कहकर मुझे कौन-सा अपना घर संवारना है? मैंने जैसी सुनी, वैसी तुम्हें कह दी?"

"पर मेरा बाप तो गंदगी में से पैसा निकालने वाला है?" उसने उदासीनता से कहा.

"मेरी लाडो बिटिया! यह मरदजात बड़ी कमीनी होती है. लुगाई को देखते ही इसकी धोती ढीली हो जाती है और इसकी सारी जेबों के बटन खुल जाते हैं. तुझे पता नहीं तेरे बाप के क्या लक्षण हैं! वह काति का कुत्ता है... वह जगह-जगह मुंह मारता-फिरता है. वह ऊन की कोटड़ियों में क्यों जाता है. वहां वह नेताई भी करता है, सेठों से मिलकर गरीब मजदूरिनों का लहू भी पीता है और.... और बापडी मजदूरिनों का नंगापन भी देखता है. मजदूरिनों की नेता मुकादम को ले-देकर बेचारी कच्ची छोरियों...! वह...बस, ज्यादा मत पूछ."

गिरिजा भुआ की थकी-हारी आंखों में वेदना तैर आयी. साठ बरस की विधवा और अनुभवी. जाते-जाते बोली, "भगवान ही बचाये ऐसे पुरुष से.

ईसरी सत्रह साल की थी. स्त्री पुरुष के बीच क्या होता है, वह सब जानती थी. वह कभी-कभी तो मर्मांतक यंत्रणाओं से घिर जाती थी जब उसका बाप दारू पीकर उसकी बीमार मां के साथ अंधेरे में नंगी लड़ाइयां लड़ता था. उसकी मां जिसमें कुछ भी झेलने की शक्ति नहीं थी, लंबे-लंबे सांस लेती घुटी आवाज में कहती, "छोड़ दो मुझे... मैं मर जाऊंगी... मेरे दर्द होता है—बहुत पीड़ होती है. अरे मेरे परमेश्वर छोड़ दे!"

पर उसका बाप पिशाच बना रहता.

एक दिन उसकी मां की बीमारी बढ़ गयी और जब लोक-लज्जा के भय और अपने नेताई चरित्र को बचाने के लिए उसकी जांच-पड़ताल करायी तो पता चला कि उसकी पत्नी को तो स्तन कैंसर है. उसके बाप ने पैसा बचाने के लिए प्रभावशाली अभिनय से डाक्टर को आश्वस्त कर दिया कि उसकी माली हालत खराब है और वह उसका इलाज नहीं करवा सकता. वह अथाह वेदना भोगते हुए जीने लगी. जब डाक्टर को यह पता चला कि उसकी बीवी पेट से है तो उसका मन सूरजभान के प्रतिघृणा से भर उठा. उसने चिढ़कर कहा, "आपमें जरा मनुष्यता नहीं है! इस हालत में प्रैगनेंट...!"

वह बीच में ही विगलित स्वर में नाटकीयता से बोला, "आपको

मिलें. लेकिन बहू हो तो बेजबान. जैसे ही लुपुरी नहाकर उठे, वैसे ही उनकी साड़ी और ब्लाउज धो डाले. पूजा घर में अगरबत्ती की फैली राख को समेट ले. पूजा के बाद जल का लोटा लेकर सिर झुकाकर अंगुलियों से मुखचंद्र को ढके हुए धीरे-धीरे सप्तपदी में फेरे लगाने वाली वधू की नाईं चलती रहे.

परमात्मा के हाथ लंबे होते हैं. लुपुरी के लख्ते जिगर की सगाई एक विदेशी व्यापारी की कन्या से तय हो गयी. लुपुरी तो पहले से सूंघ चली थीं कि बेटे की शादी में लाखों बिना मांगे मिलेंगे. बच्चे का पाणिग्रहण धूमधाम से हुआ. बारातियों का स्वागत बड़े ही ऊंचे पंचतारा होटल में किया गया.

पड़ोसियों ने लुपुरी दीदी की भूरि-भूरि प्रशंसा की, "तुम्हारे भाग्य से यह सौम्य परिवार और भोली-भाली बहू और उत्तम कोटि के संबंधी मिले. बच्चों को शिक्षा भी बड़ी अच्छी दी. इस जमाने में बच्चे अच्छे निकलते हैं कहां?"

इस प्रशंसा के बहते स्रोत में एक रोड़ा आ पड़ा. ममेरे भाई ने कहा, "अब मांडव हिलाई की रस्म बाकी है." सभी मांडव की ओर दौड़े और समधी तथा समधिन से अपना-अपना हक मांगने लगे. हमारे मन के किसी न किसी कोने में अपुण्य के कीटाणु रेंगते रहते हैं और वे अवसर पाकर कुरेद देते हैं जिससे कानों की शष्कुली की धूल हट जाये.

भइया ने कहा, "समधी तो स्मगलर है. खूब पैसे कमा रहा है. खर्च करने में उसका क्या घटेगा."

इसी समय लुपुरी का पारा गर्म हो गया. "मैं स्मगलर की कोई भी वस्तु नहीं लूंगी. ये लोग देश की अखंडता को मिटा रहे हैं. हां उसकी बेटी को अवश्य बहू बनाऊंगी. मैं पाप से घृणा करती हूं, पापी से मुझे प्यार है." □

हमारी वास्तविकता का पता नहीं है. डाक्टर साहब, यह औरत अपने वंशज के लिए मृत्यु से भी खेल सकती है. यह रोती रहती है कि मुझे बेटा चाहिए... बेटा... मैं जीवन के बदले एक बेटा चाहती हूं... ओह! आप मानवीय करुणा को नहीं जानत. संवेदना के स्तर पर भी आदमी टूटता है. मैंने कुछ भी किया तब मेरी स्थिति होकर भी न होने की थी. एक विचित्र रिक्तता से भरा-भरा-सा रहता था मैं. एक आत्मा की लाचारी से दब जाता था मैं.

डाक्टर ने उसे आग्नेय-दृष्टि से देखा. फिर कहा, "राम जाने बच्चा पहले होगा या मौत!"

उसने आंसू टपका दिये. घड़ियाली आंसू.

मृत्यु की भयावह पीड़ा में सूरजभान की पत्नी छटपटाती रही उसका तड़पना किसी से नहीं देखा जाता था. वह जब कभी भी होश में आती थी कहती थी—हे भगवान! मुझे उठा ले. मुझे मौत दे दे. यह पीड़ा मुझसे नहीं सही जाती...!"

लगता सारी पीड़ा उसके चेहरे पर सिमट आयी थी. उसकी सारी बेटियां मृत्यु-संत्रास की अव्यक्त अपरिभाषित पीड़ा से घिरी रहती थीं. उसका बाप तब भी एक क्रूर तटस्थता और मौन से घिरा रहता था—अपनी बेटियों के बीच. दूसरों के सामने वह करुणापुते शब्दोंडंबरों के साथ अपनी पत्नी की पीड़ा को अभिव्यक्त करता था.

ईसरी को उसमें तीव्र घृणा थी. उसके मन में अपने दुष्ट पिता के प्रति दुराशीषों का अंबार था. सोचती थी—यह आदमी है या राक्षस! यह दो मुंहा-सांप है—एक मुंह से यह हमारे लिए जहर उगलता है और एक मुंह से दूसरों के लिए अमृत.

मां मर गयी. ईसरी और और अन्य बहिनें रोकर थक गयी पर सूरजभान ने तो पत्नी वियोग का इतना पीड़ादायक प्रदर्शन किया कि सब उसके प्रति दयावान हो उठे. लोगों को लगा कि जैसे राम का विछोह सीता से हो गया है.

ईसरी ने अपनी बहिनों को अपने सीने से चिपका लिया. उसमें बहुत प्रौढ़ता आ गयी.

एक दिन उसने अपनी सहेली से कहा, "मेरी मां मुझे अपनी मां बनाकर चली गयी. मैं हारूंगी नहीं, अपनी इन बहिनों को पालूंगी इन्हें काबिल बनाऊंगी."

सूरजभान शंकित हो गया. उसे विस्मय हुआ कि उसकी बेटी सहसा बड़ी बुढ़ियाओं-सी बातें कैसे करने लग गयी है? वह चौकन्ना हो गया.

इधर वह रात को कई बार अपनी प्रेमिका के यहां सोता था. पीछे के दरवाजे से वह घुसता था और तड़के सुबह वह बाहर निकल कर घर लौट आता था.

ईसरी ने सब कुछ जान लिया. एक दिन वह अपनी तीन बहिनों तथा एक अंधी बहिन को लेकर अपने बाप की प्रेमिका के घर पहुंची. उसे अपनी दयनीय स्थिति बतायी तथा उसके सामने अपने अभावों को रोना रोया. उसके बाप की प्रेमिका ने सर्वथा अपने को निर्दोष बताते हुए कहा, "मैं क्या करती, इसने मेरी गरीबी का लाभ उठाकर मुझे अपने जाल में फांस लिया. यह मेरे पति का मित्र था. उसे एक ठेके में दिवालिया बनवाकर ऐसे फंसाया कि उसे जेल होने तक की नौबत आ गयी. फिर अपने पति को जेल और यातनाओं से बचाने के लिंए मैं इसकी रखैल हो गयी. तेरा बाप आदमी नहीं है, राक्षस है... आदमी में कहीं न कहीं दया जरूर होती है, पर इसमें तो दया का अंश मात्र भी नहीं है. बेटी, मैं तुझसे क्षमा मांगती हूं. मैं तो अब भी अपने पति के पास जाना चाहती हूं पर इसने अपने जाल में हमें ऐसा फांस रखा है कि बिना इसकी मर्जी के जा भी नहीं सकती." उसने सांस लेकर फिर कहा, "यह तेरा बाप कुछ भी कर सकता है. यह मेरे पति को मरवा भी सकता है. बहुत कठोर है यह."

प्रेमिका की आंखें भर आयीं.

ईसरी लौट आयी.

तीसरा दिन.

प्रकाश के साथ ईसरी जगी. अभी सूरज प्राची के प्रांगण में आया नहीं था. केवल आने का अस्तित्व बता रहा था. चारों ओर सन्नाटा था. कोई राहगीर गा रहा था, "गोपाला भई गोपाला..."

ईसरी अपने बाप के कमरे में गयी तो वह चीख पड़ी. उसका बाप फांसी के फंदे पर झूला हुआ था. वह चीखती चिल्लाती बाहर निकली. थोड़ी देर में भीड़ जमा हो गयी. आश्चर्यमिश्रित भय चारों ओर व्याप्त हो गया. पुलिस थाने में सूचना दी गयी. तरह-तरह के संवादों से कमरा भर गया. दो सिपाही आ गये. उन्होंने देखा कि रस्सी का एक सिरा खिड़की की सलाख से बंधा है और दूसरा सिरा फंदे की शक्ल में छत की कड़ी से लटका हुआ है. उससे उसका बाप झूल रहा है. नीचे गिरी हुई कुर्सी पड़ी है. आत्महत्या का सीधा मामला लगता था.

सूरज निकल आया था. उसकी धूप सूरजभान की लटकती लाश के पांवों को छू रही थी. वह ईसरी को प्रेत लग रहा था. ईसरी अब तटस्थ थी. अपने झूलते बाप की लाश के ठंडे-नीले चेहरे को देख रही थी जो अब भी उसे क्रूर लग रहा था. वह कांप गयी. किसी अपराध बोध से घिर गयी. उसके बाप ने आत्महत्या क्यों की, किसलिए की...? वह सोचती रही.

वह निश्चल खड़ी थी. प्रश्न की परछाइयां उसकी आकृति पर पड़ रही थीं. दुःस्वप्न की दीप्ति उसकी आंखों में थी. फिर वह सहसा भीड़ की घुसरफुसर के बीच आर्तनाद कर उठी. अपने बाप की लाश के पांव पकड़कर फूट-फूटकर रो पड़ी.

पुलिस ने उसे अलग करके डांटा, "लाश को मत छुओ. अभी जांच पड़ताल होनी है."

वह अकेली व मौन थी. एक भयावह पीड़ा ने उसे घेर लिया. अदृश्य लपटें उसके अस्तित्व को जलाने लगीं. एक अजीब-सा दर्द भरा अपराध-बोध. एक मौन आत्मस्वीकृति जो विराट शून्य में तैरकर समाप्त हो गयी कि उसने शराब के नशे में अचेत अपने पिता को चरम घृणाजनित स्थितियों में उस स्वयं तो नहीं मार डाला? नहीं-नहीं! जैसे पास से गुजरती हवा ने कहा—नहीं-नहीं, तेरे पिशाच बाप को तो उसकी क्रूरता, पशुता और नीचता ने मार डाला. कल वह जब अपनी प्रेमिका के पास गया था तब वह शराब में धुत था और उसकी प्रेमिका अपने पति के साथ थी. बस गुस्से में उससे लोहे की सलाख अपनी प्रेमिका के सिर पर दे मारी जिससे वह तुरंत मर गयी. उसका पति भाग गया था. उसे नहीं मालूम कि उसकी पत्नी मर गयी है. बस, वह फिर शराब पीता रहा और घर आकर आत्महत्या कर ली.

एक घंटे बाद पुलिस के अधिकारियों ने लाश का मुआयना करके उसे पोस्टमार्टम के लिए भेज दिया. उन्हें कोई खास बयान भी नहीं मिला. केवल ईसरी कहती रही कि जब वह उठी तब उसने अपने बाप को फंदे पर लटके हुए पाया.

फिर मृत्यु के पश्चात दाह-संस्कार की सारी औपचारिकताएं होती रहीं. गिरिजा भुआ बार-बार वाक्य ईसरी के चारों और दोहराती रही-अच्छा हुआ यह पिशाच मर गया!... मर गया!

ईसरी ने सारी स्थितियों का जायजा लेकर सोचा कि कम से कम वे लोग अब एक अच्छा जीवन तो जियेंगे. फिर वह बार-बार आक्रांत होकर अपने दोनों हाथों को देख रही थी और एक भ्रम में झूल रही थी कि कहीं उसने अपने पिता की हत्या तो नहीं कर दी है!

यह प्रश्न उसको चुभता रहा! □

भाभीजी

□ अज्ञेय

कवि कथाकार अज्ञेय का भगवतीजी पर केंद्रित यह संस्मरण अज्ञेय-साहित्य की अप्रकाशित निधि तो है ही जैनेंद्रजी के परिवार के साथ अपनापे के वृत्त भी कुछ इस तरह प्रस्तुत करता है कि संस्मरण-साहित्य के क्षेत्र में एक नयी लकीर ही खींच जाता है.

किसी को स्मरण करना जितना आसान है, उसके संस्मरण लिखना उतना ही कठिन होता है, लेकिन कुछ व्यक्तियों के संस्मरण विशेष रूप से कठिन होते हैं. मैंने शायद अपने लिए यह कठिनाई और बढ़ा रखी है. मेरी धारणा है कि लिखना तो निजी कर्म भी होता है, सार्वजनिक कर्म भी हो सकता है, लेकिन प्रकाशनार्थ लिखना तो सार्वजनिक कर्म ही है और उसकी जिम्मेदारी अपने तक सीमित नहीं है. बल्कि संस्मरण लिखने में तो अपने को नगण्य मानकर चलना चाहिए.

भाभी (भगवती जी) के संस्मरण लिखना मुझे विशेष रूप से कठिन जान पड़ता है. निःसंदेह उनकी एक सार्वजनिक प्रतिमा भी थी और एक समय उन्होंने सार्वजनिक जीवन में सक्रिय भाग भी लिया था. लेकिन प्रायः पचास वर्ष पहले, जब उनसे प्रत्यक्ष परिचय हुआ–जैनेंद्रजी से पत्राचार तो उससे पहले से था–तबसे मैं भगवतीजी को एक ऐसे व्यक्ति के ही रूप में जानता रहा जिसे अंग्रेजी में '**प्राइवेट पर्सन**' कहा जा सकता है. जिस अवधारणा का कोई हिंदी पर्याय मुझे नहीं सूझता क्योंकि हमारा समाज निजता के इस पक्ष को महत्व नहीं देता और 'पारिवारिक व्यक्तित्व' इस अर्थ में 'प्राइवेट' नहीं है. यों भारतीय संदर्भ में हर व्यक्तित्व अत्यंत विशिष्ट और निजी भी है और उतने ही सघन रूप से सामाजिक और सार्वजनिक भी.

भगवतीजी की कोई भी याद इस पारिवारिक संदर्भ से काटकर अलग नहीं की जा सकती. और पारिवारिक संदर्भों को प्रकाशित मैं किस अधिकार से कर सकता हूं? वे स्मृतियां मेरे लिए मूल्यवान हैं, पारिवारिक परिवेश में उनकी बात भी कर सकता हूं लेकिन प्रकाशन? जैसा मैंने कहा, प्रकाशन के उत्तरदायित्व मैं अलग से मानता हूं. लिखने के लिए सिर्फ इतना काफी नहीं है कि मैं लेखक हूं.

जेल और किले की नजरबंदी से छूटकर लाहौर में घर ही में नजरबंद था कि एक गवाही के लिए अजमेर जाना पड़ा. अजमेर में 'सरकारी गवाह' के रूप में मैं बुलाया गया था इसलिए वहां जाने की अनुमति भी पुलिस ने दे दी थी. लाहौर से अजमेर जाना दिल्ली होकर ही था. लाहौर से रात की गाड़ी से चला और सबेरे दिल्ली पहुंचा, दिल्ली से अजमेर की गाड़ी शाम को पकड़नी थी इसलिए दिन भर की मौहलत थी. स्टेशन से नहा-धोकर दरियागंज के लिए रवाना हुआ. सी.आई.डी. के दो साइकिल सवार गुर्गे मेरे तांगे के पीछे-पीछे आ रहे थे. उनकी विशेष चिंता मुझे नहीं थी–इसकी संभावना कम थी कि उनके जानते हुए जैनेंद्रजी से मिलने के कारण जैनेंद्रजी के लिए कोई विशेष समस्या खड़ी होगी. मैं तब प्रायः खाकी कपड़े ही पहनता था और यात्रा के लिए तो ऐसी पोशाक से विशेष सुविधा होती थी–उस दिन भी खाकी कमीज और खाकी ब्रीचेज पहने हुए था. तांगा छोड़कर जैनेंद्रजी के घर की ओर बढ़ा तो देखा, वह बाहर ही थोड़ी-सी हरियाली में दो अन्य व्यक्तियों के साथ कुर्सियों पर बैठे हैं और उन्हें कुछ सुना रहे हैं. पहले तो खाकी वर्दी-सी पहने आगंतुक को उन्होंने कुछ असमंजस भाव से देखा, फिर पहचानते हुए पुकारा, "आओ-आओ वात्स्यायन, यहीं आ जाओ." फिर दूसरी ओर मुड़कर उन्होंने पुकारा, "अरे भाई, लाना कुछ कुर्सी-वुर्सी..." और जब तक कोई प्रतिक्रिया हो तब तक खड़े-खड़े दोनों साथियों से उन्होंने परिचय कराया–प्रफुल्ल चंद्र ओझा मुक्त, पद्मकांत मालवीय. अपनी नयी कहानी **एक रात** वह उन दोनों को सुना रहे थे–मेरे आने से वाचन में व्याघात हो गया था.

मेरा नाम सुनकर पद्मकांतजी तो कुछ बेचैन दीखे और फिर कुछ कारण बताकर जल्दी से खिसक गये–शेष कहानी उन्होंने नहीं सुनी.

मूढ़ा लेकर भगवतीजी ही आयीं. यही उनके पहले दर्शन थे. लेकिन उसी दिन उसके बाद ही हम लोग भोजन के लिए बुलाये गये, तभी मानो मैं परिवार के एक सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया था. जिस सहजभाव से भगवतीजी ने मुझे तुम कहकर आदेश के स्वर में बात की, वह मेरे लिए जितना अनभ्यस्त था, उतना ही सुखद भी.

सहज अपनापे का यह घेरा तबसे सदा बना रहा. यही संस्मरण लिखने में सबसे बड़ी बाधा भी है, क्योंकि एक वाक्य में उस अपनापे का उल्लेख कर देने के बाद उसके बारे में और कुछ कहना मानो उसे विकृत करना है. भाभी भगवतीजी से ही नहीं, उनके निमित्त से जैनेंद्रजी के सारे परिवार से जैसी आत्मीयता रही, वह उस कठिनाई को बढ़ाती ही है, कम नहीं करतीं. फिर कुछ कारण हुए कि मैं जैनेंद्रजी से कुछ दूर हट गया, उन कारणों का उल्लेख नहीं करूंगा लेकिन इस दूरी का एक सीधा परिणाम यह हुआ ही कि भाभी से मिलना-जुलना भी बंद हो गया. उन्हें मैं दूरी का कारण बता भी सकता था और शायद जैनेंद्रजी से जो शिकायत मुझे थी, उसे दूर करने के लिए उनका सहयोग भी चाह सकता था, लेकिन मुझे लगा कि वैसा करना ठीक नहीं होगा. भगवतीजी इतनी संपूर्णता के साथ परिवार से जुड़ी थीं–बल्कि वही तो परिवार थीं!–कि जैनेंद्रजी की शिकायत सुनना उन्हें बहुत असमंजस में डालने वाला होता.

एक दिन किसी और बंधु के यहां भगवतीजी से साक्षात्कार हुआ तो उन्होंने उसी सहज अधिकार से सीधे पूछा, "वात्स्यायन, तुम कभी आते क्यों नहीं? हमसे कोई शिकायत है–हमसे कोई कसूर हो गया है?"

मैंने कहा, "नहीं भाभी, आपसे कोई शिकायत नहीं है."

"तो फिर आते क्यों नहीं?"

मैंने कहा, "भाभी, इसका जवाब तो आप जैनेंद्रजी से ही पूछिए."

"उन्हें पता है?"

"उन्हें पता होना तो चाहिए. वह बताना न चाहें, यह दूसरी बात है."

वह चुप हो गयीं. उसके बाद दो-एक बार और इसी तरह अचानक मिलना हुआ, उन्होंने और इस बारे में कुछ नहीं पूछा, न कोई जिक्र किया. मैं नहीं जानता कि जैनेंदजी से उनकी इस विषय में कोई बात हुई या नहीं. इतना ही जानता हूं कि उनका जैनेंद्रजी के पक्ष में निर्णय करना सहज और स्वाभाविक था, जैनेंद्रजी और मेरे बीच कुछ दुराव था तो नितांत अप्रसन्न भाव से उस दूरी को ओढ़ लेना उनके लिए बिल्कुल स्वाभाविक था. फिर जब वर्षों के बाद उस दूरी को मैंने तोड़ा–वह 'दूरी टूटी' न कहकर 'मैंने उसे तोड़ा' ही कह रहा हूं क्योंकि उस दूरी से जैनेंद्रजी को क्लेश भले ही हुआ हो, उसके कारणों को दूर करने का कोई प्रयत्न स्वयं उन्होंने किया, ऐसा मैं नहीं जानता–तब भगवतीजी ने फिर उसी सहजता से मुझे अपना लिया क्योंकि उनके लिए तो वह दुराव ओढ़ा ही
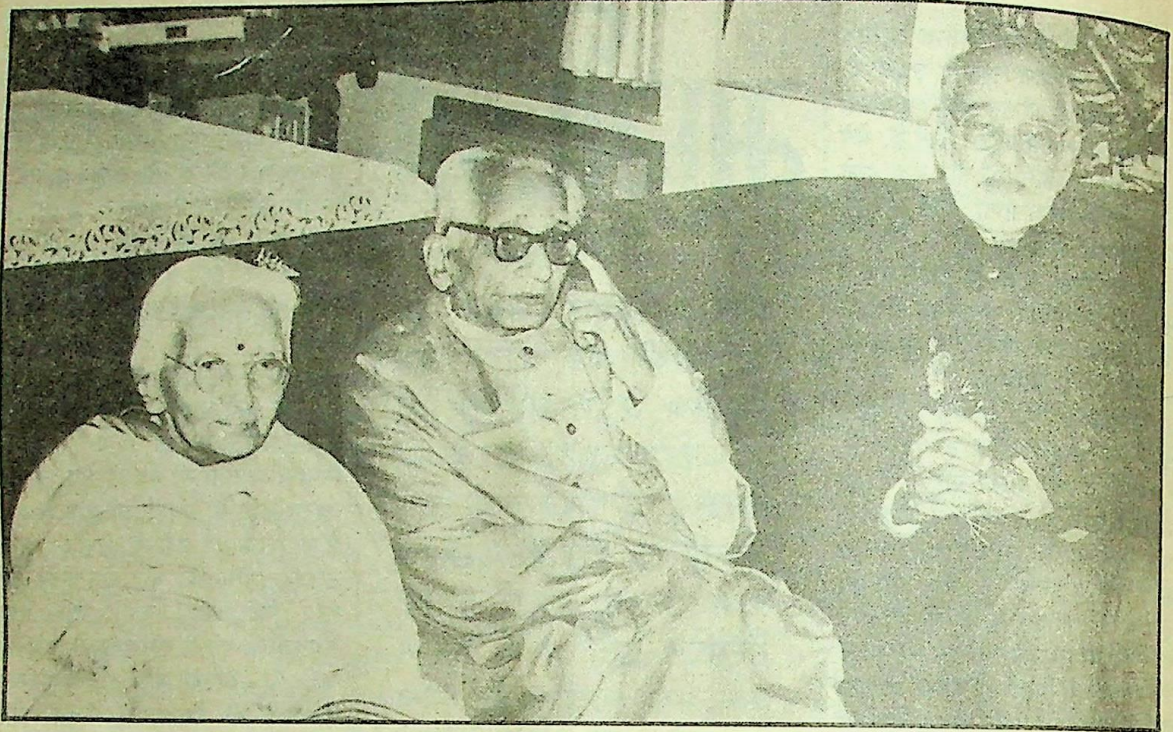
हुआ था. लेकिन वर्षों के अंतराल में उनका स्वास्थ्य काफी गिर चुका था और शरीर टूट रहा था. गहरी थकान के इस वातावरण में वह सहजता पहले जैसे उत्साह की फिर न ला सकी.

तरह-तरह की छिटफुट स्मृतियां हैं. सन् 36-37 के ही आंदोलन भरे दिन. बरसात का मौसम था. बाहर कहीं से शाम को देरी से पहुंचा था. अंधेरा था और झड़ी लगी थी. मैं जैनेंद्रजी के यहां पहुंचा तो देखा दरवाजा बंद है. दो-तीन बार जोर से दरवाजा खटखटाने पर भीतर से भगवतीजी की आवाज आयी, "कौन है?"

मैंने कहा, "भाभी मैं हूं—वात्स्यायन."

उन्होंने कहा, "वह तो अभी बाहर गये हुए हैं, घंटे भर में आ जायेंगे."

"अच्छा, आप पहले दरवाजा तो खोलिए."

"नहीं, दरवाजा नहीं खोलूंगी. क्या पता कौन है. वह आयेंगे तभी..."

मैंने कुछ आश्चर्य से कहा, "आपने मेरी आवाज नहीं पहचानी?"

"पहचानती तो हूं. पर दरवाजा तो तभी खोलूंगी जब वह आ जायेंगे. आजकल कोई ठिकाना नहीं है."

मुझे जितनी खीझ आयी उससे कुछ अधिक ही हंसी. मैं बाहर ही सीढ़ी पर बैठ गया. जैनेंद्रजी की प्रतीक्षा में भीगता रहा. छाता-वाता मैंने कभी रखा नहीं और वर्षा में भीगने को हमेशा एक सुख ही मानता आया हूं. ठिठुरा हूं, कभी-कभार बीमार भी पड़ा हूं, लेकिन वर्षा तो वर्षा है.

कोई घंटे भर बाद जैनेंद्रजी आये और मुझे सीढ़ियों पर बैठा देखकर चौंके, "अरे, तुम यहां कैसे बैठे हो? दरवाजा नहीं खटखटाया?"

जवाब में मैं केवल हंस दिया. उन्होंने दरवाजा खटखटाया, दरवाजा खुला तो उन्होंने भगवतीजी से कहा, "वात्स्यायन कब से बाहर बैठा भीग रहा है—तुमने दरवाजा नहीं खोला?"

"मुझे क्या पता था कौन है?" कहकर भगवतीजी को स्वयं लगा कि इतना भर कहना सच नहीं होगा, बोलीं, "वात्स्यायन ने दरवाजा खटखटाया तो था यह भी पूछा था कि आपने मुझे पहचाना नहीं, लेकिन मैं अकेली घर में थी, **मैंने दरवाजा नहीं खोला.**"

उस रात को तो इस बात को लेकर हंसी हुई ही, अब जब घटना याद आती है तो बरबस हंसी आ जाती है. स्वभाव से भगवतीजी भीरु नहीं थीं बल्कि एक विशेष प्रकार की साहसिकता उनमें थी. लेकिन डर का यह भोला रूप भी उनके स्वभाव का एक अंग था.

जैनेंद्र जी के परिवार के लिए वे कई वर्ष बड़े आर्थिक कष्ट के वर्ष थे. जैनेंद्रजी तो अध्यात्म के मेघ पर सवार होकर संकट से ऊपर उठ जाते थे और मानो अंतरिक्षचारी ही बने रहते थे. परिस्थितियों का बोझ भगवतीजी को उठाना पड़ता था और कभी-कभी वह चिड़चिड़ी भी हो उठतीं थीं. मेरी स्थिति बहुत भिन्न नहीं थी लेकिन परिवार का कोई बोझ तो मुझ पर नहीं था, दूसरों की चिंता मुझे लगभग नहीं करनी पड़ती थी. कभी दस-पांच रुपये किसी रचना के पारिश्रमिक में आ जाते तो कुछ दिन के लिए अपने को बादशाह समझ लेता था.

ऐसे ही एक दिन मैंने जमना की सैर का प्रस्ताव किया. जैनेंद्रजी ने उत्साह से ताईद की. भगवतीजी ने पहले तो उत्साह पर ठंडा पानी डाल दिया लेकिन फिर मेरे आग्रह पर यह तय हुआ कि उस दिन नहीं, अगले दिन जमना पर पिकनिक किया जाये—दिन भर वहां बिताया जाये, वहीं दाल-बाटी बने और स्नान के अलावा नौका विहार भी हो. (आज के दिल्लीवासी एकाएक विश्वास नहीं करेंगे, लेकिन उन दिनों की जमना का कगार ऐसा था कि पिकनिक के लिए उपयुक्त कई स्थान वहां मिल जाते थे, झाऊ के बड़े-बड़े पेड़ भी थे जिनकी छाया में रेती पर दिन बिताया जा सकता था.)

कुछ सामान उसी शाम जुटा लिया गया, कुछ दूसरे दिन सबेरे. तांगे में हम लोग बेला रोड से जमना जी पहुंचे—यमुना क्लब से कुछ और ऊपर लगभग उस इलाके में जहां अब लद्दाख विहार है. तब वहां झाऊ के पेड़ों के अलावा कुछ नहीं, जमना की धार को भी रेती के कई छोटे-बड़े, सूखे-गीले द्वीप कई धाराओं में बांट देते थे. जैनेंद्र दंपती के साथ उनका बड़ा लड़का दिलीप और बड़ी लड़की कुसुम भी थी, उनका भानजा रणजीत भी. हम लोग नाव लेकर घूमे, नहाये, तैरे, रेत के टापुओं पर दौड़े और बालू से सन जाने पर दुबारा-तिबारा नहाते रहे. फिर किनारे पर नाव को चढ़ाकर

उस की ओट में चूल्हा बनाया गया, दाल चढ़ा दी गयी और बाटी सेंकने का उपक्रम होने लगा. जैनेंद्रजी के यहां भोजन सादा ही होता था. अरहर की दाल शायद सादे भोजनों में भी बहुत सादी चीज गिनी जायेगी. लेकिन भगवतीजी के हाथ की बनी अरहर की दाल जैसी दाल मैंने इस दाला हारी देश में भी अन्यत्र कहीं नहीं खायी और जैनेंद्रजी के हाथ किसी भी काम में कुशल हैं ऐसा मुझे कभी नहीं लगा—लिखने तक के कौशल से तो वह यों बच गये कि लिखने के बदले उन्होंने लिखाना शुरू कर दिया! पर पिकनिक में दाल-बाटी बनाने के उनके कौशल की लिखी सनद मैं दे सकता हूं... "ताकि वक्ते-पिकनिक काम आये!"

लिखता तो मैं बचपन से ही था, लेकिन लेखन को प्रकाशन के साथ जोड़ना और अपने को लेखक के रूप में देखना बाद की बात है. इस प्रक्रिया में दद्दा (स्व. श्री मैथिलीशरण गुप्त) और जैनेंद्रजी का काफी योग था—और उनके बाद प्रेमचंदजी, श्री चंद्रगुप्त विद्यालंकार और पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी का. दद्दा और जैनेंद्रजी से पत्र-व्यवहार जेल में रहते ही शुरू हो गया था और जेल से जब-तब उन्हें अपनी रचनाएं भी भेजता था—कभी बाजाब्ता और कभी चोरी से. उन दिनों लेखनकर्म के बारे में एक विचित्र प्रकार की आदर्शवादिता थी. लेखन और प्रकाशन को एक मूल्य दृष्टि से और नैतिक उत्तरदायित्व से आज भी जोड़ता हूं, लेकिन उन दिनों की आदर्शवादिता कुछ दूसरे ही प्रकार की थी. उसी के अधीन एक दिन मन में प्रश्न उठा, लेखक लोग अपनी पुस्तकों का 'समर्पण' करते हैं, फिर अगर ऐसी किसी को समर्पित पुस्तक से मिलनेवाली रायल्टी स्वयं लेते हैं तो समर्पण का क्या मतलब हुआ? वास्तविक समर्पण तो तभी है जब उस पुस्तक से होनेवाला सभी तरह का लाभ भी उसी को समर्पित किया जाये जिसे पुस्तक समर्पित की गयी है—यहां तक कि पुस्तक पर मिलने वाली प्रशंसा भी उसी को जानी चाहिए. व्यवहारतः यह प्रशंसा उसे नहीं सौंपी जा सकती तो इतना तो हो सकता है कि उसे अपनी प्रशंसा न माना जाये, लेखक अपने मन में तो उसके प्रति भी '**त्वदीयं वस्तु गोविंद तुभ्यमेव समर्पये**' का मनोभाव ही रखें.

मैंने अपनी एक पुस्तक (कहानी संग्रह—'**कोठरी की बात**') जैनेंद्रजी को समर्पित की थी. अपने से पूछे हुए मेरा प्रश्न का परिणाम यही हुआ कि पुस्तक की रायल्टी जब आयी तब उसकी रकम एक लिफाफे में डालकर मैं उनके घर पहुंचा. वह लिफाफा जैनेंद्रजी को सौंपते हुए संकोच हुआ, यह डर भी था कि वह आदतन जिरह करेंगे. यों भी सोचता था कि उसे भगवतीजी को ही सौंपना चाहिए क्योंकि घर कैसे चलेगा इसकी चिंता तो वही करती हैं, जब कठिनाइयां अधिक हो जाती हैं तो जैनेंद्रजी तो मानो तटस्थ होकर तत्व चिंतन में खो जाते हैं और सभी व्यावहारिक उत्तर भगवतीजी को खोजने पड़ते हैं—जैसे भी हो.

मैंने लिफाफा उन्हें दिया तो उन्होंने अभ्यस्त तीखे स्वर में पूछा, "क्या है?" फिर लिफाफे के अंदर झांककर दुबारा पूछा, "पैसे कैसे हैं?"

मैंने भी यत्नपूर्वक दावे का स्वर बनाते हुए कहा, "आप ही के हैं."

हमेशा विनय से बोलनेवाला आदमी यों दावे से बात कह रहा है, इसका कुछ असर तो हुआ. उन्होंने पूछा, नम्र स्वर में पूछा, "तो भी बता तो दो कहां से आये हैं!"

मैंने कहा, "आपका पावना था मैं वसूल कर लाया. जैनेंद्रजी को नहीं दिये और आप ही को सौंप रहा हूं क्योंकि खर्चा तो आप ही को संभालना है."

उन्होंने लिफाफे को रख लिया. इससे अगले वर्ष भी इसी तरह हुआ: दूसरा लिफाफा भी उन्होंने रख लिया. इस बार कुछ पूछा भी नहीं. रकम कोई बड़ी नहीं थी, लेकिन उन दिनों हम सभी के दिन जैसे बीतते थे उसे देखते हुए उसे नितांत नगण्य भी नहीं कहा जा सकता.

लेकिन तीसरे वर्ष फिर इसकी आवृत्ति नहीं हुई. इसके कई कारण हुए. पहला तो यही था कि मेरा ही सोचने का तरीका बदला, या यों कहूं कि और सब लेखकों की तरह मैंने भी रचना के समर्पण को पुस्तक की बिक्री के लाभ से अलग कर लिया. '**कोठरी की बात**' के अलावा और भी पुस्तकें लोगों को समर्पित की गयीं थीं और उनकी रायल्टी भी मैं उसी तरह सौंपता रहा था—जहां तक संभव था. दूसरा कारण यह भी रहा होगा कि इस बीच जैनेंद्रजी से संबंधों में कुछ दूरी आ गयी थी. जैसा पहले संकेत कर चुका हूं वह दुराव भगवतीजी ने भी अकारण किंतु सहजता से ओढ़ लिया था. बाद में न कभी इस बारे में किसी ने पूछा ही, न मैंने ही कभी इसका उल्लेख किया. यों अब भी कभी-कभी सोचता हूं कि पुस्तक के समर्पण के बारे में मेरा उस समय का मनोभाव गलत नहीं था. व्यवहार बोध से उसमें संशोधन यों करता हूं कि अब सोचता हूं, रचनाकर्म समर्पित कर्म है तो उससे जो कुछ मिले वह भरसक उसी को लौटा देना चाहिए—स्वयं वही रखना चाहिए जो रचनाकर्म की क्षमता बनाये रखने के लिए जरूरी है. '**यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च**' वाला गणितीय समीकरण इस क्षेत्र में नहीं हो सकता इसलिए समर्पण को समग्रता के संदर्भ में ही देखना चाहिए. पर इन बातों का संस्मरण से कम संबंध है.

जैनेंद्रजी की अस्सीवीं वर्षगांठ-हीरकजयंती या अमृतोत्सव धूमधाम से मनाने की बात कुसुम ने सोची थी. मुझे आमंत्रित किया तो शायद उसे भरोसा नहीं था कि आऊंगा. उसने पूछा, "आयेंगे?" मैंने कहा, "कैसे नहीं आऊंगा? तुम बुलाओगी तो जरूर आऊंगा." वह बोली, "बुलाने से आयेंगे, ऐसे नहीं आयेंगे?" मैंने कहा, "यह मतलब नहीं था. आऊंगा ही—बुलाया तो और भी जरूर आऊंगा."

काफी लोग थे. मैं जैनेंद्रजी को प्रमाण करने झुका तो किसी ने आवाज दी, "अरे कोई फोटो लो, फोटो!" फोटो शायद लिया भी गया. अनंतर सबसे मिलते समय भगवतीजी ने गंभीर होकर कहा, "तुम आये, यह बहुत अच्छा हुआ." मैंने कुछ अचकचाकर उनकी ओर देखा, उनका शरीर क्लांत और दुर्बल दीख रहा था पर वह प्रसन्न भी थीं. मैंने कहा, "भाभी, मैं तो आता ही—"

वह बात काटकर बोलीं, "नहीं, बीच में पता नहीं क्या हुआ था—क्यों दिमाग खराब हो गया था..."

मैंने कुछ ठिठाई से कहा, "भाभी, दिमाग तो किसका ज्यादा खराब हुआ था पता नहीं..."

वह थोड़ा हंसीं, पर गंभीरता कम नहीं हुई. फिर बोलीं, "नहीं, यह अच्छा हुआ कि तुम आ गये. अब फिर..."

वाक्य उन्होंने पूरा नहीं किया. अच्छा ही किया कि अधूरा छोड़ दिया—जो आशय था वह एक वाक्य में कैसे पूरा होता मैं नहीं जानता. इतने दिनों के दुराव का जो कष्ट उन्हें रहा होगा, उसकी छाया भी उस अधूरे वाक्य में थी, मानो वह आश्वासन भी चाहती थीं कि वैसी स्थिति फिर नहीं आयेगी—नहीं आने दी जायेगी. मैंने कहा, "भाभी, आज तो मेला है, मैं फिर घर आऊंगा."

उसी गंभीरता से बोलीं, "आना."

उत्सव का वह अवसर चला गया. वहां किसी ने संभावना नहीं की होगी कि भगवतीजी और वैसे उत्सव में सम्मिलित नहीं होंगी. कभी सोचता हूं उन्हें स्वयं शायद यह अनुमान था—यद्यपि ऐसा सोचने का कोई कारण तो नहीं था. उनका शरीर धीरे-धीरे थकता रहा था, ऐसा नहीं लगता था कि एकाएक वह यों जवाब दे देगा. उनका जाना भी मानो उसी नैसर्गिक सहजता से हुआ जैसे उनका जीवन जिया जाता रहा.

अब उनकी याद ही एक सहज परिवार की रचना कर देती है—परिवार जिसमें अपनापे के वृत्त हैं, वृत्तों के भीतर और वृत्त हैं—जिस में बाहर कोई नहीं है. □

पहली सवारी

शहर और गांव के आदमी में तो फर्क होता ही है पर एक फर्क आदमी और आदमी के जमीर के बीच भी होता है. कैसा होता है यह फर्क?
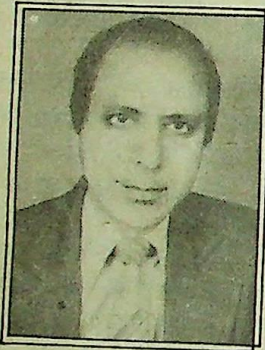
□ सुरेंद्र अरोड़ा

जन्म : 30 मई 1940 सांगला हिल्स (पश्चिमी पाकिस्तान)
प्रमुख कृतियां : 'आग का जंगल', 'आबनूस', 'काली रोशनी', 'आदमी और अपना-अपना डर' तथा 'सिद्धार्थ के लौटने तक' (कहानी संग्रह)
शीघ्र प्रकाश्य : 'झरोखे' (उपन्यास)
संप्रति : केंद्रीय अनुवाद ब्यूरो, राजभाषा विभाग, नई दिल्ली से संबद्ध.
संपर्क : 67 सी, पाकेट-3, मयूर विहार, दिल्ली-91

वे दोनों फ़ंस गये थे. रात गहराती जा रही थी. आज चांद भी निकलना भूल गया था जैसे. तारे भी आकाश में बहुत दूर-दूर दिखाई दे रहे थे. कहीं-कहीं. समुद्र-सी अंतहीन स्याह सड़क का भी ओर-छोर कहीं नजर नहीं आ रहा था. सड़क के दोनों किनारों के पेड़ों की बड़ी-बड़ी शाखाओं की छतरियों ने सड़क को और भी स्याह बना दिया था. पेड़ों के पीछे दूर छोटी-छोटी पहाड़ियां भी किसी विशाल कैनवास पर धब्बों-सी प्रतीत हो रही थीं. कब से चल रहे थे दोनों! दो ठूंठों की तरह. उन्हें भी पता नहीं. अब उन्हें अपनी टांगों को ठेलना पड़ रहा था एक-दूसरे के पीछे. आगेवाला सहसा पीछे मुड़ा और पीछेवाले के रू-ब-रू होकर थम गया. उसके होंठ फड़फड़ाये, "कुछ बोल ना! ऐसे कब तक चलते रहेंगे खामोश? कैसे पहुंचेंगे घर?"

"अरे! घबराता क्यों है! पहुंच जायेंगे, पहुंच जायेंगे!" दूसरे ने उसके कंधे पर हाथ रखते हुए उसे दिलासा दिया! "फसा दिया ना! कितना मना किया था सबने कि इतनी रात में मत जाओ. कोई सवारी नहीं मिलेगी. हुआ न वही. कहीं से जानवर आ गया या फिर कोई चोर, डाकू, आतंकवादी?..."

"अरे यार, तू तो लड़कियों की तरह रोने लगा. घोंचू कहीं का. हौसला रख! अब भी कोई न कोई सवारी आ जायेगी. हौसला रख!" दूसरे ने कहा और उसके कंधे थपथपाये.

"कहां मिलेगी सवारी? आखरी बस तो कब की गयी..." पहले ने सुबकते हुए कहा और सड़क के किनारे बैठ गया. पालथी मारकर. उसका सुबकना जारी था.

"अब घोंचू, इस तरह मेहरारू की तरह रोना-धोना करेगा तो मैं छोड़ जाऊंगा तुझे अकेले! यहीं पर! स्याह रात में! चल उठ! ये ले!" दूसरे ने उसे कंधा पकड़कर उठाया और जेब से एक सिगरेट निकालकर उसे दी और एक खुद होंठों में फंसा ली. फिर क्षण भर को एक नन्हीं-सी लौ दोनों के बीच ढेर-सा प्रकाश चमका गयी. दोनों के सिगरेट सुलगे और अंधेरी सड़क पर सिगरेटनुमा दो नन्हीं-नन्हीं कंदीलें जल उठीं. दूसरे ने बायें अंगूठे और अनामिका से तीली को अंधेरे के समंदर में फेंक दिया और पहले का हौसला बढ़ाते हुए कहा, "दम मार यार! देख कितना मजा आयेगा! चल! बढ़ आगे. इधर सिगरेट खत्म, उधर हमारा सफर भी खत्म. चल! शाबाश! अब ज्यादा दूरी नहीं है. थोड़ी दूर पर कोई न कोई गांव जरूर मिलेगा! हमारे देश की अस्सी प्रतिशत जनता गांवों में रहती है प्यारे! चल! थोड़ा और..." और दूसरे ने उसका हाथ पकड़कर आगे की ओर खींचा. पहले ने सिगरेट का एक लंबा कश खींचा और उसके साथ-साथ चलने लगा. मरी हुई चाल से. अब दोनों के बीच पदचाप के अलावा कोई ध्वनि नहीं सुनाई दे रही थी. वे कुछ कदम चले ही थे कि अचानक चौंधियाती हुई दो रोशनियों ने स्याह सड़क को रौंदकर उसका अतिक्रमण किया ही था कि दूसरा कूदकर पीछे की ओर मुड़ा और उत्साह भरी पुलक से चिल्लाया, "वो देख! आ गयी हमारी सवारी! वो देख आ गयी! आ गयी......" समीप आती हुई रोशनियों को देखकर पहला भी अब सामान्य हो आया और दूसरे के साथ थमकर उन रोशनियों के अपने पास आने की प्रतीक्षा करने लगा. और! फिर? "...स्साले!...." दूसरे ने कहा और उसका आगे की ओर बढ़ा हाथ हवा में ही लटका रह गया. जैसे लकवा मार गया हो उसे! उसने अपने करीब से जन्नाटे से निकल गये ट्रक को कोफ्त से देखा फिर हाथ में लटके हवा को मुक्के का आकार दिया और जोड़ा, "इंसानियत नाम की कोई चीज है ही नहीं आज की दुनिया में! अरे भाई! तुम जा रहे हो आधी रात में! कोई शरीफ आदमी हाथ दे रहा है. जरूर मुसीबत में होगा तभी तो हाथ दे रहा है! यह नहीं सोचते! खुद पे पड़े तो पता चले बच्चू लोगों को! उफ्फ!" दूसरे के स्वर में पहली बार हताशा झलक रही थी. इससे पहले दो मोटरें निकल चुकी थीं. उसका हाथ तीसरी बार हवा में लटका था. वह क्षण भर को ठिठका था और शून्य आंखों से सन्नाटे से धुंआ छोड़ गये ट्रक की पूंछ पकड़ने का प्रयास करने लगा था.

"सबकी मान लेते तो इस वक्त बिस्तर में होते...! अब क्या होगा! या मेरे मालिक रक्षा करना..." पहले का स्वर लड़खड़ाने लगा था और उसने दोनों बाहों को कैंची का आकार देकर अपने सीने पर बांध लिया था. उसे बिस्तर की याद बेतरह सताने लगी थी. "इसने तो शादी का सारा मजा ही किरकिरा कर दिया... खामखाह इसकी बात मानी...." वह बुदबुदाया और वह धीरे-धीरे कदमों को चप्पुओं की तरह फेंकने लगा. जैसे भंवर में फंसा कोई नाविक अपनी नाव को बीच मझधार से निकालने का प्रयास कर रहा हो.

"ये क्या बुदबुद कर रहा है! मैंने फंसाया तुझे कि तूने! बोल? यह तो रम्मू की शादी में जाने से पहले ही तय हो गया था हमारे बीच. कि वहां रात नहीं रुकेंगे. चाहे कितनी देर हो जाये. चल देंगे. एडवेंचर करेंगे. पैंया-पैंया! डाक्टर ने कहा था तुझे मेरी बात मानने को? बोल? न तू मानता और न हम फंसते... बड़ी-बड़ी बातें कर रहा था तब तो सबके सामने कि हां, तेन सिंह अगर हिमालय पर विजय पा सकता है, मिहिर सेन इंगलिश चैनल पार कर सकता है अकेले, तो क्या हम दो दोस्त मिलकर चालीस-पचास मील की दूरी तय नहीं कर सकते पैदल? कैसे खीसें निपोर रहा था तब तो? तूने ही मुझे फंसाया है? कुछ गड़बड़ हो गयी तो छोड़ूंगा नहीं तुझे! तू समझ ले! समझ ले तू..." दूसरे ने अपने सिर पर दोनों हाथ रख दिये और वहीं ढेर होकर बैठ गया.

पहला उसका लंबा-चौड़ा भाषण सुनकर अवाक् रह गया था और दोनों हाथ हवा में फेंकते हुए बोला था, "अरे वाह भाई वाह! उलटा चोर कोतवाल को डांटे! क्यों झगड़ा करता है! चल भाई, मैंने ही फंसाया तुझे. पर अब तो हमें इस मझधार से निकलना ही है. चाहे जैसे भी हो, चल अब बढ़ते हैं आगे. चल उठ! गाना गाते हैं." और पहले ने दूसरे का उत्तर सुनने से पहले ही रेंकना शुरू किया ही था कि दूसरे ने टोका "अब रहने दे, किशोर कुमार भी सुनकर आसमान से शरमा जायेगा, रहने दे!" अब दूसरा भी कुछ सामान्य हो आया था और उसकी गरदन में हाथ डालकर समवेत स्वर में उसका साथ देने लगा, "हम मतवाले नौजवां! मंजिलों के उजाले..." दोनों गगनभेदी स्वर में सन्नाटे को तोड़ते हुए आगे बढ़ने लगे थे. जितनी सड़क पीछे छूटती जा रही थी, उतनी ही आगे मिलती जा रही थी. दूसरा गाना शुरू हो गया था. फिर तीसरा. फिर ये चौथा था कि पांचवां... "हम हैं अनाड़ी..." कि बैठे हुए गले से पहले ने दूसरे को टोका और प्रश्न किया, "गुरु, हम कब तक चलते रहेंगे?" और वह रुक गया.

"थक गया क्या?" जवाब में दूसरे ने प्रश्न किया. उसके स्वर में अपनेपन का सौंधा स्नेह भरा था. फिर खुद ही पुचकारकर जवाब दिया, "चल यहां सड़क किनारे थोड़ा सुस्ता लेते हैं. यहां पेड़ के नीचे."

"ना बाबा ना! मां कहती थी पेड़ के नीचे रात में कभी मत बैठना. उस पर भूत का निवास होता है." पहले ने कहा और वह घबराकर पीछे हट गया.

"इस स्याह रात, इस सुनसान जंगल से बड़ा कोई भूत होगा भला यहां! घबरा मत. हम अकेले नहीं हैं. दुकेले हैं. फिर वह नीली छतरीवाला भी तो हमारे साथ है. चल आ वहां बैठते हैं. एक-एक दम मारते हैं और उसका जाप करते हैं. चल!" दूसरे ने पहले को पुचकारते हुए कहा और वह उसके पीछे-पीछे पेड़ के करीब आ गया.

"ले." पहले ने जेब से एक सिगरेट निकालकर उसे दी और दूसरी खुद होंठों से लगा ली. एक तीली की लौ पल भर को चमकी और अंधकार में विलीन हो गयी. दोनों ने एक साथ लंबे कश खींचे और दो नन्हीं-नन्हीं चिंगारियां रोशनी में परिवर्तित हो गयीं. दोनों ने पेड़ के नीचे झुककर धरती पर भरपूर शक्ति से मुंह फुलाकर फूंक मारी और जगह साफ की और वहां बैठ गये. इतमिनान से. जैसे बरसों की थकान उतार रहे हों. सिगरेट की लौ कभी तेज हो रही थी कभी मंद. दोनों की आस भरी निगाहें सड़क पर लगी हुई थीं. कि दूसरा खुशी से उछल पड़ा और चिल्लाया, "मैं कहता ना था..... वो देख. वो सामने. दूर..."

"कहां?" पहला भी अनजाने ही उछला था और उसकी पूरी काया

तैयब मेहता की कलाकृति

प्रश्नमयी हो आयी थी.

"अरे! वो देख! दूर एक लंबी-सी गरदन इधर ही चली आ रही है.. अरे? यह तो ऊंट है...!"

पहले ने भी ध्यान से देखा और वह भी खुशी से चिल्लाया, "अरे हां, ये तो वाकई ऊंट है..." फिर निराश होकर क्षण भर को सोचने लगा. फिर हताश स्वर में बोला, "अरे भाई हम ऊंट का क्या करेंगे?"

"सवारी. और क्या! ट्रक या गाड़ी न सही, ऊंट ही सही. यह भी अपने आप में एक अनुभव होगा. इसे जाने नहीं देना है. लगे दम मिटे गम!" उसने कहा और दायें हाथ की कुप्पी बनायी और एक लंबा कश खींचा. पर कश खींचते ही वह खांसी के धक्के तले आ गया और उकड़ूं होकर बैठ गया.

"अरे क्या करते हो भाई. ये कोई चिलम थोड़ी ना है." पहले ने उसकी पीठ सहलाते हुए कहा.

"ठीक है. ठीक है. सामने तो देख वो ऊंट इधर ही आ रहा है. हमारी ओर." दूसरे ने आंखों से निकल आये पानी को पोंछा और सिगरेट पैर के नीचे मसल दी. फिर मुस्तैद होकर आते हुए ऊंट की ओर आस भरी नजरों से देखने लगा और उठकर नाचते हुए गाने लगा, "ऊंट राजा, पास आ जा! ऊंट राजा....!"

"अरे! ये तो ऊंट गाड़ी है." पहला ऊंट के साथ स्पष्ट होती हुई गाड़ी की आकृति को देखकर खुशी से चहका.

"सच ही कहा है बुजुर्गों ने कि भगवान नाम की भी कोई चीज है इस धरती पर. वाह रे ऊपर वाले, तू सच में अंतर्यामी है." दूसरे ने आसमान की ओर सिर उठाकर हाथ जोड़े और फिर खड़े होते हुए पहले के कंधे पर हाथ मारा और गाने लगा, "ऊंट राजा जल्दी आ जा! ऊंट राजा...!"

"अरे! इस पर तो एक आदमी भी बैठा है." पहला चहका. फिर जिज्ञासापूर्ण स्वर में बोला, "पर हम ऊंट गाड़ी का क्या करेंगे."

दूसरे ने अपनी बेसुरी तान को विश्राम दिया. फिर बोला, "तुम भी रहे

ढेंचू के ढेंचू ही. सवारी करेंगे और क्या करेंगे, समझे प्यारे. ऊंट राजा. जल्दी आ जा. ऊंट राजा....'' दूसरा उछलने-कूदने लगा और बेसुरी तान लगाने लगा.

''ऊंट राजा....'' अब पहला भी तान में तान मिलाने का प्रयास करते हुए उसका साथ देने लगा था.

गाना और नाच चल रहा था. गाड़ी पास आती जा रही थी. अब लंबी-सी गाड़ी पर एक बड़ा-सा पग्गड़ बांधे व्यक्ति की आकृति साफ-साफ दीखने लगी थी और उनसे कुछ कदम की दूरी पर ही रह गयी थी. वे दोनों सामने से करीब आती गाड़ी की ओर भागे थे. कुछ कदमों की दौड़ के बाद वे सब आमने-सामने थे. ऊंट गाड़ी, पग्गड़धारी गाड़ीवान और वे दोनों. पहला भी दूसरे के अनुकरण में झुका और दोनों के होंठ फड़फड़ाये, ''राम-राम चौधरी जी.''

''राम-राम!'' पग्गड़धारी ने ऊंट की लगाम खींचकर गाड़ी रोक दी. फिर शक की निगाह से उन दोनों को देखा. ऊपर से नीचे तक. फिर गिड़गिड़ाया, ''म्हारे पास तो कुछ नहीं है जी. सिर्फ ये ऊंट गाड़ी है. वो भी म्हारी नहीं है जी. मालिक की है जी. मंडी जा रहा सूं. सुबह सवेरे अनाज ढोकर लाऊंगा. म्हारे पर दया करो जी.'' पग्गड़धारी हाथ जोड़कर याचना कर ने लगा था.

दूसरे ने पहले की ओर गर्व भरी मुस्कान फेंकी, मानों वह कह रहा हो,

न्याय

पार्वती ने एक दिन शंकर से कहा, ''इस संसार में सब पैसे वालों का ही गुणगान क्यों करते हैं? पैसे के पीछे सब बेहाल क्यों घूमते हैं? लोग धनिकों को ही और धन देते हैं और गरीबों को सताते हैं. यहां तक कि आप भी ऐसा ही करते हैं. क्यों?''

शंकर ने कहा, ''इसका जवाब मैं तुम्हें बाद में दूंगा. पहले तुम धरती पर जाओ और वहां किसी के भी घर की दीवार से एक ईंट उखाड़कर ले आओ.''

पार्वती धरती पर गयीं उन्होंने पूरी धरती छान मारी पर उन्हें कोई भी मकान ऐसा नहीं मिला जहां से वे ईंट उखाड़ सकतीं. अंत में वे एक ऐसी जगह पहुंचीं जहां एक महलनुमा बड़ा-सा घर था सजा, संवरा, चिकना जैसे दूध और ओस से नहाया हुआ. उसके सामने ही एक टूटा-फूटा खंडहरनुमा मकान भी था. पहले तो उन्होंने सोचा कि उस महल की दीवार में से एक ईंट उखाड़ें और चल दें, पर दूसरे ही क्षण ठिठक गयीं फिर लगा कि एक ईंट को उखाड़ने से इतने सुंदर महल का नक्शा ही बिगड़ जाएगा. इससे तो में से एक ईंट उखाड़ ली जाए!

और उन्होंने वही किया. ईंट लेकर जब वे 'शंकरजी' के पास पहुंचीं तो उन्होंने पूछा, ''यह ईंट तुम कहां से लायीं?'' पार्वती ने सारा वृतांत कह सुनाया. शंकरजी ने कहा, ''अपने प्रश्न का उत्तर तो तुमने स्वयं ही दे दिया है. अब मैं क्या कहूं!''

पार्वती की समझ में कुछ भी आया. शंकर बोले, ''देखो, वह महल निश्चित ही किसी पैसे वाले का रहा होगा. उस महल में से एक ईंट अगर निकाल भी ली जाती तो उस धनी व्यक्ति का क्या बिगड़ जाता! पर उसका नुकसान न पहुंचाकर तुमने अप्रत्यक्ष रूप से उसकी ही सहायता की जबकि निर्धन के टूटे घर से ईंट निकालकर-तुमने उसकी क्षीण-संपत्ति को और भी क्षीण कर दिया. उसे एक प्रकार से नुकसान ही पहुंचाया.'' □

प्रस्तुति : विभा रानी

'देखा गुरु, हम गब्बर सिंह हो गये.'

पहले ने उसकी मुस्कान को अनदेखा करते हुए आगे बढ़कर पग्गड़धारी ने कंधे पर हाथ रख दिया और बहुत ही मीठे स्वर में कहा ''घबराओ नहीं चौधरीजी. हम मुसाफिर हैं. एक शादी में मीरपुर गये थे. वापस लौटने में देर हो गयी. आखरी बस भी निकल गयी. दूसरी कोई सवारी मिली नहीं. सो पैदल ही चल दिये. हमें शहर तक जाना है. पैसा दे देंगे. आप ले चलो. बड़ी मेहरबानी रहेगी.''

''हां चौधरीजी, हम पैसा दे देंगे.'' दूसरे ने पहले का समर्थन किया.

''नहीं जी. यह किराये की गाड़ी नहीं है जी. यह तो हो ही नहीं सकता जी. मालिक का नाज ढोकर लाता हूं मैं तो. किराये की सवारी तो कभी ले नहीं गया जी. ना जी ना. मैं मालिक के साथ दगाबाजी कभी नहीं करूंगा ना जी ना.'' पग्गड़धारी ने सिर हिलाते हुए दृढ़ स्वर में कहा.

''तो नहीं ले जाओगे हमें चौधरीजी!'' पहले ने हताश लेकिन कोमल स्वर में पूछा.

''ले जाने की तो कोई मनाही नहीं है जी. आप चलो. सौक से चलो. पर पीसा कोई नहीं लूंगा.'' पग्गड़धारी ने जैसे अपना फैसला सुनाया.

''अरे हम किराया थोड़ी ना देंगे. बस वैसे ही देंगे. बच्चों के लिए मिठाई ले जाना शहर से.'' दूसरे ने कहा.

''हां चौधरीजी, जो देंगे बच्चों के लिए देंगे. खुशी से. ना मत करना'' पहले ने उसे समझाते हुए आग्रह किया.

''तुम छोड़ी जी पीसे-वीसे की बात. बस आ जाओ. शहर जाना है ना.''

दोनों उझककर ऊंट गाड़ी पर सवार हो गये. दोनों ने बैठते ही धन्यवाद दिया.

''चल राजा. चल.'' पग्गड़धारी ने ऊंट को पीछे से एड़ लगाकर हांक लगायी. ऊंट ने खरामा-खरामा सड़क की छाती रौंदना शुरू कर दिया.

''मालिक तेरा लाख-लाख शुक्र है!'' पहले ने आसमान की ओर हाथ जोड़कर प्रार्थना की और एक लंबी निश्वास ली.

''वाह, भाई वाह. लिफ्ट मिली भी तो किसमें.'' दूसरे ने भी एक लंबी निश्वास ली और पग्गड़धारी को संबोधित किया, ''क्यों भाई, कहां के रहनेवाले हो?''

''हमीरपुर.'' उसने निर्विकार भाव से उत्तर दिया.

''यहां कहां रहते हो भाई?'' फिर दूसरे ने प्रति प्रश्न किया.

''मालिक के पास.'' उसके स्वर में वहीं ठंडापन बरकरार था.

''मालिक कहां रहते हैं?'' दूसरे ने फिर प्रश्न किया.

''तुमसे मतलब.'' उसने उसी स्वर में उत्तर दिया और ऊंट को हांक लगायी ऊंट की चाल में थोड़ी तेजी आयी.

''अरे चौधरीजी. नाराज क्यों होते हो. हम तुम्हारे दोस्त मित्र हैं. सफर काटने के लिए एक-दूसरे को जानना. दोस्ती बनाना अच्छी बात है ना.'' पहले ने कोमल स्वर में कहा और पग्गड़धारी के कंधे पर हाथ रख दिया.

पग्गड़धारी पहले तो अपने लिए 'चौधरी' शब्द का संबोधन सुनकर प्रफुल्लित हो गया, फिर अपने कंधे पर पड़े हाथ की गर्मी को पहचानकर थोड़ा सहज हो आया. उसने पहले का हाथ अपने हाथ में ले लिया और कहा, ''बाबू साब, इब मैं पूछूं, आप किधर के हो.''

''हम शहर के हैं. जयपुर के.'' जवाब दूसरे ने दिया.

''क्या करते हो बाबू साब?'' उसने फिर प्रति-प्रश्न किया.

''नौकरी करते हैं. यहां अलवर में. सरकारी. मीरपुर एक शादी में गये थे. वहां देर हो गयी.'' जवाब में पहले ने कहा. दूसरा जैसे तैयार बैठा था. उसने सवाल दागा, ''तुम अपनी बताओ? घर में कितने प्राणी हैं बीवी-बच्चे. माता-पिता.''

''कुल जमा सात माणस हैं घर में. घरवाली. चार बच्चे. बूढ़ा-बूढ़ी आठवां मेरा नंबर है.''

"इतना बड़ा परिवार. कितना कमा लेते हो? दिहाड़ी." पहले ने प्रश्न किया.

"दो जून का टुक्कड़ भर हो ही जाता है. कुछ बापू भी कमा लेता है. चारपाई बुनकर." उसके चेहरे पर संतोष का भाव था.

"सवारी भी ढोते हो?" दूसरे ने पूछा.

"ना जी! ऊंट गाड़ी में कौन बैठेगा! आप ही पहली सवारी हैं." उसने उत्तर दिया और सड़क की ओर देखने लगा. ऊंट गाड़ी चल रही थी. धीरे-धीरे. मंद-मंद चाल में.

"तुम पूछ के तो देखो. बहुत सवारी मिलेंगी. एक-एक दो-दो रुपये भी मिलें एक सवारी के तो रोज के कितने पैसे हो जायेंगे!" दूसरे ने उसे समझाते हुए कहा.

"यह तो मेरे मालिक के साथ धोखा होगा जी. म्हारे को शहर भेजता है मंडी से नाज ढोकर लाने के लिए. मजूरी देता है. खरी! फिर मैं क्यों धोखा करूं उसके साथ. ना बाबू साब! ना! गाड़ी मालिक की. काम मालिक का. मुझे मेरी मजूरी से काम." उसने पग्गड़ संभालते हुए कहा और आसमान की ओर देखने लगा. आसमान में अब कहीं-कहीं चांदनी छिटक आयी थी.

"यह कोई धोखा नहीं है भाई. अब तुम खाली जा रहे हो. दो-चार सवारी मिल जायें तो क्या हर्ज है! उनका भी भला, तुम्हारा भी भला." दूसरे ने उसके कंधे पर हाथ रखकर उसे समझाया.

"गड़बड़िया बात मत करो बाबू साब. तनिक लेट मार लो आप लोग भी." उसने कहा और अपने शरीर का सात का आंकड़ा बनाकर लेट गया.

"भाई. एक बात बताओ. तुम लेट गये. गाड़ी का ध्यान कौन रखेगा?" पहले ने साश्चर्य पूछा.

"राजा अपना रास्ता पहचानता है. भटकेगा नहीं. आप भी लेट मार लो. अभी शहर पहुंचने में देर है." उसने कहा और पगड़ी उतारकर उसका तकिया बना लिया.

"चल लेट लेते हैं यार. यह भी एक अनुभव है." दूसरे ने मुस्कराते हुए पहले से कहा और पैर पसार लिये. पहले ने भी पैर लंबे कर लिये. दूसरे ने गर्दन उठाकर गाड़ीवाले की ओर देखा. "अरे. यह तो सो भी गया. इतनी जल्दी." फिर जोड़ा, "कैसा ईमानदार और भला मानस इंसान है."

"हां. ऐसे इंसान कहां मिलते हैं." पहले ने उत्तर दिया और फिर जोड़ा, "अच्छा अब मत बोलो नहीं तो बिचारे की नींद टूट जायेगी." और पहले ने आंखें बंद कर ली थीं. गाड़ी चली जा रही थी. गाड़ीवान के खर्राटे तेज होते जा रहे थे. पहला भी सो गया था. पर दूसरे की आंखों में नींद नहीं थी. उसने अपने दोनों हाथ सिर के नीचे रख लिये थे और आसमान को आंखों में भरने लगा. धीरे-धीरे सड़क पीछे छूटती जा रही थी. अब इक्का-दुक्का गाड़ियां भी पास से गुजरने लगी थीं. पहाड़ियां पीछे छूटती जा रही थीं. दूर दीखती कुछ इमारतें भी पास आती जा रही थीं. रात ने अपना तामझाम समेटना शुरू कर दिया था. और भोर ने अपना तामझाम फैलाना शुरू किया ही था कि दूसरा उठकर बैठ गया. उसने देखा वे दोनों सो रहे थे. उसका साथी और गाड़ीवान. ऊंट चल रहा था. अपने रास्ते. गाड़ी भी चल रही थी अपनी राह. उसने चारों ओर नजर दौड़ायी. इमारतें अब स्पष्ट दीखने लगी थीं. शहर करीब आ गया था. "अरे, ये सड़क तो अपने घर की सड़क है. क्यों न यहीं उतर जायें!" वह बुदबुदाया. फिर उसने पहले का कंधा हिलाया और धीरे से उसे पुकारा, "उठ यार! घर आ गया! घर! उठ!"

"घर! इतनी जल्दी!" पहला हड़बड़ाकर उठ बैठा फिर आंखें मलते हुए धीरे-धीरे आंखें खोलीं. पहले आसमान की ओर देखा और उसके होंठ फड़फड़ाए, "अरे! ये तो भोर हो गयी!" फिर उसने चारों ओर देखा और दायें-बायें जाती सड़कों के भूगोल को समझा और पुलक से भर गया. बोला, "अरे हां. यह तो हमारा ही शहर आ गया."

"तो चलो यहीं उतर जाते हैं." दूसरे ने पहले से कहा और गाड़ीवान की ओर देखा. वह सो रहा था. उसी तरह. सात के आंकड़े में. पगड़ी का तकिया बनाये. ऊंट चल रहा था. गाड़ी भी चल रही थी. सहसा दूसरे की आंखों में चमक आ गयी. उसे कुछ सूझ गया था. शायद. और वह पहले के कान के पास होंठ ले जाकर फुसफुसाया, "चल उतर चलें."

"पर यह तो सो रहा है." पहले ने पीछे हटते हुए उत्तर दिया.

"तो सोने दो." दूसरे ने धीमे स्वर में कहा.

"इसे जगाकर कुछ पैसे तो दे दें! ए भाई! चौधरी..." पहले का वाक्य पूरा होने से पहले ही दूसरे ने उसके मुंह पर हाथ रख दिया और बुदबुदाया, "मार गोली यार! सो रहा है, सोने दे."

"पर हमने तो गाड़ी में बैठते समय कहा था कि हम उसको कुछ पैसे देंगे." पहले ने फिर आग्रहपूर्ण स्वर में कहा.

"तू समझता क्यों नहीं यार! पांच-दस रुपये बचेंगे! फिर वह खुद भी तो मना कर रहा था. मार गोली!" दूसरे ने पहले को डांटते हुए कहा और फिर जोड़ा, "चल." और उसकी दायीं बांह पकड़कर उसे खींच लिया और चलती गाड़ी से कूद गया. पहला इसके लिए तैयार नहीं था. वह गिर गया. दूसरे ने उसका कंधा पकड़कर उसे संभाला और डांटा, "कमाल है यार! ऊंट गाड़ी से भी कूद नहीं सकता!" उसके उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना सड़क पार करने के लिए उसे आगे की ओर खींचा ही था कि पीछे से गाड़ीवान की आवाज उन दोनों के कानों में टकरायी, "बाबू साब राम-राम! जा रहे हो! भूल-चूक की माफी दे देना बाबू साब!"

और दोनों के पैर वहीं ठिठक गये. जैसे चोरी पकड़ी गयी हो. दोनों वापस मुड़े. पहला आगे बढ़ा. गाड़ी की ओर. दूसरा उसके पीछे-पीछे था. सिर झुकाएं हुए दोनों ने देखा, गाड़ी खड़ी थी और गाड़ीवान लगाम पकड़े बैठा हुआ था.

"चौधरीजी. माफ करना. तुम सो रहे थे...! ये तुम्हारे दस रुपये." पहले ने सकुचाये स्वर में कहा और जेब से दस का नोट निकालकर उसकी ओर बढ़ाया.

"हां, ले लो भाई, तुम्हारी मजूरी है. हम खुशी से दे रहे हैं. ले लो!" दूसरे ने पहले की हां में हां मिलायी. उसके स्वर में खिसियाहट स्पष्ट झलक रही थी. वे दोनों गाड़ी के बिल्कुल पास आ गये थे. गाड़ीवान ने दृढ़ स्वर में उत्तर दिया, "मेरी मजूरी तो मालिक देता है बाबू साब. आप सकुसल अपने घर पहुंच गये. यही मेरी मजूरी है. अच्छा बाबू साब. देर हो रही है. मंडी पहुंचना है. राम-राम." और गाड़ीवान ने गाड़ी बढ़ा दी थी.

वे दोनों कुछ पल गाड़ी को आगे बढ़ता देखते रहे. फिर सड़क पार करने लगे. पहला आगे-आगे चल रहा था. दूसरा पीछे-पीछे. दोनों के सिर झुके थे. कदमों में जान ही नहीं रह गयी थी जैसे. सड़क के उस पार पहुंचकर मुड़ने से पहले उन्होंने चोर नजरों से सड़क की ओर देखा. ऊंट गाड़ी चली जा रही थी. मंद-मंद. गाड़ीवान फिर सो गया था. सात का आंकड़ा बनाये हुए. □

चलते-चलते

लगभग चार घंटे बाद एक साहब माइक से हटे तो एक विदेशी पत्रकार ने अपने पास बैठे भारतीय पत्रकार से कहा, "आपके यहां के नेता तो बहुत लंबा भाषण देते हैं?"

"भाषण देने वाले असली नेताजी तो अभी दो घंटे बाद आयेंगे साहब, यह तो आज की सभा का आरंभ कर रहे थे!" भारतीय पत्रकार के धीरे से उन्हें समझाया. □

— कमल सौगानी

गुहार

बार-बार छले जाने के बाद भी कैसे मान जाती हिरणी कि वह वापस लौट आयेगा? तथाकथित सभ्य समाज की असभ्यता पर तीखी चोट करती व्यथा कथा...

□ कृष्णा अग्निहोत्री

प्रमुख कृतियां : 'टीन के घेरे', 'गलियारे', 'याही बनारसी रंग बा', 'नपुंसक' 'विरासत', 'जिंदा आदमी' आदि आठ कहानी संग्रह. 'बात एक औरत की', 'कुमारिकाएं', 'टपरेवाले', 'अभिषेक', 'नीलोफर' आदि आठ उपन्यास. तीन बाल कहानी संग्रह व 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी पर शोध प्रबंध.
संप्रति : ग. गर्ल्स डिग्री कालेज, खंडवा (म.प्र.) में प्रोफेसर हिंदी

मंदसौर से कुछ ही दूर नीमच की ओर भागती सरपट सड़क से टिका वह बांछड़ा मजरा है. उस टीले पर बने कच्चे-पक्के से उस घर को सूरज ने अपनी लाल-किरणों से ढांक लिया तो बूढ़ी सुरमूइया की निराशाओं की गागर भी लाल-लाल हो उठी. उसने तंबाखू का हुक्का गुड़गुड़ाया और बस्ती के पास की भीड़ को ताक थकी-सी मुस्करायी... किंतु लोग मजे से आ जा रहे हैं!"

उसके जमाने में आना-जाना यहां कितना कठिन रहा...!

तभी उसकी जेठी लड़की हिरिणया ने बाहर ताका?

उसका घाघरा व चोली तोते जैसी हरी थी. कानों में चांदी के बड़े झूमर गालों व आंखों तक झूम रहे थे और जिनकी लाली गहरी थी. उसने सुरमा को उपेक्षा की दृष्टि से ताका और तल्ख आवाज में बोली, "जजमान है... तू... बाजार हो आ... साग-भाजी ढूंढकर ठीक-ठाक लाना." दरवाजा ठक-खट की आवाज के साथ बंद हो गया... सूरज की रोशनी फीकी पड़ रही थी.

सुरमा की इच्छा नहीं थी कि पैदल इस समय इतनी दूर कुछ लेने आये परंतु जजमान का स्वागत तो परम धर्म ही है उसे तो जीते जी निभाना ही पड़ेगा. अरे वह पूछना भूल गयी कि दूध भी लाना है क्या?

लेकिन अब पलटकर यदि पूछा तो मां की प्यार करने वाली हिरणी निश्चित ही क्रोध में उसके मुंह पर थूक देगी.

...एक हजार-गज दूर गांव के अंदर सुरमा को जाना है. उसने अपनी कमर पर हाथ रखा व उन टेढ़े-मेढ़े पैरों को आगे बढ़ाया जिनसे वह बहुत अच्छा नृत्य कर सकती थी. दीपावली व डोली के समय मालगुजार के घर रोज ही बेड़निया अपना नाच प्रस्तुत करती थी लेकिन सुरमा के नाच की तेजी से खुश हुई जब मालगुजारन ने चांदी की अंगूठी पुरस्कार में उसे दी तो सुरमा को प्रमाण-पत्र ही मिल गया.

उसके पिता पूजा-पाठ करने वाले गूजर भाट थे. उन्हें घर बैठे ही यजमानों से पेट भरने को धन-धान्य मिल जाता.

उस वर्ष बरसात नहीं पड़ी. उसके पिता पास की रियासत में जाकर कुछ करना चाहते थे. परंतु उनहें अनुज्ञा नहीं मिली... सुरमा की बड़ी बहन मनका किसी तरह हाथों से ही जमीन गोड़ भाजी बो सकी... वे लोग कई-कई दिन आधे पेट अनाज से जी लिये पर भाई मरमल बागी हो गया वह चुपचाप जंगल में जाकर छुप जाता और किसी न किसी यात्री की गाड़ी को लूट लेता, पर बस्ती में आते ही ऐसा भोला बन जाता जैसे कुछ जानता ही नहीं.

देवी मां की कृपा हुई, पानी हरहराया, फसल चेती और बड़ी हो गयी मनका. सुरमा का रंग तो कुछ दबा-सा है परंतु मनका खुली गेहूं की बाली थी, वह भी बढ़िया नाच गा सकती थी परंतु स्वभाव से बहुत लजीली थी, अब तो घर में सभी सुख साधन थे, माटी की कोठियों में धान का अंबार उस पर रोज ही कोई ताजी सब्जी दे जाता तो कोई दूध दही तीनों भाई-बहन मस्ती में अलमस्त थे.

उस दिन मनका जब शाम ढले घर की ओर आ रही थी दूसरी जाति के एक मोटे ठिंगने आदमी ने लगातार बोली बोलकर उसे तंगा दिया. जीजी नाराज थी... घर पर बाबू से शिकायत करने लगी तो सुरमा ने हैरत से सुना बापू कह रहा था. अरी बड़ी हो गयी है... अब तेरा पीछा कोई मर्द ही तो करेगा छोकरी तो नहीं करेगी न! हंस बोल लेती तो मुआ खुद ही लौट जाता.

जबकि उस दिन सुरमा को जरा-सा कुंदन ने पत्थर मारा तो परमल व बापू ने उसका हाथ ही मरोड़ दिया.

सुरमा देख रही थी कि बापू उसकी बड़ी बेटी से सौतेला व्यवहार कर रहा है. और सचमुच वे दोनों अपनी पड़ोसन से पूछ बैठी थीं, "क्यों चाची हम सब हैं तो सगे-भाई-बहन!"

"हां हां. तुम सब एक मां के जाये हो. बेचारी बड़ी भली औरत थी.. सुरमा के होने पर चल बसी. तेरे पिता को बहुत प्यार करती थी. अपना

झोपडा जलाकर तेरे पिता की रखैल बनकर रही थी... कभी शादी के लिये जोर नहीं डाला... और इत्ता भी क्या कम है कि तेरा बापू भी उसे उबार लाया... उस टीले का एक और झोपड़ा तो जल गया न!"

मनका डरी सहमी अधिकांशतः घर ही में सिमट गयी. वह अपने कौमार्य को दोनों हाथों से दबोच सुरक्षित रख लेने का प्रयास कर रही थी. लेकिन चुपके से उसका कौमार्य यौवन के वस्त्र पहन चटककर बाहर आ गया.

अब तो बापू रोज ही दारू पीकर बहन को घर से किसी न किसी काम के लिये बेधड़क भेज देता.

सुरमा एक दिन अपनी किशोरावस्था में पिता पर बिगड़ी थी, "जीजी को तुम अकेले क्यों बाहर भेजते हो. मुझे क्यों नहीं साथ जाने देते!"

"उसे तो दुनिया देखनी है, सो अभी से सब कुछ जान पहचान लेने दे... तेरा तो ब्याह होना है. और उसके लिये भी तो उसे ही बंदोबस्त करना है. परमल की भी बहन के बाहर भेजे जाने से कोई असंतुष्टि न थी. जानबूझकर मनका को खूब खुला छोड़ा जा रहा था ताकि वह अपने अपने आप ही यौन सुख चखकर कौमार्य खो दे और उसे अपने शरीर की अगली पीदाई में कोई दुख न हो."

"नहीं बहना में उस टीले वाली जिंदगी की ओर नहीं मुड़ना चाहती, शादी मेरी भले ही न हो परंतु मुझे... वो सब नहीं करना. मैं यहां से कहीं और भाग जाऊंगी." मनका ओस से भीगे पत्ते-सी कांप रही थी.

"कहां जायेगी—जीजी—दूर-दूर तक तो रेत-पत्थर जंगल ही है. तुझे रास्ते पर कौन ले जायेगा सब घूम फिर कर यहां लौटा जायेंगे."

बहन के चेहरे पर से स्निग्धता गायब हो रही थी और भय का पीलापन उतराने लगा था.

घर पर अब मांस-मदिरा की सौंधी सुगंध भी बढ़ने लगी जीजी को सख्ती के साथ वह सब खाने के लिये कहा जाता.

उस मोटे-काले भालू से आदमी की शरारतें जब बढ़ने लगीं तो मनका से चाची ने सब बता दिया.

"तू उससे पूछ कि वह तुझसे शादी करेगा क्या? यदि वह शादीशुदा है तो भी तुझे रखैल बनाकर भी रख ले तो अच्छा है. कम से कम एक के पास तो रहेगी. तुझसे नहीं पूछा जाता तो मैं तेरे पीछे-पीछे चलकर पूछ लेती हूं."

"परंतु मुझे वह धेले-भर पसंद नहीं." मनका रोने लगी.

"बेटी रोने का क्या काम, हमारी तो ये परंपरा है. तू जेठीं है तेरा जाति-बिरादरी में न तो ब्याह होवेगा न तू किसी से आंख मटक्का कर सके है. कोई दूसरा जाति वाला ही तुझे ले जा सकेगा. सोच देख! सुरमा सयानी होय है. वो का भी कुछ करना होवेगा!"

मनका के लाख बार कृष्ण को पुकारने पर भी वहां कोई नहीं आया पर वह कुदिन अवश्य आ पहुंचा जब मनका को सब परिजनों ने खूब खिला-पिला कपड़े-गहने दे मजरे के उस टीले के कच्चे कमरे में बंद

मनु पारेख की कलाकृति

दिया जहां कोई दुशासन आने वाला था.

सबसे बड़ा आश्चर्य था कि वही काला भालू-सा आदमी बहन का प्रथम ग्राहक था. क्या बीती होगी उस पर. सारी रात बहन को वह चींथता रहा और सुबह होने से पहले जो गया तो न लौटा.

जीजी उलटी टंगी बछिया-सी पलंग पर लेटी थी तभी चाची ने बहुत ममता से उसके सर पर हाथ रखा था, "वो तेरे लिये थाली में साड़ियां चांदी के जेवर व नगद पांच सौ रख गया है. चल नहा- धोकर अपने मायके चल. अब तो रास्ता तय हो गया इसलिये कोई तुझसे नाराज नहीं, न ही तुझे कोई कुछ कहेगा."

मनका देर तक रोती रही और उसने तेजी से घर आकर अपने पिता से पूछा, "तुम लोगों का क्या कुछ भी लाज नहीं आती?" पिता व भाई हंसने लगे उन्होंने लंबे समय बाद मनका के कंधे पर स्नेह का हाथ रखकर कहा, "लड़की रखना हमारे समुदाय में प्रतिष्ठा व धनी इज्जत की बात है. तू तो अब डर से मुक्त हो गयी. अब कोई मैल मत रख. चाहे तो वापस तेरा कमरा बगल में..."

"नहीं... में वहीं रहूंगी तुम्हारी परंपरा भले ही बेशर्म है पर अब मैं नहीं कि भाई पिता के सामने सब कुछ सामान्य सहज हो जाया करे."

किसी के व्यवहार में कोई उपेक्षा-घृणा तिरस्कार न था. अपितु मनका

और अधिक प्रेम व देखरेख पा रही थी.

परंतु सुरमा ने स्पष्ट देखा था दावत हंसी मजाक मांस-मदिरा के बीच भी जीजी का चेहरा सफेद ही रहा—ठंडा बेजान. उस दिन के बाद पूर्व-सी कोमलता व स्निग्धता सुरमा ने बहन के चेहरे पर कभी नहीं देखी.

परमल तो अब जीजी के बल पर पलने लगा. यदि किसी माह वह उसे कम पैसे देती तो वह जजमान ढूंढकर उसे उत्साह से मनका के उस टीले वाले घर तक पहुंच आता. सुबह उठते ही उमंग से अपना हाथ मजे से उसके आगे फैला देता.

जीजी के टीले वाले घर में सुरमा को झांकने की आज्ञा न थी... और मनका भी कुछ कम जिद्दी नहीं अपना सारा काम करती परंतु पिता के घर दो घड़ी से अधिक विश्राम नहीं लेती.

उस दिन घर में कथा थी... प्रसाद परमल ने मंदसौर से मंगाया.बहुत अरसे से उनके घर कोई कारज ढंग से नहीं हुआ था—इसलिये सभी कुछ बहुत उत्साह से किया गया.

मनका ने ही खाना परोस पंगत में बैठे बड़े-बूढ़ों ने उसकी कुशलता पूछी और उसके कंधों पर ममता का हाथ भी रखा पंगत के बाद परमल बेड़नियों के नृत्य का भी बंदोबस्त था.

बेला के नाच करते थिरकते पांवों के घुंघरुओं की आवाज से सभी जुड़ा गये, हरि के गीत गाती वह कहीं से भी अस्पृश्य हरिजन नहीं लग रही थी जब रात ढली तो गांव के मनचलों ने फरमाईश की, "अरे अब कब तक सन्यासी बनी रहोगी. कुछ बहको भी तो!" परंतु बेला चुप रही.

परमल थोड़ा नाराज हुआ तो उसके पिता ने उसे अंदर बुला धिक्कारा, "दिये तो तूने पचास रुपये और काम लेगा सौ का? रहने दे खाना देकर छुट्टी कर दे."

परमल को बेडनी भा गयी... उसके सलोने चेहरे की परवशता ने उसे बांध लिया जबकि मनका के इसी भाव की वह हंसी उड़ाता था.

उसको बेडिया चक्र तक पहुंचाने जब वह चला तो बेला ने अपना मुंह खोला, "अब जंगल है कर ले मनमानी परंतु मैं यदि बिना रुपयों नाचती तो मेरा काम ठंडा पड़ता तुझे नहीं मालूम कि कित्तनों का पेट मुझे ही पालना पड़ता है, कमाने से तो यहां कितनी तनख्वाह मिलेगी?"

"तेरे भाई-बहन बहुत छोटे हैं क्या!"

"हां और हैं भी पूरे आठ. एक समय में एक दर्जन की रोटी बनती है. पांच सेर आटा पता ही नहीं चलता. बीस रुपये रोज का तो केवल गेंहू लगता है, चटनी रोटी से तो ये सब खुश रहते नहीं... इन्हें मांस...सब्जी दारु-दाल सब लगती है."

"लगे, तूने क्या उनका ठेका लिया है!" कहने को तो परमल कह गया परंतु वह जानता है कि इस जाति में भी लड़कियां ही घर वालों का पेट भरती हैं.

"तू मुझसे क्यों ऐसी दया की बात करता है जानता तो है न कि बड़े घरों के आंगन में थिरकते हमारे घुंघरू हमारी कितनी बड़ी लाचारी है, हमारी गरीबी ने हमें मार दिया है."

"तुमन शादी नहीं की, क्या तुम भी जेठी हो?" परमल ने बहुत आहिस्ते से अपने पुरुष को कोमल पड़ते पाया.

"नहीं हमारे यहां ऐसी कोई परंपरा नहीं है हमारी तो गरीबी पर आश्रित जिंदगी ही शाप है."

"आ रहा है क्या तू?" एक घने पड़े से गुजरते समय बेला ने पूछा उसके बाजे वाले पीछे ही रह गये थे.

"नहीं अभी मेरी इच्छा नहीं और मैंने तो कोई औरत अभी तक चखी भी नहीं." परमल शरमा गया.

"ये क्यों नहीं कहता कि पास कानी कौड़ी नहीं? तेरी बहन की कमाई तो ऊंची है."

"हां." परमल ने पहली बार जैसे इस स्वीकृति पर लज्जा अनुभव की कुछ पग आगे बढ़े ही थी कि बेला ने पुनः टोका, "अरे पचास हों तो

डी. एल. एम. रेड्डी की कलाकृति
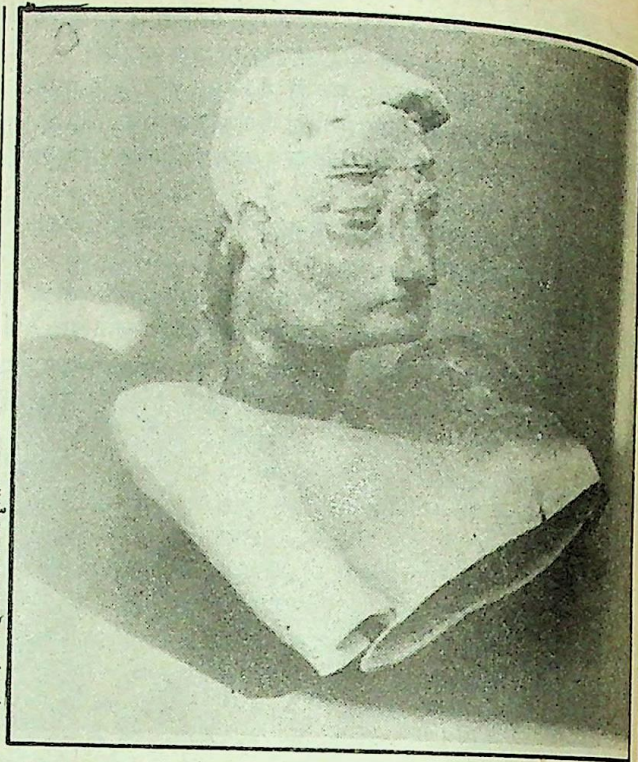
संकोच मत कर, मुझे कल बीमार भाई के लिये दवा खरीदनी है."

"तू ये बीस रुपये रख ले... पच्चीस कल दे जाऊंगा परंतु मुझसे उलटी-सीधी बात पर जोर मत डालना."

"और तू दिन में हमारे चक्र में मत झांकना. तुम ठहरे गुजर, हम हैं बेडिया. तेरी जाति वालों को पता लगेगा तो झगड़ा बट जायेगा."

"तो अब बेला!" परमल उस चपटी नाक वाली बड़ी-बड़ी आंखों वाली कमसिन देह की लड़की को देखने लगा.

"मिलूंगी... रोज तो हाट जाती हूं. वैसे भी दो-चार दिन में यूं मैं तो खाली भी हूं." बेला नीचे देखने लगी.

परमल की सूखी बंजर भूमि में जैसे कोई नन्हा पौधा लग गया था. आज तक इतने खुलकर उससे किसी की भी बोल-चाल नहीं हुई थी.

लौटते समय उसने मनका को अपने टीले की ओर हलके पैरों से जाते देखा तो उसे न जाने क्यों पहली बार यह अच्छा नहीं लगा वह तेजी से दौड़ उसके पास गया और बोला, "जीजी आज घर ही पर रात रह ले. तुझे कुछ किस्से सुनाऊंगा. कल से मैं कोई धंधा ढूंढूंगा."

"कोई दूसरे गांव से चलकर वहां बैठा है." मनका ऐसे चली जैसे निस्पंद मशीन लुढ़की जा रही हो. उसने अचानक मुड़कर कहा, "पानी की धारा जब नीचे लुढ़क पड़ती है तो भैया पीछे कैसे लौटायी जा सके है."

चैत फूला परंतु परमल का कोई धंधा न जमा. जमीन तो कोई दान में देने वाला था नहीं, मजदूरी में परमल थम जाता, इसलिये एक हफ्ते में कमाने का भूत उस पर से उतरने लगा.

कुछ रुपये जमा किये भी तो गुड़हल-सी बेला को बाजार में दे दिये. वह कनेर के फूल-सी लाल हुई और पूछने लगी, "ऐसे कब तक देगा?"

"जब तक देने के लिये होंगे. पर तू अब केवल गाया बजाया कर और सब छोड़ दे."

"मुझे क्या इधर-उधर होना अच्छा लगे पर तेरे इन आठ-दस से उन आठ-दस का क्या बने! अब तो मैं भी बहुत बीमार रहने लगी हूं."

परमल बहुत खरोंचे गये शीशम-सा दृढ़ खड़ा रहा. उसकी बेशुमार

उदासी बेला को चुभने लगी, "तेरे को अपनी जाति में अच्छी लड़की मिल जायेगी मुझे यहीं सड़ना है."

"चल हम शहर भाग जायें!"

"हां... ऐसा हो तो सकता है, लेकिन छोटे भाई-बहन कुछ तो बड़े हो जायें. तू छोरी नहीं है. मैं छोरी हूं न इसीलिये पराये जाये से भी ममता नहीं तोड़ी जाती, छोटे जरा दो-चार साल में संभल जायें तो..."

"अभी तो सुरमा का ब्याह होगा..." परमल ने बेला को डूबे जल की छटपटाहट से उस समय तो मुक्त कर ही दिया था.

परंतु बेंच की दूसरी छोर पर मनका खड़ी थी जिसने पलभर को भी प्रेमासक्त आस्थापूर्ण शब्द न सुने, न जाने और न पहचाने थे.

कुंदन से सुरमा विवाह हो गया, मनका ने चांदी के कीमती आभूषण बहन को कन्यादान में दे दिये और मन भर वह पहली बार मायके में गयी व नाची.

रात 11 बजे गये तब भी जिद्दी मनका अपने ही टीले वाले घर में सोने चली गयी. उसने अभी घर खोला ही था कि चार-पांच नशे में धुत्त लोग जीप से वहां आये व बिना कुछ बोले अंदर आ उन्होंने दरवाजा बंद कर दिया.

"तुम आदिवासी हो न?"

"हां परंतु इतनी रात इतने लोग... मैं धंधा नहीं करूंगी, आप जाओ. कल आना. परंतु नशे में उन लोगों को ये न की बात बनावटी लगी. उन्होंने मनका को नंगा कर मनचाहा दुर्व्यवहार किया और बिना कुछ दिये... जैसे आये वैसे ही चले गये. बगल के घर वाली लड़की डर व दहशत के मारे बाहर नहीं निकली. अब वह आयी और मनका को कपड़े पहनाये. इस पर भी मनका ने परमल का कहना नहीं सुना... वह ठंडी आवाज में बोली भी, "सुरमा के लिये घर वर है न मैंने तो जेठी होकर पाप किया है. इसलिये इस जन्म में पूरी तरह भुगत लेने दो ताकि अगले जनम में न भुगतूं. भूखी प्यासी अपनी घायल देह के साथ मनका एक माह तक उस कमरे में ऐसे रही जैसे वह काल कोठरी की सजा भुगत रही हो. बापू पहली बार सीजा. बेटी को उसने घर तक लाने के लिये लगातार जोर डाला परंतु मनका नहीं उतरी... तो न उतरी बस बापू के हाथ पर उसके आंसू गिरते रहे थे.

इधर सुरमा गर्भवती हुई उधर मनका मर गयी. हां एक लड़की मर गयी. उसकी जिंदगी परंपरा के ढंग को न सह सकी थी और जो परंपराओं को न जी पाते हैं न तोड़...उन्हें मरना ही पड़ता है. बहन का मातम. अधिक दिन न मना पाये. कुछ समय बाद टीले वाला उसका घर जला दिया गया.

कुंदन व सुरमा हुलस भरे अपने दिन जीने लगे. कुंदन सुरमा को संभालकर चाव से ही रखता. अपनी छोटी-सी जमीन पर मन भर मेहनत. पत्नी भरी पूरी गर्भवती पत्नी के साथ रोज कुंदन बड़े पीपल के पास और ढीले वाले मंदिर व छोटी मजार पर मन्नत मांगने जाता कि हे ईश्वर हमारे पहलौटी का बेटा ही हो, बेटी नहीं."

सुरमा दिन पर दिन दुविधावश पीली पड़ती जा रही थी. कुंदन ने उसे संभाला, "देख, जी छोटा न कर... अधिक से अधिक क्या होगा? बेटी होगी तो इतनी फिक्र क्यों! जो सबके साथ होता है वह हमारे साथ होगा. हम सबसे अलग तो नहीं!" "नहीं जी, मैं बेटी का गला घोंट दूंगी. अपनी बहन को अभी भूली नहीं हूं." ...परंतु सुरमा के बेटी ही हुई. पर वह बड़ी-बड़ी आंख वाली मासूम सुंदर बेटी का गला नहीं घोंट सकी.

परमल भी लड़की की भोली आंखों पर रुक गया वह तो यूं भी बागी ही था अब खुलेआम बकवास करने लगा, "देखना, मैं अपनी भांजी को शहर ले जाऊंगा मजाल है जो कोई उसे हाथ भी लगा दे."

लेकिन दारू की लत ने उसे निकम्मा बना दिया अंदर की आवाज ठेलकर बाहर आ भी जाये पर शरीर तो साथ नहीं देता वह रह-रहकर खांसने लगा.

बेला ने परमल को दीवाली पर टोंका भी, "क्या हालत बना ली है. क्या ऐसे ही नशे के बल पर मुझे शहर ले जायेगा."

"अब क्या ले जाऊंगा. तू भी बूढ़ी हो रही है मैं भी बूढ़ा हो ही रहा हूं."

"तू किसी से घर बसा ले."

"खिलाऊंगा क्या, अपना मांस? तू बता तेरे पिल्ले, अब जिंदा हैं न?"

"जवान संभालकर बोलते नहीं बनता."

"नहीं इसके सिवाय है ही क्या मेरे पास?" ...और परमल ने बेला से किनारा काट लिया.

डूबती गहरी उदासियों में भी हिरणी कुलांचें सरसराती सांसों के साथ आंखों में तरलता छलछलाती बड़ी हो गयी.

सोलहवां लग परंतु सुरमा उसे अच्छे कपड़े नहीं पहनाती और न ही वह कोई ऐसा श्रृंगार कर पाती जिससे उसकी आयु बड़ी लगे.

पर अंधेरे की कई खोह से भी हिरणी का लावण्य सूरज का हाथ पकड़ बाहर आ रहा था.

सुरमा तो जैसे सनक रहीं थी दिन भर यही पता लगाती कि जंगल में कोई नया चपरासी आया था... किसी ने उस गांव में कोई नयी दुकान खोली है या नहीं, वह मन ही मन अश्वस्त थी कि हिरणी इतनी मासूम व आकर्षक है कि कोई भी मर्द उस पर रीझ सकता है.

टील पर आने वालों की कमी तो नहीं है, अंधेरा ढलते ही आकर मुंह काला कर न जाने कब खिसक जाते हैं, एक को भी वह पकड़ पाती तो उसके पैरों पर लेट जाती, 'रे मइया, किसी गरीब रंडुए, गूंगे बहरे जवान आदमी को भेज दो जो ब्याह कर मेरी बेटी का उद्धार कर दे.'

जयमल कुंदन का चचेरा भाई है उम्र में अधिक नहीं पट्ठा जवान लगता है, हिरणी को बहुधा कीमती सौगात देकर शहर के कई किस्से सुनाता है. जब से हिरणी ने सुना कि शहर की लड़कियां पढ़-लिख नौकरी करती हैं. उनकी मर्जी हो तो वे कुंआरी भी बनी रह सकती हैं. तब से वह स्लेट लिये अक्षर जोड़ने लगी है. प्रायमरी पाठशाला सुरमा के घर से दूर हैं पर वह भागती हुई गुरुजी से सबक ले आती है, देखते-देखते

लघुकथा

उसके पापा

□ जैब अख्तर

"क्या बात है राजू! तू रो क्यों रहा है?"

"आज सुबह-सुबह पापा ने मम्मी को बहुत मारा."

"क्यों?"

"आज पहली तारीख है न! मम्मी ने पापा से राशन के पैसे मांगे थे, और जब मैंने स्कूल की फीस के लिए पैसे मांगे तो मुझे भी मार पड़ी."

"अरे! तो इसमें रोने की क्या बात है. तेरी फीस मैं जाकर देता हूं." उसकी नन्हीं-नन्हीं आंखों में मुस्कुराहट तैरने लगी थी.

"लेकिन शालू, तू इतने पैसे कहां से लाता है? तेरे तो पापा भी नहीं हैं."

"तू नहीं जानता, मेरी मम्मी कितना काम करती है."

"तेरी मम्मी क्या काम करती है? बता न, मैं भी अपनी मम्मी से वही करने को कहूंगा."

"पता नहीं. तू अपने पापा से पूछ लेना वह तो रोज हमारे घर आते हैं." □

उसने चौथी पास कर ली. पर इसके बाद अब तो उसे घर की चौखट से ही नाता रखना था.

सुरमा देख रही थी कि जयमल समय बे समय घर आ जाता है. यहां तक सुरमा ने उसे अपनी कुंवारी बेटी को बाहों में बांधे भी ताक लिया था परंतु वह अनजान बनी रही जानती तो है कि जयमल हिरणी को कितना भी प्यार करे परंतु ब्याह तो नहीं कर सकता... लेकिन ठीक है हिरणी की जवानी अनावृत होने से पूर्व छक तो जाये. आग में झुलसने से पहले बेटी चांदनी की सुखद अनुमति की गंध में स्नान तो कर ले ताकि कम से कम स्मृतियां ही उसे बेजान न होने देंगी.

तभी अजीज मंदसौर होता वहां गांव के छोटे से रैस्टहाउस जैसी जगह में आ ठहरा. सुबह ही झोला व कैमरा टांगे वह उन जगहों के भीतर तक झांकने को बेसब्रा था जहां अब भी जेठी लड़की से हंसी-खुशी वेश्यावृत्ति करवायी जाती है. बांधड़ा समुदाय की बहुत चर्चा है वह पत्रकार व लेखक है, अच्छी-खासी सामग्री उपलब्ध हो सकेगी.

वह सरपंच का घर ढूंढना चाहता था उसने कुछ हिचक से सुरमा के घर का दरवाजा खटखटाया हिरणी ने आगंतुक के नये लिबास को कुछ कौतुहल व आश्चर्य से ताका और दूर बने रामदीन काका के घर की ओर इशारा कर दिया.

रामदीन ने राबड़ी का नाश्ता परोसा और गर्व से कहा, ''ये तो धंधा है इसमें खोजबीन आप लोग क्यों करें, हां हम अपनी लड़कियों से घृणा तो नहीं करते... उनको घर बुलाते हैं. और सामाजिक रीति-रिवाजों में शामिल करते हैं, आपके शहर के लोग क्या ऐसा कर सकते हैं भला.'' अजीत ने अपना रोष संभाला और कुछ उत्तर नहीं दिया.

दुपहर में उसे हिरणी एक आम के पेड़ से कच्ची कैरी तोड़ती दिख गयी वह तेजी से उसके पास पहुंचा, ''मैं तुम्हारी एक अच्छी-सी फोटो खींचूं?''

''अच्छा देखो, मैं ग्राम ढीढर व कालूखेड़ा के फोटो तुमको दिखाता हूं परंतु तुमको मेरा एक काम करना पड़ेगा.'' अजीत ने हिरणी को सामान्य करना चाहा.

''मुझसे ज्यादा वजन नहीं उठता है.'' हिरणी फोटो देखने लगी.

''मुझे धंधे वाले टीले की किसी लड़की से मिलवा दो मुझे और कोई काम नहीं लेना.''

''छीः तुम इतने गंदे हो कि क्या इसलिये यहां आये तुम्हारे शहर में क्या ऐसी लड़कियां नहीं?''

''हैं तो...!''

''तब यहां क्यों? हिरणी की आंखों से जैसे आग निकलने लगी.'' हम गरीब हैं इसलिये हमारी बदनामी करना सरल है, ''मुझे इस बारे में कुछ नहीं मालूम पर मेरी मां बता सकेगी. वैसे... वो रहा बांधड़ा टीला.'' और हिरणी भाग गयी.

अजीत जब वहां पहुंचा उसे पहले घर में मिली धेनु बिलकुल गृहस्थन. सीधे गुजराती वाले पल्ले की साड़ी. लंबा जूड़ा. घर में बजते रेडियो से फिल्मी गीत की धुन आ रही थी. घर गोबर से लिपा-पुता परंतु सामान के नाम पर चारपाई साफ बिस्तर एक दो पेटी व अलगनी पर टंगे कपड़े.

किसी भी सभ्य परिवार की महिला की तरह उसने अजीत का स्वागत किया पानी पेश करके उसने उत्सुकता से यजमान की बात समझने का प्रयास किया, तभी नीचे से छैः सात साल का एक लड़का दौड़ता हुआ आया और उसका आंचल खींच कुछ खाने को मांगने लगा.

अजीत ने हंसकर उसे कुछ बिस्किट व टॉफी खिलायी और गोद में बैठा लिया.

''कुछ जल्दी ही लौट आया. चल मौसी के घर चला जा.''

''नहीं रहने दे उसे यही एक बात पूछें, आपको इस बच्चे पर ममता तो है न!''

''क्या इसे मालूम है कि आप क्या करती हैं.''

''नहीं मैं तो मां हूं, जानती हूं कि इसे पिता का नाम नहीं मिलेगा तो क्या, वो मेरा नाम ले सकता है, इसे पढ़ा रही हूं, बूढ़ी हो जाऊंगी तब यही तो मेरा आसरा बनेगा.

''आप जेठी हैं क्या?''

''नहीं मैं तो छोटी हूं यह धंधा मैंने अपनी इच्छा से ओढ़ा है. क्या करें, यहां पूरा घर है. कमा खाने के साधन नहीं. कुछ नेता आये बड़ी-बड़ी उद्धार की बातें कीं. धंधे खोलने पर जोर डाला. पर रात होते ही मेरे ही घर आये. दारू पी खेला खाले-और जो गये तो गये. समझ नहीं आता बाबूजी आप सबको मन बहलाने के लिये क्या हमको रोज हमारे ही हाथों से नंगा करवाना अच्छा लगता है?''

अजीत के अंदर तक भाला धंसा गया और वह लज्जित हो उठा.

''नहीं... ऐसा मत सोचिये. मेरी नीयत इतनी घटिया नहीं जिस बात से आपका जी दुखे उसे न कहें.''

''वैसे तो जी दुखाने के बाद मेरा प्रेमी मुझे सुख भी पहुंचाता है. आ जाता है पास के गांव से. मेरे बेटे से भी वह घृणा नहीं करता. बस यही दो बातें हैं मेरे लिये जीने को. धंधे में तो भला बुरा कुछ नहीं सोचती, यजमान हमारा भगवान है. उसे खुश करना हमारा धर्म. कई तुम्हारे शहर वाले हमारी इस निर्दोष अभ्यर्थना को पाप समझते हैं, मजाक भी बनाते हैं कि हम यौन सुख एवं आदत के कारण इस पेशे में आयी हैं. लेकिन नहीं, ऐसा नहीं. काश आपने मनका को देखा होता! हमारी असहायता ही इस सबका कारण है, जी दुखाने के लिये पापी पेट ही बहुत है. अजीत लौटकर रात भर न सो सका वह अवश्य गांव के पुरुषों को जागृत करेगा कि ऐसी नारकीयता के आगे आप घुटने न टेकें. उन्हें इस सबको नयी परंपरा देनी चाहिये.''

सुबह रामदीन से देर तक चर्चा हुई परंतु उपाय नहीं सूझा. रामदीन खुलकर हंस रहा था.

कितनी बार पंचायत जुड़ी, निर्णय निश्चय बने परंतु कुछ न बना इन

मैथिल लोक कथा

चलनी-बढ़नी

एक चलनी थी एक बढ़नी. चलनी इस बात को लेकर बढ़नी का मजाक उड़ाया करती कि उसे तो सारे घर में घसीटा जाता है. और वह, वह तो आराम से पड़ी रहती है. उससे लोग आटा छानते हैं और फिर उसे संभालकर उनपर कील के सहारे टांग देते हैं. बाल-बच्चों को भी उसे नहीं छूने देते कि कहीं वह टूट न जाए. दूसरी ओर बढ़नी को तो एक बच्चा भी घसीटता रहता है. उसे तो अलस्सुबह जागना पड़ता है. जबकि वह आराम से सोयी रहती है. दिन निकलने के बाद ही उसे उठाया जाता है जब रोटी बनाने की जरूरत पड़ती है. उसका स्थान चौंक में सबसे ऊंची जगह पर है जबकि बढ़नी को तो घर के पिछवाड़े, दरवाजे के पीछे अंधेरे में पटक दिया जाता है.

बढ़नी बिचारी अपनी स्थिति से परिचित थी. अतएव चलनी की बातों का उसके पास कोई उत्तर न होता. हालांकि उसकी बातें उसे गहरे तक सभा जाती थीं. चलनी उसकी चुपी की इस आवत से बखूबी परिचित थी. इसलिए जब-तब वह उसका मजाक उड़ाया करती.

एक दिन सुबह-सुबह बढ़नी अपने काम में जुटी हुई थी. सारे घर को बुहारती वह चौके में भी घुसी. उसने एक नजर चलनी पर डाली. वह आराम से सो रही थी. बढ़नी ने पल भर को उसे देखा और फिर अपना काम करने लगी.

बढ़नी की खर-खर सुनकर चलनी की नींद खुल गयी, उसने देखा कि छाती पर झुककर बढ़नी घर को बुहार रही है. उसे बढ़नी की इस हालत से कोई सहानुभूति न हुई, बल्कि उसे उस पर छींटे कसने की ही सूझी. उसने से दुत्कारते हुए कहा, तुम्हें तो लोग घसीटते हैं...

रोज-रोज की अपमानजनक बातों से बढ़नी बुरी तरह से तंग आ चुकी थी. आज सुबह ही सुबह चलनी की इस मुंह ज़ोर आवाज से उसका मूड ऑफ हो गया. कहां वह गुनगुनाती हुई अपना काम कर रही थी और कहां उसने रंग में भंग कर दिया. उसके बदन में आग लग गयी. उसने पलभर चलनी को देखा और कहा, "मुझे तो लोग घसीटते ही हैं न! तुम्हारी तरह तो नहीं हैं न मेरे बदन में भी पचहत्तर हजार छेद!"

चलनी हतप्रभ हो गयी. सच, अपने इस शारीरिक भद्देपन की ओर तो उसने ध्यान ही नहीं दिया था. वह चुप हो गयी. बढ़नी ने पूरे संतोष के साथ चौका-घर बुहारा और बड़े आराम से बाहर निकल गयी. □

प्रस्तुति : विभा रानी

मूढ़ दिमागों में यह बात जम चुकी है, यह खोटा धंधा ही उनकी परंपरा है. मैंने अपनी दोनों बेटियों को ब्याह दिया परंतु कितनी जिल्लत सही है, केवल मेरा ही परिवार है-जिससे कोई टीले पर नहीं बसा.

हाट से लौटते समय अजीत से सुरका की मुठभेड़ हो गयी. उसे तो जैसे मन मांगी मुराद ही मिल गयी. बड़े जतन से अजीत को वह घर ले आयी. हुक्का पेश करके उसने दोनों हाथ बांध कहा, "मेरी हिरणी के लिये कोई रास्ता खोज दें. छोटा-मोटा कमाने वाला भी चलेगा. इस वर्ष फसल ठीक नहीं हुई, रेगिस्तान जैसे फैला ही जा रहा है. कहीं ऐसा न हो कि पेट की आग हिरणी को भून डाले.

हिरणी ही तो मीठा दलिया ले आयी. साधारण कपड़ों में भी उसमें नारी सुलभ जिंदगी की चाहत शेष थी.

अजीत को उस घर से स्नेह मिल रहा था. वह खुलकर वहां आने-जाने लगा. हिरणी उससे बहुत हिल-मिल गयी अजीत ने सोचा चलो दस-पंद्रह दिन बियावान जंगल तो उसे नहीं काटेगा.

एक दिन हिरणी ने संकोच से पूछा, "मुझे शहर में क्या कोई काम मिल सके है?"

"हां, घर का काम मिल तो जायेगा परंतु शहर में तुम्हारी-सी कम उम्र लड़की सुरक्षित नहीं है."

"क्यों नहीं है? वहां तो पुलिस है, जज है, थाना है, कानून है."

"हां, लेकिन ये सब किसी को भला व बुरा थोड़े ही बना सकते हैं."

"तो काय को इनको बनाया? अच्छा, तो मुझे कहीं लिखने-पढ़ने को रखवा दो."

"वो जयमल कह रहा था कि वहां औरतों को रखने की जगह रहती है."

"हां रहती तो है... पर... वहां भी गड़बड़ है. ये जयमल कौन है? तुम्हारा मंगेतर?"

"नहीं पर शादी कर लेगा. परंतु मां कहती हैं इस गांव में रहने वाले से मेरी शादी नहीं करेगी वरना... आगे जाकर सब गड़बड़," हिरणी हंसने लगी.

"तुम्हें वह अच्छा लगता है."

"हां पर उससे ज्यादा अच्छे आप लगते हैं." हिरणी लजाकर भाग गयी परंतु अजीत का मन उस दिन कुछ लिखने का न हुआ.

उस पूरी रात हिरणी की चमकम आंखें उसका पीछा करती रहीं.

अजीत ने अपने आपका गलियाया, 'बेवकूफ तू इन्वालल्ड होने नहीं आया काम कर और चलते बन.'

लेकिन शीशे से भी पत्थर की दीवार चकनाचूर हो जाती है, उसे हिरणी का मोह उस ओर लगातार खींचने लगा.

सुरमा को यही तो चाहिये था. सूनसान दुपहरी में वह कुंदन की परती परी जमीनों को खोदने चल देती. अजीत हिरणी पर आसक्त हो ता जा रहा था न कोई प्रश्न न उत्तर हिरणी के अभावों की परते अजीत के सामने खुलती और, वह बार-बार आत्मनिर्भरता के लिये किसी भले रास्ते की बात जताती.

अजीत उसकी आंखों में झांकता कंधे छूता आश्वासनों का ढेर लगा देता. हिरणी की दृढ़ता में वजन था, वह लगातार यही रटती... "देखना मैं बड़ी और बनूंगी तुम्हारे लायक औरत. दुनिया व समय से लड़ूंगी परंपरा के दानव से भी लड़कर चिड़ियों की तरह चहचहाती रहूंगी."

"हां, क्यों नहीं." अजीत उत्तेजना को दबाते हुये मंदा पड़ जाता.

"मां को मेरी बहुत चिंता है..." उसके चेहरे पर अभी से झुर्रियां आ गयीं.

"मैं उन्हें चिंता मुक्त कर दूंगा."

"सच. तुम मुझसे क्या ब्याह करोगे?"

"हां, हां कर लूंगा." अपनी असमर्थता को छुपाते हुये अजीत ने अर्धविक्षिप्त मादकता में अपने सारे सिद्धांतों की होली जला हिरणी से लगभग उसकी इच्छा के विपरीत बलात्कार कर डाला.

निढ़ाल-सा अजीत हारे हुये यात्री-सा जब चलने लगा तो हिरणी ने भारी आवाज में पूछा था, "सुनते हैं, मुझसे शादी करेंगे न, मेरे बच्चों को जीवन देंगे न? मेरी बेटी को गंदी रस्म से बचा लेगें न?"

"हां-हां हिरणी हां." अजीत उसका कांपता हाथ दबा लौट आया.

पर सुबह होने से पहले पैदल भागकर उसने गांव छोड़ दिया था. और ट्रेन पकड़ दिल्ली चला आया.

बेटी हिरणी ने मां की इस निर्दोष भूल को क्षमा नहीं किया... वह तो बच्ची थी जैसे—बनता जयमल के साथ भागकर पतिव्रता धर्म तो निभाती लेकिन मां ने उकसाकर उसे अजीत जैसे खोखले जवान के साथ लुट जाने दिया.

हिरणी ने बेटे को जनम देने के कुछ दिन पश्चात स्वयं ही रामदीन व कुंदन से कहा, "मैं टीले पर बसने जा रही हूं." उसकी कंचन काया कुचली और श्यामल दिख रही थी. "बेटी कुछ दिन और रुक जा... शायद... शायद वह वासप लौट आये." सुरमा पश्चाताप और अपने ही सामने अपनी बेटी को इस आत्महत्या की ओर अग्रसर होते देख दहाड़ें मारकर रोने लगी. "रहने दे मां... तेरी यह गुहार अब कोई नहीं सुनेगा. बहुत हुआ... तू तो आधे पेट खा ही रही है परंतु अब इस सभ्यता के बच्चे का पेट तो मुझे ही भरना है. मैं तो बस ईश्वर से ही गुहार करूंगी कि वह इस दिखावटी सभ्यता के बच्चे को सच्चा व जागरूक इंसान बनाने के लिये हिम्मत दे.

सुरमा पथरायी आंखों से डूबते सूरज की उदासी में अपनी बेटी को भारी कदमों से टीले की ओर बढ़ते देखती रही. □

नाचो जी.आर. यार

क्या यह जरूरी है कि अपमान किसी दूसरे के जरिए ही महसूस हो? वह आखिर कौन-सी स्थिति होती है जब हम खुद अपने मान-अपमान की चिंता नहीं करते! ऊपर उठा दीखता इंसान क्या सचमुच ऊपर होता है...?
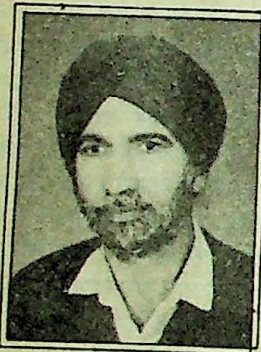
□ अमरीक सिंह दीप

जन्म : 5 अगस्त, 1942 कानपुर (उ.प्र.)
विविध पत्र पत्रिकाओं में कहानियां व लघुकथाएं प्रकाशित. 'कहां जाएगा सिद्धार्थ' (कहानी संग्रह)
संप्रति : सरकारी संस्थान में तकनीकी कर्मचारी.
संपर्क : 120/432, लाजपतनगर, कानपुर-208 005.

शीशो के जगमगाते शो केसों में तमाम वाद्य-यंत्र मानो खामोश रह कर भी कोई उत्तेजक धुन छेड़ रहे हों. मजबूरी ही तो इस धंधे का चार्म है. काम पड़ता है तो अच्छे-अच्छे खुशामद करते हैं क्योंकि खानदान की इज्जत का सवाल उस समय सबसे ऊपर होता है. और इन सबके ऊपर नाक. जी.आर. ने नकली मायूसी चेहरे पर ओढ़ते हुए कहा, ''शुक्लाजी, क्षमा करें, मैं मजबूर हूं. पच्चीस नवंबर के दिन चारों सैट तीन-तीन शिफ्टों में बुक हैं. ठीक है कि आपसे पुराने ताल्लुकात हैं मगर एडवांस लेकर पीठ फेर लेना हमारे धंधे में नहीं चलता. ऐसे मामलों में खून-खच्चर तक हो जाता है.''

शुक्लाजी पशोपेश में पड़ गये. खीझते रहे, खुद पर, घरवालों पर और सबसे ज्यादा कन्या पक्ष पर जिन्होंने ऐन वक्त पर शुभ मुहूर्त का नारियल उनके सिर पर फोड़ दिया है. लेकिन किस मुंह से उनको कुछ कहें, वह ठहरे चर्बीदार असामी! फलदान में ही इतना दिया है कि घर में चारपाई डालकर सोने की जगह नहीं बची.

दो कौड़ी के बैंड वाले के सामने निहोरा करने से उपजे अपमान और आक्रोश में भरसक मिसरी घोलकर बोले, ''जी.आर. भाई, बेटों और पोतों के सामने अपमानित होने से बेहतर है कि मैं तुम्हारी दूकान के सामने धरना देकर बैठ जाऊं. क्या कहेंगे लोग! ...एक अदना से काम की जिम्मेवारी सौंपी और वह भी इनसे न हुआ.''

जी.आर. ने कुशल अभिनेता की तरह अपनी पेशानी पर परेशानी की सलवटें ओढ़ लीं. मूंछों की नोक पर उंगलियां वैसे ही चलती रहीं, ''पंडित जी. बामनों से भला कोई जीत सका है आज तक. अब कुछ न कुछ तो करना ही पड़ेगा.''

शुक्लाजी की पस्तहाली स्फूर्ति में बदल गयी. झट भीतरी बंडी से उन्होंने नोटों की गड्डी निकाली और एडवांस थमाकर रसीद मुठिया ली.

जी.आर. अभी भी अपनी दूधिया मूंछों में मुस्करा रहा है. सहालग के मौसम में ऐसी स्थितियों में इस तरह के ग्राहकों के लिए उसके पास आपातकालीन जुगाड़ हैं. जब बैंड बजानेवाले आदमियों का टोटा हो जाता है तो वह अपने लड़के-बच्चों को मैदान में उतार देता है. क्या हुआ? स्कूल-कालेजों में पढ़ते हैं, अच्छे उम्दा कपड़े पहनते हैं, मोटर साइकिल-स्कूटरों पर घूमते हैं फिर भी अपना धंधा तो अपना ही होता है. शर्म कैसी! आखिर कितना लंबा सफर तय कर वह अपनी जिंदगी की कूड़ागाड़ी को हंसोंवाले बैंड के रथ में बदल पाया है. कितना लंबा सफर... कितना लंबा वक्त!!

''अरे ओ हरामी के पिल्ले, उठ, जाकर टट्टियां कमा. हगासे लोग तेरे बाप को रो रहे होंगे.'' कथरी में लिपटे घसीटे को उसकी मां ने झटके से उठाकर बैठा दिया था. भोर की मदमाती नींद टूट जाने पर घसीटे भिन्ना गया. जी में आया कि मां का झोंटा पकड़कर पीछे चार लातें जमाये और कुठरिया से बाहर धकेलकर सो जाये लंबी तानकर. मगर वह कहां मानने वाली थी, ''अरे देहजार के पूत, मैं तुझी से कह रही हूं. उठता है कि नहीं.''

पिनपिनाते हुए घसीटे ने कथरी एक ओर फेंक दी. हाजत फरागत के बाद कुठरिया के एक कोने में पड़ी तारकोलपुती बाल्टी और बांस की छोटी मूठवाली अधघिसी झाड़ू उठायी और आंखें मिचमिचाता हुआ बाहर निकल आया. रात भर बारिश होती रही थी. बाहर कीचड़ ही कीचड़. चिपचित करता गीलापन और उबकाईदार बदबू. ऐसे में टट्टियां कमाने जाना घसीटे को बेहद खल रहा था.

बमपुलिस की टुटही सीढ़ियों पर संतुलन साधते हुए घसीटे अंदर पहुंचा. जालीदार जंगलेवाली हौदी पर घरों से कमाकर बाल्टियों से लायी गयी विष्टा पर खूब मोटी पंपधार गिर रही थी. हौदी की मुंडेर पर खड़े होकर धार के नीचे बाल्टी भरने की चेष्टा में घसीटे के कपड़े और जिस्म भीग गया. खीझ और ऊब से पेंच खाकर उसने पंपधार को मोटी-सी गाली दी और पानी भरी बाल्टी लेकर टट्टियां कमाने में जुट गया.

तीन-एक टट्टियां साफ करने के बाद उसने अगली टट्टी का गला, जंग लगा, पान की पीकों के भित्तिचित्रोंवाला दरवाजा खोला ही था कि... घसीटे की जलती आंखों में कल रात मां और चाचावाला दृश्य घूमने लगा... गोल-गोल, लट्टू की तरह. फिर इस गोल-गोल घूमते दृश्य में महारनिया के गोल-गोल अंग भी जुड़ गये. चाचा की जगह उसने ले ली. पर चाचा का ध्यान आते ही उसकी गरियाती हुई मां फिर दृश्य में आने लगी... साली छिनाल! एक फाहशा गाली उसने दीवार पर थूक दी. उसकी हुड़हुड़ाती छाती से एक टीस भरी कराह उठी... उसका बप्पा अगर आज....

और उसका बप्पा सारे दृश्यों पर झाड़ू फेरकर दिमाग में उभरने लगा. कानों में 'कुड़कुड़-कुड़मुड़-झईयम-झईयम' का ढोल, ताशों, नगड़ियों भरा शोर गूंजने लगा. वह दृश्य उसे कभी नहीं भूलता. एक अजीब मस्तीभरा लयबद्ध शोर. वादक वृंद घेरा बनाकर चलने लगे. उसके बप्पा ने गले में पड़ी नगड़िया लच्छू भैय्या को थमा दी और उसके हाथ से स्पिरिट की बोतल ले ली. घसीटे ने 'श्री कृष्ण हाहाकार बैंड' का डंडे पर लगा बोर्ड हवा में और ऊंचा उठा दिया. बैंड के पीछे बधावा लेकर चल रही औरतों का समूहगान ठिठक गया. बप्पा ने एक झटके से स्पिरिट की चौथाई बोतल गले में उड़ेल ली और साथवाले व्यक्ति से मशाल लेकर मुट्ठियों में भींच ली. अगिया बेताल के काम में महारत हासिल उसके बप्पा को उस दिन स्पिरिट नहीं मिली थी. कंठ में अटकी खड़ी स्पिरिट के कारण कलेजे और दिमाग में व्याकुलता मचलने लगी. मुंह के आगे मशाल लाते ही जलती हुई स्पिरिट भभके के साथ ऊंची उठने के बजाय अग्निबाण-सी कलेजे में पैठती चली गयी और....

"अबे, छिनरा के! पाखाना धो रहा है कि खड़े-खड़े औंघा रहा है." सामने कान पर जनेऊ चढ़ाये चौबे बाबा खड़े थे. आंखों से आग बरसाते. शायद उनके पेट में बादल गरज रहे थे. घसीटे ने अकबकाकर चौबे बाबा की ओर देखा और टट्टी के पीली फुदकियों भरे गंदे फर्श पर तेजी से झाड़ू चलानी शुरू कर दी.

"मादर... हटेगा भी आगे से या लुटिया मारकर कपार फोड़ दूं!" चौबे बाबा हगास के मारे बेताल हुए जा रहे थे.

फिर गाली. घर, बाहर, हर जगह गाली. अपमान के कीचड़ से घसीटे की पूरी देह सन गयी.... ससुरी ये भी कोई जिंदगी है? दुत्कार, फटकार, गाली... गालियां ही गालियां. हर जगह. इस जिंदगी से तो नरक ही ठीक है. उसने गज्जन चौधरी से सुना था. गांधी बाबा खुद अपने हाथ से टट्टियों की सफाई करते थे, औरों से भी करवाते थे. इत्ता बड़ा महात्मा, उसी ने तो उन्हें मेहतर से हरिजन जैसा भला-सा लगनेवाला नाम दिया था... लोग उनकी तरह खुद अपनी टट्टियां साफ क्यों नहीं करते? क्यों आदमी से जिनावर का काम लेते हैं? क्यों गरीब का हक मारते हैं? उसके अपने ही घर में.... कूड़ागाड़ी घसीटते-घसीटते और टट्टियां कमाते-कमाते वह मरा जा रहा है और तनखाह के दिन हर महीने अम्मा जा धमकती है मुनुसपलटी के दफ्तर. उसकी खटे-खटे भुरकुस निकली जा रही है और नसा-पत्ती, मौज-मजा मां और चाचा... भीतर ही भीतर गहरी जुगुप्सा उपजी.

उसकी सारी घृणा थूक के बताशे की शक्ल में चौबे बाबा के पांव की चट्टी पर जा गिरी थी. भूचाल ही आ गया. चौबे बाबा की बमक से नाली पर उघाड़े बैठे झाड़ा फिरते लड़के पानी के डिब्बे लेकर भाग खड़े हुए.

...वह दांव बचाकर भाग निकला. भागता ही गया. फिसलनें पार करता हुआ. ऊबड़-खाबड़ कूड़े के ढेरों को रौंदता. सड़कें कुचलता. भोर की तेज हवा को चीरता. दस बजे के करीब घसीटे ग्वाल टोली की मेहतरों की घनी बस्ती के मुकाम के करीब जा पहुंचा. सुस्ताने के लिए वह कुछ पल पुलियां पर बैठ गया. उसकी सांसों का संतुलन उखड़ा हुआ था. डर के मारे कलेजे में दमचक्की-सी चल रही थी. उसके घुटनों तक कीचड़ यों चढ़ आया था जैसे मिलिट्री की लंबी-लंबी जुराबें. तलुवों से खून रिस रहा था... टीसें उठ रही थीं. वह हैरान था... इधर किधर आ
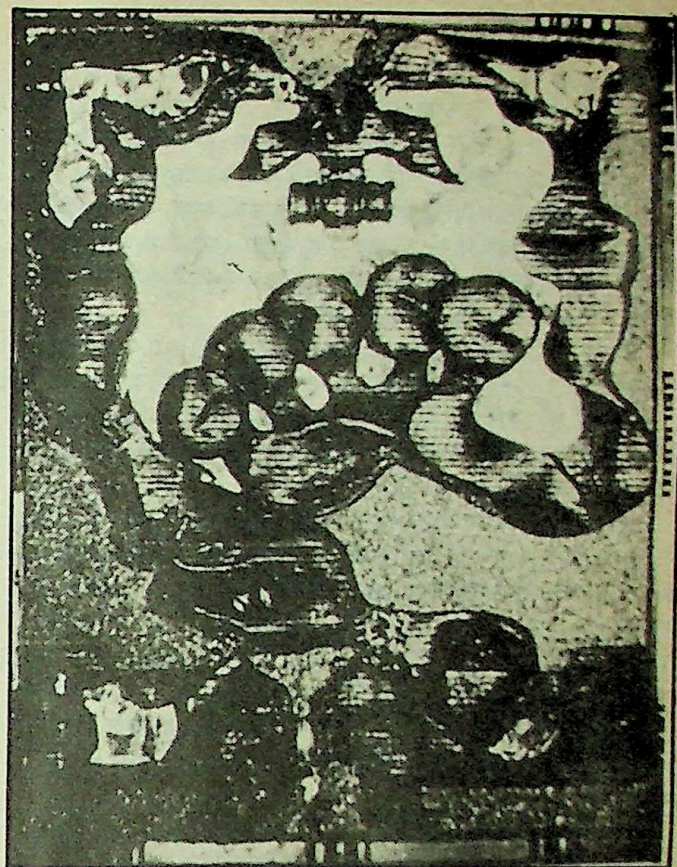
सतीश गुजराल की कलाकृति

निकला? भागना ही था तो किसी बहन के घर की ओर भागता. खैर अब आ ही गया है तो दो टूक फैसला ही रहेगा.

कुछ देर सोचने और सुस्ताने के बाद घसीटे उठ खड़ा हुआ. चौराहे पर लगे शेर मार्का बंबे पर जाकर उसने हाथ-पांव धोये. टूटी कंघी से बाल काढ़े और कान पर खुंसी बीड़ी सुलगाकर लंबे-लंबे कश खींचता चल दिया.

कूड़ाघर के करीब कूड़ा जलाने के लिए बनी भट्टियों को पारकर घसीटे बम पुलिस के नजदीक जा पहुंचा. घनी पकरिया से दायीं ओर घूम एक छोटी-सी सड़ांध से बजबजाती कुलिया पारकर वह बमपुलिस के पीछे बनी मेहतरों की बस्ती में जा पहुंचा. असमानांतर कच्चे मिट्टी के घरौंदे. औकात के हिसाब से छोटे-बड़े. अहाते के बीचोंबीच नीम का पेड़ खड़ा था. जिसकी शाखाओं पर पखेरू परिंदों की खातिर जल पीने के लिए मिट्टी के कसोरेनुमा तसले से लटके हुए थे. कई घरों के आगे सुअरबाड़े बने थे. कुछ आंगनों में बकरियां भी बंधी हुई थीं. एक दहलीज पर बुलबुल का अड्डा गड़ा हुआ था और पेटे से बंधी बुलबुल 'पिट-पिटो, पिट-पिटो' बोल रही थी. नीम तले बोरा बिछाकर बैठा एक काला चीमड़ बूढ़ा बकरे की झिल्लियों से ढोलक मढ़ रहा था.

नीम के कुछ आगे चलकर घसीटे थम गया. सामने उसकी ससुराल थी. काईग्रस्त बदरंग खपरैलों की छत, जिस पर टूटी भग्न बाल्टियां, घिसे-पिटे झाड़ू, पुराने बांस और टायर व नीम के जर्द पत्ते छितरे पड़े थे. आंगन की एक दीवार पर रंगबिरंगे रंगों से राम दरबार बना था. बाकी दीवारों पर ॐ, हथेलियों की छापें, स्वास्तिक चिन्ह व चौक बने थे. कुछ टूटे-फूटे घड़े और सुराहियों में तुलसी और गेंदे के झुलसे-मुर्झाए पौधे लगे थे. एक ओर गुड़ की भेली की शक्ल के मिट्टी के ढेले सिसिलेवार लगे थे.

घसीटे आगे बढ़ा. टिकुलियों से जड़ी चौखट के सामने खड़े होकर उसने जोर से खंखारा. उसके कलेजे में धुकुर-पुकुर मची हुई थी. मन में

घबराहट और बेचैनी थी... ससुरालवाले उसकी बात पर तवज्जो देंगे? उसकी मदद करेंगे? उसे कूड़ागाड़ी खींचने, टट्टियां कमाने, सड़ांध से बजबजाते गटरों में बांस की खपच्चियां चलाने, मरे हुए जानवरों की खाल खींचने, ग्रहण के बाद कांसे की थाली बजाकर दान मांगने से सख्त घृणा है. वह भी बाबू साहबों की तरह उजले धुले कपड़े पहनना चाहता है. पक्के हवादार घर में रहना चाहता है. ताजी रोटी के साथ दाल और सब्जी खाना चाहता है. अगर वह हरी का जन है तो ये ऊंची जातवाले उसकी छाया से भी क्यों दूर भागते हैं?

"अरे पहुना तुम?" भीतर से हुक्का गुड़गुड़ाती हुई उसकी सास निकली और उसे सामने पाकर झट माथे पर पल्ला खींच लिया.

नारियल की काली गुड़गुड़ी आंगन के एक कोने में टिकाकर झट भीतर से एक खटोला खींच लायी और उस पर पुरानी बदरंग दरी और तेलसना काला चीकट तकिया गेर दिया.

घसीटे का मंतव्य जान उसकी सास बेहद खुश हुई. उसने दबी जुबान में यह बात स्पष्ट कर दी कि उसकी मां के छिनारपने के कारण ही वह महारनिया का गौना नहीं कर रही थी. बिटिया के छोटा होने का तो एक बहाना था. और अगर वह चाहता है तो वह महारनिया के बप्पा से कहकर मुद्दतों से बंद पड़ी कूड़ा जलानेवाली भट्टी के पास उनके लिए एक अलग मड़ैया डलवा देगी. घसीटे की आंखों की प्यास बूझ कर वह पर्दे की ओट से मुस्कराते हुए बोली, "महारनिया कमाये बदे सुगर सिंह की हवेली मा गयी है. तीन गो बिटेवा ब्याह दी. एक ऐही बची है बुढ़ौती बदे."

सुगढ़ सिंह का नाम सुनते ही घसीटे के तम-बदन में लपटें नाचने लगी थीं... ई ठाकुर! उसके जबड़े कस गये. उसके साथ गेड़ी खेलनेवाला असर्फी ठीक ही कहता है... ठाकुर माने... ठा से ठग, कु से कुकर्मी, र से रारी! छुटपन में एक बार वह ठाकुर बलवान सिंह के खने झाड़ू-सफाई की खातिर गया था. बैठक में ठाकुर साहब और उनके यार-दोस्तों की चंडाल चौकड़ी जमी हुई थी. उसे देखते ही ठाकुर साहब ने आवाज दी थी, "क्यों बे, आज तेरी बहनिया कहां है?"

"ऊ... उसका तो बाबू साहब कल गौना हुईगा." वह सहमकर बैठक के दरवाजे की चौखट के पास दुबक गया था.

"तो दुसर की बहनिया को भेज देता. तू यहां क्या मां..."

आगे के शब्द शब्द नहीं आग थे. उसको जलाकर खाक कर देनेवाले. ठहाकों के बीच बलवान सिंह अपने यारों से कह रहे थे, "चूना, औरत और पानी, इनकी कोई जात नहीं होती. जिस ठौर रहें शुद्ध ही शुद्ध. और फिर ये नीच जात की औरतें कसे हुए तबले की तरह होती हैं, एकदम टन्न. और भईये टन्न माल तो पहले राजा ही भोगता है."

वक्त-वक्त की बात है. एक वक्त वह था जब घसीटे राम दूसरे के 'हाहाकार बैंड' में साइन बोर्ड ढोता था. एक वक्त यह है कि घसीटे राम घसीटे नहीं रह गया. उसकी जगह जी. आर. ने ले ली है. पच्चीस नवंबर. आज एक अर्से बाद जी.आर. अपना बैंड लेकर निकला है.

बैंड बज रहा है...'राम तेरी गंगा मैली हो गयी.' मैली गंगा के प्रवाह में शराब के बरसाती नदी-नाले मिल रहे हैं. बराती पान की दूकानों के पीछे, अंधेरी गलियों के पीछे, अंधेरी गलियों के कोने-अंतरों में अफरा-तफरी में बोतल मुंह से लगा नीट ही लंबे-लंबे घूंट खींचते हैं और एक अंधे उन्माद से झूमते हुए नाचनेवाली भीड़ में शामिल हो जाते हैं.

जी.आर. सफेद हंसों वाली ट्राली पर थ्री पीस का सूट डाटे खड़ा है. उसके कोट के बटनहोल में परेड रामलीला की राम की बारात में उसके द्वारा किये गये सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन के एवज़ में प्रदेश के सांस्कृतिक मंत्री द्वारा प्रदान किया गोल्ड मैडल लटक रहा है. उसके हाथ में प्यानो आकार्डियन है, जिसको बजाने के साथ-साथ वह सधे लयात्मक लहजे में दोनों हाथ से संगीत निर्देशन भी देता जा रहा है. ट्राली के आगे-पीछे लगे आठ स्पीकर इस नीरस शहर की धुएं और धुंध से भरी फिजा में संगीत की रंगीनी घोलने का प्रयास कर रहे हैं.

जी.आर. ने डिस्को लाईट के दायरे में वत्तखों से तैर रहे अपने बैंड को पूरी भव्यता से निहारा. गर्दन में गर्वीली अकड़ भर गयी. आंखों में दर्पभरी चमक मुस्कराने लगी. मुस्कराती क्यों नहीं?... आज उसका बैंड शहर का नंबर वन बैंड है. बैंड की साजसज्जा, एक से एक उम्दा वाद्य यंत्र, अधुनातन युनीफार्म... इस सबके पीछे उसका अथक तपस्या से भरा श्रम और अनुभव जुड़ा हुआ है. उसे कभी नहीं भूलता... शुरू-शुरू में जब वह नालारोड पर उस्ताद पीर बक्श के पास काम सीखता था तो कितनी जिल्लतें झेलनी पड़ती थीं उसे, उस्ताद की सेवा-टहल, बैंडवालों के लिए दुकान से चाय-नाश्ता लाना, बरातों में आने-जाने के लिए इक्का-तांगा करना, एक-एक बाजे को धो-पोंछकर उसे ब्रासो से चमकाना, दूकान में झाड़ू लगाना, बैंडवालों की युनीफार्म धोकर बरेठे से प्रैस करवाकर लाना और इन सब कामों को करने के बावजूद उस्ताद के झापड़ और झिड़कियां खाना. पूरे साल भर तो वह बैंड में केवल पीतल के झुनझुने बजाता रहा था. फिर छह महीने तक पीतल के भारी-भरकम मजीरे. दो साल बाद उस्ताद ने उसे पीतल के सैक्साफोन में हवा फूंकना सिखाया था. हवा फूंकते वक्त उसके गालों के पर्दे दुखने लगते थे, पसलियों में तनाव भर जाता, गले की नसें तन जातीं, होठों से टीसें उठने लगती थीं. एक बार उस्ताद 'राजा की आयेगी बारात' गाने की रिहर्सल करवा रहा था. सैक्साफोन की रीड पर उसकी उंगलियां लय के साथ तादात्म्य ही नहीं बैठा पा रही थीं. उसकी वजह से पूरा बैंड बेसुरा हो जाता था. खीझकर उस्ताद ने उसे ताबड़तोड़ झापड़ ठोके थे और सैक्सोफान छीनकर दूसरे साथी को दे दिया था. साथ ही उसकी मां और बहन से अश्लील रिश्ता गांठ कद्दावर गालियां देता गया था, "सुअर की औलाद, चला है बैंड सीखने. जा, जाकर टट्टियां कमा. बैंड सीखने का दम तेरे पित्ते में नहीं है." उस्ताद की गालियों का तो वह आदी हो गया था पर उस्ताद की कही आखरी बात उसके मर्म में नश्तर-सी चुभी थी. बस

मैथिल लोक कथा

बैंगन और मूली

□ वि.रा

एक किसान था. उसका खेत काफी बड़ा था. खेत के एक भाग में उसने सब्जियां लगा रखी थीं. उन सब्जियों से उसके अपने परिवार का काम तो चलता था ही साथ ही अड़ोस-पड़ोस में भी वह सब्जियां बांटा करता.

एक दिन किसान ने अपने घर में सत्यनारायण कथा का आयोजन करवाया और पूरे गांव को भोजन पर आमंत्रित किया. उन दिनों गांव में परंपरा थी कि गांव में किसी के घर कोई यज्ञ-अनुष्ठानादि हो तो लोग खाली हाथ उनके घर नहीं जाते थे. श्रद्धा और सामर्थ्य के मुताबिक कोई चीज भेंट स्वरूप ले जाते थे. इस तरह से कोई चावल, कोई दाल, कोई कुम्हड़ा, कोई अचार तो कोई दही लेकर पहुंचता. यह एक तरह की अप्रत्यक्ष सहायता होती थी.

तो उस दिन के आयोजन को सफल बनाने के लिये पूरा का पूरा गांव जुट गया. किसान के खेत में गोभी, आलू, सेम, हरी मिर्च आदि के साथ-साथ बैंगन और मूली भी लगे हुए थे. बैंगन और मूली दोनों पास-पास लगे हुए थे. इसलिए उन दोनों में अक्सर बातें होती रहतीं. उनकी बातचीत का एक ही मुद्दा था—अपने महत्व को श्रेष्ठतर घोषित करना. बैंगन को इस बात पर नाज था कि वह धरती के ऊपर है और सीधे धूप, पानी, हवा आदि ग्रहण करता है.

यह प्रकृति के नजारे को देखता है और उससे कई चीज-गालां सब्जी, सूखी सब्जी, भुर्ता, अचार,कलौंजी आदि बनाए जा सकते हैं.

मूली का यह तर्क होता कि जड़-मूल चीज होती है और वह यही मूल है. पृथ्वी के अंदर रहकर उसे कितनी शांति मिलती है इसका बैंगन को क्या पता! वह तो दिन भर धूप में जलता रहता है हवा के थपेड़े खाता रहता है. धूप, वायु जल आदि का शुद्ध रूप वही तो सेवन करती है, जभी तो वह इतनी गोरी-चिट्टी और चिकनी, सुडौल होती है बैंगन की तरह बेडौल, काली नहीं होती. और उसके पत्ते व जड़ सभी का उपयोग होता है. उसके बदन से सलाद, अचार तो बनाए ही जाते हैं पराठे तो भई क्या कहने! और पत्ते, तो उनका साग बना लो.

तो, उस दिन जब पूरा गांव यहां जुटा हुआ था तो बैंगन भला इसकी चर्चा मूली से कैसे न करता! उसने आवाज लगायी, "हे नीचे रहने वाली."

"की हे ऊपर रहने वाले."

"आज गांव में खूब चहल-पहल है. लगता है कुछ अनुष्ठान आदि हैं जिसमें सभी लोग लगे हुए हैं."

पर अपने को श्रेष्ठतम ठहराते हुए मूली ने छूटते ही कहा, "तो अपने लिए सुख! ऊपर रहता है तू. तुझे तो लोग चट से तोड़कर पट से चूल्हे में डालेंगे और खा जाएंगे. और मुझे? मेरे लिए तो वे अपने घर से चलकर यहां तक आएंगे, उखाड़ेंगे ले जाएंगे, पत्तों को हटाएंगे, धोएंगे, काटेंगे, नमक-मसाला लगाएंगे तब तो खाएंगे."

हठी विक्रम की तरह उसने अपनी सारी आत्मशक्ति और एकाग्रता अपने होंठों और उंगलियों पर केंद्रित कर ली थी. वह ठान चुका था... उसे इस तिरस्कृत जीवन से ऊपर उठना है. इन ऊंची जातवालों से हिसाब साफ करना है.

जी.आर. ने धुन बदली... 'आई.एम.ए.डिस्को डांसर'...

शक्ल और लिबास से चिड़िमार-सा लगनेवाला एक नवयुवक, जिसका सारा शरीर, पहनावा और व्यक्तित्व छीला तराशा-सा है, धुन के साथ धनुष हुआ जा रहा है. सिर, कंधे, कमर, घुटने सब में एक बल खाता रिद्म है. सधे मूवमैंट, परफैक्ट स्टैपिंग. सड़क के किनारे चल रही भीड़ ठिठक गयी है. ऊबे, उकताये लोगों को शगल का जरिया मिल गया है. पचरंगी डिस्को लाईट जल-बुझ रही है. हवाई जहाज से छोड़े गये पर्चों की तरह दो, पांच और दस के नोट हवा में तैर रहे हैं. बैंड के मध्य क्लेरोनेट बजा रहा जी.आर.का नाती लपक-लपककर नोट समेट रहा है. जी.आर. खुश है... बेहद खुश.

डिस्को युवक को शिथिल होते देख बैंड ने पैंतरा बदला... 'ये देश है वीर जवानों का' भंगड़े की हाथ और पांव में थिरकन भर देने वाली धुन ने बरातियों में उत्तेजक उमंग भर दी. खिजाब से बालों को रंगे, मूंछों मुच्छ अकड़ू से सेते शराब में गच एक अधेड़ सरदार उम्र को गच्चा देकर यों नाच रहे हैं जैसे कोई लाम जीतकर लौटे हों. धुन से मर्यादा में बंधे पांव भी उखड़ने लगे हैं. हवा में हथेलियां यों लहरा रही हैं जैसे आसमान को थाम उसे भी नचा डालेंगी.

बारात के साथ चल रही औरत में भी हल्की-फुल्की ठेलाठाली होने लगी है. नाचने की बलवती इच्छा उनमें भी मचल रही है पर रथ के पीछे चल रहे बूढ़ों की शिकंजा आंखें... यही क्या कम है, इन पंजाबियों की देखादेखी अब पंडितों की बारात में औरतें भी शामिल होने लगी हैं पर लड़के की मां का बारात में शामिल होना अभी भी वर्जित है.

औरतों की ठेलाठाली देखकर जी.आर. के संकल्प में कोंपले फूट निकलीं. उसने अपने पार्श्व में माईक पर गा रहे बड़े बेटे के लड़के पप्पू को एक गुप्त संकेत किया और... 'बारी बरसी खट्टन गया सी, ते खट के लियाया चाबी... हो भंगड़ा ता सजदा जै नच्चे मुंडे दी भाबी, हो भंगड़ा...'

शादी और शराब में डूबे देवरों ने भाभी को घेर लिया. कीमती बनारसी सुर्ख साड़ी, ढेर से जेवरों और इत्र-फुलेल से गमकती, पान रचे होंठों से मंद मंद मुस्कराती बड़ी भाभी की कलाइयों, कमर और पीठ पर नाचने के इसरार की दबिश पड़ने लगी. नखरे से नाच के लिए नकारती बड़ी बहू ने असहाय-सी नजरों से ससुर की ओर देखा. शुक्लाजी गुम हैं. गुम पर बेबस. बैंड की मर्यादा के पांव उखाड़ देने वाली धमक से हालांकि भाभी के पांव भी बांध टूटी नदी की तरह बहाव में बह जाना चाहते हैं. वैसे भी वह बंद कमरे में गाने के लिए बैठी औरतों के बीच 'बिछवा के काटे धन्नों काहे मरी जाये' गीत के बोलों पर टूटकर नाचती है पर... यों सार्वजनिक तौर पर लोगों के बीच... कुल गौरव.. मर्यादा... लोकलाज!... पर देवरों के अधिकार भरे हठ के आगे भाभी की एक न चली. पहले उसके पांव की झिझक टूटी, फिर हाथ, कंधे और कमर की. वह हवा में तैरने लगी. बंधन खुलते ही उसने अपनी जमात में पहले देवरानियों को घसीटा फिर ब्याहता ननदों को भी.

शुक्ला जी अवाक फटी-फटी आंखों से सब देख रहे हैं. किचकिचाहट भरी बेचैनी से विचलित और सद्यः अपंग हुए अंग से छटपटाते. उन्होंने अपने साथ चल रहे बड़े-बूढ़ों को क्षमाभरी नजरों से देखा और फिर अपने आप से प्रलाप-सा करने लगे. 'इन रिफ्यूजियों ने सब चौपट कर डाला है... कुल-संस्कार... लोकलाज... छोटे-बड़े का लिहाज.

शराब ने सारे रिश्ते समतल कर दिये हैं. देवर-भाभियों, दामाद-सालियों की कमर में हाथ डाल नाच रहे हैं, चकनाचूर नशे ने नेबेधों की सारी गांठें खोल दी हैं. दमित इच्छाएं, कैद कुंठाएं, आवरण में अवगुंठित वांछनाएं ढक्कन खुली सोडे की बोतल की तरह फेनिल झाग होकर बह निकली हैं.

अपने आप में कुढ़न से खौल रहे शुक्ला जी को उनके मिलिट्री में मेजर छोटे दामाद ने आ घेरा. अधिकार भरी चिरौरी... आखरी बेटे की शादी है... ये दिन फिर लौटकर नहीं आयेगा... ये तो सोमरस है... देवताओं को मंथन के बाद मिला अमृत... प्लीज डैडी. और दामाद व बेटों के मनुहारभरे आग्रह के आगे पस्त उम्र शुक्लाजी को भी हथियार डाल देने पड़े. मर्यादा की डोर हाथ से छुटते ही सुरा का स्वाद उन्हें इंद्रलोक की ओर ले उड़ा. उनकी कुढ़न मीठी सिहरन में बदल गयी... 'खुशी का मौका है... ये दिन कौन बार-बार आता है... लौंडों को कर लेने दो मन की... होली के वक्त हुड़दंग की आड़ लेकर वह भी तो अपनी भाभियों के साथ...'

जी.आर. का हर्ष चरम शिखर को छू रहा है. इस वक्त उसके हाथ से ऐसा झाड़ू है, जिससे वह अच्छों-अच्छों की शेखी बुहार सकता है. अच्छों-अच्छों को हिजड़ों की तरह नचा सकता है. जी.आर. भंगड़े की बोलियों में हर रिश्ते को नत्थी कर लोगों को पागल बनाये दे रहा है.

नशा और बैंड दोनों ही अपने शिखर पर हैं. तनझिंझोड़ू नाच भी. आदमी के सारे कच्चे किनारे टूट-टूटकर प्रवाह में बहे जा रहे हैं. बराती विदूषकों की तरह उछल-फांद रहे हैं. बैंडवालों से जूठे सैक्साफोन क्लेरोनेट लेकर अनाड़ी ढंग से बजाते हुए शेखियां बघार रहे हैं. एक मोटे बराती ने बड़ा-सा ड्रम अपने गले में डाल उसे फूहड़ ढंग से पीटना शुरू कर दिया है.

जी. आर. का बेटा अपने हिस्से की बारात हिल्लें लगाकर शीघ्रता से बाप की मदद को आ पहुंचा. रथ से नीचे उतरते ही शुक्लाजी ने जी.आर. को लपक लिया, "जी.आर. भाई, तुमने तो आज मेरी पत्त रख ली."

फिर उन्होंने अपने दामाद को बुलवाकर एक पेग बनवाया और जी.आर. की ओर बढ़ा दिया. कुछ देर बाद वह सरूर से झूमते हुए बोले, "नाचो, जी.आर. यार..." □

लाल पसीना

□ अभिमन्यु अनत

■ पिछले अंक में आपने पढ़ा कि हरि से यह कहा गया था कि वह उन बातों का विरोध न करे... खेतों में जो कुछ होता रहता है, उसे ही खेतों का कानून मानकर चलना चाहिए... पर हरि क्या ऐसा कर सका? ऐसा क्या था जो उसे परेशान किये था...? आइए देखें, हरि इस उहापोह की स्थिति में आखिर पहुंचा कैसे!

अपनी बस्ती के तीन मजदूरों की तनखाह की एक-एक तिहाई रकम काटे जाने की बात को प्रकाश के सामने रखकर हरि उसकी प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करता रहा. पर उधर से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई. प्रकाश सभी कुछ सुनकर भी इस तरह खामोश बैठा रहा जैसे कि उसने कुछ सुना ही न हो. लंबी प्रतीक्षा के बाद हरि ने पूछा कि क्या उन लोगों को उस तरह के शोषण के सामने जिंदगी भर चुप्पी ही साधे रहनी होगी तो प्रकाश के होंठों के बीच एक विचित्र-सी मुस्कान थिरककर फिर ओझल हो गयी. हरि उसे देखता रहा. प्रकाश ने एक लंबी सांस ली और कहा, "यही प्रश्न कोई सौ साल पहले कभी किसन सिंह ने अपने साथियों से किया था. कभी उसी प्रश्न को एकदम उसी तरह मन चाचा ने भी किया होगा. अभी चंद दिनों पहले मैंनेभी यही प्रश्न कई हजार मजदूरों से किया था और तुम आज फिर वही सवाल पूछ रहे हो. इस सवाल का जवाब कोई एक आदमी नहीं दे सकता. जब तक पूरा मजदूर समुदाय इस सवाल पर एक नहीं हो जाता तब तक यह प्रश्न, प्रश्न ही बना रहेगा."

वह चुप हो गया. बाहर बच्चों का कोलाहल कुछ अधिक बढ़ गया था. उसके कुछ थमते ही उसने आगे कहा, "तुम अपने में यह प्रण लिये हुए हो हरि कि तुम मजदूरों पर ढाये जाने वाले जुल्मों को मिटाकर रहोगे. शायद तुम ऐसा करने में कामयाब हो सको पर यह कामयाबी तुम्हें उस वक्त मिल सकती है जब तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर देश के सभी मजदूर सामूहिक स्वर में दे सकें अन्यथा..."

यही बात कभी मदन ने किसन सिंह से सुनी थी और जब उसने यही बात प्रकाश से कही थी तो उससे यह भी कहा था, "जब कुछ अवसरों पर मजदूर एक सूत्र में बंधने लग जाते हैं तो उन्हें डरा-धमका कर फिर से अलग-थलग कर दिया जाता है. यही नहीं, कई बार तो यह भी देखने को मिला है कि जुड़कर एक होते हुए मजदूरों में से कुछ लोगों को प्रलोभन देकर उन्हें अन्य मजदूरों को भड़काने और विभाजित करने के कामों में लगा दिया जाता है."

हरि सुनता रहा. ठीक सामने दो चितकबरे मेमने कुलांचें भर रहे थे. हरि के अपने मस्तिष्क के भीतर के खयाल भी उसी तरह कुलांचें भरते रहे.

सीता आ गयी चाय लिये हुए. हरि अपनी जगह से उठा और सीता के पांवों को छूकर माथे से लगा लिया. आशीर्वाद के बाद सीता ने पूछा, "कैसे हो बेटे?"

"ठीक हूं चाची."

"घर पर भी सभी लोग अच्छे हैं न?"

"सभी अच्छे हैं."

दोनों को चाय के कटोरे थमाकर सीता चली गयी. प्रकाश ने गरम चाय की पहली चुस्की लेकर कहा, "मैं तुमसे बस इतना ही कहना चाहता हूं कि तुम्हारा सवाल एकदम जायज है. उसका सही जवाब तुम्हें मिलकर रहेगा पर जरूरी है कि तुम उसकी उम्मीद अपने सामने के एक आदमी से न करके, देश भर के उन सभी आदमियों से करो जो जुल्मों को चुपचाप सहे जाने को मजबूर हैं."

हरि जब प्रकाश के यहां पहुंचा था, उस समय वह कोई हस्तलिखित किताब पढ़ रहा था. उसके पास बैठते हुए हरि ने पूछा था कि वह क्या पढ़ रहा था पर उसके इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर प्रकाश ने अपने हाथ की पुस्तक को बगल में रख दिया था. अपनी गंभीरता को उसी तरह बनाये हुए उसने हरि से पूछा था, "तुम्हारे गांव में आज भी किसन सिंह की चर्चा होती है क्या?"

"वह तो होती ही रहती है."

इस उत्तर पर उसने अपनी बगल की पुस्तक को फिर से हाथों में ले लिया था पर कुछ कहा नहीं था. पूरे घंटे तक हरि को फ्रेंच-अंग्रेजी पढ़ाने के बाद उसके प्रश्नों के उत्तर देता रह गया था. चाय पी

चुकने के बाद हरि अपने जूठे कटोरे के साथ प्रकाश के कटोरे को भी नीचे से उठाकर बाहर के बर्तन मांजने के पास छोड़ आया. अभी सूरज डूबने में समय था. वह फिर से प्रकाश के पास बैठ गया. बाहर के बच्चों का कोलाहल बना रहा. बच्चे खेल तो गुली-डंडा रहे थे पर शोर मचा रहे थे कबड्डी जैसा. बच्चों को उस तरह खेलते देख प्रकाश को अपना बचपन याद आ जाता. जब-जब वह पड़ोस के आंगन में बाकी बच्चों के साथ कबड्डी या दूसरे खेलों में शामिल होता, उसकी मां उसे पुकारकर घर के भीतर बुला लेती थी. कहती थी, "इस तरह के उछलकूद से हाथ-पांव तुड़वाना चाहते हो क्या?"

इसके बावजूद चोरी चुपके वह खेल ही लिया करता था. जिस दिन गोरे मालिक के लठैतों ने उसके पांव तोड़े, उस दिन उसने अपनी मां से कहा था, "खेल-कूद में तो पांव नहीं टूटे मां पर तुम्हारा वह डर सही था. इन्हें टूटना था तो टूट गये."

किसी ने भी बातें करते हुए बीच-बीच में अपने अतीत को कुछ घटनाओं को याद कर जाना प्रकाश की एक आदत-सी थी. उसने उस घटना की चर्चा हरि से भी की. दोनों के बीच कोई दस-पंद्रह मिनट बातें हुईं फिर अपनी जगह से उठते हुए प्रकाश ने कहा, "चलो तुम्हें अपना छोटा-सा खेत दिखा दूं."

हरि भी अपनी जगह से उठा. नीचे से प्रकाश की बैसाखी उठाकर उसे थमा दी. दोनों घर से बाहर निकले. घर की बगल से होकर पिछवाड़े पहुंचे जहां प्रकाश की अपनी छोटी-सी खेती थी. कुछ ही दूरी पर सीमा चौलाई का साग ओट रही थी. हरि ने उसे प्रणाम किया. प्रकाश ने अपनी पत्नी के पास पहुंचकर कहा, "चौलाई का साग बनाने जा रही हो? तब तो आज पराठे भी बनेंगे!"

सीमा के मुस्करा देने पर उसने हरि की ओर देखकर कहा, "तुम्हारी भौजी कमाल के पराठे बनाती है. मैं तो कहूंगा, आज चखकर ही जाना."

"चखना क्या, मैं तो पेट भर खाकर ही जाता पर मां ने आज कुछ पहले ही आ जाने को कहा."

"खैर देखते हैं कब खाओगे हमारे यहां. यह जाने लो कि हम लोग डोम नही हैं!"

"प्रकाश भैया, मैं तो डोम के यहां खाने से नहीं झिझकूंगा. घर पर कभी बिल्ली और कुत्ते के जूठन को भी खाकर पचा लेने का मजबूर हुआ हूं."

"मुझे बताया गया है कि तुम्हारा बाप किसी के यहां जल पान नहीं करता."

"मेरे बाप को अपने ब्राह्मण होने का बहुत फख था. आपको यह भी तो बताया गया होगा कि एक ब्राह्मण के कारण ही खून-पसीना एक करके हासिल की हुई थोड़ी-बहुत जायदाद उसने देखते ही देखते गंवा दी थी.

"सुना है. और भी सुना है कि जिस आदमी ने अपने घर का आटा गीला करके तुम्हारे बाप को जायदाद की नीलामी के बाद कैद जाने से रोका था, वह बस्ती का कोई तंतवा चमार था."

"शायद इसीलिए मेरा बाप मरते-मरते भी मेरी मां से कहता रहा था कि उसने कई मौकों पर ब्राह्मण को चमार पाया था और चमार को ब्राह्मण."

"अच्छी बात है हरि कि तुम आदमी और आदमी के बीच भेद नहीं मानते."

"मैं तो मानता हूं भैया."

"क्यों?"

"मजदूरों का खून चूसनेवाला पूंजीपति और पूंजीपतियों के लिए खून बहाते मजदूरों के बीच के अंतर को मैं कैसे न मानूं?"

प्रकाश उसे गौर से देखता रहा फिर कहा, "वह भेद और उससे अपने अंतर तो अब मिटते जा रहे हैं. लेकिन यह अंतर जो तुम बता रहे हो, उसे मिटाना बहुत कठिन है. मैं सोचता हूं, जब तक पैसा और पैसे की शक्ति रहेगी, तब तक यह अंतर बना रहेगा."

"आप यह कहना तो नहीं चाह रहे कि मैं एक नितांत असंभव काम को सिर पर लिये हुए हूं."

"नितांत असंभव तो मैं नहीं कहूंगा. मैं तो बस यह कहना चाहता हूं कि तुम जैसे लोग बहुत सारे संघर्षों के बाद जो हासिल करोगे, उससे वह अंतर मिट तो नहीं जायेंगे. हां, इतना जरूर है कि अंतर कुछ कम होगा और..."

"इसी तरह उसे काम करते हुए हम उसे पूरा मिटा देने में सफल भी तो हो सकते हैं."

"नहीं हरि, तुम अंतर को हर बार थोड़ा-सा मिटाओगे और वह हर बार उधर से फिर पैदा होता रहेगा. काम करनेवाला वर्ग जब-जब कुछ हासिल करके सोचेगा कि अंतर कुछ कम हुआ और संतुष्ट हो जायेगा, तब-तब उधर से कुछ न कुछ इस तरह का होता रहेगा जिससे जो कुछ उधर से खोया गया हो उसे हासिल किया जा सके. खैर छोड़ो इन बातों को. इसका तनिक भी यह मतलब नहीं कि अंतर को कम करने की चेष्टा नहीं होती रहनी चाहिए. मेरा एक सुझाव यह है कि जब-जब तुम मजदूरों के लिए एक पैसा अधिक प्राप्त करने में सफल होओगे, तब-तब तुम्हें इस बात के लिए भी सतर्क रहना चाहिए. अति आवश्यक होगा कि अपने पसीने के लिए एक पैसा अधिक पानेवाले मजदूर को कहीं अपनी रोटी के लिए चार पैसे ज्यादा खर्च करने को मजबूर न हो जाना पड़े. ये लोग
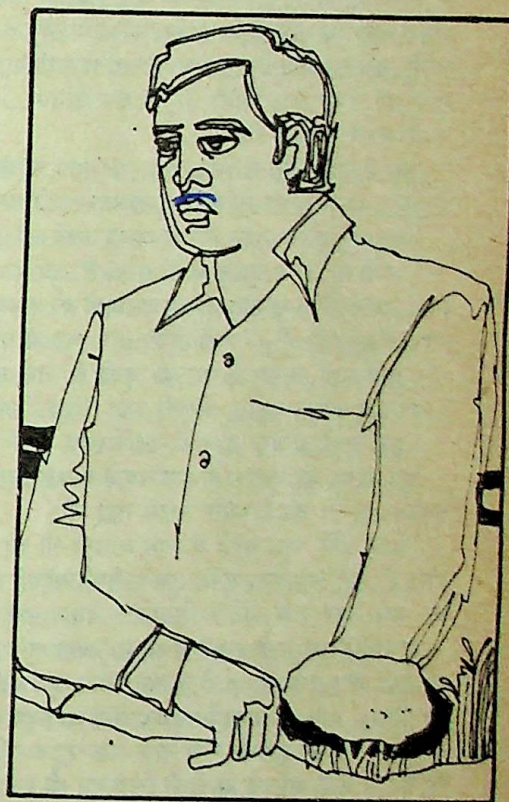
रेखांकन : पाली

एक देकर दो लेने वाले लोग हैं. मजदूर को दो पैसे अधिक मिलने की प्रतीक्षा की जाती है. देखते ही देखते एक-एक करके अनाज, कपड़े, सभी के दाम भी बढ़ जाते हैं. और फिर कुछ दिन बीतते हैं और फिर लगता है कि वे ही पुराने दिन फिर लौट आये."

प्रकाश ने अपने सामने की लौकी की बेल को हाथ में थामकर ऊपर उठाते हुए कहा, "देख रहे हो, कितने फूल आ गये हैं इसमें! पर सभी में फल नहीं आते."

कोई चालीस फुट लंबे और लगभग उतने ही चौड़े जमीन के एक टुकड़े में सीमा और प्रकाश ने कई तरह का सब्जियां एक साथ उगा रखी थीं. उपज का एक हिस्सा गांव से बाहर बेचा जाता था. जीविका के लिए तो दूसरा हिस्सा गांव में बांट दिया जाता था. इस बांट देने की बात से सीता उतनी सहमत नहीं थी. कहती रहती थी कि दान की भी हद होती है, "अपन झोंपड़ी के छप्पर उजाड़के दूसरे के घर छावे के काम कोई दानी नाही, कोई बौराईल आदमी ही कर सकेला."

प्रकाश अपनी मां की बात को हंसकर टाल देता था. कुछ आगे बढ़कर उसने हरि को उन बैंगनों के पौधे भी दिखाये जिनमें फल आने लगे थे. हरि उस साफ-सुथरे और हरे-भरे खेत से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका. प्याज और धनिये की क्यारियां दो अलग रंग की हरियाली लिये उसे बहुत ही अच्छी लगीं. पर उसका जेहन जकड़ा रहा चंद मिनट पहले की प्रकाश की बातों से.

सीमा चौलाई टूंगकर घर को लौट गयी थी. प्रकाश ने उसे आवाज दी. जब वह आ गयी तो उसने उससे कहा कि हरि के लिए कुछ सब्जियां तोड़ दे. हरि ने मना किया पर प्रकाश ने उसकी बात नहीं मानी. हरि को चचिंडे बहुत अच्छे लगे थे इसलिए प्रकाश ने सीमा से पहले कुछ चचिंडे ही तोड़ने की मांग की. फिर कुछ भिंडी, मुट्ठी भर धनिया...और तभी हरि ने बस-बस कहकर उन्हें अधिक चीजे भरने से रोक लिया.

जब वे लोग खेत से निकलकर घर तक पहुंचे तो प्रकाश ने कहा, "तुम साईकिल पर आये हो इसलिए आज बिना खिलाये तुम्हें जाने नहीं देंगे."

"बताया न कि आज मां ने जल्दी आने को कहा है."

"अभी तो सूरज डूबने में भी समय है. तुम हर हालत में पिछले शनिवार से पहले ही पहुंचोगे." फिर उसने सीमा से बात की जो सब्जियों को वाक्वा के पत्तों से बनी एक टोकरी में बड़ी सावधानी के साथ सजा रही थी, "क्यों सीमा, घंटे भर में तो खाना तैयार हो जायेगा न?"

"क्यों नहीं, दाल तो पक ही चुकी है. बस साग और पराठे तैयार करने हैं."

हरि ने दूसरा बहाना सामने रखा, "साईकिल में रोशनी की व्यवस्था नहीं है."

"हम तुम्हें अंधेरा होने से पहले छोड़ देंगे."

इस वाक्य को प्रकाश ने इस लहजे में कहा था कि हरि को लगा, वह बहुत बड़ा आदेश था और इनकार करने की हिम्मत उसमें नहीं थी.

"देखो हरि, मुझे तुम्हें ये बातें बतानी थीं जो मैंने तुम्हें बता दीं. इन बातों से तुम्हें निराश नहीं होना है. इसलिए बताया कि तुम पूंजीपतियों की उन साजिशों से अवगत रहो जिसके जरिये वे अंतर को बार-बार कम होने का एहसास देकर उसे बरकरार रखने में नहीं चूकेंगे."

दोनों फिर से उसी कमरे में आ गये जहां कुछ ही देर पहले थे. कमरे में एक खाट, लकड़ी की दो कुर्सियों और एक चटाई के अलावा और कुछ नहीं था. सफेद मिट्टी से लीपी हुई पत्थर और गोबर की दीवार, एक-दो जगहों पर दरारों के बावजूद साफ थी. गोबर और लाल मीटी से लीपी गयी फर्श से गोबर की जो हलकी गंध नाक तक पहुंच रही थी, वह असहय नहीं थी..हरि ने अपने घर की लिपाई से कहीं अधिक बारीकी लिये हुए थी इस घर की लिपाई. खाट के पास लकड़ी का एक तख्ता था, जिस पर कोई दस बीस बही और किताबें थीं. अपनी बैसाखी को खाट के सहारे छोड़कर प्रकाश खाट के छोर पर बैठ गया. उसका हाथ खाट पर की उस पुस्तक पर जा पड़ा जो वह हरि के आगमन पर पढ़ रहा था. उसने उसे उठा लिया. तब तक हरि सामने की कुर्सी पर जगह ले चुका था. अपने हाथ की उस हस्तलिखित पुस्तक के पन्नों को अनचाहे ढंग से पलटते हुए प्रकाश ने पूछा, "जानते हो यह क्या है!"

हरि को सवाल बड़ा बचकाना लगा और उसने भी उसे बचकाने ढंग से छोटा-सा जवाब दिया, "पुस्तक."

"यह पुस्तक किसन सिंह के द्वारा लिखा हुआ, मजदूरों का दस्तावेज है." इस के बाद दोनों कुछ देर तक चुप रहे. बाहर के बच्चे खेलते-खेलते आपस में शायद झगड़ पड़े थे तभी तो उधर से भोजपुरी और क्रियोली, दोनों बोलियों में गालियों की बौछार शुरू हो गयी थी. गालियों की भनक कानों में आते ही प्रकाश ने अपने को खाट के सिरहाने की ओर बढ़ाया और अधखुली खिड़की को पूरा खोलकर बच्चों को डांटा. डांटे जाने पर बच्चों के बीच एक क्षणिक सन्नाटा छा गया. अपनी जगह पर आकर प्रकाश ने किसन सिंह की पुस्तक को फिर से हाथ में ले लिया.

"आप मुझे दे रहे हैं?"

"अभी नहीं. वक्त आने पर. तुम देख रहे हो, मेरी इन पस्तकों को, इनमें वह लाल जिल्दवाली

बेबस विद्रोह

□ सतीश राज पुष्करणा

राधादेवी के हाथों से दूध भरा गिलास छूटा और फर्श पर गिरते ही टुकड़े-टुकड़े हो गया. राधादेवी अपनी नौकरानी पर दहाड़ उठीं, "इतना गर्म दूध दिया जाता है कि हाथ जले और गिलास चकनाचूर हो जावे."

"मालकिन! दूध तो सुसुम ही था."

"चुप्प! एक तो गिलास तुड़वा दिया और ऊपर से जबान चलाती है." जा जाकर जल्दी से कांच के टुकड़े उठाकर फेंक और उस स्थान को अच्छी तरह से साफ कर."

रमेश ने अंदर घुसते ही पत्नी को नौकरानी, पर बिगड़ते सुना तो बिना सोचे-विचार वह भी उस पर बरस पड़ा, "चल, लपककर कांच साफ कर नहीं तो..."

मालिक की डांट सुनकर बेचारी सकते में आ गयी. उसके गालों पर आंसू फिसलने लगे. मजबूर अबला बिखरे कांच के टुकड़े
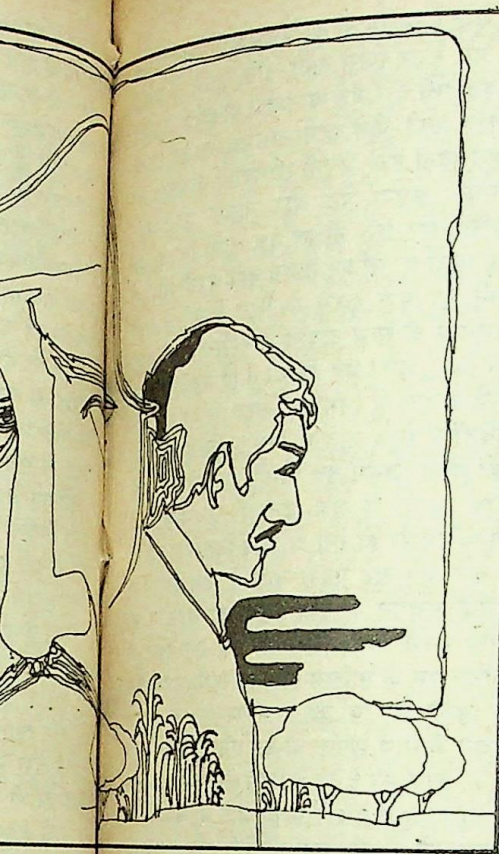
रेखांकन : पाली

साफ कर रही थी कि एक किरची उसके हाथ में धंस गयी और हाथ लहूलुहान हो गया. हाथ के दर्द ने उसके मन को बेबस विद्रोह से भर दिया. रोते-सोचते उसने फर्श साफ कर दिया. इससे पूर्व कि वह अपनी लहूलुहान हाथ को अपनी साड़ी के पल्लू से बांधती—मालिक पुनः गरजा, "छिनैल! काम यहां करती है ध्यान कहीं और रखती है. कांच साफ किया तो हरामखोर ने लहू से सारा फर्श ही गंदा कर दिया. न जाने इसे कब अकल आयेगी. एक काम बनाएगी तो दूसरा बिगाड़ देगी. जा! अब जाकर अपना लहू साफ कर और जल्दी से एक कप गर्मागर्म चाय बनाकर ला."

चीनी निकालने के क्रम में भय और दर्द से थरथराते हाथों से मर्तबान गिरा और चूर-चूर हो गया. धमाके की आवाज सुनते ही पति-पत्नी बेतहाशा नंगे पैरों ही रसोई की ओर दौड़ पड़े. रसोई में घुसते ही कांच की किरचियों से दोनों के पैर लहूलुहान हो गया. उधर नौकरानी द्रुतगति से रसोई से निकली और अपने घर की ओर चल पड़ी. □

पुस्तक 'रामचरित मानस' है और वह अखबार चढ़ी हुई किताब है 'आल्हा' दोनों के बीच जो खाली जगह है, वही इस पुस्तक की जगह है. तुम समझ गये होगे कि इस पुस्तक को मैं कितनी अहमियत देता हूं. जब तुम्हें सौपूंगा तो इसी आशा के साथ कि तुम भी उसे वही महत्व दोगे जो इसे मुझसे पहले जीनत दीदी देती रही थी. वह इसे अपने साथ खेतों तक ले जाती थी और इसे गन्नों की जड़ में सुरक्षित रखकर कामों में लगी रहती थी.

"पुस्तक को खेतों में ले जाने की क्या जरूरत थी?"

"क्योंकि कोठी के मालिक और सरदार इसको जला देने के लिए इसकी तलाश में थे."

"क्यों?"

"तुम जब पढ़ोगे तो पता चल जायेगा."

"मैं इसे जल्द से जल्द पढ़ना चाहता हूं."

"जिस दिन तुम्हारी ओर आऊंगा, अपने साथ लेता आऊंगा. इस पुस्तक को मैं अपने हाथों तुम्हारे घर पर तुम्हें सौंपना चाहता हूं."

"इसकी कोई खास वजह?"

"कोई खास वजह तो नहीं पर वजह जरूर है."

"आप तो कई दिनों से मेरे घर आने की बात कर रहे हैं."

प्रकाश कुछ नहीं बोला. अपनी बगल में रखी बैसाखी को देखने लगा. हरि ने एक शर्मिंदगी महसूस की. उसके चेहरे की ओर ध्यान से देखते हुए प्रकाश ने कहा, "तुम एकाएक उदास दिखने लगे."

"आपकी उन बातों के बारे में सोच रहा हूं."

"तुम नाहक उन बातों को अपने दिमाग में चिपका बैठे. मेरा मकसद बस तुम्हें आगाह कर जाना था. तुम्हें बस इतना जान लेना जरूरी है कि कुछ लोग एक हाथ से देकर दूसरे हाथ से लें लिया करते हैं. पर इस मुल्क के धनी लोग तो तकाजों से मजबूर होकर जिस हाथ से देते हैं, उसी से ले भी लेते हैं. इस सच्चाई को जान लेने के बाद इस तरह उदास होने की क्या जरूरत है?"

दोनों की बातें होती रहीं. कोई आधे घंटे बाद सीता एक थाली लिये सामने आयी और दूसरी थाली के साथ सीमा आयी. प्रकाश खाट से उठा. सीमा ने तब तक अपने हाथ को थाली को बगल की खाली कुर्सी पर रख दिया था. उसने पानी भरे लोटे को उठा लिया. उसके कंधे का सहारा लेकर प्रकाश बाहर आया. सीमा के हाथ के लोटे से पानी लेकर हाथ-मुंह खंगारे. उसके पीछे ही हरि भी दूसरा लोटा लिए आ गया. उसने भी हाथ मुंह झपलाये. दोनों जब खाने पर बैठे तो प्रकाश ने अपने लोटे से अंजुलि भर पानी लेकर अपने सामने की थाली के आगे छिड़कते हुए हरि की ओर देखा, "क्यों, तुम भोजन से पहले ऐसा नहीं करते?"

"मेरा बाप ऐसा करता था."

प्रकाश ने मुस्कराकर अपनी थाली से चुटकी भर अनाज उठाया. मंत्रोचरण किया. अनाज को पानी छिड़के स्थान पर धीरे-से रखकर फिर हरि से कहा, "शुरू करो."

दोनों ने एक साथ खाना शुरू किया. हरि ने गरम पराठे से टुकड़ा तोड़कर दाल के कटोरे में डुबोया. जब कौर को मुंह तक उठाया तो दाल उंगलियों से हाथ में नीचे को बह आयी. उसने जल्दी से जीभ के द्वारा उसे नीचे गिरने से रोक लिया. मुंह में कौर पहुंचाने के बाद बोला, "इतना मुलायम पराठा तो हमारे यहां कभी नहीं बना."

"यह सुनकर तुम्हारी पत्नी बुरा मान सकती है."

"दाल भी बहुत स्वादिष्ट है."

"अरे नहीं भाई, दाल अच्छी तरह बनानी न तो मेरी मां को आती है और न पत्नी को तुमने अगर मीरा चाची के हाथ की पकायी दाल खायी होती तब जानते कि स्वादिष्ट दाल किसे कहते हे."

"चाची और भाभी सुन रहे हैं. बुरा मान जायेंगे."

दो गरम पराठे लिये तभी सीता सामने आ गयी.

कोई पंद्रह-बीस मिनट बाद ही हरि जाने के लिए तैयार हुआ. जैसे ही उसने साईकिल के पैडल पर पहला पांव रखा कि पीछे से प्रकाश ने कहा, "मूसा को मेरा सलाम कह देना. कभी उसे भी साथ आने को कहना."

जब हरि आम रास्ते पर पहुंचा सूरज अस्त होने को ही था.

अगले अंक में

मजदूरों के ऊपर होने वाले इस तरह के अत्याचारों की कहीं कोई सीमा भी थी?.. ऐसे ही सवालों के जवाब तलाशती 'लाल पसीना' की अगली किस्त...

मिर्जा दावतअली बेग

मुज्तबा हुसैन

कैसा है यह आदमी जिसने खुद अपने दांतों से अपनी कब्र खोदी. कब्र खोदने वालों को जहमत तक न दी...? कैसा रहा इस आदमी का आखरी वक्त? उर्दू से हिंदी में इस व्यंग्य का अनुवाद किया है उर्दू अदब के जानकार लक्ष्मीचंद्र गुप्त ने...

उनका असली नाम क्या था, यह तो मुझे कभी मालूम न हो सका, हां, यार-दोस्त उन्हें मिर्जा दावतअली बेग के नाम से पुकारते थे और यह एक संयोग है कि उनसे मेरी मुलाकात एक दावत ही में हुई थी जिसमें वह दो सालिम मुर्गों और बकरे की एक अदद टांग को हड़प कर जाने के बाद दस्तरख्वान के किनारे अपनी अधखुली आंखों के साथ पसीने में सराबोर यों बैठे थे जैसे किसी रहगुजर पर बैठे हों और उठने का इरादा न रखते हों.

मुझसे परिचय हुआ तो अनचाहे दिल से अपनी आंखें खोलीं और मुसाफे के लिए अपना हाथ मेरी तरफ बढ़ाया.

मैंने उनसे हाथ मिलाया तो बोले, "भाई साहब, जब आपने मेरा हाथ थाम ही लिया है तो मेहरबानी करके मुझे उठाकर खड़ा भी कर दीजिए."

फिर जिस बावर्ची ने उस दावत के लिए खाना बनाया था उसे एक मोटी-सी गाली देते हुए बोले, "ऐसा लजीज और जायकेदार खाना बनाया है कि खाने की नीयत न रखते हुए भी मुझे थोड़ा-बहुत खाना पड़ गया."

मैंने उन्हें बायें हाथ की मदद से उठाने की कोशिश शुरू की तो उन्होंने दस्तरख्वान को अलविदा कहने की गर्ज से अपना दायां हाथ मुर्ग की प्लेट में डाला और मुर्ग की एक टांग उठा ली और उसे मुंह में डालते हुए बोले, "आपका बहुत-बहुत शुक्रिया. आपसे परिचय न होता तो मुझे दस्तरख्वान से कौन उठाता!"

मिर्जा दावतअली बेग से यह मेरी पहली मुलाकात थी. इसके बाद वह जब भी मिले किसी दावत ही में मिले. अपने शिष्टाचार के नियमों के अनुसार वह मिलते ही मुसाफा नहीं करते थे बल्कि मुसाफे को खाने के बाद के लिए उठा रखते थे ताकि यह मुसाफा उनके उठने में मददगार साबित हो.

मिर्जा साहब खाने के शौकीन ही नहीं थे बल्कि खाना ही उनकी जिंदगी का उद्देश्य, उनका जीवन-दर्शन और उनका दृष्टिकोण वगैरह सब कुछ था. कुछ लोग जिंदा रहने के लिए खाते हैं, वह खाने के लिए जिंदा रहते थे. पच्चीस बरस से उनसे शनासाई थी, जब भी मिले दावत ही में मिले. मैंने खाने के बहुत शौकीन देखे हैं जो सिर्फ हाथ-मुंह की मदद से खाना खाते हैं. लेकिन मिर्जा साहब खाना खाते तो अपनी पांचों इंद्रियों की मदद से खाना खाते थे. हद तो यह है कि खाना खाते वक्त अपनी दिमागी क्षमता, जो उनमें जरा कम ही थी, इस्तेमाल करते थे. उनकी स्मृति में विभिन्न प्रकार के खानों के स्वाद सुरक्षित थे. उनके जहन में सत्तर किस्म के पुलाव और पचास प्रकार के कूर्मों का स्वाद सुरक्षित था. पच्चीस बरस पहले खायी हुई बिरयानी के जायके को अपनी जबान पर एकाएक जिंदा और ताजा कर देते थे और उस जायके को चटखारे ले-लेकर कुछ इस तरह सुनाते थे कि उनके अतिरिक्त सुननेवाले के मुंह में भी पानी भर-भर आता था और एक नौबत वह आती थी जब वह सुननेवाले के कपड़ों का खयाल करके एक लफ्ज भी मुंह से अदा करने के काबिल नहीं रह जाते थे. मैं तो कहता हूं कि वह खाने के मामले में अपनी छठी इंद्रिय का इस्तेमाल भी करते थे.

इसे आप छठी इंद्रिय का इस्तेमाल करना न कहें तो और क्या कहें कि मुर्ग की टांग खाकर बता देते थे कि यह मुर्ग की टांग है या मुर्गी की. मुर्ग की टांग होती तो बता देते कि उस मुर्ग ने जिबह होने से पहले कितनी बांगें दी थीं और अगर मुर्गी की टांग होती तो बता देते कि मुर्गी ने कितने अंडे दिये हैं. जायके से भले ही मनुष्य का लिंग-भेद बताया जा सकता हो लेकिन जानवरों और पक्षियों का लिंग-भेद बता देना कोई मजाक की बात नहीं है. यही नहीं, किसी भी प्राणी का गोश्त खाकर उसकी उम्र, उसका चाल-चलन और उसकी आदतों के बारे बता देते थे. यह भी बता देते थे कि मृत प्राणी का संबंध देश के किस इलाके, किस तहसील बल्कि किस पंचायत से रहा है.

सुना है कि मिर्जा का संबंध खाते-पीते घराने से था. मगर जिस खाते-पीते घराने में मिर्जा दावतअली बेग जैसे खानेवाले मौजूद हों उसका हमेशा खाते-पीते रहना असंभव-सा था. मिर्जा बहुत दिनों तक अपनी खानदानी जायदाद को बेचकर अपना पेट और नीयत भरते रहे. आखिरकार एक नौबत वह आयी कि पेट तो भर जाता था लेकिन नीयत नहीं भरती थी. इस कमी को पूरा करने के लिए मिर्जा ने बड़ी विनम्रता के साथ दावतों में शरीक होना शुरू कर दिया. मगर यह मालूम न हो सका कि लोग उन्हें दावतों में निमंत्रित करते थे या यह खुद दावतों में पहुंच जाते थे. जरूर कुछ दावतें ऐसी रही होंगी जिनमें वह निमंत्रित किये गये होंगे मगर बाद में यह दावतों के मामले में आत्म-निर्भर हो गये थे. कोई निमंत्रित करे या न करे, यह खुद पहुंच जाते थे. इस मामले में उनके बचपन के एक दोस्त का सहयोग भी जिक्र करने के काबिल है. वह एक छोटे-से प्रिंटिंग प्रेस के मालिक थे. जब कभी उनके प्रेस में किसी उत्सव का निमंत्रण-पत्र खाने की दावत के साथ छपता तो वह एक निमंत्रण-पत्र मिर्जा को जरूर दे देते थे जिसे लेकर वह धड़ल्ले के साथ दावत में शरीक हो जाते थे. बाद में वह दावतनामे के मोहताज भी नहीं रहे, जहां कहीं खाने की खुश्बू के आसपास पच्चीस आदमियों को इकट्ठा देखते तो खुद को उस हुजूम में शामिल कर लेते थे.

मिर्जा ऐसी दावतों के किस्से बहुत दिलचस्प अंदाज में सुनाते थे. एक बार वह ऐसी ही एक दावत में पहुंच गये. माना कि जो आदमी दावत करता है उसका दस्तरख्वान बड़ा लेकिन मन छोटा होता है. ऐसे ही एक मेजबान ने खाने से पहले मेहमानों की जांच-पड़ताल शुरू कर दी. मिर्जा ने सोचा था कि यह दावत जरूर किसी शादी के सिलसिले में हो रही है.

जब मेजबान ने मिर्जा से पूछा, "जनाब, आप कहां से तशरीफ लाये हैं?" तो मिर्जा ने बड़े आत्मविश्वास के साथ जवाब दिया, "जी, मैं दुल्हिनवालों की तरफ से आया हूं." मिर्जा के जवाब को सुनकर मेजबान के चेहरे पर संदेह के लक्षण पैदा हुए तो मिर्जा ने फौरन अपने बयान में संशोधन करते हुए कहा, "माफ कीजिए, मैंने गलत कहा, मैं असल में दूल्हेवालों की तरफ से आया हूं."

यह सुनते ही मेजबान ने मिर्जा को दस्तरख्वान से उठाते हुए कहा, "उठिये जनाब, आप गलत जगह आ गये. यह मेरे अब्बा के चेहल्लुम का खाना है." चेहल्लुम का खाना मतलब किसी के मरणोपरांत चालीसवें दिन दिया जानेवाला भोज का खाना.

मिर्जा इस प्रसंग को जब भी सुनाते, हंस-हंस

के बेहाल हो जाते थे, हालांकि यह अवसर हंसने का नहीं, रोने का होता है. वह इस मामले में उस मंजिल पर पहुंच गये थे जहां आदमी का स्वाभिमान और उसका विवेक दोनों उसका साथ छोड़ देते हैं. मैं खुद एक ऐसी दावत का चश्मदीद गवाह हूं जिसमें मेजबान का दस्तरख्वान तो बहुत बड़ा था लेकिन उसका मन बहुत छोटा था. सैकड़ों आदमी उस दावत में निमंत्रित थे. मिर्जा सामनेवाली टेबल पर बैठे खाना शुरू होने का इंतजार कर रहे थे कि मेजबान के एक आदमी ने मिर्जा के पास जाकर पूछ-ताछ शुरू कर दी कि—आप कौन हैं? कहां से आये हैं? दावत में आपको किसने बुलाया है? मिर्जा ने संतोषजनक उत्तर न दिया तो उस आदमी ने मिर्जा को खाने की मेज से उठा दिया. मुझे बड़ी कोफ्त हुई. हालांकि उस दावत में खाना बेहद स्वादिष्ट था मगर मुझसे खाना न खाया गया. रह-रहकर मिर्जा का खयाल आता था.

मैं खाने से फारिग होकर बड़ी देर बाद पंडाल से बाहर आया तो देखा कि मिर्जा पंडाल के आगे खड़े हैं. मुझे मिर्जा पर तरस आया. मैंने आगे बढ़कर कहा, ''मिर्जा, हद हो गयी, मेजबानों ने तुम्हारी बेइज्जती की मगर तुम खड़े हो! ऐसे खाने से तो भूखा रहना ही बेहतर है. चलो, मेरे साथ चलो. मैं तुम्हें खाना खिलाऊंगा.''

मिर्जा हंसकर बोले, ''कैसी बेइज्जती और किसकी बेइज्जती! लानत भेजिये ऐसे मेजबानों पर. आप समझते हैं, मैं यहां खाना खाऊंगा!''

मैंने पूछा, ''तो फिर यहां पर क्यों खड़े हो?''

आंखें नीची करके बोले, ''असल में मेरी बेगम जनाने सेक्शन में खाना खा रही हैं. उनकी वापसी का इंतजार कर रहा हूं. वह आ जायें तो कहीं और जाकर खाना खाऊंगा. वह रिजक कहीं तो होगा जिस पर मेरा नाम लिखा होगा.''

यह सुनते ही न सिर्फ मुझे हंसी आ गयी बल्कि खुद मिर्जा भी हंसने लगे.

यह सही है कि मिर्जा का गुजारा दावतों पर ही होता था. लेकिन दावतें रोज-रोज तो होती नहीं. बाज दफा मिर्जा को अपने खाने की कीमत खुद चुकानी पड़ती थी. मैंने मिर्जा की इस मुश्किल को आसान करने के लिए उन्हें एक ऐसे होटल का पता बता दिया जहां पांच रुपये का कूपन खरीदकर आदमी जितना चाहे खाना खा सकता था. मिर्जा एक हफ्ते तो उस होटल में खुशी-खुशी खाना खाते रहे. मगर जब होटल के मालिक ने उनके खाने की रफ्तार और मिकदार का अंदाजा लगाया तो सोच में पड़ गये. आठवें दिन जब वह होटल में गये तो होटल के मालिक ने उन्हें अलग ले जाकर अपनी जेब से पांच रुपये दिये और कहा, ''अगर आप मेरे होटल की बजाय बराबरवाले होटल में खाना खा लिया करें तो मैं आपके खाने का बिल अपनी जेब से देने को तैयार हूं!''
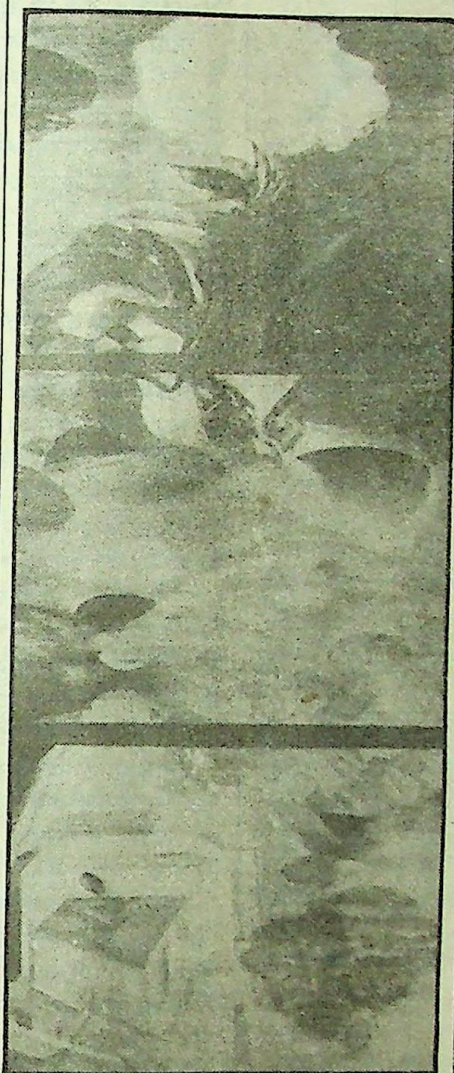
□ नीलिमा शेख की कलाकृति

मिर्जा पहले होटल के मालिक से दाम वसूल करके आठ दिनों तक दूसरे होटल में खाना खाते रहे. मगर दूसरे होटल का मालिक जब उनके खाने की रफ्तार और मिकदार से परिचित हुआ तो उसने भी उन्हें अलग ले जाकर कहा, ''बड़ी मेहरबानी होगी अगर आप बराबरवाले होटल में खाना खाया करें. आपके खाने का खर्च मैं बरदाश्त करूंगा!''

मिर्जा बोले, ''हुजूर! मैं तो आपके बराबरवाले होटल के मालिक के खर्च पर आपके यहां खाना खा रहा हूं. खाने का बिल अदा करना ही हो तो दुगने दाम दीजिये!''

अब उन्हें न सिर्फ मुफ्त में खाना मिल रहा था बल्कि आमदनी का एक जरिया भी पैदा हो गया था. मिर्जा कई दिनों तक उन दोनों होटलों के मालिकों को बेवकूफ बनाकर न सिर्फ अपनी भूख मिटाते रहे बल्कि अपनी आमदनी में भी वृद्धि करते रहे, यहां तक कि ये दोनों होटल मिर्जा की भोजन-भट्टता की भेंट चढ़ गये. वे दिन मिर्जा की खुशहाली के दिन थे. एक बार तो उन्होंने मुझे भी अपने खर्च से खाना खिलाया था.

मिर्जा की किस-किस बात को याद करूं! उन्हें याद करता हूं तो भोजन के कई तर मालों की याद आती है और भोजन के तर मालों को देखता हूं तो मिर्जा याद आते हैं. मिर्जा ने कभी डाइटिंग नहीं की, वह डाइटिंग को खिलाफ-ईमान चीज समझते थे. उनका कहना था कि जो आदमी डाइटिंग करता है वह खुदा की नैमतों को ठुकराता है, ऐसे ना-शुक्रे बंदे का खुदा से क्या रिश्ता! मैं उन्हें लाख समझाता कि मिर्जा तुम्हारी तोंद अब न सिर्फ तुम्हारे लिए ही बल्कि तुम्हारे दोस्तों के लिए भी बरदाश्त से बाहर बनती जा रही है, दाल-रोटी पर गुजारा करो, मन को मारने का यही तरीका है.

मिर्जा फरमाते, ''मन को मारने की कोशिश में मैं अपने आपको नहीं मार सकता!''

मिर्जा के खाने-पीने के आदाब भी अजीब थे. खाने के बाद मेजबान उनकी खिदमत में पान पेश करता तो फरमाते, ''मियां, पान खाने की गुंजायश होती तो थोड़ी-सी बिरयानी न खा लेता!'' उन्होंने न जाने कैसा हाजमा पाया था कि खाना खाने के बाद डकार लेने तक के आदार नहीं थे. उनका कहना था कि कमजर्फ आदमी ही डकार ले सकता है. बाज वक्त तो वह एक दावत से खचाखच भरे हुए निकलकर दूसरी दावत में चले जाते थे कि शायद वहां कोई नयी चीज खाने को मिल जाये.

मिर्जा उन लोगों में से थे जिन्होंने खुद अपने दांतों से अपनी कब्र खोदी, कब्र खोदनेवालों तक को जहमत न दी. जहां उनका आखिरी वक्त आया तो मुझ को बुलवा भेजा. डाक्टरों ने तर चीजों से परहेज बताया था पर मिर्जा की रूह तो निहारी में अटकी हुई थी. मुझ से रहस्यमय अंदाज में बोले, ''भैया, ये डॉक्टर लोग अपने पेट के लिए दूसरों का पेट काटते हैं. मैं परहेज के साथ मरने को महापाप समझता हूं. मेरी यह ख्वाहिश है कि आप कल सुबह मुझे निहारी खिलायें. मैं चुपचाप आपको दुआ देता हुआ इस दुनिया से निकल जाऊंगा.''

उस वक्त मुझे मिर्जा की आंखों में निहारी के जायके की झलक साफ दिखायी दे गयी. दूसरे दिन मैं उनकी आखिरी ख्वाहिश के सम्मान में निहारी ले गया तो जबान से कुछ न कहा, चुपचाप निहारी खायी और आंखें बंद करके जो लेटे तो फिर आंखें नहीं खोलीं. यही उनकी आखिरी दावत थी. □

तीन सौ बाईस किलोमीटर

क्या सारी गलतियों के लिए गोपी बाबू ही जिम्मेदार थे! क्या सचमुच गोपी बाबू ने आला अफसर को धोखा दिया था? क्यों वे चोट खाते रहने पर भी तने रहे...?

□ प्रमोद सिनहा

जन्म : आरा (बिहार)
लंबे अर्से तक स्वतंत्र लेखन और 'परिमल' का संयोजन. कथा पत्रिका 'नयी कहानियां' का संपादन. इन दिनों बंधुआ मजदूरों की समस्याओं पर विशेष अध्ययन.
प्रमुख कृतियां : 'तलघर', 'उसका शहर' व 'छायावादी कवियों का सांस्कृतिक दृष्टिकोण.'
संप्रति : आकाशवाणी से संबद्ध.
संपर्क : सी-106, एम.एस. अपार्टमेंट्स, कस्तूरबागांधी मार्ग, नई दिल्ली-110 001

दिन भर दफ्तर के कामकाज के बाद अब गोपी बाबू सड़क पर थके कदमों से चल रहे थे. थोड़ी दूर चलने के बाद ही अब वे उस तिराहे पर आ गये थे जहां से एक तीसरी सड़क दोनों से गले मिलती. यहां लैंपपोस्ट के पास मील का पत्थर गड़ा हुआ था जिस पर तीर के निशान के साथ उभरे हुए काले अक्षरों में खुदा था: 'इलाहाबाद तीन सौ बाइस किलोमीटर'.

गोपी बाबू जिंदादिल आदमी थे. पर इलाहाबाद से तबादले की वजह से पत्नी और बच्चों को छतरपुर न ला सकने के कारण बहुत दुखी थे. इलाहाबाद अपने तबादले पर आते ही आला अफसर ने नेताओं की तरह गोपी बाबू पर वरदहस्त रखा तो गोपी बाबू अति उत्साह से जी-जान लगाकर काम करने लगे. दफ्तर के बाद का अधिकांश समय उनके सानिध्य में बीतता. वे उनके एकदम नजदीक आ गये थे. आत्मीयता के कारण आला अफसर भी छोटे-छोटे घरेलू काम उनसे कहने में नहीं हिचकते थे. धीरे-धीरे पहले से वे ज्यादा मुखर हो गये थे.

नये-नये आला अफसर ने मातहती से निकलकर पहली बार खुली हवा में सांस ली थी. वे अभी लेखा, प्रशासन और कार्यक्रम संबंधी बारीकियों का ककहरा पढ़ रहे थे, उसे ठीक-ठाक समझबूझ ही रहे थे कि तंग आकर हमेशा की तरह दफ्तर के कुछ गर्म मिजाज नाराज कर्मचारियों ने उनके खिलाफ एक मुहिम छेड़ दी. वे आला अफसर की रंगीनियों पर नजर रखने लगे. अब इनके सभी कामों पर इन कर्मचारियों की निगाह गिद्ध की तरह लगी रहती. वे उसे लिखकर चुपचाप मुख्यालय को सूचित कर देते थे. बाबू लोग यह भी पता रखते कि आला अफसर ने गलत पेमेंट कहां-कहां किया है, अपने किस दोस्त को फायदा दिया है. वे किस ठेकेदार के घर जाने लगे हैं और खाने-पीने के बाद किस पर किस तरह मेहरबान हो गये हैं. उन्हें यह भी खबर रहती कि दफ्तर की गाड़ी को व्यक्तिगत काम के लिए वे कब कितना इस्तेमाल करते हैं और कितना दूसरों से कराते हैं.

इन बहुत-सी शिकायती बातों के बारे में मुख्यालय आला अफसर से पूछताछ करता तो वे कतरा जाते और यह पता लगाने की कोशिश करते कि आखिर वे गुमनाम कौन हैं जो अपनी गलतियां पकड़ रहे हैं और खिलाफ कार्यवाही कर रहे हैं.

दफ्तर के असंतुष्ट लोग बहुत चालाक थे. वे सामने चापलूसी करते और पीठ पीछे बत्ती लगाते. पर आला अफसर को न नाराज चंडाल चौकड़ी का पता चलता, न ही इनके खिलाफ पक्का सबूत मिलने पाता.

आला अफसर बड़बोले थे, नयी-नयी तरक्की थी. कभी-कभी ऊंच-नीच, अनाप-सनाप भी बक देते. पर ऐसा नहीं था कि दफ्तर के सभी कर्मचारी आला अफसर से असंतुष्ट थे. गोपी बाबू को बाद में पता चला कि इस असंतुष्ट गुट के लोगों की संख्या में बढ़ोत्तरी भी धीरे-धीरे हुई थी. इसका कारण आला अफसर का दोहरा शासन था. आला अफसर की पत्नी बड़ी तेज-मिजाज थीं. पति की तरक्की और तबादले के बाद पति का पैर जमाने के लिए वे दफ्तर के कार्यों में बेहद रुचि लेने लगी थीं. उनकी यह रुचि स्वाभाविक थी. वे इसी विभाग में पहले काम कर चुकी थीं. सबसे पहले जब वे आवेदन देने आयीं, तब आला अफसर अपनी हैसियत के निचले दर्जे में थे. दफ्तर की एक छोटी-सी शाखा में डाक का आवक-जावक का काम देखते थे और अब की पत्नी तब मात्र कुमारी दीपाली जी थीं. तब वे नौकरी की तलाश में थीं, अब नौकरी दिलवाती हैं. आला अफसर ने ही उन्हें अपने अफसर के पास पहुंचाया, उनसे जान-पहचान करायी और बीच-बीच में सहानुभूति पाने पर अपना काम भी निकालते रहे. दीपाली जी देखने-सुनने में अच्छी खासी नाक-नक्श, छरहरे आकर्षक कद की महिला थीं, अफसरों ने इनमें रुचि ली और दफ्तर में दीपाली जी की नियुक्ति हो गयी और उनकी जड़ें मजबूत होती गयीं.

गोपी बाबू ने जेब में हाथ डाला तो घर छोड़नेवाली चिट्ठी उंगलियों से टकरायी. 'अभी छोड़ना है', कहकर उन्होंने उसे सहेजा तभी घर.... घर.... करके आते हुए ट्रक की खूब तेज रोशनी मील के पत्थर पर पड़ी. गोपी बाबू चौंक गये. आसमान साफ था. सितारे निकल आये थे. गोपी बाबू ने सोचा कि दीपाली जी की नियुक्ति से ही आला अफसर का सितारा चमकना शुरू हुआ था. आला अफसर तब उन्हीं की नींद सोते थे, उन्हीं की नींद जगते थे. उनकी याद में वे कुछ ऐसे सराबोर हुए कि दीपाली जी उन्हीं की होकर रह गयीं. आला अफसर के लिए यह सौदा घाटे का नहीं था. दीपाली जी बड़े-बड़े अफसरों से मिलने जुलने का शौक रखती थीं. उन्होंने अफसरों के नजदीक जाकर आत्मीयता हासिल की. आशुलिपिक होने के कारण वे अफसरों के साथ दौरे पर भी जातीं और हर बार वे खुद निर्णय लेतीं कि किस अफसर को कितनी ऊंचाई तक लिफ्ट देनी है. उनकी इस आदत से अफसरों ने फायदा उठाया. पर यह आला अफसर का भाग्य था कि सारी स्थिति इन्हीं के फायदे में भुनायी जाती रही और वे तेजी से सीढ़ियां चढ़ने लगे थे.

लेकिन धीरे-धीरे जब दफ्तर और शहर में भी इसकी चर्चा जोरों से होने लगी तो आला अफसर और दीपालीजी ने भी बुरा महसूस किया और दीपालीजी ने नौकरी छोड़ दी.

नौकरी छोड़ देने के बाद भी दीपालीजी की दफ्तर के प्रति रुचि कम नहीं हुई थी. वे दफ्तर से घर आनेवाले कर्मचारियों से बड़ी आत्मीयता से मिलतीं. ड्राइवर, फर्राश और चपरासी से दफ्तर की एक-एक बात खोद-खोदकर पूछतीं. दफ्तर की जानकारी के प्रति उनकी अत्यधिक रुचि के कारण धीरे-धीरे चमचागिरी शुरू हो गयी. ड्राइवर, फर्राश, चपरासी खूब बढ़ा-चढ़ाकर दफ्तर की बातें बताते कि लेखा अधिकारी और प्रशासनिक अधिकारी में कैसे ठन गयी. चंदनाजी गोपी बाबू के साथ किस तरह दिन दिन भर गप्पें मारती हैं. कैशियर सरकारी पैसे को सूद पर चलाता है. जोशीजी बड़े साहब को मुट्ठी में रखना चाहते हैं. वे उनसे गलत कागज पर हस्ताक्षर करवाना चाहते हैं. यह सब सुन-सुनकर लगता है कि जैसे आला अफसर के खिलाफ मुहिम छेड़ दी गयी है और कोई गहरी साजिश चल रही है तो वे चिंतित हो उठतीं. जितनी गहराई से छानबीन होती, कान भरनेवालों को उतना ही मौका मिलता और वे बड़े उत्साह से बातें बताते. ड्राइवर टीपू और द्वारिकेश दीपाली मेम साहब को गलत-सलत बातें बताकर देहरी के भीतर पहुंचने वालों की भीड़ को और लंबा कर देते. इस तरह इन बातों का एक ऐसा विशद-चक्र बन गया था कि गुत्थियां सुलझने के बजाय उलझती ही चली गयी थीं.

दीपालीजी का जीने का अपना नजरिया था. आला अफसर को उनकी सलाह पर चलना पड़ता, नहीं तो वे घर में हाय-तोबा मचा देतीं. इसलिए कभी-कभी दफ्तर में, घर के कई गैरजरूरी निर्णयों को भी इस कदर लाद दिया गया था कि पूरे दफ्तर में उथल-पुथल-सी मच जाती थी. संदेह ने वातावरण को एकदम मथ दिया था. एक सीट से दूसरी सीट बदली जाने लगी थी. कैशियर को हटाकर पे बिल बनाने की सीट दे दी गयी थी. स्टोर कीपर को कैशियर, चपरासी को डिस्पैचर और दुलीचंद को खरीद-फरोख्त का अगुआ बना दिया गया था. यह काम ऊपर से देखने में तो सीधा-सादा था पर इससे हुआ यह कि सभी व्यक्ति अपनी सीट के प्रति शशंकित हो गये थे. कोई-कोई सोचता कि चार पैसे मिलनेवाली सीट हाथ से न चली जाये.

इधर आला अफसर दफ्तर के गोरखधंधों से चिड़चिड़े हो गये थे. उन्होंने चिढ़कर खुर्राट लोगों को ऐसी-ऐसी सीट दे दी कि उन्हें एकदम महत्वहीनता का एहसास होने लगा था. रोज-रोज धमाके के कार्यालय आदेश निकाले जाने लगे. कुछ को सीधा-सीधा आहत करने के लिए, कुछ को सीधा-सीधा फायदा दिया जाने लगा.

आला अफसर के घर के चौखट तक जिसकी पहुंच हो गयी उसकी पौबारह और घर में जिसकी शिकायत पहुंची कि दूसरे ही दिन दफ्तर में उसकी मिट्टी पलीद हो जाती. इस तरह कान भरकर लाभ लेनेवाले कर्मचारियों की बन आयी थी. सभी सशंकित थे कि जाने कौन आला अफसर की देहरी लांघ जाये और पहुंच मिल जाने पर किसकी शिकायत कर आये. अस्तित्व का संकट छा गया था. इस चूहा दौड़ में कई अच्छे-अच्छे भी मात खा गये थे.
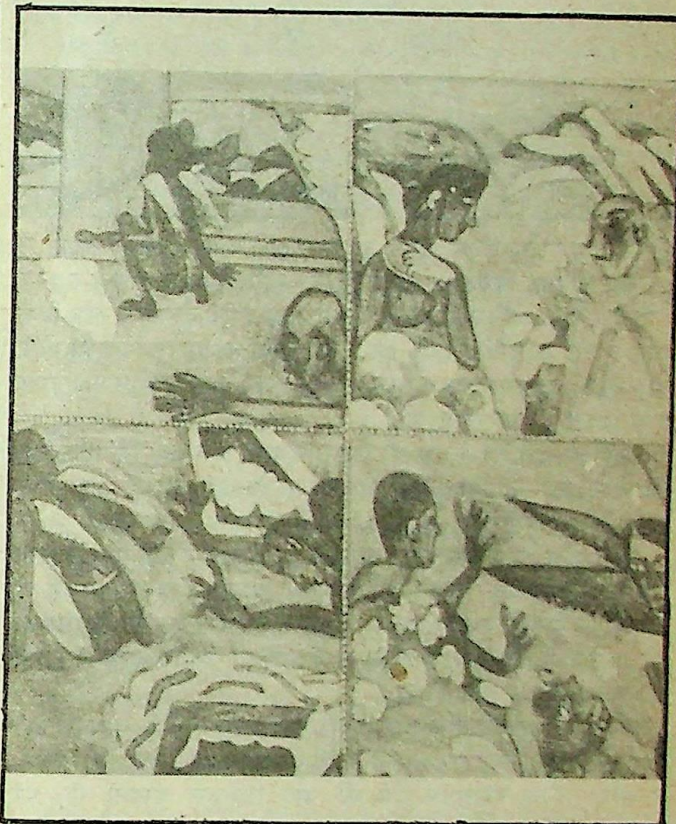
के.जी. सुब्रमण्यन की कलाकृति

गोपी बाबू इस चूहा दौड़ में शामिल नहीं थे पर उन्हें आला अफसर की बेकार की बातें अच्छी नहीं लगती थीं. करते भी क्या? आला अफसर की पत्नी आंखें थीं जिसकी रोशनी उन्हें दीपालीजी से मिलती थी. वे हर चीज में षड्यंत्र की बदबू महसूस करते और उन्हीं आंखों से पूरे दफ्तर को देखते-सूंघते थे. कई बार वे दफ्तर की साप्ताहिक बैठकों में बोलते कि वे गुटबाजी तोड़कर रहेंगे. वे यह भी कहते कि सारी जिंदगी उन्होंने गुटबाजी की और वे जानते हैं कि साजिशों को कैसे कुचला जाता है. कभी-कभी इस तरह की बातें करते-करते वे उत्तेजित हो जाते थे. जो लोग आला अफसर के घर जाते थे, वे आला अफसर की जुबान पर उनकी पत्नी की भाषा बखूबी पहचान लेते थे. गोपी बाबू को अच्छी तरह याद था कि दिमागी तनाव से तंग आकर दफ्तर की बिगड़ती हालत को देखते हुए एक बार आला अफसर से उन्होंने दबी जबान से कहा भी था कि कुछ भी कहने से पहले अपनी कुर्सी का भी खयाल कर लिया कीजिए तो आला अफसर गुस्से से गोपी बाबू से हफ्तों बोले तक नहीं थे. वे बुरा मान गये थे और उनके भीतर ही भीतर इसी बात का जहर फैलता गया था. अब वे इनकी हर बात में बेमतलब गलतियां निकालते रहते कि
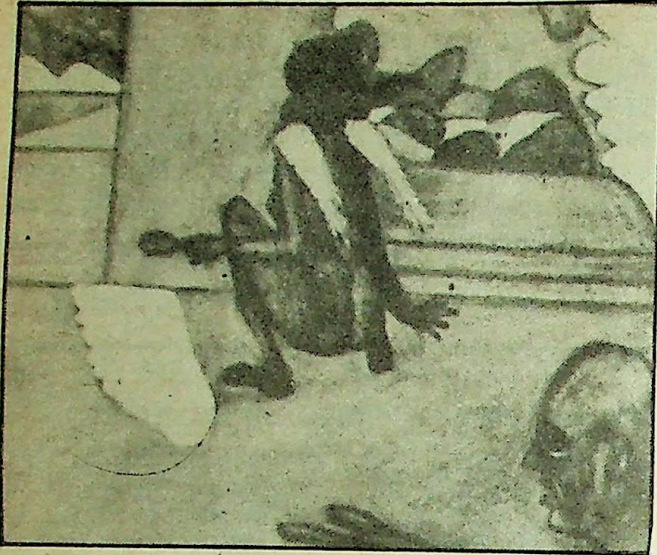
गोपी बाबू ट्रांसपोर्ट का गलत इस्तेमाल करते हैं. सरकारी गाड़ी से परिवार के साथ पिकनिक मनाते हैं और गाड़ियां पहले से ठीक एवरेज नहीं दे रही हैं. लेकिन उन्होंने एक भी आरोप पर न स्मरण-पत्र दिया और न कोई जांच ही की थी. इन कड़वी बातों का स्मरण आते ही गोपी बाबू के मुंह का स्वाद बदल गया था और हिकारत से उन्होंने पुलिया के नीचे पिच्च से थूक दिया था.

शाम हो गयी थी. सड़क की उदास रोशनी जल गयी थी. तिराहे के लैंपपोस्ट की नियॉन रोशनी में मील का पत्थर नहा रहा था, और उसके उभरे अक्षर गोपी बाबू को किसी बच्चे की तरह चिढ़ा रहे थे.

गोपी बाबू थोड़ी देर तक उसे देखते रहने के बाद धीरे से मुस्कराये. ठीक उसी तरह जिस तरह एक दिन आला अफसर की त्याग पत्र देने की धमकी पर मन ही मन मुस्कराये थे. एक दिन आला अफसर किसी बात पर नाराज थे तो साप्ताहिक बैठक में आते ही उन्होंने कहा था कि वे अपने तबादले से नहीं डरते.

उनके सामान की पैकिंग अभी पूरी तरह खुली नहीं है. वे या तो सारे लोगों को कील-कांटे पर दुरुस्त रखेंगे या त्यागपत्र देकर चले जायेंगे. हालांकि उनके त्यागपत्र देने की बात बिल्कुल बेमानी थी. पर मक्खनबाजी में शामिल लोगों ने यह बात आला अफसर के घर तक पहुंचा दी. त्यागपत्र देने की बात कहे जाने के कारण दीपालीजी ने उनको आड़े हाथों लिया था. यह बात दफ्तर में खुलती नहीं, लेकिन शाम को ड्राइवर गाड़ी लेकर आला अफसर के घर पहुंचा तो त्यागपत्र कांड पर गरमागरमी हो रही थी. ड्राइवर के माध्यम से दीपालीजी की डांट की खबर पूरे दफ्तर में आग की तरह फैल गयी. दूसरे दिन आला अफसर का चेहरा उतरा हुआ था. जिसे देखकर गोपी बाबू ने अनुमान लगा लिया था कि क्या-क्या हुआ होगा. आला अफसर को दीपालीजी पर पूरा भरोसा था. पर चौखट के भीतर पहुंचने वालों के कारण आला अफसर की पत्नी के दृष्टिकोण में फर्क आने लगा क्योंकि आला अफसर के चौखट के भीतर ड्राइवर टीपू और आशुलिपिक से यह खबरें भी छन-छनकर जाने लगी थीं कि अब आला अफसर से मिलने ठेकेदार चतुर्वेदी की पत्नी अक्सर दफ्तर आने लगी हैं. जब तक वह कमरे में रहती है आला अफसर किसी और से मिलना-जुलना पसंद नहीं करते. दीपालीजी को यह भी खबर मिली कि नयी टाइपिस्ट लड़की डिक्टेशन लेने के बाद भी डटकर ठसके से बैठने लगी है. वह जिस तरह मुस्कराकर बातें करती है, वह दूसरों को अच्छी नहीं लगतीं.

आला अफसर के घर में इन बातों से तनाव थोड़ा और बढ़ गया था और संदेह के इस वातावरण में अब उनकी पत्नी भी उन पर निगाह रखने लगी थीं. बंगले पर आला अफसर की पत्नी अक्सर गोपी बाबू को बुलवा भेजने लगी थीं. वह उनसे दफ्तर की बातें पूछतीं. गोपी बाबू सच्चाई बता देते पर कटु सत्यों के विषय में आधी बात ही कहते. चूंकि गोपी बाबू को ये बातें बहुत अच्छी नहीं लगती थीं इसलिए इधर गोपी बाबू आला अफसर के घर के बुलाने पर भी कतराने लगे थे. इसे आला अफसर की पत्नी ने दूसरी तरह से लिया था कि अब तो गोपी बाबू का नजरिया भी बदलने लगा है. फिर तो आला अफसर ने दफ्तर की टाइपिस्ट लड़की को ही लेकर गोपी बाबू के संबंध में तरह-तरह की बातें कीं कि वे दोनों दोपहर भोजन की छुट्टी में साथ-साथ खाते हैं और कई
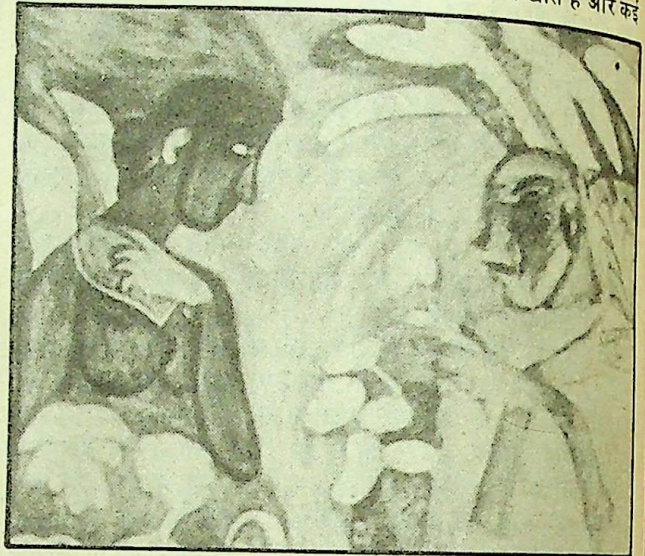
बार तो टाइपिस्ट लड़की, गोपी बाबू के मुंह में कौर तक देती देखी गयी है. अफवाहों को गढ़ने में आला अफसर महीन बुनावट के फंदे लगाते कि उस उड़ान तक दूसरा कोई पहुंच नहीं पाता था.

दफ्तर में कई तरह के लोग थे. कुछ ऐसे थे कि सख्ती के आलम में उन्होंने एकदम घुटने टेक दिये थे. वे 'पितु मातु सहायक स्वामी सखा तुमही एक नाथ हमारे हो' की मुद्रा में दयनीय हो गये थे. दूसरी तरफ ऐसे भी लोग थे जो उनसे आहत होकर उनके खिलाफ हो गये थे और रूबरू कुछ कहने भी लगे थे. वे आत्म-सम्मान आहत होने के कारण पूरी तरह विरोध पर उतर आये थे. अब वे ही चोट खाये पहाड़ी बिच्छू की तरह डंक मारने लगे थे.

बस गुजर जाने पर सड़क फिर सुनसान हो गयी थी. गोपी बाबू ने सोचा, अबकी बार इलाहाबाद जायेंगे तो पत्नी को एक-दो हफ्तों के लिए ही सही पर जरूर लिवा लायेंगे. गोपी बाबू को घर की याद बहुत उदास कर देती थी. ये तीन-तीन पत्र डाल चुके थे, पर पंद्रह-बीस दिन से पत्नी का कोई उत्तर नहीं आया था. गोपी बाबू को लग रहा था कि बेटी पिंकी को बुखार था पर अब उसकी तबीयत कैसी होगी? बूढ़े मास्टर साहब के बीमार होने के कारण बबलू बेटे को कौन पढ़ाता-लिखाता होगा और पत्नी को माई-बाबू के अलावा बच्चों की और अपनी भी देखरेख करनी पड़ती होगी. ऊपर से मकान मालकिन के नखरे अलग कि किराया बढ़ायेंगे. वे यह नहीं देखते होंगे कि पहली मंजिल पर नल का पानी न चढ़ने के कारण पत्नी को नीचे से सबके नहाने-धोने का पानी भी भरना पड़ता होगा. पर पत्नी है कि बेचारी सब कुछ झेले जा रही है. गोपी बाबू जानते थे कि जिम्मेदारियों के भीगते कंबल के कारण परेशानियां बढ़ती ही जा रही हैं. घर से इतनी दूरी की वजह से वे कितने मजबूर थे. उनके मन का बोझ बढ़ता ही जा रहा था. गोपी बाबू को अब भीतर से कुछ अजीब खाली-खाली-सा महसूस होने

लगा था. वे बुरी तरह परेशान-परेशान हो गये थे. उनको पसीना आने लगा था. माथे पर चिंता की सिलवटें थीं और खाली मुट्ठियां आवेग में कस गयी थीं.

सन्नाटा और गाढ़ा होता जा रहा था. गोपी बाबू को लगा कि कोई सुने भी नहीं और वे अपनी सारी परेशानियां इस मील के पत्थर के पास कहकर हल्के हो जायें. मजबूरियों का कोई मजाक उड़ानेवाला तो न रहेगा. तभी दफ्तर के इंस्पेक्टर साहब सामने सड़क पर से गुजरे. गोपी बाबू को इस तरह पुलिया पर उदास बैठे देखकर वे अपनी साइकिल से उतर गये.

"यहां कैसे बैठे हैं गोपी बाबू?" गोपी बाबू उसकी ओर देखकर भी कुछ नहीं बोले. उनकी फीकी हंसी में परेशानियों का जायजा था. गोपी बाबू की उलझन भरी मनःस्थिति को देखकर वह कुछ समझ रहे थे कि भीतर का तूफान समुद्र में बहते आइसबर्ग की तरह है.

"कहां से लौट रहे हैं?"

"बाजार से. घर जरूरी चिट्ठी पोस्ट करनी थी."

गोपी बाबू ने सोचा यहां का पानी ही ऐसा है कि कब्ज रहने लगता है. इस शहर में जो भी आता है, चूहेदानी में फंस जाता है. लगातार प्रयत्न करता रहता है जब तक कि तबादला नहीं हो जाता. इंस्पेक्टर की भी हालत गोपी बाबू से अच्छी नहीं थी. अकेलेपन से बचपने के लिए उनके

लिए चिट्ठी लिखने से बढ़िया कोई रास्ता नहीं था. इंस्पेक्टर का रात को ही चिट्ठी छोड़ने जाना उसकी मानसिक स्थिति का परिचायक था.

दुआ सलाम के बाद उसने भरे मन से घर की राह ली. गोपी बाबू ने सोचा परिवार अलग, खुद अलग क्योंकि कठिन स्टेशन पर तबादले पर आदमी सोचता है, टाइम काटने जा रहे हैं फिर परिवार के साथ जा मिलेंगे. सबको एक बार जाना पड़ता है. इंस्पेक्टर भी इसी तरह सोचता होगा. अग्रवाल भी यही सोचता था. थामस भी यही सोचता था. ननकू भी यही सोचता था. इंस्पेक्टर के जाने के बाद गोपी बाबू पुलिया पर फिर बैठ गये थे. रिक्शावाला मस्ती में जाते-जाते बिना भीड़ के ही घंटी टुनटुना रहा था. उसकी आवाज धीरे-धीरे दूर होती जा रही थी.

गोपी बाबू को घर की याद आ रही थी कि इस बार लड़के का नाम स्कूल में लिखाना है. पांच साल का हो रहा है. पत्नी ने लिखा था कि बेटी के लिए बचत खाता खोलना है. गांव घर की छानी छवानी है और बाबूजी के दमे की दवाई मंगानी है. इतनी दूर से अपनी जिम्मेदारियों को किस तरह पूरी करें! उनके मन में बड़ी उथल-पुथल थी. ऐसी उथल-पुथल उन्होंने तब महसूस की थी जब इलाहाबाद में दफ्तर की शिकायतों की जांच के लिए मुख्यालय से एक जांच पार्टी आयी थी. इस जांच पार्टी में कई लोग थे. पार्टी आते ही अपने काम में जुट गयी थी. कुछ लोग लेखा विभाग की जांच कर रहे थे. कुछ लोग असंतुष्ट कर्मचारियों से मिलकर उनकी समस्याओं के विषय में जानना चाहते थे. कुछ आला अफसर के ऊपर उठाये गये चरित्र संबंधी दोषों की खुफिया जांच कर रहे थे. इस तरह जांच पार्टी का मंथन कार्य चल रहा था. इसमें कितना अमृत निकलेगा और कितना विष, इस बात का अनुमान गोपी बाबू ही कर रहे थे पर इसके लिए कुछ भी कहना कठिन था. जांच पार्टी की सरगर्मी से सभी सन्न खींचे हुए थे. शरारत के बाद किसी बदलाव की आशंका से गुमसुम बने हुए थे. कुछ लोग इस बात से भी डरे हुए थे कि कहीं बेकार में वे इसकी गिरफ्त में न आ जायें. लोग वह जरूर चाहते थे कि आला अफसर की धांधली का भंडा फूटे, पर वे अपने को सामने नहीं लाने देना चाहते थे. जांच पार्टी तो आज आयी है, कल चली जायेगी. पर छींके में रखी रोटी बिल्ली से कब तक बची रहेगी. इसलिए दफ्तर में एक सनसनीखेज सन्नाटा था. लोग फुसफुसाकर बातें करते. तेज आवाजें बंद थीं. अब फिकराकशी नहीं होती थी और न फाटक के बाहर रामआसरे की चाय-पकौड़ी की दूकान पर घंटों दफ्तर की बातों पर राजनीतिक बहसें होती थीं, नहीं तो यही रामआसरे की दूकान थी जहां से नयी-नयी अफवाहें पैदा होतीं. दफ्तर के सारे ऊंच-नीच यहीं बहस के मुद्दे बनते. दफ्तर के किसी कमरे की बात हो, कोई समस्या हो, पर दफ्तर के आम कर्मचारी का निर्णय रामआसरे की चाय की दूकान पर होता था. कर्मचारियों की बैठक चलती रहती और साथ ही साथ गर्मागरम चाय का दौर भी. जैसे एक ही दफ्तर के दो भाग थे, एक सरकारी भवन में दूसरा सड़क पर और दोनों के बीच खींचा-तानी का सिलसिला बखूबी चालू था. जितने लोग दफ्तर के भीतर काम करते थे उसके चौथाई रामआसरे की टीन की छाजन के नीचे देखे जा सकते थे क्योंकि वहां न आला अफसर का हुक्म चलता था, न दीपालीजी का, पर यह सभी जानते थे कि जांच पार्टी गयी नहीं कि आला अफसर चोट खाये सांप की तरह फुफकारने लगेगा. पर कुछ लोगों को यह शंका भी थी कि क्या जाने सांप का दांत ही टूट जाये या उसके विष की थैली ही निकाल ली जाये. सब तरफ संदेह का वातावरण गाढ़ा—खूब गाढ़ा होता जा रहा था.

गोपी बाबू को याद आया कि जांच पार्टी को आये तीन ही दिन हुए थे पर लग रहा था जैसे तीन बरस हो गये. पूरे दफ्तर में उन्होंने हल चला
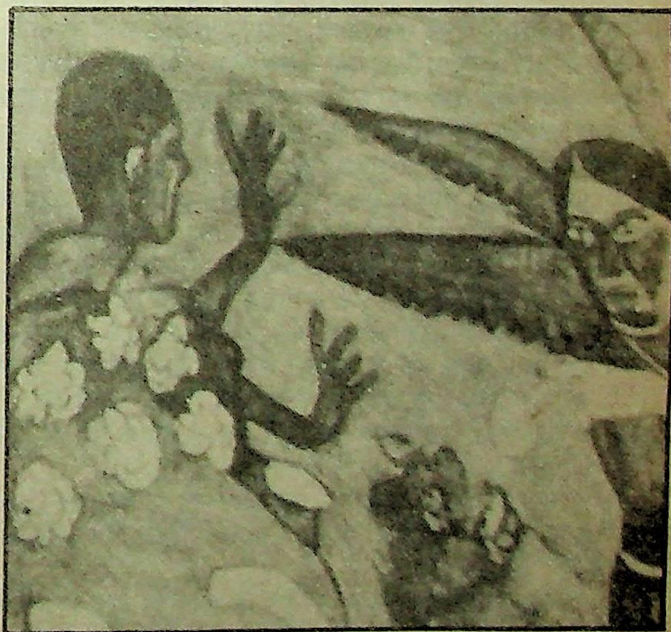
दिया था और गहरे जोतकर पानी दिये जाने पर फाइल में दबी हुई गलतियां कागज की जिल्दबंदी से ऊपर आ गयी थीं. जांच पार्टी के सदस्य अपनी नाक पर चश्मा चढ़ाये-चढ़ाये गलतियों को बगुलों की तरह अपनी चोंच से बीनते रहते.

गोपी बाबू को अच्छी तरह याद था कि लेखा विभाग की जांच करनेवालों को मीटिंग हाल में बैठाया गया था. जांच अधिकारी भोलेंद्र भट्टाचार्य वहीं बैठते थे. सभी उन्हें भोलू बाबू कहते थे. वे हाल में बैठे-बैठे अपने सहयोगियों के साथ फाइलों में जाल लगाये अपनी खोजबीन करते रहते, और जब कभी कोई गलती उनकी कंटिया में मछली की तरह फंस जाती तो वे निर्विकार भाव से आशुलिपिक को बुलाकर जांच टिप्पणी लिखवा देते थे. जांच टिप्पणी का यह सिलसिला दस से पांच तक बराबर चलता रहता था. जांच पार्टी के दूसरे सदस्य भी हाल में गोलाई से अपनी-अपनी कुर्सियों में धंसे हुए बारीक नजरों से पूरे दिन फाइल की बखिया उधेड़ते रहते.

उस दिन द्वारिकेश ड्राइवर ने बताया कि जांच पार्टी के कारण आला अफसर को ब्लडप्रेशर हो गया है. आज उन्होंने गाड़ी घर मंगायी थी और फिर डाक्टर को लेने गया था. डाक्टर ने घर आकर देखा फिर कुछ दिन उन्हें आराम करने की सलाह दी है.

यों तो पूरी जांच पार्टी के रहने खाने के पूरे इंतजाम की देखभाल आला अफसर खुद ही किया करते पर तबीयत खराब होने के कारण गोपी बाबू को टेलीफोन पर निर्देश मिला कि वे इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रक्खें कि जांच पार्टी को दफ्तर या बाहर कोई भी तकलीफ न हो.

फिर तो जांच पार्टी के लोग सुबह-सुबह संगम स्नान करने लगे और शाम को जहां चाहते घूमने भेज दिये जाते. पूरी जांच पार्टी को पहले ही इतवार को विंध्याचल दर्शन के लिए भेजा गया था. गोपी बाबू की योजना थी कि जांच पार्टी को चुनार का किला दिखाया जाये, बनारस ले जाकर विश्वनाथ बाबा का दर्शन कराया जाये ताकि आधा शनिवार, पूरा इतवार और सोमवार दोपहर तक उनकी छुट्टी हो जाये. इतनी लंबी यात्रा से लौटने के बाद जांच पार्टी की रफ्तार धीमी हो जायेगी. पर भोलू बाबू भी थे पूरे घाघ. विंध्याचल देवी दर्शन के बाद सीधे रेस्ट-हाउस आ गये और सहयोगियों से हिदायत कर दी कि मुख्यालय से बड़े साहब के आने का तार आया है. उनके आने के पहले ही जांच का अपना काम खतम करना है, नहीं तो फजीहत हो जायेगी.

ऊपर से नीरस और दिन भर काम में व्यस्त, मेज पर फाइलों में अपनी गर्दन झुकाए रहने वाले भोलू बाबू खाने की मेज पर एकदम वाचाल हो जाते. उनके सहयोगी भी अक्सर शाम को बातचीत में बताते कि फलां दफ्तर में दो सौ एक्शन नोट इशू किया गया. फलां दफ्तर में तीन सौ एक्शन नोट इशू किया गया. वे यह भी बताते कि इसके दूरगामी परिणाम कहां-कहां क्या-क्या हुए. कितनों को चेतावनी मिली, कितनों का तबादला और कितनों को क्या-क्या सहना पड़ा.

गोपी बाबू यह सब सुन-सुनकर बेहद परेशान थे. वे इसलिए भी परेशान थे कि भोलू बाबू के सवालों का तत्काल जवाब आला अफसर की बीमारी के कारण अब उन्हें ही देना पड़ता. और इधर आला अफसर को रिपोर्ट भी देनी पड़ती है कि कैसे-कैसे क्या-क्या घटित हो रहा है. आला अफसर कहते कि जांच पार्टी दफ्तर की दफनायी हुई गलतियों को कैसे चुन-चुनकर निकाल रही है. गड़े मुर्दे उखाड़ रही है. उनको सवालिया जामा पहना रही है. आखिर दफ्तर में विभीषण कौन है जो सारी बातों को उन्हें बता रहा है कि वे सीधे-सीधे वहीं उंगली रखते हैं जहां गलती होती है. इतने खाने-पीने और मौज-मस्ती के बाद भी साले गिद्ध की तरह बारीक निगाहों से पकड़ते हैं.

गोपी बाबू दफ्तर के चक्करों में उलझते जा रहे थे. और इधर जांच पार्टी अपने हिसाब से नौ दिन चले अढ़ाई कोस नहीं, ढाई दिन में नौ कोस चलने की रफ्तार में थी.

गोपी बाबू ने भोलू बाबू के ठहरने की व्यवस्था रेस्ट हाउस के बी.आई.पी. कमरे में की थी. जांच पार्टी के दूसरे सदस्यों के रुकने का इंतजाम भी स्टेशन के पास ही के एक होटल में कर दिया गया था. चार कमरों में उनके रुकने की व्यवस्था थी. इन बातों के लिए आला अफसर ने अपने एक खास चपरासी की ड्यूटी लगा दी थी. वह उन लोगों की बातें सुनता-गुनता और घर पर रिपोर्ट भी करता रहता था. दफ्तर की तरह यहां भी आला अफसर की दोहरी व्यवस्था थी, क्योंकि वे किसी एक पर विश्वास नहीं करते थे.

गोपी बाबू को याद आया कि रात-दिन जांच पार्टी का मुंह जोहते-जोहते दांतों तले पसीना आ गया था. घर में पत्नी क्या कहती है, बच्चे क्या पढ़ रहे हैं, से जैसे मतलब ही छूट गया था. सब दफ्तर की आंधी में उड़ रहे थे. दूसरी ओर आला अफसर कहते कि अपनी उपेक्षा से जांच पार्टी नाखुश होकर दफ्तर की कब्र खोद रही है, जिसकी सारी जिम्मेदारी गोपी बाबू की है. वे खीझ में यह भी कहने लगे थे कि गोपी बाबू अब पहले की तरह नहीं रह गये हैं. उनकी नजरें बदल गयीं हैं गोपी बाबू अपने पर इस तरह संदेह किये जाने से बार-बार आहत हुए थे. उनकी नियति चक्रव्यूह में फंसे अभिमन्यु की तरह थी. वे भीतर ही भीतर टूटे थे. इधर उच्च रक्तचाप से त्रस्त आला अफसर भी असंतुलित थे. घर पर चलनेवाली आला अफसर की मेम साहब की राजनीति सारी बातों को और भी उलझा देती थी. गोपी बाबू को दूसरों की गलती के लिए भी अपमानित होना पड़ता था. इसी से गोपी बाबू के लिए यह जांच पार्टी पूरी समस्या बन गयी थी.

एक तो तबीयत ठीक नहीं, दूसरे घर-बाहर की समस्याएं, आला अफसर की परेशानियों में इजाफा करती रहती थीं. पर अब आला अफसर की प्रमुख सलाहकार उनकी पत्नी नहीं रह गयी थीं. घबराकर अब अपने ही निर्णय में शिथिल होने लगी थीं. लगातार मात खाते रहने के कारण अब आला अफसर दफ्तर के संबंध में पत्नी की राय नहीं जानना चाहते थे. वे काफी चिड़चिड़े हो गये थे. इधर आला अफसर की पत्नी को लगता कि वे इनकी लगातार उपेक्षा कर रहे हैं. दफ्तर की महिला कर्मचारियों से रफ्त-जब्त बढ़ती जा रही है.

गोपी बाबू की परेशानी इसलिए भी बढ़ गयी थी कि आला अफसर अपनी सारी गलतियों के लिए भी सीधे-सीधे गोपी बाबू को ही जिम्मेदार कहने लगे थे, वे कहते कि गोपी बाबू ने उनके साथ धोखा किया है. उनका गलत फायदा उठाया है. अपने रिश्तेदारों को ठेके दिलाकर कमीशन खाया है. फाइलें देर तक रोककर इनकी साख खराब की है. यह सब काम उन्होंने एक साजिश के तहत किया है. यह आस्तीन के सांप हैं. गोपी बाबू ये बातें कभी एक, कभी दूसरे, कभी तीसरे मुंह से सुनते तो दुखी होते. कई बार दोस्तों ने कहा, "भाई, इस तरह कब तक मुंह सीये रहोगे. तुम आला अफसर से रूबरू बात कर गलत फहमी दूर कर लो. उन्हें समझा दो." पर गोपी बाबू का आहत अभिमान चोट खाते रहने पर भी हमेशा तना रहा. वे सही हैं तो सफाई क्यों दें. जब बाड़ का कांटा ही अपनी सुरक्षा के लिए दूसरों को नागफनी बनकर चुभने लगे तो किससे क्या कहा जाये. गोपी बाबू लगातार अंतर्मुखी होते गये थे. सारा जहर खुद ही पीते गये थे.

गोपी बाबू ने आला अफसर से कुछ नहीं कहा, तब भी नहीं जबकि उनके तबादले की सिफारिश की गयी. आदेश आते ही क्षण भर में ही आला अफसर ने गोपी बाबू को रिलीव कर दिया था. गोपी बाबू उस क्षण की याद कर तिलमिला गये. हवा का तेज झोंका आया. सहसा कोई एकाकी चिड़िया अंधेरे में जोरों से चीखी. गोपी बाबू के सामने पत्नी और बच्चों का उदास चेहरा एक-बारगी कौंध गया. उन्हें लगा यह उनकी पत्नी की अंतरात्मा की आवाज थी. जो कि अपनी गूंज में खुद अपने आपसे ही लगातार टकराती जा रही है. तंद्रा भंग हुई तो गोपी बाबू एकदम सजग हो गये. तभी सागर रोड से आते हुए ट्रक की तेज रोशनी मील के पत्थर पर पड़ी. इलाहाबाद तीन सौ बाइस किलोमीटर दूरी का यह एहसास संगम की लहरों के टकराव की तरह एक पर एक आता चला जा रहा था. मील का पत्थर एकबारगी खूब तेज रोशनी में चमक कर उदास हो गया था □

मुक्ति-संग्राम की छटपटाहट

□ प्रो. विश्वंभर 'अरुण'

'मृत्युंजय' : मूल लेखक : निरंजन, हिंदी रूपांतर : कांतिदेव, प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, इंस्टीट्यूशन एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-3, मूल्य : पिचानवे रुपये.

साढ़े चार हजार साल पहले के अतीत में झांककर उस जमाने के मानवीय सुख-दुःखों को तमाम सामाजिक-सांस्कृतिक-आर्थिक-राजनीतिक सरोकारों से संबद्ध करके देख-परख पाना इतिहासकार के लिए तो नामुमकिन है ही, समर्थ साहित्यकार के हौसले भी अक्सर पस्त हो जाते हैं. किंतु, कन्नड़ के जानेमाने लेखक निरंजन ने आज से लगभग साढ़े चार हजार वर्ष पूर्व के मिस्रवासियों के दुःख-दर्दों को उनके पूरे परिवेश से जोड़कर पांच सौ पृष्ठीय उपन्यास में पृष्ठांकित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया है. निरंजन ने नील नदी के किनारे विश्व की पनपी प्राचीनतम मिस्र-सभ्यता को अपने महाकार उपन्यास का उपजीव्य बनाकर उस जमाने के जनजीवन का जीवंत परिचय पृष्ठांकित किया है और इस बहाने से राज्यसत्ता और धार्मिक उन्माद से पिसती-सुबकती जनता के संत्रास और संघष की गाथा के आदिम इतिहास को भी लिपिबद्ध करने की कोशिश की है.

पैंतालीस सौ साल पहले भी मिस्र की 'सभ्य' दुनिया का मानव राज्यसत्ता और पुरोहितवाद के दमन-चक्र के आगे कितना आहत-विवश और निरीह था किंतु मेनेप्टा, मेन्ना जैसे मृत्युंजयी सेनानियों के संघर्ष से उनकी सोयी चेतना कैसे जाग्रत होकर मिस्र-सम्राट फेरोह और उसके राजगुरु हेपात के आगे सिर उठाकर खड़ी हो पाती है—इन सबका कथाकार निरंजन ने जैसा ब्यौरेवार सरस और सार्थक परस इस उपन्यास में पाठकों को परोसा है, वैसा किसी और विधि या विधा द्वारा संभव ही न था. साहित्य की ऐसी ही सामर्थ्य के सामने इतिहासकार बगलें झांकते हैं. मिस्र के उस जमाने का ऐसा सर्वांगपूर्ण अंकन अचरजप्रद लगता है. उस समय की राजनीतिक अवस्था का लेखक ने ब्यौरेवार वर्णन कथात्मक स्थितियों में ढालकर किया है. मिस्र के चालीस प्रांतों का अधिपति फेरोह था लेकिन उसे राजपुरोहित हेपात के परामर्श और पथ-प्रदर्शन पर चलना होता था. राजपुरोहित फेरोह का दबदबा सत्ताप्रमुख फेरोह को दबा कर रखता था, जब भी महत्त्वपूर्ण मसलों पर निर्णय लेना होता तो राजगुरु की सहमति अनिवार्य थी. स्पष्ट है, मिस्र की तद्युगीन राज्यव्यवस्था की धुरी धर्म ही थी. जनता से जोर जबरिया कर वसूलने के लिए कर अधिकारी अलग से नियुक्त थे और कर वसूलने वाले फेरोह के बाद सबसे अधिक शक्ति संपन्न थे. फेरोह के पूरे मिस्र में जो चालीस प्रांत थे—उनमें से प्रत्येक प्रांत में एक राज्यप्रमुख नियुक्त था और वह फेरोह का प्रतिनिधित्व करता था. किंतु संपूर्ण मिस्र में कर वसूलने वाले अधिकारी सिर्फ तीन ही नियुक्त थे और ये राजगुरु हेपात से प्राप्त शक्ति के स्रोत ज्यादा थे और इसीलिए इनको अधिकार-मद भी कुछ ज्यादा था. उपन्यास के नायक मेनेप्टा के कर्मक्षेत्र वाले प्रांत में कर अधिकारी तिहूती राजप्रमुख गेबू को जरा-जरा सी बात पर 'जरा भी तमीज नहीं' कहकर डांट-फटकार देता है. सारे राज्य से वसूल किये जाने वाले कर की आधी राशि पर तो राजगुरु का कब्जा हो जाता है और जो आधा कर भाग फेरोह के पास आता भी है, उससे ही सारी राज्य व्यवस्था के संचालन का व्यय-भार उठाना होता है. दूसरी ओर राजगुरु हेपात को प्राप्त सारे राज्य से वसूली जाने वाली आधी कर-राशि मात्र उसी की होती है. इस प्रकार राजगुरु हेपात ही मिस्र की धार्मिक धुरीण-शक्ति होने के साथ मजबूत आर्थिक आधार भी लिये रहता है और धर्म का मुख्य मुख होने के कारण जन-जन उसी का मुखापेक्षी रहता था. जब कथानायक मेनेप्टा बाटा के संग राजधानी मेमफिस पहुंचते हैं तो उन्हें धर्माडंबरों में जकड़ी और पंगुपड़ी राज्यव्यवस्था की असलियत जाहिर होती है. हेपात द्वारा चलायी जा रही पुरोहितों की व्यवस्था के सूत्र उन्हें अप्रत्यक्ष होने पर भी ज्यादा प्रभावी और सुदृढ़ दीख पड़ते हैं. कूटनीतिक दांवपेचों में भी ये पुरोहित ज्यादा असरदार प्रतीत होते हैं. मेनेप्टा इन्हें देखकर सोचता है— **'सारे के सारे कूटनीतिज्ञ हैं'**

मेमफिस में पुरोहित आइनेनी उन्हें राजगुरु हेपात की असल शक्ति से वाकफियत दे देता है—**'राजगुरु जहां भी हैं, देश की राजधानी वहीं है'**. राजा और राज्य-संचालन को राजगुरु की इच्छा जानने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है.

धर्म के इस घटाटोपी कुहासे को भेदने के लिए शिक्षित नौजवान मेन्ना का अवतरण भी कथाकार ने बड़े सार्थक तरीके से किया है. मेन्ना इन्हीं धर्मगुरुओं के पास दीक्षा लेने के लिए बारह वर्षों के लिए रहने आया था लेकिन वह इतना मेधावी था कि उसने बारह वर्षों की शिक्षा छह वर्षों में ही पूरी कर ली थी. राजगुरु हेपात के धार्मिक पाखंडों की आड़ में चलनेवाली पाप लीलाओं से वह अवगत हो चुका था—इसलिए उसे पीट-पीटकर पागल करार दे दिया जाता है. किंतु राजगुरु हेपात को राजधानी के वरिष्ठ सलाहकार और सबसे वृद्ध हेकत की हरकत हैरत में डाल देती है. कथाकार ने उस स्थिति की कथा-बयानी में नाटकीयता की चमत्कृति सृष्ट कर दी है—**हेपात की आवाज और ऊंची हुई. वह तीखे स्वर में बोला, "क्या किसी की इच्छा करने से संसार का सारा काम रुक सकता है?"**

"यह तो कल्पना की पराकाष्ठा है, कि कोई अपने को संसार समझ ले."

खाली हेपात को इस व्यंग्य का अर्थ समझ में आया. उसने दांत भींचे और जोर से गरजा, "मिस्र के राजगुरु और सर्वोच्च पुजारी के सामने सबसे वृद्ध व्यक्ति को भी जबान संभालकर बात करनी चाहिए!"

"मुझे इस बात की परवाह नहीं कि मुझ पर कोई जादू कर दिया जाये. मुझे शाप दे दिया जाये और मैं मर जाऊं. मौत से कोई अपने को बचा नहीं सका है. क्या मैं मौत के डर से अपने कर्त्तव्य का पालन न करूं?"

'मृत्युंजय' की मूल कथाधारा मौत से डरनेवालों की निरीहता से लाभ उठाने वाले पुरोहित-वर्ग के विरुद्ध मेनेप्टा, मेन्ना, बाटा, हेकत जैसे मृत्यु से खौफ न खानेवालों के अभियान से संबद्ध रही है. मिस्र के राजगुरु हेपात तथा उसकी पुरोहित-मंडली जनता को शाप, जादू, धर्म-दंडिका आदि का भय दिखार अपनी मुट्ठी में रखती थी. हिप्पोटामस प्रांत में मेनेप्टा के नेतृत्व में फेरोह के दैवी शासन के विरुद्ध चलने वाला अभियान असल में इन्हीं राजगुरु और उसकी पाखंडी पुरोहित-मंडली के खिलाफ ही था. इस अभियान में सेबेखू किसान, स्नोफ्रू मूर्तिकार, बाटा नाविक आदि आम आदमी शामिल हैं. मेनेप्टा के रूप में कथाकार निरंजन ने असल विद्रोही की मूर्ति गढ़ी है जो पौने पांच सौ पृष्ठों के इस वृहदाकार उपन्यास में शांत रहते हुए भी विद्रोह का

सार्थक रहा 'संकल्प'

हिंदी दिवस 1989 के अवसर पर दिल्ली की हिंदी अकादमी द्वारा डॉ. नारायण दत्त पालीवाल के संपादन में प्रकाशित ग्रंथ 'संकल्प' एक सार्थक आयोजन सिद्ध हुआ है. अपनी रचनात्मक गुणवत्ता, वैविध्य और सरोकारों के व्यापक कैनवास को देखते हुए यह ग्रंथ औपचारिक सरकारी रस्म अदायगी की सीमाओं को तोड़ता हुआ एक संग्रहणीय संदर्भ ग्रंथ बन सका, यह इसकी एक बड़ी सार्थकता है, और संपादक की अपनी निजी उपलब्धि भी कि वह साढ़े तीन सौ पृष्ठों की इस स्मारिका को ग्रंथ में बदल सके.

'संकल्प' की सामग्री रोचक, पठनीय, जानकारी पूर्ण और रचनात्मक ऊर्जा लिये हुए है. इसमें दिल्ली का इतिहास और भूगोल खंगालते लेख भी हैं और हिंदी की अस्मिता अनिवार्यता तथा ऐतिहासिकता को रेखांकित करती टिप्पणियां भी. समीक्षाएं हैं, संस्मरण हैं, निबंध हैं, व्यक्ति चित्र हैं, आत्मरचनाएं हैं और कविता गीत तथा गजल भी. इस संकलन की उपादेयता इसलिए तो है ही कि इसकी कुछ सामग्री साहित्य और पत्रकारिता से जुड़े शोधार्थियों के लिए संदर्भ का काम करती है, इसलिए भी है कि इसमें रचनात्मक सक्रियता और विचारोत्तेजक बहस का आमंत्रण भी है. बाल पत्रकारिता पर डॉ. हरिकृष्ण देवसरे का लेख लंबी बहस और चिंता की मांग करता है. पत्रकारिता की दुनिया में बाल साहित्य से जुड़े संवादहीन रवैये के जिस दुखद सच को उन्होंने रेखांकित किया है, वह चौंका देने वाला है. प्रदीप पंत की कविता 'खिचड़ीपुर के लोगों की सुबह' बाल स्वरूप राही की गजलें, बाबा नागार्जुन, प्रयाग शुक्ल, केदार नाथ सिंह और शिव मंगल सिंह सुमन की कविताएं तथा रमेश बक्षी, भीष्म साहनी, श्याम विमल, देवेंद्र सत्यार्थी की रचनाओं-संस्मरणों के कारण यह संकलन जीवंत स्वरूप ले सका है. कुछ रचनाएं और आलेख चालू तथा टालू किस्म के भी हैं जो संकलन की गरिमा को नष्ट करते से दीखते हैं. एहसान के लिफाफे में भेजे गये ऐसे आलेखों को सधन्यवाद लौटा देना चाहिए था. जैनेंद्र कुमार पर चिरंजीत का आलेख एक उत्सुकतापूर्ण उत्तेजक अनुभव से गुजरने जैसा लगता है और अतीत के कई ताले खोलता है. डॉ. सैयद असद अली के लेख 'दिल्ली : एक झलक' में जितने मुख्तसर ढंग से दिल्ली के विराट अतीत की झलक दी है, वह अद्भुत है. महेश्वर दयाल का आलेख 'शाहजहानाबाद के महल और हवेलियां' तो अपनी जानकारियों की वैविध्यता के कारण संग्रहणीय हो गया है. अंत में इतना और कि चूंकि यह संकलन हिंदी दिवस के मौके पर छपा है इसलिए इसमें संकलित केदार नाथ सिंह की कविता 'मातृभाषा' का उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं हो पा रहा है :

'जैसे चींटियां लौटती हैं/बिलों में/कठ फोड़वा लौटता है/काठ के पास/वायुयान लौटते हैं एक के बाद एक/लाल आसमान में डैने पसारे हुए/हवाई अड्डे की ओर/ओ मेरी भाषा/मैं लौटता हूं तुममें/जब चुप रहते रहते/अकड़ जाती है मेरी जीभ/दुखने लगती है/मेरी आत्मा.' □

ज्वालामुखी सदैव अपने अंदर सुलगाये हुए है. हिप्पोटामस प्रांत को अपनी अदम्य इच्छा शक्ति और कुशल नेतृत्व से उसने फेरोह के चंगुल से मुक्त करा लिया और जगदेश के कारण उसे प्रांत की शासन-व्यवस्था की बागडोर भी सम्हालनी पड़ी किंतु कहीं भी और कभी भी उसने अपने को अधिपति अनुभव नहीं होने दिया. आम आदमी की तरह अपने को मामूली मानना ही उसके स्वभाव में शुमार है. राजधानी द्वारा आमंत्रित होने पर भी उसे राजकीय अतिथि बतौर दिया जाने वाला सत्कार प्रसन्न नहीं करता. वहां मिलनेवाला **'इतना स्वादिष्ट खाना'** उसे रुचिकर नहीं लगता और वह अपनी पत्नी नेफस की बनायी हुई रूखी रोटियों को खाने के लिए तरसता है. वहां बहुत बड़ी दावत का आयोजन है जिसमें मांस के अड़तालीस पकवान, चालीस तरह की रोटियां और मिष्टान्न, चौबीस तरह के पेय पदार्थ तथा ग्यारह तरह के फल होंगे. दावत से अदावत और सभी राजकीय सम्मान और सत्कारों से विमुख रहते हुए मेनेप्टा को अपनी विद्रोही मानसिकता को कभी मारने नहीं दिया. उसकी यही मृत्युंजय मानसिकता मिस्र के तमाम स्वतंत्र चेता और स्वाभिमानी जनता को जागृत बनाये रखती है और अत्याचारी और आतंकवादी ताकतों के हौसले बुलंद नहीं होने देती. मिस्र में जनचेतना की इस आदिम लहर का कथाकार ने कल्पना के तानेबानों से ऐसा कथासंसार बुना है जिसमें तद्‌युगीन मिस्र तो मुंह बोलता दर्शित होता ही है—उस युग के आईने में युग-युग की जन जागृति के अक्स भी साफ दिखायी देने लगते हैं. तत्कालीन राज्य सत्ताधीश और पुरोहित वर्ग मिलकर जनता के श्रम, धन, बल का दोहन और शोषण कर रहे थे. उस शोषण के विरुद्ध मेनेप्टा आदि के नेतृत्व में विद्रोह का बिगुल बुलंद भी होता है—दासता का तुच्छ जीवन जीती हुई जनता कुछ समय के लिए मुक्ति की सांसों की संदली समीर को समो भी नहीं पाती कि फिर से शासन के क्रूर दमन-चक्र का शिकार उसे होना ही पड़ता है. किंतु मिस्र की धरती पर मानवता की मुक्ति-संग्राम की यह संघर्ष-गाथा मानव के मृत्युंजयी स्वरूप का सच्चा साक्षात्कार करा देती है. अतीत के अवशेषों में खंड-खंड बिखरी इस संघर्ष-गाथा को इस महाकाव्यात्मक उपन्यास में प्रस्तुत करने का यह प्रयास परम मौलिक और प्रशंसनीय है. मूल कन्नड़ से सहज-प्रवाही हिंदी में कांतिदेव के द्वारा रूपांतर भी रम्य और सार्थक बन पड़ा है. □

अपनी नौकरी के अन्तिम दिन क्या आप अपनी पत्नी से यह कह सकेंगे—"चिन्ता न करो, हमारे दिन अच्छी तरह ही कटेंगे"?

एक जिम्मेदार पिता के रूप में आपने अपने बच्चों के भविष्य को सुरक्षित कर दिया है, यह ठीक है। परन्तु क्या आप पूरे भरोसे के साथ यह कह सकते हैं कि आपने ऐसा प्रबन्ध भी कर लिया है कि सेवा-निवृत्ति के बाद आप दोनों पति-पत्नी को नियमित रूप से एक निश्चित रकम मिलती रहेगी? एल आई सी की पेंशन योजनाएँ — जीवन धारा और जीवन अक्षय, सेवा-निवृत्ति के बाद नियमित आय सुनिश्चित करनेवाली आदर्श योजनाएँ हैं। सर्वोपरि, इन योजनाओं से आयकर अधिनियम की धारा ८० सी सी ए के अन्तर्गत आपको आकर्षक कर-छूट की सुविधा भी मिलती है। आज ही एक पॉलिसी लीजिए। अधिक जानकारी के लिए किसी एल आई सी एजेन्ट अथवा निकटतम एल आई सी कार्यालय से सम्पर्क कीजिए।

सेवा-निवृत्ति एक सच्चाई है
आप इसे टाल नहीं सकते।

CLARION C-LIC 7

24वां ज्ञानपीठ पुरस्कार समर्पण

तेलुगु साहित्य का सत्कार दूसरी बार

29 दिसंबर, 1989 की सर्दी से ठिठुरती शाम. कमानी सभागार, नयी दिल्ली. 24वें ज्ञानपीठ पुरस्कार समर्पण समारोह के लिए एकत्र साहित्यकारों, साहित्य-प्रेमियों और राजधानी के अनेक गण्यमान्य नागरिकों से शोभायमान था. मौसम की प्रतिकूलता के बावजूद ये लोग तेलुगु के अग्रणी कवि डॉ. सी. नारायण रेड्डी को पुरस्कार-समर्पण के साक्षी होने के लिए बड़ी संख्या में उपस्थित थे. साहित्य-प्रेम की ऊष्मा ने कड़ी सर्दी के प्रभाव को निरस्त कर दिया था. मंच पर विराजमान थे समारोह के मुख्य अतिथि भारत के उपराष्ट्रपति महामहिम डॉ. शंकरदयाल शर्मा, ज्ञानपीठ पुरस्कार-विजेता डॉ. सी. नारायण रेड्डी, पुरस्कार प्रवर परिषद के अध्यक्ष डॉ. पा.वें. नरसिंह राव, भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबंध न्यासी श्री अशोक कुमार जैन, पुरस्कार प्रवर परिषद की सदस्या श्रीमती अलका जालान, न्यासी श्री रमेश चंद्र, भारतीय ज्ञानपीठ के कार्यकारी निदेशक डा. पांडुरंग राव एवं श्रीमती इंदु जैन.

समारोह का समारंभ गंधर्व महाविद्यालय की कु. सुभद्रा मित्रा द्वारा प्रस्तुत सरस्वती सूक्त से हुआ. उनकी गूंज-भरी वाणी और शुद्ध उच्चारण से वैदिक वातावरण की सृष्टि हो गयी. तदुपरांत अपनी विशिष्ट शैली में समारोह का संचालन करते हुए डा. पांडुरंग राव ने स्वागत-भाषण के लिए श्री अशोक जैन को आमन्त्रित किया. इस पुरस्कार समारोह की विलक्षणता की ओर संकेत करते हुए अशोक जी ने कहा– 'यह 24वां पुरस्कार समारोह है. आप जानते हैं कि चौबीस की संख्या का हमारे आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में विशेष महत्व है. तीर्थंकर 24 होते हैं, भगवान के 24 अवतार माने जाते हैं, वेदमाता गायत्री के मंत्र में 24 अक्षर होते हैं, और बोधिसत्व भी 24 होते हैं. इस प्रकार यह 24वां पुरस्कार समारोह विशेष महत्व का हो जाता है.'
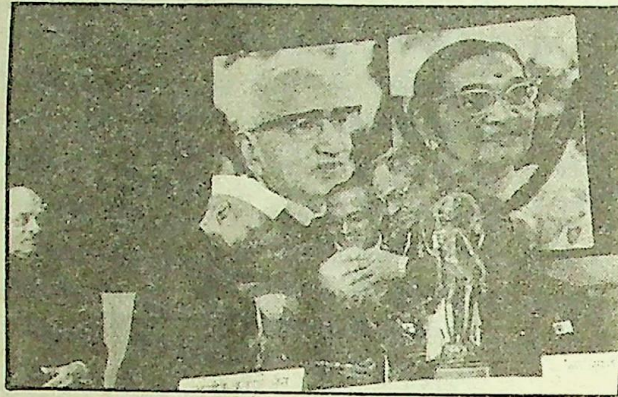
'सिनारे' नाम से लोकप्रिय डॉ. सी. नारायण रेड्डी ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित होने वाले दूसरे तेलुगु रचनाकार हैं. पूर्वसम्मानित तेलुगु साहित्यकार का स्मरण करते हुए भारतीय ज्ञानपीठ के प्रबंध न्यासी ने कहा– 'इस समारोह के अवसर पर हमें कविसम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण और उनकी कालजयी रचना 'रामायण कल्पवृक्षमु' का स्मरण हो आना स्वाभाविक है. आज से 18 वर्ष पूर्व हमने कविसम्राट विश्वनाथ सत्यनारायण को ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित किया था.' डॉ. रेड्डी का स्वागत करते हुए उन्होंने कहा, 'आज हम सबके लिए सम्माननीय डॉ. सिंगिरेड्डी नारायण रेड्डी आंध्र भारती का आशीर्वाद लेकर भारत भारती के प्रांगण में पदार्पण कर रहे हैं. करीमनगर को कर्म-भूमि और हैदराबाद को काव्य-भूमि बनाकर आंध्र का मुख उज्जवल करने वाले तरुण कवि डॉ. रेड्डी का इस महानगर में स्वागत और अभिनंदन करता हूं.'

पुरस्कार प्रवर परिषद के अध्यक्ष की हैसियत से वर्ष 1988 के ज्ञानपीठ पुरस्कार के लिए डॉ. नारायण रेड्डी के चयन के संदर्भ में चयनित कवि की साहित्यिक उत्कृष्टता का उल्लेख करते हुए श्री पा.वें. नरसिंह राव ने कहा– 'आज हम डॉ. सी. नारायण रेड्डी को उनके 1968 और 1982 के मध्य तेलुगु में लिखित सर्जनात्मक साहित्य के लिए वर्ष 1988 के 24वें ज्ञानपीठ पुरस्कार से सम्मानित कर रहे हैं..... सत्यनारायण से नारायण रेड्डी तक तेलुगु साहित्य में जो उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है उस पर भी हमारा ध्यान जाता है. गत शताब्दी के अंतिम दशक में अवतीर्ण होकर विश्वनाथ तेलुगु साहित्य पर आठ दशकों तक छाये रहे, जबकि अपनी षष्टिपूर्ति की ओर उन्मुख डॉ. रेड्डी मंदस्मित ज्वालाओं के बीच मानवता के मधुर गीत गाते हुए अभ्युदय की ओर अग्रसर हो रहे हैं.'

नरसिंह राव जी के विद्वत्तापूर्ण भाषण के पश्चात श्रीमती अलका जालान ने प्रशस्ति-पाठ किया जिसमें कहा गया है कि 'डॉ. नारायण रेड्डी कवि, आलोचक, गीतकार, नाटककार, शिक्षाविद् तथा वक्ता के रूप में आधुनिक तेलुगु साहित्य में विशिष्ट स्थान रखते हैं. गुंजायमान स्वर एवं भाषा-संगीत पर मनोहर अधिकार के धनी डॉ. रेड्डी में एक सर्जक की प्रतिभा और एक वक्ता के आकर्षण का अद्भुत योग है. उनकी समस्त रचनाओं में गीतात्मक स्वच्छंदतावाद, आशावादी मानववाद, प्रगतिशील आदर्शवाद तथा स्वस्थ यथार्थवाद का एक सुरम्य सम्मिश्रण है.'

प्रशस्ति-पाठ के उपरांत पुरस्कार-समर्पण की प्रक्रिया के अनुरूप मुख्य अतिथि ने पुरस्कार-विजेता का तिलक किया, वाग्देवी की प्रतिमा तथा प्रशस्ति-पट्टिका समर्पित कीं और नारियल के साथ डेढ़ लाख रुपये की पुरस्कार-राशि भेंट की.

इस भव्य तथा हार्दिक सम्मान के प्रति आभार व्यक्त करते हुए डॉ. रेड्डी ने सबसे पहले पुरस्कार के संस्थापक साहू शांतिप्रसाद जैन का स्मरण किया, 'इस महिमामय देश के समस्त सारस्वत-सेवियों की ओर से इस स्पृहणीय पुरस्कार के प्रतिष्ठापक श्री साहू शांतिप्रसाद जैन की पवित्र आत्मा को मैं सकृतज्ञ प्रणाम करता हूं. लोक कल्याण की भावना से भारतीय साहित्य के क्षेत्र में सृजनात्मक मौलिक लेखन के उद्देश्य से इस स्पृहणीय पुरस्कार की स्थापना करने में उनकी वदान्यता और उदात्ता का प्रमाण मिलता है.'

ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता के सम्मान मे आयोजित अनौपचारिक मिलन-गोष्ठी का एक आत्मीय दृश्य . .

उन्होंने अपनी काव्य-प्रेरणाओं को स्पष्ट करते हुए बताया, 'गांव ने मुझे गीत दिया और शहर ने मुझे शब्द दिये. बचपन में गांव में मैंने जो लोकगीत सुने, हरिकथाएं देखीं, वे ही

मेरे आदिम गुरु हैं. शहर में, नगर में, जो नाटक और चलचित्र मुझे देखने को मिले वे ही बाद में मेरे शिक्षक बन गये. आगे चलकर मैंने इन चार पंक्तियों में अपने साहित्यिक व्यक्तित्व को चतुर्मुखी रूप में प्रकट करते हुए लिखा:

चलना मेरी माता है
दौड़ना मेरे पिता.
समता मेरी भाषा है
कविता मेरी सांस.

अभिभाषण के पश्चात् सिनारे ने हिंदी अनुवाद सहित अपनी एक गजल तथा नवरचित प्रपंचपदियों का पाठ किया. प्रो. भीमसेन निर्मल द्वारा हिंदी में अनूदित 'विश्वंभरा' के कुछ अंशों का श्रीमती हेमासिंह द्वारा प्रस्तुत नाटकीय काव्यवाचन भी सराहा गया.

समारोह के मुख्य अतिथि महामहिम उपराष्ट्रपति जी ने राष्ट्रीय अखंडता बनाये रखने में लेखकीय भूमिका के महत्व को निरूपित करते हुए कहा, 'लेखक और साहित्यकार देश को जोड़ने का क्रम करते हैं. उनका साहित्य जन-जन को प्रभावित और प्रेरित कर राष्ट्रीय अखंडता की आधारशिला रखता है. इसलिए जो देश अपने लेखकों, साहित्यकारों और विद्वानों का सम्मान नहीं करता, वह देश कभी विकास नहीं करता.' इस दिशा में ज्ञानपीठ के योगदान की प्रशंसा करते हुए डॉ. शर्मा ने कहा, 'भारतीय ज्ञानपीठ ने गत अनेक वर्षों में विभिन्न भाषाओं के साहित्यकारों को सम्मानित कर देश की एकता के लिए बड़ा काम किया है. इस कार्य से विभिन्न भाषाएं निकट आयी हैं. एक-दूसरे का साहित्य पढ़कर लोगों के बीच की दूरियां कम हुई हैं. इस बड़े काम के लिए भारतीय ज्ञानपीठ बधाई का पात्र है. साहू शांतिप्रसाद जैन और उनकी धर्मपत्नी रमा जैन ने वर्षों पहले भारतीय भाषाओं के साहित्य को निकट लाने का जो स्वप्न देखा था ज्ञानपीठ उसे पूरा कर रहा है.' डॉ. शर्मा ने विभिन्न भारतीय भाषाओं के अनुवाद को बढ़ावा देने पर भी बल दिया. इस अवसर पर मुख्य अतिथि ने भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित डॉ. सी. नारायण रेड्डी के प्रतिनिधि हिंदी काव्य-संग्रह 'कविता मेरी सांस' का विमोचन किया.

अंत में भारतीय ज्ञानपीठ के न्यासी श्री रमेश चंद्र ने अपनी काव्यात्मक शैली में उपस्थित महानुभावों को धन्यवाद दिया. □

—बालस्वरूप राही

'खंडित राग' का लोकार्पण

प्रसिद्ध आलोचक और चिंतक प्रो. कल्याणमल लोढ़ा ने डा. वीरेंद्र सक्सेना के सद्य प्रकाशित उपन्यास 'खंडित राग' का लोकार्पण करते हुए कहा कि यह उपन्यास एक अच्छा मनोवैज्ञानिक उपन्यास है. इसमें घटनाओं के साथ-साथ स्थितियों का भी बड़ा ही सूक्ष्म चित्रण उपलब्ध है और इसके कई पात्र चुनौती के रूप में हमारे सामने आते हैं. इससे पहले डा. रतन लाल शर्मा ने उपन्यास के प्रेम प्रसंगों पर आपत्ति करते हुए उन्हें बीमार मानसिकता की अभिव्यक्ति बताया था. लेकिन डा. हरदयाल, डा. रणवीर रांग्रा, डा. दर्शन सेठी, डा. विद्या शर्मा तथा श्री जगदीश चतुर्वेदी ने डा. शर्मा का विरोध किया और 'खंडित राग' के कथ्य और शिल्प की उल्लेखनीय विशेषताओं को रेखांकित किया.

विचार गोष्ठी में जो विभिन्न प्रकार के मत सामने आये, उनका समाहार श्री राजेंद्र अवस्थी ने किया. अपने अध्यक्षीय वक्तव्य में उन्होंने कहा कि आलोचकों को किसी कृति पर विचार करते समय गुटबाजी से दूर रहना चाहिए. अंत में उन्होंने डा. सक्सेना की पिछली कृतियों का उल्लेख करते हुए इस उपन्यास की भी प्रशंसा की. यह गोष्ठी 'आथर्स गिल्ड आफ इंडिया' के दिल्ली चैप्टर की ओर से आयोजित थी, जिसका संचालन डा. गंगा प्रसाद विमल ने किया. इस अवसर पर फ्रांसीसी लेखक श्री ग. सोरमन की पुस्तक 'फ्रीडम आन बेल' का श्री लक्ष्मीमल सिंघवी द्वारा लोकार्पण भी संपन्न हुआ जिसमें पुस्तक के लेखक ने भी अपने विचार प्रस्तुत किए. □

'अलविदा' का विमोचन

पिछले दिनों जयपुर में स्थानीय रवींद्र मंच पर आल इंडिया सिंधु कल्चरल सोसायटी द्वारा एक सांस्कृतिक कार्यक्रम का आयोजन किया गया. इस कार्यक्रम में विशेष तौर पर आमंत्रित, महाभारत में गांधारी की भूमिका निभा रही कुमारी रेणुका इसरानी ने प्रसिद्ध हिंदी व सिंधी साहित्यकार भगवान अटलानी के सिंधी में रचित व प्रकाशित एकांकी संग्रह 'अलविदा' का विमोचन किया. □

नाटक

'माटी मटैल' : अलग पहचान

प्रारंभिक दृश्य से ही दर्शक नाटक के साथ एक कौतूहल मन में संजोये जुड़ जाता है. धीरे-धीरे आगे बढ़ता यह नाटक कुशल दृश्य संयोजन से सामूहिक जीवन के उस सत्य से साक्षात कराता 'है जहां सभी के दुख और सुख साझे होंगे. पर यही सत्य जब विखंडित हो जाता है तब...? नेता यहां भी हास्य प्रस्तुत करने वाला पात्र भर बनकर रह जाता यदि देशजनीन सामाजिक समस्याओं के संदर्भ साथ-साथ नहीं चलते. यही गुण यहां नाटक की शक्ति बनकर सामने आया है. आगे बढ़ते चले जाने के खोखले नारों के बीच लगातार पीछे छूट रहा देश दरअसल इस नाटक की 'मूल वस्तु' है.

देखकर भुला दिये जाने वाले नाटकों से एक दम अलग श्रीराम सेंटर के तलघर में मंचित यह नाटक मौजूदा सच्चाइयों का प्रामाणिक दस्तावेज है. 'ट्रांस यमुना थियेटर वर्कशाप' के तत्वावधान में 'अनुकृति नाट्य मंच' की यह प्रस्तुति अजय रोहेल्ला के निर्देशन में नया ही आलोक लेकर आयी है. यहां पात्र विशेष की अपेक्षा समूची 'टीम' का अभिनय नाटक को वजन देता है. छोटे बच्चों की बहुत छोटी भूमिका भी यहां बहुत अधिक प्रभाव छोड़ती है.

मूर्तिदेवी पुरस्कार घोषित

वरिष्ठ कथाकार विष्णु प्रभाकर को 1988 के मूर्तिदेवी पुरस्कार से सम्मानित किए जाने की घोषणा पिछले दिनों पुरस्कार निर्णायक मंडल के सदस्य डॉ. लक्ष्मीमल सिंघवी ने की. विष्णुजी को यह सम्मान उनकी कृति 'सत्ता के आर पार' पर दिया जायेगा. प्रशस्ति पत्र, श्रुतदेवी सरस्वती की प्रतिमा व 51,000 रु. का यह सम्मान साहित्य जगत में विशेष महत्व रखता है. पुरस्कृत नाट्यकृति में इस युग के प्रथम तीर्थंकर भृषभदेव के पुत्र बाहुबली के जीवन को चित्रित किया गया है. मूर्तिदेवी पुरस्कार की स्थापना 1983 में की गयी थी. पहला मूर्तिदेवी पुरस्कार कन्नड़ के सी.के. नागराज राव को उनकी कृति 'पट्टमहादेवी शांतला' पर प्रदान किया गया था. 'सारिका' की बधाई!

गोष्ठी

भारतीय प्रसारण विविध आयाम

पिछले दिनों राजधानी के हिमाचल भवन सभागार में डा. मधुकर गंगाधर की प्रवीण प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित महत्वपूर्ण पुस्तक भारतीय प्रसारण विविध आयाम पर एक संगोष्ठी आयोजित की गयी. गोष्ठी की अध्यक्षता रेल मंत्री जार्ज फर्नांडीज ने की. विषय प्रवर्तन करते हुए राजेंद्र अवस्थी ने इस पुस्तक को भारतीय भाषाओं में इन माध्यमों पर लिखी गयी पहली और प्रामाणिक पुस्तक बताते हुए पुस्तक के बहाने सूचना माध्यमों की स्वायत्तता पर विचार करने का आहवान किया. अध्यक्ष जार्ज फर्नांडीज ने अपने स्पष्ट वक्तव में संकेत दिया कि दूरदर्शन की स्वायत्तता से कहीं अहम् प्रश्न है दूरदर्शन को विज्ञापनों से मुक्त करना. पुस्तक पर डा. नामवर सिंह, कमलेश्वर, डा. गंगा प्रसाद विमल, चिरंजीत ने भी अपने विचार व्यक्त किये. सभी ने एक स्वर से इस ग्रंथ को सर्वथा उपयोगी और महत्वपूर्ण स्वीकारा साथ ही स्वायत्तता पर अपने-अपने विचार प्रकट किये. डा. नामवर सिंह ने लेखक को इस सूचना परक ग्रंथ के अतिरिक्त अपने अनुभवों पर आधारित 'साहित्यिक' कृति की अपेक्षा जाहिर की. गोष्ठी का संचालन कवि बलदेव बंशी ने किया

हिमांशु जोशी पुरस्कृत

पहला वीरेंद्र भट्ट पुरस्कार पाने के लिए सारिका परिवार की ओर से कथाकार-पत्रकार हिमांशु जोशी को हार्दिक बधाई. श्री जोशी को यह पुरस्कार भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री राजीव गांधी के हाथों उनके निवास पर आयोजित एक सादे समारोह में दस हजार रुपये, एक शॉल तथा सरस्वती की प्रतिमा के रूप में मिला.

अपने पति की स्मृति में आयोजित इस पुरस्कार के संबंध में मयूरी भारद्वाज का कहना है कि अगले वर्ष से यह पुरस्कार साहित्य तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में विशेष योगदान के लिए प्रतिवर्ष तीन व्यक्तियों को दिया जायेगा. □
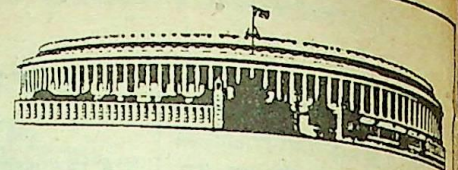
आज़ादी के स्तम्भ

नवम्बर के तीसरे हफ्ते में
भारत के लाखों स्त्रियों व पुरुषों ने,
युवाओं और वृद्धों ने
अपने मताधिकार का प्रयोग किया।
यहां सत्ता-परिवर्तन कई
अन्य देशों की तरह नही,
बल्कि लोकतांत्रिक तरीके से,
निर्बाध रूप से पर बड़ी तेजी से हुआ।
इस चुनाव से हमने एक बार फिर
सारी दुनिया को दिखा दिया कि
स्वतंत्रता और लोकतंत्र में
हमारी कितनी आस्था है,
और इससे हमें कितनी ताकत मिली है।
हमने आज़ादी व आस्था की
जो मशाल जलाई है,
उसे हम सदा प्रज्ज्वलित रखेंगे।
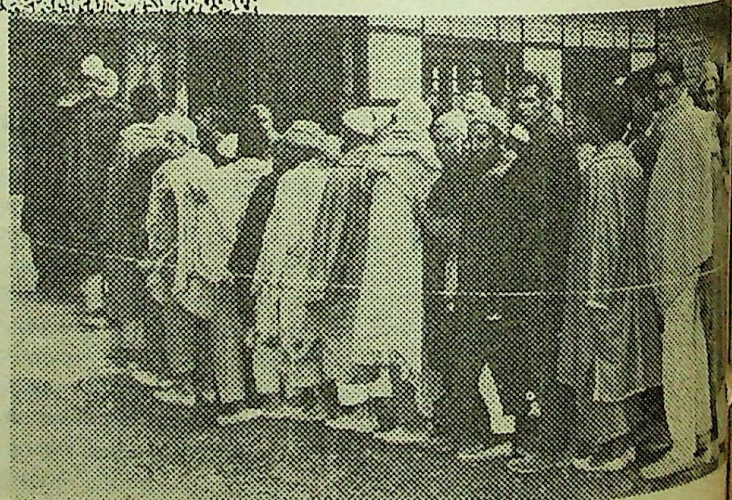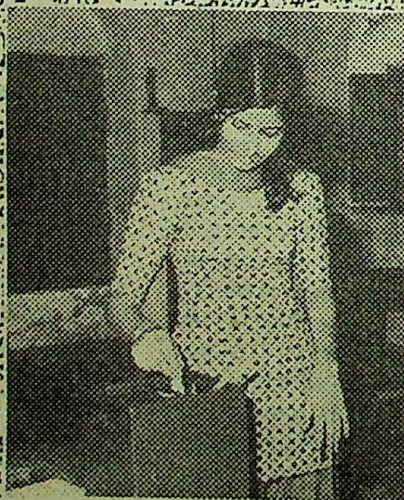
जनता की आवाज़
राष्ट्र की आवाज़

डीएवीपी 89/968

विश्व पुस्तक मेले पर विशेष

पुस्तक उद्योग परिशिष्ट

प्रकाशन जगत की समस्याएं और प्रकाशक–
पाठक-लेखक के अंतर्संबंध

पाठक और लेखक की नहीं, अब सरकारी खरीद की राह जोहता है हिंदी का प्रकाशन-व्यवसायी

●

'नवां नयी दिल्ली विश्व पुस्तक मेला' प्रगति मैदान, नयी दिल्ली में 13 से 18 फरवरी तक पाठकों, प्रकाशकों, लेखकों और पुस्तक विक्रेताओं के लिए आकर्षण का प्रमुख केंद्र रहेगा. रोशनी की जगमगाहट और तकनीक के विकास के चलते छपाई में दिनोंदिन आकर्षक होती जा रही किताबें पाठकों को लुभाएंगी... 'आओ, हमें देखो और अपने साथ ले जाओ!'

प्रकाशन जगत की समस्याओं तथा प्रकाशक, लेखक और पाठक के अंतर्संबंधों पर आयोजित विशेष परिचर्चा –

हिंदी प्रकाशन उद्योग में इधर के कुछ वर्षों में ऋणात्मक परिवर्तन आया है. भारत के उपराष्ट्रपति डा. शंकरदयाल शर्मा ने आठवें विश्व पुस्तक मेला के उद्घाटन भाषण में कहा था कि देश में मरते हुए पुस्तक प्रेम को जागृत करना होगा और इसकी पूरी जिम्मेदारी प्रकाशकों के ऊपर है. डा. शर्मा का मानना था कि ज्यादा कीमती पुस्तकें बंद आलमारियों की शोभा बढ़ाती हैं अथवा आदमी के बजाय दीमकों के काम आती हैं. उनका कहना था कि पुस्तकें न तो ताले में बंद रखने की चीज हैं और न दीमकों के उपयोग की. पुस्तकों का सीधा संबंध पाठकों से है. यदि पुस्तकें पाठकों के पास न पहुंचीं, तो न लेखक उपकृत होगा और न पाठक ही. महंगी पुस्तकों का दर्द उपराष्ट्रपति ही नहीं, वरन् हर पाठक झेल रहा है. उससे हमारा चिंतन घायल हो रहा है. हिंदी की अस्मिता गहराई के घेराव में आ गयी है... इसी तरह हिंदी प्रकाशक संघ के तीसवें अधिवेशन में तत्कालीन शिक्षामंत्री श्री नरसिंह राव को कहना पड़ा कि आखिर क्या बात है कि हिंदी का एक प्रकाशक एक हजार पृष्ठ की पुस्तक का दाम पांच सौ रुपया रखता है, दूसरा तीन सौ रुपया रखता है और तीसरा उतने ही पृष्ठों की पुस्तकों का दाम महज तीस रुपया रखता है: दामों में इतना फर्क आखिर क्यों पड़ता है? हिंदी के प्रकाशकों को इस संदर्भ में सोचना होगा.

संभवतः प्रकाशक मान बैठे हैं कि देश के निजी पाठक को न तो किताबों की जरूरत है न वह किताब खरीद सकता है. इसलिए इतना दाम रखो कि पुस्तकालयों और पुस्तक विक्रेताओं को भारी कमीशन देकर भी लंबा मुनाफा कमाया जा सके.

अफसोस इस बात का भी है कि आज से चार दशक पूर्व प्रकाशन का व्यवसाय करनेवाले लोग साहित्य को प्रमुखता देते थे, मुनाफे को नहीं. पर आज मुनाफे की ज्यादा फिक्र की जाती है. आजाद भारत में एक शब्द बहुत तेजी से प्रचलित हुआ है, वह है सप्लाई. ईंट बालू की तरह पुस्तकों की सप्लाई के ठेकेदार और आर्डर देनेवाला अफसर मालामाल हो रहे हैं. जिस पाठक के नाम पर यह सब हो रहा है वह पूरे सीन से गायब है. जिस तरह अर्थ शब्द की शक्ति है उसी तरह पाठक लेखक की शक्ति है लेकिन पाठक और लेखक के बीच में बैठे ब्रह्मराक्षस ने दोनों की खुशी और सुख छीन लिया है.

आज हिंदी प्रकाशन बिचौलियों के हाथ में है ठीक उसी तरह जैसे सप्लाई और ठीकेदारी का काम हुआ करता है. इसका परिणाम यह हुआ कि व्यावसायिकता ही इस पेशे में प्रधान हो गयी. पाठकों की ओर प्रकाशकों ने आंखें मूंद लीं. उनकी दृष्टि केवल थोक खरीद की ओर हो गयी. पाठक प्रकाशक की ओर से उपेक्षित हो गया. इस भयावह स्थिति से प्रकाशक की व्यावसायिक पवित्रता नष्ट होती जा रही है. दूसरे आज तकनीकी विकास से मुद्रण ऐसी स्थिति में पहुंच गया है कि छपाई में सफाई के साथ ही सस्तापन भी आ गया है. आम स्थिति इतनी संकटापन्न है कि नयी प्रतिभाओं को प्रकाशन के अवसर नहीं मिलते. सरकारी योजनाओं में पुस्तकें कौन-सी खरीदी जायें, कौन-सी नहीं, यह काम भी एक सरकारी संस्था ही तय करने लगी है, और वह भी ऐसी संस्था जो स्वयं भी प्रकाशक ही है. ऐसे में वही कहावत चरितार्थ होने के आसार नजर आ रहे हैं कि अंधा बांटे रेवड़ी मुड़-मुड़ अपनों को देय.

एक वरिष्ठ प्रकाशक का उपरोक्त वक्तव्य पढ़कर मन में कई सवाल उभरे. हमें यह जानने की तीव्र इच्छा हुई कि क्या और भी कुछ ऐसे प्रकाशक हैं जो इस पूरे परिदृश्य के प्रति चिंतित हों? क्या ये तमाम चिंतितजन अपनी चिंता को सामूहिक चिंता बनाकर कोई प्रभावी कदम उठा सकते हैं? आदि-आदि. और हम इन सवालों को लेकर विभिन्न प्रकाशन संस्थानों के संचालकों के दरवाजे पर दस्तक दे बैठे. परिणामतः जो विचार हम तक आये वे हम पाठकों तक प्रेषित कर रहे हैं...

सबसे पहले हमारी मुलाकात हुई आर्य बुक डिपो के संचालक श्री सुखपाल गुप्त से. उन्होंने न केवल साहित्यिक पुस्तकों के वरन् सामान्य और पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशकों की समस्याएं भी उजागर कीं.

सरकार की ढुलमुल नीतियों का बखान किया और कुछ ऐसे सुझाव भी जाहिर किए जिन्हें अमल में आने पर पाठक, लेखक, प्रकाशक और सरकार सभी का भला हो सकता है. उन्होंने बताया कि : आज से कुछ वर्ष पहले पुस्तक प्रकाशन की दृष्टि से भारत सातवें नंबर पर था मगर यूनेस्को की ताजा रपट के अनुसार आज सत्रहवें नंबर पर है. वजह, सरकार प्रकाशकों को प्रोत्साहित नहीं कर रही है. अच्छे साहित्य की बिक्री कम होती जा रही है. हमारे देश में कागज के दाम दुनिया में सबसे ज्यादा हैं और स्तर सबसे घटिया. विज्ञापन की दरें इतनी अधिक हैं कि प्रकाशित साहित्य की जानकारी आम पाठक तक नहीं पहुंच पाती. विदेशों को हमारे निम्न स्तर के, छोटे और मध्यम वर्ग के प्रकाशक तो खरीदार तक नमूना भी नहीं पहुंचा सकते. डाक व्यय इतना ज्यादा है कि पूछिये मत. नया कदम उठाने के लिए प्रकाशक के पास ऐसा कोई आर्थिक साधन नहीं है कि वह निजी ग्राहक तक पहुंचे जबकि हर पुस्तक की अपनी एक अलग स्वतंत्र सत्ता है.

> **हमें पाठकों के लिए सर्वेक्षण कराना चाहिये. इसके कभी-कभी चौंकाने वाले तथ्य हमारे सामने आते हैं. अभी तक विश्वास था कि बंगाल में जनसंख्या के अनुपात की दृष्टि से सबसे अधिक पाठक हैं, पर डेली टेलीग्राम के एक सर्वेक्षण से पता चला कि बिहार में पाठकों की संख्या सबसे अधिक है.**
>
> **एक दूसरा आश्चर्यजनक तथ्य बंगाल भाषा के माध्यम से और आया है. प्रवासी भारतीयों के लिए प्रवासी आनंद बाजार पत्रिका छपता है, जिसमें आधे से अधिक सामग्री सांस्कृतिक एवं साहित्यिक होती है.**

यदि प्रकाशकों को, लेखकों को जीवित रखना है तो सरकार से मेरी पुरजोर मांग है कि सरकार अपनी खरीद नीति बदले जिसमें किसी भी सरकारी संस्था चाहे वह स्कूल हो, वि.वि. या अर्ध सरकारी उपक्रम, अनुदान का 50 प्रतिशत कम से कम भारतीय प्रकाशकों और भारतीय लेखकों द्वारा लिखी पुस्तकों के लिए निर्धारित रखनी चाहिए. भारतीय प्रकाशकों को पुनः एंट्री डबल क्यो (आयकर में छूट) का लाभ दिया जाये. अन्य लघु उद्योगों की तरह प्रकाशकों को भी सस्ते ब्याज पर रुपया ऋण देना चाहिए. यह ऋण पुस्तकों के स्टॉक पर भी दिया जा सकता है. जहां भी नयी कालोनी बसायी जाये वहां एक दुकान पुस्तकों के लिए विशेष रूप से सुरक्षित होनी चाहिए जिसका किराया कम से कम हो. और जो किसी अनुभवी व्यवसायी को आवंटित हो. भारत सरकार यदि वास्तव में पठन-पाठन को प्रोत्साहित करना चाहती है तो पुस्तकालय अधिनियम बिना किसी विलंब के पास करे. आजकल भारत सरकार की नयी शिक्षा नीति चल रही है. आपरेशन ब्लैक बोर्ड, जिसके अंतर्गत बाल साहित्य खरीदा जा रहा है. मगर वह केवल सरकारी है. जो सूची सरकार ने जारी की है उसमें केवल सरकारी प्रकाशनों को ही तरजीह दी है. उतनी बड़ी योजना को सुचारुरूप से चलाने, जारी रखने के लिए यह आवश्यक है कि देश में एक बाल साहित्य अकादमी बनायी जानी चाहिए.

हमारे माननीय प्रधानमंत्री श्री वी.पी. सिंह ने अपनी पहली घोषणा में सभी बंद पड़ी मिलों को चालू करने की बात कहीं है. भारत में सबसे बड़ी चार कागज मिलें रोहतास अशोका, टीटागढ़ और बंगाल पेपर मिल बंद पड़ी हैं. आजकल नयी शिक्षा नीति में हमें बहुत कागज की आवश्यकता होगी. यदि समय रहते हमने इस ओर ध्यान नहीं दिया तो सब नीतियां विफल होकर रह जायेंगी. परिणाम यह रहेगा कि जहां आज हम पर विदेशी 'रिमेंडर' पुस्तकें थोपी जा रही हैं कल को विदेशी कागज व्यापारी भी हम पर हावी हो जायेंगे.

इसी तरह पाठ्य पुस्तक व्यवसायियों की भी समस्याएं हैं. जैसे प्रति दो वर्ष बाद शिक्षा में जो प्रयोग होते हैं उनका सीधा प्रभाव पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशकों और विक्रेताओं पर पड़ता है. प्रतिवर्ष पाठ्यक्रमों में आमूल चूल परिवर्तन, सरकार की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक नीतियों के कारण पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में बहुत बडा असर होता है जिसके कारण इन पुस्तकों के प्रकाशकों और विक्रेताओं को अपना अधिकतम स्टाक रद्दी में बेचना पड़ता है. विकासशील देश में हो रही प्रयोगों के कारण आर्थिक बोझ बहुत बढ़ जाता है और व्यवसाय सुचारुरूप से चला नहीं पाते. कागज की मूल्यवृद्धि के चलते पाठ्य पुस्तकों की खरीद पर असर पड़ता है और इसका प्रकारांतर से शिक्षा पर असर पड़ता है. मेरा सुझाव है कि पाठ्यक्रमों का तीन या पांच वर्ष तक लागू रहना लाजिमी होना चाहिए. पाठ्यक्रमों के राष्ट्रीयकरण के दुष्परिणाम भी सामने आने लगे हैं. पाठ्यपुस्तकें सस्ती हों इसके लिए सरकार को पहले की तरह कम मूल्य पर कागज उपलब्ध कराना चाहिए.

सबसे प्रमुख बात यह है कि विदेशी पुस्तकों ने भारत भूमि को एक डंपिंग राउंड बना लिया है और उन पुस्तकों ने हमारे पाठकों के मन को इस तरह झकझोर दिया है कि आनेवाली नस्लों में भारतीयता, राष्ट्रीयता, नैतिकता जैसे नैतिक मूल्यों का स्थान ही नहीं रहा. इसी का सबसे बड़ा प्रभाव है कि पाश्चात्य संस्कृति हमारे देश के बच्चों में, युवा वर्ग में बुरी तरह घर कर गयी है. हमारे सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास हो रहा है. इसलिए ओ.जी.एल. (ओपन जनरल लाइसेंस) खत्म होना चाहिए. बिना किसी पाबंदी के विदेशी पुस्तकों का जो आयात हो रहा है उस पर अंकुश हो. मेरा स्पष्ट मत है कि फ्लो ऑफ नालेज, ज्ञान का प्रचार-प्रसार खुली आंखों और खुले दिमाग के द्वारा होना चाहिए. विदेशों में हो रही खोज, शोध हमारे पाठकों को मालूम होनी चाहिए मगर जो पुस्तकें विदेशों में अनुपयोगी पायी जाने पर खारिज कर दी जाती हैं उन्हें विदेशी प्रकाशक अपने हित में हमारे देश में धकेल देते हैं इससे हमारा पाठक भ्रष्ट और भारतीय त्रस्त हो रहा है. इन पर रोक लगनी ही चाहिए.

हम जनता के दरवाजे तक पहुंचेंगे

☐ **डा. नारायणदत्त पालीवाल**

हिंदी अकादमी के सचिव डा. नारायणदत्त पालीवाल की पहचान 'कुमाउंनी कवियों का विवेचनात्मक अध्ययन' जैसे शोध और 'कुमाउंनी हिंदी शब्द-कोश', 'प्रशासनिक अंग्रेजी हिंदी शब्द कोश', 'आधुनिक हिंदी का प्रयोग' व 'हिंदी कार्य निर्देशिका' सरीखी पुस्तकों से तो है ही, हिंदी के प्रचार-प्रसार के लिए किये गये हिंदी अकादमी के आयोजनों से भी है. उनसे हुई बातचीत के दौरान हिंदी पढ़ने-पढ़ाने व महत्वपूर्ण योजनाओं के संदर्भ में खासी जानकारी मिली. डा. पालीवाल ने बताया, पुस्तक, प्रकाशक और लेखक के साथ में पाठक का तालमेल नितांत जरूरी है. आजकल प्रकाशन संस्थाएं विशेष दृष्टिकोण को लेकर चलने लगे हैं, प्रायः वे विविध प्रकार की सरकारी खरीद के प्रभाव में चलते दिखायी देते हैं. विशेष प्रकार व विषय की पुस्तक विशेष क्षेत्र में देखी जाये.... यह ध्यान में रखा जाता है. ऐसे में किताबें विषय विशेष तक सीमित रह जाती हैं भले ही जन सामान्य उनसे लाभ उठाये या नहीं.

हमारे यहां, पुस्तक खरीदकर पढ़ने की आदत विकसित नहीं हो पाई है. पाठक का स्वभाव अध्ययनशील हो... इस दिशा में हम बहुत पीछे हैं. प्रकाशक किताबों की कीमतें बहुत अधिक रखते हैं. मजबूरी उनकी भी है. बावजूद इसके यह भी जाहिर है कि अब जन सामान्य जागरूक हो गया है... यही वजह है कि जन सामान्य के हित में उपयोगी किताबों के प्रकाशन की संभावना प्रबल हुई है. इससे पहले स्थिति यही रही है कि प्रकाशक एक खास 'केलकुलेटेड मूव' के तहत किताबें छापता था. वह पुस्तक छापने से पहले ही व्यावसायिक हित तौलकर देख लेने का आदी हो गया था. जागरूक नागरिक की जिम्मेदार भावना उसमें कम ही देखी गयी.

अकादमी को मैं पुस्तक प्रकाशन के काम से सीधे जोड़ना ठीक नहीं समझता. यदि अकादमी उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित कर दायित्व निर्वाह कर सके तो यह बड़ा काम होगा. पर इससे पहले हमें यह जरूर ध्यान में रखना होगा कि सरकारी संस्थानों की किताबों की तरह वे गोदाम की शोभा ही न बढ़ाती रह जाएं. कम कीमत पर अधिक उपयोगी किताबें यदि प्रकाशित करने का कोई रास्ता निकल पाता है तो जरूर इस दिशा में विचार किया जा सकता है. हमारे यहां युवा पीढ़ी को प्रोत्साहित करने के लिए प्रकाशन सहयोग दिये जाने की व्यवस्था है. इससे प्रकाशन उनकी किताबें छापने में रुचि भी दिखाते हैं और उतने ही मूल्य की किताबें अकादमी को मिल भी जाती हैं. हम ये पुस्तकें सार्वजनिक पुस्तकालयों में भेज देते हैं. इससे लेखक तो प्रोत्साहित होते ही हैं... पाठकों को भी नयी रचनाशीलता से परिचित होने का अवसर मिलता है. स्वयं प्रकाशित न करने का कारण यही है कि अन्य संस्थानों की तरह पैसे की बरबादी से हम बचे रहना चाहते हैं.

पाठकों में पढ़न की आदत डालने की दृष्टि से हम अकादमी की ओर से विविध आयोजन करते हैं. इनमें भाषा, साहित्य और साहित्यकारों पर केंद्रित आयोजन तो शामिल हैं ही, युवा प्रतिभाएं किस तरह रचना करने की दिशा में प्रवृत्त हों, यह भी ध्यान में रखा जाता है. भाषा से लगाव पैदा करना भी हमारे महत्वपूर्ण उद्देश्यों में एक है.

विश्वविद्यालयों में नयी पौद को इस ओर आकर्षित करने की दृष्टि से भी प्रायः गोष्ठियां आयोजित की जाती हैं. नवोदित लेखकों के लिए कहानी, कविता व नाटक आदि विधाओं पर प्रतियोगिताएं भी इसी दृष्टि से आयोजित की जाती हैं. पुरस्कृत रचनाएं पुस्तक रूप में भी छापी जाती

हैं. कालेज व विश्वविद्यालयों के वार्षिक आयोजनों में भी हिंदी से संबंधित कार्यक्रम आयोजित कराने के प्रयास रहते हैं.

दिल्ली में अकादमी के 60 केंद्र पुस्तकालयों के हैं. समाचार पत्र और पत्रिकाएं भी यहां उपलब्ध रहती हैं. कोर्स की कुछ पुस्तकें यहां आर्थिक दृष्टि से कमजोर छात्रों के लिए रखवाई जाती हैं तो हिंदी की प्रतियोगी परीक्षाओं से संबद्ध साहित्य भी. पढ़ने की आदत यहीं से बननी शुरू होती है. बाल पाठकों के लिए भी सत्साहित्य यहां उपलब्ध रहता है और परंपरा, प्रकृति, भूगोल और इतिहास के साथ-साथ महापुरुषों के जीवन पर भी पुस्तकें उपलब्ध करायी जाती हैं. रैन बसेरों, रेलवे स्टेशनों और सरकारी संस्थानों पर भी हमारे यहां से साहित्य उपलब्ध कराया जाता है. हिंदी टाइप और आशुलिपि के लिए गांधी हिंदुस्तानी साहित्य सभा के सहयोग से कक्षाएं चलाई जाती हैं. स्वैच्छिक संस्थाओं को सहयोग तो हम देते ही हैं निःशुल्क वितरण योजना के तहत हम पुरस्कृत पुस्तक की 250 प्रतियां भी खरीदते हैं.

हिंदी के प्रचार-प्रसार को व्यावहारिक गति देने के लिए इस वर्ष हम जनता के दरवाजे तक पहुंचेंगे. मंडी हाउस तक ही सीमित नहीं रहना है हमें. साक्षरता से संबंधित एक योजना इधर प्रारंभ होने को है. कुछ अध्यापक, जो गांवों में जाकर साक्षरता अभियान को साकार करेंगे... नियुक्त किये गये हैं. प्रारंभ में इस काम के लिए महरौली और नांगलोई दिशा के दो गांव चुने गये हैं. दिल्ली के देहात के निरक्षरों को साक्षर बनाने की इस महत्वाकांक्षी योजना में हम विकास खंडों और ग्राम पंचायतों का सहयोग लेंगे. यह नयी योजना है और हम इसे पूरी गंभीरता से व्यावहारिक स्तर तक पूरा करेंगे. जहां तक समसामयिक साहित्य से जुड़ने और विविध भाषाओं के समकालीन साहित्य को हिंदी के माध्यम से सामने लाने की बात है 'इंद्रप्रस्थ भारती' एक साहित्यिक पत्रिका के रूप में अपनी जगह बनाने में बहुत कम समय में खासी सफल रही है. □

हिंदी प्रकाशन उद्योग लोभ का शिकार हो गया है

□ कृष्णचंद्र बेरी

भारतेंदु समग्र, बंकिम समग्र, देवकी नंदन खत्री समग्र, के बाद प्रसाद समग्र, शरत् समग्र, वृंदावनलाल वर्मा समग्र जैसी रचनावलियां कम मूल्य पर, आकर्षक साज सज्जा के साथ पाठकों को उपलब्ध करवाने जैसा क्रांतिकारी निर्णय लेकर उस पर लगातार अमल कर रहे हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी के संचालक श्री कृष्णचंद्र बेरी हिंदी प्रकाशन उद्योग को लेकर मन से चिंतित हैं. अपनी सतत् चिंता को वे समय-समय पर व्यक्त भी करते रहे हैं. इसी दृष्टि से हिंदी प्रचारक पत्रिका के नवंबर, 89 अंक के संपादकीय में उपरोक्त शीर्षक के तहत श्री बेरी ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है कि—आज हिंदी के रथ की गति इसलिए मंद हो गयी है क्योंकि न अर्जुन जैसे योद्धा (लेखक) रहे और न कृष्ण (प्रकाशक) जैसा सारथी. आज न प्रसाद हैं, न निराला हैं, न पंत हैं, न प्रेमचंद हैं और न रामचंद्र शुक्ल. इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि हिंदी में रचनाकार नहीं हैं और न रचना हो रही है. इसके विपरीत रचना और रचनाकारों की बाढ़-सी आ गयी है. पर इस बाढ़ में कितना स्थायी रह जायेगा और कितना बह जायेगा, इसका निश्चय तो काल देवता करेंगे, किंतु इतना तो सभी कहते हैं कि जो कुछ लिखा जा रहा है, उसमें से बहुत कम जनजीवन को छूता है या जनाकांक्षा के अनुकूल होता है. बहुत से विषय तो ऐसे हैं

जिन पर अच्छी पुस्तकें ही नहीं हैं.

दूसरी ओर हिंदी के प्रकाशकों की स्थिति इससे भी खराब है. हिंदी प्रकाशन दिशाहीनता के साथ-साथ लोभ का शिकार हो गया है. पुस्तकें जनता के लिए नहीं, वरन सरकारी खरीद के लिए छापी जा रही हैं. प्रकाशक के आर्थिक लोभ ने व्यापार में भ्रष्टाचार की दुर्गंध फैला दी है. टेबल के पीछे से दिये जाने वाले कमीशन को ध्यान में रखकर पुस्तकें प्रकाशित की जाती हैं, परिणाम यह होता है कि दस रुपये लागत की पुस्तक का दाम सौ रुपये रखा जाता है. पुस्तकें सामान्य पाठक की जेब के बाहर हो जाती है.

आज यदि प्रेमचंद भी होते तो जनता में न बिकते, क्योंकि उनकी पुस्तकों के दाम भी लागत से दस गुने अधिक रखे जाते. वे अपने समय में इसलिये बिके कि उनकी पुस्तकों के मूल्य बहुत कम थे. वे सीधे पाठकों के हाथों में पहुंचे और प्रेमचंद, प्रेमचंद हो गये.

दूसरी ओर हमारी जरूरत का साहित्य भी हिंदी में नहीं आ रहा है. आज कंप्यूटर साइंस पर कितनी पुस्तकें हिंदी में हैं? शायद एक भी नहीं. हिंदी समसामयिक विषयों के साहित्य में इतना पिछड़ क्यों रही है? प्रतिवर्ष 25 करोड़ रुपये की पुस्तकें विदेशों में निर्यात की जाती हैं, देखना चाहिए कि इसमें हिंदी की पुस्तकों का अनुपात क्या है?

ऐसी स्थिति में क्या हम हाथ पर हाथ धरे बैठे हुए अपने को कोसते रहें? नहीं, इससे तो काम नहीं चलेगा. हमें कुछ करना पड़ेगा. देश में चार हजार सरकारी प्रतिष्ठानों में हिंदी अधिकारियों की फौज जुटी हुई है. ये लोग हिंदी के लिए वेतन लेते हैं, हिंदी के प्रति निष्ठा की कसमें खाते हैं. इनका उपयोग हिंदी के प्रकाशन और प्रसार के लिए किया जा सकता है, जो अब तक नहीं हो रहा है. हिंदी के रथ को बैलगाड़ी की गति से आगे ले जाने के लिए अभी हमें और बहुत कुछ करना होगा. □

हिंदी पुस्तक प्रकाशन खतरे में

□ दीनानाथ मल्होत्रा

सरस्वती विहार नाम की संस्था से पुस्तकों के नयनाभिराम पुस्तकालय संस्करण प्रकाशित करनेवाले और हिंद पाकेट बुक्स नाम से भारत में सर्वप्रथम पाकेट बुक्स के प्रकाशन की नींव डालने वाले श्री दीनानाथ मल्होत्रा को पिछले वर्ष यूनेस्को की इंटरनेशनल बुक कमेटी ने 'इंटरनेशनल बुक एवार्ड' प्रदान किया. प्रकाशन संबंधी संस्थाओं के अनेक बार अध्यक्ष रहे श्री मल्होत्रा आज भी व्यवसाय से इतर प्रकाशन जगत की सेवा में सक्रिय रूप से जुड़े हैं. इसीलिए प्रकाशन उद्योग की वर्तमान स्थिति से वे उद्विग्न हैं. वे चिंतित हैं कि हिंदी भाषी प्रदेशों में अन्य भारतीय भाषाओं की, उनके प्रदेशों की तुलना में पुस्तकों की खपत बहुत ही कम है. इसके कारण हिंदी का प्रकाशक अधोगति की ओर जा रहा है. इसके क्या कारण हैं? ऐसा क्यों? यह बहुत ही गंभीर प्रश्न है, जिस पर हिंदी के लेखकों, प्रकाशकों और पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों को सोचना है.

यदि पिछले 15 वर्षों के आंकड़े लें, तो जहां भारत एक समय में बाइस हजार नये प्रकाशन प्रति वर्ष प्रकाशित कर रहा था, आज वही नीचे गिरते-गिरते बारह हजार नयी पुस्तकें प्रति वर्ष पर आ गया है. यूनेस्को के आंकड़ों के अनुसार भारत का स्थान विश्व में पुस्तक प्रकाशित करनेवालों में जहां कभी सातवां था, वहीं अब हम सत्रहवें स्थान पर आ गये हैं.

हिंदी की पुस्तकों के दाम बढते जा रहे हैं. संस्करणों की संख्या दो हजार से एक हजार अथवा आठ सौ या इससे भी नीचे पांच सौ होती जा रही है. पुस्तकालय संस्करण तो केवल सरकारी खरीद पर निर्भर करते हैं. आम पुस्तकालय भी महंगी पुस्तकें खरीदने से कतरा जाते हैं, क्योंकि सरकारी अनुदान ही इतना कम होता है.

पाकेट बुक्स तथा पेपर बैक में अच्छे साहित्य की बिक्री दिन प्रति दिन कम होती जा रही है. केवल रोमांटिक, जासूसी एवं नये-नये नामोंवाले लेखकों की पुस्तकें ही थोड़ा-बहुत बिक पा रही हैं. आजकल तो उन प्रकाशकों का भी कहना है कि बिक्री दिन पर दिन घटती जा रही है.

कुछ लोग कहते हैं कि दूरदर्शन लोगों का बहुत-सा समय ले लेता है. पुस्तक पढ़ने का लोगों के पास न समय है और न चाव ही. एक और शिकायत है कि अच्छी पुस्तकें जब पुस्तक-विक्रेताओं को भेजी जाती हैं, तो वे उनको रखना ही पसंद नहीं करते और यदि जोर देकर भेजें भी तो वही टकसाली उत्तर देते हैं कि इस प्रकार की पुस्तकें बिकती ही नहीं. हालांकि मेरा यह मत है कि अच्छी पुस्तकें पढ़नेवाले पाठक अभी भी बहुत से हैं और आर्थिक संकट होते हुए भी अपने जीवन के मूल्यों के अनुरूप कष्ट झेलकर भी वे अच्छी पुस्तकें खरीदना चाहेंगे.

रेलवे स्टालों पर घटिया साहित्य की भरमार है. टैगोर, विश्व चिंतन की पुस्तकें, प्रेमचंद साहित्य, शरत की पुस्तकें तो दिखती ही नहीं. मोहन राकेश को पसंद नहीं करते. अज्ञेय का साहित्य वहां अज्ञात है. इस विडंबना का क्या समाधान है? लेखक और प्रकाशक मिलकर इस समस्या का समाधान निकालें. पाठकों के प्रतिनिधि भी इस लांछन के प्रतिरोध स्वरूप अपनी बात रखें कि उन्हें पुस्तकें पढ़ने में क्यों रुचि नहीं?

हिंदी प्रकाशकों का अस्तित्व खतरे में है, निःसंदेह!
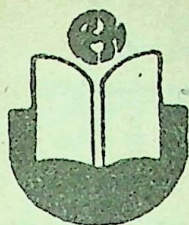
हिन्दी अकादमी, दिल्ली

'शाहजहानाबाद : ३५० वर्ष'

ग्रन्थ के लिए

लेख, संस्मरण, अनुभव, फोटो, स्केच आदि आमंत्रित

निवेदन

हिन्दी अकादमी द्वारा शाहजहानाबाद (दिल्ली) के ३५० वर्ष पूरे होने के उपलक्ष्य में 'शाहजहानाबाद : ३५० वर्ष' नामक ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना है । प्रस्तावित ग्रन्थ में शाहजहानाबाद से सम्बन्धित ऐतिहासिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक व सामाजिक तथा आर्थिक आदि विषयों पर सामग्री प्रकाशित की जाएगी, जिसके लिए लेख, संस्मरण, अनुभव, फोटो, स्केच, नक्शे, पत्र आदि आमन्त्रित हैं । अकादमी द्वारा स्वीकार्य सामग्री के लिए उपयुक्त मानदेय दिए जाने का प्रावधान है । ग्रन्थ के लिए सामग्री अकादमी के निम्न कार्यालय पते पर दिनांक १५ मार्च, १९९० तक भेजी जा सकती हैं ।

अकादमी के इस प्रयास की सफलता आप सभी के सहयोग और मार्गदर्शन पर आधारित है । आपके अमूल्य योगदान के लिए हम हृदय से आभारी होंगे ।

डॉ. नारायण दत्त पालीवाल

सचिव, हिन्दी अकादमी

ए-२६/२७, **सनलाइट इंश्योरैंस बिल्डिंग,**

आसफ अली रोड, नई दिल्ली-११० ००२

फोन : ७३३९५०, ७३०२७४

साहित्यिक पुस्तकों के प्रकाशकों की समस्याएं अलग हैं

□ जगदीश भारद्वाज

अपने स्वभाव और व्यवहार की सरलता, सुस्पष्टता के लिए न केवल प्रकाशकों में वरन् लेखकों की बिरादरी में भी ख्यात साहित्यिक प्रकाशन के संचालक श्री जगदीश भारद्वाज पिछले दिनों तक अखिल भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ से महामंत्री के रूप में भी जुड़े रहे हैं. इसीलिए हमारी बातचीत प्रारंभ होते न होते भारद्वाजजी ने स्पष्ट किया कि मैं विशेष रूप से हिंदी की साहित्यिक, आलोचनात्मक पुस्तकों के प्रकाशकों की समस्याओं की चर्चा करना चाहूंगा. वह समस्या चाहे विश्व पुस्तक मेला से संबंधित हो, चाहे सरकारी खरीद से और चाहे बिक्री से.

इन तमाम समस्याओं के संबंध में पाकेट बुक्स के प्रकाशकों का नजरिया दूसरा है. उनके सामने बिक्री की दृष्टि से भी कोई समस्या नहीं है. उनका प्रचार-प्रसार सब अलग दर्जे का है. सामान्य पुस्तकों के प्रकाशक मात्र सरकारी खरीदों पर निर्भर होकर रह गये हैं. यदि कोई ऐसा प्रकाशक है जो सामान्य और पाठ्य पुस्तकें, दोनों का काम करता है तब वह थोक खरीद पर अधिक निर्भर नहीं रहता बल्कि वह इसे तरजीह ही नहीं देता. बाकी सब को तो अब पुस्तक प्रकाशन के लिए लेते समय यह भी ध्यान में रखना पड़ता है कि पांडुलिपि में कोई ऐसी बात तो नहीं है जो किसी सरकार या विभाग को नागवार गुजरे. मैं राष्ट्रीय हितों को क्षति पहुंचाने जैसी बातों को ध्यान में रखने की बात नहीं कह रहा हूं. उस ओर तो लेखक-प्रकाशक स्वयं पहले से सावधान रहते ही हैं.

सरकारी खरीद तो हर देश में (सामान्य पुस्तकों के लिए) आवश्यक है. मगर इससे कहीं ज्यादा जरूरी यह है कि पुस्तकालयों में सीधी खरीद हो और हर बड़े शहर में कई पुस्तकालय हों ताकि पुस्तक विक्रेताओं की तादाद बढ़ सके. आज से तीस वर्ष पहले पुस्तक विक्रेताओं का अच्छा खासा जाल था, उससे प्रकाशकों को एक लाभ यह था कि खपत से अधिक पुस्तकें वह मंगाता था और देर-सबेर उन्हें बेच भी लेता था. सीधी खरीद के परिणाम स्वरूप आज स्थिति यह है कि किसी पुस्तक के तो कई संस्करण बिक जाते हैं और कई की साल में पचास प्रतियां भी नहीं बिकतीं.

इधर प्रकाशक बहुत बढ़े हैं, किताबों की संख्या बढ़ी है मगर स्कूल हो या कालेज, जो फंड हैं वे पुराने के पुराने चले आ रहे हैं. नतीजतन बढ़े हुए मूल्यों के इस दौर में उतनी राशि में बीस पुस्तकें नहीं आतीं जितनी में पहले पचास पुस्तकें आ जाती थीं.

सामान्य पुस्तकों के प्रकाशन और किसान की खेती में कोई अंतर नहीं. भगवान वारिस अच्छी करे, ओले न पड़ें तो फसल हो, वैसे ही ग्रांट समय पर जारी हो जाये, आदेश प्राप्त हो जायें तो पुस्तकों की सप्लाई संभव हो.

इस बार जो पुस्तक मेला लग रहा है उसमें समय की कटौती कर दी गई है. स्पेस में भी छह की बजाय चार-पांच रैक कर दिये गये हैं, किराया दुगुना कर दिया गया है जिसे, पर महत्वपूर्ण बात यह कि शुरू के कई महीनों तक तो यही मालूम नहीं हो सका कि मेला लगेगा भी या नहीं. अंत-अंत में मेला लगाना तय कर लिया गया नतीजतन न तो विधिवत प्रचार हो सका न प्रकाशकों को तैयारी का पर्याप्त समय मिला जिसके चलते बहुत से प्रकाशक मेले में हिस्सा लेने का मन ही नहीं बना पा रहे हैं.

मेलों में विदेशी 'रिमेंडर' पुस्तकों के प्रदर्शन पर पाबंदी होनी चाहिए साथ ही इस मौके पर संस्थाओं को जो ग्रांट जारी हो उसमें स्पष्ट निर्देश होना चाहिए कि इसमें से इतने प्रतिशत की भारतीय भाषाओं की पुस्तकें ही क्रय की जा सकती हैं, अब तक होता रहा है कि आठ प्रतिशत भारतीय भाषाओं पर और शेष 'रिमेंडर' पर व्यय किया जाता है. □

नेशनल बुक ट्रस्ट का एक गौरवशाली प्रकाशन

आजादी की छांव में

बेगम अनीस किदवाई की मूल उर्दू पुस्तक शीघ्र ही हिंदी में उपलब्ध

कल्पना कीजिए उस समय की जब कि देश एक तरफ आजाद भारत का सपना देख रहा था और दूसरी तरफ देश के दो टुकड़े हो रहे थे. सांप्रदायिकता का 'तांडव नृत्य' पूरे देश को अपनी लपेट में ले चुका था और हिंदू-मुसलमान एक दूसरे के जानी दुश्मन बन चुके थे. ऐसी हालत में सांप्रदायिक सद्भावना बनाये रखना अपने आपमें एक दुरूह कार्य था. 1947-48 की उस दर्दनाक पीड़ा को भोगा और झेला है बेगम किदवाई ने और उन्हीं मर्मस्पर्शी संस्मरणों को लिपिबद्ध किया है उन्होंने अपनी उर्दू मूल पुस्तक **'आजादी की छांव में'**.

नेशनल बुक ट्रस्ट इस उर्दू मूल पुस्तक को अब हिंदी में उपलब्ध करा रहा है. किसी भी उपन्यास से रोचक ये संस्मरण जहां हमें रोमांचित करते हैं वहीं हमें उद्वेलित करते हैं अपने पूर्व इतिहास से सबक लेने के लिए.

आज जब कि देश में सांप्रदायिक ताकतें अपना सिर फिर उठा रही हैं वहीं इस पुस्तक का महत्व और भी बढ़ जाता है जिसे पढ़कर हम कुछ सोचने को मजबूर हो उठेंगे.

विस्तृत जानकारी एवं ट्रस्ट की निःशुल्क सूचीपत्र के लिए संपर्क करें :

प्रबंधक (विक्रय एवं विपणन)

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ए-5, ग्रीन पार्क, नई दिल्ली-110016

टेलीफोन : 664020, 664540, 664667

तार : नेबो ट्रस्ट

टेलेक्स : 03-73034 एन.बी.टी.इन.

पुस्तकालयों का जाल बिछाना होगा

□ अनिल पालीवाल

अभी-अभी पूर्ण हुए नवें दशक के बीच के किसी बरस में प्रकाशन व्यवसाय में आये अनुमानतः सबसे युवा प्रकाशक अनिल पालीवाल ने सचिन प्रकाशन नाम से जब पुस्तकों का प्रकाशन प्रारंभ किया तब शुरू-शुरू में बाल साहित्य को प्राथमिकता दी. सन् सतासी के अंतिम महीनों में प्रकाशन, लेखन, पठन-पाठन की समस्याओं और स्थितियों पर केंद्रित युवा उपन्यासकार वीरेंद्र जैन के उपन्यास 'शब्द-बध' के प्रकाशन के जरिए साहित्यिक कृतियों का शुभारंभ किया. इस पुस्तक का जिस त्वरित गति से स्वागत हुआ उसने उन्हें प्रोत्साहित किया, नतीजतन अनिल पालीवाल ने कई महत्वाकांक्षी योजनाएं हाथ में लीं, और परिणाम स्वरूप महेश दर्पण के संपादन में 'स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी कोश' जैसी ऐतिहासिक पुस्तक सामने आयी जिसमें हिंदी की पांच पीढ़ियों के एक सौ साठ कथाकारों की प्रतिनिधि कथा रचना बाइस सौ पृष्ठों के दो खंडों में समायी हुई हैं. फिर आया हिंदी लघुकथा कोश, उसके बाद विनोद भारद्वाज के संपादन में आया आधुनिक कला कोश, साहित्य, कला के बाद बारी आयी सिनेमा की. परिणामतः इस विश्व पुस्तक मेले में ताजातरीन पुस्तक देखने को मिलेगी 'हिंदी सिनेमा का इतिहास' जिसे तैयार किया है फिल्म पत्रकारिता के लिए गत वर्ष के राष्ट्रीय पुरस्कार विजेता मनमोहन चड्ढा ने.

एक अन्य योजना सचिन चयनमाला के अंतर्गत महत्वपूर्ण कथाकारों का बृहद कथा-संग्रह प्रकाशित करने का सिलसिला योगेश गुप्त की कहानियों से प्रारंभ किया जिसके अंतर्गत रमेश बक्षी और शैलेश मटियानी के संग्रह भी आ चुके हैं. तीसरी योजना के अंतर्गत डा. कृष्णदत्त पालीवाल का आलोचनात्मक और संपादित साहित्य प्रकाशित करना प्रारंभ किया. इनके साथ-साथ आज के चर्चित और रचनारत वरिष्ठ लेखकों की ताजी रचनाएं प्रकाशित करने का काम अपने स्थान पर जारी है ही.

पुस्तकों के मूल्यों के बढ़ने का कारण अनिल सरकारी नीतियों को मानते हैं. उनका कहना है कि यदि पुस्तक के दाम कम रखना संभव हो जाये तो उसकी बिक्री सरलता से हो जाती है. उदाहरण स्वरूप उन्होंने बताया कि हमने 'शब्द-बध' उपन्यास की विषय वस्तु को देखते हुए इसका मूल्य चालीस रुपये रखा और यह निर्णय सार्थक रहा क्योंकि पुस्तक का पूरा संस्करण बिना किसी 'बल्क पर्चेज' में आये डेढ़-दो वर्ष में पाठकों द्वारा व्यक्तिगत रूप से हाथों हाथ खरीद लिया गया. उनका कहना है कि कागज बहुत महंगा हो गया है. सरकार स्वयं पुस्तकें खरीदते समय 40% तक कमीशन या छूट मांगती है. पुस्तकों को भेजने में काफी खर्च आता है. भुगतान मिलने में कई महीने लग जाते हैं. इन सब कारणों के चलते कीमतें बढ़ती हैं. यदि सरकार नेट पर पुस्तकें खरीदना शुरू करे और तुरंत भुगतान का प्रावधान हो तो पुस्तकों की कीमत में चालीस से पचास प्रतिशत तक गिरावट तो स्वतः आ जायेगी.

सरकार से अनिल की और भी कई अपेक्षाएं हैं. वे चाहते हैं कि सरकार पुस्तक व्यवयास को उद्योग का दर्जा दे. अन्य उद्योगों की तरह पुस्तक उद्यमियों को भी सस्ती दर पर एक ही स्थान विशेष पर जमीन उपलब्ध करवाये ताकि खरीदार को दर-दर न भटकना पड़े.

विश्व पुस्तक मेला और नेशनल बुक ट्रस्ट की भूमिका के संदर्भ में अनिल का कहना है कि मेले के समय जो विचार-संगोष्ठियां होती हैं उन्हें ऊपर सभागारों में आयोजित करने के स्थान पर नुक्कड़ नाटकों की तरह मेला स्थल के आसपास खुले प्रांगण में आयोजित किया जाना चाहिए ताकि आम पाठक, दर्शक और प्रकाशक भी उसमें हिस्सेदार बन सकें. तभी इन आयोजनों के जरिए समस्याएं और व्यावहारिक सुझाव सामने आ सकते हैं; एकेडेमिक ढंग से आयोजित होने वाली गोष्ठियों से कोई लाभ अब तक तो हुआ नहीं.

नेशनल बुक ट्रस्ट को अन्य सरकारी संस्थाओं की तरह केवल पुस्तकों की खरीद करनी चाहिए उनको सरकार को पुस्तकें बेचने के तंत्र में शामिल नहीं होना चाहिए. सरकार ही सरकार को किताबें खरीदे-बेचे यह व्यावहारिक भी नहीं है. ट्रस्ट को चाहिए कि वह नगर-नगर में पुस्तकालय स्थापित करने का काम अपने हाथ में ले. देश भर में पुस्तकालयों का जाल बिछाये ताकि पुस्तकों की खपत बढ़े इसके साथ ही ट्रस्ट को चुनी हुई पुस्तकों की प्रदर्शिनी करनी चाहिए, न कि पुस्तकें मांगकर प्रदर्शित करनी चाहिए, जैसा कि ट्रस्ट अभी तक करता आ रहा है. श्री अरविंद कुमार जब तक अखिल भारतीय हिंदी प्रकाशक संघ के अध्यक्ष थे तब तक पुस्तकों के दाम कम होने चाहिए, ऐसा बार-बार लगातार कहते रहे, मगर अनिल को आश्चर्य है कि फिर क्यों नेशनल बुक ट्रस्ट का निदेशक पद संभालते ही उन्होंने ट्रस्ट की पुस्तकों के दाम यकायक दुगुने कर दिये! क्या इसलिए कि उन पुस्तकों का सरकारी खरीद में आना लाजिमी है! यदि इन पुस्तकों को खुले बाजार में नये दामों पर बेचकर दिखायें तब हम प्रकाशक मान लेंगे कि कारण वह नहीं था.

सरकार ने मेले के अवसर पर भारतीय भाषाओं के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से किराये में 50% की छूट देकर जो उदारता दिखाई है उसके लिए अनिल सरकार की प्रशंसा करते नहीं थकते.

शोधप्रबंधों का प्रकाशन जेरोक्स पर होना चाहिए

☐ सुरेंद्रकुमार
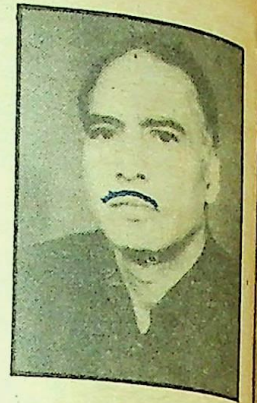
सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली विश्वविद्यालय परिसर के एकदम करीब है, जिसके इस संस्था को अलग किस्म के लाभ भी हैं और हानि भी. इस क्षेत्र में मौजूद तमाततर विद्यावारिधि और विद्यावाचस्पतियों का जहां पूरे प्रकाशन उद्योग से अपने शोध कार्यों के प्रकाशन के संदर्भ में संपर्क और पहुंच बनी हुई है उनमें सबसे पहले और संभवतः सबसे अधिक सन्मार्ग तक है. इस विशेष स्थिति की ही संभवतः यह देन है कि सन्मार्ग प्रकाशन के संचालक श्री सुरेंद्रकुमार ने इस महत्वपूर्ण तथ्य की ओर बार-बार और जोर देकर यह कहा कि शोध प्रबंधों को यदि विश्वविद्यालय स्वयं जेरोक्स करवाकर शोधार्थियों को उपलब्ध करवायें तो प्रकाशन उद्योग इन पर खर्च होनी वाली रकम से कुछ अन्य महत्वपूर्ण विषयों की पुस्तकें प्रकाशित करने में समर्थ हो सकता है. यों भी शोध-प्रबंध शोधार्थियों के उपयोग की चीज है. दूसरी ओर पुस्तकालय भी शोधप्रबंधों की खरीद में जो अपने बजट का अधिकांश पैसा खर्च करने पर विवश हैं, वह उस पैसे के बच जाने पर अन्यान्य विषयों की अधिक से अधिक पुस्तकें खरीद सकेंगे. चूंकि शोध प्रबंधों का संस्करण कम प्रतियों का होता है जिसकी वजह से तमाम प्रोडक्शन कास्ट को उतनी ही प्रतियों में फैलाने पर शोध-प्रबंधों का मूल्य अपेक्षाकृत अधिक आता है.

सुरेंद्रजी मेलों को बिक्री का नहीं जनसंपर्क का अवसर मानते हैं. मेलों में 'रिमेंडर' की पुस्तकों को प्रदर्शित करने, बेचने की अनुमति देने की सरकारी उदारता पर वे अप्रसन्न हैं. टेंडर प्रणाली का सख्त विरोध होना चाहिए, ऐसा उनका मानना है. उनकी दलील है कि हर पुस्तक का अपना अलग अस्तित्व है. हर पुस्तक का कोई एक ही प्रकाशक होता है. हमारी पुस्तक हमारी शर्तों पर कोई अन्य तो सुलभ करवा नहीं सकता. जब अपनी पुस्तक को हम ही बेच सकते हैं, तब टेंडर का औचित्य ही कहां रह जाता है! अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए उन्होंने कहा कि टेंडर तो टेंडर इधर कुछ राज्य सरकारों ने 'अर्नेस्ट मनी' का चलन भी शुरू कर दिया है. नतीजा यह है कि प्रकाशन उद्योग, विशेषकर हिंदी प्रकाशन उद्योग जो पहले ही छोटी पूंजी से चल रहा है, जहां आर्थिक संकट के साथ सभी प्रकाशकों का दिन-रात का साथ है, उस छोटी-सी पूंजी का एक बड़ा भाग इस 'धरोहर-राशि' के चलन के चलते यहां-वहां फंसा जा रहा है. इसका प्रकाशन पर बुरा असर पड़ रहा है. जो छोटे प्रकाशक हैं उनसे भी धरोहर राशि की अपेक्षा की जाती है. मगर टेंडर में या इस चलन में वे हिस्सेदारी कर सकेंगे यह असंभव है. जबकि अच्छी पुस्तकों के चयन के लिए आवश्यकता इस बात की है कि अधिक से अधिक प्रकाशक सप्लाई के लिए पुस्तकों को विचारार्थ भेजने में हिस्सेदारी लें ताकि सही और सबसे अधिक लाभप्रद पुस्तक का चुनाव संभव हो सके.

इस सारे संदर्भ में संघ की भूमिका है और हो सकती है इससे सहमत होते हुए भी सुरेंद्रजी को शिकायत यह है कि संगठन की शक्ति तो प्रकाशक सदस्यों पर ही निर्भर करती है. यदि सरकार जो नियम बनाती है यदि वे आपत्तिजनक हैं, तो हमें उनका एक जुट होकर विरोध करना चाहिए. मगर ऐसा हो नहीं पाता. हम विरोध कर नहीं पाते. परिणाम यह कि हर नियम के बाद एक पक्ष लाभ उठा ले जाता है, दूसरा हानि में रह जाता है.

आचार्य काका साहेब कालेलकर

संस्कृति चिन्तक, शिक्षाशास्त्री, साहित्यिक, तत्ववेत्ता, प्रकृति प्रेमी तथा गांधी विचार के चार तत्वज्ञों में से एक आचार्य काका साहेब कालेलकर के साहित्य में अभूतपूर्व विशालता और विविधता है। बहुभाषाविद् काका साहेब कालेलकर ने हिन्दी, गुजराती और मराठी में अबाध साहित्य रचना की, जिसमें साहित्य आस्वाद, धर्म-संस्कृति, शिक्षण-मीमांसा, समाज शास्त्र, यात्रा साहित्य, चिन्तन, पत्र आदि सभी समाविष्ट हैं।

व्युत्पत्ति शास्त्र के विद्वान काका साहेब कालेलकर ने अंग्रेजी के हजारों शब्दों के पारिभाषिक शब्द भारतीय भाषाओं में रचे। सर्वधर्म समन्वय तथा सांस्कृतिक समन्वय के युग कार्य के प्रति समर्पित काका कालेलकर के लिए धर्म, संस्कृति, राष्ट्रीयता आदि की सीमाएं महत्वहीन थीं।
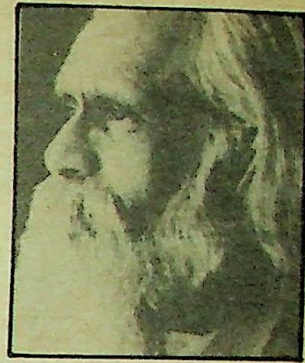
काका साहेब का संपूर्ण वाङमय प्रकाशन योजना के तहत जो प्रमुखग्रंथ अब तक प्रकाशित हुए, वे हैं :

1.	गांधी . नवसर्जन की अनिवार्यता	150.00
2.	साहित्य . एक समग्र जीवन दर्शन	150.00
3.	अहिंसा . जीवन संस्कृति की नयी दिशा	150.00
4.	विष्णु सहस्रनाम . एक दार्शनिक विवेचन	150.00
5.	चिन्तन सागर	200.00

उपन्यासकार यज्ञदत्त शर्मा

श्री यज्ञदत्त शर्मा आदर्शवादिता, राष्ट्रीय एकता, मानव मूल्यों के उत्कर्ष व भारतीय संस्कृति के उच्चादर्शों के प्रति निष्ठा रखने वाले विद्वान एवं बहुमुखी प्रतिभा से निष्पन्न साहित्यकार हैं। इनकी कृति 'शिलान्यास' सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार से सम्मानित हुई जो कि हिंदी उपन्यास को मिलनेवाला प्रथम पुरस्कार था। इन्होंने ऐतिहासिक, अर्ध-ऐतिहासिक, सामाजिक, आंचलिक, प्रागैतिहासिक सभी तरह के उपन्यास लिखे हैं। साठ से अधिक उपन्यास, अठारह समीक्षा ग्रंथ एवं एक काव्य-कृति की रचना आप कर चुके हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान एवं आलोचक आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में "यज्ञदत्त शर्मा में कथानक के सुकुमार स्थलों को पहचानने की शक्ति है और पात्रों में आदर्श की प्रतिष्ठा करने की योग्यता है।"

उपन्यासकार यज्ञदत्त शर्मा का संपूर्ण साहित्य प्रकाशित करने का गौरव हमें हासिल है। उनकी कुछ प्रमुख कृतियां हैं :

1.	सम्राट अशोक (तीन खंडों में)	250.00
2.	ताजमहल (दो खंडों में)	150.00
3.	शिलान्यास (सोवियत भूमि पुरस्कार से पुरस्कृत)	85.00
4.	संक्रांतिकाल (दो खंडों में)	120.00
5.	रंगशाला	75.00
6.	मुक्तिपथ	75.00
7.	विकृति का अंत	75.00

साहित्य प्रकाशन

1458, मालीवाड़ा, दिल्ली-110 006

दूरभाष : 262043-266624

पुस्तक को जनोन्मुखी बनाना होगा

□ अशोक महेश्वरी
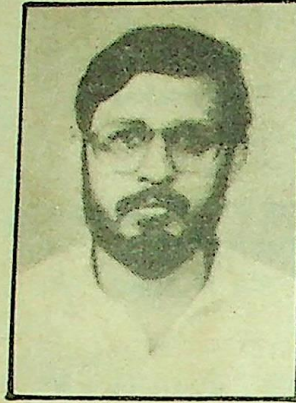
अभी बहुत बरस पहले की बात नहीं है यह, जब वाणी प्रकाशन अपेक्षाकृत छोटे प्रकाशकों की श्रेणी में गिना जाता था. मगर इसके संचालक बंधुद्वय अशोक महेश्वरी और अरुण महेश्वरी ने अथक परिश्रम और पुस्तकों के चयन में निरंतर सावधानी का परिचय देते हुए इसे न केवल हिंदी के चंद श्रेष्ठ प्रकाशकों की कतार में ला खड़ा किया अपितु राधाकृष्ण प्रकाशन का संचालन-भार लेकर उसे नया जीवन दिया, अक्षर प्रकाशन से प्रकाशित तमाम साहित्य की बिक्री, मुद्रण, पुनर्मुद्रण का काम अपने हाथों में लेकर उसे सुचारू रूप देने में कामयाबी हासिल की. इतना ही नहीं, अपने साहित्यकार पिताश्री की स्मृति को जीवित रखने के उद्देश्य से 'प्रेमचंद महेश सम्मान' नाम का ग्यारह हजार रुपये का एक पुरस्कार शुरू किया जो प्रतिवर्ष 40 वर्ष कम उम्र के हिंदी लेखक की अप्रकाशित उपन्यास पांडुलिपि को दिया जाता है. साथ ही अहिंदी भाषी क्षेत्र के हिंदी सेवियों के लिए पांच हजार रुपये राशि का एक अन्य 'वाणी पुरस्कार' भी प्रारंभ किया जो 50 वर्ष से कम आयु के अहिंदी भाषी रचनाकार की हिंदी कृति पर दिया जाता है.

पुस्तकों के बढ़ते मूल्यों से अशोकजी भी चिंतित हैं. कागज की बढ़ती दरें, छपाई, जिल्दबंदी, सरकारी खरीदारों को भी पुस्तक छपे मूल्य से कम पर बेचने की लाचारी के चलते पुस्तकों के मूल्य ज्यादा रखना प्रकाशक की विवशता मानने वाले अशोकजी ने पाठकों को पुस्तकों से सीधे जोड़े रखने के अपने स्तर पर कई उपाय किये हैं. जैसे राधाकृष्ण और वाणी प्रकाशन की ओर से चलनेवाला 'किताब क्लब', जिसमें अक्षर, राधाकृष्ण, वाणी से प्रकाशित साहित्य में से चुनिंदा पुस्तकें बिना किसी काट छाट के, सजिल्द संस्करण की अपेक्षा ठीक आधे मूल्य पर उपलब्ध कराना. इस योजना के सदस्यों को अन्य पुस्तकों पर भी आकर्षक छूट की सुविधा. इसी के अगले कदम के रूप में वे एक ऐसी योजना पर विचार कर रहे हैं जिसके अंतर्गत अति महत्वपूर्ण कथा साहित्य और समसामयिक विषयों पर केंद्रित पुस्तकें पाठकों को बहुत कम मूल्य पर सुलभ करवाई जा सकें.

पुस्तक जनोपयोगी हो तो कोई भी मूल्य आड़े नहीं आता. ऐसा अनुभव इन्हें हाल ही में हुआ है. नरेंद्र कोहली के महाभारत पर आधारित उपन्यासों की श्रृंखला का पहला खंड 'बंधन' एक सौ पच्चीस रुपये का है जिसे किसी भी तरह अल्पमूल्यी पुस्तक नहीं कहा जा सकता, मगर पाठक हैं कि रोज ही दो-चार प्रतियों का आदेश भेजते रहते हैं. लेकिन सभी पुस्तकों के साथ ऐसा नहीं होता हां, 25 रुपये मूल्य तक की पुस्तकें सरलता से खरीद ली जाती हैं.

प्रकाशन व्यवसाय में सरकारी टेंडर प्रथा के संदर्भ में इनका मत औरों से भिन्न है, टेंडर का विरोध तो सभी करते हैं मगर छोटे प्रकाशक अपने हित-अहित को नहीं पहचानते. अ.भा. हिंदी प्रकाशक संघ के उपाध्यक्ष की हैसियत से संघ की भूमिका के संदर्भ में इनका कहना है कि संघ ने इधर नये चुनाव के बाद कुछ करना चाहा. मगर वहां अनर्गल विवाद का सिलसिला चल निकला जिसने पदाधारियों को हतोत्साह कर दिया है. जो लोग अभी हाल में प्रकाशन क्षेत्र से जुड़े हैं उन्हें प्रशिक्षण देने की एक महत्वाकांक्षी और उपयोगी योजना संघ ने अपने हाथ में ली थी मगर हैरानी की बात यह हुई कि जिनके लाभ के लिए यह शुरू की जानी थी उन्हीं लोगों ने सबसे ज्यादा असहयोगी भूमिका निभाकर उसे शुरू ही नहीं होने दिया.

मेले के संदर्भ में उनका मानना है कि पहले हमें दस दिन तक अपनी पुस्तकों को प्रदर्शित करने, जनसंपर्क करने का अवसर मिलता था. इस बार यह सब कुछ पांच दिन में पूरा करना होगा. ऐसी स्थिति में जबकि दस दिन भी कम लगते थे पांच दिन तो किसी भी सूरत में पर्याप्त नहीं कहे जा सकते. सो समय का अभाव तो निश्चित रूप से खलेगा ही खलेगा.

सरकारी योजना और उनमें नेशनल बुक ट्रस्ट की भूमिका के संदर्भ में अशोकजी का मानना है कि कुछ पुस्तकों पर नेशनल बुक ट्रस्ट सहायता देगी, स्वीकृत करने में दृष्टि तो यह थी कि कुछ अच्छी पुस्तकें रिकमंड हो जायें, मगर एक तो पुस्तकें ही कम स्वीकृत हुईं, फिर जो स्वीकृत हुईं उनको खरीदा ही नहीं गया. केंद्र सरकार ने आपरेशन ब्लेक बोर्ड के तहत जो गाइड लाइन दी हैं, किसी भी राज्य सरकार ने उन पर अमल ही नहीं किया. हमारे संघ ने इस संदर्भ में केंद्र सरकार से जवाब तलब किया तो सरकार ने टका-सा जवाब दे दिया कि हम तो केवल सलाह दे सकते हैं, लागू नहीं करवा सकते.

चलते-चलते अशोकजी ने आग्रह किया कि यदि आपके या सारिका के पाठकों के पास पाठकों से पुस्तकों को जोड़ने की कोई नयी, उपयोगी, संभव योजना हो तो उन्हें जरूर बतायें. वे ऐसी किसी भी क्रांतिकारी योजना को बिना लाभ-हानि की चिंता किए अमल में लाने से नहीं चूकेंगे. क्योंकि पुस्तकों को पाठकों से जोड़े बिना, जनोनमुखी बनाए बिना, केवल सरकारी खरीद के सहारे प्रकाशन उद्योग का जीवित रहना वे भी असंभव मानते हैं. □

प्रतिष्ठा के लिए अलाभकर योजनाएं चलाना स्वीकार्य है

□ सत्यव्रत शर्मा
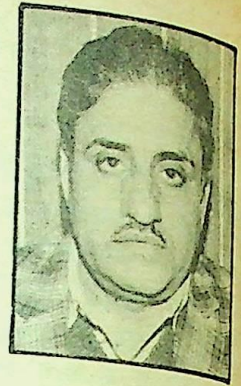
किताब घर नये प्रकाशन का नाम नहीं है मगर यह नाम ज्यादा प्रचारित हुआ तब जब इस संस्थान ने गुलेरीजी की रचनाओं का एक जिल्द में प्रकाशन करके एक ऐसे काम को अंजाम दिया जिसके पूरे होने की चाह तो सब के मन में थी मगर इसे पूरा करने के लिए आगे कोई नहीं आ रहा था. इसके बाद न केवल किताबघर चर्चित हुआ बल्कि यह जानकारी भी खास से आम हुई कि वहां से कई श्रेष्ठ और स्थायी महत्व की पुस्तकें प्रकाशित होती रही हैं. इन दिनों किताब घर मुख्यतः डा. रामकुमार वर्मा, डा. लक्ष्मी नारायण लाल, शंशर शेष जैसे प्रतिष्ठित रचनाकारों के समग्र साहित्य को सामने लाने में जुटा है वहीं युवा कथाकारों को भी बराबर महत्व के साथ प्रकाशित कर रहा है.

बातचीत के प्रारंभ में ही इस श्रेय को केवल अपने लिए स्वीकार न करते हुए किताब घर के मृदुभाषी संचालक श्री सत्यव्रत शर्मा ने कहा कि जो सही प्रकाशक हैं वे सभी ऐसा कर रहे हैं. वे भी और हम भी साहित्य भी लगातार प्रकाशित कर रहे हैं साथ ही साथ जो सरकारी योजनाएं हैं उनके अनुरूप पुस्तकों के प्रकाशन को भी प्राथमिकता दे रहे हैं ताकि उनसे होने वाली आय का अधिकांश साहित्य के प्रकाशन में लगाया जा सके. सामाजिक उत्तरदायित्वों को समझनेवाले प्रकाशक साहित्यिक कृतियों का प्रकाशन रोक ही नहीं सकते, ऐसा सत्यव्रतजी का विश्वास है.

सरकारी योजनाओं ने एक बड़ा लाभ तो हमें यह पहुंचाया है कि हिंदी में बाल साहित्य की आकर्षक साज-सज्जवाली पुस्तकों का जो अभाव था वह दूर होता दीख रहा है. अब कम मूल्य की सुंदर और बच्चों के स्तर अनुरूप पुस्तकों से बाजार भरा पड़ा है. इन योजनाओं के तहत प्रकाशित पुस्तकों के परिणाम के बारे में अभी से कुछ कह पाना कठिन तो है मगर आसार अच्छे दीखते हैं. हम तो साथ ही साथ प्रतिष्ठित लेखकों की संपूर्ण रचनाएं, प्रतिनिधि रचनाएं प्रकाशित करने की योजना पर भी लगातार काम कर रहे हैं.

किताब घर ने एक समय सजिल्द पुस्तकों के अतिरिक्त विकास पेपर बैक्स के नाम से अल्पमोली पुस्तकों का सिलसिला भी शुरू किया था. इधर इस मुहिम में आयी शिथिलता का कारण जानना चाहा तो श्री शर्मा ने स्पष्ट किया कि पेपर बैक का काम और करते रहें ऐसा मन तो है, कर भी रहे हैं, हालांकि अपेक्षित परिणाम न मिलने से उत्साहवर्धन नहीं हो रहा है. मगर अपने संस्थान की प्रतिष्ठा के लिए कुछ काम घाटा उठाकर करने में भी हम पीछे हटनेवाले नहीं.

बाल साहित्य, विशेषकर आपरेशन ब्लेक बोर्ड योजना के तहत राज्य सरकारों द्वारा खरीदे जानेवाले बाल साहित्य के लिए पुस्तकों के चयन और संस्तुति का काम नेशनल बुक ट्रस्ट ने अपने हाथ में लिया था मगर उसकी सिफारिशों पर राज्य सरकारों ने ध्यान ही नहीं दिया. वजह? यही कि क्रय करने का अधिकार तो राज्य सरकार के अधिकारियों का था. वे ट्रस्ट की संस्तुति मानने को बाध्य नहीं थे. फिर ट्रस्ट की अपनी चयन प्रक्रिया इतनी लंबी है और जटिल भी कि न तो उसमें तमाम प्रकाशक हिस्सा ले सके थे और न ही नयी से नयी पुस्तकों या पुरानी अप्राप्य पुस्तकों के नये संस्करणों को उस चयन प्रक्रिया में शामिल किया जा सका था. ऐसे में केवल उसी सूची को श्रेष्ठ और उपयोगी पुस्तकों की सूची कोई किस आधार पर मानता रह सकता था जबकि उनके सामने उस सूची से बाहर मगर उनसे भी श्रेष्ठ और अधिक उपयोगी पुस्तकें प्रस्तुत कर दी गयी हों! ऐसी स्थिति में ट्रस्ट के

चयन तक पुस्तकों की खरीद को सीमित रखना न तो तर्क संगत है और न व्यावहारिक या लाभप्रद.

ट्रस्ट के पास जो एक महत्वपूर्ण काम है विश्व पुस्तक मेले के संयोजन का वहां यह हाल है कि दस दिन से घटाकर मेला अवधि छह दिन हो गयी है. अब जो बाहर से आने वाले हैं उन्हें इन्हीं छह दिनों के बीच आना होगा. पुस्तकों का चयन करना होगा. जिस पर अंतिम दिन रविवार है. वह दिन आधा तो महाभारत, विश्वामित्र जैसे सीरियल खा जायेंगे, और मध्यान्ह के बाद प्रकाशक भी अपना स्टाल समेटना शुरू कर देंगे. यदि अंतिम दिन सोमवार होता तो छुट्टी के एकमात्र (आधा ही सही) दिन तो ज्यादा दर्शक पुस्तकों तक पहुंच पाते. पहले हमेशा दो रविवार बीच में आयें ऐसा प्रयास किया जाता था और इन्हीं दो दिनों में अधिकतम लोग मेले में पहुंचते थे. आयोजकों को तिथि निर्धारित करते समय इन व्यावहारिक पक्षों पर ध्यान देना चाहिए. वे भविष्य में ध्यान देंगे भी सत्यव्रतजी को ऐसी आशा है. □

जरूरी है नये विषयों पर पुस्तकों के प्रकाशन की

□ श्रीकिशन गुप्ता

बाबू देवकीनंदन खत्री की कालजयी उपन्यास श्रृंखला चंद्रकांता और चंद्रकांता संतति को आकर्षण साज-सज्जा के साथ प्रकाशित करने का पहले पहल जोखिम उठानेवाली संस्था का नाम है प्रवीण प्रकाशन. बाद में इस पुस्तक को जाने कितने प्रकाशकों ने छापा और बेचा मगर इसे पुनर्जीवन का श्रेय फिर भी इसी संस्था को जाता है. इसी तरह का एक अन्य महत्वपूर्ण कार्य इस संस्था के नाम जायेगा भास्कराचार्य द्वारा रचित भारतीय गणित का सदियों पहले तैयार किया गया ग्रंथ जिसे 'भारतीय गणित' के नाम से प्रवीण ने आकर्षक साज-सज्जा के साथ उसके मूल रूप में छापा है. एक अन्य ऐसी ही अद्वितीय योजना पर वे इन दिनों काम कर रहे हैं जिसे समय से पूर्व वे उद्घाटित करने में संकोच का अनुभव कर रहे हैं.

प्रवीण प्रकाशन के संचालक श्रीकिशन गुप्त ने बातचीत के दौरान सरकार की उदारता और उदासीनता दोनों के प्रति अपनी नाराजी जाहिर की. विदेशों में निरस्त किया गया साहित्य हमारे यहां न केवल खुलेआम खरीदार की क्षमताओं का अधिकतम जेब से बाहर निकलवाने के लिए स्वतंत्र छोड़ दिया गया है वरन् सरकार मेले में इसके प्रदर्शन पर कोई रोक न लगाकर इसे पूरा एक मंडप देती रही है. सरकार इस दिशा में जितनी उदार है उतनी ही उदासीन है भारत की प्रमुख चार-चार कागज मिलों को पुनर्जीवन देने के प्रति. परिणाम स्वरूप कागज के दाम दिन दूने रात चौगुने बढ़ रहे हैं.

सरकारी नीतियों में (पुस्तक खरीद के संदर्भ में) आये परिवर्तनों का गुप्ताजी स्वागत करने को तत्पर हैं. उनका मानना है कि आपरेशन ब्लेक बोर्ड और इंप्रूवमेंट ऑफ साइंस जैसी योजनाओं की वजह से इधर हिंदी प्रकाशन जगत में अच्छी साहित्येतर विषयों पर पुस्तकों के प्रकाशन की रुचि पनपी है. यदि इसी तरह की योजनओं को सरकार लगातार प्रोत्साहन देती रहे तो प्रकाशक और भी नये-नये विषयों पर पुस्तकें जरूर छापना चाहेंगे.

पुस्तकों की खरीद में टेंडर और कमीशन जैसी शर्तें सरकार को नहीं ही रखनी चाहिए यह आग्रह है इनका. यदि सरकार इन दोनों शर्तों को खत्म कर दे तो निश्चित रूप से पुस्तकों की कीमतें 30 से 40 प्रतिशत तक अपने आप कम हो जायेंगी. चूंकि अभी यह तय नहीं होता कि कौन-सी राज्य सरकार कितना कमीशन और कितनी धरोहर राशि की मांग कर

गुजरेगी इसलिए प्रकाशक को विवश होकर कीमतें अधिक रखनी पड़ती हैं. ऊंची टेंडर राशि की मांग के चलते जहां एक ओर राज्य सरकार बहुत-सी अच्छी पुस्तकों से वंचित रह जाती है वहीं पुस्तकों की कीमत अधिक होने से पुस्तक आम पाठक की पहुंच से भी दूर हो जाती है. मिसाल के तौर पर उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश सरकार द्वारा आपरेशन या इंप्रूवमेंट या अन्य योजनाओं के तहत टेंडर प्रथा का सहारा नहीं लिया गया नतीजतन उनके पास तमाम प्रकाशित साहित्य पहुंचा जिससे वे अच्छी पुस्तकों में से सबसे अच्छी पुस्तकों का चयन कर सके. यदि यहां भी टेंडर की शर्तें होतीं तो बहुत-सी पुस्तकें चुनाव में आने से सिर्फ इसलिए रह जातीं कि उनके प्रकाशकों के पास टेंडर राशि जमा कराने की क्षमता ही नहीं होती.

मेले के दिन कम कर दिये गये हैं जबकि रेट बड़ा दिये हैं. पांच दिन के तीन हजार. जबकि पहले दस दिन के अठारह सौ रुपये थे. इस वृद्धि और कटौती की वजह से कई प्रकाशक इस बार मेले में पुस्तकें प्रदर्शित नहीं कर पायेंगे, इस दुखद स्थिति पर श्री गुप्ता ने अपना रंज और खेद व्यक्त किया.

चाहते तो हम भी हैं कि पुस्तकें सस्ती हों...

□ अनिलकुमार

प्रेम प्रकाशन मंदिर दिल्ली के ऐसे क्षेत्र में स्थित हैं जहां पाठ्य पुस्तकों के प्रकाशकों और विक्रेताओं का बोलबाला है. ऐसे में वे अपने प्रकाशन को जितना समय और अर्थ दे पाते हैं उतना ही अन्य प्रकाशकों की पुस्तकों के संग्रह और बिक्री को भी. इस प्रकाशन संस्थान के संचालक श्री अनिल कुमार ने बताया कि जब हमने प्रकाशन का काम शुरू किया उस समय स्थिति यह थी कि लेखक जो पुस्तक हमारे पास लाते थे उसको हम समाजोपयोगी समझकर उसमें से चयन कर लेते थे. उन पुस्तकों की बिक्री में कोई परेशानी नहीं होती थी. आज जो पुस्तकें हम छाप रहे हैं वे सरकारी खरीद को ध्यान में रखते हुए छापने का प्रयत्न करते हैं. पुस्तकों की बिक्री का जहां तक सवाल है अब यह सरकारी नीतियों और नीयत पर निर्भर हो गयी है, पाठकों पर नहीं. हम जिन पुस्तकों को छापते हैं वे एक तो स्कूल की खपत को मद्देनजर रखते हुए छापते हैं दूसरे कालेजों में जो लाइब्रेरी पुस्तकें प्रस्क्राइब्ड हो सकती हैं उन्हें प्राथमिकता देते हैं.

पुस्तकों के मूल्यों के संदर्भ में उन्होंने जोर देकर कहा कि हम भी चाहते हैं कि पुस्तकें सस्ती हों मगर कागज, बाईंडिंग, प्रिंटिंग, पोस्टेज की दरें इतनी महंगी होती चली जा रही हैं कि विवश होकर हमें पुस्तकों के दाम अधिक रखने पड़ते हैं.

सरकार की नयी योजना आपरेशन ब्लैक बोर्ड को अनिलजी एक उपयोगी और क्रांतिकारी कदम तो स्वीकार करते हैं मगर उस जरिए प्रकाशन उद्योग का कोई खास भला होता उन्हें भी नहीं दीखता. उनका आरोप है कि सरकारी प्रकाशनों को तरजीह देने से वह योजना अपने लक्ष्य से तो दूर हो ही गयी है प्रकाशकों ने इस स्कीम को ध्यान में रखकर जो पुस्तकें प्रकाशित कर ली हैं उनके चलते अच्छा-खासा आर्थिक दबाव आ पड़ा है. तिस पर सरकार ने पुस्तकों पर टेंडर प्रणाली लागू कर दी है. यह ठीक नहीं है.

मेले के संदर्भ में अनिलजी की शिकायत है कि मेले में पुस्तकों की बिक्री तो यों भी न के बराबर थी. दर्शकों से पुस्तकों का साक्षात् संपर्क हो जाता था, यही एक उपलब्धि थी मगर समय की कटौती का सीधा असर इसी पर पड़ेगा. □

लेखक, प्रकाशक और सरकार को एकजुट होना होगा...

□ सुरेंद्र मलिक

साहित्यिक पुस्तकें, पाठ्य पुस्तकें और विश्वविद्यालयीय पुस्तकों के पाठक जगत में नेशनल पब्लिशिंग हाउस का नाम एक जाना पहचाना नाम है. इस संस्था के संचालक श्री सुरेंद्र मलिक ने बातचीत के प्रारंभ में अपनी भावी योजना का जिक्र करते हुए बताया कि हम बहुत जल्द मयूर पेपर बैक को नया रूप देने जा रहे हैं जिसके अंतर्गत सजिल्द पुस्तकों की अपेक्षा पेपर बैक में सस्ते दामों पर पुस्तकें उपलब्ध करवायी जायेंगी. सजिल्द के मुकाबले 50 से 60 प्रतिशत तक कम मूल्य पर. चूंकि साहित्य से इतर विषयों की पुस्तकों की मांग अधिक है इसलिए इस योजना में सभी विषयों की, आलोचना की भी पुस्तकें रहेंगी. यानी सस्ते मूल्य के साहित्य का वृहत्तर संसार होगा अब मयूर पेपर बैक.

आयातित 'रिमेंडर' पुस्तकों से सुरेंद्रजी बेहद क्षुब्ध हैं. उनका मानना है कि रिमेंडर पुस्तकों ने हमारे प्रकाशन उद्योग को बहुत धक्का पहुंचाया है. मेरा अनुमान है कि रिमेंडर और विदेशी साहित्य कुल खरीद का 80 प्रतिशत भाग ले जाते हैं हिंदी पर कुल खरीद की जो राशि खर्च होती है वह नगण्य है. रिमेंडर का टोटल बैन होना चाहिए और इसके लिए लेखक, प्रकाशक और सरकार को कदम उठाना चाहिए इनके रहते नये विषयों पर पुस्तकें तैयार करवाने की बात सोची ही नहीं जा सकती. क्योंकि उन्हीं विषयों पर रिमेंडर की कूड़ा किताबें मिट्टी के भाव पहले से मौजूद हैं.

मेले के संदर्भ में उनका मत है कि मेले के समय में कटौती और शुल्क की बढ़ोतरी का प्रकाशकों को मिलकर विरोध करना चाहिए था. मगर दुख है कि ऐसा नहीं हुआ. ऊपर से चुनाव का समय नजदीक आ गया है इसलिए मुझे शक है कि बाहर से लोग आ सकेंगे. और बजट की स्थिति तो और भी चिंताजनक है कहीं बजट है ही नहीं. इस प्रकार के पुस्तक मेलों के दो-तीन उद्देश्य होते हैं. जैसे अपनी भारतीय भाषाओं की पुस्तकों का आदान-प्रदान. हालांकि यह नौवां मेला है मगर इस ओर अभी तक कोई ठोस कदम नहीं उठाया गया.

हमारे साहित्य की बाहर काफी मांग है और यह बढ़ायी भी जा सकती है. मगर अफसोस की बात यह है कि जहां दूसरे राष्ट्र अन्य भाषाओं में अपना साहित्य उपलब्ध करवाने में काफी रकम खर्च करते हैं, यहां तक कि नार्वे और बल्गारिया जैसे छोटे राष्ट्र भी अपनी भाषा की किसी किताब का अनुवाद करवाने के लिए दस हजार रुपया तक खर्चते हैं. हमारी भारत सरकार के पास ऐसी कोई न तो योजना है और न योजना सुझा दिये जाने पर उस पर खर्च करने का कोई फंड.

मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर कह रहा हूं, मैंने विदेशों में बातचीत करने पर यह पाया है कि उनके मन में हमारे साहित्य के प्रति रुचि तो बहुत है मगर वह उन्हें उनकी भाषा में उपलब्ध ही नहीं है. दुनिया के किसी मेले में रिमेंडर पुस्तकों की एंट्री संभव नहीं जबकि हमारे यहां उनके वितरकों को बाकायदा एक पूरा हाल दिया जाता है.

संघ की गतिविधियों से सुरेंद्रजी पंद्रह वर्ष तक जुड़े रहे मगर जब देखा कि लोग नीति बनाने के बजाय तोड़ने में त्वरितता दिखा रहे हैं, अप्रतिष्ठित लोग संघ पर हावी हो गये हैं, तब उन्होंने भी औरों की तरह अपने को संघ से अलग-थलग पाया. उनका दावा है कि किसी न्यूनतम कार्यक्रम पर भी सब प्रकाशकों की सहमति नहीं होती और न ही सबका सहयोग मिल पाता है.

अंत में सुरेंद्रजी ने यह इच्छा जाहिर की कि थोक खरीद पर बैन कर दिया जाये. इससे इस क्षेत्र में बुराइयां आयी हैं.

इन्द्रप्रस्थ भारती

हिन्दी अकादमी की त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

संपादक : डा. नारायणदत्त पालीवाल

यदि आप चाहते हैं कि बेहतर पढ़ने को मिले तो आपकी इस जरूरत को

'इन्द्रप्रस्थ भारती'

हिन्दी अकादमी की साहित्यिक त्रैमासिक पत्रिका पूरा करती है, जो महज़ एक पत्रिका नहीं पूरी किताब है।

जिसमें वर्ष भर में लगभग आठ सौ पृष्ठों की साहित्यिक सामग्री उपलब्ध कराई जाती है।

'इंद्रप्रस्थ भारती' का अप्रैल '90 अंक 'समकालीन हिन्दी कहानी विशेषांक' होगा, जिसमें देश के जिम्मेदार रचनाकारों का सहयोग सुलभ होगा।

यह पत्रिका समकालीन साहित्य का रचनात्मक मूल्यांकन और गतिविधियों की झलक प्रस्तुत करती है। इस पत्रिका के एक अंक का मूल्य पांच रुपये तथा वार्षिक बीस रुपये है। आपका सहयोग हमें बेहतर सेवा के लिए और अधिक प्रोत्साहित करेगा।

वार्षिक शुल्क, मनीआर्डर/ बैंक ड्राफ्ट/ पोस्टल आर्डर द्वारा इस पते पर भेजें :—

सचिव,
हिन्दी अकादमी, दिल्ली,
ए-26/27, सनलाइट इंश्योरैंस बिल्डिंग,
आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 733950, 730274

केवल विवाद से क्या हासिल होगा?

□ योगेंद्रपाल

इस पूरे आयोजन में साहित्य प्रकाशन के संचालन भाई योगेंद्रपाल से मिलकर जो प्रसन्नता हुई वह बयान से परे की चीज है. स्नातकोत्तर तक की उपाधियां अपनी झोली में डाले बैठे यह युवा न केवल विचारों से, सोच से तरोताजा हैं, कुछ कर गुजरने को कृतसंकल्प भी हैं और उस ओर कदम भी बढ़ा रहे हैं. काका कालेलकर का संपूर्ण वाङमय छापने का निर्णय इनके जोखिम का परिचायक ही कहा जायेगा. आज के कई नामी-गिरामी पत्रकार, लेक्चरार योगेंद्रजी के सहपाठी रहे हैं. वे चाहते तो इस ओर भी कदम बढ़ा सकते थे मगर अपने पिताश्री यज्ञदत्त शर्मा के साहित्य को और उसी के साथ-साथ अन्य साहित्य को जन-जन तक पहुंचाने का संकल्प कर नयी सड़क की एक पतली-सी गली में संकरी सीढ़ियों को छलांगते यहां आ बैठे, खैर.

पुस्तकों के संदर्भ में तमामतर सवालों को सुन लेने के बाद योगेंद्रजी ने जो बोलना जारी किया तो मैं केवल लिखता रह गया. उनके चेहरे पर उस समय कैसे भाव आये होंगे नहीं जान पाया. उनका कहना है घूस देना प्रकाशकों की विवशता है, शौक नहीं. स्थापित हो जाने के बाद व्यवसाय को तिलांजली नहीं दी जा सकती. यह सरल नहीं है. और एक सीमा से अधिक तंत्र के विरुद्ध जाना, जाकर खड़े रहना संभव नहीं. ऐसे में जबकि किसी चीज का कोई हल ही नहीं सूझ रहा तब केवल विवाद करने का लाभ क्या है? केवल कहने से क्या होगा? सही क्या हो, कैसे हो? केवल चाहने से क्या? इधर हमने काका साहेब का साहित्य छापा है. गांधीजी के साथ जुड़े रहने की वजह से हमने यह कदम उठाया. दो लाख रुपया खर्च किया, मगर जो बेचने की पद्धति पनप गयी है उससे इतर जाते ही क्या यह धरा नहीं रह जायेगा? सरकारी खरीद में घूस के बिना मुश्किल से दस प्रतिशत पुस्तकों की खरीद होती है. वह भी छोटे प्रकाशकों का मुंह बंद करने के लिए या फिर अफसरों की पुस्तक होने पर. हिंदी प्रकाशन जगत में पढ़े-लिखे लोगों का अभाव है. हमारे यहां आज भी 35% प्रकाशक ऐसे आ गये हैं जो सरकारी महकमों के बड़े अफसरों के बेटे-बहुएं हैं. वे तमाम इतर कारणों से सफल भी हो रहे हैं. चूंकि इस व्यवसाय में आज उतनी पूंजी की नहीं जितनी संबंधों की जरूरत है. इसीलिए मैं कह रहा हूं कि प्रकाशन जगत एक मुश्किल दौर से गुजर रहा है और इधर हमारे बंधु हैं कि यह मानकर बैठे हैं कि जो सरकारी योजनाएं बनी हैं इनसे
हो जायेगा. जो देखो वह बाल
छाप रहा है. आलोचनात्मक पु
के प्रकाशन की गुंजाइश ही नहीं
सरकार की कोई भी चीज ऐसी न
जिस पर डिस्काउंट दिया जा
यह केवल भारत में ही है कि
कमीशन दिया और लिया जा
यह कमीशन तो प्रकाशक
विक्रेता के बीच की कड़ी है
प्रकाशक और खरीदार सरका
बीच की. हालांकि आज प्रक
काफी जागरूक हैं मगर फि
किसी ने इसका विरोध नहीं
जबकि आज भी हमारी सर
संस्थान, विद्यालय विदेशी
को बिना कमीशन के खरीदते हैं
हिंदुस्तानी प्रकाशकों से छपे मू
कटौती करवाने का क्या औचि
यहां तक कि विदेशों से
'रिमेंडर' पुस्तकें तक बिना
कटौती के खरीदी जाती हैं.

हिंदी प्रकाशन उद्योग को
मानने से योगेंद्रजी इत्तफा
करते. उनका कहना है कि हि
अभी इतने विषय ऐसे हैं जिन
नहीं आया. दुनिया में संभवतः
ऐसी भाषा है जिसमें सबसे कम
पर लिखा गया है. अछूते विष
पुस्तकें न आने का कारण वे
कमी नहीं, प्रकाशन तैयारी
खर्चीला होना मानते हैं.
निष्क्रियता से वे काफी उद्विग्न
क्षुब्ध दीखे.

नेशनल बुक ट्रस्ट का रवैया पूर्णतः प्रकाशक विरोधी है..

□ मिश्रीलाल

साहित्य सहकार के संचालक श्री मिश्रीलाल से बातचीत तो तमामतर मुद्दों पर हुई. संघ के कई वर्षों तक महामंत्री और उपाध्यक्ष रहने के नाते उनका अनुभव और दृष्टि दोनों ही विस्तृत हैं मगर हम यहां मुख्यतः सरकारी योजनाओं के तहत नेशनल बुक ट्रस्ट की भूमिका, मेले के संदर्भ में उनके विचार और मूल्यों की असमानता पर उनकी संक्षिप्त टिप्पणी दे प

पहले मुद्दे पर उनका मानना
मैं तो यह मानता हूं कि
पुस्तक खरीद चाहे किसी भी
के अतर्गत क्यों न हो, पुस्त
चयन गुणवत्ता के आधार पर
चाहिए न कि सरकारी और
सरकारी प्रकाशनों के आधा
सरकारी प्रकाशन संस्था
सरकार प्रतिवर्ष करोड़ों रु

पुस्तक प्रकाश है

बच्चों के लिए आकर्षक उपहार

लोकप्रिय, शिक्षाप्रद एवं मनोरंजक
बाल साहित्य पढ़कर ज्ञान वृद्धि करें

पुस्तक	मूल्य
जंगल में मोर नाचा	8.00
मन जिसका मजबूत	10.00
गिनती लाल की छींक	11.00
बापू के साथ	10.00
भारतीय हरिण	7.00
बाल कहानियां भाग-1	7.00
मूर्ति का रहस्य (बाल कहानियां भाग-2)	11.00
धरती का सपना (बाल कहानियां भाग-3)	12.00
संगीत बच्चों के लिए	5.00
श्राद्ध की दक्षिणा तथा अन्य हास्य कथाएं	14.00
धातु लोक की सैर	9.00
मनोरंजक कहानियां	13.00
तीसरा ध्रुव आरोहण	15.00
हंसी-हंसी में	6.00
अमर शहीद भगत सिंह	13.50
आटपाट नगर की कहानियां	11.00
पूर्वांचल की लोक कथाएं	12.50
सुबह का भूला	12.00
बंगाल की लोक कथाएं	9.00
सरीसृप की कहानी	10.00
पंजाब के लोकगाथा गीत	15.00
कश्मीर की लोक कथाएं	12.00
पिंकू के कारनामे	16.00
विश्व की श्रेष्ठ लोक कथाएं भाग-1	10-50
विश्व की श्रेष्ठ लोक कथाएं भाग-2	10-00
विश्व की श्रेष्ठ लोक कथाएं भाग-3	14-00
विश्व की श्रेष्ठ लोक कथाएं भाग-4	11-00
बाल महाभारत (भीष्म प्रतिज्ञा) भाग-2	5.00
बाल महाभारत (लाक्षागृह) भाग-3	5.50
बाल महाभारत (महारथी कर्ण) भाग-4	9.00
अनकही शौर्य कथाएं	10.00
हमारे स्काउट गाइड	7.00

प्रकाशन विभाग द्वारा प्रकाशित सभी पत्रिकाओं में से किसी एक पत्रिका का वार्षिक ग्राहक बन जाने पर समस्त प्रकाशनों की खरीद पर 10 प्रतिशत की छूट, विभिन्न विषयों पर भारत की सभी भाषाओं में उपयोगी पुस्तकें उपलब्ध हैं।

40 रुपये से कम आदेश पर पंजीकरण शुल्क (रजिस्ट्रेशन फीस) अतिरिक्त भेजना होगा। पुस्तकें स्थानीय पुस्तक विक्रेताओं से लें अथवा सीधे लिखें।

व्यापार व्यवस्थापक
विक्रय केन्द्र
प्रकाशन विभाग
पटियाला हाउस, नई दिल्ली-110 001

- सुपर बाजार (दूसरी मंजिल) कनाट सर्कस, नई दिल्ली
- 10-बी, स्टेशन रोड, लखनऊ-226 019
- 8, एसप्लेनेड ईस्ट, कलकत्ता-700 069
- बिहार स्टेट को-आपरेटिव बैंक बिल्डिंग, अशोक राजपथ, पटना-800 004
- एल.एल.ए. आडिटोरियम, अन्ना मलाई, मद्रास-600 002
- प्रेस रोड, त्रिवेन्द्रम-695 001
- कामर्स हाउस (दूसरी मंजिल), करीम भाई रोड, बेलार्ड पियर, बंबई-400 038
- स्टेट आर्कीलाजिकल म्यूजियम बिल्डिंग पब्लिक गार्डन, हैदराबाद-500 004

करती है. ये सरकारी प्रकाशन संस्थान अच्छी-बुरी सभी तहर की हजारों पुस्तकें प्रकाशित तो कर लेते हैं लेकिन न तो इनकी पुस्तकें पाठकों तक पहुंच पाती हैं और न पुस्तक बाजार में.सालों साल या तो गोदामों में इन्हें दीपक चाटते हैं या बाढ़-पानी या सीलन से गलकर मिट्टी हो जाती हैं. अब इनको रास्ता मिल गया है. सरकारी खरीद योजनाओं में सरकारी प्रकाशनों को वरीयता के आधार पर खरीदा जाता है.

आपरेशन ब्लैक बोर्ड योजना आरंभ होने के कुछ समय बाद 1987 में प्रकाशक संघ का एक प्रतिनिधि मंडल (जिसमें मैं भी था) शिक्षा मंत्रालय में विशेष सचिव से मिला था. हमने उनसे पूछा था कि आपरेशन ब्लैक बोर्ड योजना देश में प्राथमिक विद्यालयों के बच्चों को अच्छी पुस्तकें मुहैया करवाने के उद्देश्य को ध्यान में रखकर शुरू की गयी है या सरकारी प्रकाशनों को खपाने का उद्देश्य लेकर? हालांकि उन्होंने हमारी बात से इत्तफाक नहीं किया था मगर आज दिन तक हो वही रहा है. बाद में शिक्षा मंत्रालय ने नेशनल बुक ट्रस्ट पर निजी प्रकाशन उद्योग से बाल साहित्य की पुस्तकें अनुशंसित करने का भार सौंपा. ट्रस्ट ने प्रकाशकों से डेढ़ सौ रुपया प्रति समीक्षा शुल्क के साथ बाल पुस्तकें आमंत्रित कीं. और अगस्त 89 में ट्रस्ट ने 800 पुस्तकों में से पुस्तकें छांटकर जो सूची जारी की उसमें मात्र 32 पुस्तकें 'उपयोगी' बतायीं. मजे की बात यह है कि इन 32 में से भी 15 पुस्तकें चिल्ड्रन बुक ट्रस्ट की और सात एक ही प्रकाशन संस्थान की हैं। है न आश्चर्य की बात? इससे स्पष्ट गया है कि ट्रस्ट का रवैया प्रकाशक विरोधी है. उनके अधि नहीं चाहते कि निजी प्रकाशकों की पुस्तकें खरीद में आयें. क्योंकि हित इसी में है कि सरकारी खरीद सरकारी प्रकाशनों का ही बो... रहे.

मेले के संदर्भ में मिश्रीलाल ... मानना है कि यह मेला ... औपचारिकता निभाने के ... आयोजित किया जा रहा है. ... पुस्तक मेला के सफल होने ... संभावना बहुत कम है. ... प्राधिकरण नेशनल बुक ट्रस्ट ... फरवरी की सुबह स्थान रिक्त ... देगा. यह एक प्रकार का ... होगा अगर नेशनल बुक ट्रस्ट ... फरवरी की शाम तक भी ... प्रांगण में स्टेंड-स्टाल सुचारु ... लगा पाया तो!

मूल्यों की असमानता के ... उनका कहना है कि "यह प्रश्न ... ही महत्वपूर्ण और अहम् है कि ... जैसी दो पुस्तकों, विषय, पृष्ठ ... छपाई, जिल्दबंदी, प्रायः प्रकाशन ... एक ही, के होते भी मूल्यों में अंतर ... होता है? हिंदी पुस्तकों के मूल्य ... असमानता पाई जाने का मूल ... इस व्यवसाय में लगे व्यक्ति ... विभिन्न प्रकार की मानसिक ... सिवा कुछ नहीं है. प्रकाशन व्य... से संबंधित होने के कारण ... अधिक कहने की स्थिति में अपने ... को नहीं पा रहा हूं.

बाल पुस्तकों का प्रकाशन : बाधाएं और समस्याएं

सी.एन. राव

अध्यक्ष प्रकाशन विभाग
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद

एक बार जब पं. जवाहर लाल नेहरू से कलकत्ता से राष्ट्रीय पुस्तकालय को नयी दिल्ली ... लिए कहा गया तो आश्चर्य से ... पूछा था, "दिल्ली में पुस्तकें पढ़ेगा कौन?" नेहरू स्वयं भी ... लेखक थे और पुस्तकों को प्यार ... थे. उन्हीं के प्रयासों तथा प्रेरणा ... नेशनल बुक ट्रस्ट, चिल्ड्रन बुक ... साहित्य अकादमी, राष्ट्रीय ... अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद ... संस्थाएं अस्तित्व में आयीं.

पुस्तक पढ़ने के मामले में ... लोगों के संबंध में उनकी इस ... निराशापूर्ण बात गलत नहीं ... क्योंकि अपनी विविधता ... दिनचर्या के बीच पंडित नेहरू ... स्वयं भी लेखकों तथा पुस्तकों ... के बीच गुजारने के लिए समय ... मिल पाता था.

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद
के
कुछ चुने हुए प्रकाशन

पुस्तकों से बच्चों की दोस्ती कराने, पढ़ने में उनकी दिलचस्पी बढ़ाने और उनके अनेक अनबूझे सवालों के जवाब देने के उद्देश्य से एन सी ई आर टी कई नयी पुस्तक मालाएं प्रकाशित कर रही है । इसके अंतर्गत बच्चों के लिए रोचक, ज्ञानवर्धक और कम मूल्य वाली पुस्तकें तैयार की जा रही हैं । परिषद के कुछ चुने हुए प्रकाशनों की सूची नीचे दी जा रही है

पूरक पठन की पुस्तकें

	रु. पैसे
1. बहुरूपी गांधी	2.20
2. श्री अरविंद	1.50
3. बैंकिंग की मनोहारिता	1.25
4. श्री रामकृष्ण	0.85
5. विश्वकोश : क्या, क्यों, कैसे	0.55
6. प्रेमचंद	5.85
7. कविताएं : सुब्रह्मण्यम भारती	9.90
8. हिंदी कथा लेखिकाओं की प्रतिनिधि कहानियां भाग-1	7.85
9. उत्तराखंड की यात्रा	6.25
10. भारत में ग्रामीण विकास	8.85
11. युवा संसद का संचालन	9.40

पढ़ें और सीखें माला

1. पेंग्विन के देश में	11.20
2. चिकित्सा विज्ञान की कहानियां	9.60
3. विश्व की प्रसिद्ध लोक कथाएं	17.15
4. बाबा आम्टे	4.55
5. ऐसे थे राजेन्द्र बाबू	9.55
6. विश्वेश्वरय्या	7.55
7. मानव मशीन से परिचय	10.25
8. फूल जैसी लड़की	5.30
9. घर से दूर	5.15
10. काले सागर का गोरा देश रोमानिया	6.05
11. जंगल की कहानी	10.00
12. महाभारत की कहानियां	8.60
13. फोनोग्राफ से स्टीरियो तक	10.35
14. पौराणिक कहानियां	6.45

SUPPLEMENTARY READERS

	Rs. P.
1. Thinking Together	10.85
2. Contours of Courage	8.35
3. Science and Man	14.75
4. Brave Boys of the past	2.95
5. Women and Life	7.20
6. Nehru—An Anthology for the Young Readers (Paper Back)	18.00
7. Citizenship Development	5.80
8. The Hidden Gold	7.25
9. Conducting Youth Parliament	5.05
10. Gobind Ballabh Pant	8.30
11. Dr. B.R. Ambedkar	15.80

READING TO LEARN SERIES

1. The Ship of the Desert	6.85
2. Mr. Mugger and Mr. Stripes	9.90
3. Where is my Hump?	6.05
4. Why is Fatty Happy?	5.20
5. Everest : Where the Snow Never Melts	17.00
6. Life is Difficult	5.85
7. Let's be Happy	6.55
8. City of Statues	3.05
9. A String of camels	7.00

THE LOTUS SERIES

1. The Historic Trial of Mahatma Gandhi (Hard Bound)	16.85
2. Living Thoughts of Jawaharlal Nehru (Hard Bound)	20.35

SPECIAL PUBLICATIONS

1. India's Struggle for Independence—Visuals and Documents	
Casement Cloth Edition	570.00
Loose Sheet Edition	400.00
2. What on earth is ENERGY?	
Paper back	40.00
Hard Bound	99.00

सूचीपत्र और अन्य जानकारी के लिए लिखें :

मुख्य व्यापार प्रबन्धक

प्रकाशन विभाग

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद

श्री अरविंद मार्ग, नयी दिल्ली-110016

पढ़ने की आदत ही नहीं है!

पढ़ने में दिलचस्पी न होना दिल्ली तक ही सीमित नहीं है. पश्चिम जर्मनी में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार 84 प्रतिशत किशोर घंटों टेलीविजन के आगे गुजार देते हैं. केवल 27 प्रतिशत हैं जो कभी-कभार पुस्तकें उठा लेते हैं : 12-29 वर्ष के आयुवर्ग में 45 प्रतिशत ऐसे हैं जिन्होंने पाठ्य पुस्तकों के अलावा कभी कोई पुस्तक पढ़ी ही नहीं : भारत में ऐसे सर्वेक्षण किये तो नहीं गये हैं पर उनके परिणाम इससे भिन्न नहीं होंगे.

भारतीय परंपरा :

भारत में बाल कथाओं की परंपरा बहुत पुरानी है. पंचतंत्र, हितोपदेश, कथासरित्सागर, बीरबल, तेनाली राम की कहानियां हमारी परंपरा का एक हिस्सा हैं. गुरु-शिष्य परंपरा में मौखिक अध्यापन-शिक्षण होता था. यहां शुद्ध उच्चारण पर जोर था. इसीलिए छपाई यहां देर से शुरू हुई. प्रौद्योगिकी तथा परंपरा का तो एक दूसरे से विरोध सदा से ही रहा है. आज कंप्यूटर, टेलीविजन, वीडियो के आने से पढ़ने की आदत कम हुई है. पर यह एक तात्कालिक प्रभाव मात्र है. इससे पहले भी पुस्तक पर रेडियो, फिल्म आदि के हमले हो चुके हैं और पुस्तक ने उन्हें सफलता पूर्वक झेला है.

बाल पुस्तकों के लिए सामग्री तथा उनका अर्थशास्त्र :

पहले तो चाहिए एक अच्छी कहानी, फिर उसके लिए बहुरंगी आकर्षक चित्र. उसकी डिजाईनिंग तथा ले-आउट अच्छे हों, साफ-सुथरी छपाई हो. जिल्दबंदी भी मजबूत हो. याने जो भी हो, अच्छा हो. इसीलिए बाल पुस्तकों पर खर्च काफी आ जाता है, पर चूंकि ये पुस्तकें अधिक संख्या में छपती हैं इसलिए एक प्रति पर खर्च कम आता है. यदि खर्च कम करने के लिए चित्रों, कागज, छपाई, डिजाईनिंग या जिल्दबंदी पर किफायत की जायेगी तो पुस्तक खराब दिखेगी और बिक नहीं पायेगी. चूंकि और मदों में तो खर्च कम हो नहीं सकते इसलिए लेखक तथा चित्रकार को आमतौर पर शोषण का शिकार होना पड़ता है.

नयी प्रौद्योगिकी :

आज छपाई में भी आधु[illegible] प्रौद्योगिकी कई तरह के नये उप[illegible] से आयी है. उनके आने से छ[illegible] खर्च होने वाला समय तो कम हो[illegible] है पर कीमत बढ़ गयी है.

कागज :

बाल पुस्तक उद्योग में [illegible] अधिक खर्च होता है कागज पर. [illegible] पुस्तक में कागज हल्के स्त[illegible] लगाया जाता है तो उस पर चि[illegible] अच्छी छपाई नहीं हो सकेगी. [illegible] कागज पहले तो उपलब्ध ही [illegible] होता. और यदि उपलब्ध हो [illegible] इतना महंगा है कि बजट को [illegible] कर रख देता है. ऐसा कृत्रिम [illegible] तैयार करने के लिए प्रयास हो [illegible] जिसमें लकड़ी का गूदा प्रयोग [illegible] यह कागज भीगने पर खराब [illegible] होता. इस पर छपाई के लि[illegible] खास तौर की स्याही ही प्रयोग [illegible] सकती है. यह कागज बाल पुस्त[illegible] लिए उपयुक्त रहेगा. पर अ[illegible] काफी महंगा है.

बाल पुस्तकों [illegible] उन्नयन :

यह सही है कि पुस्तक की [illegible] अधिक प्रतियां छपेंगी उसक[illegible] उतना कम होगा, पर बाल [illegible] अधिक संख्या में छापना भी [illegible] भरा काम है क्योंकि निश्चित [illegible] यह कभी नहीं कहा जा सक[illegible] उनकी इतनी प्रतियां बिकेंगी [illegible] स्कूल पुस्तकालय, चलते-फि[illegible] पुस्तकालय अधिक संख्या में हों [illegible] पुस्तकें अधिक छापी जा सकें [illegible] सरकार ने कुछ योजनाएं बनायी [illegible] उनके परिणाम आने बाकी हैं.

उपराष्ट्रीय डॉ. शंक[illegible] शर्मा ने पत्रकार एवं [illegible] देवेंद्र उपाध्याय द्वारा [illegible] तथा सामयिक प्रकाशन, नयी [illegible] द्वारा प्रकाशित जवाहरलाल [illegible] बहुआयामी व्यक्तित्व का [illegible] किया. पुस्तक का विमोचन [illegible] डॉ. शर्मा ने पं. जवाहरलाल [illegible] राजनैतिक विचारधारा का [illegible] मूल्यांकन करने की आवश्य[illegible] बल दिया. उन्होंने कहा कि [illegible] राजनीतिज्ञ नहीं राजनेता [illegible] सांप्रदायिकता को बहुत घात[illegible] थे. पं. नेहरू बीसवीं सदी के [illegible] महान राजनेता थे.

वित्त मंत्रालय, राजस्व विभाग
केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड

प्रकाशकों के सहयोग से प्रत्यक्ष कर विषयों से संबंधित पुस्तकों को हिन्दी में अनूदित और प्रकाशित करने की योजना—

प्रकाशकों के सहयोग से प्रत्यक्षकर विषयों अर्थात आयकर, धनकर, दानकर और कम्पनी लाभ अतिकर से संबंधित विविध विषयों पर अंग्रेजी पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद करवा कर उनके प्रकाशन को बढ़ावा देने के लिए केन्द्रीय प्रत्यक्षकर बोर्ड एक योजना चला रहा है। इस योजना की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

1. इस योजना में प्रत्यक्षकर विषयों से संबंधित हिन्दी में अनूदित पुस्तकें स्वीकार की जायेंगी।
2. हिन्दी अनुवाद के लिए पुस्तकों का चयन स्वयं प्रकाशन कर सकता है या विभाग द्वारा स्वयं चुनी हुई पुस्तकों का अनुवाद करने के लिए कहा जा सकता है।
3. यह योजना प्रकाशकों के सहयोग से कार्यान्वित की जाएगी।
4. अनूदित पुस्तकों के प्रकाशनाधिकार को प्राप्त करने का दायित्व प्रकाशक का होगा।
5. इस योजना के अंतर्गत प्रकाश्य पुस्तक के हिन्दी अनुवाद और पुनरीक्षण की व्यवस्था करना प्रकाशक का ही दायित्व होगा तथा प्रकाश्य पुस्तक के आकार, टाइप, मुद्रण विधि आदि के संबंध में विभाग का परामर्श लेना अपेक्षित होगा।
6. योजना के अन्तर्गत पुस्तकों की 1,000 प्रतियां विभाग खरीद लेगा। प्रकाशक के लिये यह अपेक्षित होगा कि वह पुस्तक की कम से कम 2,000 प्रतियां अवश्य मुद्रित करवाये।
7. इस योजना के अंतर्गत प्रकाशित पुस्तकों को खरीदने के लिए चयन का काम विशेषज्ञ समिति द्वारा किया जायेगा तथा योजना के अंतर्गत प्रकाशित पुस्तकों के मूल्य का निर्धारण विभाग के परामर्श से किया जायेगा।
8. जो प्रकाशक योजना की विहित शर्तों पर हिन्दी में प्रत्यक्ष कर विषयों से संबंधित पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए तैयार होंगे उन्हें प्रारम्भिक कार्यवाहियां तय होने के बाद विभाग के साथ एक अनुबन्ध करना होगा जिसमें अनुवाद और मुद्रण संबंधी विभिन्न शर्तों का उल्लेख होगा।
9. इस योजना की शर्तों के संबंध में विस्तृत जानकारी डाक द्वारा या स्वयं आकर "श्री राम शंकर सिंह, सहायक निदेशक (राजभाषा प्रशासन), केन्द्रीय प्रत्यक्षकर बोर्ड, राजभाषा प्रभाग, आयकर निदेशालय (गवेषणा. सांख्यिकी, प्रकाशन व जन सम्पर्क), छठी मंजिल, मयूर भवन, कनाट सर्कस, नई दिल्ली-110001" (टेलीफोन नं. 3313823) से प्राप्त की जा सकती है।

प्रकाशकों से आवेदन पत्र प्राप्त होने की अन्तिम तारीख 28 फरवरी, 1990 है।

davp 89/937

तपेदिक के विरुद्ध अभियान

1. यदि आपको लगातार दो हफ्तों से भी अधिक समय से खांसी है या थूक में खून आता है, तो हो सकता है, आपको फेफड़ों की तपेदिक हो।

2. अपने नजदीकी प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्र, औषधालय या तपेदिक केन्द्र पर स्वयं की, विशेष कर अपने थूक की, जांच कराएं।

3. तपेदिक का इलाज किया जा सकता है, बशर्ते डाक्टर द्वारा बताई गई दवाइयां नियमित रूप से निर्धारित अवधि तक ली जाएं।

4. बचाव हमेशा इलाज से बेहतर है। इसलिए अपने बच्चे को बी.सी.जी. का टीका लगवाएं।

केन्द्रीय स्वास्थ्य शिक्षा ब्यूरो (स्वास्थ्य सेवा महानिदेशालय)
स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्रालय,
कोटला रोड, नई दिल्ली- 110002

davp 89/...

कथा पहेली

जनवरी : 1990

सर्वशुद्ध हल

1. 'गधों का वार्तालाप'.
2. 'घोड़ा'.
3. 'पुतला'.
4. I 'युक्ति' II 'ब्रह्मफांस' III 'डाकू आये थे' IV 'बेगाने'.
5. 'नरवंश'.
6. 'सहस्र रजनी चरित'.
7. जब तक हम अंधविश्वासों पर चलते रहेंगे तब तक ओझाओं की बनती रहेगी और निर्मला जैसी निर्दोष बहुओं की दुर्गति होती रहेगी. जन-चेतना जागृत करने की दृष्टि से लिखी गयी इस कहानी में क्रूर समाज की पैशाचिक प्रवृत्ति दिखायी गयी है.
8. I राजेंद्र वानी II रमेश गुप्त III विजयकांत IV आचार्य चतुरसेन.
9. 'शवासन'.

इस बार के विजेता

2500 प्रतियोगिओं में इस बार सर्वशुद्ध हल भेजने वाले एकमात्र प्रतियोगी हैं—

ऋषिकेश पंकज
द्वारा हरि प्रसाद नायक
पो० - दलसिंह सराय,
समस्तीपुर-848 114

सारिका कथा पहेली

कहानियां गौर से पढ़िए और 200 रुपये के पुरस्कार जीतिए!

सारिका कथा पहेली में भाग लेने के लिए आप सभी आमंत्रित हैं. प्रतियोगियों से अनुरोध है कि वे पूर्तियां इसी पृष्ठ पर भरकर भेजें. इस बार के प्रश्न फरवरी : 1990 के अंक पर आधारित हैं. कार्यालय में पूर्तियां पहुंचने की अंतिम तिथि 25 मार्च है. जिन इलाकों में पत्रिका देरी से पहुंचती है, वहां के पाठक 25 तारीख के बाद भी इस उल्लेख के साथ अपनी पूर्तियां भेज सकते हैं.

कथा पहेली : मार्च 1990

1. अधोलिखित कथन, स्थितियां, अथवा घटनाएं जिन कहानियों, लेखों से संबंधित हैं, उनके नाम रिक्त स्थान में लिखें.

I तुम अंतर को हर बार थोड़ा-सा मिटाओगे और वह हर बार उधर से फिर पैदा होता रहेगा.
(............................)

II समर्पण को समग्रता के संदर्भ में ही देखना चाहिए.
(............................)

III जिस राष्ट्र का विचार बौना हो जाये, वह राष्ट्र बौना हो जाता है.
(............................)

IV पत्नी का कोई घर नहीं होता.
(............................)

V यात्रा रद्द कर चलती ट्रेन से उतर पड़ना.
(............................)

2. इन पुस्तकों के लेखकों के नाम कोष्ठक में लिखिए
'बांसुरी' [ ], 'भगोड़ा' [ ], 'मौनी' [ ],
'दरार' [ ], 'हिंदी सिनेमा का इतिहास' [ ],
'शैलूष' [ ], 'बोले सो निहाल' [ ],
'मेरा भाई' [ ], 'चिंतन सागर' [ ], 'त्रिशंकु' [ ],
'रतिराग' [ ], 'वरदान' [ ], 'अचित्रित' [ ],
'इला' [ ], 'हिचकी' [ ], 'रास्ते का मोड़' [ ],
'निर्वसना' [ ].

3. लगातार अंतर्मुखी होता चला गया चरित्र .... शीर्षक कहानी में .... का है.

4. इस अंक की सर्वश्रेष्ठ कहानी है— ....

नाम ....
पता ....

साफ़ी

त्वचा को निखारने और स्वास्थ्य को सुधारने का विश्वसनीय माध्यम !

साफ़ी रक्त में विकार तथा त्वचा के रोगों की चिकित्सा के लिए एक सफ़ल रक्तशोधक और हानिरहित घरेलू औषधि है, जो स्वास्थ्य को सुधारने और त्वचा को निखारने में अद्वितीय है। इसे पूरे विश्वास के साथ प्रयोग किया जा सकता है।

५० वर्षों से अधिक समय से प्रसिद्ध रक्तशोधक

साफ़ी में कई गुणकारी जड़ी-बूटियां, जैसे तुलसी, कचनाल, नीम, चिरायता और प्राकृतिक तत्त्व शामिल हैं। इसी कारण साफ़ी एक हानिरहित स्वास्थ्यदायक औषधि है। यह अनोखे ढंग से अपना काम करती है। यह फोड़े-फुंसियों, मुहासों और एक्ज़ीमा को समाप्त ही नहीं करती बल्कि इनकी उत्पत्ति भी रोकती है। यह विशेषतः कीटाणुओं के कुप्रभावों से बचाती है। इसके अतिरिक्त साफ़ी सफ़ेद धब्बे, पित्त और खुजली जैसी शिकायतों में भी लाभप्रद सिद्ध होती है।

साफ़ी पर साइन्टिफ़िक रिसर्च – एक लगातार क्रिया

साफ़ी पर अब तक बहुत से एनालिटीकल और क्लिनिकल परीक्षण और अध्ययन किये गये हैं और आज भी इस पर की जाने वाली रिसर्च ने साफ़ी के कीटाणुनाशक गुणों और विभिन्न शिकायतों में इस के लाभ को मुख्य रूप से सिद्ध कर दिया है।

साफ़ी कब लें

* रक्त विकार
* त्वचा की खुजली
* फोड़े-फुंसियां
* मुहासे
* गर्मी के दाने
* नकसीर
* कब्ज़
* खसरा
* पेशाब में जलन
* साधारण थकावट और सुस्ती की शिकायतों में

साफ़ी पेशाब लाती है और ऋतु बदलते समय उत्पन्न होने वाली शिकायतों से बचाव के लिये भी उपयोगी है।

24 आवश्यक रक्तशोधक तत्त्वों और जड़ी-बूटियों का अनोखा मिश्रण

हमदर्द

साफ़ी

रक्त को साफ़ करती है, त्वचा को निखारती है।

-5048 HIN

अगला अंक

कैसी होती है वन की शोभा जैसी शक्ल-सूरत... कि उसे देखकर किसी भी मर्द को वृक्ष की छाया अथवा झील की गहरायी याद आ सकती है! कैसी है वनश्री जिसके रूप में चांदनी की स्निग्धता है, लपटों की दाहकता नहीं...?
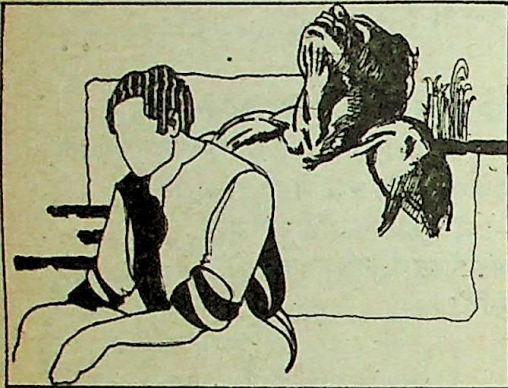
पटल के हाथ में एक कसाई वाली कटार है. इसी से वह काम तमाम कर देता है. पहले ही निश्चय कर लिया गया है कि कुंज को इस बार किसी भी हालत में फिर से बच जाने या अस्पताल जाने का मौका नहीं दिया जायेगा. पहले ही गर्दन को धड़ से निकालकर कम-से-कम दस हाथ की दूरी पर रख दिया जायेगा और भागने से पहले टार्च जलाकर उसके दोनों हिस्सों की पूरी जांच कर ली जायेगी. यों कुंजनाथ का कोई भरोसा नहीं. इससे पहले भी दो बार मौत के मुंह से बचकर आया है...

शीर्षेंदु मुखोपाध्याय का संपूर्ण उपन्यास

रंग-बिरंगे लोग

आगामी आकर्षण

मई अंक के संभावित रचनाकार हैं—कर्तार सिंह दुग्गल, परेश, विभु कुमार, राधेश्याम, सुषम बेदी, प्रेम कुमार, इसाक बाशेविश सिंगर, अशोक गुप्ता और अभिमन्यु अनत. साथ में एक संपूर्ण उपन्यास.

कथा चरित्रों की भीतरी परतें खोलते नव्यतम साहित्य अकादमी पुरस्कार से सम्मानित रचनाकारों—केदारनाथ सिंह, (हिंदी), शीर्षेंदु मुखोपाध्याय (बंगला), यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' (राजस्थानी), सुरेंद्र प्रकाश (उर्दू) व सिजगुरूमयुम नीलवीर शास्त्री (मणिपुरी) की ताजातरीन कहानियां, उपन्यास और कविताएं.

द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण', रावी, विजय किशोर मानव, तेजेंद्र शर्मा और शैलजा की कहानियां.

और

कथा आलोचक (स्व.) देवीशंकर अवस्थी पर विशेष सामग्री

हर बार की तरह आपकी बात, कथा पहेली, लघुकथाएं, अपनी बात, हलचल, फाइल पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, कृतियां, गपशप और चूहा पुराण.

अप्रैल : 1990

समय समाज और संस्कृति की पहचान

सारिका

समय, समाज और संस्कृति की पहचान

The Times of India — One Hundred and Fifty Years

वर्ष : 30, अंक : 454, मार्च : 1990

उपन्यास

40. कोंपल-कथा : अरुण प्रकाश

तकरीबन सौ घरों का यह सतमहला टोला, मंझोले गांव के जरूरी अंग की तरह है जैसे हाथ. कागज पर नाम सतमहला टोला है, पर लोग इसे मल्लाहों की ज्यादा आबादी के कारण गोढ़ी टोला ही कहते हैं. नाई, मल्लाह, कहार, बढ़ई, बनिया सब बसते हैं. पास ही ब्राह्मणों का भी छोटा-सा मुहल्ला है. बीच में भूमिहारों के घर हैं. इलाके के सबसे पुराने जमींदारों के मकान महल कहलाते थे. इसी से नाम पड़ा सतमहला. ऊंचे और बड़े लोगों के महल के ठीक बगल से लक्ष्मण रेखा की तरह खिंची है सतियारा चौक की ओर जाने वाली सड़क... सतियारा चौक पर बस, रिक्शे और अब निरंतर गायब होते जाते तांगों की वजह से बहुत दुकानें खुल गयी हैं, नाश्ता, मिठाई, चाय, पान, डाक्टर, किताब...

व्यंग्य-विनोद-अंक

व्यंग्य-खंड

12. जुलाब की गोली : अमृतलाल नागर
14. खुशखबरी : मुज्तबा हुसैन
16. क्या वह आयेगी : श्रीकांत चौधरी
17. खुलना गालिब के घर... : विनोद शंकर शुक्ल
20. क्रूर मजाक : रमेश गुप्त
22. यदि यदि महाभारते... : प्रेम जनमेजय
24. क्रिकेट टीम का चयन... : गोपाल चतुर्वेदी
26. मेरा फोटो महान : शिवानंद कामड़े
28. अभिनेता दुर्दशा : हरीश नवल
30. सरकार आयी है... : ईश्वर शर्मा
32. न्याय : प्रदीप पंत
34. आई एम आलसो सारी : श्रवण कुमार
36. राधेजी पर व्यंग्य... : पूरन सरमा
38. होली खेलें भैयालाल : महावीर अग्रवाल
39. सही सोचना बंद कीजिए : बलबीर त्यागी

विशेष

85. फिल्मोत्सव-९० : कुंवर नारायण

मॉरीशस खंड

40. वह भी : रामदेव धुरंधर
64. शिष्य-शिष्या-शिक्षक : लोचन विदेशी
68. तलाश : पूजानंद नेमा
70. पर्वतनामा : विराम केवल
78. मॉरीशस की कविताएं : मुकेशजी बोध, धर्मानंद

धारावाही आयोजन

73. लाल पसीना : अभिमन्यु अनत

स्थायी स्तंभ

4. कथा पहेली
8. आपकी बात
11. अपनी बात
77. कृतियां
81. पत्रिकाएं
82. हलचल

प्रकाशक : रमेशचंद्र

संपादक : अवधनारायण मुद्गल

उपसंपादक : सुरेश उनियाल, महेश दर्पण, वीरेंद्र जैन

आवरण एवं सज्जा प्रबंधक : लोकेश भार्गव

सीनियर मैनेजर विज्ञापन : एस.एस. मेहता

मैनेजर रिसपांस : डा. राजेंद्रपाल जैन

प्रोडक्शन : हरेंद्र सिंह नेगी, उदेश कुमार

अंक सज्जा : किनमिन

आवरण : शेखर गुरेरा

- संपादकीय, विज्ञापन, प्रसार एवं व्यवस्था : 10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002 दूरभाष : 3271911

टाइम्स हाउस, 7 बहादुरशाह जफर मार्ग, नयी दिल्ली-110002 दूरभाष : 3312277 (20 लाइनें)

अन्य कार्यालय :

- डा. दादाभाई नौरोजी मार्ग, बंबई-400 001
- फ्रेजर रोड, पटना
- अनुपम चैंबर्स, टोंक रोड, जयपुर
- 33 आश्रम रोड, अहमदाबाद-1
- 13-1-2 गवर्नमेंट प्लेस, ईस्ट, कलकत्ता-700 062
- 'गंगा-गृह' तीसरी मंजिल, 6-डी नगामबक्कम हाई रोड, मद्रास-600 034
- 88 महात्मा गांधी रोड, बंगलूर
- 407-1 तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411 002

शीशों के पार

सारिका का 'नववर्ष उपहार अंक' मन भाया. आपका यह उपहार, आपकी यह सौगात, नव वर्षारंभ के शुभावसर पर बहुत अच्छी लगी. धन्यवाद. इस अंक में बहुत दिनों के बाद आप 'अपनी बात' सुनने को मिली. तरस रहा था पर भाई मुद्गलजी, मिली तो देर से सही, पर खूब मिली, खूब ही मिली—बड़ी सुंदर बातें, बड़ी सामयिक, प्रासंगिक और महत्वपूर्ण बातें आपने बड़े सुंदर व प्रभावी ढंग से अपनी बात के संक्षिप्त कलेवर के माध्यम से कह डालीं. कितनी सुंदर बातें और कहने का कितना सुंदर ढंग, कितना सुंदर तरीका. आपके विचारों और उसके प्रस्तुतीकरण की प्रौढ़ता का कायल हो गया और लगा कि आप लंबी चुप्पी साधकर हम जैसे पाठकों को एक प्रौढ़ साहित्यिक मार्गदर्शन से वंचित कर रहे हैं—आग्रह है अपनी बात अब आप लगातार कहते रहें—या इस तरह की सिद्धि दीर्घ मौन साधना के पश्चात ही प्राप्त होती है?

राजेंद्र यादव के संबंध में जो सामग्री दी वह तो बहुत ही मूल्यवान है. साहित्य साधकों, सर्जकों, समीक्षकों के लिए अतिशय मूल्यवान, निहायत उपयोगी—मार्गदर्शक—ज्ञानवर्धक.

प्रभाकर जी और परसाई जी के संस्मरण काफी अच्छे लगे. दोनों के संस्मरण अपने ढंग से निराले-जीवन दृष्टि खोलने वाले, चेतना उद्बुद्ध करनेवाले.

कथा रचनाओं में राजेंद्र यादव की 'जहरबाद' अच्छी लगी. रमेशचंद्र शाह की रचना 'एक सार्वजनिक विलाप' भी. रचना सशक्त है, आकर्षित करती है, रमाती है. कमलेश्वर जी अपने ढंग से पाठकों को उकसाते रहे, भरमाते रहे पर सुंदर, स्वच्छ, सृजनात्मकता का सौंदर्य-सुख नहीं दे सके.

वैद, जैन, श्रीवास्तव भी बहुत प्रभावित नहीं कर पाये. पर हां, रचनाओं की इस भीड़ में शैलेश मटियानी निश्चित रूप से चमक गये—अपेक्षाकृत इस सूखे में उन्होंने अमृत वृष्टि कर दी. अमृतधारा बहा दी, अमृत प्रवाहित कर दिया—उनकी रचना 'शीशों के पार उगी हरियाली' वस्तुतः एक सर्वांग सुंदर रचना है, एक श्रेष्ठ कलात्मक कृति है, शाश्वत महत्व की कालजयी कृति. क्या भाषा, क्या शिल्प, क्या भाव, क्या भावोद्गार, सर्वरूप में, सर्वदृष्टि से यह रचना अतिशय परिपक्व और प्रभावशालिनी है. मानवता के सर्वाधिक आदिम और सनातन और श्रेष्ठ स्वच्छ दिव्य भाव—प्रेम पर आधारित यह रचना शुद्ध स्वच्छ प्रेम के दिव्य अमृतरसत्व का दिग्दर्शन कराती है, उससे अंतरंग साक्षात्कार कराती है और कहानी के पात्रों व परिवेश के साथ-साथ पाठकों के भी अंतर्निहित कलुष-कल्मष का परिहरण परिष्करण प्रक्षालन कर जाते हैं—शुद्ध स्वच्छ सर्वथा अविकृत गंग प्रवाह की तरह. वास्तव में यही एक रचना इस उपहार अंक को संपूर्ण सृजनात्मक गौरव गरिमा प्रदान करने में सर्वथा सक्षम सिद्ध होती है. अन्य रचनाएं इसकी तुलना में ज्योतिर्मंद निष्प्रभ निस्पंद-सी लगने लगती हैं. यहां तक कि नागार्जुन जी का उपन्यास 'गरीबदास' और अभिमन्यु अनत का 'लाल पसीना' भी वह सृजनात्मक परितृप्ति नहीं दे पाते जो शैलेश जी की कथा रचना 'शीशों के पार उगी हरियाली' दे जाती है. •

रवींद्रनाथ ओझा, बेतिया

सारिका-सूत्र

वस्तुतः यह 'नववर्ष उपहार अंक' हिंदी साहित्य सागर से खोज कर एवं तराश कर लाये गये बहुमूल्य मोती माणिक तथा रत्नों का कोष है, जिन्हें माननीय संपादक जी ने तन्मयता एवं सुयत्नपूर्वक 'सारिका सूत्र' में पिरोया है. बुद्धिजीवियों को अपनी उत्तम रचनाओं द्वारा कृतार्थ करने वाले इन यश सिद्ध प्रख्यात रचनाकारों की प्रशस्ति भी एक पुण्य पावन कार्य है.

यशस्वी मनस्वी साहित्यकार श्री राजेंद्र यादव पर सशक्त सामग्री अंक का सर्वोत्कृष्ट आकर्षण है. दर्पण से उज्वल उनके आत्म कथ्य 'यह ठाठ फकीरी' ने सर्वाधिक प्रभावित किया. उनकी स्पष्टोक्तियों तथा स्वयं को यथावत प्रबुद्ध पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर देने के साहस ने सम्मोहित-सा कर दिया. उनका संपूर्ण कथ्य एक शाश्वत कटु सत्य-सा है. यह केवल उनकी नहीं प्रत्येक सफल साहित्यकार की विडंबना ही है कि उसे लक्ष्मी तथा सरस्वती का वरदान एक साथ प्राप्त नहीं होता. ख्याति या वैभव एक का ही चयन उसे करना होता है. सफलता के सर्वोच्च शिखर पर बैठे लगभग प्रत्येक साहित्यकार का इतिहास त्याग तथा व्यथा की लेखनी से लिखा जाता है. यह परम सत्य आंशिक रूप से हरिशंकर परसाई के संस्मरण में भी उभरा है परंतु रामकृष्ण शर्मा ने सफल सामान्य गृहस्थ बनने हेतु अपने सामान्य गुणों तथा विशिष्ताओं को त्याग दिया. धन्य हैं परसाई जी जिन्होंने उस सामान्य से व्यक्तित्व को स्मृति कोष में सजाए रखा.

चंद्रगुप्त विद्यालंकार का संस्मरण 'अगली सुबह'.... भी भावाभिभूत करते हुए इस सत्य-तथ्य को प्रबल करता है कि काल न तो किसी कि प्रतीक्षा करता है न किसी को अवसर या अवकाश देता है.

शैलेश मटियानी की सहज सुरम्य तथा सजीवन भाषा से सजी 'शीशों के पार उगी हरियाली' अल्मोड़ा के कुमाऊं समाज की निर्मम रूढ़िवादिता तथा संकीर्णता को स्पष्टतः प्रतिबिंबित करती है.

'दालचीनी के जंगल' में भोपाल गैस त्रासदी के जन मानस एवं जीवन पर पड़े प्रभाव एवं टूटन घुटन को साहित्य विज्ञ कमलेश्वर ने वेदनात्मक तथा मर्मांतक पीड़ा सहित जीवंत रूप से उभारा है.

अपने 'प्रशस्ति पत्र' के अंत में एवं संक्षेप में नागार्जुन, विष्णु प्रभाकर, अभिमन्यु अनत सहित प्रज्ञा कौशल सिद्ध समस्त रचनाकारों की सुपाच्य सामग्री हमारी बौद्धिक क्षुधा को शांत करने में पूर्णतः सक्षम रही है. शत-शत मंगल कामनाएं एवं अभिनंदन.

• कमल कपूर, फरीदाबाद

खुली खिड़की से दूर

सरिका के उपहार अंक की 'वाटिका' का सबसे खूबसूरत और सुवासित पुष्प 'शीशों के पार उगी हरियाली' ने मन के भीतरी कोरों को छू लिया. प्रस्तुत कहानी में साहित्यविद् शैलेश मटियानी ने समाज में व्याप्त बंधनों और मानवीय प्रेम के समीकरणं को हल करने का प्रयास किया है. एक ओर तमाम सामाजिक वर्जनाओं से बोझिल पिता की मजबूरियां हैं तों दूसरी ओर एक निर्दोष पुत्री का निष्कलुष प्रेम है. दोनों ही अपनी-अपनी जगह अपने-अपने अंतर्द्वंद्व से जूझ रहे हैं.

सुमिता एक कुलीन घराने की बेटी—वह सामाजिक बंधनों को तोड़कर अपने मन मीत महेश के साथ जीवन भर की रस्में निभा सकती है पर उसे अपने परिवार से हमेशा के लिए टूट जाने का डर है. उधर उसके पिता को अपने परिवार और समाज की मर्यादा का ख्याल है. यदि उनके मन के किसी कोने में मौन स्वीकृति की जगह भी है तो वे कुछ स्पष्ट नहीं कर सकते. ऐसे में सुमिता का मन हमेशा के लिए कुंआरा रह जाता है. लोग उसके कुंआरेपन पर टिप्पणियां तो करते हैं लेकिन उसकी तह तक नहीं जाते, नहीं जा सकते.

निर्दोष सुमिता अपने प्रौढ़पन में खुली खिड़की से दूर बहुत दूर देखती रह जाती है. वह समाज, प्रेम, पिता और पुत्री के बीच के समीकरण को हल करना चाहती है, पर समय शायद बीत चुका है. मर्यादा, इज्जत और खानदान जैसे शब्द उसके शरीर को घुन की तरह खा रहे हैं. ऐसी कितनी ही सुमिता अपनी-अपनी जिंदगी को घसीट रही हैं. जीवन का यह समीकरण आखिर कब सुलझेगा? यदि समष्टि का अस्तित्व व्यष्टि से है तो व्यष्टि को अनदेखा नहीं करना होगा? समाज को अपना 'सोच' बदलना होगा.

प्रस्तुत कहानी मानव जीवन के एक दूसरे पहलू को भी उजागर करती है. हम समाज सुधार की तमाम बातें करते हैं, उपदेश देते फिरते हैं पर जब खुद को उस अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ता है तो लगता है सुधार के वे सारे तर्क बकवास हैं, निरर्थक हैं. लगता है जो कुछ होता आ रहा है वही सही है.

• मदन कुमार, नालंदा (बिहार)
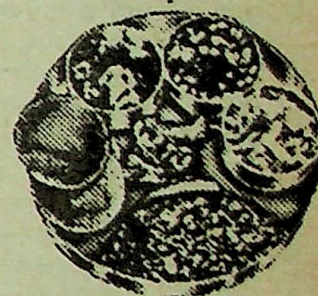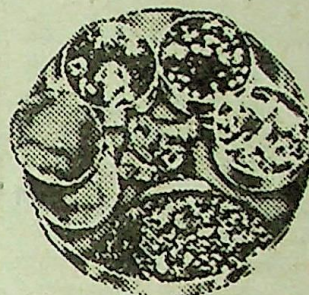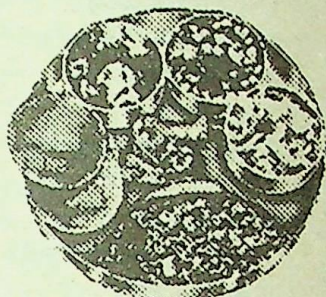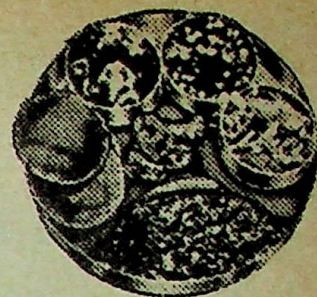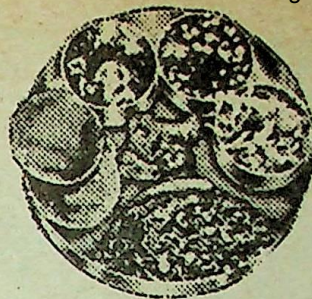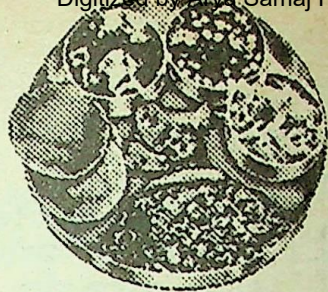
अपना सिलिंडर दस दिन और अधिक कैसे चलायें!

उबाल आने पर आंच धीमी करें और गैस बचाएं
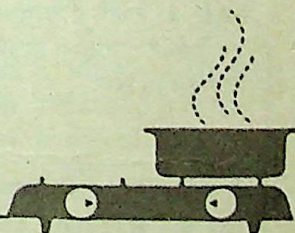
छोटा बर्नर इस्तेमाल करें, और गैस बचाएं।

खाना पकाते समय बर्तन ढकें और गैस बचाएं।
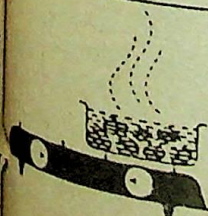
कृप्या मुझे कुछ और उपाय बताएं तथा पकवानों वाली पुस्तिका भेजें

नामः ____________________

पताः ____________________

____

पिनः ____________________
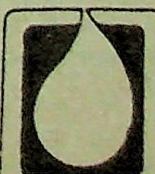
पेट्रोलियम कंजर्वेशन रिसर्च एसोसिएशन
603 न्यू दिल्ली हाउस
27 बाराखम्बा रोड, नयी दिल्ली 110001

सारिका द्वारा जारी अपील

दूरदर्शन के अंग्रेजी समाचारों द्वारा भारतीय भाषाओं के साहित्य विरोधी नीति की भर्त्सना

हम राजधानी के सभी हिंदी-प्रेमी साहित्यकार एवं पत्रकार दूरदर्शन के अंग्रेजी समाचारों की हिंदी-विरोधी नीति का कड़ा विरोध करते हैं. कल रात (23.2.90) दूरदर्शन के 9.30 पर प्रसारित होने वाले अंग्रेजी समाचारों में हिंदी के वरिष्ठ और मूर्धन्य कथाकार स्व० श्री अमृतलाल नागर के देहावसान की कोई सूचना नहीं दी गयी. लगता है दूरदर्शन के अंग्रेजी समाचारों के संपादक इतना भी नहीं जानते कि एक रचनाकार किसी भाषा विशेष की ही नहीं अपितु पूरे देश और उस देश की संस्कृति की धरोहर होता है. ऐसी किसी भी धरोहर की दूरदर्शन के अंग्रेजी समाचारों द्वारा पूर्ण उपेक्षा सर्वथा निंदनीय है. हम ऐसी प्रवृत्ति की खुली निंदा करते हैं. हम यह मानते हैं कि राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं खेल जगत की घटनाएं, दुर्घटनाएं अंग्रेजी समाचारों के लिए महत्वपूर्ण होती हैं उतनी ही महत्वपूर्ण तथा अनुपेक्षणीय साहित्य-जगत की घटनाएं-दुर्घटनाएं होनी चाहिए. दूरदर्शन को यह बात अच्छी तरह याद रखनी चाहिए कि वह अंग्रेजी का ही दूरदर्शन नहीं, भारतीय दूरदर्शन है और नागर जी भारतीय साहित्यकार थे तथा देश की किसी भी भाषा का साहित्यकार भारतीय साहित्यकार ही होता है. उसकी उपेक्षा भारत की ही उपेक्षा है.

नागार्जुन, विष्णु प्रभाकर, नामवर सिंह, भीष्म साहनी, राजेंद्र यादव, विजयेंद्र स्नातक, मन्नू भंडारी, अक्षय कुमार जैन, राजेंद्र माथुर, अमृता प्रीतम, रणीवर रांग्रा, कुंवर नारायण, पद्मा सचदेव, नरेंद्र कोहली, डा. विनय, अश्वनी पाराशर, विजय किशोर मानव, नारायणदत्त पालीवाल, अवधनारायण मुद्गल, मृणाल पांडेय, हरिकृष्ण देवसरे, हिमांशु जोशी, रमाकांत, सत सोनी, मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, घनश्याम पंकज, सुरेंद्र प्रताप सिंह, गंगाधर गाडगिल, डा. वाई.सी. हालन, मंजुल भगत, बिशन टंडन, करुणा निधान, से.रा. यात्री, सुरेश उनियाल, असगर वजाहत, सुरेंद्र अरोड़ा, रामकुमार कृषक, प्रभु चावला, इंदु जैन, महेश दर्पण, वीरेंद्र जैन, दिनेश द्विवेदी, राजकुमार गौतम, मनमोहन चड्ढा, किशोर वासवानी, हरिप्रकाश त्यागी, एम. के. रैना, सुधीश पचौरी, वेद प्रताप वैदिक, बनवारी, सुभाष अखिल, मोहन राणा, पवन महेंद्र और विनोद भारद्वाज आदि.

24 फरवरी, 90

यशस्वी साहित्यकार अमृतलाल नागर के देहावसान का समाचार दूरदर्शन के अंग्रेजी समाचारों में समाहित न किए जाने पर दूरदर्शन की भर्त्सना और अपना विरोध दर्ज करवाने की मुहिम सारिका परिवार ने अगली सुबह शुरू की थी. दूरभाष पर संपर्क करने पर जिन-जिन साहित्य संस्कृति कर्मियों ने इस विरोध में अपनी हिस्सेदारी की सहमति हमें दी उन सबका नामोल्लेख करते हुए हमने विरोध पत्र की प्रतियां राजधानी के सभी प्रतिष्ठित समाचार पत्रों और हिंदी की दोनों समाचार एजेंसियों को भेज दी थीं. अगले दिन के समाचार पत्रों ने इस विरोध पत्र को जिस रूप में प्रस्तुत किया और विरोध के स्वर में स्वर मिलाने वाले जिन चंद लोगों के नाम प्रकाशित किए उससे न केवल विरोध का स्वर मंदा जान पड़ा बल्कि विरोध से सहमत हमारे तमाम समानधर्मियों को विरोध से असहमतों की पंक्ति में ला खड़ा किया. इस प्रकरण में हमारे पाठक और गुमराह न हों इसी उद्देश्य से हम विरोध पत्र और उस पर सहमति दर्ज करवाने वाले तमाम जागरूक हिंदी प्रेमियों का नाम यहां प्रकाशित कर रहे हैं.

—संपादक

प्रेस तथा पुस्तक पंजीयन अधिनियम की धारा 19 'डी' के अंतर्गत अपेक्षित 'सारिका' नामक समाचार-पत्रिका से संबंधित स्वामित्व और अन्य बातों का ब्यौरा. (1 मार्च, 1990 के अनुसार)

1. प्रकाशन का स्थान	10 दरियागंज, नई दिल्ली-110 002
2. प्रकाशन की आवर्तता	मासिक
3. मुद्रक का नाम	श्री रमेशचंद्र, स्वत्वाधिकारी, बैनेट, कोलमैन एंड कंपनी लिमिटेड के लिए
क्या भारतीय नागरिक हैं?	हां
पता	4. तिलक मार्ग, नई दिल्ली-110 001
4. प्रकाशक का नाम	
क्या भारतीय नागरिक हैं?	क्रमांक 3 के अनुसार
पता	
5. संपादक का नाम	श्री अवधनारायण मुद्गल
क्या भारतीय नागरिक हैं?	हां.
पता	10. दरियागंज, नई दिल्ली-110 002

6. उन व्यक्तियों के नाम और पते जो समाचारपत्र के मालिक और कुल प्रदत्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के हिस्सेदार या भागीदार हैं.

भागीदार : (1) भारत निधि लिमिटेड, टाइम्स हाउस, चौथी मंजिल, 7, बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली-110 002, (2) एसजे एस्टेट्स लिमिटेड, शांति निकेतन, 14वीं मंजिल, 8, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-700 017, (3) अशोका होल्डिंग्स लिमिटेड, टाइम्स हाउस, चौथी मंजिल 7, बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नई दिल्ली-110 002, (4) पी.एन.बी. फाइनेंस एंड इंडस्ट्रीज लिमिटेड, पी.एन.बी. हाउस, तीसरी मंजिल, 5 पार्लियामेंट स्ट्रीट, नई दिल्ली-110 001, (5) अर्थ उद्योग लिमिटेड, 306, कुशल बाजार, 32-33, नेहरू प्लेस, नई दिल्ली-110 019, (6) पंजाब प्रोपर्टीज लिमिटेड, पी.एन.बी. हाउस, तीसरी मंजिल, 5, पार्लियामेंट स्ट्रीट, नई दिल्ली-110 001 (7) कैमक कमर्शियल कंपनी लिमिटेड, 33/1 नेताजी सुभाष रोड, 345, मार्शल हाउस, कलकत्ता-700 001 (8) टीएम इन्वेस्टमेंट्स लिमिटेड, 13वीं मंजिल, 8, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-700 017 (9) अशोका विनियोग लिमिटेड, 8, कैमक स्ट्रीट, कलकत्ता-700 017 (10) मैसर्स साहू प्रोपर्टीज़ लिमिटेड, कमरा नं. 21, स्टीफन हाउस, 4, डलहौजी स्क्वेअर ईस्ट, कलकत्ता-700 001, (11) मैसर्स साहू जैन लिमिटेड, टाइम्स हाउस, चौथी मंजिल, 7, बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नई दिल्ली-110 002.

मैं रमेशचंद्र, एतद् द्वारा घोषित करता हूं कि मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार उपरोक्त विवरण सही है.

रमेशचंद्र
प्रकाशक

1 मार्च, 1990

एक भावांजली

आगरा. आगरा में राजामंडी, राजामंडी में गोकुलपुरा. गोकुलपुरा में एक पतली सी पत्थर की गली और उस गली के दाहिने किनारे नुक्कड़ पर एक पुराना मकान. अब उस मकान में कौन रहता है, वह कैसा है, यह मैं नहीं जानता लेकिन 1953 में वहां नागरजी की ससुराल थी. मैं और नागरजी का छोटा बेटा शरद नागर उस मकान के बाहरी कमरे में अकसर पढ़ते थे, बहसें करते थे और तभी से मैं नागर परिवार का एक सदस्य बन गया था. शरद की नानी मेरी नानी हो गयी थीं और शरद के बाबूजी एवं बा मेरे बाबूजी और बा हो गये थे. बीच में कुछ साल का अंतराल आया. किन्हीं कारणों से मेरी पढ़ाई छूट गयी लेकिन फिर से वह सिलसिला शुरू करने के लिए मैं कानपुर चला गया. 1958 में बाबूजी और बा के विशेष आग्रह पर मैं लखनऊ चला गया. उन दिनों लखनऊ में मुझे नागरजी और बा का प्रोत्साहन, प्यार और भरपूर सहयोग न मिला होता तो मेरी पढ़ाई किसी भी तरह पूरी नहीं हो सकती थी. वे हमेशा मुझे शरद की तरह ही मानते रहे और मेरे पूरे परिवार को अंतिम समय तक उनका स्नेहाशीष मिलता रहा. सन् 82 में जब मैंने सारिका का कार्यभार संभाला तो बाबूजी से उनकी एक व्यंग्य रचना के पुनर्प्रकाशन की अनुमति मांगी. उत्तर में उनका गुस्से भरा पत्र आया था. उस पत्र को मैं आजीवन नहीं भूल सकूंगा. उन्होंने लिखा था, "तुम्हें अनुमति के लिए पत्र लिखने की हिम्मत कैसे पड़ी. तुम में और शरद में मैंने कभी अंतर नहीं माना. तुम्हें मेरी रचनाओं पर उतना ही अधिकार मानना चाहिये जितना शरद का है. आइंदा ध्यान रखना कि इस बात की पुनरावृत्ति न हो." ऐसी आत्मीयता, ऐसा स्नेह और ऐसा विश्वास भुलाया नहीं जा सकता. 23 तारीख की रात हिंदी समाचारों में जब बाबूजी से संबंधित यह समाचार सुना तो सहसा विश्वास नहीं हुआ. हालांकि यह सही है कि वे अपने प्रिय अनुज मदनलाल नागर की मृत्यु से काफी टूट गये थे, टूटने की रही-सही कसर स्नेहमयी बा की मृत्यु ने पूरी कर दी थी. फिर भी वे 'करवट' उपन्यास को पूरा कर पाने की उत्कट इच्छा लिये हुए किसी तरह जीये जा रहे थे. बा के बाद वे पूरी तरह अकेले हो गये थे. यह उपन्यास लेखन ही उनका एकमात्र सहारा बच रहा था. हिंदी साहित्य के लिए तो उनकी मृत्यु एक अपूर्णनीय क्षति है ही, मेरे लिए यह व्यक्तिगत और पारिवारिक क्षति है. मुझे लग रहा है कि एक स्नेहाशीष से भरा हाथ जो 37 वर्षों से मेरे सिर पर रहा, वह अचानक कहीं गुम हो गया है. मैं समझ नहीं पा रहा कि उन्हें किस तरह श्रद्धांजली अर्पित करूं. फिर भी मैं अपनी और समस्त सारिका परिवार की ओर से उन्हें भावांजली अर्पित कर रहा हूं.
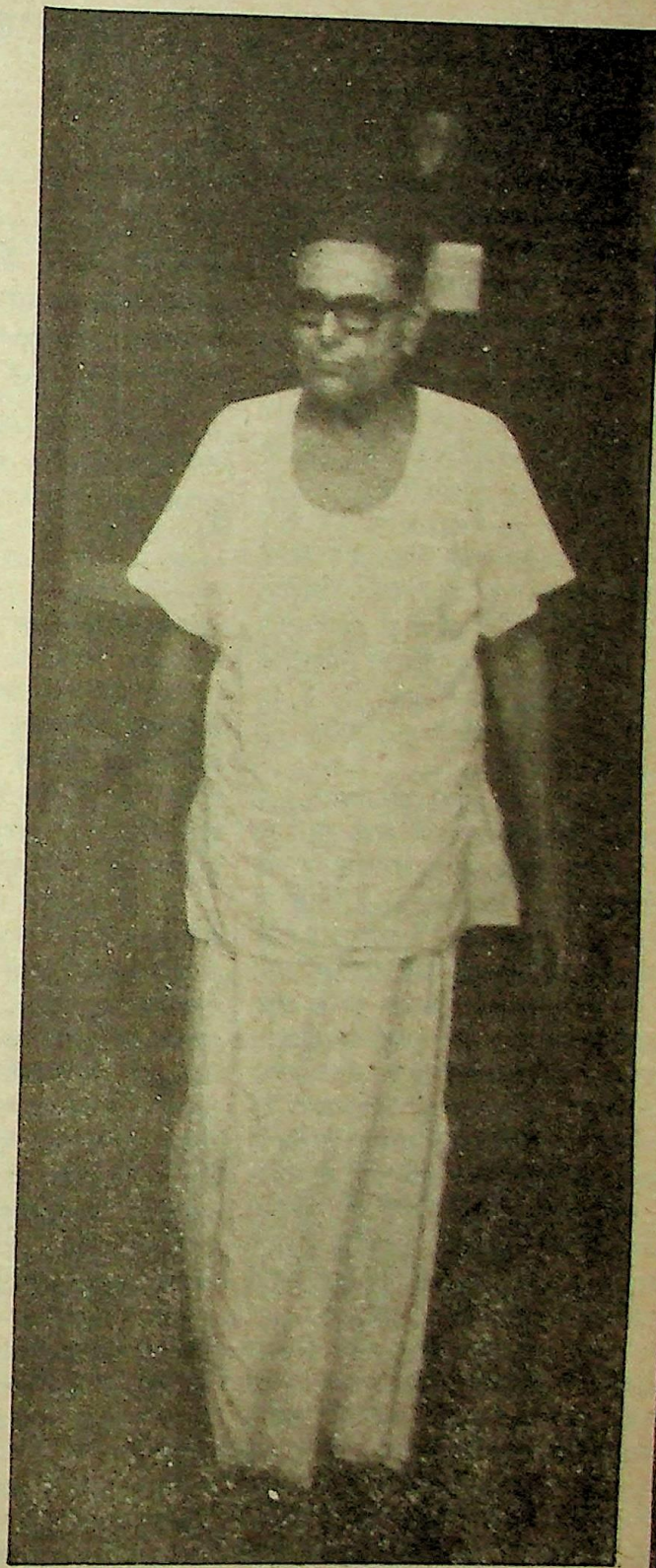
जन्म : 17 अगस्त, 1916 (आगरा);
देहावसान : 23 फरवरी, 1990 (लखनऊ)

जुलाब की गोली

अमृतलाल नागर

नागरजी की यह रम्य-रचना सारिका के इस अंक विशेष में प्रकाशित करने की अनुमति लेते समय हमने यह सोचा भी न था कि इस अंक का शुभारंभ करने जा रही इस रचना को हमें 'हिंदी जगत के अनन्य किस्सागो को श्रद्धांजली' के रूप में प्रकाशित करने का दुर्योग हासिल होगा.

''कल तो जनाब वो हंगामा मच गया कि उफ! उफ! ! अजी बस पूछिए मत! वह तो कहिए कि खुदा से कुछ नजर-बंद से बचा ही लिया—मौके पर हम न थे—वरना तलवारों पर मूठें ही बचतीं या धड़ों पर सिर ही सलामतियां मनाते नजर आते.

'सुना साहब चौक में गुल खिला.' एक ने कहा, 'कोठा उलट गया.' दूसरे ने उसमें कुछ सुधार किया, कहने लगे, 'अजी नहीं भाईजान, उलटा नहीं, बस उलटकर रह गया.' तीसरे तशरीफ लाए, दिल पर हाथ रक्खा, जरा-सी एक सर्द आह खींची, कुछ गले में गुबार उभरे थे, बोले, 'हाय! छुन्नन कोठे से गिर पड़ी. बीच बाजार में कई सिरों पर गिरी. दिल था सो उछल के निकल पड़ा, आंखें जो फिरीं तो फिर मिलना नसीब न हुआ, धुरपद का ख्याल गले में अटक के ही रह गया. उसके सच्चे आशिकों ने जो सुना तो इस वक्त खबर यह है कि अपने-अपने घरों में उनकी लाशें फांसी के फंदों में लटक रही हैं.'

''बी छुन्नन का नाम! और हमारा नाम उसके आशिक़ों की लिस्ट में. अजी सुनना था कि दिल पे बन आयी. अब लाख-लाख सर्द आहें निकालने की कोशिश कर रहे हैं, आंखों में सावन-भादों बसाना चाहते हैं, मगर जान है कि कंबख्त निकलने को नहीं आती. इधर आशिकों के नाम पर बट्टा लगता है और घर में फांसी लगाने लायक जगह नहीं. इरादा यह भी हुआ कि खबर लानेवाले साहब को हलाल करके रख दें. सरकार खुद ही हमारे लिए फांसी का इंतजाम कर देगी. वह तो कहिए कि हजरत किस्मत के धनी निकले. हम पैदाइशी बेकार हैं, सब्जी बनती ही नहीं, घर में छुरी रक्खी ही किसलिए जाए? और अब तो खुदा के फजल से चेहरे पर नूर भी है. पनामा ब्लेड क्या, उसकी एक किर्च भी पास में नहीं. बच गए.

''गम का यह हाल कि उमड़ता ही चला आया, गोया समंदर हो और हम थे कि उस जमाने की याद कर-करके मजनूं हुए जाते थे. जब जवानी का नया दौर ही चला था और छुन्नन का नाम हमारे कानों में बंसी की तरह बजता था—एक दिन महफिल में. छोटे नवाब की बदौलत दूर से देख भी लिया था और सीने में एक लोटन कबूतर पाल लाए थे.

''वो उसके जिगर को चीरकर निकली हुई चीख! हाय! एक-एक लफ्ज अब तक मिस्ले-तावीज दिल पर नक्श है.

'तुम अइयो कान्हा नदिया किनारे मोरा गांव.'

''अजी गया; मगर जाने से क्या होता—चौक के चौराहे पर पनवाड़ी की दूकान के सामने दुन्नी उस्ताद मिल गये. उनसे कहा कि भई तुम दो दिलों को जोड़ने के लिए सरेस बन जाओ. बोले, 'मियां सोना महंगा है. पचास का भाव है, दस-पांच और लगे-लिपटे में.'

''मन मसोस के रह गया. बेकारी तीन पुश्त से विरासत में चली आ रही है. हम तो खम ठोक के सरे-बाजार पुकारते चलते हैं कि हमें कोई ऐरा-ग़ैरा न समझना, खानदानी बेकार हैं जनाब! कभी हमारे पुरखे भी गोटे-पट्ठे का काम करते थे. एक ही कारीगर थे. एक-एक निखर उठती थी. मगर जनाब, अब तो न गुल है न गुलाब है, फक़त लेडियां हैं. गोटे-पट्ठे ठंडे पड़ गए, लिपस्टिक की आदम में पान की लाली मुरझायी, केले की सिल्क चली और दस्तकारी साफ. अब तो हाल यह है दादियों के मुंह से उस जमाने की गढतें सुनते हैं; कभी-कभी चूल्हे की खूराक के लिए पुराने बेल-फूलों के बचे-खुचे ठप्पे निकालते हैं तो वाजिदअली शाह के जमाने के 'घुन' सन् सत्तावन के गदर की याद कर बिलबिलाते हुए चूल्हे के जोशो-जज्बात से दूर भागते हैं.

''बताइए फिर भला छुन्नन हमारे पास क्योंकर आती?

''एक बार सुना कि संवलिया नवाब की बारहदरी में छुन्नन छूमछनन करेगी. धक्के खाए, गले में हाथ पड़े; वो प्यारी-प्यारी आवाज़ नसीब कहां, दरबान की गालियां अलबत्ता सुनीं. मगर वाह रे हम, किसी का एक भी भर्रा न चला. वहीं दीवार में दुबक कर बैठे रहे. वो चिल्ले की रात फकत मजलिसी-रईसों के कीमती गर्म कपड़ों का ध्यान करके काट दी. बीच-बीच में छुन्नन के सुरीले गले की दाद जब दी जाती तो हम जी उठते. तबीयत इस तरह बाग-बाग हो उठती, कि हम गोया अपनी खास बीवी की ही तारीफ सुन रहे हों.

''तारों ने झपकी ली और महफिल उठी. रईस रुखसत हुए और हमारी आंखें बी छुन्नन के इंतजार में बिछ गयीं. चिड़ियों ने चहकना शुरू किया. नवाब छुन्नन को डोले तक खुद पहुंचाने तशरीफ लाए. हमने झुककर सलाम किया. नवाब समझे, हमने उनकी इज़्ज़त बढ़ायी. उन्होंने जवाब दिया. बी छुन्नन ने तभी एक बार हमसे नजरें मिलायी थीं.

''वो दिन है और आज का रोज—कलेजे में जो तीर धंसा तो अब निकलता ही नहीं. अब ये खबर जो सुनी तो क्या नाम है कि उस्ताद के कलाम का निचोड़, कि मौत तो किसी न किसी दिन आ ही मिलेगी मगर रात की नींद तो हमारे लिए छुन्नन हो गयी!

''गम किसी तरह भी गलत ही न हो. इरादा किया, जाकर आखिरी बार की झांकी लें, मगर सुना कि लाश कोठे पर उठ गयी. बात सुनने के लिए जो सिर उठाया था सो उठाए ही रहे. फिर एक बात दिमाग में आयी तो खुद उठे. गिड़गिड़ाते हुए जाकर बेगम से कहा, 'एक चवन्नी दे दो.' बेगम खुदा जाने क्यों उस दिन मुझ पर मिहरबान थीं या क्या—बहरहाल बात—बात में चहकी पड़ती थीं! गमककर उठीं. पहले पान की दो बीड़ियां लगाकर खिलायीं, फिर कमर से बटुआ निकाल चार चेहरे-शाही पकड़ा दिए.

''अजी जिंदगी में न कभी देखी न सुनी. ऐसी सखावत कि राजा करन भी मात. अब साहब गम को तो किया जेरे-पाकिट और चमक के पूछता हूं, 'बेगम, मुझे?'

''मुस्करा के बोलीं, 'हां!'

''अब हम हैं कि कलेजा थामे खड़े हैं और लक-लक बेगम के चेहरे पर आंखें चिपकी हैं.

''और कैसे अर्ज करूं कि अपने मुंह से कहते शर्म आती है. आप कहेंगे कि अपने माल की आप तारीफ की. मगर असलियत यह है कि अगर तवायफ होती तो हिंदुस्तान के नौजवान कट मरते और शाहजादी होती तो अब तक दुनिया के शाहंशाह कब्रों में आराम फरमाते होते. मगर किस्मत तो हमारी खुलने को थी कि

अगर आज इससे शादी न होती या इसका ऐसा इखलाक न होता तो हजरत, आज हमको कब्रिस्तान की जमीन नापे बरसों गुजर गए होते. कुछ उसी की किस्मत है कि इज्जत की दो रोटियां मिलती हैं. कभी गुनगुना देती है तो राग-रागनियां हाथ बांधकर खड़ी हो जाती हैं. जब हंसती है तो यकीन मानें बिजली झेंप कर रह जाती है. खानदान इतना ऊंचा कि बड़े-बड़े नवाब उसके रिश्तेदार—कोई चचाजाद तो कोई बुआजाद भाई. रोज ही कहीं न कहीं जाना-आना. हम गरीब हैं इसलिए बहुत-से नवाब छिपकर हमारे यहां आते हैं. कुछ न कुछ अपनी बहन को दे-ले जाते हैं. यह जनाब उसका इखलाक है कि बड़े-बड़े को घसीट लाता है. समझे कि नवाब छुट्टन, और नवाब बच्छन, और नवाब अच्छन और छोटे नवाब और कल्लन नवाब और बड़े-बड़े खांबहादुर और डिप्टी कलक्टर गर्जे कि कच्चे धागे में चले आते हैं सरकार बंधे. सलीके और फैशन की तो यह हालत है कि जब कभी दिल खुश करने के लिए ऊंची एड़ी का जूता पहनकर घर में छाता तानकर खड़ी हो जाती है तो बड़ी-बड़ी लेडियां उसके आगे पानी भरें. वैसे देखने में कुछ नहीं, एक फकत जरा-सी जुलाब की गोली-सी है. कोई देखे तो कहे, ज्यादा से ज्यादा साढ़े बारह बरस की होगी. मगर हमारा दिल तो छुन्नन के छपके में बिंधा है भाईजान, बेगम की तरफ कुछ खयाल ही कम जाता है.

'तो जनाब, जो उसने चार रुपये मुझे टिकाए तो मैं हक्का-बक्का हो पूछ बैठा, बेगम, आज इतनी इनायत क्यों?'

"बोलीं, 'वो कलमुंही छुन्नन सुना गश खाकर कोठे से गिरी और काला मुंह कर गयी, अब गुल्लन भाईजान के सिर की बला टली खुश हूं.

"मैं समझा. नवाब गुल्लन साहब भी बेगम के मामूजाद भाई हैं. छुन्नन पर जी-जान से फिदा. उनकी तमाम दौलत मेरी जान के कोठे में खिसकी जाती थी. इसे कुछ न कुछ मिलता था. इसी से बेगम छुन्नत से कटती थीं. मेरे दिल पर चोट तो लगी, मगर चुप रहा. ..."

पूरे दो घंटे बाद मियां की मेल ट्रेन रुकी. यह कोई एक हफ्ते पहले की बात है. कंपनी बाग में कोने की बेंच पर बैठा एक मजमून लिख रहा था. अचानक यह महीन से मियां तशरीफ लाए. पहले कुछ तकल्लुफ किया. बैमौके आ टपकने की मुआफी मांगी. मगर मजबूरी जाहिर की—दिमाग परीशान होने की वजह से वह भी सन्नाटे की जगह बैठकर ठंडे होना चाहते थे. बेंच के एक कोने में बैठने की इजाजत मांगी. फिर किस्से शुरू किए और फिर धीरे-से इस आशिक-बयानी पर उतर आए.

थोड़े ही में कह दूं, हजरत मुझसे इस कदर खुश हुए कि उसी वक्त अपने घर चलने के लिए मजबूर किया. कहने लगे, "अगर आप तशरीफ न ले चले तो मैं समझूंगा कि गरीबों का दुनिया में कोई नहीं."

लिहाजा साहब, मैं गरीबों का सब कुछ बन उनके दौलतखाने पर गया. गली, मकान सब कुछ वाजिब ही वाजिब था. मगर हम थे कि कुछ तकल्लुफ में बैठे बातें कर रहे थे. एकाएक हजरत दो मिनट की इजाजत लेकर कहीं बाहर गए.

इसी बीच में जनाब, दरवाजे के पीछे फिरोजाबाद की कारीगरी झनझना उठी. पहले एक आवाज ने होश फना किए, फिर एक गोरे-से-हाथ ने निकलकर मेरे दिल की हरकत बंद की. हाथ में एक खत था, जो मुझे पढकर सुनाने के लिए दिया गया. खत जो पढ़ने लगा तो दिमाग की नसें झनझना उठीं.

... धीरे-धीरे ... क्या अर्ज करूं. बस, यही समझ लें कि अब मैं भी मियां की बेगम के रिश्तेदारों में हूं. हफ्ते-भर में तीन बार तो अपनी इस खालाजाद बहन से मिल आया हूं. रिश्तेदारी दिन-ब-दिन रंग पकड़ रही है जनाब! □

अमृतलाल नागर : व्यक्तित्व एवं कृतित्व

जन्म : दो शताब्दी पूर्व गुजरात से इलाहाबाद आकर बसे ब्राह्मण परिवार में, 17 अगस्त 1916 के दिन, गोकुलपुरा, आगरा में.

जीविकोपार्जन : पिता की मृत्यु के बाद सन् 1935 में एक बीमा कंपनी में 18 दिन तक डिस्पैच क्लर्क की नौकरी, फिर 40 से 47 तक फिल्मों से संबद्ध रहने के बाद 53 से 56 तक आकाशवाणी लखनऊ में ड्रामा प्रोड्यूसर के पद पर कार्य और उसके बाद आकाशवृत्ति.

कृतित्व : सन् 1929 में साइमन कमीशन के बहिष्कार स्वरूप उपजी एक तुकबंदी (कविता) के रूप में साहित्य यात्रा का श्रीगणेश—तदोपरांत वाटिका (1935), अवशेष (1937), नवाबी मसनद (1939), तुलाराम शास्त्री (1941), सेठ बांकेमल (1944), आदमी, नहीं! नहीं! (1947), पांचवा दस्ता (1948), एक दिल हजार दास्तां (1955), एटम बम (1956), पीपल की परी (1963), कालदंड की चोरी (1963), सात कहानियां (1970), भारतपुत्र नौरंगी लाल (1972) कहानियां/रेखाचित्र संग्रहों का प्रकाशन.

महाकाल (1946), बूंद और समुद्र (1956), शतरंज के मोहरे (1959), सुहाग के नूपुर (1960), अमृत और विष (1966), सात घूंघटवाला मुखड़ा (1968), एकदा नैमिषारण्ये (1968), मानस का हंस (1971), नाच्यौ बहुत गोपाल (1978), खंजन नयन (1981), बिखरे तिनके (1982), अग्निगर्भा (1984) और करवट (1985) शीर्षक उपन्यासों का सृजन.

गदर के फूल (1957), ये कोठेवालियां (1960), जिनके साथ जिया (1973) शीर्षक रिपोतार्ज एवं साक्षात्कारों के संकलन.

1986 में नागर जी के पांच महत्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित हुए : आंखों देखा गदर (माझा प्रवास का अनुवाद), चकल्लस (व्यंग्य), एक दिल हजार अफसाने (कहानियां), साहित्य और संस्कृति (निबंध) और टुकड़े-टुकड़े दास्तान (आत्मकथा). पिछले कई वर्षों से वे 'करवट' के दूसरे खंड पर काम कर रहे थे.

परित्याग (1954), युगावतार (1956), नुक्कड़ पर (1963) शीर्षक नाटकों का प्रकाशन और 1951 से 1965 के बीच लिखे पच्चीस रेडियो व नाटकों—एवं प्रहसनों का प्रसारण, बात की बात (1974), चंदनवन (1976), चक्करदार सीढ़ियां और अंधेरा (1977), उतार-चढ़ाव (1980), चढ़त न दूजो रंग (1981), शीर्षक रेडियो, टी.वी. नाटकों का पुस्तक रूप में प्रकाशन. बालोपयोगी दर्जन-भर पुस्तकों का लेखन और सन् 1941 से ही इनका निरंतर प्रकाशन.

सन् 40 से 47 तक फिल्म क्षेत्र से जुड़े रहकर कई फिल्मों की पटकथा-संवाद लेखन. नागरजी की कई रचनाएं भारत की सभी भाषाओं के अतिरिक्त रूसी भाषा में भी अनूदित हो चुकी हैं. साहित्य अकादमी, सोवियत लैंड नेहरू पुरस्कार, बटुक प्रसाद पुरस्कार, प्रेमचंद पुरस्कार, वीरसिंह देव पुरस्कार, डा. राजेंद्र प्रसाद शिखर सम्मान, भारत भारती पुरस्कार और अन्यान्य कई पुरस्कारों के साथ-साथ विद्या वारिधि, सुधाकर पदक और पद्मभूषण से और पिछले वर्ष साहित्य अकादमी की ओर से फैलोशिप से अलंकृत.

नागरजी ने अपने जीवन काल में सोवियत रूस एवं मारीशस की यात्रा की.

स्मृति शेष : 23 फरवरी, 1990 (लखनऊ).

खुशफहमी

मुज्तबा हुसैन

यह जानते हुए भी कि खुशफहमी का भरम एक न एक दिन टूट जाता है, आदमी खुशफहमी में पड़े रहने को जरूरी समझता है. मिसाल के तौर पर हमारे इन दोस्तों की दास्तां पढ़कर देखिए

जिंदगी के चालीस बरस गुजारने के बाद अब हम अपनी चालीस साला जिंदगी का जायजा लेते हैं तो हमें अपनी जिंदगी खुशफहमी और गलतफहमी के बीच लटकते हुए पैंडुलम की भांति दिखायी देती है. या तो हम हमेशा खुशफहमी में लीन रहें या फिर गलतफहमी का शिकार रहें. इसे आप हमारी कम-अक्ली कह लें मगर वास्तविकता यह है कि समझदारी के मामले में हमारे जहन का टट्टू कभी सीधा नहीं चल सका.

मगर इतना जरूर जानते हैं कि खुशफहमी ने जहां हमें कभी-कभी फायदा पहुंचाया, वहीं गलतफहमी हमारे लिए हमेशा नुकसान का कारण बनी.

पहली खुशफहमी जिसके बलबूते पर हम अपने बलबूते को धोखा देते हैं. खुशफहमी न होती तो हम वह न होते जो आज दिखायी देते हैं. इस वक्त हमें एक मशहूर लेखक की बात याद आ रही है जिसने पचास साल तक साहित्य-सर्जन करने के बाद एक दिन अपने दोस्त से कहा, "पच्चीस साल तक साहित्य-सर्जन करने के बाद एक दिन मुझे पता चला कि मुझ में लेखक बनने की योग्यता बिल्कुल नहीं है और यह कि इतने बरस मैं सिर्फ खुशफहमी में फंसा रहा."

दोस्त ने पूछा, "इस खुशफहमी का भरम खुलने के बाद क्या तुमने साहित्य रचना छोड़ दी?"

लेखक बोला, "नहीं, मैं उस वक्त साहित्य से अपना रिश्ता तोड़ नहीं सकता था, क्योंकि उस वक्त तक मैं प्रथम श्रेणी के लेखक के रूप में खास मशहूर हो चुका था."

आप गौर फरमायें कि अगर उस लेखक में खुशफहमी की भावना न होती तो वह लेखक न बनता. सच पूछो तो हमारे साहित्य में बहुत से लेखकों को केवल इसलिए प्रसिद्धि मिली कि उनमें योग्यता कम और खुशफहमी ज्यादा थी.

साहित्य की बात छोड़िये, समाज में भी कदम-कदम पर खुशफहमी आपका साथ देती है. नौजवानी के जमाने में हमें यह खुशफहमी थी कि हम बड़े रूपवान नवयुवक हैं, हालांकि उन दिनों आईना बड़ी पाबंदी से देखा करते थे. यह और बात है कि आईने में हम वह नहीं देखा करते थे जो आईना हमें दिखाता था, बल्कि वह देखते थे जो खुशफहमी हमें दिखाना चाहती थी.

जब भी आईना देखा, हम नजर नहीं आये बल्कि हमारी खुशफहमी नजर आयी. घंटों आईने के सामने खड़े होकर अपनी खुशफहमी को सजाया-संवारा करते थे. बाहर निकलते तो हमें यह महसूस होता जैसे दुनिया भर की नवयुवतियों की नजरें हमारे लिए बिछी हुई हैं. मानते हैं कि उस जमाने में किसी नवयौवना ने पलटकर नहीं देखा, किसी ने हमारी खैरियत तक नहीं पूछी, मगर इसके बावजूद अपने रूपवान होने की खुशफहमी में मगन रहे और जब नौजवानी के चलचलाव का जमाना आया तो हमें अचानक अपनी खुशफहमी का एहसास हुआ. जैसे-तैसे बुजुर्गों ने हमें खुशफहमी से बाहर खींच निकाला.

एक जगह रिश्ते की बात चली तो पता चला कि जिस हसीना से रिश्ते की बात चल रही है, उसकी खुशफहमी बस अभी शुरू हुई है. नौजवानी की खुशफहमी में बस यही होता है कि लड़का तो किसी शहजादी से और लड़की किसी शहजादे से शादी करना चाहती है. यह जानते हुए भी कि जनतंत्र का जमाना आ गया है, खुशफहमी शहजादियों और शहजादों का इंतजार कराती है.

अब यह जो हमारे घर में एक मोटी और भद्दी-सी महिला नजर आती है किसी जमाने में अपनी खुशफहमी के बलबूते पर स्वयंभू शहजादी बनी हुई थी, आज हमारी बीवी बनी हुई है. उन्हें अब भी यह खुशफहमी है कि वह असल में किसी शहजादे के लिए पैदा हुई थीं लेकिन दुर्भाग्य से हमारे हिस्से में आ गयीं. लिहाजा अब वह तख्त पर बैठने की बजाय हमारे घर में चटाई पर बैठती है और राजकाज संभालने की बजाय घर-गिरहस्थी संभाल रही है. कभी-कभी उनकी खुशफहमी उनके अंदर दुबारा जाग उठती है तो हम जताते हैं कि हम भी असल में किसी शहजादी के लिए पैदा हुए थे मगर मां-बाप ने गड़बड़ कर दी, वर्ना हम भी आदमी थे काम के!

मास-बरस की गर्दिश ने अब हालांकि नौजवानी की खुशफहमी का भरम तोड़ दिया है, लेकिन हमें अब भी वे दिन याद आते हैं तो कलेजा मुंह को आ जाता है. हाय! वे भी क्या दिन थे, जब खुशफहमी हमारे स्याह रंग को गोरा-गुलाबी बना देती थी, हमारी भद्दी आंखों में हिरनी की आंखें डाल देती थी, हमारी चाल में हंस की चाल की मिलावट कर देती थी. अब आईना देखते हैं तो एहसास होता है, वह सिर्फ हमारी खुशफहमी थी. लेकिन जरा सोचिये कि यह खुशफहमी कितनी अनमोल थी और उसने किस तरह हमारे अहम को बेजा संतुष्ट किया था.

अब भी हमारे अंदर खुशफहमी कूट-कूटकर भरी हुई है. चूंकि हम स्वभाव से अहिंसक हैं इसलिए हमारी खुशफहमियां भी बड़ी अहिंसक-सी होती हैं. मसलन् एक खुशफहमी यह है कि हमारे सारे दोस्त हम पर जाने देते हैं और वक्त आने पर हमारे लिए नरक-कुंड में भी कूद पड़ने को तैयार रहते हैं. यह और बात है कि जब भी हमने किसी दोस्त से दस रुपये भी उधार मांगे तो उसने देश की आर्थिक व्यवस्था पर एक लंबा-चौड़ा भाषण देना शुरू कर दिया, अपनी विफलता का हाल उदाहरणों के जरिए स्पष्ट किया कि किस तरह मुन्ने की स्कूल फीस दो महीने से अदा नहीं हुई है, अपनी चप्पल लेना चाहता हूं, ला नहीं सकता—तुम्हारी भाभी दो महीनों से कोई पिक्चर देखना चाहती हैं मगर मैं उन्हें नहीं ले जा सकता-फिर अपनी जेब से मूंगफली का लिफाफा निकालकर हमारी तरफ बढ़ाकर कहते हैं—मैं तो दोपहर में खाना तक नहीं लाता, मूंगफली पर गुजारा कर रहा हूं. भई, लो मूंगफली तो खालो—उसूलन ऐसे वक्त में हमें दोस्तों के कारण अपनी खुशफहमी से नाता तोड लेना चाहिए लेकिन हम इस खुशफहमी को बड़े जतन के साथ अपने अंदर संभालकर रखते हैं और दोस्त के बयान को सच मान लेते हैं. हद तो यह है कि उसकी मूंगफली तक नहीं खाते कि क्यों बेचारे के पेट पर लात मारें.

आप यकीन करें कि हमारे आड़े वक्त में आज तक किसी दोस्त ने हमारी मदद नहीं की और हमें यह एहसास दिलाया कि खुद उसके सामने आड़ा वक्त खड़ा है. लेकिन इसके

बावजूद हम इस खुशफहमी में मगन हैं कि दोस्त ही हमारे लिए सब कुछ हैं.

एक और खुशफहमी हम में यह है कि खानदानी आदमी हैं. सारी अच्छी परंपराओं के निभाने का फर्ज हमारा है. यही वजह है कि जब कोई दोस्त हमारे यहां मेहमान बनकर आता है तो हम उसके आगे बिछ जाते हैं और खुद अपने हाथों घर की ईंट से ईंट बजा देते हैं. बीवी जब मेजबानी पर ऐतराज करती है तो हम उसे उसके खानदान का हवाला देकर खामोश कर देते हैं कि तुम्हारे खानदान में ऐसी परंपराओं का निभाना फर्ज नहीं माना जाता, लिहाजा खामोश रहो. इस खुशफहमी ने हमें कितना रुसवा किया है, इसका हाल आपसे क्या बयान करें.

लेखक होने के नाते हम और भी खुशफहमियों के शिकार हैं. हमें यह खुशफहमी है कि जहां भी हम जाते हैं, लोग हमें सिर आंखों पर बिठाते हैं.

एक बार एक साहित्यिक गोष्ठी में शामिल होने के लिए एक शहर में गये. स्टेशन पर उतरे तो उस शहर के साहित्य-प्रेमी दोस्तों ने हमें हारों से लाद दिया. हम उन हारों में डूबने ही वाले थे कि किसी ने हारों को हटाकर हमारा चेहरा देखा और अपने साथियों से कहा, "भाइयो, जिस नेता के स्वागत के लिए हम आये हैं वह ये साहब नहीं हैं. लिहाजा इनके गले से हार उतार लो."

और देखते ही देखते हमारी खुशफहमी को गले में से उतारा जाने लगा. वह हड़बोंग मची कि हारों को हमारे गले में से उतारने की कोशिश में हमारे कोट के दो बटन भी टूट गये, चेहरे पर पांच खराशें आ गयीं. कुछ बाल भी उखड़े देखते ही देखते हम फिर असली हालत में वापस आ गये. मगर यह सारा खेल महज हमारी खुशफहमी की वजह से हुआ था. अगर हम अपने प्रति खुशफहमी में मगन न होते तो स्वागत करने वालों को पहले ही बता देते कि भाइयो, हम इसके योग्य नहीं हैं, यह बोझ हमारे कंधों पर मत डालिए. दूसरी तरफ यह भी एहसास हुआ कि अगर खुशफहमी न होती तो हम जिंदगी में एक ही वक्त में इतने सारे हारों को पहनने के अनुभव से वंचित रह जाते. ऐसी ही खुशफहमियां इंसान में जीने की उमंग पैदा करती हैं.

सच पूछिये तो हर तरफ खुशफहमियों का दौर-दौरा है. व्यापारी इसलिए खुशफहमी में खुश है कि वह ग्राहक को बेवकूफ बना रहा है. और ग्राहक इस खुशफहमी का शिकार है कि उसने भावताव करके व्यापारी को बेवकूफ बनाया है. अफसर की खुशफहमी यह रहती है कि उसके मातहत उससे बहुत खुश हैं और मातहत इस खुशफहमी में जिंदगी गुजार रहे हैं कि वह अपने अफसर को बड़ी खूबी से बेवकूफ बना रहे हैं. व्यक्तियों की खुशफहमियां तो होती हैं, कुछ देश भी खुशफहमियों में लीन रहते हैं और अपने आपको सृष्टि का केंद्र समझते हैं.

यह जानते हुए भी कि खुशफहमी का भरम एक न एक दिन टूट जाता है. आदमी खुशफहमी में पड़े रहने को जरूरी समझता है. मिसाल के तौर पर हमारे एक शायर दोस्त जिंदगी भर इस खुशफहमी में लीन रहे कि मुशायरों में उनका कलाम पसंद किया जाता है, हालांकि उनके कलाम में तरन्नुम के सिवाय कुछ भी नहीं होता. लोग उनके तरन्नुम की दाद देते हैं तो वह उसे कलाम की दाद समझकर स्वीकार कर लेते हैं—इस खुशफहमी में वह जिंदगी भर मुशायरों में गाना गाते रहे. उनका असली मुकाम कुछ और था और उन्होंने अपनी खुशफहमी के बलबूते पर अपने आपको एक गलत मुकाम पर लटकाये रखा.

हमारे एक और दोस्त हैं जो दूर देश में रहते हैं. जब तक अपने मुल्क में थे तो अच्छी खासी बाइज्जत जिंदगी गुजारते थे—एक दिन न जाने जी में क्या आयी कि अच्छी जिंदगी की तलाश में मुल्क से बाहर चले गये. उनके बारे में पता चला है कि वह भगवान की कृपा से कुशलतापूर्वक हैं और एक होटल में बैरे का काम करते हैं, ग्राहकों से बख्शीश और होटल के मालिक से तनख्वाह पाते हैं. इसके बावजूद उनके हर खत में लिखा होता है कि जिंदगी में बड़ा ऐशो-आराम है. यहां तो जिंदगी ही अलग है. यहां का सूरज अलग है. यहां का चांद अलग है. यहां की नदियां इस तरह नहीं बहतीं जैसे अपने मुल्क की नदियां बहती हैं. बड़ी ही सभ्य और शिष्ट नदियां हैं. यहां के कौवे अपने कौवों की तरह मुंडेरों पर बैठकर कांवकांव नहीं करते. सभ्य मुल्क के कौवे जो ठहरे. यहां के जानवर तक हर काम वक्त पर करते हैं. हमारे जानवरों की तरह बैठे सिर्फ जुगाली नहीं करते रहते.

हम अच्छी तरह जानते हैं कि हमारे दोस्त की खुशफहमी ही उनसे ऐसे शब्द लिखवाती है. पिछले खत में तो उन्होंने हमें भी सलाह दी है कि अपना मुल्क छोड़कर आ जाएं और वहां के जानवरों और कौवों के साथ बाकी जिंदगी हंसी-खुशी गुजारें. लेकिन हम वहां जाना नहीं चाहते क्योंकि हमारी भी अपनी कुछ खुशफहमियां हैं. आदमी से उसकी खुशफहमी छीन लीजिए तो उसका सांस लेना दूभर हो जाए.

एक बूढ़ा व्यक्ति मर रहा था. बचने की उम्मीद नहीं थी. डाक्टर ने उससे कहा, "लो भई, तुम्हारा आखिरी वक्त आ पहुंचा, तुम्हारी कोई आखिरी इच्छा हो तो बताओ."

मरीज बोला, "डाक्टर साहब, मेरी आखिरी इच्छा यह है कि आप फौरन अच्छे डाक्टर को बुलाइये."

यह मरीज की खुशफहमी ही थी जो जीने की इच्छा बनकर चमक उठी थी. इसीलिए तो हम नित नयी खुशफहमियों की तलाश में रहते हैं. एक खुशफहमी का भरम टूटता है तो दूसरी खुशफहमी को अपनी जात में सजा लेते हैं.▫

क्या वह आयेगी ?

श्रीकांत चौधरी

यह किसी सस्पेंस फिल्म या उपन्यास का टाईटल नहीं है. मेरा मतलब है कि 21वीं सदी आयेगी कि नहीं, इसको लेकर कुछ परेशान हूं मैं. बहरहाल अभी-अभी देश पर आया एक महान संकट इतना विकट था कि दाल, चीनी, तेल के भाव तुच्छ मालूम पड़ने लगे. गरीबी, बेकारी, बीमारी और हिंसा वगैरह से तो राष्ट्र जूझता ही रहता है. और जो चीज हमारे यहां सर्वव्यापी और सतत चलती रहती है उसे हम गंभीरता से लेना छोड़ देते हैं. उसकी महत्ता घटने लगती है. अब पंजाब में कितने मरे, कितने पकड़े गये इससे मेरे वेतनमान पर क्या फर्क पड़ता है, फकत इतना देखना पड़ता है कि आज का स्कोर क्या रहा !

बहरहाल, यह अत्यंत गर्व, संतोष और प्रसन्नता की बात है कि हमारे राष्ट्र ने एक महान संकट का सामना बिना रूस, अमरीका और विश्व बैंक की मदद के किया. वर्ना क्रिकेट के करोड़पति सितारों की आसमानी उड़ान पर क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड के नियम कानून का जाल यदि नहीं हटता तो कहना मुश्किल था कि राष्ट्र बचता या नहीं. देश की सामाजिक, आर्थिक नीतियों और जवाहर रोजगार योजना का क्या हश्र होता. कौन जाने!

टी.वी. से खांसता. चार किलोमीटर दूर से छह बोरे गेहूं के गोदाम में डालने के लिए ले जाता. गंदा, फटेहाल, हम्माल रम्मू हाथठेला ले जाता मुझे मिला. तो मैं प्रसन्न हो गया. कपड़े गंदे होने के भय से मैं उसे गले नहीं मिला मगर मैंने गदगद भाव से उसे बताया कि अपने सुप्रीम कोर्ट ने नरम रुख रखा और परम पिता

परमेश्वर की कृपा से राष्ट्र पर आया महान संकट टल गया. क्रिकेट कंट्रोल बोर्ड ने पाबंदी हटा ली है. और क्या चाहिए तुम्हें. रम्मू का चेहरा न केवल भावहीन था वरन् वह अजीब नजरों से घूर रहा था मुझे, सिर से पैर तक.

मुझे सदमा पहुंचा. मैंने फिर समझाया, "बड़े-बड़े नेता, खिलाड़ी, लाखों दर्शक प्रेमी यहां तक कि राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री इस मामले से चिंतित थे और अब खुश हैं तब तुम्हें भी कुछ एहसास होना चाहिए, क्या इस देश से तुम्हारा कोई सरोकार नहीं."

रम्मू हम्माल हंसने लगा. मैं स्तब्ध हो गया. वह बोला, "बाबू साब क्यों मजाक करते हो, हम समझे कि मट्टी का तेल, दाल, शक्कर, आटा, चावल वगैरा बहोत सस्ता हो गया. अस्पताल में एक्सरा मशीन ठीक हो गयी. आप दिये जा रहे हो अपना करकेट. इसको खायें कि पहनें कि बिछायें."

रम्मू की यह प्रतिक्रिया मेरे लिए असहनीय थी. मैं शर्म और ग्लानि में डूब गया. इतने सालों के बाद भी आज आदमी राष्ट्र की मुख्य धारा से नहीं जुड़ा, इसे राष्ट्र की कला संस्कृति से कोई लेना-देना नहीं. अभी भी यह मूर्ख, फटेहाल अपनी गरीबी को रो रहा है. इतनी बड़ी घटना ने इसे छुआ तक नहीं, इसे क्या समझाएं बोफोर्स. क्या समझेगा यह 'अग्नि' परीक्षण को. दुख तो यह है कि अखबारों में इसने उन प्रबुद्ध जागरूक देशसेवी नागरिकों, खेल नेताओं के पत्र और वक्तव्य तक नहीं पढ़े जिन्होंने क्रिकेट के इस महान संकट के समाधान पर अपनी सुखद प्रतिक्रियाएं दी थीं.

दुख इसलिए घना और गहरा है कि सरकार हरेक के द्वार जा रही है समस्याओं का समाधान करने जबकि सरकार की अपनी केवल एक समस्या है, अगले चुनाव के वोट, बाकी सब समस्याएं देशवासियों की हैं, इस चुनाव के बाद वे खुद इससे निपटेंगे और आत्मनिर्भर बनेंगे. मगर सवाल ये है कि इतनी बड़ी राष्ट्रीय उपलब्धि, इतनी बड़ी ऐतिहासिक घटना के प्रति रम्मू हम्माल की संवेदनहीनता या तटस्थता का भाव. मेरी नजर में राष्ट्रीय शर्म और सोच का विषय है. द्वार-द्वार पर जाने वाली सरकार को इस पहलू पर समय रहते सोच लेना चाहिए, गरीबी, बेकारी, भ्रष्टाचार, जनसंख्या वृद्धि पर तो सरकार नियमानुसार वर्षों से सोच रही है मगर अब इस मामले में तो मौलिक सोच की बड़ी जरूरत है, हो सके तो कुछ करने की भी.

घर लौटते रास्ते में शुक्ला बाबू मिल गये तो मुझसे बड़ी गर्मजोशी से हाथ मिलाया. चेहरे पर तीन इंक्रीमेंट एक साथ मिलने जैसी चमक थी. मैं समझ गया कि यह शिक्षित दुनियादार, सरकारी मुलाजिम है इसे क्रांतिकारी घटना की जानकारी होगी ही.

मैंने कहा भी—हर देशवासी को गर्व और खुशी होगी ही, जितना भयावह संकट था उतना ही विराट, सुखद समाधान हुआ. जी करता था महीने भर दफ्तर न जाऊं. "भई कांग्रेचुलेशनुस" शुक्ला बाबू कुछ चौंके फिर आश्चर्य मिश्रित मुस्कान के साथ बोले, तो क्या भोपाल के गैस पीड़ितों को मुआवजा मिलना शुरू हो गया है !

मैं आकाश से गिरा. हमारे सोच का स्तर कहां जा रहा है! शिक्षित प्रबुद्ध वर्ग का ऐसा पतन! ऐसे लोगों को मिक-गैस घेर लेती तो मैं राष्ट्रीय शर्म से डूबने से बच जाता.

मैंने शुक्लाजी से भरसक संयम रखकर यही कहा, "आपसे ऐसी आशा नहीं थी. क्रिकेट के बारे में आप कुछ पढ़ते जानते नहीं, टुच्चे पुराने मुद्दों पर आपका बाबूगिरीवाला सोच कभी बदलेगा नहीं." मैं अभी भी परेशान हूं क्या वह आयेगी ... इक्कीसवीं सदी, वह आयी भी तो क्या यही दशा रहेगी तब भी, कुछ करना होगा जल्दी ही. □

खुलना गालिब के घर कोयले का डिपो

विनोद शंकर शुक्ल
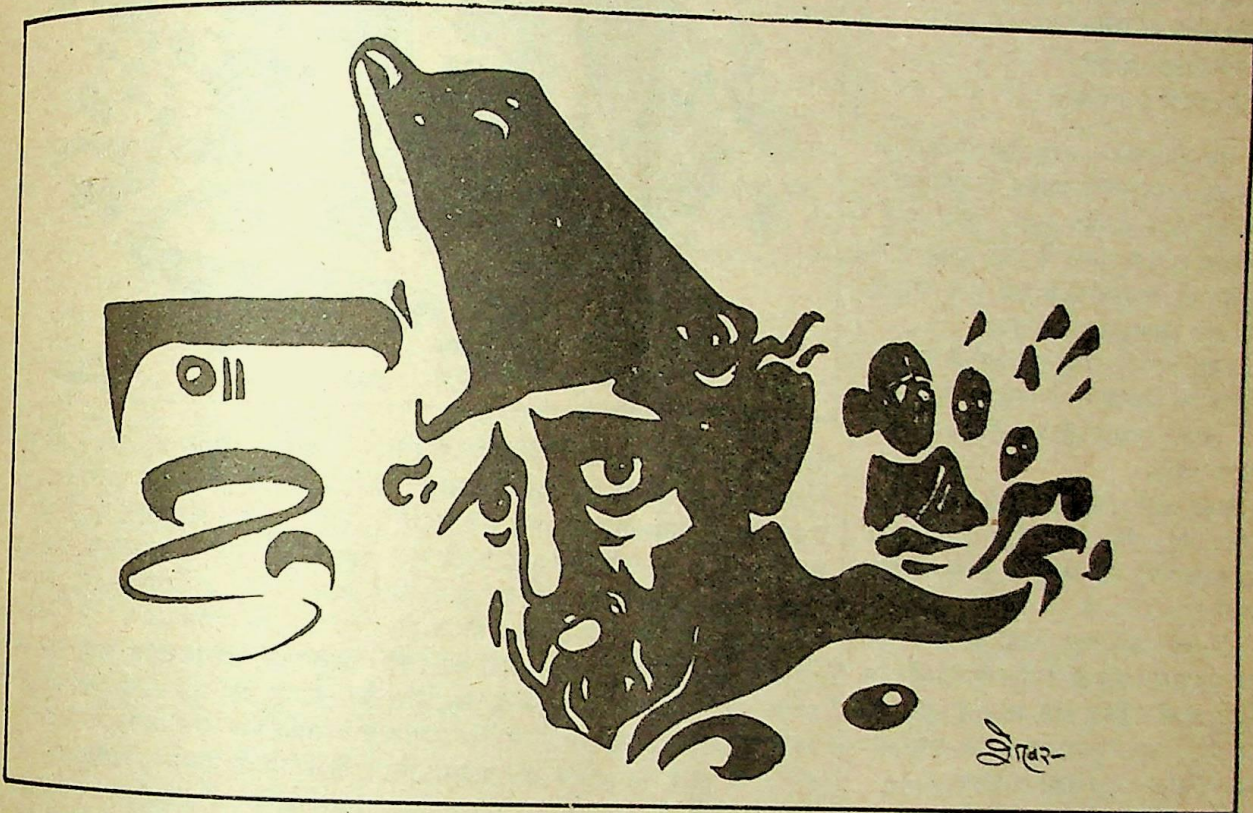
हिंदुस्तान में बमुश्किल एक हफ्ता गुजार मिर्जा गालिब जैसे ही जन्नत के हवाई-अड्डे पर उतरे, पत्रकारों ने उन्हें घेर लिया. मिर्जा ने चाहा कि नजर बचाकर निकल भागें पर अखबारनवीसों ने उन्हें यों पकड़ लिया, जैसे नदी में जाल डालकर मछली पकड़ी जाती है. हारकर गालिब ने आह भरी और ये शेर पढ़ा—

जर्नलिस्टों पर जोर नहीं,
ये हैं वो आफत गालिब
सामने पड़ जायें तो फिर
जान बचाए न बने.

पत्रकार चाहे वो हिंदुस्तान के हों या बहिश्त के—लगभग एक से होते हैं. बिल्ली जैसे चूहे पर झपटती है, वैसे ही ये वी.आई.पी. पर झपटते हैं. अनेक पत्रकारों की घ्राण-शक्ति बड़ी तेज होती है. विमान हवाई-पट्टी पर उतर भी नहीं पाता कि वे उनकी गंध सूंघ लेते हैं. एक परिचित पत्रकार को मैंने अक्सर सूं-सूं करते देखा है.

पिछले दिनों मिर्जा गालिब जन्नत से रफूचक्कर होकर हिंदोस्तां पधारे, मगर एक हफ्ते बाद वापस जन्नत जा पहुंचे. इस आवाजाही में उन पर क्या गुजरी...

उनके नथुने बड़े संवेदनशील हैं. सूं-सूं का कारण पूछो तो वे बताते हैं, जरूर कोई वेरी इंपार्टेंट परसन आसपास है. और सचमुच थोड़ी देर बाद किसी मंत्री की वातानुकूलित कार हमारे पास से गुजर जाती है. कुछ पत्रकार दूरदृष्टि संपन्न होते हैं. वे आकाश में उड़ते विमान को देखकर बता सकते हैं कि इसमें कौन वी.आई.पी. यात्रा कर रहा है.

दुल्हन वही जो पिया मन भाये की तर्ज पर कहा जा सकता है कि पत्रकार वही जो प्रश्न करे. प्रश्न पत्रकार की पहचान है. कभी-कभी तो लगता है, पत्रकारों का पत्र से इतना घनिष्ठ संबंध नहीं है, जितना प्रश्न से. व्यक्ति को दखते ही पत्रकार सवालों के हमले शुरू कर देते हैं. इनकी झोली में एक से बढ़कर एक अजीबोगरीब प्रश्न विद्यमान रहते हैं. इसलिए इच्छा होती है कि उन्हें पत्रकार की जगह प्रश्नकार कहना शुरू कर दूं. हर पत्रकार मुझे एक चलता-फिरता प्रश्नवाचक-चिन्ह नजर आता है.

उस दिन मिर्जा गालिब की किस्मत अच्छी न थी. सुबह-सुबह एक-दो नहीं, 'आधा दर्जन पत्रकारों के 'मुख-कमलों' का सामना करना पड़ गया. भागने की कोशिश कामयाब नहीं हुई तो उन्होंने गहरी सांस लेकर 'इंशाअल्लाह' कहा और पत्रकारों के सामने आत्म-समर्पण कर दिया. पत्रकारों ने अपने सवालों सहित गालिब पर आक्रमण कर दिया, वैसे ही जैसे मक्खी के जाल में फंसते ही मकड़ी उस पर टट

पड़ती है.

पहला गोला 'हैवन-हेंराल्ड' के संवाददाता ने दागा—"मिर्जा, आप तो चार हफ्ते के लिए हिंदुस्तान गये थे फिर एक ही हफ्ते में कैसे लौट आये?"

गालिब ने फिर ठंडी सांस ली, कहा—

"निकलता खुल्द से आदम का
सुनते आये थे लेकिन
बड़े बेआबरू होकर
हिंदोस्तां से हम निकले...

गालिब को उखड़ा-उखड़ा देख पत्रकारों को हैरानी हुई. 'अमरावती टाइम्स' के गुसैयांलाल ने किंचित खीज के साथ कहा—"अमां मिर्जा, इस समय आप मुशायरे में नहीं, पत्रकारों से मुखातिब हैं. हिंदुस्तान में क्या हुआ आपके साथ—जरा साफ-साफ फर्माइये..."

"अगर आपकी बेइज्जती हुई है तो हम अखबारों में हिंदुस्तान के विरुद्ध जेहाद छेड़ देंगे." 'जन्नत-जहान' के युवा-रिपोर्टर ने तैश में आकर कहा.

"मिर्जा, कहीं उन्होंने आपको पहचानने से इनकार तो नहीं कर दिया?" पाक्षिक 'पैराडाइज-टुडे' के ब्यूरो-चीफ ने अटकल लगायी.

"हां भई, जमीन के लोगों की याददाश्त बहुत कमजोर होती है. वे भूल ही गये होंगे कि उनके देश में गालिब नाम का कोई शायर भी हुआ था." यह फिकरा था दैनिक 'स्वर्ग का सूरज' के एक बुजुर्ग संवाददाता का.

गालिब ने इशारे से उन्हें शांत रहने को कहा. फिर आहिस्ता-आहिस्ता गर्दन हिलाते हुए बोले, "मियां, जन्नत और जहन्नुम में अदीबों के आदान-प्रदान की स्कीम के तहत हम हिंदोस्तान गये थे. हां, जमीन से बड़ा जहन्नुम दूसरा कोई नहीं हो सकता... कहते-कहते मिर्जा का गला रुंध गया. थोड़ा रुककर उन्होंने अपने को संयत किया फिर बोले—"मैं बहुत खुश था कि दोबारा अपना वतन देखने को मिलेगा. दिल्ली और आगरा की उन पुरानी गलियों में घूम सकूंगा, जहां मेरी शायरी परवान चढ़ी. मुल्क की तरक्की देखकर सुकून हासिल करूंगा लेकिन..." वाक्य अधूरा ही छोड़ मिर्जा ने फिर ठंडी सांस ली.

"लेकिन... लेकिन क्या?" तमाम पत्रकारों की उत्सुकता फौव्वारे की तरह एक साथ फूट पड़ी. गालिब ने सिलसिलेवार बताना शुरू किया :

दिल्ली में कदम रखते ही पहले हमें फूलमालाएं पहनायी गयीं. 'फिर मिर्जा गालिब जिंदाबाद!' 'शायरे-आजम जिंदाबाद' के नारों से पूरा हवाई-अड्डा गूंजने लगा. मुझे खुशी हुई कि लोग मुझे भूले नहीं हैं. एक जुलूस की शक्ल में बाजे-गाजे के साथ मुझे बाहर लाया गया. लगा जैसे पूरी दिल्ली मुझे देखने उमड़ पड़ी है. जहां तक निगाह जाती थी मर्द, औरतें और बच्चे. मेरी आंखें भर आयीं. पहली बार अल्लाह का शुक्रिया अदा करने की इच्छा मन में पैदा हुई. परंतु मैंने देखा, कुछ लोग 'पाकिस्तान जिंदाबाद...' 'गालिब हमारा है...' का नारा लगा रहे थे और पुलिस उन्हें पीछे ठेल रही थी.
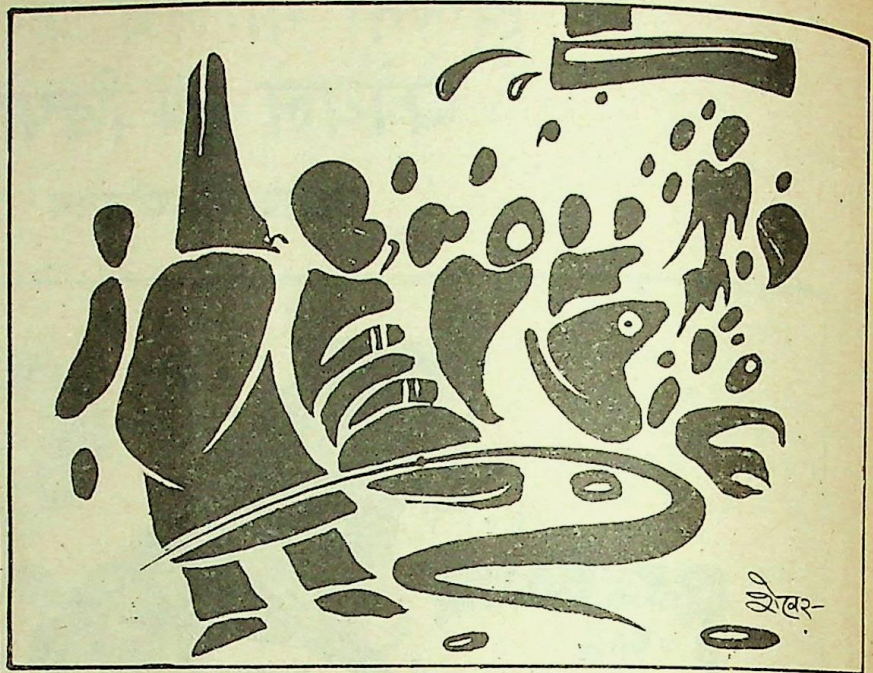
मैंने पूछा, "यह पाकिस्तान क्या बला है और ये लोग चाहते क्या हैं?"

"हिंदुस्तान का बंटवारा हो चुका है." मेरे साथ खुली जीप पर सवार स्वागत-समिति के सदर ने बताया, "पाकिस्तान देश के दूसरे टुकड़े का नाम है. जमीन की तरह अदब और आर्ट को भी दोनों मुल्कों ने बांट लिया है. हिंदुस्तान के हिस्से में गायिका सुरैया आयी तो नूरजहां पाकिस्तान को मिली. फिराक गोरखपुरी को हिंदुस्तान ने रख लिया तो जोश मलीहाबादी को पाकिस्तान ने. अब पाकिस्तान के कुछ लोग आप पर अपना हक जताने आये हैं. वे आपको पाकिस्तान ले जाना चाहते हैं."

मुझे बड़ी हैरत हुई और मुल्क के टुकड़े होने की बात पर मेरा दिल भी कहीं से चटक गया. वतन आने की खुशी हवा हो गयी. मैंने कहा, "बहुत अफसोस की बात है और इससे भी ज्यादा अफसोस इस बात का है कि अदब और आर्ट को भी बेजान वस्तु समझ लिया गया है. क्या हममें और बिजली के खंबे में कोई अंतर नहीं है?"

स्वागत-समिति के सदर ने मेरे सवाल का कोई जवाब नहीं दिया. उसने यह जरूर कहा "मिर्जा, आप हिंदुस्तान के हैं और आपको हमसे कोई नहीं छीन सकता. प्रेस-कॉन्फ्रेंस में साफ कह दीजिएगा कि आप किसी पाकिस्तान-वाकिस्तान को नहीं जानते हिंदुस्तान आपका वतन था है और रहेगा...

शाम को मुझे कई सियासी लीडरों से मिलाया गया. एक लीडर जो आर्ट और कल्चर के वजीर भी थे बोले, "पाकिस्तानी डेलीगेशन आपसे मिलना चाहता था. मैंने मना कर दिया. मिर्जा साहब यदि आप यह बयान दे दें कि आप हिंदुस्तान को अपना मुल्क मानते हैं तो भारत-सरकार आपका एक आलीशान स्मारक बनायेगी और विदेशी भाषाओं में आपकी शायरी का तरजुमा करने का जिम्मा भी उठायेगी."

मैं गुस्से से उठ खड़ा हुआ, कहा, "जनाब हिंदुस्तान तो मेरा मुल्क है ही लेकिन मेरे नाम पर सियासत करना बंद कीजिए. शायर का कलाम धूप, पानी और हवा की तरह आजाद होता है. उसे कैद नहीं किया जा सकता...

रात दो बजे कुछ लोगों ने आकर मेरे होटल के कमरे का दरवाजा खटखटाया. दरवाजा खोलते ही वे दबे पांव अंदर आये और कान में फुसफुसाकर बोले, "हम पाक डेलीगेशन के लोग हैं. मुश्किल से आप तक पहुंच पाये हैं आप इस कागज पर फौरन दस्तखत कर दीजिए".

मैंने पूछा, "इसमें क्या लिखा है?

वे बोले, "यही कि आप पाकिस्तान को अपना मुल्क मानते हैं और भारत-सरकार ने

जबरदस्ती आपको नजरबंद कर रखा है.''

मैंने नाराजगी से उत्तर दिया, ''मुझे किसी ने नजरबंद नहीं किया. और वह सारा जहां मेरा मुल्क है जहां तक मेरी आवाज पहुंचती है... आप जा सकते हैं.''

वे बोले, ''हम इस्लामाबाद विश्वविद्यालय का नाम आपके नाम पर रख देंगे. आप दस्तखत कर दीजिए.''

मैंने कहा, ''मैं दस्तखत नहीं करूंगा, आप मेरा अपमान कर रहे हैं!''

मेरी ऊंची आवाज से वे घबराये, बोले, ''आहिस्ता बोलिये. हम पकड़े जायेंगे. चलिये दस्तखत कीजिये, हम जकोबाबाद का नाम गालिबाबाद रखने का वचन देते हैं.''

बदतमीजी की हद हो गयी थी. मैंने बैरे को आवाज देकर उन्हें बाहर निकालने को कहा. वे चलते-चलते बड़बड़ाये, ''कश्मीर की तरह यह मामला भी हम यू.एन.ओ. में ले जायेंगे. गालिब पाकिस्तान का है.''

दूसरा दिन मैंने आगरा और दिल्ली की सैर पर खर्च किया और तीसरे दिन एक पत्रकारवार्ता को संबोधित किया. पत्रकारवार्ता के बीच जाने कहां से कुछ हथियारबंद लोग आ गये और मुझे अपने साथ जबरन ले जाने लगे. फिर जाने कहां से वैसा ही दूसरा ग्रुप पैदा हो गया और हाथ पकड़कर अपनी ओर खींचने लगा. एक कहता-'हिंदुस्तान', दूसरा कहता 'पाकिस्तान'. इस 'हिंदुस्तान'-'पाकिस्तान' में उन्होंने मेरे दोनों बाजू उखाड़ दिये. यह कहकर गालिब ने अपना चोंगा उतार दिया. पत्रकारों ने देखा, शायर के दोनों हाथ जड़ से गायब थे.

कुछ पत्रकारों के मुख से उफ निकला, कुछ के कैमरे से क्लिक की आवाज. मिर्जा ने मुस्कराकर चोंगा फिर शरीर पर डाल लिया और बोले, ''बाजू उखाड़कर उन्होंने मुझे मेरे हाल पर छोड़ दिया और बोले, इन बाजुओं को लेकर वे अपने-अपने देश में भव्य स्मारक बनायेंगे और गालिब की पूजा करेंगे. इस हालात पर मुझे अपना एक शेर याद आ गया:

''हुए मर के हम तो रुसवा,
हुए क्यों न गर्क दरिया
न कहीं जनाजा उठता,
न कहीं मजार होता.''

''हिंदुस्तान में आपने और क्या-क्या देखा?'' एक पत्रकार ने विषय बदला.

''कई मशहूर चीजें देखीं,'' गालिब बोले, ''दिल्ली के दंगे देखे. ये बड़े लाजवाब होते हैं. एक धर्म का व्यक्ति दूसरे धर्म के व्यक्ति के सामने छींक भी दे तो दंगे भड़क उठते हैं. हिंदुस्तान के लोग बहुत बहादुर हो गये हैं. हमारे जमाने में रंगों से होली खेली जाती थी. अब लोग एक दूसरे के खून से होली खेलते हैं.''

''दंगों के अलावा और क्या देखा?'' एक और प्रश्न हुआ.

''हिंदुस्तान अपने भ्रष्टाचार के लिए भी मशहूर है. इस भ्रष्टाचार के भी मैंने दीदार किये. मेरी आवभगत पर सरकार ने पचास हजार रुपये मंजूर किये थे. तीन दिन के मेरे प्रवास पर अधिकारियों ने मुश्किल से तीन हजार रुपये खर्च किये, बाकी खुद हड़प गये. सरकार को बताया गया तीस हजार रुपये की तो गालिब दारू ही पी गया. पंद्रह हजार रुपये हवाई-यात्रा पर खर्च बताया गया जबकि मैं हवाई-जहाज पर बैठा ही नहीं. शेष पांच हजार रुपये होटल और मेरे 'अन्य' शौकों पर व्यय शो किया गया.''

''हिंदुस्तान का लोकतंत्र भी प्रसिद्ध है, उसे देखा?''

''हां, देखा. हिंदुस्तान का लोकतंत्र सचमुच दर्शनीय है. इस लोकतंत्र में 'लोक' की फिक्र न सत्ता-पार्टी के लोग करते हैं न विपक्ष के. संसद और विधान सभाओं में दोनों कुर्सी के लिए रात-दिन सास-बहू की तरह झगड़ते रहते हैं. हिंदुस्तान में जनतंत्र स्वजनतंत्र में बदल गया है. एक व्यक्ति मंत्री बनता है तो वह अपने बेटे-बेटी, पत्नी, साले, दामाद, बहू—सभी को छोटे-बड़े पदों पर बैठा देता है. लोकतंत्र अब हिंदुस्तान में 'थोकतंत्र' में बदल गया है.''

''मिर्जा, आप दिल्ली के अपने पुराने मकान में भी गये होंगे? वहां तो अब आपका एक आलीशान स्मारक होगा?''

इस प्रश्न पर गालिब की आंखें भर आयीं. बोले, ''अब हिंदुस्तान में असभ्य लोग ही हिंदी-उर्दू बोलते हैं. सभ्य लोगों की जुबान तो अंग्रेजी है. भारतीय भाषाओं के लेखकों की वहां कोई कद्र नहीं. मेरे दिल्ली के मकान पर कोयले का डिपो चलता है. देश-विदेश से लोग गालिब का घर देखने आते हैं तो यही डिपो दिखा दिया जाता है. खुदा जाने काशी में कबीर के घर पर कोई ढाबा चलता हो और तुलसी के घर पर कोई दारू की भट्टी खुल गयी हो.''

कहते-कहते गालिब का गला भर आया और वे अपने आंसू नहीं रोक सके. पत्रकारों ने ढाढस बंधाया तो बोले—

दिल ही तो है न संगो-खिश्त,
दर्द से भर न आये क्यूं
रोयेंगे हम हजार बार,
कोई हमें सताये क्यूं. □

मुंह में मच्छर

■ विष्णु प्रभाकर

उस समय (1931) रंगमंच पर प्रवेश करने की भी एक विशेष विधि थी. पखवाई से मंचद्वार पर आते ही अभिनेता सावधान होकर खड़ा हो जाता था. एक बार नाटकीयता के साथ दर्शकों की ओर देखता, उसके बाद स्थिर पग रखता हुआ मंच पर अपने स्थान की ओर बढ़ता. वहां पहुंचकर एक बार फिर दर्शकों की ओर देखता. उसके बाद जैसा अभिनय होता, वैसा करता. उसे जिस दृश्य में जाना था उसमें मंच पर केवल दो-तीन पात्र ही थे. मैं जैसे ही वृद्ध राजा की रूपसज्जा से दबा-दबा और लड़खड़ाता हुआ मंच पर आया और जोर से बोलने के प्रयत्न में मुंह खोला तो एक मोटा-सा मच्छर मेरे मुंह में घुस गया. स्वभावतः मैं बेचैन हो उठा था. लेकिन यदि थूकने का प्रयत्न करता, तो सारा दृश्य हास्यास्पद हो उठता, विशेशकर इसलिए कि मैं सत्य का पक्ष लेने वाला शासक था. विवश-विकल मैंने तुरंत ही उस मच्छर को गले से नीचे उतर जाने दिया. उस समय क्या अवस्था हुई, मैं स्वयं नहीं समझ पाया. उस अवस्था से बचने के प्रयत्न में मैं इतने जोर से और झुंझलाकर बोला कि जनता अश-अश कर उठी. अभिनय ऐसा ही होना चाहिए. नहीं जानता कि वह मच्छर न आता तो क्या मैं अपने स्वर में उतना क्रोध और शक्ति पैदा कर सकता जितनी कंस की ताड़ना के लिए आवश्यक थी. मेरे उस प्रथम और अद्भुत अभिनय से प्रसन्न होकर एक दर्शक मित्र ने सुनहरा मेडल भी प्रदान किया. □

(लेखक के संस्मरण 'मैंने भी नाटक खेला' से)

प्रस्तुति-राजकुमार गौतम

क्रूर मजाक

रमेश गुप्त

हमने पीहर में सास के अदम्य शौर्य और अद्भुत शक्ति के कभी दर्शन नहीं किए क्योंकि हमारी मां की नियति में सास बनना लिखा ही नहीं था. मां ने दो बेटियां जनीं, बेटा नहीं. बिना बेटे के सास कैसे बनतीं?

हां, जब हम ससुराल पहुंची तो हमने उन्हें देखा और मुग्ध हो गये. दो-दो बहुओं की सास. पूरा व्यक्तित्व प्रभावशाली-एकदम बोले तो लगे, मेघ गर्जन हो रहा है. बड़ी बहू को प्रताड़ित करें तो महसूस हो बिजली कड़क रही है. और मानसून की वर्षा होती बड़ी बहू की आंखों से.

भारी-भरकम शरीर. आंखों में एक कठोरता जो अनुशासन स्थापित करते प्रायमरी स्कूल के प्रिंसीपल में होती है. पूरे घर पर अखंड प्रभुत्व. प्रजातंत्र नाम की किसी चीज के दर्शन नहीं हुए. मांजी का निरंकुश साम्राज्य स्थापित था घर में.

हमें तो अंदर ही अंदर खूब गुदगुदी होती जब हमरी सास जी ससुर साहब पर सिक्का जमातीं. सिर्फ बहुओं पर ही नहीं, पति पर भी वह शासन करतीं. मजाल है, ससुर साहब उन की इच्छा के विरुद्ध एक सिरगेट या कॉफी का एक अतिरिक्त प्याला पी लें.

हमारी सासजी सुबह उठतीं. हम दोनों बहुएं उनके चरण स्पर्श करतीं. आर्शीवाद दे वह अपने सिंहासन (उनकी पुरानी शीशम की आरामकुर्सी) पर जम जातीं और रात देर गये तक कड़े निर्देश देते हुए घर का संचालन करती रहतीं.

रामू नामक नौकर सफाई और ऊपर के काम करता. हमारे जिम्मे था नाश्ता तथा लंच बनाना. जेठानीजी का उत्तरदायित्व था रात्रि भोज. सारे दिन हम दोनों बहुएं दोनों पतियों तथा सासजी की फरमाइशें पूरी करने के लिए रूसी नर्तकियों-सी नाचती रहतीं. बेचारे ससुर साहब बड़े सीधे थे. उनकी कोई फरमायश होती ही नहीं थी. संभवतः उन्हें इसका अवसर ही नहीं मिलता था.

सासजी कोषाध्यक्ष तथा भंडार अधिकारी थीं. घर की आलमारी (जिसमें धन और जेवर रखे रहते थे) और स्टोर (जहां घर और रसोईघर का सारा सामान संग्रहित होता) की चाभियों का गुच्छा उनकी कमर में हर समय खुंसा रहता. बहुओं को कुछ पैसे चाहिए या परांठे बनाने के लिए शुद्ध घी, सासजी के सामने हाथ फैलाने पड़ते.

बहू बेटे दफ्तर चले जाते. हम घर और उनकी संतति की देखभाल करते सच तो यह है कि सास बनकर भी हम पहलेवाली बहू से कहीं ज्यादा बहू बन गये थे

सासजी की सत्ता केवल घर तक ही सीमित नहीं थी. उसका विस्तार बाहर सिनेमाघरों तथा खेल के मैदानों तक था. मजाल है कि हमारे मियांजी हमें बिना मांजी की अनुमति के कोई पिक्चर दिखा लाएं या गोलगप्पे खिला लाएं बंगाली मार्केट जाकर.

सच कहूं, मांजी को देखकर हमारे मन में ढेर सारी श्रद्धा उमड़ती. उनके अनुचित अनुशासन तथा अप्रिय प्रताड़न में भी हमें रस आता. उनकी निरंकुशता के कारण मन में कभी विद्रोह का भाव नहीं उभरा. हमें तो सासजी का 'प्रोफाइल' बेहद पसंद आया. आज नहीं तो कल, हमें भी तो यही चरित्र अभिनीत करना था.

जिस दिन हमने अपने प्रथम पुत्र रत्न को जन्म दिया, घर में खुशी की धूम मच गयी. ऐसा लगा, मानों लाटरी खुल गयी हो. सासजी बेहद प्रसन्न थीं और उन्होंने हमें एक दुर्लभ प्रशंसा पत्र दिया, "छुटकी हम पर गयी है. हमने भी पहलौगी का बेटा जन्मा था."

पतिदेव भी प्रसन्न थे क्योंकि वह बेटे से बाप बन गये थे. ससुर साहब एकदम असंपृक्त तथा तटस्थ से थे. हां, जिठानी जी के मुख पर ईर्ष्या के भाव अवश्य उभरे क्योंकि उनके पहले बेटी हुई थी. पुत्र जन्म के समय हमें भी बहुत खुशी हुई. सिर्फ इसलिए नहीं कि हमारे घर में बेटा जन्मा है, बल्कि इसलिए कि कालांतर में हमारे सास बनने की संभावना पुख्ता हो गयी थी.

अभी दो वर्ष तक हम बिट्टे के नेपकिनों, गीले बिस्तरे और दूध की बोतलों से उलझे ही रहे कि दूसरे शिशु भी तशरीफ ले आये. फिर बेटा! सासजी की बांछें खिल गयीं. उनके भी दो बेटे हुए और हमारे भी. जेठानी बेहद निराश थीं क्योंकि उनके दूसरी बेटी हो चुकी थी. पतिदेव भी थोड़े उखड़े क्योंकि परिवार को पूर्ण करने के लिए उन्होंने एक कन्या की कामना की थी. ससुर साहब पूर्ववत तटस्थ ही थे.

अब हम सासजी की चहेती बहू बन गये. उन्हीं के पद चिन्हों का अनुसरण जो कर रहे थे. चौबीसों घंटे दोनों बेटों की सेवा में जुटे रहते. खूब खुश और उमंग से भरे. साथ ही हमारे अंतर में खुशियों का सागर उफनता रहा. हमें सास बनना था. अब यह सपना नहीं, वास्तविकता थी. रात दिन बेटों की सेवा करते हुए बस हम यही सोचते रहते कि हे भगवान, वह दिन कब आयेगा, जब हम मांजी की भांति कमर में स्टोर तथा लाकर की चाभियां खोंसे, आरामकुर्सी पर जमे, दो बेटों, दो बहुओं और एक अदद पति पर एकछत्र शासन कर सकेंगी.

और आज इतने लंबे अंतराल के बाद वह दिन भी आ गया. हमारे बड़े बेटे समीर का विवाह हुआ. घर में बहू का पदार्पण हुआ और हम सास बन गये. मन में युगों की साध थी अपने सास के रोल को उसी परंपरावादी ढंग से निभाने की.

परंतु अलका ने घर में घुसते ही चरण स्पर्श तो नहीं किये, 'हाय मोम' कहकर हमारा अभिवादन क्या किया, हम सातवीं मंजिल से ग्राउंड फ्लोर पर आ गिरे. दो-तीन दिन तक मियां-बीबी अपने कमरे में कैद रहे.. फिर शिमला चले गये. एक हफ्ते बाद लौटे तो बहूरानी ने फरमायश की, "मम्मी, होटल का

खाना खाते-खाते बोर हो गये. आज तो गोभी के पराठे और बथुए का रायता बनाकर खिलाइए."

हम हतप्रभ रह गये. हम सास हैं या इन महारानी की नौकरानी? हनीमून मनाने गये. हमसे पूछा तक नहीं. यह तो हमारी सत्ता के विरुद्ध विपक्षी दलों द्वारा बंगला देश में चलाये जाने वाले आंदोलन से कहीं ज्यादा विस्फोटक स्थिति थी. हमने बहू की कामना को ऐसे ही ठुकरा दिया जैसे अमरीका, भारत द्वारा पाकिस्तान को शस्त्र सप्लाई के विरोध पत्र को.

दोपहर को हमारे 'यह' बड़बड़ाये, "गोभी के पराठे बना देतीं तो कौन-सी लंका लुट जाती. बेचारी बहू का मन रह जता."

एक ससुर साहब थे और एक यह हैं! हमारी सास के कठोर अनुशासन के सामने ससुर साहब के मुख से चीं तक नहीं निकलती थी. और एक यह हैं कि बहू के पक्षधर बन, हमें घुड़क रहे हैं. ग्रहशांति के पावन उद्देश्य से हमने रात के खाने में सिर्फ गोभी ही नहीं, आलू और पनीर के पराठे बना बहू को खिलाये. तृप्ति की डकार ले बहूरानी ने हमें प्रशंसा पत्र थमा दिया, "ममी, आप खाना बहुत अच्छा बनाती हैं!"

बहू के रूप में जिस रसोईघर में हम घुसे थे, सास बनकर भी बस घुसे ही रहे. अलका ने कई बार अपने जौहर दिखाने की कोशिश की. हर बार हमें नमकीन खीर, मीठी सब्जी और खट्टे कड़वे पराठे खाने को मिले. रसोईघर में अलका का प्रवेश निषिद्ध करने में ही जनहित था. वही किया हमने.

हमारा साम्राज्य स्थापित होने से पूर्व ही ध्वस्त हो चुका था. एक वर्ष बीतते-बीतते हमें एक और अतुलनीय अनुभव हुआ. अलका बहू ने एक बेटे को जन्म दे हमें दादी बना दिया. सच मानिए, तीसरी पीढ़ी देख मन में जो आवेश और उमंग का ज्वार उठता है उसकी अनुभूति अतुलनीय है. हम तो बस अभिभूत से हो जैसे बौरा गए, आगत की आतंकभरी अनुभूति से एकदम बेखबर.

जहां हमारा नाती तीन महीने का हुआ, हमारी बहू ने घोषणा कर दी कि घर में चौबीसों घंटे सड़ने की बजाय, वह दफ्तर जाकर कुछ उत्पादक तथा उपयोगी काम करेगी. बहू को बहुमत का समर्थन प्राप्त था अर्थात उसके ससुर, पति और देवर उसके पक्ष में थे.

हम अल्पमत में हो गये. परिणामस्वरूप हमें सास का तो नहीं, आया का चरित्र अभिनीत करना पड़ा. नाती के पोतड़े धोने, दूध की बोतलें उबालने, और उसे सुलाने के लिए लोरी गाना ही हमारा प्रमुख व्यवसाय बन गया. हमें इन कामों में आनंद मिलता पर कई बार हम सोचते—क्या हमारे भाग्य में अपने तथा बहुओं के बच्चे पालना ही लिखा है.

बहू बेटे दफ्तर चले जाते. हम घर और उनकी संतति की देखभाल करते. सच तो यह है कि सास बनकर भी हम पहले वाली बहू से कहीं ज्यादा बहू बन गये थे.

इस 'तमस' में एक आशा की किरण चमकी.

हमारे दूसरे बेटे ने डाक्टर बन, नौकरी शुरू कर दी. साथ ही उसने अपने साथ पढ़नेवाली एक लड़की से प्रेम विवाह भी कर लिया. यह हमारा सौभाग्य था कि हम अपने बेटे के विवाह की सादी रस्म में आमंत्रित थे.

हम दूसरी बार सास बने. दूसरी बहू घर में आ गयी—डाक्टर बहू जिसका पति डाक्टर था, और बाप भी डाक्टर था. वह बहू कम, डाक्टर ज्यादा थी. इस अनुभूति के लिए हमें काफी दिनों तक प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ी.

यूं तो डाक्टर बहू ने जिस समय तंग जींस और कसा रंगबिरंगा टॉप पहिन गृह प्रवेश किया, हमारा रक्तचाप तभी बढ़ गया. जिस समय उसने हमें अपने से लिपटा, हमारे माथे और गालों को अपने ओठों से सहलाया, हमें माईग्रेन की शिकायत शुरू हो गयी. जिस समय उसने सारे अतिथियों के सामने अपने पति की बांहों में बांहें डाल, अपने कमरे में धकेला, हमारी रीढ़ की हड्डी में बर्फीली लहर दौड़ गयी.

विवाह के तीसरे दिन ही हमारी डाक्टरनी बहू ने हमें बिस्तरे पर लिटाकर हमारा पूरा परीक्षण किया. रक्तचाप नापा. वजन नापने वाली मशीन पर हमें खड़ा किया. अंत में उसने चिंतित स्वर में कहा, "च्यूच्च, ममी, आपने तो अपने शरीर का सर्वनाश कर डाला है. वजन 90 किलो. हे राम! ज्यादा बजन बनाए रखना आत्मघाती है."

"रहने दे बहू. पचास-पचपन तक इसे ढोया है तो दस-पंद्रह साल और चल जायेगा," हमने वितृष्णा से कहा.

"रहने कैसे दूं ममी? 'ओवरवेट' (अधिक बजन) से काफी प्राब्लम पैदा हो जाती हैं. हार्ट अटैक, हाई बी०पी० का डर रहता है. आपका बी०पी० आगे ही हाई है. मुटापे के लिए मिठाई और हाई बी०पी० के लिए नमक बंद."

"तो मैं खाऊंगी क्या, तेरा . . . ," हम सिर कहना चाहते थे, पर शालीनतावश कह नहीं पाए. बहू डाक्टर थी और हम शाकाहारी.

"मैं आपके लिए आपकी दिनचर्या तथा संतुलित आहार का चार्ट बनाऊंगी. आप उसी के अनुरूप काम करेंगी और भोजन खाएंगी." बहू ने आदेशात्मक स्वर में कहा.

सुबह-शाम घूमना. दिन में रसोईघर में खटना और बड़ी बहू के दो बच्चों की देखभाल. और इसके बावजूद, उबली सब्जियां, रूखी चपाती, मक्खनविहीन टोस्ट, फीकी चाय, बिना नमक की दाल और दूधरहित चाय खा पीकर हमारा दिल करता—आत्महत्या कर लें या फिर इस बहू की हत्या कर दें.

एक हमारी सास थीं. सौ किलो से ऊपर वजन था. तिस पर भी खूब कड़क, सुनहरी रंग के सिके शुद्ध घी के पराठे खाती थीं वह! और एक हम हैं! हमें तो हमारी बहुओं ने कहीं का नहीं छोड़ा.

हमने अपने छोटे बेटे से रश्मि की शिकायत की तो सारे के सारे राशनपानी लेकर हमारे ऊपर चढ़ गये.

"जैसे बहू कहती है, वैसा करो. अगर तबीयत गड़बड़ा गयी तो इस घर तथा टप्पर की देखभाल कौन करेगा?" यह बड़बड़ाये, सबसे ज्यादा लुटिया इन्हीं ने डुबोयी थी. कभी सास के रूप में हमें प्रतिष्ठित नहीं होने दिया. जब देखो तब बहुओं का पक्ष ले हमसे खुंदक निकाल रहे हैं.

हमारे प्रतिवाद करने से पूर्व हमारे डाक्टर पुत्र-रत्न बोले, "मां, घर की मुर्गी दाल बराबर होती है! यही परामर्श रश्मि किसी और को देती तो सौ रुपये फीस के फटकार लेती. मुफ्त में पूरा परीक्षण हो गया, इसीलिए आप इसे सीरियसली नहीं ले रही हैं."

"सीरियसली लेकर क्या करूं? अच्छी बहू है. मेरी मिठाई, नमक, दूध सब तो बंद कर दिया," हमने प्रतिवाद किया.

"मां, इंसान खाने के लिए नहीं जीता, जीने के लिए खाता है," यह बोले हमारे बड़े पुत्र.

"हां, ममी, इलाज से बेहतर है परहेज," बड़ी बहू भी विपक्ष में जा मिली.

बस, हम अल्पमत में बने रहे.

हम सास बन गये थे. पर ऐसी सास बनने से लाभ क्या जो चौबीस घंटे बहुओं की सेवा करे और उनके आदेशों का पालन करती रहे? खुद रसोईघर में खटे और बहुएं अपने अपने कमरों में बैठीं पॉप म्यूजिक सुनती रहें या टी.वी. सीरियलों का आनंद उठायें.

अक्सर हम सोचते हैं—काल-चक्र ने हमारे साथ यह कैसा विश्वासघात किया है? □

चलते-चलते

"अरे, बूसली की क्या धांसू फिल्म है! फोटोग्राफी तो लाजवाब है."

"अच्छा पर स्टोरी क्या है?"

वो तो अपनी समझ में नहीं आयी."

—गुड्डू गोविंद

यदि यदि महाभारते चुनाव भवति

प्रेम जनमेजय
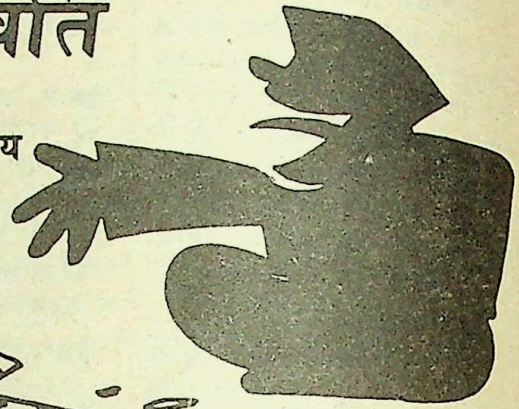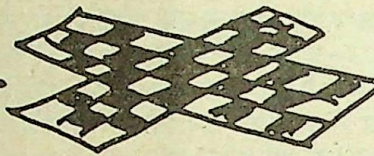
आजकल जिस तरह प्रजातंत्र आयकर अधिकारी की तरह यूरोप में जगह-जगह छापे मार रहा है यदि द्वापर-युग में भी एक आध छापा मार देता तो क्या बिगड़ जाता, उलटे बिगड़ी चीजें सही हो जाती. लड़ाई दो भाइयों के बीच. युद्ध में स्वयं तो डूबे ही बेचारी अनाम जनता को भी ले डूबे. अरे भाई, कौरव पांडवों के बीच सत्ता को लेकर झगड़ा था तो चुनाव ही करवा देते. इसलिए सोचता हूं द्वापर में प्रजातंत्र होता तो महाभारत का युद्ध नहीं होता, महाभारती चुनाव अवश्य हो जाते.

ऐसा मत सोचिए कि चुनाव होने से कुछ समीकरण बदल जाते, क्योंकि होना तो वही है जो हुआ, परंतु होता प्रजातांत्रिक तरीके से. लाखों लोगों का रक्त सस्ता होकर नहीं बहता. सोचता हूं महाभारती चुनाव में क्या-क्या होता! मैं तो मात्र सूत्र दे रहा हूं आप चाहें तो इस पर महाकाव्य या महाउपन्यास की रचना कर सकते हैं.

चुनाव की चौपड़ बिछी हुई है. मामा (श्री नहीं) शकुनि हर हालत में चुनाव जीतने के चक्कर चला रहे हैं. युधिष्ठिर ईमानदारी से चुनाव जीतने की आशा बांधे चारों भाइयों के साथ प्रचार कर रहे हैं.

युधिष्ठिर ने मध्यावधि चुनाव का जुआ खेला है. शेष पांडव समझते हैं परंतु, युधिष्ठिर को अपनी इंटेलीजेंस पर भरोसा है. उन्होंने चुनाव का जुआ खेलने का अंतिम फैसला ले ही लिया है. युधिष्ठिर हाई-कमान हैं इसलिए उनके फैसले के विरुद्ध कुढ़ा तो जा सकता है कुछ किया नहीं जा सकता. हाई कमान चीज ही ऐसी है जिसके आगे अच्छे से अच्छा योद्धा शिखंडी बन जाता है. कुछ तो धृतराष्ट्र हो जाते

यदि महाभारत काल में प्रजातंत्र होता... तो क्या क्या होता? कैसे और क्यों होता? कुल मिलाकर जो भी होता, आइए दूरदर्शन के असहयोग के बावजूद देखें...!

हैं, वही देखते हैं और सुनते हैं जो संजय सुनाता है. महाभारत देखकर लगता है कि बड़ा भाई हाई-कमान होता है जिसके पास सभी अधिकार होते हैं, कर्त्तव्य कोई नहीं होता.

उधर दुर्योधन, कर्ण और दु:शासन चिंतित हैं और मामा शकुनि मुस्कराते हुए घूम रहे हैं. ऐसे मामे राजनीति के लिए बहुत आवश्यक होते हैं जो अपने पट्ठे को गद्दी पर बैठा देते हैं और स्वयं उसके सलाहकार के रूप में सत्ता की चैरी चखते हैं. गालियां पट्ठा खाता है और मामा मेवा खाता है.

ऐसे मामे के आगे दुर्योधन प्रश्न रखता है, ''मामा, मध्यावधि चुनाव की घोषणा तो करवा ली, अब चुनाव जीतेंगे कैसे? हमें वोट कौन देगा.''

मामा मुस्कराकर कहते हैं, ''कोई नहीं देगा, भांजे, कोई नहीं देगा.''

''फिर मामा, आपने किस बल पर चुनावों की घोषणा करवा डाली, मुझे पता होता......'' दुर्योधन क्रोध में उबलता है.

''शांत भांजे, शांत. अगर वोट से ही जीतना है तो यह मामा कब काम आयेगा. एक बात समझ लो, प्रजातंत्र में दो चीजें मुख्य होती हैं, वोट और नोट. नोट खर्चो वोट पाओ!'' मामा हाथ मलते जाते हैं, भांजे को समझाते जाते हैं.

''पर मामा, नोट से वोट कौन देगा, सब साले सत्यवादी बने हुए हैं.''

''भांजे वोट कोई देगा नहीं, नोट से वोट हम छापेंगे. कैसे छापेंगे, ये तुम मुझ पर छोड़ दो.'' मामा ने रहस्यमयी मुस्कान फेंकी.

मामा शकुनि मतदान केंद्रों पर कब्जा करवाने के उस्ताद हैं. उनके पास मतपेटियों पर कब्जा करने वालों की पूरी सेना है. उधर गली-गली घूमते पांडव चुनाव-प्रचार कर रहे हैं, इधर मामा अड्डों पर घूम रहे हैं.

मध्यावधि चुनाव में युधिष्ठिर हार जाते हैं. जैसा प्रजातंत्र में होता है, युधिष्ठिर के खिलाफ जांच आयोग बैठता है, जिसके सदस्य भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि हैं. ये सब ''मैं क्या करूं..'' की विवशता भी ढोते हैं और हाई कमान को चिट्ठियां भी लिखते हैं. ये दीगर बात है कि हाई कमान उन पत्रों के उत्तर भी नहीं देती है. बूढ़े हो गये परंतु, राजनीति-मोह कहां छूटता है. आयोग पांडवों के वनवास एवं अज्ञातवास की घोषणा कर देता है.

पांडव तेरह वर्ष राजनीति से बाहर रहने के बाद इंद्रप्रस्थ में अपनी सरकार बनाना चाहते हैं, परंतु, दुर्योधन का दो तिहाई बहुमत है, वह चुनाव करवाने को तैयार नहीं है.

कृष्ण दुर्योधन के पास संधि प्रस्ताव लेकर जाते हैं.

''हे दुर्योधन, तुम पांडवों को यदि अपनी

सरकार में पांच मिनिस्ट्री दे दो तो हम चुनाव नहीं लड़ेंगे," कृष्ण कहते हैं.

"पांच मिनिस्ट्री! मैं तो एम.एल.ए. का एक टिकट तक नहीं दूंगा."

कृष्ण लौट जाते हैं, और महाभारती चुनाव आरंभ होते हैं,

चुनावों की घोषणा होती है, नामांकन-पत्र भरे जाते हैं. भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि न चाहते हुए भी दुर्योधन दल से नामांकन पत्र भरते हैं. प्रजातंत्र होने से उनको सुविधा हो जाती है, दुविधा कम हो जाती है. तीनों गुप्त मतदान में अपना मत तो पांडवों को दे ही सकते हैं.

परंतु ये क्या? चुनाव के ऐन वक्त अर्जुन को मोह हो जाता है. ऐसे में कृष्ण चुनावी-गीता का वाचन करते हैं. यह पावनी गीता, जिसे हर नेता प्रणाम करता है, हर मंत्री नित-प्रातः वाचन करता है, उसे मैं प्रेम जनमेजय आपके सामने कहता हूं. इस गीता के पाठ से प्रत्याशी के मन में कोई सुविधा-दुविधा नहीं रह जाती है. वह अर्जुन बन जाता है जिसको मंत्री-रूपी चिड़िया की आंख ही दिखाई देती है. अतः जिस भी सज्जन को दुर्जन बनने राजनीति में जाना है, वह इस चुनावी गीता का अवश्य पाठ करें

चुनावी गीता

अर्जुन उवाच : हे प्रभु! ये मैं कहां आ गया हूं. इस चुनाव में तो सब अपने ही लड़ रहे हैं. पितामह भीष्म, गुरु द्रोणाचार्य, विदुरजी—क्या इन सबको हराकर मैं संसद में जाऊंगा. इनके विरुद्ध मैं चुनाव में नहीं लड़ूंगा, मेरा नामांकन-पत्र रद्द करवा दीजिए. नहीं तो मैं नाम वापस ले लूंगा.

कृष्ण उवाच : हे अर्जुन, ये कैसे समय में तुम्हें मोह ने ग्रस लिया है. ये सब तुम्हारे कोई नहीं हैं, ये तो मात्र तुम्हारे विरोधी दल के नेता हैं. राजनीत में कोई अपना नहीं होता. किसी से खून का रिश्ता नहीं होता. जो मत देता है, मंत्रीपद देता है, वही अपना होता है. अतः ये सब सोचकर तुम अपने चुनाव-प्रचार का शंख बजाओ. चुनाव अभियान आरंभ करो. वरना तुम्हें कभी मंत्रीपद प्राप्त न होगा.

अर्जुन उवाच : हे प्रभु, इन सबको पराजित करके मंत्रीपद से मुझे क्या लाभ होगा? मंत्रीपद के मोह से मुझे निकालिए.

कृष्ण उवाच : हे सांसदे, ये तुम्हारा मोह व्यर्थ है. जिस प्रकार हम नित्य कपड़े बदलते हैं, उसी प्रकार ये मंत्रीपद व्यक्ति बदलता है. तुम सदा इस पर नहीं रहोगे. अतः जैसे तैसे पद मिले तो इसका स्वयं लाभ उठाओ और अपने मित्रों को भी उठाने दो. तुम मोमजाये बन जाओ. अपने तात की तरह धृतराष्ट्र बन जाओ, तभी सफल मंत्री कहलाओगे.

अर्जुन उवाच : प्रभु, क्या ये सब गलत नहीं है.

कृष्ण उवाच : गलत कुछ नहीं है, जो तुम करोगे, देश और पार्टी के लिए करोगे. रिश्वत खाओगे तो देश के लिए, उपहार लोगे तो पार्टी के लिए. तुम अपने समस्त कार्य इसके नाम अर्पण कर दो. इसकी चिंता मत करो कि तुम गलत कर रहे हो या सही, इसकी चिंता तो जनता करती है.

अतः हे अर्जुन इससे पहले कि और लोग दीमक बनकर इस देश को चाट लें, तुम हड़प जाओ.

यह कहकर कृष्ण ने विराट रूप दिखाया, जिसमें अर्जुन ने देखा कि हर सफेदपोश देश को खा रहा है. उसका मोह भंग हुआ.

हे पाठकों, इस चुनावी गीता से आपको भी चुनाव-संग्राम के ज्ञान का लाभ हुआ होगा. आप भी अन्य व्यवसाय छोड़कर राजनीति के इस व्यवसाय को अपनाएं, नहीं तो मामा ही बन जाएं. □

क्रिकेट टीम का चयन और देश का चलन

गोपाल चतुर्वेदी

SHEKHAR GURERA

कुछ खेल से खिन्न हो गये हैं तो कुछ देश की टीम से दुखी. दिन भर जो कैंटीन मे क्रिकेट की चर्चा करते थे, इधर कैरम में रुचि ले रहे हैं. एक दिन के मैचों में वैस्टइंडीज और पाकिस्तान की टीमों ने इधर हमारी ऐसी धुनाई की है कि कुछ दीवानों ने तो अखबारों के खेल पन्नों तक का बहिष्कार कर दिया है. कोई टीम के चयन में 'पालिटिक्स' को दोषी ठहराता है तो कोई क्षेत्रीयता को. हमारे साहबजादे का ख्याल है कि चयन सम्मिति बुजुर्ग खिलाड़ियों को शामिल करती तो वह लोग अपने बल्ले की ढाल से टीम की नाक को पूरी की पूरी कटने से कुछ तो बचा लेते. हमारे समाजवादी मित्रों का कहना है कि अंग्रेजी और क्रिकेट हमें हमेशा मानसिक गलामी के जाल में जकड़े रहेंगी. समय और राष्ट्रीय सम्मान का तकाजा है कि हम देसी भाषाओं का प्रयोग करें और देसी खेल खेलें.

"कबड्डी, खो-खो और कोड़ा-जमालशाही में क्या खराबी है कि बेवकूफों की तरह गेंद फेंकने में लगे रहो. वह भी इसलिये कि सामनेवाला इस महंगाई के जमाने में बिना उसकी कीमत-वीमत का लिहाज किये गेंद की पिटाई करता रहे. यह सारी सात समुंदर पारवाले साम्राज्यवादी आका की साजिश है, साजिश. इस खेल पर तो कानूनन रोक लगा देनी चाहिये," वह बांहें चढ़ाने लगते हैं.

यों हम क्रिकेट और अंग्रेजी दोनों के पक्षधर हैं. देश की एकता जो है सिर्फ अंग्रेजी की नाजुक 'थ्रेड' के ही सहारे टिकी है. काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक सब सरकारें अंग्रेजी बोलती, लिखती और समझती हैं. इसी कारण किसी भी राष्ट्रीय या अंतर्राष्ट्रीय सम्मलेन में हमारे समझदार नेता अपना धुंआदार प्रवचन हमेशा अंग्रेजी में करते हैं जबकि कभी-कभी विदेशों से आये मूर्ख हिंदी बोलने की हिमाकत कर हमारी एकता और अखंडता को चुनौती देने की कोशिश. चड्डी पहनकर कबड्डी खेलनेवालों का धूल में लेटना-नहाना कौन शरीफ इंसान देखना चाहेगा भला. क्रिकेट के सफेद पैंट, कमीज और तिरछी टोपीधारी कलाकारों का क्या कहना! लगता है बगुले को किसी ने शैंपू कर दिया हो. उनकी अदायें भी निराली हैं. क्रिकेट के मैदान को 'स्विमिंग पूल' समझकर वह डाइव लगाते हैं और बिना लेटे 'लेट-कट'!

बहुधा वह बिना किसी की टांग या विकेट तोड़े 'लेग-ब्रेक' फेंकते रहते हैं. हम तो क्रिकेट के बगैर अपने देश की कल्पना ही नहीं कर सकते. पूरे वक्खत बेसब्री से इंतजार रहता है कि कब क्रिकेट का सीजन आये. उसके बाद तकदीर वाले टी.वी. पर क्रिकेट निहारते हैं और बाकी बचे हमारे ऐसे, सीधा प्रसारण सुनते हैं. ऐसे रेडियो की कमैंटरी सुनने के कई फायदे हैं. मौसम और प्रकृति का ज्ञान बढ़ता है. रीतिकालीन उपमाओं से परिचय होता है. हमारे प्रिय कमैंटेटर के आंखों देखे हाल की एक बानगी पेश है.

"मेरे सामने हरी घास का एक रेशमी गलीचा बिछा है. पीली धूप, हरी-हरी दूब और लाल गेंद प्रकृति की क्या सुंदर रंग-व्यवस्था है. चिड़ियां चीं-चीं कर रही हैं और शीतलमंद बयार बह रही है. मैदान के पीछे एक पहाड़ है अर्थात् गेंदबाजी का पहाड़ी छोर, दूसरी तरफ सचिवालय है अर्थात् सचिवालय छोर. ऊपर भुवनभास्कर मुस्करा रहे हैं और नीचे चीलें पंख फैलाये इठला रही हैं. लीजिये इस सुहावने वातावरण में भारत का एक विकेट और गिर गया. तो मैं आपको इस दर्शनीय स्थल के बारे में बता रहा था."

इस प्रकार अक्सर क्रिकेट के बहाने अपना बिना टिकट का पर्यटन भी हो जाता है. हमें यकीन है कि हमारे ऐसे और भी अनभिज्ञ भाई होंगे जो क्रिकेट कमैंटरी की कविता के जरिये राष्ट्रीय एकता के कायल हो चुके हैं.

यह एक निर्विवाद सत्य है कि क्रिकेट हमारा लोकप्रिय राष्ट्रीय खेल है जो मुल्क की मुख्य धारा से जुड़ा है. इसमें भला राजनीति क्यों न हो जब देश के हर क्षेत्र में राजनीति है. शिक्षा से लेकर साहित्य और समाज कल्याण से लेकर सहकारी संस्थाओं तक. यों भी सब तो गावस्कर, कपिल या वेंगसरकर हो नहीं सकते क्रिकेट के हमारे ऐसे लल्लू क्या करें! अपन तो राजनीति ही कर सकते हैं. इससे बैट से विमुख लोगों को उम्मीद रहती है कि बिना अखाड़े में उतरे भी ख्याति मिल सकती है. क्रिकेट की कला में पटु मार्शल की बंपर की जोखिम उठाते हैं और निखट्टू उन्हें लट्टू की तरह इशारों पर नचाते हैं.

यह आरोप कि टीम में योग्य खिलाड़ियों को मौका नहीं मिलता कतई तथ्यहीन है. हमारे चयनकर्ता पूरी ईमानदारी से चयन करते हैं. जब जैसे खुद चुने जाते हैं, वैसे ही तो टीम को चुनेंगे. ट्रेनिंग कैंप लगवाते हैं. मैदान में खिलाड़ियों का खेल और बाहर उनका 'वजन' तौलते हैं. जो 'खेल' और 'जोर' दोनों की कसौटियों पर खरा उतरता है, उसे चुन लेते हैं. हमारे देश में चयन का यही सर्वमान्य तरीका है. युनिवर्सिटी में प्राध्यापक क्या वाइस चांसलर तक हम ऐसे ही चुनते हैं और सरकारी निगमों में प्रबंध निदेशक या चेयरमैन. अब यह तो सबको ही पता है कि हम शिक्षा और सार्वजनिक उद्यमों के क्षेत्रों में कितनी तरक्की कर चुके हैं. और लगातार कर रहे हैं. क्रिकेट में, साहब! क्या कोई सुर्खाब के पर लगे हैं कि उसके खिलाड़ियों को चुनने के लिये और कोई तरीका अपनाया जाये!

लिहाजा हम विश्वास के साथ सबको सूचित करते हैं कि चुनाव-पद्धति की परिपाटी और प्रकृति को ध्यान में रखते हुये हमारी न्यूजीलैंड गयी टीम आज की सर्वश्रेष्ठ क्रिकेट टीम है. अब चंद श्रीकांत, वेंगसरकर और मनिंदर ऐसे छूट भी गये तो क्या हुआ. खेल की तराजू पर भले खरे उतरे हों, वजन की तौल में मुमकिन है, खोटे हों. यों भी विरोध करना भारतीय मानस का स्वभाव है. एक बैंगन की तारीफ करेगा तो दस उसकी बुराई. फिर यह तो क्रिकेट टीम है. रामराज्य में सीता ऐसी महिला की धोबी ने शिकायत की थी. राजीव राज भले चला गया राजसिंह राज तो चालू है. जो उनका शरणागत होगा, टीम में होगा. वेंगसरकर ऐसे डूंगरपुर में खेलना चाहें तो खेलें. दुनिया के बेहतरीन खिलाड़ी हों तो अपनी बला से. पर लोग हैं कि चुप ही नहीं होते. बिना बात का विरोध हमारे प्रजातंत्र की सबसे बड़ी खूबी और ताकत है. क्रिकेट के राष्ट्रीय खेल होने के नाते उसमें राष्ट्रीय प्रवृत्तियां तो झलकेंगी ही. हमने अपनी टीम के इधर न जीतने के कारणों पर गंभीरता से मनन-चिंतन किया है. आखिर वैस्टइंडीज को 1983 के विश्व कप में हमने पीटा था. अब जाने हमारी टीम को कैसा 'राज सिंह' हो गया है कि पिटते चले जा रहे हैं.

बात सोचने की है. हमारी टीम की हार का खिलाड़ियों की क्रिकेट की योग्यता-अयोग्यता से कोई वास्ता नहीं है. इसके कारण हमारे जीवन-दर्शन और परंपरा में निहित हैं. अपना हर कर्म हम गीता के निष्काम कर्म की भावना से करते हैं. फल की आशा जब देश की किसी गतिविधि में नहीं की जाती तो हम और आप क्रिकेट में क्यों करें! इधर सरकार रोजगार बढ़ाने और गरीबी हटाने के अपने व्रत में दत्तचित्त हो जुटी है. वह अपना कर्म पूरी मेहनत और लगन से कर रही है. यदि इन गहन और श्रमसाध्य प्रयासों के बावजूद गरीबी और बेकारी टस से मस न हों तो यह उनका दोष है. सरकार का क्यों होगा! हम खेल को खेल भावना से खेलते हैं. जीते तो जै राम, हारे तो हरिनाम यदि जीतने के बाद कुछ अधिक पैसा-कौडी का डौल हो तब भी परिणाम का सोचें. यहां तो न जीतने से पैसे में लाभ, न हारने से नुकसान. साबुन और कपड़ों के विज्ञापन चलने हैं वैसे के वैसे ही. फालतू हाथ-पैर क्यों मारें. फटाफट क्रिकेट हो या पांच दिनवाली.

हमने तो सदियों से अपने मेहमान को भगवान माना है. जब कोई अतिथि आता है तो उसकी आरती उतारते हैं, जाता है तो गाली देते हैं. हमें लगता है कि दूसरे देशों में अतिथि-सत्कार की कोई ऐसी विकसित परंपरा नहीं है. जब कोई भारत आता है, हम गेंदबाजी की जगह उस पर फूल बरसाते हैं. पर जब हम जायें तो वह हम पर पत्थर फेंकते हैं. हम इसका विरोध भी नहीं कर सकते. हम आदतन एक-दूसरे का विरोध करते हैं, किसी बाहर वाले का नहीं. यदि किसी को इस बारे में शको-शुबहा हो तो वह अपने इतिहास पर नजर डाल सकता है. अभी तक हमारा यही प्रयास रहा है कि हर मेहमान हमारे यहां से नाम शोहरत कमा के जाये. अतिथि टीम का हर सदस्य हर मैच में शतक उड़ाये. इस सबके बावजूद वैस्टइंडीज का हमारा मेजबान यदि खेल के मैदान में बर्बरता और क्रूरता से पेश आता है तो हम क्या करें. भगवान की यही इच्छा है! देखिये न! श्रीकांत का हाथ ही तोड़ डाला.

अपनी तो एक ही प्रार्थना है. जीतें या हारें हमारे खिलाड़ी सही-सलामत देश लौट आयें अपने हिसाब से तो सारी गलती क्रिकेट बोर्ड की है. वैस्टइंडीज ऐसे भाड़ में अपने नाजुक खिलाड़ियों को झोंकने की भला ऐसी कौन-सी जरूरत है. भेजना ही है तो टीम को श्रीलंका, सिंगापुर, बंगलादेश या हांगकांग भेजें. शापिंग हो. पड़ोसियों से संबंध सुधरें. दूर जाना हो तो कैनाडा का चक्कर लगा लें. सुना है, वहां भी क्रिकेट शुरू हो गयी है. वैस्टइंडीज जैसे देशों का 'टूर' हमारे क्रिकेट बोर्ड द्वारा खिलाड़ियों का हाल-बेहाल करने का खुलेआम षड्यंत्र है.

यदि बिचारे खिलाड़ियों की अग्नि-परीक्षा अनिवार्य ही है तो किसी 'टॉप' ज्योतिषी से शुभ मुहूर्त निकलवाकर टीम को रवाना करें. वह उधर पहुंचें और इधर 'मृत्युंजय' का अखंड पाठ शुरू हो. हमने तो सुना नहीं है कि बिना ज्योतिषी-तान्त्रिक की सलाह के अपने देश का कोई राजनेता चुनाव लड़े या दल बदले. टीम को जितवाने की जिम्मेदारी सिर्फ खिलाड़ियों की ही नहीं, बोर्ड की भी है. पूजा-पाठ करवाने का कर्तव्य तो बोर्ड का ही बनता है. वह चूक करे और हारने का दोष हम अपने मासूम और निरपराध खिलाड़ियों को दें. किसी ज्ञानी ने ठीक ही कहा है कि अज्ञान ऐसे ही अन्यायों की जड़ है. □

मेरा फोटो महान

शिवानंद कामडे

हमने भी खूब कैमराकारिता की. अच्छे-अच्छों की उतारकर धर दी हमने. जिसको आप कहते हैं चमचागिरी, उसे भी किया. ... खूब आगे-पीछे घूमे. कैमरा लटकाये. मुंह लटकाये. गला से लेकर गली तक के फोटो खींचे. खूब खिंचायी. और बेहिसाब खींचे. आज की राजीनीति में टांग और फोटो खींचने व खिंचवाने के अलावा होता ही क्या है?

कैमरा न होता तो आप नंगे घूमते. किसे दिखाते अपनी तस्वीर और किसे करते ब्लेकमेल. कहां से लाते प्रूफ? और किसकी उतारते आरती? यदि ये कैमरा न होता तो सच कहूं आज गांधी को लोग भूल जाते. हम कैसे मान लें कि आप गांधी की बात कर रहे हैं? क्या सबूत है आपके पास? जनाब आप किस गांधी की बात कर रहे हैं? कोई तस्वीर है आपके पास? एक गांधी के अनेक अर्थ निकल आते हैं. वह तो यह कहो कि कैमरे ने हमारी नाक रख ली वरना हर गांधी को आप 'महात्मा' बताते. सभी खादीधारी नेता बन जाते. जरा सोचिए, कैमरा न होता तो पुलिस थाने की दीवारों की क्या हालत होती? अपराधियों की जगह वहां हमारी-तुम्हारी तस्वीरें लटकी होतीं या हम खुद ही लटके होते.

ये तो कैमरा ही था जिसने बतलाया कि आप कृपया मुंह छुपा लें क्योंकि देश का बंटवारा होने वाला है. समझदार नेताओं ने यही किया. बंटवारे के वक्त शरम के मारे अपने मुंह छिपा लिये. जिन्होंने मुंह नहीं छुपाये उन्हें पाकिस्तान भेज दिया ... तुम उधर जाओ ... अबे तू कहां जा रहा है उधर ... इधर आ! तू तो सरदार है न, तो उधर काहे को जाता. इधर रह. सारा देश धर्म, जाति, सांप्रदायिकता के खेमों में बंट गया. कैमरे ने सबको कैमराबद्ध कर लिया. कुछ लोगों को कैमरे की ये हरकत अच्छी नहीं लगी. इन्होंने कैमरे पर हमला कर दिया. रील तोड़नी चाही मगर कैमरा साफ बच निकला.

आज वही लोग बताते फिरते हैं, "ये हमारे दादाजी. आजादी की लड़ाई में ये लाठियां खा रहे हैं." कैमरे के इन फोटुओं का उन्होंने भरपूर फायदा लिया... कुछेकों का कहना है कि कैमराकारिता एक अपराध है. उसे सजा

> *हर कोण में आप ------- हर जगह आप ही आप -------- विमान से उतरते हुए, सीढ़ियां चढ़ते हुए, कभी हाथ हिलाते, कभी मुंह, कभी पलकें झुकाते ----- कहीं नजरें चुराते ------ फोटो ही फोटो आप ------- यानी मेरा फोटो महान!*

मिलनी चाहिए... क्यों? क्योंकि कैमरा कभी झूठ नहीं बोलता, हमेशा सच की खाल खींचता है. सुंदर को सुंदर ही कहता है. उसे 'सुंदरजी' कभी नहीं कहेगा.

कैमरा, कैमरा होता है, वह किसी नेता के सिर की कोई काली, सफेद टोपी नहीं कि आज इसके सर तो कल उसके कदमों में. कैमरा कोई मतपेटी भी नहीं जिसमें 30 करोड़ जनता डाल दें तो हजार-पांच-सौ नेता निकल आयें.. इस कैमरे के बगैर नेता जिंदा नहीं रह सकते. इसी पिंजरे में उसकी आत्मा कैद होती है ... उनका संपूर्ण व्यक्तित्व कैमरामय होता है. यदि वे शपथ भी लेंगे तो कैमराना अंदाज में. फीता काटेंगे तो कैमरात्मक ढंग से ... मुस्करायेंगे तो कैमरांटिक तरीके से. "यार हमारा एक कैमराता हुआ फोटू तो खींचो," अभी-अभी वे लोकसभा के लिए चुने गये थे.

"यस सर."

"और देखो फोटो की प्रिंट अच्छी होनी चाहिए.."

"एकदम फस्स क्लास सर. माला चढ़ाने लायक फोटो होगी." देश का प्रिंट चाहे बने या बिगड़े, आपका प्रिंट बढ़िया होना चाहिए...

पिछले दिनों यही हुआ. देश की तस्वीर बिगड़ती गयी आपकी निखरती चली गयी. आपने अपने फोटो को देश का फोटो माना. अपने घर के एलबम को देश की प्रगति का एलबम समझ बैठे.. आपने अपनी खुशी को देश की खुशहाली माना... हर तस्वीर में आप.. अपने आप में एक नया हिंदुस्तान समेटे...

हर कोण में आप... हर जगह आप ही आप... विमान से उतरते हुए, सीढ़ियां चढ़ते हुए, कभी हाथ हिलाते. कभी मुंह. कभी पलकें झुकाते. कहीं नजरें चुराते.. फोटो ही फोटो आप... मेरा फोटो महान!

ये देखिये दूसरी एलबम ... टोप की सलामी लेते हुए उसका कमीशन लेते हुए, जनता को संबोधित करते हुए, संबोधित होते हुए लक्षद्वीप में लक्ष्यहीन, दिशाहीन छुट्टियां बिताते हुए वहां की व्हेल मछली से बतियाते हुए. यहां की जमीन का कोई प्वाइंट नहीं छोड़ा आपने. सब जगह आप कैमरास्थ हुए. कैमरासीन हुए. आपकी कृपा से हमने टी.वी. के स्क्रीन पर आसनों की विभिन्न मुद्राएं देखीं. वर्ना हम तो भूल ही गये थे कि 21वीं सदी के मशीनी युग में ये मयूरासन क्या होता है? और बकासन क्या बला है? क्यों हंसाजी, ठीक कह रहा हूं कि नहीं? कैमरे का आविष्कार इन्हीं दिनों के लिए तो हुआ है. यह दिन देखने थे कैमरे को. आपको. देश को.

कैमराप्रधान हो गया अपना यह देश. प्रगति के नाम पर ढेरों कैमरे चमक उठते हैं, कितनी सुंदर-सुंदर, प्यारी, रंगबिरंगी तस्वीरें दी हैं आपने इस देश को. "कहां से खींची यार ऐसी तस्वीरें...!"

"भारत महोत्सव की है... करोड़ों खर्च किये थे भाई साब ...महज इन तस्वीरबाजी के लिए..."

सचमुच आप महान हैं जी! यदि आप न होते तो ये कैमराएं क्या करतीं? आपकी अदाओं से ही तो इन कैमराओं का पेट चल रहा है...तुम हो भी तो कितने स्मार्ट...आप सचमुच धन्य हैं. कैमरा पुरुष हैं. आप न होते तो कैमरा टी.वी. को क्या मुंह दिखाता. समाचारों को 'मेकप' करने का 'मुस्कराने' का मौका कहां से मिलता. किसे देखकर कैमरा अपना कोण बदलता? लैंस बदलता? पोजीशन बदलता? अरे कहने दो अपोजीशनवालों को, उनकी परवाह करता कौन है! आपने कैमरे को एक नयी दृष्टि दी और देश को मौलिक सृष्टि. देश की प्रगति के लिए टी.वी. को कैमरे का महत्व बतलाया. कितने व्यस्त रहे आप कैमरे के लिए

व्यस्त से व्यस्त क्षणों में भी आप कैमरे को भूल न पाये. अंतिम क्षण (राजनीति के) तक आप कैमरे के आगे किसी वीर योद्धा की तरह डटे रहे. हर धड़कन आपके लिए ही थी. और आपकी हर धड़कन भारत के लिए.

आप कितने समर्पित थे देश के लिए. देश के कैमरे के लिए... सच तो ये कि कैमरे को भी आपसे लगाव हो गया था. न आप कैमरे को छोड़ रहे थे. और न कैमरा आपको. आप देश की खींच रहे थे, कैमरा आपकी खींच रहा था—फोटो. पता नहीं कौन, कब, किससे जुदा हो जाये. राजनीति एक घोंसला है कैमरे के वृक्ष का और आप एक पंछी. न जाने कब ये चमन उजड़ जाये.

सो ठीक किया आपने कुछ फोटो खिंचवा लिये वर्ना हम श्रद्धांजली तक देने के काबिल न रह जाते. फोटो आवश्यक है. आवश्यकता है.

आविष्कार, चमत्कार तथा नमस्कार की जननी है. फोटो पुरानी यादों को स्मरण दिलानेवाला स्मरण पत्र है. खट्टे-मीठे अनुभवों का खजाना है...

साथियो! इस देश की जनता का मैं शुक्रगुजार हूं कि उन्होंने मुझे, इस देश के साथ बंद तस्वीरें खिंचवाने की इजाजत दी. देश को चंद तस्वीरों के अलावा मैंने कुछ नहीं दिया... इसलिए मैं यहां से इन तस्वीरों के अलावा कुछ भी नहीं ले जाऊंगा. फुर्सत के समय इत्मीनान से बैठकर इन तस्वीरों को देखूंगा. शायद हिंदुस्तान की असली तस्वीरें आपके इस एलबम में हों. हो सकता है इस पवित्र देश, हिंदुस्तान, भारत, इंडिया, नेहरू, गांधी और इंदिराजी की इस पावन पुण्य धरती को समझने में ये तस्वीरें मेरी मदद करें.

धन्यवाद. जयहिंद! □

रोने का शौक

राजा की चिटिया महंत की चिटिया. दोनों ने मिलकर 'पिरिया' (कार्तिक मास में किया जानेवाला व्रत, जिसमें खीर पकाई जाती है) पकाया. पिरिया के पुण्य से दोनों के सात-सात बेटे हुए. एक के सातों मर गए, दूसरी के जीते रहे.

महंत की बेटी जाकर राजा की बेटी से बोली, "रानी, हो रानी, मुझे तो रोने का बड़ा शौक है."

"जो तुझे बहिनी रोने का शौक है तो चल-चल जा, गाय के गोबर आंगन लीपना : बेटा आएगा, औड़-दौड़ जाएगा. मुंह-हाथ टूटेगा. मर-हर जाएगा, रोने की साध पूरी हो जाएगी."

गयी. गाय के गोबर से आंगन लीपा. बेटा आया, और गया, दौड़ गया, न टांग-मुंह टूटा. न मरा-हरा न रोने की साध पूरी हुई.

जाकर बोली, "बहिनी, मेरी तो इतने से भी रोने की साध पूरी न हुई."

"जो रोने की साध पूरी न हुई तो चल-चल जा, भर आंगन में मटर पसार देना. बेटा आएगा-दौड़ेगा, फिसलेगा, हाथ-मुंह टूटेगा, मर जाएगा, रोने की साध पूरी हो जाएगी."

फिर गयी. पूरे आंगन में मटर अमार दिया-पसार दिया. बेटा आया—औड़-दौड़ गया, न हाथ-मुंह टूटा, न मरा, न रोने की साध पूरी हुई.

बोली, "बहिन मेरी तो इतने से भी साध पूरी न हुई."

"जो बहिनी रोने की साध पूरी न हुई तो संपेरे से कालीय नाग-बझाकर मंगवाओ और दूध दुहनेवाले कटिए में डाल दो. बेटा आएगा, कहेगा—मां गैया दुहाने जाना है. कहना 'का दुहाने जाना है, छींटे पर कटिया है, हाथ में रसिया है, उतार ला, दूध दुहोला... वह लेगा—हाथ डोगा, नाग डस खाएगा, मर जाएगा, रोने की साध पूरी हो जाएगी."

गयी. संपेरे से कालीय सर्प को फंसाकर मंगवाया. कटिये में डाल छींके पर टांग दिया. बेटा-आया और बोला, "मां दूध दुहने जाना है." मां बोली, "क्या दुहाने जाना है, छींके पर कटिया है, हाथ में रसिया है, उतार ला, दूध दुह ला." बेटा गया. कटिया उतारा. कटिया साफ करने के लिए अंदर हाथ डाला तो सोने सर्प का हार पाया. जाकर मां से बोला, "मां तुम इतनी भुलक्कड़ हो कि सोने-चांदी की चीजें को भी ऐसे ही जहां-तहां छोड़ देती हो!

पुत्र को जीवित देख और उसके वचनों को सुनकर वह निराश हो गयी. वह फिर अपनी सखी के पास गयी और कहा, "बहिनी! मेरी साध तो इससे भी पूरी नहीं हुई."

"जो बहिनी तेरी रोने की साध पूरी न हुई हो तो वृंदावन जा, घूरा फोड़कर लकड़ी जला देना. भर कड़ाह तेल गर्म करके बेटे की गर्दन मरोड़कर डाल देना : रोने की साध पूरी हो जाएगी."

कांधे कुदाल और गोद में बालक लिए वह वृंदावन की ओर चल दी. घूरा फोड़कर आग जलायी तो वह शीतल हो जाए. लकड़ियां चंदन हो जाएं. तेल डाले जीरा हो जाए. और बेटे की गर्दन मरोड़कर डाली तो बेटा कहे. "मां सा मां सू."

उसी समय उधर से शंकर-पार्वती गुजर रहे थे. इस अद्भुत दृश्य को देखकर रुक गए. पार्वती ने कहा, "चलिए तो जरा देखें कि आखिर एक औरत, एक मां अपने ही बेटे की हत्या क्यों करना चाहती है?"

वह बोली, "मुझे रोने की बड़ी अभिलाषा है."

पार्वतीजी ने कहा, "जे तुझे रोने की इतनी ही साध है तो गंगा किनारे जाओ—वहां राजा सेठ का बेटा मरा पड़ा हुआ है. अहके रोना, डह के रोना, बाबू कहकर, लाल कहकर, बेटा कहकर, सोना कहकर, तुम्हारे रोने की साध पूरी हो जाएगी."

वह गंगा किनारे गयी. देखा, सचमुच वहां राजा सेठ का बेटा मरा पड़ा है. फिर तो वह अह के रोई, डह के रोई, लाल-लाल कहकर, बाबू कहकर, सोना कहकर, हीरा-कहकर. जैसे-जैसे उसके आंसू लड़के के मृत शरीर पर गिरते गये. उसमें भी चेतना आती गयी. अंततः वह भी उठकर बैठ गया और बोला, "माई री माई, आज तो मैं खूब सोया." लोककथा—प्रस्तुति : विभा रानी)

अभिनेता दुर्दशा

हरीश नवल

कहते हैं कि पूत के पांव पालने में ही नजर आ जाते हैं. जब मैं पालने में लेटा रहने की स्थिति में था तो न जाने मेरे दादाजान को मेरे पांव में ऐसा क्या नजर आया कि उन्होंने मुझे भविष्य में अभिनेता बनाने का निर्णय लिया. वे स्वयं अपनी जवानी के दिनों में पारसी रंगमंच से बेहद जुड़े हुए थे अतः उनका

अरमान था कि उनका कोई वंशज अवश्य ही शुद्ध अभिनेता बने. अतः वे मेरे पांवों को देखकर बहुत खुश थे. उनके अपने पांव पालने में कैसे दीखते होंगे, मैं कह नहीं सकता परंतु उनमें कुछ ऐसा था कि भरी जवानी में उन्होंने गौहर जान के साथ तेरह नाटकों में हिस्सा लिया था, यह तथ्य तो बहुत बाद में ज्ञात हुआ था कि उन सभी नाटकों में उनकी भूमिका लगभग एक जैसी थी. वे सीता के रूप में, पार्वती के रूप में, तिलोत्मा या इंद्राणी के रूप में बनी गौहर जान के दायें बायें चंवर डुलाते थे.

यह थी मेरी शानदार अभिनय विरासत जिसके बूते पर स्कूल में पढ़ते हुए मैं पहली बार अभिनेता के रूप में अपना सिक्का जमा सका. हिंदी के मास्टर खेमचंद के निर्देशन में खेले गये इस नाटक में मैं सलीम बना था. एक दृश्य में सलीम और अनारकली का प्रेमालाप था और बादशाह अकबर द्वारा उनका प्रेम संबंध पकड़े जाने पर सलीम को भला-बुरा कहा जाना था. ऐन मौके पर अनारकली की भूमिका निभा रहा

यह थी मेरी शानदार अभिनय विरासत जिसके बूते पर स्कूल में पढ़ते हुए मैं पहली बार अभिनेता के रूप में अपना सिक्का जमा सका...

छात्र नहीं आया था. मास्टर खेमचंद खुद ही अनारकली के रूप में अवतरित हुए.

अचानक खेमचंद जी को ऐसे देख मैं नर्वस हो गया, मुझे यही याद आता रहा कि कुछ दिन पहले ही तो उन्होंने मुझे इसीलिए पीटा था कि मैं उनकी अनुपस्थिति में उनकी शैली में कक्षा को पढ़ाने का अभिनय कर रहा था. जाहिर है रोमांटिक दृश्य उनके सामने करना रस भंग होना था. श्रृंगार में रौद्र रस दर्शकों को उसी दिन प्राप्त हुआ. दृश्य आरंभ हुआ. अनारकली शरमायी-सी खड़ी है. मैं सलीम के रूप में घुटनों के बल उसकी ओर मुख उठाकर प्रेम-संवाद बोलने की कोशिश करने लगा—मेरी महबूबा, मेरी अनारकली, मेरे वीरान दिल की महबूबा अनारकली, मैं तुझे दिलोजान से चाहता हूं. मेरी ... परंतु संवाद ठीक से निकल ही नहीं पा रहे थे. पर्दे के पीछे खड़े अकबर ने प्रोमटिंग भी की पर मुझे कुछ नहीं सूझा. दर्शक प्रतीक्षा में थे कि देखते हैं कि सलीम के संवाद की कैसी प्रतिक्रिया अकबर पर होगी. पर संवाद फूट नहीं रहे थे. मास्टर खेमचंद की पीली आंखें अचानक लाल हो उठीं—'मेरी महबूबा' के बदले मुख से निकला, "मेरे मास्टर जी, मेरी वीरान होती जिंदगी को वीरान करने वाले मास्टर जी, मैं आपको महबूबा कैसे कह सकता हूं?"

अपनी समझ में तो मैंने धीमे स्वर में कहा था, पर कंबख्त उस जमाने में भी माइक बहुत तेज होते थे. मेरे शब्द पाते ही झूम उठे, तालियां बजाने लगे—मास्टर खेमचंद की एक आंख लाल थी और दूसरी पीली हो गयी, उन्होंने अपनी चुनरी एक ओर फेंकी, जूड़ा खोलकर मेरे मुंह पर फेंकते हुए बोले, "सलीम के बच्चे

मैं तेरी जिंदगी को वीरान कर रहा हूं? पिछले हफ्ते की मार भूल गया! देखता हूं तेरा बाप अकबर भी तुझे कैसे बचाता है?'' वे मुझे घसीटते हुए बगीचे से बाहर ले गये..

बस... इसी यथार्थवादी अभिनय की घटना ने संकल्प दिया कि मुझे अभिनेता ही बनना है और मेरे दादाजान की सिफारिश पर मास्टर खेमचंद मेरे गुरु बनने को तैयार हो गये. स्कूल तो जैसे-तैसे पास कर लिया. एक नाटक कंपनी में मास्टर खेमचंद मुझे भर्ती करवाकर रसीद दादाजान को दे गये. मैं शुद्ध अभिनेता बन गया, पालने के पांव उजागर हो गये थे. मेरी शुद्धि पर दादाजान बहुत रोमांचित हुए और खुशी में चल बसे.

शनैः शनैः मैं विवाह योग्य हुआ. मेरे यौवन की गंध में मद-मदाकर कुछ कन्याओं के पिता मुझ तक आये परंतु यह सुनकर कि मैं अभिनेता हूं तथा मेरा काम अभिनय है—बुरा-सा मुंह बनाकर तथा गंध न आ सके, नाक पर रुमाल रखकर चले गये.

अंत में मेरी मंडली की एक अभिनेत्री ने मेरा जीर्णोद्धार किया, उसके साथ भी ऐसी अनेक घटनाएं घट चुकी थीं. वह मेरी अनारकली बनी और फिर नूरजहां बनकर मुझे जहांगीर बना गयी. कोर्ट में हुई इस शादी पर मास्टर खेमचंद ने ही गवाही दी थी, औरों ने सच्ची गवाही देने से भी मना कर दिया था.

शादी के बाद मकान की तलाश हुई. मकान मालिक यह सुनते ही कि मैं अभिनेता हूं, अपनी बीवियों, बहनों, बेटियों आदि को छिपा देते और मुझे मेन गेट के बाहर तक बिदा कर देते. आखिरकार खंडहर हो रही एक पुरानी ठुमरी गायिका ने हमें किरायेदार बना लिया. किराया छह सौ रुपया महीना था पर रोज एक ठुमरी सुनने पर चार सौ हो सकता था. फैसला साढ़े चार सौ तथा महीने में पंद्रह ठुमरियों पर तय हुआ.

हर दूसरे रोज रिहर्सलों की थकान के बाद घर में कदम रखते ही कानों में पिघलता सीसा बरदाश्त करना पड़ता. जब तक हमें मकान मालकिन की ठुमरियों की आदत होती, हमारे घर में आये नये प्राणी की ठुमरियां सुन, अपनी सुनाना बंद कर मालकिन ने किराया दो सौ रुपये बढ़ा दिया.

रंगमंच पर भावों के प्रगटीकरण के साथ साथ संवादों को ठीक से प्रस्तुत किया जाना कितना जरूरी है आप जानते ही हैं. बचपन में आठवीं कक्षा तक भी दस तक पहाड़े नहीं याद होते थे पर अब छह—छह पृष्ठों के संवाद भी याद होने लगे.

एक दिन मैं बस से रिहर्सल के लिए जा रहा था कि खाली सीट मिल गयी. दिल्ली की बस में खाली सीट मिलना ऐसा ही है मानो पचास साल की कुंवारी कन्या को अचानक वर मिल जाये. मैंने बैठते ही अपनी डायरी पढ़नी शुरू की तो पाया कि कुछ संवाद तो याद ही नहीं किए. पैंतालीस मिनट का रास्ता था, पंद्रह संवाद थे, मैं तीन मिनट में एक के हिसाब से याद करने लगा. एक संवाद जरा कठिन था, मैं उसे याद करने में जुट गया. एंग्री यंगमैन की मुद्रा में संवाद ऐसे थे, ''हम से है जमाना, हम जमाने से नहीं हैं, हम वो मिट्टी की दीवार नहीं हैं जो तुम्हारे छूने से भरभरा कर गिर पड़े. भवानी सिंह, तुममें अगर दम है तो इस आंधी को रोक कर दिखाओ.''

मैं आंखें बंद किए याद कर रहा था कि अचानक ब्रेक लगा, इससे पहले कि आंखें खुलतीं, मेरे जबड़े पर एक घूंसा पड़ा और मारनेवाले के संवाद कान में प्रवेश कर गये, ''ले बेटा, गिरा दी यह दीवार, क्या समझता है तू भवानी सिंह को. होगा तू कुछ भी, पर मैं कंडक्टरों की यूनियन का प्रेजिडेंट हूं. तू अगर आंधी है तो मैं तूफान हूं. ले रोक दी यह बस, बता क्या करेगा तू?''

मैंने सहमते और जबड़ा सहलाते हुए देखा कि बस का लंबा-चौड़ा कंडक्टर मेरे समक्ष तन के खड़ा था. मैंने आंखों के आगे आये सितारों में से झांककर देखा--उसकी वरदी पर लगे बिल्ले में साफ अक्षरों में लिखा था 'भवानी सिंह.' जिस कठिनाई से मैंने भवानी को शांत किया, मैं ही जानता हूं. एक दिन का यह किस्सा और सुन लीजिए. मैं नाटक खेलकर लौट रहा था, नाटक दस बजे समाप्त हुआ और साढ़े ग्यारह तक रोने पीटने के बाद पेमेंट मिली. आखिरी बस निकलने के डर से मैं मेकप हटाए बिना ही बस स्टैंड की ओर लपका.

उस दिन मेरी भूमिका एक बड़े स्मगलर के खास आदमी की थी. काली पेंट पर धारीदार टी शर्ट पहनी हुई थी. गले में लाल रूमाल था. चेहरे पर घनी डरावनी मूंछें लगी हुई थीं. यदि मेकप साफ करता तो बीबी, जो अभिनय छोड़ कर तीन बच्चों के साथ नाटक कर रही थी, मेरे पहुंचने से पूर्व तलाक के कागजों पर हस्ताक्षर कर चुकी होती.

आती बस देखकर मैं उसमें चढ़ने के लिए तेजी से दौड़ रहा था कि मैंने पाया कि दो पुलिस वाले भी मेरे पीछे दौड़ रहे हैं. जब तक मैं बस तक पहुंचता वे मुझ तक पहुंच गये, इससे पहले कि मैं बस पकड़ता उन्होंने मुझे गर्दन से पकड़ लिया. जिसके फीती लगी हुई थी, उसने कड़कती आवाज में पूछा, ''कौन है तू? किसको लूटने जा रहा है?'' मैं गर्दन कसी होने से बोल नहीं पा रहा था कि अचानक मेरी मूंछें नीचे गिर पड़ीं. हवलदार ने उसे जमीन से उठाया और बिना फीतीवाले को देते हुए कहा, ''हूं. बेटे ने मूंछें भी नकली लगा रखी हैं, पकड़ लो स्साले को, इतना तेज ओलंपिक में दौड़ता तो भारत को एक गोल्ड मैडल मिल जाता, ले चलो कोतवाली!''

कोतवाली जाकर जो तोहमतें लगीं, जो हाल हुआ, ना ही पूछिये. घर लौटने पर अगले दिन बड़े हिसाब-किताब पूछे गये, मेरा रोना और पत्नी का बच्चों को पीटना चलता रहा.

मेरा मन इतना दुखी हुआ कि दादाजान को याद करते हुए मैं चीत्कार उठा, ''इस अभिनय को मेरी जिंदगी से छुड़वाओ दादाजी.'' दादाजान की आदमकद फोटो से तभी एक फूल गिरा. मैंने तस्वीर के पैर छुए और अभिनय का व्यवसाय छोड़कर रोते-पीटते हिंदी में एम. ए. किया और अब उसी स्कूल में मास्टर खेमचंद की भांति नाटक करवाता हूं.

.... पर दादाजान और मास्टर खेमचंद अब भी जब मुझे याद आते हैं तो मैं अपने पांव छिपा लेता हूं ... □

तुकांत

सुखबीर

मैं गुलजार के साथ 'मेरे अपने' की ट्रायल देखने जा रहा था. यह गुलजार के निर्देशन में बनी पहली फिल्म थी.

रास्ते में गुलजार की कार का पहिया पंचर हो गया. पहले ही कुछ देर हो चुकी थी और अब तो ठीक समय पर पहुंचना ही नामुमकिन था. गुलजार दुविधा में खड़े सोच रहे थे कि अब क्या किया जाये. तभी उनके सहायक निर्देशक ने कार में से दूसरा पहिया और औजार निकाले और पंक्चर हुआ पहिया बदलने लगे.

मैंने गुलजार से कहा, ''हम कुछ जरूरत से ज्यादा ही कवि और लेखक हैं. दरअसल हमें इतना प्रेक्टिकल तो होना ही चाहिये कि हम हर किस्म के छोटे-मोटे काम कर सकें.''

''और मजे की बात देखो,'' गुलजार ने कहा,''मैं दो साल तक मोटरों की गराज में मैनेजर के तौर पर काम करता रहा और वहां से क्या सीखा?—बेयरिंग और स्टेयरिंग का तुकांत.''

सरकार आयी है दरवाजे पर

ईश्वर शर्मा

है न आश्चर्य की बात? लोग अचरज में पड़ गये हैं. सोच रहे हैं क्या हम भारत महान में ही रह रहे हैं या अचेतावस्था में कहीं और पहुंच गये हैं ---- ?

बड़ी विचित्र बात हो गयी. सरकार स्वयं जनता के द्वार पर आ गयी. इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह हुई कि जनता दूर खड़ी देख रही है. सरकार के पास नहीं आ रही है. मंत्री, अधिकारी सब परेशान हैं कि क्या हो गया है आज जनता को? जो छोटे-छोटे सरकारी कामों के लिए महीनों सरकारी दफ्तरों के चक्कर काटती है, आज स्वयं सरकार के आने पर दूर खड़ी हुई है. द्वार पर आयी सरकार परेशान हो गयी. क्या हो गया है जनता को? आखिर जनता उसके झांसे में क्यों नहीं आ रही है?

दरअसल हुआ यह कि सरकार ने सोचा कि बहुत दिन हो गये हैं कहीं कोई हलचल दिखाः नहीं दे रही है, लोग निर्जीव पड़े हैं... उन्हें जगाने-वगाने का काम किया जाये, कुछ चेतना लायी जाये. चुनाव का समय भी नजदीक आ गया है. सो सरकार ने एक नारा उछाल दिया कि 'आपकी सरकार आपके द्वार' आयेगी और जनता के दरवाजे पर ही आकर उसकी समस्या निपटा देगी. सरकार ने घोषित किया कि अब उसकी संवेदनशीलता उभर आयी है. जनता की सरकार जनता के लिए होते हुए भी जनता का काम नहीं कर पा रही है, इससे सरकार बड़ी चिंतित है.

पहली बार ऐसा देखने में आया कि सरकार ने जो नारा उछाला, उसके अनुरूप कदम भी उठाया. सचमुच सरकार हमारे द्वार आ गयी. इक्तालीस वर्ष बाद ही सही, सरकार ने एक सही कदम तो उठाया, हमारा प्रजातंत्र सफल हो गया. इतनी बड़ी सरकार हम तुच्छ लोगों के दरवाजे पर आ जाये, और कहे, "बताओ तुम्हारा क्या काम है, हम अभी निपटाए देते हैं."

है न आश्चर्य की बात? लोग अचरज में पड़ गये हैं. सोच रहे हैं क्या हम भारत महान में ही रह रहे हैं या अचेतावस्था में कहीं और पहुंच गये हैं?

मंत्रीजी आ गये हैं. कलेक्टर साहब भी पहुंच गये हैं. सभी विभागों के वरिष्ठ अधिकारी, कर्मचारी अपनी फाईलें लेकर आ गये हैं. हमारे नगर में जनता में मुनादी हो गयी कि - आओ और अपना काम तत्काल निपटवा लो.

लेकिन वाह री मूर्ख जनता. दूर खड़ी तमाशा देख रही है, नजदीक आ ही नहीं रही है. मंत्रीजी ने कलेक्टर को निर्देश दिया, कलेक्टर ने एस.डी.ओ. को, एस.डी.ओ ने तहसीलदार को, तहसीलदार ने नायब तहसीलदार को, नायब ने राजस्व निरीक्षक को, राजस्व निरीक्षक ने पटवारी को और पटवारी ने कोटवार को निर्देश टिका दिया. निर्देश है तो थ्रू प्रापर चैनल चलेगा. कोटवार के बाद क्या बचता है प्रशासन में? कोटवार ने अपने नीचे किसी को नहीं पाकर भाला उठाया और खुद दौड़ लगायी. जनता के पास पहुंचकर बताया कि मंत्रीजी उनके दर्शन करना चाहते हैं. जनता गदगद हो गयी. जिस मंत्री के दर्शन करने के लिए राह देखते-देखते उनकी आंखें पथरा गयीं, वही मंत्रीजी स्वयं उनके दर्शन के लिए व्याकुल हैं. भाग्य खुल गये जनता के.

मंत्रीजी का संदेश पाकर जनता पास जा पहुंची. जनता के पास आते ही मंत्रीजी अपनी आदत के अनुसार हाथ जोड़कर खड़े हो, बड़ी विनम्रतापूर्वक स्वागत करते हुए बोले, "आप लोग हमेशा सरकार की आलोचना करते हैं कि काम नहीं होता है, बहुत भटकना पड़ता है, कोई सुननेवाला नहीं रह गया है. आज सरकार आपके दरवाजे पर आकर आपकी समस्या निपटाना चाहती है लेकिन आप हैं कि दूर खड़े हैं.. भई पास आईये और बताइये कि आपको क्या शिकायत है. हम यहीं उसका निराकरण कर देगें तत्काल."

मंत्रीजी की मृदुवाणी सुनकर जनता भाव-विभोर हो उठी. मंत्रीजी को अक-बकाकर देखने लगी. कुछ लोगों की आंखों में तो आंसू भर आये. एक व्यक्ति ने हाथ जोड़कर कहा, "हुजूर, हमारी कोई शिकायत नहीं है इसलिए हम दूर खड़े थे... सामने नहीं आये."

मंत्री, अधिकारी सभी आश्चर्यचकित रह गये, जनता कह रही है-सरकार से कोई शिकायत नहीं है? कैसा घोर कलयुग आ गया है प्रजातंत्र में. वे सभी सोच में पड़ गये. क्या सरकार के काम करने के तरीके में कोई गलती आ गयी है? ऐसा कैसे संभव हो सकता है कि जनता की कोई शिकायत न रहे? क्या सरकारी तौर-तरीके एकदम सुधर गये?

कलेक्टर ने आगे बढ़कर हाथ जोड़ते हुए क्षमा मांगनेवाले अंदाज में कहा, "यदि हमसे कोई गलती हो गयी हो तो हमें क्षमा कर दीजिए, लेकिन यह मत कहिए कि आपको सरकार से कोई शिकायत नहीं है. आपके मुंह से ये सुनना हमें अच्छा नहीं लग रहा है. जब आपको ही शिकायत नहीं रहेगी तो हमें कौन पूछेगा?"

कलेक्टर की मर्मस्पर्शी वाणी का भी अच्छा प्रभाव पड़ा. एक वृद्ध ने स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा, "शिकायतें तो हैं सरकार, लेकिन उसे हम लोग यहां कहना नहीं चाहते."

मंत्रीजी तपाक से बोले, "क्यों, यहां किस बात का डर है? जो कहना है बेहिचक कहो."

एक व्यक्ति ने प्रतिनिधित्व करते हुए कहा, "वो इसलिए सरकार, कि हमारी भारतीय संस्कृति के अनुसार जब दुश्मन भी घर आ जाता है तो उससे शिकायत करना हमारी परंपरा नहीं है... उसकी तो आवभगत की जाती है."

मंत्रीजी भीतर ही भीतर तिलमिला गये लेकिन बाहर से शांतचित्त बने रहे. बोले, "ये सब मुहावरे हैं, किताबों में शोभा देते हैं. हम इतना कष्ट करके आपकी शिकायतें सुनने आये हैं और आप लोग हमारी तकलीफ को महत्व ही नहीं दे रहे हैं?"

जैसा कि हमेशा से होता आया है, मंत्रीजी की बात से इस बार भी लोग पिघल गये. एक व्यक्ति ने हिम्मत करके पूछा, "पांच साल तक आप लोग कहां थे? हमारी खैर-खबर लेने की याद नहीं आयी आपको? अब चुनाव सामने आते ही हमारे दरवाजे पर आ गये?"

मंत्रीजी बगलें झांकने लगे, बोले, "यह व्यक्तिगत सवाल है. ऐसे समय में व्यक्तिगत प्रश्न नहीं उठाये जाते. सार्वजनिक हित की बातें पूछी जायें. सरकार हमेशा सामूहिक हितों की बात करती है और उसे ध्यान में रखकर ही काम करती है."

पास खड़े दूसरे व्यक्ति ने पहले वाले को डांटते हुए कहा, "अबे चुप... इत्ते बड़े मंत्रीजी को डांट मारता है? मंत्रीजी बेचारे प्रदेश से विदेश तक घूम-घूमकर सबको दर्शन दे रहे हैं. दर्शन देने के लिए क्या तू ही अकेला रह गया है जो हमेशा तेरे सामने आकर खड़े हो जायेंगे?"

तीसरे व्यक्ति ने विषयांतर करते हुए कहा, "छोड़ो इन बातों को भइयाजी, आप तो यह बताओ कि हमारे गांव की सड़क जो पिछले चुनाव में शुरू होकर अधूरी रह गयी थी वह कब पूरी होगी?"

मंत्रीजी ने कहा, "इस चुनाव में."

उसी व्यक्ति ने पुनः पूछा, "इन पांच सालों में पूरी क्यों नहीं हो पायी?"

मंत्रीजी ने उतनी ही तत्परता से जवाब दिया, "क्योंकि इन पांच सालों के बीच कोई चुनाव नहीं आया."

मंत्रीजी की वाक्पटुता पर सभी अधिकारी वाह-वाह कर उठे.

एक किसान ने शिकायत की, "मेरी जमीन पर नहर बन गयी है लेकिन जमीन का मुआवजा सरकार से अब तक नहीं मिला है."

कलेक्टर ने पूछा, "जमीन पर नहर कितने साल पहले बनी थी?"

किसान ने बताया, "करीब दस साल से ज्यादा हो गये हैं हुजूर."

कलेक्टर ने फिर पूछा, "जब नहर बन रही थी तब मुआवजे की मांग क्यों नहीं की?"

"मांग की थी हुजूर, तो बोले अभी नहर बन जाने दो, बाद में केस बनेगा तब मुआवजा मिल जायेगा."

"केस बना?"

"बना हुजूर."

"केस बना तब मुआवजे की मांग क्यों नहीं की?"

"मांग की थी हुजूर. बोले कि पहले राजपत्र में प्रकाशन होगा तब मिलेगा मुआवजा."

"राजपत्र में प्रकाशन हुआ?"

"हुआ था हुजूर."

"हुआ था तब मुआवजा क्यों नहीं मांगा?"

"मांगा था हुजूर. बोले कि केस की पेशी होगी, पेशी में एवार्ड बनेगा तब मिलेगा मुआवजा."

"पेशी हुई थी?"

"हुई थी हुजूर."

"तब मुआवजा क्यों नहीं मांगा?"

मांगा था हुजूर. बोले नियम यह है कि राजपत्र में प्रकाशन होने के दो साल के अंदर एवार्ड बन जाना चाहिए लेकिन पेशी पेशी में ही दो साल निकल गये हैं, फिर से राजपत्र में प्रकाशन करवाना पड़ेगा."

"दुबारा प्रकाशन हुआ?"
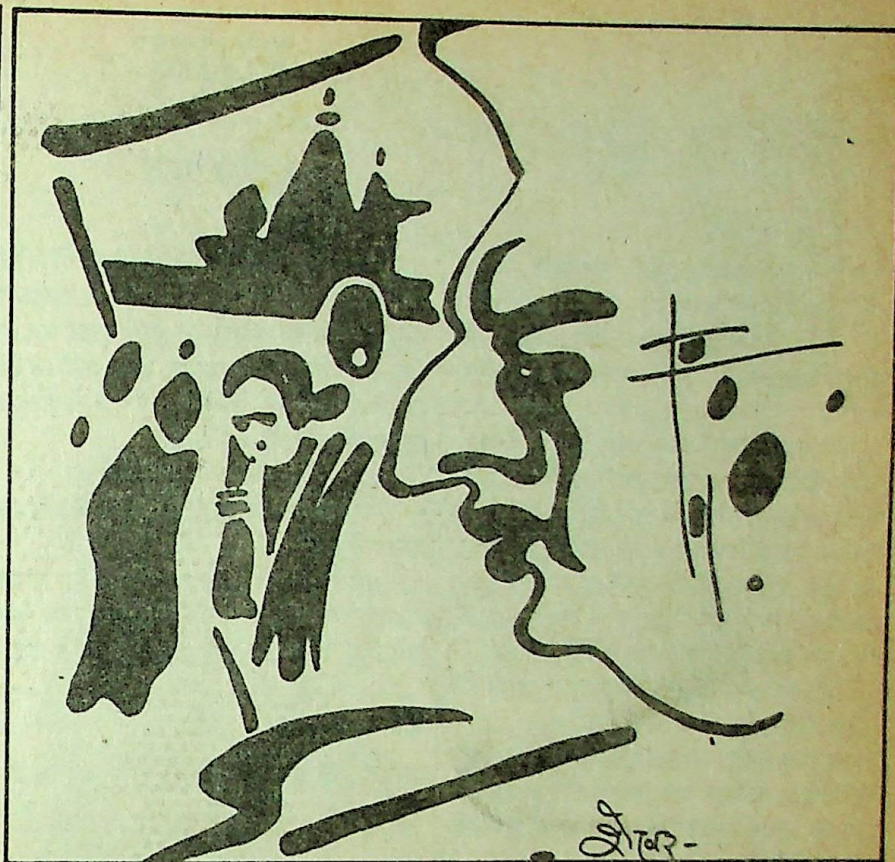
"हुआ था हुजूर."

"तब फिर क्यों नहीं मांगा मुआवजा?"

"मांगा था हुजूर, लेकिन फिर इतनी पेशियां हो गयीं कि दो साल का समय निकल गया और राजपत्र में फिर दुबारा प्रकाशन की नौबत आ गयी थी."

"दो साल के भीतर क्या पेशी नहीं होती थी?"

"होती थी हुजूर, मैं पेशी पर जाता था लेकिन साहब आफिस में नहीं रहते थे. पेशी बढ़ जाती थी."

"छोटे से काम में इतने साल लग गये, किसी से इसकी शिकायत नहीं कर सकते थे?"

"शिकायत की थी हुजूर."

"किससे की थी?"

"मुख्य मंत्री, मंत्री, विधायक, कमिश्नर, कलेक्टर, एस.डी.ओ., तहसीलदार, आर. आई., पटवारी, कोटवार सभी को शिकायत की कापी रजिस्ट्री से भेजी थी."

"क्या जवाब मिला?"

"सभी बोले बड़ी चिंता की बात है, हम देखेंगे."

"फिर क्या हुआ?"

"अभी तक देख रहे हैं हुजूर."

कलेक्टर ने लंबी सांस छोड़ते हुए पूछा, "अब क्या चाहते हो?"

"बस मुआवजा चाहता हूं हुजूर."

"जो काम दस सालों में नहीं हो पाया वह एक दिन में कैसे हो जायेगा? ठीक है, हम इसे देखेंगे."

किसान ने हाथ जोड़कर पूछा, "हुजूर, आप तो कह रहे थे कि यहां समस्या का निपटारा तत्काल हो जायेगा और अब कह रहे हैं कि देखेंगे?"

कलेक्टर ने कहा, "देखो, हमने तुम्हारी शिकायत सुन ली ...ठीक तरह से समझ ली है. यह क्या कम बड़ी बात है? दस वर्षों में जो काम नहीं हो पाया वह हमने एक दिन में कर दिया. क्या इससे भी तुम्हें तसल्ली नहीं हुई?"

यह कहते हुए कलेक्टर ने अपने मातहत कर्मचारी को हिदायत दी, "रजिस्टर में दर्ज कर लेना कि यह शिकायत सामने आयी और लोगों को संतोषजनक ढंग से प्रत्युत्तर देकर समस्या का निपटारा किया गया."

इसके साथ ही कलेक्टर ने यह हिदायत भी दी, "ध्यान पूर्वक सभी शिकायतों को रजिस्टर में दर्ज करते रहना ...प्राप्त शिकायतों की संख्या और निपटारे की स्थिति का आंकड़ा बनाकर शासन तथा प्रेस को भेजना पड़ेगा."

जनता की समझ में आ गया कि सरकार उसके दरवाजे पर क्यों आयी है. शिविर में घूमने पर पता चला कि हर विभाग में सभी अधिकारी ऐसा ही कर रहे हैं और समस्याओं के निपटारे में सक्रिय हैं. ◻

न्याय

प्रदीप पंत

लछमन प्रसाद एक अवकाश प्राप्त सरकारी कर्मचारी हैं और उन्होंने जिंदगी भर की बचत से एक छोटा-सा मकान बनवाया है. वह इस मकान में सपरिवार रहते हैं.

एक साल बीता, दूसरा साल बीता, तीसरा साल बीता... हाउस टैक्स का बिल नहीं आया. लछमन प्रसाद चिंतित हुए कि खामखाह टैक्स का बोझ सिर पर बढ़ता जायेगा, इसलिए वह एक भले नागरिक की तरह हाउस टैक्स कार्यालय में जाकर टैक्स इंस्पैक्टर से बोले, "हमारा हाउस टैक्स का बिल नहीं आ रहा."

"तो हम क्या करें!" इंस्पैक्टर ने छूटते ही उत्तर दिया.

लछमन प्रसाद उसका मुंह देखने लगे. वहां रहस्यपूर्ण मुस्कान थी. इंस्पैक्टर सिगरेट पी रहा था. उसने सिगरेट का धुआं लछमन प्रसाद की ओर फेंका.

हाथ से धुएं को हटाने की कोशिश करते हुए निरीह भाव से लछमन प्रसाद ने इंस्पैक्टर से कहा, "हमारा हाउस टैक्स का बिल बना दीजिये. हम एक ईमानदार नागरिक हैं और टैक्स देना चाहते हैं."

इंस्पैक्टर समझ गया, बोला, "आपका क्या नाम है?"

"लछमन प्रसाद," उन्होंने कहा.

"मकान नंबर?"

लछमन प्रसाद ने मकान नंबर बताया.

इंस्पैक्टर मुख्य विषय पर आते हुए बोला, "दो सौ रुपये दे दीजिये, आपका बिल बन जायेगा."

"दो सौ क्यों?" लछमन प्रसाद चौंके, "अरे भाई, हम टैक्स न देने के लिए नहीं, देने के लिए कह रहे हैं."

"हां-हां, हम आपकी बात समझ गये." इंस्पैक्टर ने कहा, "आपकी सूचना के लिए बता दिया जाये कि जो लोग टैक्स देने से बचना यानी बिल रुकवाना चाहते हैं, उनसे हम पांच सौ रुपये लेते हैं, और जो लोग टैक्स देना चाहते हैं, उनसे सिर्फ़ दो सौ. आखिर ईमानदार और शरीफ़ नागरिकों को कुछ तो कंशेसन देना ही पड़ता है न!"

लछमन प्रसाद आश्चर्य में पड़ गये. उनके चेहरे पर गुस्से के भाव उमड़ने-घुमड़ने लगे. इंस्पैक्टर ने सामने से एक फाइल उठा ली और उसमें कुछ नोट करने लगा. इस बार उसने जानबूझकर नहीं बल्कि अनजाने ही सिगरेट का जो धुआं छोड़ा, वह सीधे जाकर लछमन प्रसाद के मुंह से टकराया. लछमन प्रसाद मन ही मन झल्लाये, किंतु अपने को किसी तरह नियंत्रित रखते हुए उन्होंने इंस्पैक्टर से अत्यंत विनम्र स्वर में कहा, "सुनिये!"

"कहिये!" इंस्पैक्टर ने सिर उठाया.

"हम आपका मतलब समझे नहीं." लछमन प्रसाद ने कहा.

"मतलब क्या समझना! दो सौ रुपये दीजिये, आपका हाउस-टैक्स का बिल बन जायेगा." इंस्पैक्टर ने बड़े शांत स्वर में कहा.

लछमन प्रसाद को खुशी हुई यह सोचकर कि कहीं तो न्याय है. लछमन प्रसाद अगले दिन निर्धारित समय पर हाउस टैक्स विभाग में जा पहुंचे जहां विजिलेंस के दोनों अधिकारी पहले से ही मौजूद थे...

लछमन प्रसाद झल्ला उठे, "आप रिश्वत मांग रहे हैं, जबकि हम सरकार को... हम सरकार को टैक्स देना चाहते हैं, पूरा-पूरा टैक्स देना चाहते हैं."

"यह रिश्वत नहीं, हमारा मेहनताना है, मिस्टर लछमन प्रसाद!" इंस्पैक्टर ने मानो सीना तानते हुए कहा, "और कान खोलकर सुन लीजिये, आप जितनी देर बहस करेंगे, उतनी देर हमारी शक्ति व्यर्थ में खर्च होगी. इस शक्ति की भरपायी के लिए हमारे मेहनताने की रकम बढ़ती जायेगी. इसलिए जल्दी से सोच लीजिये, जो सोचना हो!"

लछमन प्रसाद परेशान.

आसपास बैठे अन्य इंस्पैक्टरों और क्लर्कों ने ठहाका लगाया.

लछमन प्रसाद को गुस्सा आ गया. वह पैर पटकते हुए जाते-जाते बोले, "इंस्पैक्टर साहब, मैं आपको छोड़ूंगा नहीं, सीधे म्युनिसिपल कमिश्नर से जाकर आपकी शिकायत करूंगा."

"जरूर! ... जरूर!" इंस्पैक्टर ने कहा, "यहां जो आता है, वह यही धमकी देकर जाता है. हरेक सीधे म्यूनिसिपल कमिश्नर से ही मिलने की बात कहता है. ये ज्वाइंट कमिश्नर, डिप्टी कमिश्नर, असिस्टेंट कमिश्नर वगैरह तो माने कुछ हैं ही नहीं."

लछमन प्रसाद ने इंस्पैक्टर की बात पूरी नहीं सुनी, न ही वह सीधे जाकर म्युनिसिपल कमिश्नर से मिल सके. दरअसल, शुरू के दो दिन तो उन्हें यह पता लगाने में ही लग गये कि म्युनिसिपल कमिश्नर से किसके 'सोर्स' से मिला जाये. अंत में उन्हें अपने भूतपूर्व कार्यालय का एक छोटा-मोटा अधिकारी मिल गया जिसने बताया कि म्युनिसिपल कमिश्नर उसके रिश्तेदार हैं. और सचमुच वे उसके रिश्तेदार थे, अतः उसने लछमन प्रसाद को म्युनिसिपल कमिश्नर से मिलवा दिया.

लछमन प्रसाद ने म्युनिसिपल कमिश्नर को सारी घटना बतायी और कहा, "हम एक ईमानदार नागरिक होने के नाते सरकारी टैक्स अदा करना चाहते हैं, लेकिन आपका इंस्पैक्टर..."

म्युनिसिपल कमिश्नर ने ठहाका लगाया, लेकिन उसका ठहाका वैसा अश्लील न था जैसा कि इंस्पैक्टर का था. उसमें एक खास किस्म की शालीनता थी, जैसी कि इस वर्ग के अधिकारियों के ठहाकों में हुआ करती है.

लछमन प्रसाद म्युनिसिपल कमिश्नर को ठहाका लगाते हुए भौंचक से देखते रहे.

फिर कुछ क्षण बाद म्युनिसिपल कमिश्नर ने उन्हें समझाया, "मिस्टर लछमन प्रसाद, सच बात तो यह है कि आपने खामखाह दो सौ रुपये के चक्कर में अपनी मानसिक शांति नष्ट कर दी," इसके बाद किसी सिद्ध योगी की भांति म्युनिसिपल कमिश्नर ने मानसिक शांति के महत्व पर उन्हें पूरा एक लैक्चर ही दे दिया.

किंतु लछमन प्रसाद ने मानसिक शांति के महत्त्व पर म्युनिसिपल कमिश्नर का लैक्चर समाप्त होते ही इंस्पैक्टर की चर्चा फिर छेड़ दी.

म्युनिसिपल कमिश्नर बात को समझ गया इसलिए मूल विषय पर आते हुए बोला, "वैसे हमारे ये इंस्पैक्टर्स सचमुच हैं बहुत मक्कार. इन्हें मौका मिले तो हमसे भी घूस झटक लें. खैर, अब आप हमारे पास आ ही गये हैं तो चिंता मत कीजिये, उस बदमाश इंस्पैक्टर को बख्शा नहीं जायेगा. आप घर जाइये, कल

हमारे विजिलैंस डिपार्टमेंट के दो आदमी आयेंगे और पूरे मामले की तहकीकात करके इंस्पैक्टर की ऐसी की तैसी कर देंगे."

लछमन प्रसाद प्रसन्न हुए.

म्युनिसिपल कमिश्नर ने अपने निजी सचिव को बुलाकर आदेश दिया कि वह श्री लछमन प्रसाद की शिकायत नोट करके तुरंत कार्रवाई के लिए विजिलेंस डिपार्टमेंट को भेज दे

लछमन प्रसाद ने अपना पता और शिकायत निजी सचिव को नोट करा दी.

वह घर लौटे. उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था कि विजिलेंस के लोग उनके घर आयेंगे. पर दूसरे दिन सचमुच विजिलेंस के दो अधिकारी उनके घर पहुंचे. उन्होंने पूरी घटना के बारे में लछमन प्रसाद से विस्तार से पूछताछ की, उनके मकान के कागज़ात देखे, इंस्पैक्टर का हुलिया पूछा और अगले दिन लछमन प्रसाद को दोपहर दो बजे हाउस टैक्स विभाग में टैक्स की रकम या चैक बुक सहित पहुंचने के लिए कहा.

लछमन प्रसाद को खुशी हुई यह सोचकर कि कहीं तो न्याय है. उन्होंने मन ही मन म्युनिसिपल कमिश्नर की प्रशंसा की और अपने बेटों को बताया कि किस तरह वह सीधे म्युनिसिपल कमिश्नर के पास पहुंच गये. बेटे अपने पिता की इतनी ऊंची पहुंच के बारे में जानकर चकित हुए.

लछमन प्रसाद अगले दिन निर्धारित समय पर हाउस टैक्स विभाग में जा पहुंचे, जहां विजिलेंस के दोनों अधिकारी पहले से ही मौजूद थे. उनके सामने वही इंस्पैक्टर बैठा था—उदास और थका हुआ-सा, बाल उड़े हुए-से.

लछमन प्रसाद उसे देखकर मुस्कराये. वह नहीं मुस्कराया, न ही उसने सिगरेट का धुआं उनकी ओर फेंका. दरअसल वह सिगरेट पी ही नहीं रहा था.

विजिलेंस अधिकारियों ने लछमन प्रसाद से खाली कुर्सी पर बैठने का इशारा किया. लछमन प्रसाद बैठे तो उनमें से एक ने पूछा, "इन्हें जानते हैं आप?"

"जी हां!" लछमन प्रसाद ने कहा.

"यही इंस्पैक्टर साहब हैं जिन्होंने..."

"जी हां, यही," लछमन प्रसाद ने ऐसे झेंपते हुए उत्तर दिया मानों रिश्वत इंस्पैक्टर ने नहीं उन्होंने मांगी हो.

विजिलेंस अधिकारियों ने उनके हाउस टैक्स का हिसाब पहले ही लगा रखा था. उन्होंने इंस्पैक्टर से कहा, "रसीद काटिये."

इंस्पैक्टर ने बेमन से रसीद काटी.
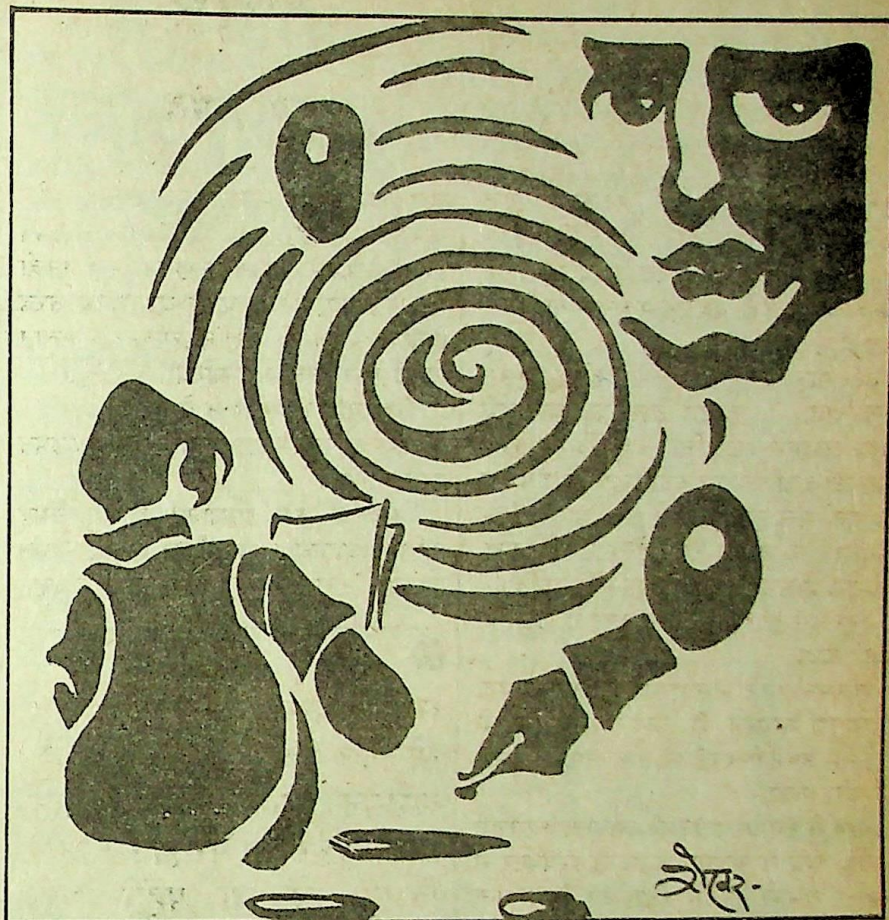
लछमन प्रसाद ने रसीद के एवज में चैक दिया

इंस्पैक्टर ने चैक की प्राप्ति की रसीद काटी.

लछमन प्रसाद ने दोनों रसीदें जेब में रखीं और उठे.

तभी विजिलेंस अधिकारियों में से एक ने कहा, "इतनी जल्दी कहां जा रहे हैं, चाय पीकर जाइये."

"चाय!" लछमन प्रसाद चौंके.

"अरे, इंस्पैक्टर साहब, जरा चाय तो मंगवाइये जल्दी से." एक विजिलेंस अधिकारी ने रौब से कहा.

इंस्पैक्टर ने बेमन से चाय मंगवायी.

लछमन प्रसाद ने बेमन से चाय पी.

वह सीट से उठे. दोनों विजिलेंस अधिकारी उन्हें हाउस टैक्स कार्यालय के गेट तक छोड़ने गये. लछमन प्रसाद को इस बात पर आश्चर्य हुआ कि विजिलेंस अधिकारी उन्हें गेट तक छोड़ने आ रहे हैं. उन्होंने गेट पर अधिकारियों को धन्यवाद दिया. उत्तर में अधिकारियों में से एक ने हंसते हुए कहा, "आप हमें धन्यवाद क्यों दे रहे हैं, धन्यवाद तो हमारी ओर से स्वीकार कीजिए!"

"सो क्यों?" लछमन प्रसाद ने चौंकते हुए पूछा.

"आपकी कृपा से हमें दो हजार रुपये की आमदनी हो गयी." दूसरे अधिकारी ने कहा.

"सो कैसे?" लछमन प्रसाद ने फिर पूछा वह पहले से भी अधिक चकित थे.

"आपसे इंस्पैक्टर ने रिश्वत मांगी थी, हमने उससे रिश्वत वसूल ली." विजिलेंस अधिकारी ने अत्यंत सहज भाव से मुस्कराते हुए कहा, "ये साले इंस्पैक्टर्स कभी-कभार ही लपेट में आते हैं. खुद एक-एक महीने में हजारों रुपये हजम कर जाते हैं, पर हमें हवा भी नहीं लगने देते. इस बार आपकी कृपा से ये ससुरा इंस्पैक्टर लपेट में आ ही गया."

लछमन प्रसाद ने अत्यधिक चकित भाव से विजिलेंस विभाग के दोनों अधिकारियों की ओर देखा.

तभी दोनों अधिकारियों में से एक ने बात का खुलासा किया, "ये मत समझियेगा कि दो हजार के दो हजार हमारी जेब में चले जायेंगे. हमारे भाग्य कहां! इन दो हजार रुपयों में से एक हजार म्युनिसिपल कमिश्नर के और पांच-पांच सौ हम दोनों के."

लछमन प्रसाद को सूझा ही नहीं कि क्या कहें. वह चुपचाप आगे बढ़ गये. □

आई एम आलसो सॉरी

श्रवण कुमार

बड़े साहब ने रिपोर्ट पढ़ी. रिपोर्ट पढ़ते ही एकदम झल्ला गये. फिर वह थोड़ा संभले. उन्हें अपने पर अफसोस हुआ कि क्यों उन्होंने उसे रिपोर्ट लिखने को कहा...

लंबा-चौड़ा महकमा, लंबे-चौड़े काम और इन लंबे-चौड़े कामों को सरंजाम देने के लिए लंबी-लंबी मीटिंगें.

एक दिन ऐसी ही एक लंबी मीटिंग चल रही थी. बड़े साहब इस लंबी मीटिंग का संचालन कर रहे थे. ऊपर से एक नयी योजना आयी थी जिसे कार्यरूप दिया जाना था. बड़े साहब ने सभी प्रबंधकों को बुला रखा था. एक से बढ़कर एक अनुभवी प्रबंधक थे. तमाम उम्र बिता दी थी उन्होंने एक ही काम में.

लेकिन इनमें एक प्रबंधक ऐसा भी था जो कुछ अपनी ही तरह का था. काम तो बेवकूफ लोग करते हैं, वह अक्सर कहता. जिन्होंने काम किया, उन्होंने क्या पा लिया? प्रबंधक वे भी हैं, प्रबंधक मैं भी हूं. मजे-मजे चलो तो दिल की रफ्तार भी ठीक रहती है. बहुत तेज चलोगे तो इस रफ्तार को भी खो बैठोगे. बल्कि हो सके तो बीच-बीच में झपकी भी ले लेनी चाहिए, सारी थकावट एकबारगी उतर जाती है. यह मैं नही

कह रहा, बड़े-बड़े कह गये हैं. और वह एक बहुत बड़े नेता की मिसाल देता.

और वाकई, अभी मीटिंग चल ही रही थी कि उसे लगा झपकी ले ही लेनी चाहिए ताकि ताजगी आ जाये, और वह आनन-फानन खर्राटे लेने लगा. खर्राटे भी वह हलके नहीं ले रहा था जमकर ले रहा था.

अभी उसने कुछ ही खर्राटे लिये थे कि साहब एकाएक चौंके—यह क्या! इसकी इतनी हिम्मत! अभी तक तो सोये हुए लोग भी उनका नाम सुनकर जग जाते थे, यह जगा हुआ व्यक्ति कैसे नींद के हवाले हो गया. उन्होंने भवें चढ़ाकर उसकी तरफ देखा लेकिन तब तक तो वह कई खर्राटे ले चुका था. अब क्या हो? उन्होंने उन्हीं चढ़ी आंखों से उसकी बगल में बैठे प्रबंधक की ओर देखा. मतलब साफ ही था... कि इसे झकझोर कर आगाह किया जाये, लेकिन ताज्जुब, साथी प्रबंधक ने अभी उसे छुआ भी नहीं कि उसने खुद-ब-खुद अपनी आंखें खोल दीं और चारों ओर ऐसे देखने लगा जैसे कोई कौतुक हुआ हो.

बड़े साहब को काफी गुस्सा आ चुका था. वह अब उस पर घुड़क रहे थे. इतनी भी शऊर नहीं कि मीटिंग का कोई डेकोरम रखा जाये और फिर योजना भी कोई ऐसी-वैसी नहीं है. पूरी जान लगा देनी होगी इसे अमलीजामा पहनाने में. कई विदेशी विशेषज्ञों का इसमें योग है. साहब खुद इसी योजना के कुछ पहलुओं को समझने विदेश गये थे. ठीक से अमल में आ गयी तो देश की काया ही पलट जायेगी और फिर आका भी खुश. और जनता भी खुश. गरीबी तो ऐसे दुम दबाकर भागेगी. मांगने पर भी उसे कहीं शरण नहीं मिलेगी.

प्रबंधक को अपनी करनी का एहसास हुआ पर वह लाचार था. बरसों से पड़ी आदत अब कैसे दूर हो. बड़े साहब उसकी लाचारी को समझ नहीं रहे हैं. पद में चाहे वह बड़े हैं, पर उम्र में तो छोटे ही हैं. ट्रेनिंग के दौरान इंग्लैंड में उन्होंने यही तो सीखा था कि खुद को झपकी आये तो आंख बचाकर ले लो, लेकिन दूसरों को मत लेने दो. और इधर यह प्रबंधक है जो खुलेआम खर्राटे ले रहा है. चाहते तो प्रबंधक को चार्ज-शीट कर सकते थे, पर चार्ज-शीट करने के लिए वह पहले ही काफी बदनाम हो चुके थे इसलिए उन्होंने केवल इतना ही आदेश दिया कि यह प्रबंधक कुछ दिन तक उन्हें अपनी हर रोज की प्रगति से अवगत कराता रहेगा.

प्रबंधक को साहब की यह कार्यवाही बड़ी नागवार गुजरी. साहब कुछ देखते समझते तो हैं

नहीं और दे दिया यह आदेश. उसने आदेश को एक बार उलटा-पलटा, और फिर उसे एक तरफ पटक दिया. तमाम दिन वह आदेश मेज के एक कोने पर पड़ा फड़फड़ाता रहा. शाम हुई तो उसे याद आया--आदेश का पालन तो करना ही होगा, इसलिए वह उस दिन की रिपोर्ट लिखने बैठ गया. लेकिन लिखे भी तो क्या लिखे. काम तो ऐसे ही चलता है. मीटिंग से लौटा था तो उसे फिर झपकी आ गयी थी, और इस बार वह कुछ ज्यादा ही लंबी खिंची थी. फिर भी कुछ लिखना तो होगा ही. अब उसकी कलम उसकी मदद करने लगी थी. उसने लिखा—मीटिंग के फौरन बाद मैंने मुख्य डिजाइनर से संपर्क करने की कोशिश की. इंटर-कॉम की घंटी बजती थी, पर चोंगा कोई उठाता नहीं था. मुख्य डिजाइनर से संपर्क करना क्योंकि जरूरी था, इसलिए मैं खुद ही उन्हें देखने गया, पर उनके कमरे में कोई नहीं था और बतानेवाला भी कोई नहीं था.

कुछ समय बाद मैं दूसरी बार फिर गया. अब कमरे की चिटखनी बाहर से चढ़ी हुई थी, लाचार मैं लौट आया.

अब तक लंच का वक्त हो चुका था, इसलिए इस दौरान मैंने किसी को डिस्टर्ब करना ठीक नहीं समझा. लंच ऑवर खत्म हुआ तो मैं फिर उनके कमरे की तरफ बढ़ा. पर इस बार पता चला कि वह लंच के बाद आराम फरमा रहे हैं, और उन्होंने खास हिदायत दे रखी है कि उन्हें डिस्टर्ब न किया जाये. अब हो भी तो क्या हो. मुख्य डिजाइनर तो ठहरे मुख्य डिजाइनर, नामी-गिरामी कलाकार हैं, उनका मूड खराब हो गया तो बाकी काम से भी हाथ धोने पड़ेंगे, इसलिए मैंने वैसे तो आज के दिन उनसे बात करने का ख्याल छोड़ दिया था, लेकिन आखिरी बार एक चांस और ले लेना ठीक ही समझा. लेकिन इस बार पता चला कि साहब दफ्तर से जा चुके हैं, इसलिए अब कल ही उनसे बात हो सकती है. इत्तफाक से आज मेरा चपरासी भी गायब रहा और पी.ए. ने तो पहले ही छुट्टी ले रखी थी, इसलिए जितना काम मुझसे बन पड़ा, मैंने यथाशक्ति किया—अवलोकनार्थ प्रस्तुत है.

बड़े साहब ने रिपोर्ट पढ़ी, रिपोर्ट पढ़ते ही एकदम झल्ला गये, झल्लाना वैसे उनकी आदत तो है ही फिर वह थोड़ा संभले, उन्हें अपने पर अफसोस हुआ—क्यों उन्होंने सब कुछ जानते-बूझते हुए भी उसे दिन की रिपोर्ट लिखने को कहा. तमाम उम्र तो ऐसे ही काट दी, अब एक-डेढ़ साल में कौन-सा करिश्मा कर दिखायेगा. किसी जमाने में महकमे में घुस आया होगा तब कोई रोक-टोक नहीं रही होगी, बस सरकते आये तो सरकते ही आये, अगले साल अब रिटायरमेंट पा जायेगा.

साहब ने ऐसी रिपोर्ट लौटा देना ही ठीक समझा. उस पर उन्होंने केवल इतना ही लिखा-'आई एम सॉरी.'

प्रबंधक ने साहब की टिप्पणी देखी, भला वह कहां चुप रहने वाला था. उसने भी नीचे फौरन अपनी टिप्पणी जड़ दी—'आई एम ऑलसो सॉरी,' और रिपोर्ट साहब को वापस भिजवा दी □

एस.डी. 95, पीतम पुरा, टॉवर अपार्टमेंट्स दिल्ली-110034

एक रपट दैवी पार्लमेंट की

रावी

कुछ उच्च कोटि के कल्पनाशील कथाकारों को देवताओं की मीटिंगों में उपस्थित होने का फ्री पास मिला हुआ है. मैं भी उनमें से एक हूं.

पिछली रात देवताओं की एक विशेष पार्लमेंटरी मीटिंग में मैं उपस्थित था. निर्णय का विषय था, मनुष्यों को अपनी पृथ्वी पर स्वतंत्र शासन के कुछ और अधिकार देने का. एक प्रस्ताव था कि पृथ्वी के भूखंडों पर यथेष्ट यथावश्यक वर्षा कराने की व्यवस्था मनुष्यों को सौंप दी जाये. वे, जब, जहां, जितनी आवश्यक हो वर्षा करायें और बाढ़ तथा सूखा के क्षतिग्रस्त क्षतिकर प्रकोपों का स्वयं निराकरण करायें.

पक्ष और विपक्ष के दोनों पहलुओं पर देव सभासदों द्वारा पर्याप्त विचार विनिमय के पश्चात अध्यक्ष ने एक उपस्थित मानव पत्रकार से (ये सज्जन अपने एक पिछले जन्म में रोम के सम्राट जूलियस सीजर के नाम से इतिहास में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके हैं) अपनी राय देने को कहा. कुछ तथ्य प्रस्तुत करते हुए अपने संक्षिप्त उत्तर में उसने जो कुछ कहा उसका अभिप्राय यही था कि पृथ्वी

हम मेजें थपथपाकर इस प्रस्ताव का स्वागत करते हैं...

की पार्लामेंटों में चुनाव की अभी जो अति खर्चीली सत्ता लोलुप और छुद्र स्वार्थपूर्ण पद्धतियां चल रही हैं उनके चलते इस नये 'रेंस मिनिस्टर' वर्षामंत्री के पद के लिए योग्य व्यक्तियों का चुनाव में आना सर्वथा असंभव होगा, क्योंकि केवल धन-प्रभाव-संपन्न अयोग्य पाखंडी उम्मीदवार ही इस पद के लिए भी चुनाव के मैदान में उतर आयेंगे और उन्हीं में से कोई-कोई बाजी जीत ले जायेंगे.

इस पर भी विचार-विनिमय के पश्चात यह प्रस्ताव अगली चौदह वर्षीय (जुलाई सन् 2003 में होने वाली) बैठक में पुनर्विचार के लिए स्थगित कर दिया गया.

देवजगत की ऐसी राजनैतिक और सांस्कृतिक मीटिंगों के कुछ समाचार भारतीय पत्रों में भेजने के लिए कोई समाचार एजेंसी या लेख चित्रण सिंडीकेट तैयार होने में एक प्रकाशित कल्पनाशील कथाकर के नाते, अपनी लेखन सेवा दे सकता हूं. विशुद्ध कल्पना के बहाने जीवन के कुछ वास्तविक, आंतरिक तथ्य एवं नये विचार प्रबुद्ध पाठकों तक जायें तो हर्ज क्या है! □

राधेजी पर व्यंग्य नहीं लिखूंगा

पूरन सरमा

मेरे बच्चे होली से बड़ा डरते हैं. खासतौर पर रंगवाले दिन तो घर से बाहर ही नहीं निकलते. बस खिड़कियों से गलियारे का कोहराम देख-देख दहशत से दुबले होते रहते हैं. बस यों कहिए डर के मामले में वे मुझ पर गये हैं. मोहल्ले के राधेजी को देख-देखकर तो उन्हें बड़ा ही अजीब एवं जिज्ञासापूर्ण लगता है. इस बार उन्होंने मुझ से पूछ ही लिया, "क्यों पापा, यह राधे अंकल सुबह से मोहल्ले में लाल-पीले हुये क्यों घूमते रहते हैं?"

मैंने हंसकर कहा, "बच्चो, राधे अंकल एक सांस्कृतिक धरोहर हैं. इन्हीं से यह होली का वर्तमान स्वरूप जीवित है, वरना अब तक तो इस त्योहार की संपूर्ण परंपराएं चौपट हो गयी होतीं."

बड़ावाला बच्चा बोला, "यह सांस्कृतिक धरोहर क्या होती है?"

मैं बोला, "बेटा ये तुम्हारे समझने की बातें नहीं हैं. बड़े होने पर सब जान जाओगे."

तभी छोटा बोल पड़ा, "पापा इस बार राधे अंकल पर ही व्यंग्य लिख दीजिए न."

मैंने उसके मुंह पर उंगली रखकर कहा, "बेटा बड़े आदमियों पर व्यंग्य नहीं लिखा जाता. वे हमसे बड़े हैं."

तभी पड़ौसी चौधरीजी कमरे में घुसते हुए बोले, "अमां यार, इस बार राधे के बच्चे पर व्यंग्य लिख ही मारो. साला पचास का हो गया, पर हुड़दंग बच्चों की तरह मचा रखा है. सुबह से बत्तीसी निकाले बहू-बेटियों को घूरता फिर रहा है."

मैंने कहा, "चौधरी जी, दरअसल राधेलाल मोहल्ले की एक जीवित सांस्कृतिक परंपरा है."

"तो क्या हुआ?"

"मैं संस्कृति पर व्यंग्य नहीं करना चाहता. इससे तो रही-सही परंपराएं भी मिट जायेंगी."

"भैया, संस्कृति से राधे का कोई लेना-देना नहीं है, वह तो निहायत फूहड़पन का बिंब है."

"संस्कृति चाहे कितनी ही फूहड़ हो, उसका जीवित रहना जरूरी है." मैंने तर्क दिया.

"तुमसे माथाफोड़ी करना पत्थर से दिल लगाने के समान है. मेरा तो कहना यह था कि इस बार राधे की संस्कृति पर प्रहार कर डालते."

> *तभी राधेलालजी लाल-काले बदरंग रूप में तथा फटेहाल स्थिति में आ धमके. हम दोनों को जैसे लकुवा मार गया. हाथों के तोते उड़ गये...*

मैंने कहा, "वे उम्र में मेरे से बड़े हैं, उन पर व्यंग्य किया तो कल वे नाराज हो जायेंगे."

"लेखक जिस परिवेश को जियेगा, वही तो लिखेगा. तभी रचना यथार्थ के करीब पहुंच पाती है."

"लेकिन ज्यादा यथार्थ का वर्णन निजी तौर पर हानि पहुंचाता है. अब आप ही बताइये, राधेलालजी से मैंने पांच सौ रुपया उधार ले रखा है, अब मैं उन पर ही व्यंग्य लिखूं."

चौधरीजी बोले, "तो यों कहो न कि तुम बिके पड़े हो. लेखन में तुमसे ईमानदारी की क्या आशा की जा सकती है. एक असामाजिक तत्व मोहल्ले में हो-हल्ला करता रहे और लेखक अपनी जिम्मेदारी से केवल इसलिए मुंह चुरा ले कि उसने उससे उधार लिया हुआ है. मुझे पता है उसने तुम को रुपये तुम्हारा मुंह बंद करने के लिए ही दिये हैं."

"मैं होली पर व्यंग्य लिख सकता हूं पर राधेजी पर नहीं. वैसे भी उन्होंने किया क्या है. जब तक कोई बुराई अथवा विसंगति पैदा नहीं हो, लेखक लिख नहीं सकता."

"अच्छा, उसने किया क्या है! तुमने तो उसे ऐसा समझ लिया है जैसे वह एकदम पावनता की प्रतिमूर्ति हो. भैयाजी, उसने गयी होली को मिसेज तिवारी के गालों पर रंग नहीं मला था?" वे बोले.

मैंने कहा, "तो क्या हो गया? होली रंग का त्योहार है—हंसी-मजाक तो चलेगी ही."

"वाह साहब, कमाल हो गया. ऐसा करिये फिर आप मिसेज को बुलाइये. मैं अभी उनके गालों पर मलता हूं यह रंग." उन्होंने रंग की पुड़िया निकालकर कहा.

मैं बोला, "आप होश में तो हैं चौधरी साहब. आप मेरे ही घर पर बैठकर मेरा अपमान कर रहे हैं. आपको पता है मैं आपसे कितना छोटा हूं."

"आपको शायद पता नहीं है मिसेज तिवारी उस बूढ़े राधेलाल से पूरी बीस साल छोटी हैं. उसे शर्म नहीं आयी और आप इस बेहूदे आदमी पर व्यंग्य भी नहीं लिख सकते." चौधरीजी बड़े अधीर थे.

"मैंने कहा, "चौधरीजी, मोहल्ले की सत्यकथा मैं लिख नहीं सकता. वैसे तो राधेजी ने तीन साल पहले होली के हुड़दंग में शरीर के सारे कपड़े उतार दिये थे."

"हां...हां... पर आपने व्यंग्य तो तब भी नहीं लिखा था. आपने तो व्यंग्य तब लिखा था—जब मैंने मिसेज नागर के हंसते हुये गुलाल मला था—और उन्होंने राजी-राजी गुलाल लगवा लिया था."

"उस बात को भूल जाइये चौधरी साहब. तब मैं आपको भली-भांति समझ नहीं पाया था. तब तक आपने मुझे उधार भी नहीं दिया था. रहा सवाल राधेजी पर व्यंग्य लिखने का, आप एक हजार रुपये मुझे उधार बिना ब्याज पर दे दीजिए. मैं उनके पांच सौ रुपये चुकाकर पांच सौ घर में काम ले लूंगा तो फिर पूरी तरह बेबाक रूप से सटीक व्यंग्य कर दूंगा. वे फिर मुझसे कुछ कह भी नहीं सकते." मैं बोला.

चौधरीजी बल खाकर बोले, "अरे यार क्यों लेखन को बदनाम करते हो. हिंदी साहित्य के लिए आप कलंक हैं कलंक. पीली पत्रकारिता करते हुए आपको जरा भी शर्म नहीं आती."

"चौधरी साहब, क्या करूं, गृहस्थी की मजबूरियों ने लेखन को तोड़कर रख दिया. वरना राधेजी की क्या मजाल थी कि वे भरी पिचकारी लिये मोहल्ले में धमाचौकड़ी मचाये रहते. अब तक उनकी पिचकारी मैं खुद छीनकर फेंक देता. पर पांच वर्ष से उनकी रकम नहीं चुका पा रहा. वे न मूल मांगते हैं न ब्याज. अब बताइये भला मैं क्या खाकर व्यंग्य लिख सकता हूं उन पर," मैंने किस्सा खोला.

चौधरी साहब ने चेहरे को पूरी तरह व्यंग्यात्मक बनाया और कहा, "ऐसा करिये चुल्लू भर पानी में डूब मरिये. पांच सौ रुपये में जिंदा मक्खी निगल रहे हो. हमसे लिखना नहीं

आता वरना हम तो कल के पेपर में इसके परखचे उड़ा देते."

मैं बोला, "आपके नाम से लिख दूं. आपका तो क्या बिगाड़ लेंगे वे."

"अजी मेरे नाम से क्यों लिख दें. हमने क्या सुधार का ठेका ले रखा है. हर किसी से हम ही बुरे क्यों बनें?" चौधरी साहब ढीले पड़ गये थे.

मैंने कहा, "आप क्यों डरने लगे, आप तो बड़े साहसी हैं. मुझे लगता है राधेलालजी ने आपको भी पांच सौ रुपये उधार दे रखे हैं."

"दे तो रखे हैं, पर वे मुझसे हर महीने पंद्रह रुपये ब्याज के ले जाते हैं. मैं तो ठीक माली हालत में होता तो इसकी भट्टी बुझा देता."

नसीहत फैज को

फैज साहब खैरपुर के एक मुशायरे में तशरीफ ले गये. प्रो० शोर ने एक इंजीनियर से परिचय कराते हुए कहा, "आप फैज साहब हैं."

"हूँ." इंजीनियर ने कहा.

"यह फैज साहब हैं. और बड़े शायर हैं." प्रो० शोर ने दोबारा कहा. "हूँ, ठीक है."

शोर साहब को बड़ा गुस्सा आया. वह कहने लगे, "यह जनाब फैज साहब हैं और 'पाकिस्तान टाईम्ज' के मुख्य संपादक हैं."

यह सुनकर बेचारा इंजीनियर चौंक पड़ा, फौरन कहने लगा, "लेकिन वह तो अंग्रेजी का अखबार है."

"जी हां." शोर साहब ने कहा.

"लेकिन आप तो मुशायरे में तशरीफ लाये हैं."

"जी हां." शोर साहब ने फिर कहा.

वह हैरानी से कहने लगा, "लेकिन मुशायरा तो उर्दू में है."

और फिर उसने फैज साहब को नसीहत दी. "आप क्यों शायर-ओ शायरी के मुशायरे में अपना कीमती समय नष्ट कर रहे हैं. जाइये, इतने बड़े अखबार को ठीक तरीके से चलाइये." □

मैं बोला, "शांत रहिये चौधरी जी. हम दोनों एक ही पथ के राही हैं. आप या मैं दोनों में से राधेजी के खिलाफ कोई नहीं बोल सकता."

"तो क्या यह आतंकवादी पूरी कालोनी में यों ही प्रदूषण फैलाता रहेगा. अमां भाई, चाहे जिसके घर में घुसकर गुल-गपाड़ा करने लगता है."

"मेरी तो समझ में नहीं आता कि इन्होंने कितने लोगों को उधार दे रखा है. तभी तो सभी जगह इनका स्वागत होता है. लोग पकौड़े तलते हैं और कॉफी पिलाते हैं. वरना आप और हमको भी कोई पूछता है."

चौधरी साहब मेरी बात पर बोले, "तुम सही कह रहे हो शर्मा जी, हम इससे उऋण कैसे हो सकते हैं, कोई रास्ता तलाशो."

"हमारी संस्कृति में तो उधार को ब्याज सहित पूरे मान के साथ लौटाना लिखा गया है."

"गोली मारो इस संस्कृति को. क्या हम विद्रोह नहीं कर सकते. सच कहता हूं पूरी कालोनी हमारे साथ हो लेगी. वैसे भी सरकार दस हजार तक के ऋण माफ कर रही है. यह नियम हम प्राइवेट सैक्टर में भी लागू करवा देंगे." चौधरीजी बोले.

तभी राधेलालजी लाल-काले बदरंग रूप में तथा फटेहाल स्थिति में आ धमके. हम दोनों को जैसे लकवा मार गया. हाथों के तोते उड़ गये. मैं हड़बड़ाकर उठ खड़ा हुआ. चौधरीजी भी हाथ बांधे हुए खड़े हो गये. राधेलालजी ने बत्तीसी निकाली और बोले, "क्यों चुप हो गये. लिखिये, मुझ पर व्यंग्य लिखिये. चुप क्यों हो गये. जिस थाली में खाते हो, उसी में छिद्र करते हो. पता नहीं क्या हो गया है हमारी संस्कृति को."

मैंने कहा, "व्यंग्य लिखने का तो प्रश्न ही नहीं है राधेलालजी. चौधरी साहब जरूर चाहते थे कि आपकी जीवनी लिख दी जाये. आपका प्रेरणामय जीवन अनुकरणीय है—अतः प्रेरक-प्रसंग लिखना चाहता था."

चौधरी साहब ने भी हां में हां मिलाई तो राधेलालजी ने हाथ की पिचकारी की एक धार चौधरीजी पर मारकर कहा, "कोई जरूरत नहीं है प्रेरक-प्रसंग लिखने की भी. मेरा जीवन दुर्गणों की खान है, इसलिए जीवनी प्रेरक कैसे होगी? फिर मुझे अच्छी छवि की आवश्यकता भी नहीं है."

तभी चौधरीजी ने पंद्रह रुपये निकाले और बोले, "यह आपका इस माह का ब्याज लीजिए."

राधेलालजी ने नोट जेब में रखकर चौधरी साहब से कहा, "चलो, होली खेलने का मूड हो तो तुम्हारे घर चलें. एक पिचकारी मिसेज चौधरी पर भी मार लेंगे."

चौधरी साहब घिघियाये से बोले, "वे तो मायके गयी हुई हैं."

"मुझे पता है आपने उन्हें क्यों भेजा है? कम से कम इस त्यौहार पर तो घर पर रखा करो भाई चौधरीजी."

फिर वे मुझसे बोले, "अरे भाई एक गिलास पानी तो पिलवा दो मिसेज शर्मा से."

चले भी आओ कि

एक बार गोर्की ने खाने की मेज पर अमरीका के एक करोड़पति से पूछा कि वह इतना रुपया क्यों कमाता है? करोड़पति ने उत्तर दिया—ताकि वह लाखों और कमाए. गोर्की ने दोबारा पूछा, आखिर वह लाखों क्यों कमाना चाहता है! करोड़पति ने उत्तर दिया, ताकि वह करोड़ों और बना सके.

इसी प्रकार फैज साहब का वास्ता भी एक पाकिस्तानी लखपति से पड़ा था.

एक बार उस लखपति ने रेडियो पर फैज साहब की गजल सुनी. 'चले भी आओ कि गुलशन का कारोबार चले.'

सेठ फैज साहब से मिलने के लिये आया. कहने लगा, "फैज भाई, तुम पहला आदमी है जो पाकिस्तान की बात समझता है. जीना (जिनाह) बहुत अच्छा आदमी था. उसने पाकिस्तान बना दिया. जो गुलशन की माफक है. इसका कारोबार चलना चाहिये. हमारे पास पैसा है, तुम्हारे पास मगज. हम अपना पैसा चलाता है. तुम अपना मगज चलाओ."

('हम कि ठहरे अजनबी' नामक डा० अयूब मिर्जा की किताब से कुछ सुने हुए हिस्सों से)□

—शेर जंग जांगली

मैं बोला, "वे भी मायके गयी हुई हैं. मैं लाता हूं."

"अरे आपसे क्या खाक पियें. पूरे मोहल्ले की श्रीमतियां मायके चली गयीं. मेरी समझ में नहीं आता कि मैं कहां जाऊं?"

यह कहकर राधेलालजी दांत पीसते हुए बाहर निकल गये. मैंने और चौधरीजी ने राहत की सांस ली. मैंने तय किया कि मैं राधेजी पर व्यंग्य कभी नहीं लिखूंगा. □

होली खेलें भैया लाल

महावीर अग्रवाल

होली खेलें नंदलाल का जमाना लद गया. अब तो होली खेलते हैं भैय्यालाल. इस बार होली नारों की धूम लेकर आयी है. फटाकों की गूंज लेकर आयी है. ढोल-मंजीरे और नगाड़ों के साथ नारों और फटाकों की महक कंचनमृग-सी लुभा रही है. फाग गा रही है हर्षोल्लास में झूम-झूमकर. रस बरसा रही है सरीले कंठों का. जलेबी दौड़ में जो अव्वल आये हैं वे फुग्गे की तरह फूल गये हैं. और टमाटर की तरह लाल हो गये हैं. दुल्हे की तरह सर आंखों पर बैठाये जा रहे हैं. और बढ़-बढ़कर गाल बजानेवाले फिसड्डी जो पीछे रह गये उन्हें लग रहा है सरे आम उनकी चड्डी फिसल गयी है. नाड़ा बांधते-बांधते, पंचर टायर की तरह पिचक गये हैं. उनकी खटारा ट्रक खड़ी हो गयी है.

मत पत्रों से गूंथी गयी मालाएं जिनके गले का हार बनी हैं, वे गदगद हो गये हैं. बसंत की मादकता में लिपटकर आया है होली का उल्लास उनके द्वार. विजय श्री की भेंट लेकर सचमुच का फागुन आया है उनके जीवन में. फागुन के फाग में अब उनकी यशोगाथा गायी जा रही है. 'चुनाव शिरोमणि' और 'चुनाव वीर' का संबोधन पाकर उनकी छाती 36 इंच से 72 इंच हो गयी है. विजय माला पहनने के बाद वे अपने भौंडे गले से गा रहे हैं, 'उड़ने दे गोरी गालों का गुलाल' उनकी पांचों उंगलियां अब घी में हैं. और हारनेवाले का सर कढ़ाई में. सब एक साथ चिल्ला रहे हैं. भैयाजी की जय. भैयाजी जिंदाबाद... मुर्दाबाद. यह सब सुन-सुनकर कुछ लोगों के चेहरे श्रीविहीन हो गये हैं. उनके उदास चेहरों पर भीड़ जबर्दस्ती गुलाल मल रही है. रेला थम ही नहीं पा रहा है. सब चटकारे ले-लेकर दोहरी होली मना रहे हैं. होली के महामूर्ख सम्मेलन में उनका सम्मान किया जा रहा है. 'मूर्ख कुलभूषण' और 'मूर्खरत्न' जैसी मानद उपाधियों से उन्हें अलंकृत किया गया है. होली के नाम पर बोली की चुटकी काटी जा रही है. वे बेचारे क्या करें. विषाद भरे स्वर में नाहीं/नहीं करते हुए कहते हैं, "जा जा री ओ कारी बदरिया......" पहले ही लोकसभा में पिट चुके थे. बसंत को क्या सूझी बुरा न मानो होली है, कहकर विधान सभा में भी इज्जत उतरवा दी.

चौपालों पर चर्चा कर रहे हैं हारे हुए नेता—अपनी-अपनी हार और अपने-अपने व्यक्तित्व की शव परीक्षा न करके शब्दों के

> *मत पत्रों से गूंथी गयी मालाएं जिनके गले का हार बनी हैं, वे गद्गद हो गये हैं. बसंत की मादकता में लिपटकर आया है होली का उल्लास उनके द्वार-*

महत्व पर उनकी प्रतिभा केंद्रित हो गयी है. भाषण देने का वक्त तो चला गया. अब एक दूसरे को ही समझाकर जीभ की खुजली मिटा रहे हैं.

पहला कहता है, "नेतागिरी के दिन लद गये."

दूसरा कहता है, "मैं मशीन चलाता हूं इसलिए जानता हूं हर चीज घिसती है और घिसने के बाद कबाड़ी को बेचनी पड़ती है. स्वतंत्रता के बाद महान भारत में भी 'नेता' शब्द बहुत घिसा जा चुका है. उसका अवमूल्यन हो गया है."
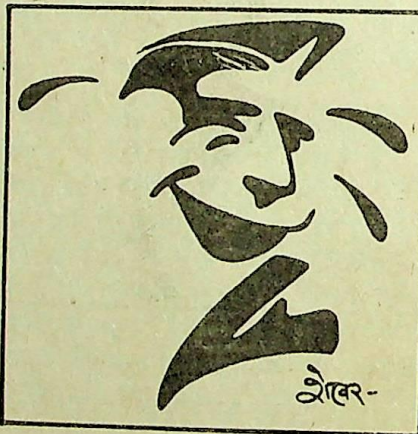
तीसरा कहता है गुस्से से, "वैज्ञानिक युग की अद्भुत खोजों के बीच अब तुम जैसे बुढ़ऊ को कौन पूछेगा? पहुंचा दो कबाड़ी के यहां इसे. हरदम मेरी मुर्गी की एक टांग."

चौथा कहता है, "अरे इक्कीसवीं सदी में जाना है और तुम बुढापे की लाठी और अनुभव की नेतागिरी की बात कर रहे हो. कब तक एक ही सुर में अलापते रहोगे. ठोकर खाकर कुछ तो सीखो."

पहला पुनः बोलने लगता है, "मेरी मानो—प्रिय भाई. अब नेताजी की जगह भैयाजी बन जाओ. जमाना है अब भैयागिरी का. नेतागिरी चली गयी तेल लेने. देखते नहीं हो. हर महत्वाकांक्षी आदमी शाल लपेटने के बदले फरवाली टोपी पहनने लगा है. गर्मी के दिनों में भी."

सबके सब एक स्वर में कहते हैं—सच कहते हो भैयाजी, हम भी यदि नेताजी की जगह भैयाजी हो गये होते तो ये दुर्दिन नहीं देखने पड़ते. खैर, अगली बार ध्यान देंगे. अब पछताये होत क्या जब चिड़िया चुग गयी खेत.

चतुर्दिक पलाश ही पलाश नजर आ रहे हैं. अपने चटक रंग से सराबोर कर दिया है फागुन को. मुरझाये और पीले पत्तों को बसंत ने पहले ही झड़ा दिया था. कुछ घुन लगे हरे पत्तों का रंग भी फागुन ने उड़ा दिया है. नयी-नयी कोपलों का जन्म हुआ है. और अच्छों की अकड़ धरी की धरी रह गयी है. दूसरी तरफ जीत की खुशी में मगन हैं भैयाजी. जीत गया भई जीत गया के जयघोष के साथ ही भैया जी ने जनता से अब पांच सालों के लिए लंबी छुट्टी ले ली है. स्वास्थ्य लाभ करने जा रहे हैं. लौटेंगे स्वस्थ होकर, तंदरुस्त होकर. और फिर से जब आयेंगे तब दिखायेंगे अखाड़ेबाजी का जौहर. अब तो चला-चली की बेला है. भैयाजी के चारों ओर अपार भीड़ है. सबकी आस बंध गयी है. सब अपनी-अपनी मांग रख रहे हैं. पर उन्हें कुछ भी सुनाई नहीं पड़ रहा है. उन्होंने पांच साल के लिए कानों से 'ईयर फून' निकालकर अलग रख दिया है. आपको जो कहना है आप कहते जाइये. भैयाजी को क्या फरक पड़ता है. कोई कहता है भैयाजी अब तो मेरी नौकरी पक्की समझूं न ! कोई पट्टा, कोई लायसेंस मांग रहा है. कोई अध्यक्ष बनना चाहता है, तो कोई नहर और लाईन बिछाने के लिए जोर दे रहा है. बहती गंगा में सब डुबकी लगाना चाहते हैं. सबके सब अपने क्षेत्र का विकास कम और अपना विकास अधिक करना चाहते हैं. भैयाजी पहले कहते थे—मैं तो सेवक हूं, सेवाभाव ही मेरा धर्म है. मैं जानता हूं आप सबकी सेवा से ही मेवा मिलती है. सेवा भाव ही मेरे लिए माता-पिता है. पर अब तो भैयाजी सब भूल चुके हैं. भैयाजी मस्त हैं. बोलते कुछ नहीं. हर बार मुंडी हिला देते हैं. फिर मगन हो जाते हैं. 'भैयाजी की जय' के गगनभेदी तुमुलनाद के बीच अंत में उनकी वाणी इस तरह मुखर होती है :—

"जब मेरी याद सताये तो मुझे खत लिखना, तुमको जब नींद न आये तो खत लिखना." □

सही सोचना बंद कीजिए

बलबीर त्यागी

मित्रो! हमें पक्का विश्वास होता जा रहा है कि सोचना एक बीमारी है. बहुत पुरानी बीमारी इसमें आदमी इतना आत्मलीन हो जाता है कि उसके दिमाग के कपाट बंद होने से बाह्य दुनिया से संपर्क टूट जाता है...

सोचना एक बीमारी है. मत सोचिए. हर सोचने वाले को लोग या तो पागल समझते हैं, या फिर गधा. क्योंकि वह सोचता है. सोचता है, इसलिए वह सही काम करता है. और आज की दुनिया में, सही काम करने वाला गधा होता है या फिर सिरफिरा. इसलिए लोग उसकी बातों को सुनते नहीं और यदि सुनते हैं तो हंसी में उड़ा देते हैं. कह देते हैं—"अपना भेजा खराब मत करो. इसे सोचने की बरी बीमारी है."

तो हां जनाब, यदि सोचना बीमारी न होता तो कई देशों में 'ब्रेन वाश' करने का उपचार न ढूंढा गया होता. चूंकि हर सोचने वाला सही सोचता है और सही सोचा हुआ उन देशों के सत्तानशीनों के विरुद्ध जाता है. इसलिए वह आदमी के दिमाग को अपनी गलत सोच के कारण कपड़ा मान बैठते हैं और उसकी धुलाई कर सही सोच का सारा मैल धोकर निकाल देते हैं.

मित्रो! हमें इस रंगाई-धुलाई से पक्का विश्वास होता जा रहा है कि सोचना एक बीमारी है. बहुत पुरानी बीमारी. इसमें आदमी इतना आत्मलीन हो जाता है कि उसके दिमाग के कपाट बंद होने से बाह्य दुनिया से संपर्क टूट जाता है. तभी तो बेचारे अरस्तु की बीवी को गर्म पानी ऊपर डालकर उन्हें सोचने की गुफा के कपाट खोलने को विवश होना पड़ा था. हाय बेचारा, 'बीमार' अरस्तु!

किसी को अरस्तु की-सी कर्कशा पत्नी नहीं मिली. सभी को धैर्यवान सुशील पत्नियां मिली हैं. भले ही घर में चूल्हा रमजान से रहा-हो अथवा दूध की नदियों वाले इस देश में आचार्य द्रोण की पत्नी को अश्वत्थामा को दूध की बजाय आटे का सफेद पानी मिलाकर अपने पति की साधना से सहयोग करना पड़ा. यही तो भारतीय नारी का गौरव है. इसलिए सभी सोचने वाले आराम से सोचते रहे और अपने सोचे हुए को लिख-लिख कर पोथों में बंद करते रहे. चूंकि हमारे फक्कड़ बाबा कबीर ने कहा है, "पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित भया न कोय, ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय!" इसलिए हम औसत हिंदुस्तानी ने उन पोथियों को पागलों का प्रलाप मानकर पढ़ना बंद कर दिया है और उनकी बजाय हम गुलशन नंदा के उपन्यास पढ़ना ज्यादा पसंद करते हैं. ताकि प्रेम का लंगड़ा अक्षर पढ़ना आ जाय. भले ही हमारे आचार-विचार हमारे सोचने वाले के अनुरूप न बनें और पंडित न कहलाएं. कम-से-कम एक अदद लड़की से प्रेम करना तो आ ही जायेगा.

ओह! लगता है हमें भी सोचने की छुतही बीमारी लग गयी है. तभी तो सोचने की सीढ़ी का डंडा छोड़कर प्रेम की रस्सी पकड़ने की कोशिश में लग गये हैं. शायद हमारे मनोभाव हमारे एक कवि मित्र ने भांप लिए थे. तभी तो उन्होंने कहा था, "हम सबकी नियति यही, करते हैं गलत और सोचते हैं सही."

भाई साहब हर सही सोचने वाले की यही नियति होती है. फिर क्यों घबराते हैं? सुकरात ने सही सोचा और जहर पीना पड़ा. दयानंद ने सही सोचा और शीशा हजम करना पड़ा. मंसूर ने सही सोचा और सूली पर चढ़ा. ईसा ने सही सोचा और सलीब पर टंगना पड़ा. भगत सिंह ने सही सोचा और फांसी पर लटकना पड़ा. गांधी ने सही सोचा और गोली खानी पड़ी. चूंकि ये सही सोचते थे और सही करना चाहते थे इसलिए सबको मरना पड़ा और हम सही सोचते हुए भी गलत करते हैं. इसलिए जिंदा हैं. चूंकि सही सोचने और सही करने वाले को, चाहे वह राज सत्ता हो, चाहे समाज सत्ता हो और चाहे धर्म के ठेकेदारों की सत्ता हो, सहन नहीं कर पाती. चूंकि सही सोचने वाला और करने वाला जन साधारण को इन सत्ताधारियों के शोषण से मुक्त करने की बात करता है. इसलिए इन पर क्रांतिकारी, नक्सलवादी अथवा देशद्रोही होने का ठप्पा लगा या तो कृष्ण जन्म धाम पहुंचा दिया जाता है या फिर बैकुंठ वास का टिकट कटा दिया जाता है.

इसलिए हे कवि बंधु, हमें आपसे सख्त शिकायत है. आप सही क्यों सोचते हैं! □

आलू की कीमत

फिक्र तोंसवी

दो साल पहले अचानक शहर में आलुओं का अकाल पड़ गया. आलुओं को देखकर बैंगनों ने भी रंग पकड़ा और बैंगनों को देखकर मास्टर नंगीराम ने भी शेव बनाने में 5 पैसे बढ़ा दिए. और जब हरि चंद रिक्शावाला शेव कराकर निकला तो इसने तैश में आकर स्टेशन तक प्रति सवारी दस पैसे बढ़ा दिये और जब एक क्लर्क अपनी मेहबूबा के साथ रिक्शा में सवार हुआ, तो अफसोसनाक अंदाज में अपनी मेहबूबा से कहने लगा, "प्यारी, आइंदा सात दिन के बजाय पंद्रह दिन बाद मिला करेंगे."

"क्यों प्यारे?"

"क्योंकि आलू महंगे हो गए हैं."

"ये आलू कहां चले गए?" हर आदमी ने दूसरे के घर जाकर इस तरह पूछना आरंभ किया, जैसे मातम पुर्सी करने आया हो मुहल्ला भागीपुरा की औरतों ने देवी राम से पूछ-ताछ की, तो उसने कहा "आलू पर देवी मां का साया हो गया है. इसलिए एक बोरी आलू नदी में बहाकर माता को बलि दी जाए." अतएव माता के एक भगत मुरारी लाल ने (जिन पर अमबा का मुकदमा चल रहा था) ब्लैक में आलुओं की पूरी बोरी खरीदकर नदी में बहा दी इसके बावजूद इसे मुकदमें में सजा हो गई और आलू भी सस्ते न हुए. लोग मजबूरन ब्लैक मार्केट में आलू खरीदने के इस तरह आदी हो गए जैसे बूढ़े खांसी के आदी हो जाते हैं. □

उर्दू से अनुवाद : शहंशाह आलम

छाया : अरविंद जैन
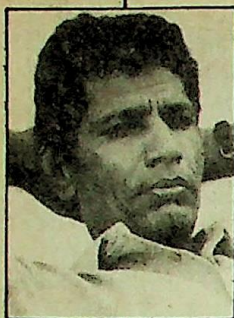
कोंपल कथा

□ अरुण प्रकाश

जन्म : 1948 निपनियां (बेगूसराय जनपद) बिहार. लंबे अरसे तक व्यंग्य एवं कविताएं लिखते रहे. इधर कहानी लेखन के क्षेत्र में सक्रिय.

विविध : अनुवाद, नाट्य रूपांतर और फिल्म लेखन के क्षेत्र में भी सक्रिय. वर्ष 1987 के कृष्ण प्रताप स्मृति कथा पुरस्कार से सम्मानित.

संपर्क : हिंदी अधिकारी, हिंदुस्तान फर्टिलाइजर्स कार्पोरेशन लि., मधुबन-55, नेहरू प्लेस, नयी दिल्ली-110019

प्रस्तुत उपन्यास 'कोंपल कथा' शीघ्र ही वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली से प्रकाशित हो रहा है.
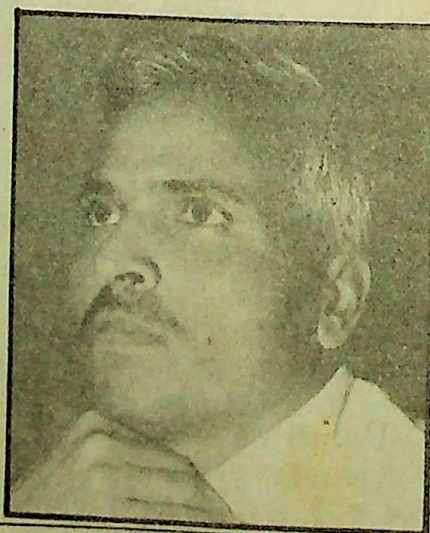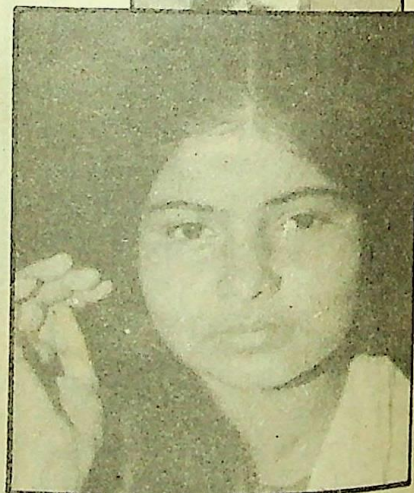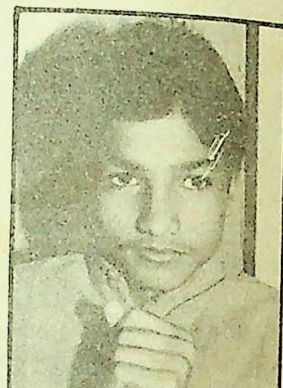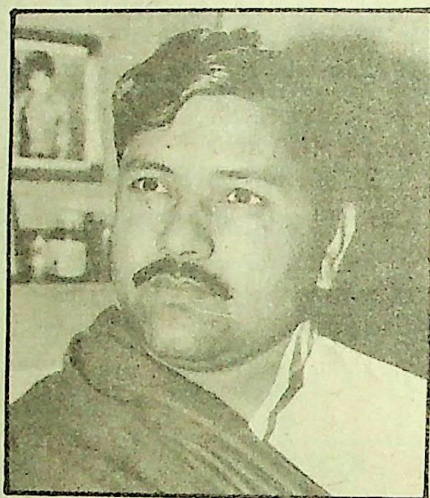
रात भर बारिश होती रही थी. बसंत की पहली बारिश से तृप्त पृथ्वी की अलस-भरी आंखों में झीना मौन तना था. आकाश में कुछ परेशान बादल अभी भी थे. सूरज अपनी दिनचर्या पूरी करने में लगा था. वह सवेरे-सवेरे लाल डगरे की तरह आकाश के पूर्वी सिरे से धीरे-धीरे उठ रहा था.

मंझौल गांव का यह मुहल्ला रौशनी के साथ बुलबुलाने लगा था. सूर्य के प्रकाश के साथ जग पड़ने का रिवाज पता नहीं कब से चला आ रहा है, कोई नहीं जानता. फिर भी लोग रोशनी के साथ उठते हैं और आगे बढ़ते चले जाते हैं.

तकरीबन सौ घरों का यह सतमहला टोला, मंझौल गांव के जरूरी अंग की तरह है जैसे हाथ. कागज पर नाम सतमहला टोला है, पर लोग इसे मल्लाहों की ज्यादा आबादी के कारण गोढी टोला ही कहते हैं. नाई, मल्लाह, कहार, बढ़ई, बनिया सब बसते हैं. पास ही ब्राह्मणों का भी छोटा-सा मुहल्ला है. बीच में भूमिहारो के घर हैं. इलाके के सबसे पुराने जमींदारों के मकान महल कहलाते थे. इसी से नाम पड़ा सतमहला. ऊंचे और बड़े लोगों के महल के ठीक बगल से लक्ष्मण रेखा की तरह खिंची है सतियारा चौक की ओर जाने वाली सड़क.

फुलेना नाई की भाभी, जिसे सारा गांव जौनावाली के नाम से जानता है, हवेली के फीलखाने की दीवार पर उपले थाप रही थी. वह झुकती, गोबर का गोला उठाती और गोले को तोलती हुई थपाक-से दीवार पर थाप देती. कभी इस फीलखाने में हरि नारायण प्रसाद राय का हाथी बांधा जाता था. अब हाथी नहीं रहा, और वे भी हरि प्रसाद बाबू भर रह गये हैं. थोड़ा रौब-दाब लोग आदतन मानते हैं. जौनावाली का मर्द बटेरन नाई हरि प्रसाद बाबू का पुराना कामिया है. जौनावाली उनके फीलखाने की दीवार पर उपले थाप ही सकती है.

फुलेना ने घर से निकलते देख लिया था, भौजी उपले थाप रही है. बहुत सवेरे से जुट जाती है. क्या करे, गांव में तो यह सब करना ही है. गाय से ही तो परिवार चलता है. दाढ़ी-बाल बनाकर अब कहां से पेट भरने वाला है. अब कौन किसान, कौन मालिक! फसल में नाई का हिस्सा अलग करता है? सैलून तो हर गांव में खुलता जा रहा है. हर गांव के चौक पर चाय, पान की दूकान और सैलून. बाल कटवाओ, पैसे दे दो. अनाज देने का झमेला कौन करे?

मजबूत और सांवली देह की जौनावाली की नजर फुलेना पर पड़ी. उसके हाथ रुक गये. वह फुलेना की ओर मुड़ी.

"हवेली जा रहे हो, बबुआ?"

"क्या करूं, भौजी? भैया मानते नहीं. बोले, 'तुम तो कलकत्ता में रहते हो, हमें तो गांव में रहना है. मालिक का बेगार करना ही पड़ेगा.' दो दिन की बात है, इसीलिए सोचा कि भैया की बात मान लूं."

"जाओ बबुआ, इ मालिक लोग नाऊ को तो पैर की जूती समझते हैं. हमरी तो जिंदगी कट गयी, जो बाकी है सो कट जायेगी."

फुलेना आगे बढ़ गया. जौनावाली उसे जाते देखती रही. काम का ध्यान आते ही उसने फिर गोबर का लोंदा उठाया और दीवार पर थाप दिया. कल सांझ भी दोनों भाई झगड़ गये—इसी बेगार की बात पर. अब फुलेना काहे नाऊ का काम करेगा? वह करखनिया मजदूर है. कलकत्ता में कमाता है. घरवाली भी स्कूल में आया का काम करती है. टी.बी. में बीमार भैया को देखने आया और भैया ने कह दिया— 'हरिप्रसाद बाबू के काम से महथी जाना है. दो दिनों का काम है.' भड़क गया इसी पर बबुआ— 'तुम इ सब चिंता मत करो भैया! मैं नहीं जाऊंगा! छुट्टी कम है. मैं तुम्हारा इलाज करवाने आया हूं, हरिप्रसाद का काम करने नहीं?' बड़ा दुख हुआ इनको. रात में सर दबा रही थी तो बोले— 'अपना बाल-बच्चा होता तो फुलेना से यह सब नहीं सुनना पड़ता.' इस सूखी, बंजर कोख में बच्चा कहां से आयेगा, अब इस उमर में? रोज-रोज रोने से क्या होगा? हंसती हूं तो लोगों ने नाम ही रख दिया— मखौलिया जौनावाली. जी नहीं लगता तो फुलेना को चिट्ठी लिखवाती हूं, वही आकर कलकत्ता ले जाता है. उसी के बाल-बच्चे को देखकर जुड़ा जाती है छाती..... जमाना ऊ नहीं रहा, काहे फुलेना बेगार पर जायेगा. बहुत किया है, हरि प्रसाद मालिक के यहां भी नौकर में खटता था— बर्तन मांजो, कपड़ा धोओ, बच्चा खिलाओ... इ तो लछमन जैसा भाई है फुलेना, जो इनका बात आखिर मान गया...

घर में जाकर इनका थूक-खखार भी साफ करता है. दूध गरम कर देता है. इ राजरोग टी.बी. गरीब को नहीं हो, दवा से बेसी खुराकी...

जौनावाली ने टोकरा उठाया और अपने घर जानेवाली अंधी गली में मुड़ गयी. हरि प्रसाद बाबू के घर के पीछे सड़क पार से वह गली शुरू हो जाती थी. गली की पहली झोपड़ी उसी की है. उसके ठीक सामने हवेली की आखिरी खिड़की थी.
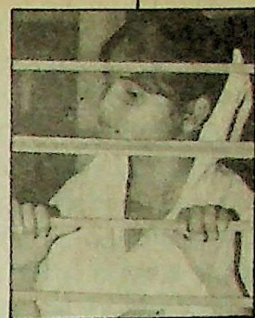
इस हवेली की कोई सुखद स्मृति है तो हरिप्रसाद बाबू के बच्चे—राम बाबू, अशोक बाबू, विभा और नन्हीं-सी गुड़िया ज्ञान... ज्ञान की शादी के लिए ही लड़का देखा जा रहा है और इसी के लिए बुलाया गया है, उसे और छुट्टी लेनी पड़ेगी. बटेरन भैया को क्या पता कि सालाना छुट्टी के बदले में पैसे मिल सकते हैं जो हरिप्रसाद बाबू से मिलने वाले अनाज बगैरह से कहीं ज्यादा होता है...

गेट से घुसते ही विशाल हाते में व्याप्त सूनापन उसे छू गया.

हवेली की दीवारों की पुताई बरसों से नहीं हुई है. दीवारों पर सफेदी की जगह बरसाती काई ने ले ली है. ईंटों में नोनी का कोढ़ लग गया है. बिना पलस्तरवाली दीवारें तो कभी भी भारी बरसात में गिर सकती हैं. जिन दीवारों पर राजमिस्त्रियों को नक्काशी करने में महीनों लगे होंगे, वही पुताई-रंगाई के अभाव में वृद्धा विधवा की तरह दिखाई देती है. हवेली के सामने मखमल की तरह मुलायम घास लगी रही थी, वहां मकई के ठठेर का ढेर है. घोड़े के अस्तबल के सामने बैल बंधे हैं. बहरा-गूंगा बंधू हलवाला बैलों को सानी दे रहा है. पुराने दिनों की निशानी-नारियल और अशोक का पेड़ उसी तरह खड़ा है. बरसात और धूप सहती फिटिन (विक्टोरिया) खड़ी है.

इस हवेली की कोई सुखद स्मृति है तो हरि प्रसाद बाबू के बच्चे– राम बाबू, अशोक बाबू, विभा और नन्हीं-सी गुड़िया ज्ञान. अब तो सब बड़े हो गये. राम बाबू मुंगेर में वकालत करते हैं. छोटे भाई अशोक बाबू खेती-पथारी संभालते हैं. विभा की शादी महथी गांव में हुई है. ज्ञान की शादी के लिए ही लड़का देखा जा रहा है और इसी के लिए बुलाया गया है. उसे और छुट्टी लेनी पड़ेगी. बटेरन भैया को क्या पता कि सालाना छुट्टी के बदले में पैसे मिल सकते हैं जो हरि प्रसाद बाबू से मिलनेवाले अनाज वगैरह से कहीं ज्यादा होता है.

हवेली के अंदर से खटर-पटर की आवाज आती रही. ज्ञान बर्तन साफ करके उठती है. चूल्हे पर सब्जी की कड़ाही बैठा देती है. बुझी लकड़ी को आगे खिसकाकर फूंक मारती है. थककर पंखे से हवा करने लगती है. दूसरे चूल्हे पर चाय की केतली चढ़ी है. ज्ञान गिलास में छन्ना लगाती है और चाय छानने लगती है. बुढ़िया दादी की रसोई के बगल वाले कमरे से आवाज आती है– "ज्ञान, चाय पिला देती बेटी!"

"आ रही हूं!" कहकर ज्ञान उठ जाती है.

खाट पर गठरी की तरह पड़ी दादी के हाथ में गिलास थमा देती है. दादी अपने झुर्रियों भरे चेहरे पर बायीं हथेली फिराकर नींद को भगाने की कोशिश करती है. कमरे में सीलन और अंधकार है. ज्ञान जैसे मुड़ती है कि बाहर से आवाज आती है– "मालिक-मालिक!"

बैठकखाने का गलियारा पारकर दरवाजे पर से झांककर ज्ञान ने देखा– एक आदमी खंभे से लगकर खड़ा है. चेहरा ठीक से नहीं दिखाई दिया.

"क्या बात है?"

"मैं फुलेना हूं. बटेरन नाई का भाई. मालिक ने बुलाया था...."

"बाबूजी तो खेत की तरफ गये हैं, आप बैठिये...... वे आते होंगे.... मैं ज्ञान हूं..... मैं तो आपको बचपन से ही जानती हूं!"

"तुम इतनी बड़ी हो गयी......" फुलेना अटका, संभला, "आप इतनी बडी...... गलती हो गयी. मालिक लोग को तुम नहीं कहना चाहिए."

"मैं बड़ी हो गयी बी.ए. तक पढ़ गयी, इससे आपसे बड़ी थोड़े ही हो जाऊंगी...... बाबूजी आ ही गये!" ज्ञान अंदर चली गयी.

"आ गये फुलेना! बटेरन कैसा है?" हरि प्रसाद बाबू ने पास आते ही पूछा.

"गोर लागी (पांव छूता हूं) मालिक!"

"खुश रहो, बटेरन का खूब खयाल रखना, भगवान तुम्हारे जैसा भाई सबको दे... तुमको बुलाया इसलिए कि महथी गांव में एक लड़के का पता चला है... ये पुरजा है, इसमें लड़के का नाम, बाप का नाम लिखा है. वहां जाकर मेरी बड़ी बेटी विभा के पास ठहरना, वह सब पता लगा देगी. लड़के की कितनी जमीन है, कहां तक पढ़ा-लिखा है, कितना दहेज देना पड़ेगा... यह पैसा खर्च के लिए रख लो."

फुलेना वापस लौटने के लिए मुड़ा.

हरि प्रसाद बाबू ने टोक दिया, "छोटी बबुनी से मिलकर चिट्ठी वगैरह ले लो... जाओ!"

फुलेना ठिठका. हवेली के अंदर जाने में झिझक सामने आ गयी.

"जाओ अंदर, अरे तुम तो काफी साल यहां नौकर रहे, शर्माते काहे हो?"

फुलेना को ओसारे में खड़ा देखकर ज्ञान उठ खड़ी हुई. शलवार और कुरता. गले से लिपटी ओढ़नी को उसने ठीक से सजाया और फुलेना की ओर बढ़ी.

"मालिक ने कहा– चिट्ठी ले लो. विभा बबुनी के यहां जाना है."

"आप बैठिये!" ज्ञान ने खाट की ओर इशारा किया, "मैं चिट्ठी लिखकर लाती हूं."

ज्ञान अपने कमरे में बिस्तर पर लेटकर चिट्ठी लिखने लगी.

"यह चिट्ठी सिर्फ विभा दीदी को ही दीजियेगा और किसी को नहीं. दीदी से भी चिट्ठी लेते आइयेगा."

लिफाफे को हाथ में लेकर फुलेना बाहर निकला. ज्ञान उसके पीछे चलती दरवाजे तक आयी और दरवाजा बंद कर बैठकखाने के भयावह अंधकार में गुम हो गयी.

सतियारा चौक! एक सड़क पहसारा-बखरी को पूर्व में जाती है. दक्षिण की ओर बेगूसराय जाती है, उत्तर की ओर बरियारपुर-रोसड़ा को और पश्चिम की ओर पबरा गांव को जाती है. सत्ती मैया के स्थान की वजह से इसे सतियारा चौक कहते हैं. सत्ती मैया के मंदिर के ठीक बगल में विशाल मोइन (गढ़ा) है. जलकुंभी और मछलियों से भरा. सारे गांव के बरसात का पानी इसी मोइन में जमा होता है. सतियारा चौक पर बस, रिक्शे और अब निरंतर गायब होते जाते तांगों की वजह से बहुत दूकानें खुल गयी हैं. नाश्ता-मिठाई, चाय, पान-सिगरेट, परचून, दारू, ताड़ी, फल, सायकिल मरम्मत, खाद-बीज, सैलून, डाक्टर, किताब...

वह हसीना

पुष्पा उपाध्याय

आज पीनेवालों की महफिल खास ज्यादा नहीं थी, क्योंकि महीने के आखिरी दिन थे, तकरीबन सभी की जेबें खाली थीं, जैसे-तैसे मोहन और श्याम ने पीने का सामान जुटाया और शाम ढलते ही दोनों बैठ गये. श्याम के कमरे पर– बोतल का रंगीन पानी हलक से नीचे उतरते ही श्याम कुछ ऐसे अंदाज में गुनगुनाया कि मोहन ने भौंहें तरेरकर पूछा, "कौन है वे वह नाजनीना, हसीना हम भी तो सुनें उसकी तारीफ."

"अबे यार पूछ मत क्या चीज है, बनाकर खुदा भी डगमगा गया होगा गुरु."

मोहन ने पैग बनाते हुए कहा, "हमें भी तो दर्शन करवा दे उसके!"

"दर्शन कल सुबह ही कर ले?"

"कहां?" मोहन ने हाथ में पकड़ा गिलास होंठों पे लगाते हुए पूछा था.

"अरे मेरे कृष्ण कन्हैया, इतने उतावले मत बनो केवल दर्शन मात्र ही हमें मिल सकते हैं."

"यार, तू उसकी एक झलक दिखा दे. लाइन पे लगाना तो मेरा काम है."

दूसरे दिन सुबह नहा-धोकर दोनों घर से निकले— श्याम ने मोहन को बस स्टैंड से थोड़ा पीछे ही रोक लिया था, क्योंकि वह अभी बस स्टैंड पर नहीं पहुंची थी, दोनों ही बातों में मस्त थे कि दूर से आती रूपा दिखाई दी.

श्याम ने उछलते हुए कहा था, "अबे यार दो देख सामने से आ रही है!"

और फिर दोनों ही नजरें गड़ाये उसके करीब आने की प्रतीक्षा करने लगे, रूपा उन दोनों के सामने से होकर आगे निकल गयी तो मोहन पागलों की तरह उसके पैरों के छोड़े हुए निशानों को ताकता चला गया, दिल की गहराई से एक कंपकंपाता स्वर उभरा, 'रू...पा... मेरी रानी तुम इतनी सुंदर हो और मैं अंधा बना फिरता रहा!"

पास खड़े श्याम ने उसका कंधा झिझोंड़ते हुए कहा, "बस मियां, पांव के निशानों में ही खो गये क्या?"

"नहीं श्याम, ऐसी बात नहीं है." स्वर बेहद बुझा और शर्मनाक था.

"फिर उसे देखते ही इतने उदास क्यों हो गये."

"बस ऐसे ही..." अपने दोस्त से कह भी तो नहीं सकता था कि वह उसकी पत्नी थी. □

सतियारा चौक आसपास के गांवों में बहुत प्रसिद्ध है. एक तो मंझौल गांव ही शासकों का गांव रहा है— बूढ़ी गंडक और काबर झील के दोआबे को हमेशा से अपने जांघ के नीचे दबाकर रखा है; कोई भी बी.डी.ओ., थानेदार आयेगा, सबसे पहले मंझौल के मालिकों को सलाम करेगा. ऐसे ही गांव का चौक है सतियारा.

चाय पीने का असली मजा सिर्फ कामरेड की चाय की दूकान पर है. अलकतरे के ड्रम को काटकर बनाये गये चदरे से छायी एक छत. फूसे घिरी तनिक बड़ी झोपड़ी. उत्तर और पश्चिम तरफ की दीवार से एक-एक बैंच लगी है. उत्तर तरफ एक चौकी पर कामरेड खुद बैठते हैं चूल्हे से लगे. चाय बनाकर देते हैं, गर्म पानी से जूठे गिलास धोते हैं.

ठीक बगल में पांचू की पान दूकान है.

अशोक ने चाय का गिलास अपने हाथ में लिया और पांचू की दूकान से पीठ टिका चाय पीने लगा. इस साले की दूकान पर जब देखो तब निठल्ले कामरेड लोग बैठे मिलते हैं. घर भूंजी भांग नहीं, मियां मांगे चूड़ा! हमेशा जमींदार, बुरजुआजी, क्रांति बोलेंगे. ज्यादातर शूद्र. दो-चार दरिद्र बाभन, ब्राहमण. इसी से कोई कुछ नहीं कहता. इस दूकान पर बढ़िया चाय का लोभ न हो तो अशराफ लोगों के लिए यह दूकान नहीं है.

जोर से हंसी को सुनकर अशोक की आंखें उस तरफ मुड़ गयीं. रामबुझावन सिंह का बेटा सच्चिदा है. बटाई जोतते साले के बाप के हाथ में ठेला भरा है. यहां बैठकर इ शुद्र कामरेड के साथ ही-ही करता है.

"दारोगाजी बिना टिकट के पकड़े गये! हा! हा! सुनते हैं कामरेड, दारोगाजी बिना टिकट के...... हा! हा!" कभी का माना हुआ फुटबाल खिलाड़ी सच्चिदा की हंसी बैलून की तरह फूट रही थी.

"अरे उनका बस चलता तो ट्रेन ही चुराकर ले जाते!" कामरेड ने चाय के गिलास में चम्मच हिलाते हुए कहा और खुद भी हंसने लगे. पिचके गाल पर मांसपेशियां थिरकने लगीं पसीने से चिपचिपाये माथे पर कोयले की लाल रोशनी से चमचमाहट थी. सब देर तक हंसते रहे. शंभु सदा, शोभाकांत झा, जगदीश पंडित, रामरक्षा सहनी और राजेंद्र सिंह.

अशोक ने घृणा से देखा. शंभु सदा— इ साला मुसहर, बाप ताड़ी पीकर पासीखाने में पड़ा रहता है. गाय-बकरी पालता है, सरकार की मेहरबानी से आठवीं तक पढ़ गया तो अपने को अशराफ समझने लगा है. दलिद्दर ब्राहमण का बेटा शोभाकांत बोलने में जहर है. ट्यूशन करता है, पर बोलने का टोन ऐसा कि लखपति हो.

"अरे दारोगा का नाम लिया तो याद आया? ब्लॉक आफिस में टुन्नू बाबू और दारोगाजी खुसुरपुसुर कर रहे थे." राजेंद्र सिंह बोल उठा. अशोक के कान खड़े हो गये. चाय ऐसे पीने लगा जैसे वह उन लोगों की बात नहीं सुन रहा हो. इ रजेंदरा, बंशकुल्हारी है. अपनी जात, अपने गोतिया का तो दुश्मन! कम्युनिस्ट बनता है! यही न शंभु सदा को हीरो बनाया है. बटाईदारी कानून लागू करो, लाल झंडा जिंदाबाद! चच्चा के बारे में कुछ बोल रहा है.

"मछली हाट का नीलामी निकला है. हम लोग कोपरेटिव से नीलामी बोलेंगे. बहुत केस में फंसाते हैं टुन्नू बाबू, इस बार डाक हम लोग ले लेंगे. उनका एक आमदनी तो मारा जायेगा!" रामरक्षा सहनी ने उछलकर कहा.

"बेसी बकबक मत रो... जो करना हो चुपचाप करो कामरेड, इ दूकान है न, बात फैल जायेगी तो कुछ नहीं हो सकेगा!... यहां चाय पीओ, अखबार पढ़ो..... इ सब बात मीटिंग में....." कामरेड ने अशोक की ओर कनखी से देखा.

सब संभल गये. कुछ देर चुप्पी रही.

राजेंद्र के हाथ में अखबार था. वही बोलकर पढ़ने लगा.

"देखो इ लड़का का फोटो. पकड़ऊआ बियाह के लिए जीप में जबर्दस्ती ले जा रहा था. लड़का जीप से कूद गया वहीं जीप से कुचला गया और मर गया! उसी का फोटो है!"

"इ राजेंद्र ऐसने समाचार पढ़ेगा." कामरेड ने टोका.

"छपा है तो पढ़ेगा जरूर! बड़का लोग ही पकड़ऊआ बियाह शुरू किया है त समचार छपवे करेगा, अ छपेगा त हम पढ़वे करेंगे!" सच्चिदा ने खैनी लेकर मुंह में रखा.

अशोक ने पान मुंह में दबाया. कामरेड के सामने टन्न से अठन्नी फेंकी और सायकिल पर बैठ गया.

उसके इस तरह जाते ही सबों ने जोर का ठहाका लगाया!

"नवाब के नाती बनते हैं! कामरेड टन्न से अठन्नी! चाय पिया एक, पैसा दिया दो का!" रामरक्षा सहनी ने व्यंग्य से कहा.

तूफान बस सर्विस की गाड़ी रोसड़ा से आकर रुकी. ढेर यात्री आसपास की चाय दूकानों में फैल गये. ग्राहकों को आते देखकर लड़के एक तरफ की बेंच पर बैठ गये.

धूल से पुता फुलेना अपना थैला लिये कामरेड की चाय दूकान के सामने रुका. कामरेड बिस्किट के मर्त्तबानों को ठीक कर रहे थे.

"कहिये कामरेड!" फुलेना दूकान के अंदर घुसा और पास की बेंच पर बैठ गया.

"अरे आओ फुलेना! आ गये महथी से! पानी पीओगे!" कामरेड ने आत्मीयता से स्वागत किया.

"एक चाय भी दीजिये." गिलास को बेंच के नीचे रखते हुए उसने कहा.

"हां-हां!" गरमा-गरम चाय हाथ में थमाते हुए कामरेड ने पूछा, "उस दिन तो तुम बस पकड़ने की जल्दी में थे, कलकत्ते का क्या हाल चाल है? मेरे चटकल की तरफ जाते हो? अभी खुला कि नहीं?"

"जाना कहां होता है! हां, अभी खुला नहीं है. बाबू लोग बोलता है, कारखाना कलकत्ते से उठाकर दूसरी जगह ले जायेंगे. इधर में कम्युनिस्ट लोग बहुत तंग

करता है."

"तब तो हमरा दोस्त लोग बहुत परेशानी में होगा......"

"जरूर, तालाबंदी के बाद आप अच्छा किया कि गांव चले आये..... वहां आजकल बहुत अंधेर है. गवर्नर का राज है...... पुलिस एक-एक खिच्चा नौजवान को नक्सल कहकर मारती रहती है. अभी बंगाल में नौजवान लोग का कम्युनिस्ट होना पाप है. केतना नौजवान मारा गया. केतना बंगाल छोड़कर भाग गया. सेठ लोग खुश. बड़ा बाजार का सेठ लोग खूब पैसा बना रहा है. बोलता है– 'कारखाना में घाटा होता है.' घाटा होता है त इ दस तल्ला मकान कइसे बनता है?...... एक रोज हमरे बासा में हमरे साला एक दोस्त आकर छिपा.....," इधर-उधर देखकर फुलेना चुप हो गया.

"रुक क्यों गये...... सब कामरेड लोग ही है." कामरेड ने विश्वास दिलाया.

"हमरे साला का दोस्त आकर टिका. एकदम नौजवान. मूंछ अभी निकली ही थी. हम सोचे– कल चला जायेगा. लो इ त पांच दिन हो गया तब हम साले को पूछा– 'इ बंगाली कब तक रहेगा?' साला पहले झिझका फिर बोला– 'इ कम्युनिस्ट है, नक्सलवाली. बंगाली मुहल्ला में तो सब इसको जानते हैं, पुलिस पकड़ ले जायेगी. इसलिए यहां है, दूसरा ठिकाना हो जायेगा तो चला जायेगा.' चार दिन और रहा. हम खूब खयाल रखते रहे. बाद में बेलूर मठ चला गया. दसवें दिन उसके मरने की खबर मिली. क्या बतायें कामरेड, उ दिन हमसे खाया भी नहीं गया. इ तन-तन शरीर, युनिवर्सीटी का इस्टूडेंट...... सब खतम! बहुत खराब हालत है... यहां का क्या हालचाल है?"

"क्या रहेगा? यहां बेसी मीठा कम्युनिस्ट है, खाली मीठा-मीठा बोलेगा अ भोट मांगेगा. बटाईदारी की बात करने जाओ त बोलेगा– 'कमरेड, अभी वर्ग संघर्ष का समय नहीं है.' त हम पूछते हैं– 'कौन चीज का समय है– सिरिफ मार खाने का?' हम ही कौन क्रांति कर रहे हैं! सरकारी कानून के मुताबिक हक मांगने से भी गये?" कामरेड धीरे-धीरे तैश में आ गये थे.

फुलेना घर पहुंचा तो हाड़-हाड़ दर्द कर रहा था. गर्मी में भी नहाने का मन नहीं हुआ. जौनावाली ने मकई की रोटी और दूध परोस दिया. खाना खाते ही वह आंगन में पड़ी खाट पर मुरदे की तरह सो गया.

नींद से हड़बड़ाकर ज्ञान उठी, दरवाजे को खोला तो धूल से सना फुलेना सामने था.

"मालिक पूरा नींद में हैं. उठवे नहीं करते हैं. इसी से दरवाजा खटखटा दिया." फुलेना ने सफाई दी.

हरि प्रसाद बाबू उठ गये.

फुलेना अंदर आया. झोले से एक पोटली निकालकर ज्ञान के सामने रख दिया.

"दीदी कैसी है?" ज्ञान हड़बड़ाकर पूछ बैठी.

"ठीक है. सब अच्छा है."

"क्या अच्छा है, बीमार, कमजोर नहीं है न?"

"हां कमजोर तो बड़ी बबुनी लगी, इ उमिर में ऐसन कमजोर..."

"वह नहीं बचेगी फुलेना भैया. हम बूझते हैं."

"अरे नहीं बबुनी, सब ठीक हो जायेगा."

"सब ठीक हो जायेगा... कब?" व्यंग्य से भरी उदासी ज्ञान के चेहरे पर पुती थी.

फुलेना को लगा कि फैक्ट्री के अहाते में चलते नंगे पांव के नीचे बिजली का नंगा तार पड़ गया हो. कब सब ठीक हो जायेगा? कित्ता सुनाते रहे उसे, बड़ी बबुनी के श्वसुर. अपने मालिक से कह देना, शादी ब्याह में छल कपट नहीं चलता. जो तय हुआ था, ऊ सामान-बुलेट मोटर सायकिल अभी भी भिजवा दें. इ अजब लड़की है, ऐसन सवाल करेगी कि लोग हक्का-बक्का! एक दमदादी की तरह पढ़ी-लिखी है. हरदम हाथ में किताब! अब इसको क्या कहा जाये! फुलेना दालान की तरफ बढ़ गया.

विभा के दुःख की सोच-सोच ज्ञान का गला भर आया. हाथ की पोटली को उसने कलेजे से लगा लिया. ओढ़नी के सिरे से अपनी आंख पोंछती पाये के सहारे बैठ गयी. ज्ञान के अंदर दूध मथनेवाली मथनी चल रही थी. दीदी ठीक कहती थी– 'बाबूजी को पूरा तिलक नहीं देना था तो किसी गरीब के घर बिठा देते. कम से कम रोज ताना तो नहीं सुनना पड़ता. नैहर का नाम लेते ही पूरा घर भौंकने लगता है. मेरी बहना, औरत होना ही नरक है.... बस किसी दिन मेरे मरने की खबर सुन लोगी.' विभा दीदी किसी दिन जहर खा लेगी. यह कैसा फंदा है? किसिम-किसिम का फंदा, किसिम-किसिम के शिकार! कौन लोग काटेंगे इन फंदों को? इस लड़ाई का अंत नहीं है.

धोती को संभालते हरिप्रसाद बाबू कुर्सी पर बैठ गये. पानी से मुंह धोने से सदा सुशोभित चंदन का टीका धुल गया था. वही गोरा-चिट्ठा थुल-थुल शरीर. शेर की तरह बड़ा भारी मुंह. दालान के पाये से सटा फुलेना विनम्रता की मूर्ति बना था.

"बबुनी ठीक है न फुलेना?"

"सब ठीक है." फुलेना ने सीधे कहा, "बबुनी को यहां आने का बड़ा मन है."

"अरे ले आयेंगे!" तनिक हंसते हुए हरिप्रसाद बोले, "बस जरा इ ज्ञान की शादी कहीं तय हो जाये.... सब पता लगा लिया न?"

"जी मालिक, लड़के को चौबीस बीघा जमीन हिस्सा पड़ता है, समस्तीपुर में बी.ए. में पढ़ते हैं. इक्यावन हजार की मांग है."

"ठीक से पता लगा लिया था न?"

"अगल-बगल भी पूछ लिया था मालिक. सब तो इ इस्टेट को जानते हैं. लड़केवाले का बड़ाहिल (कारिंदा) बोला कि पूरा नगद एक बार में ही देना पड़ेगा. सब नगद."

हरि प्रसाद बाबू अपने आप में डूब गये. फुलेना कुछ देर खड़ा रहा, फिर मुलायम होकर बोला, "अब

हम जायें मालिक!"

"अं!" हरि प्रसाद चौंके, "हां-हां जाओ."

सरमेरा वाली दुल्हिन और रिंकू-टिंकू को हवेली में पहुंचे तीन घंटे हो गये थे.

दालान पर बल्ब जल रहा था. रिंकू-टिंकू हरि प्रसाद बाबू के कंधे पर बैठे थे. हरि प्रसाद बाबू दोनों को बहला रहे थे.

"पप्पा आयेगा तो चाकलेट लायेगा."

"नहीं, पापा भूल जाते हैं, आप ला दीजिये." बड़े रिंकू ने समझदारों की तरह कहा.

"ला दीजिये न!" टिंकू ने चहकते हुए कहा.

तभी अशोक बाबू आये. हाथ में पान का ठोंगा और नया टार्च. झुके और पिता के चरण छूकर जाने लगे.

"इनका चाकलेट लाये कि नहीं?"

"लाया हूं बाबूजी... लो." जेब से चाकलेट निकालकर दोनों बच्चों को थमा दिया.

"बैठो, कुछ बात करनी है!"

अशोक बाबू सामने पड़ी कुर्सी पकड़कर खड़े हो गये.

"बात इ है कि...." हरि प्रसाद बाबू ने गला साफ किया, "बटेरन के भाई फुलेना को महथी भेजकर लड़के बारे में पता किया था. लड़का अच्छा है, चौबीस बीघा खेत है... बी.ए. में पढ़ता है."

"मांगता कितना है?" अशोक बाबू ने झट से पूछा.

"इक्यावन हजार नगद, बस."

अशोक बाबू चुप.

चुप्पी हरि प्रसाद बाबू को खल गयी. लेकिन अंदर उभरते क्रोध को उन्होंने संभाला और आहिस्ते से बोले, "तुम कुछ बोल नहीं रहे हो.... पोस्ट ऑफिस में कितना जमा है?"

"बाईस सौ."

"अनाज कितना है?"

"पचास मन धान होगा, साठ मन मकई, गेहूं तो बेच ही दिया है. पैसा बनिया अभी नहीं दे गया है. खाने लायक गेहूं रख दिया है. चावल भी खाने भर है. धान, मकई सब बेच दें, गेहूं का पैसा भी जोड़ दें तो... करीब, पंद्रह हजार जमा होगा."

"इक्यावन हजार," सोचते हुए हरि प्रसाद बाबू बोले, "दहेज का सामान, बरात खर्चा, कपड़ा लत्ता, गाजा-बाजा...... सब मिलाकर नब्बे हजार लग ही जायेगा."

अशोक बाबू फिर चुप.

"रुपये का इंतजाम करना पड़ेगा न!" स्वीकृति के लिए हरि प्रसाद बाबू ने अशोक की ओर देखा, "आजकल सूद भरना (रेहन) भी जमीन कोई नहीं लेता... लगता है कोठी पर वाली जमीन बेचनी ही पड़ेगी... चार बीघे का टुकड़ा है. तीन बीघा भी बेचेंगे तो साठ हजार आ जायेगा." अशोक बाबू अंधेरे की ओर देखने लगे. अब बाबूजी बोलेंगे—काबर वाली जमीन का ग्राहक नहीं मिलता. कोठीवाली जमीन बिक गयी तो अस्सी मन गेहूं, अस्सी मन मकई हर साल कहां से आयेगा? उससे ज्यादा उपजाऊ जमीन और कोई नहीं. काबर की खेती का कौन भरोसा? कोठी वाली जमीन से ही घर चलता है, शान-शौकत बची हुई है.

"कोठीवाली जमीन?" चिंता के भंवर से हरि प्रसाद निकले, "उसे बेचना ही होगा. पिछली बार भी तुम अड़ गये कि वह जमीन नहीं बेचेंगे और ज्ञान की शादी रुक गयी. लोग पचास किसिम की बातें करते हैं. लड़की भी तीस की हो गयी."

अशोक बाबू की चुप्पी को हरि प्रसाद समझ रहे थे. उबलता तैश अपना चेहरा बाहर निकाल रहा था. लेकिन मामला शांति से निबटाना है, यही सोचकर हरि प्रसाद संयत थे.

"तुम कुछ बोलते क्यों नहीं?"

"क्या बोलें!" अशोक बाबू उबल पड़े, "जमीन तो आप बेच लेंगे, ज्ञान की शादी हो जायेगी, आपकी इज्जत रह जायेगी! पर कल हम खायेंगे क्या? कल आपकी इज्जत कैसे निभेगी? आप दूसरा लड़का ढूंढिये जिससे कम पैसा लगता हो. कोई जरूरी है कि हम इक्यावन हजार दें?"

"सस्ती में भी इक्यावन से कम नहीं दिया. आजकल इक्यावन हजार का क्या मोल है?" संयत ही रहे हरि प्रसाद.

"बाबूजी, अब वो जमाना नहीं रहा." पास—दोनों बच्चे चौकी पर ही बैठे थे.

वे क्या समझते. हरि प्रसाद बाबू चौकी पर से उठ गये. बूढ़ी हड्डियों में सनसनाहट दौड़ रही थी.

"हां, अब वो जमाना नहीं रहा." बिफर उठे हरि प्रसाद जोर से, "अरे डूब मरो. टुन्नू से सात साल पहले अपनी लड़की की शादी में इक्यावन हजार दिया. मुंशी सुदामालाल ने इकतालीस हजार पोती की शादी में दिया..... तुम्हारे लिए जमाना बदल गया!"

दालान पर शोर सुनकर ज्ञान गलियारे में आ गयी थी और किवाड़ की ओट से पिता और भाई के बीच उफन रहे तनाव को महसूस कर रही थी.

अशोक बाबू किसी तरह अपने पिता को समझाना चाहते थे, इसलिए गुस्से के बावजूद उनका स्वर सधा था. जमीन तो बाबूजी जब चाहें बेच सकते हैं. अगर वे कोर्ट में जाकर रुकवाना चाहें तब भी बेइज्जती होगी पूरे गांव में. इसीलिए बाबूजी को मनाना ही होगा.

"बाबूजी, जिनके पास आमदनी है वे बड़ी रकम तिलक-दहेज में देते हैं. हमारे पास नहीं है तो कहां से दे पायेंगे? कोई दूसरा लड़का ढूंढिये! इतना दहेज देने के बाद हम भूखे मर जायेंगे।... फिर बड़का भैया से भी पूछ लेते.....," "वह तो कहता है कि जैसा चाहिए कर लीजिये. उस बेचारे को वकालत से जो मिलता है, उसी से अपना काम चलाता है. अगर हम बेच देंगे तो वह पूछने भी नहीं आयेगा. तुम्हीं ससुर से कनफुसकी करने जाओगे..... अब तो गुरुआइन को भी ले ही आये हो."

अब बहुत हो गया! बाबूजी हद से बाहर जा रहे हैं. अशोक कुर्सी का माथा छोड़ आगे बढ़ गये, सीढ़ी की तरफ.

"तो सुन लीजिये बाबूजी, आपको एक धूर जमीन बेचने नहीं दूंगा! बहुत जमीन बेच चुके! ज्ञान की शादी मैं करवाऊंगा! आप चुपचाप इज्जत-इज्जत जपते रहिये!"

हरि प्रसाद बाबू को जैसे करेंट छू गया हो. सारा शरीर झनझना गया.

"तुम्हारी क्या औकात जो बहन की शादी कर सको! जाकर बीवी के आंचल में छिप जाओ! स्वार्थी!"

"होश में रहिये बाबूजी! हमको समझाने चले हैं इज्जत! कोई पतुरिया बारात में आयी नहीं कि महफिल में सौ-दो सौ नजराना दे देंगे.... खाने का ठिकाना नहीं और दिन भर ठुमरी, शतरंज! हम करेंगे ज्ञान की शादी! हम ही करेंगे ज्ञान की शादी......" दनदनाते अशोक सीढ़ी से उतर गये.

डरे हुए दोनों बच्चे चुपचाप उठकर आंगन में चले गये. किवाड़ की ओट में ज्ञान विक्षोभ और नफरत से थरथरा रही थी. पिता को दालान पर चक्कर मारती छोड़ चुपके से वह आंगन की ओर मुड़ी तो ठीक उसके पीछे सरमेरावाली दुलहिन खड़ी थी. वह भी बाप-बेटे का झगड़ा सुन रही थी. दुलहिन ने ज्ञान को देखकर मुंह चमकाया. ज्ञान दनदनाती अंदर चली गयी.

आतंक

□ गुड्डू गोविंद

अमावस्या की काली रात और काली होती जा रही थी. दूरदराज के गांव से हरिया चमार अपने सात आठ बरस के बेटे के साथ झोपड़ी में बैठा मारे सर्दी के कांप रहा था. एक तो माह का महीना और ऊपर से घनघोर वर्षा. मारे सर्दी के दोनों का बुरा हाल.

पड़ोस के गांव का जमींदार अपने सौतेले भाई के साथ चल रहे मुकदमे में जीत गया था. उसकी हवेली में जश्न मनाया जा रहा था. शराब और कबाब के दौर चल रहे थे. शराब और जीत के नशे में किसी ने दुनाली हवा में चला दी. देखा देखी और भी हवाई फायर होने लगे. रात के सन्नाटे में गोलियों की आवाज गूंज उठी.

घबराकर हरिया का बेटा बोला, "बापू आजकल पता नहीं डाकू आये हैं या पुलिस किसी की खैर नहीं □

सरकारी मेहमानों को विदा कर टुन्नू बाबू मुड़े तो उनकी नजर तार के बाड़ पर चली गयी. वहां कोई बाड़ लांघ रहा था. छाया बाड़ लांघ गयी. मकान के तरफ बढ़ी तो टुन्नू बाबू कड़के, "कौन है?"

छाया आगे बढ़ती गयी. नजदीक आने पर कपड़े दिखाई पड़ने लगे थे. शफ्फाक धोती और कुरता. कोई बूढ़ा है! टुन्नू बाबू फिर गरजे, "कौन है, बोलता क्यों नहीं है?"

छाया चुपचाप आकर सामने खड़ी हो गयी.

"दादा!" टुन्नू बाबू लगभग चीख पड़े.

"हां, टुन्नू!" हरि प्रसाद बाबू ने संकोच से कहा.

टुन्नू बाबू ने झट आगे बढ़कर हरि प्रसाद बाबू का हाथ पकड़ लिया और दालान पर चढ़ गये. दालान पर पड़ी आराम कुर्सी पर हरि प्रसाद बाबू को बिठाया और खुद सामने की सीढ़ी पर बैठ गये.

दोनों में से किसी को सूझ नहीं रहा था कि बात कैसे शुरू करें. हरि प्रसाद बाबू को एक-एक पल पहाड़ लग रहा था. टुन्नू बाबू भी बर्फ की तरह जमे थे. हरि प्रसाद बाबू ने सोचा कितने वर्ष हो गये टुन्नू से बोले-बतियाये! लेकिन बात तो करनी है. हरि प्रसाद बाबू ने गला साफ किया और बिना टुन्नू बाबू की ओर देखे बोले.

"टुन्नू, ज्ञान की शादी में तिलक के पैसे कम पड़ रहे हैं. कोठीवाली जमीन तुम खरीद लो. लेकिन बात खुले नहीं, बस थोड़े दिन.... अशोक जमीन खरीदने के खिलाफ है, वकील ठीक है. लेकिन कब तक बेटी को घर में बिठाये रखेंगे! शादी तो इस बार करनी ही है. तुम उस जमीन को ले लो तो बेटी के भार से उरिन हो जाऊंगा... जमीन तो बाबूजी के नाम से है. तुम चाहोगे तो मां और रामबाबू दोनों से दस्तखत करवा दूंगा."

टुन्नू बाबू यह उम्मीद कर रहे थे कि दादा शायद पटना वाली जमीन के मुकद्दमे में सुलह वगैरह के लिए आये हैं. लेकिन दादा तो जमीन बेचने आये हैं. क्या घर कि हालत ऐसी हो गयी कि जमीन बिकेगी तभी लड़की की शादी होगी?

टुन्नू बाबू को कुछ न बोलता देख हरि प्रसाद बाबू और चिंतित हो गये.

"तुम बोलो कुछ टुन्नू!"

"दादा," टुन्नूबाबू ने आहिस्ता से तौल-तौलकर कहना शुरू किया, "जमीन तो ले सकता हूं, पर गांव है, बात खुलते क्या देर लगेगी?"

"रजिस्ट्री के लिए रजिस्ट्रार को बेगूसराय में डेरे पर बुलवा लेंगे तब कौन जानेगा? शादी के बाद भी अशोक को पता चलेगा तो कुछ बिगड़ेगा नहीं. पहले पूछेगा तो कह देंगे जमींदारी बौंड बेचा है... हालांकि वह तो विभा की शादी में बिक गया था... बहुत करेगा तो अशोक अपने हिस्से में दूसरी जमीन ले लेगा."

टुन्नू बाबू फिर सोचने लगे. अभी दादा को गरज है, अगर मुकद्दमे में भी सुलह हो जाये तो उस झंझट से भी मुक्ति. मौका अच्छा है, कम कीमत में जमीन भी मिल जायेगी.

हरि प्रसाद बाबू की व्यग्रता बढ़ने लगी, "तुम चुप क्यों हो जाते हो?"

"दादा," टुन्नू बाबू फिर संभलकर बोलने लगे, "अभी पैसे की थोड़ी दिक्कत है, केस-मुकद्दमा में भी खर्चा होता है..."

"अरे काहे को छल करते हो टुन्नू! तुम्हें पैसे की क्या दिक्कत है? बढ़िया जमीन है, बोरिंग, पंप, ट्रैक्टर, ट्रक, ठीकेदारी है.... ऊपर से खर्चा नहीं है... अभी ट्रक लिया कि नहीं?... मुकद्दमे में ही खर्चा होता है न, कौन कोर्ट में आगे गया था, मैं कि तुम?.... देखो मेरी इज्जत रख लो! हर हालत में तुम्हें पैसे का बंदोबस्त करना है! ज्ञान तुम्हारी भी तो भतीजी है.... मेरी....", हरिप्रसाद बाबू का गला रुंध गया.

लेकिन टुन्नू बाबू बेरहमी से अपनी चाल चल रहे थे, "दादा, पैसे का कुछ-न-कुछ बंदोबस्त कर लूंगा. पर केस-मुकद्दमे के रहते यह रजिस्ट्री कमजोर पड़ जायेगी और कहीं अशोक अड़ गया...?"

हरिप्रसाद बाबू चुप हो गये. टुन्नू यही चाहता है कि मुकद्दमे में सुलह हो जाये. लेकिन.... उन्होंने अपना जी कड़ा किया और टुन्नू बाबू की ओर मुड़े.

"ठीक है, मुकद्दमे में सुलहनामा हो जायेगा. जमीन रजिस्ट्री से पहले ही सुलहनामे पर दस्तखत करवा लो... पटनावाली आधी जमीन के लिए हम मर नहीं जायेंगे.... अब बोलो, कल पटना चलोगे सुलहनामे

के लिए?.."

"कल ही चलिये!" टुन्नू बाबू अपनी खुशी छिपाने की कोशिश कर रहे थे, "पटना का काम जरा टेढ़ा भी है... वकील, कोर्ट...."

"कल सवेरे वाली बस में सतियारा चौक पर मिलूंगा." हरि प्रसाद बाबू उठने लगे.

"इतने साल पर आये हैं दादा!" टुन्नू बाबू ने हाथ पकड़ लिया, "कम से कम पान ही खा लीजिये." टुन्नू बाबू लपककर अंदर गये और पान का डब्बा उठा लाये.

"लाओ!" पान चबाते हरि प्रसाद बाबू बोले, "रजिस्ट्री के बाद साथ ही महथी चलेंगे. वहीं लड़का है. तुम भी साथ रहोगे, उधर से तय करके ही लौटेंगे. भले एकाध हफ्ता लग जाये."

टुन्नू बाबू हरिप्रसाद बाबू को अंधेरे में जाते देखते रहे. आखिर दादा को यह दिन भी देखना पड़ा.... कहां गया वह घमंड जब कहते थे कि टुन्नू को मंझौल गांव से बाहर निकाल दूंगा! अब अपना ही थूक चाटना पड़ रहा है!

अशोक बाबू ने भी कामरेड की चाय दूकान पर बैठना छोड़ दिया था. लुच्चे-लफंगे के साथ कौन बैठे? रामौतारजी कंपाउंडर हैं, अपने मैनेजर साहब (मुंशी सुदामा लाल) के पड़ोसी और घरेलू आदमी हैं. इलाके के रंगबाजों का इलाज करते हैं. इस तरह के आदमी उनकी दूकान पर बैठते हैं. इससे अशोक बाबू चौक पर रामौतार के पास बैठने लगे. चाय-पान वहीं कर लेते मन भी लग जाता. रामौतार के पास इलाके भर की खबरें होती थीं. अशोक बाबू के घर के पहले ही रामौतार का घर था, उसी सड़क पर. अक्सर दोनों साथ लौटते थे.

"क्या हो गया अशोक बाबू," रामौतार आहिस्ता से फुसफुसाया, "उस दिन हरि प्रसाद बाबू मुंशी सुदामा लाल से जोर-जोर से आपका नाम लेकर कुछ कह रहे थे? बहन की शादी वगैरह बोल रहे थे!"

घर की बात भी फैल गयी! अशोक बाबू चौंक गये.

"क्या कह रहे थे बाबूजी?"

"वही, अशोक खेत बेचने से रोक रहा है! कहता है आप बैठे रहिये, बहन की शादी हम करेंगे!"

"इक्यावन हजार खेत बेचकर दें, इ तो मूर्खता है न! कोई लड़का ठीक मिले, कम पैसा लगे तभी शादी करेंगे, यही मैंने कहा था.... कोठी पर वाली जमीन बिक गयी तो हम कहीं के न रहेंगे, काबर की जमीन का खरीददार मिलता नहीं...."

"तो फिर शादी कैसे होगी?" बुजुर्गों के अंदाज में रामौतार ने कहा.

"वही तो मुश्किल है!"

"लेकिन लड़का तो कैसा भी हो तिलक-दहेज तो लगेगा ही.... आप लड़का भी अच्छा खोजते हैं और पैसा भी खर्च करना नहीं चाहते हैं तब तो पकड़ौआ लड़का ही करना पड़ेगा."

अशोक बाबू चकित रह गये! पकड़ौआ लड़का! पकड़ौआ लड़का! किसी खाते-पीते परिवार के जवान लड़के का अपहरण कर लीजिये और अपनी लड़की से जबरन शादी कर दीजिये, तिलक-दहेज भी बच गया, शादी भी हो गयी. बाद में लड़के वाले लड़की को अपने घर ले जायेंगे ही क्योंकि समाज के लोग कहेंगे— अब जो हो गया सो हो गया. लड़की कब तक मायके में बैठी रहेगी? शादीशुदा लड़के से कौन शादी करेगा? बस सारा झंझट खत्म.. थोड़ा मान-मनौबल चलता ही है. ऐसी शादी धड़ाधड़ हो रही है, मंझौल गांव में ही पिछले साल सात ऐसी शादियां हो गयीं. पकड़ौआ लड़का!

"क्या कह रहे हैं रामौतारजी?" अटकते हुए अशोक बाबू ने कहा.

"अशोक बाबू, इसमें कौन गलत बात है? सब कर रहे हैं! हां, लड़के और उसकी जमीन-जायदाद के बारे में जरूर पता कर लेना चाहिए. शादी के थोड़े दिन बाद किसको याद रहता है कि शादी पकड़ौआ लड़के से हुई थी?"

अशोक बाबू के मन में जबर्दस्त उलझन चल रही थी. क्या बाबूजी इसे बर्दाश्त कर सकेंगे? दादी तो शायद मर ही जाये. खेत बचेगा इसलिए बड़े भैया मान जायेंगे. ज्ञान? औरत को तो जहां डाल दो, वहीं घर बसा लेगी!

"रामौतारजी," अशोक बाबू ने हिचकते हुए पूछा, "ऐसा कोई लड़का आपकी नजर में है?"

"है. मेरे भगना (भांजा) रमेश के साथ बेगूसराय कालेज में पढ़ता है. सिमरिया गांव का है. पुरबी सिंह का बेटा. प्राण कुमार नाम है. तीस बीघा जोत का जिम्मेदार है. तंदुरुस्त और पढ़ाई में ए-वन!...."

"आप तो बहुत खोज-खबर रखते हैं!"

"नहीं रखें तो काम कैसे चलेगा? पिछले साल बरियारपुर वाले संतोखी सिंह को एक लड़का करवा दिया कि नहीं? अभी तक एहसान मानता है बेचारा!" रामौतार की गर्दन गर्व से तन गयी, "बस यही कोई तीन हजार खर्चा होगा लड़का लाने में और शादी में दो हजार, जेवर-जात तो घर में होगा ही.... बाद में लड़की वाले दस आदमी से बाराती लेकर आयेंगे, पांच हजार और खर्च कर दीजिये! दस हजार में काम खत्म!"

"बस्स?" आश्चर्य से अशोक बाबू ने पूछा.

"त और क्या? बाकी हरि प्रसाद बाबू की सोच लीजिये... इज्जत के लिए वे घूर-धूर बेच देंगे.... ऐसे रोबियल आदमी हैं!.... पर एक बार जो हो जाता है तो सब ढंढा हो जाता है.... वे भी मान जायेंगे."

चलते-चलते अशोक बाबू रुक गये. अगर बाबूजी के पीछे यह शादी हो जाये, तो काम बन जायेगा. सरमेरावाली दुलहिन को मनाना पड़ेगा... उ तो मान ही जायेगी. भैया को बाद में खबर कर देंगे.

रामौतार भी सायकिल संभाले रुक गया था, "क्या सोचने लगे अशोक बाबू?"

"कोई लगन (लग्न) इधर है रामौतारजी?"

"बिल्कुल है आज शुक्कर है न, बुध

दृष्टि

अशोक गुजराती

लोग रुकते थे उसके बनाये चित्रों को एक नजर देखते थे और आगे चल देते थे कल से यही हो रहा था.

आज फिर दोपहर की तपती धूप में फुटपाथ पर कुछ जगह साफ कर उसने छोटी-छोटी आकृतियां बनायी थीं. अपनी अंतड़ियों में भूख की कुलबुलाहट महसूस करते हुए उसने सुना...

"बादाम हैं."

"नहीं, आंखें हैं."

"हट, पत्ते हैं पत्ते!"

"गलत, मछलियां हैं."

"बेट! दीये न हों तो..."

इन आवाजों से बेखबर वह उन आकृतियों में गेहूंआ रंग भरने लगा... □

की लगन है."

"ठीक है," अशोक बाबू ने राजभरे अंदाज में कहा, "बाबूजी पटना गये हैं, हफ्ता भर बाद आयेंगे. इसी बीच... कल सबेरे बेगूसराय चलिये."

"देखिये, हमको भी रोजी-रोटी देखना है.... ऐसा कीजिये कि आप सिमरिया जाकर, पता कर चार बजे बरौनी लॉज में चले आइये. जी.डी. कालेज के पच्छिम में है, वहीं मिलूंगा. लड़का भी देख लीजियेगा. और लड़का लाने वाला आदमी भी ठीक कर लेंगे... बस साथ में तीन हजार रुपया ले लीजियेगा... सबको देना होगा."

"सब पैसा एडवांस?" अशोक बाबू शंकित हुए.

"काम नहीं होने पर मैं देनदार रहूंगा. मैं लौटा दूंगा!"

"तब ठीक है.... आप तो अपने आदमी हैं, फिर क्या डर है!"

पूरे रास्ते अशोक बाबू को लगता रहा कि वे बहुत हल्के हो गये हैं और अचानक उनकी कल्पाशीलता बढ़ गयी है. उनकी खुशी पर सिर्फ एक ही अंकुश था– अगर सब ठीक-ठाक हो गया तो... घर के पास आते ही खयाल आया कि रामजी कहार से अनाज बेचने के बदले पैसा ले लूं, कल तो पोस्ट आफिस जाना मुश्किल है. बस, हवेली में घुसने के बजाय रामजी कहार के घर की तरफ चल पड़े.

रामजी फुलेना से बतिया रहा था. अलग ले जाकर पैसे के बारे में बात की. थोड़ी देर सड़क पर खड़े रहे और रामजी ने चार हजार रुपये अंधेरे में दे दिये और अशोक बाबू प्रसन्न मन हवेली की तरफ बढ़ गये. न जाने कौन-सा गीत वे आहिस्ता-आहिस्ता गुनगुना रहे थे. हवेली में घुसते ही याद आया– दुल्हिन से कुछ नहीं कहना है!

कालेज के पीछे वाली सड़क और मेन रोड के तिराहे पर चाय की दूकान के सामने जैसे अशोक बाबू पहुंचे कि रामौतार की आवाज सुनायी पड़ी, "अशोक बाबू! यहां चाय की दूकान में आइये."

सड़क के नीचे उतरकर आये तो चाय की दूकान में रामौतार एक अजनबी के साथ बैठा था. दोनों के हाथ में चाय का गिलास था. अजनबी ने मटमैली शर्ट और धोती पहन रखी थी. कंधे पर लाल अंगोछा. गोरे माथे पर हनुमानजी का लाल टीका.

"ए बुढ़िया, एक चाय और दो." रामौतार ने अशोक बाबू की तरफ इशारा किया.

"नहीं, रहने दीजिये, इ गरमी में चाय!"

"क्या पता लगा?" रामौतार ने तुरंत पूछ लिया.

अशोक बाबू ने संकोच और संशय से अजनबी को देखा. रामौतार तुरंत भांप गया, "इ अपने आदमी हैं, इन्हीं की मदद से तो इ काम होना है... टैक्सी चलाते हैं नाम तो असल दूसरा है, पर टैक्सी स्टैंड में सब टाटा सिंह के नाम से जानते हैं. एकदम एकलौटी (ए क्वालिटी) डराइवर अ हिम्मत वाले आदमी." फिर रामौतार ने टाटा सिंह से मुखातिब होकर कहा, "इहे न अशोक बाबू हैं जिनका काम आपको करना है."

"सिमरिया जाकर क्या पता लगा? टाटा सिंह ने गिलास बेंच के नीचे रखते हुए पूछा.

"ठीक है, रामौतारजी ने जैसा बताया था, वही है. रिश्तेदारी भी पता लग गया. लड़के की ननिहाल बरौनी गांव में है. एक बहन सदानपुर और दूसरी बछवाड़ा में ब्याही है. अच्छा घर है. बाप पूरबी सिंह बड़े अच्छे रामायणी हैं. सज्जन आदमी हैं. बाद में मान जायेंगे." अशोक बाबू धीरे-धीरे खुले, "देखते नहीं हैं, धूल से एकदम भरा गया, बहुत दूर कच्ची सड़क है सिमरिया जाने में. ऊ तो लौटते समय में जीरो माईल में खाना खा लिया, नहीं तो भूखे मर जाता."

"अच्छा अब हमरा सुनिये, लौज में कोई नहीं है." हमरा भगना (भांजा) रमेश भी नहीं है. कालेज में कुछ फंक्शन है. चलिये, वहीं हाल से निकलेगा त मिल लेंगे. इनको भी प्राण कुमार को चिहा (पहचान) करवा देंगे. लॉज त इ देखे लिये हैं, चार नंबर कमरा में रहता है... ऊ मकान देख रहे हैं, वहीं बरौनी लॉज हैं. रोडवे पर ऊ चार नंबर कमरा... बाहर में गमछा सूख रहा है..." रामौतार ने इशारा किया.

"हां, समझ गये!" नजर पड़ने के बाद अशोक बाबू ने कहा.

"वहीं से लड़के को उड़ाना है. इनको सब समझा दिया है. बुधवार को लगन (लग्न) है... अच्छा, अब चलिये, वहीं हाल के गेट पर रहेंगे."

अशोक बाबू ने चाय का पैसा देने जेब में हाथ दिया तो रामौतार ने हाथ पकड़ लिया. टाटा सिंह ने झट से एक अठन्नी बुढ़िया के सामने फेंक दी.

"सिंघजी, काम कैसे होगा?" उत्सुकता से अशोक बाबू ने पूछा.

"देखिये, मेरा गाड़ी हैइये है, हम खुदे चलायेंगे, तीन-चार जवान को ले लेंगे, साथ में विश्वकर्मा रहेगा..." टाटा सिंह सरलता से बताने लगा.

"विश्वकर्मा?" अशोक बाबू ने टोका.

"पिस्तौल को विश्वकर्मा कहते हैं, गोली को दाना... लड़का बाहर निकलकर जइवे करेगा, खाना-खाने, चाय पीने... नहीं तो जाकर बाहर बुलायेंगे, जैसे बाहर निकला कि लेकर उड़ान दे देंगे. मंझौल में कंपाउंडर साहेब यहां रखेंगे. इ आपको खबर देंगे... आप शादी का इंतजाम कीजियेगा... एकदम टैम से लड़का लेकर पहुंच जायेंगे. शादी कराकर भोज-भात खाकर लौट जायेंगे."

"जरा संभलकर करना होगा!" धड़कते दिल से अशोक बाबू ने कहा.

"हम लोग संभलकर ही करते हैं... हर लगन में दु-चार लड़का उठाते ही हैं. सब ठीके रहेगा... पैसा लेते हैं त काम भी फाइनल करते हैं. टाटा ट्रक कभी फेल करता है! वैइसे टाटा सिंह भी फेल नहीं." टाटा सिंह ने मूंछ पर हाथ फेरा और तनकर चलने लगा.

रात में खाना खाकर बिस्तर पर लेटे थे कि दुलहिन आ गयी. टेबल पर पड़े साड़ी के
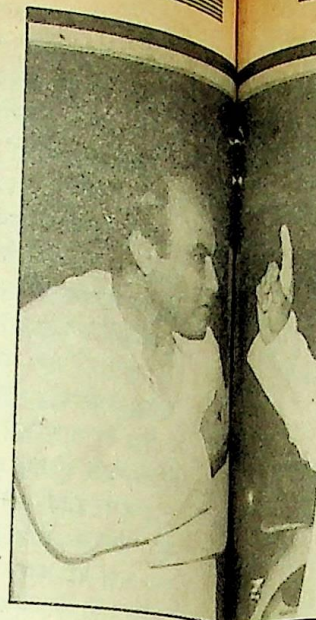
पैकेट को देखकर चौंक पड़ी.

"काहे ये साड़ी ले आये?"

"दरवाजा बंद कर दो तब बताऊंगा!" मुस्कराकर अशोक बाबू ने कहा.

"बड़े आये बताने वाले! हरदम एक ही बात!" मादकता से दुलहिन मुस्करायी और दरवाजा बंद कर दिया. बगलवाले पलंग पर सोये बच्चों पर एक नजर डाली. टेबुल पर पड़े ट्रे से एक इलाइची अशोक बाबू के हाथ में रखकर, पायताने बैठ गयी.

"कल ज्ञान की शादी होगी. साड़ी उसके लिए और तुम्हारे लिए भी है!" गंभीर आवाज में अशोक बाबू ने भेद खोला.

आश्चर्य से दुलहिन की आंखें फटी रह गयीं. दुलहिन के भरे मुंह पर अविश्वास की गहरी छाया थी. कमरे में जैसे बिजली चली गयी हो. आशंका, भय, अविश्वास घुल मिलकर मौन में बदल गये थे.

"कल लड़का दस बजे रात में आ जायेगा. तुम जौनावाली को बुलवा लेना, मुहल्ले में वही खबर कर देगी. पंडिज्जी को सत्यनारायण पूजा के लिए कह आया हूं. पूजा होती रहेगी. लड़का आयेगा उसी जगह शादी हो जायेगी." अशोक बाबू ने ही पहल की.

दुलहिन के मुंह से फूटा, "पकड़ौआ लड़का?"

"हां! घर-बार देख आया हूं. भाई में अकेला है. जमीन-जायदाद है. सिमरिया का है." अशोक बाबू को लगा पूरी बात नहीं करनी चाहिए. रुककर बोले, "तुम्हें हमारी, रिंकू-टिंकू की कसम शादी के पहले यह सब किसी को नहीं बताओगी. सिर्फ सत्यनारायण की पूजा के लिए जौनावाली से सबको हंकार (आमंत्रण) भिजवा दोगी. पूजा के लिए केला, दूध, सबका इंतजाम कर आया हूं. कल पूजा का सामान ले आऊंगा... एक बात और... ज्ञान से बोल-चाल शुरू करो." आखिर तक आते उनकी आवाज तन गयी.

"लेकिन बाबूजी? दादी?... ज्ञान बबुनी मानेगी!"

"बाबूजी तीन दिन बाद आयेंगे. दादी बिस्तर पर पड़ी रहती है. वो तो कब से चाहती है कि शादी हो जाये... अ ज्ञान क्या बोलेगी?"

"कम से कम विभा बबुनी को ले आते."

"अकेला मैं यह सब इंतजाम देखूंगा कि विभा को लाने जाऊंगा?"

"मुझे तो बड़ा डर लगता है!" दुलहिन ने पास सरकते हुए कहा.

"देखो," अशोक बाबू ने दुलहिन का हाथ आपने हाथ में लेते कहा, "यह सिर्फ हिम्मत का काम है... तुम तो पढ़ी-लिखी हो... हमें अंत तक हिम्मत बनाये रखना होगा... सब काम हो जायेगा."

"तुम कहते तो भरोसा हो जाता है, पर अकेले में घबड़ा जाती हूं." अशोक बाबू ने बांह बढ़ाकर दुलहिन को अपने में समेट लिया.

"तुम्हें अकेली छोड़ना कौन चाहता है!" अशोक बाबू बुदबुदाये.

छोटी दुलहिन कसमसायी. लेकिन सब बेकार.

रामौतार के दालान से लगे अंदरवाले कमरे में रामौतार, टाटा सिंह और पहला बैठे थे. दूसरा और तीसरा लड़के के पास दवाखाने में थे. तीनों के सामने चौकी पर गिलास में शराब भरी थी. रामौतार अपनी बीड़ी फूंक रहा था.

"इ क्या? लीजिये सिगरेट पीजिये." पहले ने कहा.

"इनका सब दिन का आदत है. सुट्टा पर सुट्टा... इस्टेंडर से इनको मतलब नहीं पर हाथ डाक्टर से भी बढ़िया. ऐसन हाथ कि... रमचंदरा का गोली चट से निकालकर फेंक दिया... .. बड़का डाक्टर भी फेल." टाटा सिंह ने गिलास उठाया और गटाक से पी गया.

"इहां कोई आयेगा त नहीं?" पहला बोला.

"आदमी तो छोटा हैं, पर रुतबा बड़ा है. इ लड़का, टाटा सिंह, जानते हो गांव के सबसे बड़े आदमी हरि प्रसाद बाबू के लिए आया है...... तेल लगाते हैं सब बड़का... पेट गिराने से लेकर लड़का उठाने तक." रामौतार चहका.

"ओस्ताद, कब तक रहना पड़ेगा?"

"साले पी. लड़के को पहुंचा देंगे. शादी हो जायेगी. हम लोग चल देंगे..."

"कंपाउंडर साहेब, लड़कवा को भी कुछ खिला-पिला देते. अब त दमाद बनेगा ही." टाटा सिंह ने याद दिलाया.

"अभी आठ ही बजे हैं. पहले खिलाओ-पिलाओ तो नखरा करेगा... नौ बजे कुछ खिला देंगे... कपड़ा मोर-मुकुट पहनाकर सीधे वहीं ले जायेंगे." रामौतार ने सोचते हुए कहा.

"ए!" टाटा सिंह ने पहले को टोका, "तुम जाकर दूसरे को भेजो. तुम वहीं रहना ऊ लोग भी खा-पी लें."

पहला उठा और चला गया.

रामौतार को चढ़ने लगी थी. टाटा सिंह को भी नशा महसूस होने लगा था. दूसरा भी पीकर चला गया था. तीसरा उनके साथ बैठा पी रहा था. रात संगीन होने लगी थी. बाहर एकदम अंधकार था. दवाखाने से भी रौशनी बाहर नहीं झांक रही थी. टाटा सिंह और रामौतार काफी विलायती चढ़ा चुके थे. तीसरे ने टोका.

"ओस्ताद!"

"क्या है?" मस्त टाटा सिंह ने मनचले अंदाज से पूछा.

"अब बस करिये. अभी और काम भी है!" तीसरे ने राय दी.

"कंपाउं... डर साहेब...... अपना काम फतह! दो हजार नोट खड़ा.... अब लड़की वाला अपना शादी का इंतजाम करें... उहां चलकर गाड़ी-भाड़ा दिलवाइये.... दिनभर का.... लगन का टैम है... रिस्की काम... आठ सौ लगेगा, कम नहीं!" लड़खड़ाती जुबान में टाटा सिंह बोला.

"इ सब हो जायेगा.... कभी आपको कम दिया है...?" रामौतार ने तसल्ली दी.

"ओस्ताद, अब चलिये!" तीसरे ने कहा.

"एक मिनट." कहकर रामौतार उठ गया. अंदर जाकर थाली में मिठाई ले आया. कंधे पर कुर्ता-धोती. दूसरे हाथ में मोर-मुकुट, "इ आप लोग ले जाकर खिला-पिला दीजिये... कपड़ा पहनवा दीजियेगा. मोर-मुकुट माथे पर रखकर गाड़ी में ले आइयेगा....," रामौतार ने ताईद करना शुरू किया.

बीच में ही टाटा सिंह ने टोका, "आप भी चलिये."

"इह, साला हमको पहचान लेगा. उसी लॉज में मेरा भगना रहता है.

इ ठीक नहीं होगा. आप लोग उसको लेकर वहां आइये. हम वहीं मिलेंगे." रामौतार ने समझाया.

"हां, इ ठीक है. चलो." टाटा सिंह ने तीसरे को इशारा किया. तीसरे ने सामान उठाया और टाटा सिंह के पीछे-पीछे दवाखाने की ओर बढ़ा.

रामौतार ने दालान के नीचे पड़ी सायकिल उठायी और सर्र से निकल गया. लेकिन सायकिल हरि प्रसाद बाबू की हवेली की तरफ जाने के बजाय बाजार की तरफ मुड़ी. वहां जाकर वह पान खाना चाहता था ताकि मुंह से शराब की निकलती बदबू को ढंक सके.

दवाखाने की खिड़की बंद थी. परदा झूल रहा था. कमरे में छोटा बल्ब जल रहा था. बीमारों के लिए रखी चौकी पर लड़का लेटा था. मुंह ढंका था. मुंह में कपड़ा वैसे ठूंसा था. पहला और दूसरा दो स्टूलों पर बैठे सिगरेट पी रहे थे. दोनों नशे में कुछ-कुछ उनींदे लग रहे थे.

"खोल दो!", टाटा सिंह ने घुसते ही कहा. लाल अंगोछे से उसने अपना आधा चेहरा ढंक रखा था.

दूसरा ने उसके मुंह से ठूंसा कपड़ा बाहर निकाला. पहले ने आंखों पर बंधा कपड़ा खोल दिया. पलकों पर रोशनी महसूस होते ही लड़के ने आंख खोलीं. चार मुस्टंडों को देखकर चीख आते-आते रुक गयी. उसने होंठों पर जुबान फेरी और रूमाल से बंधे हाथों को उठाने की कोशिश की. तीसरे ने लपककर रूमाल खोल लिया.

"निकालो!" टाटा सिंह ने तीसरे से कहा.

"विश्वकर्मा!"

तीनों ने अपनी पिस्तौलें निकाल लीं.

"अब खिलाओ-पहनाओ....मैं गाड़ी देखता हूं." झूमता टाटा सिंह बाहर निकला और गाड़ी में जाकर चाभी घुसाने की कोशिश करने लगा. नशे में गाड़ी की ताली का छेद भी उसे दिखायी नहीं पड़ा. वह थककर स्टीयरिंग के सहारे सुस्ताने लगा.

दवाखाने में लड़का उठकर बैठ गया था.

"आप लोग क्यों लाये हैं... मैंने क्या बिगाड़ा है?" लड़के का गला खुश्क था.

"कुछ नहीं! यह देखते हो!" तीसरे ने पिस्तौल की ओर इशारा किया, "जो कहते हैं चुपचाप करते जाओगे तो कुछ नहीं. नहीं तो..."

"क्या चाहते हैं आप लोग?" डरे लड़के ने धीमे से पूछा.

"तुमको शादी करनी है! बस!" पहले ने कहा.

"इसमें घबराने की बात नहीं, शादी होगी, फांसी नहीं.... लो खाओ!" दूसरे से सख्ती से कहा.

"भूख नहीं है..." हाथ जोड़कर उसने कहा, "मुझे जाने दीजिए... यह सब नहीं होगा."

"कहते हैं खाओ.... साला नखड़ा कर रहा है... खाओ जल्दी!" पहले ने डांटा और उंगली के इशारे से थाली की ओर बताया.

तीसरे को गुस्सा आ गया, "खाता है कि नहीं?... यहां तेरा बाप भी नहीं आयेगा! जल्दी कर, कपड़ा भी पहनना है."

लड़के ने हाथ बढ़ाकर कपड़ा उठाया. थमा. डबडबायी आंखों से उसने तीसरे को देखा.

"आप लोगों को गलतफहमी हो गयी है.... हम लोगों के जात में इ सब नहीं होता है!"

"चोप्प साला! हमको सिखाता है! जल्दी कपड़े पहन." तीसरा गरजा. पहला लड़के को मारने लपका. दूसरे ने रोक लिया, "पहन लेगा! छोड़ दो."

जैसे घड़ी की सूइयां थम गयी हों. जैसे कोई धीमी गति की फिल्म चल रही हो. आतंक गिद्ध की तरह चुपचाप कमरे में मंडरा रहा था. लड़के ने धीरे-धीरे कपड़े पहने. अपने शर्ट-पेंट को तह लगाकर रखने लगा.

"रहने दो इसे! पानी लो, हाथ-मुंह धोओ. जल्दी!" दूसरे ने लड़के को सलाह दी.

हाथ-मुंह धोकर लड़के ने इतना कातर हो देखा जैसे कोई बकरा कसाई को देखता है. वह चुपचाप खड़ा रहा मानो इंतजार हो कि अब क्या हुकुम है!

"बबुआ, शादी में खाने की कौन पूछेगा? खा लो! दूसरे ने लड़को को राय दी.

लड़का झुका, चौकी पर बैठ गया. आहिस्ते से उसने मिठाई उठायी, मुंह तक ले जाता कि गला रुंध आया और आंखों से आंसू बहने लगे. हाथ रुक गया.

"औरत की तरह नहीं", मर्द बन! शादी में लड़की रोती है. चल खा." पहले ने रोब जमाया.

"क्यों डांटता है बेचारे को. इतना सीधा लड़का है." दूसरे ने पहले को डांटा.

लड़का उठ खड़ा हुआ. उसकी टांगें कांप रही थीं. चेहरे पर हवाईयां उड़ रही थीं. चेहरा सूखे फूल की तरह खुश्क था. सांवला रंग और गहरा हो गया था.

"असली चीज पहनाओ." दूसरे ने मुकुट की ओर इशारा किया. तीसरा आगे बढ़ा और अंगोछे में लिपटे मुकुट (सेहरा) को उठाया. लड़के के सामने लाया. पर तीसरे के दोनों हाथ फंसे थे. दूसरे ने संभालकर अंगोछा हटाया. तीसरे ने मुकुट को थोड़ा और आगे बढ़ाया.

"लो, पहनो!"

लड़के को जैसे पंख लग गये हों. एक झपाटे से बाहर भागा. पहला धक्के से कोने में गिर पड़ा तीसरा संभल गया. दूसरे ने लपककर उसकी कमर पकड़ ली. खींचकर उसे पीछे लाया. और गुस्से में एक धक्का दिया. लड़का धम्म से चौकी पर बैठ

लघुकथा

बदलते-तेवर

□ बिंदु सिन्हा

रात्रि का प्रथम प्रहर:

ऊंची भव्य अट्टालिका के अंदर मखमली सेज पर गृहस्वामी आराम फरमा रहे थे. बाहर सुरक्षा के लिए प्रहरी तैनात था. खंखारकर उसने अपनी उपस्थिति जतायी. गृहस्वामी ने अलस भाव से करवट बदलते पूछा, "कौन है रे पहरे पर?"

"हम हईं सरकार खखनुआ." प्रहरी का दीन स्वर उन्हें आश्वस्त कर गया.
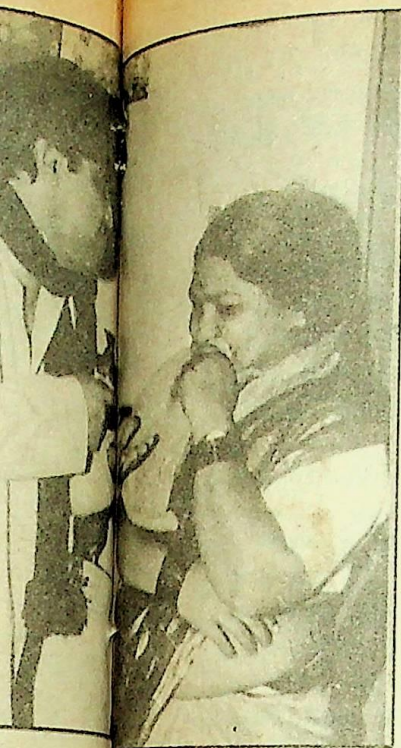
शीघ्र ही गहरी निद्रा में लीन हो खर्राटे भरने लगे.

रात्रि का दूसरा प्रहर :

पहरा बदला. दूसरे व्यक्ति ने अपनी उपस्थिति जताने के लिए जोर से लाठी खटखटायी. गृहस्वामी की नींद में व्यवधान पड़ा. करवट बदलकर खीझे स्वर में बोले, "कौन है बाहर?"

उत्तर मिला तेज तर्रार स्वर में, "हम हैं कैलाश सिंह?"

स्वर के बदलते तेवर ने उन्हें चौंका दिया. त्रस्त से उठकर बैठ गये. आने वाले कल की तस्वीर उन्हें साफ दिखलायी पड़ने लगी. आंखों की नींद उड़ गयी. उठकर टहलने लगे. टहलते रहे सारी रात... □

गया.

"बेवकूफ! मारा जायेगा!" दूसरे ने अफसोस भरे स्वर में डांटा.

पहला उठ गया था. तीसरे को परे हटाता आगे आया और लपककर लड़के को जन्नाटेदार थप्पड़ जड़ दिया.

दूसरे ने रिवाल्वर निकाल ली थी. लड़के की ओर रिवाल्वर करते उसने कहा, "इसे देखते हो, एक गोली तेरे लिए काफी है! तुम कहां हो, तुम्हें पता भी है! मारकर फेंक दूंगा, समझे!.... चलो इसके सिर पर मुकुट डालो."

तीसरे ने मुकुट उसकी तरफ बढ़ाया कि लड़का फूट-फूटकर रोने लगा, "मैंने क्या बिगाड़ा है? मुझे शादी नहीं करनी... मुझे छोड़ दीजिये...मुझे...."

लड़के की बातें आंसुओं में डूब गयीं.

अचानक गाड़ी का हॉर्न सुनाई पड़ा. अशोक बाबू चौंक पड़े. "आ गये." कहते दालान की तरफ लपके. टाटा सिंह दालान पर आते अशोक बाबू को देखकर मुस्कराया, "परनाम अशोक बाबू, दुल्हा आ गये. .....अब फटाफट कीजिये."

"रामौतारजी कहां हैं?" अशोक बाबू ने पूछा.

"ऊ नहीं आये.... थोड़ी देर पहले निकले साईकिल से... पान-बीड़ी के फेर में गये होंगे चौक पर.... परिछन करवाइये."

उद्विग्न अशोक बाबू अंदर भागे. कमरे में ले जाकर दुलहिन को समझाया जौनावाली को आवाज देकर बुलाया, "ए जौनावाली, ज्ञान की शादी अभी होगी. लड़का अपने से आ गया है... तुम जरा हंकार दे आओ अगल-बगल में... बात चल रही थी, हम सोचे भी नहीं थे कि लड़का अपने से आ जायेगा... जाओ, जल्दी से जाओ, तुम विधि-व्यवहार शुरू करो." अशोक बाबू का अपराधबोध जागने लगा था.

"परिछन अकेले?" दुलहिन ने शंका प्रगट की.

"हां! ग्यारह बजता है! एक दम शॉर्ट कट से करो. धीरे-धीरे सुआसिन (सुहागिन पड़ोसन) आ जायेंगी."

"ज्ञान को कहना पड़ेगा?" दुलहिन ने फिर अशोक बाबू को घेरा.

"चलो! तुम नहीं तो मैं ही कह देता हूं." चल पड़े अशोक बाबू. ज्ञान आंगन में चौकी पर बैठी थी. पंडितजी नल पर हाथ धो रहे थे. पंडितजी जैसे पलटे कि अशोक बाबू को सूझ गया.

"पंडितजी, अभी जाइयेगा नहीं. अभी ज्ञान की शादी भी करानी होगी. लड़का दरवाजे पर आ गया है. देखिये संयोग," हंसे अशोक बाबू.

"अभी?.... विधाता का लेख.... लड़का भी दरवाजे. यजमान आज लगन भी बहुत शुभ है." पंडितजी अंगोछे से हाथ पोंछने लगे. ज्ञान धीरे से अपने कमरे चली गयी. दादी के कमरे में जा नहीं सकती थी, अशोक बाबू वहीं खड़े थे.

अशोक बाबू दादी के कमरे में घुसे.

"प्रसाद लिया दादी?"

"के? अशोक." दादी चौंककर बोली.

"देखो पूजा का चमत्कार! एक लड़का देख के आये थे. बाप बहुत पैसा मांगता था... सिमरिया का है... लड़का आदर्शवादी. अपने गाड़ी से शादी करने चला आया... बाबूजी भी नहीं हैं.... अभी शादी होगी... सब तोहर आर्शीवाद दादी!" अशोक बाबू ने दादी के पांव छूए.

"इ जमाना में ऐसन? लड़का कहां है? " आश्चर्य से दादी ने पूछा.

"दालान पर? अपना नया कपड़ा-लत्ता खुद पहनकर आया है... ज्ञान का भाग."

"दुलहिन को बुलाओ... जाके जल्दी से ज्ञान को अपना वाला नया साड़ी निकालकर दे. जौनावाली को सुआसिन सबको बुलाने भेजो... हे भगवान इ कलियुग में आश्चर्य! जा बबुआ... जल्दी कर... हम तो किसी लायक नहीं हैं... " दादी की आंखों से आंसू बहने लगे. अशोक बाबू दुलहिन के कमरे की तरफ बढ़े. दुलहिन के हाथ में नयी साड़ी थी.

"जाकर जल्दी से ज्ञान को तैयार कराओ!"

"आम-महुआ बियाह होगा कि नहीं?"

"आम-महुआ बियाहने से क्या होता है? बियाह होना चाहिए..." फिर आवाज धीमी पड़ गयी, "पकड़ौआ बियाह में लोग विधि देखते हैं? बस जल्दी करो."

पंडितजी ने पूछ लिया, "यजमान, विधि-व्यवहार का सब सामान तो होवे करेगा?"

"सब घर में है, पंडितजी. बस जल्दीबाजी में करा दीजिये... जो दक्षिणा कहियेगा दे दूंगा." अशोक बाबू भागे दालान पर.

कमरे में ज्ञान सूनी आंखों से एक मात्र खिड़की की तरफ देख रही थी. आंखों में आंसू और हृदय फटा जा रहा था. अंदर एक ज्वार कुलांचे मार रहा था. दर्द का ज्वार जैसे कोई लगातार हृदय को छेद रहा हो. पिटी, लाचार ज्ञान जैसे विक्षिप्त हो गयी हो. सब कुछ बेतरतीब.

यह कैसी शादी है? बाबूजी नहीं, बड़का भैया नहीं, विभा दीदी नहीं. यह शादी सबके रहने पर नहीं हो सकती थी? किसी को कुछ पता नहीं. छोटी भाभी, भैया बस. वे ही सब जानते हैं. यह सत्यनारायण पूजा पूरा नाटक! जरूर कहीं से लड़का पकड़कर ले आये हैं. भाभी भी नहीं बोली. अचानक हंसी-मजाक करने लगी. कल तक तो बोलती भी नहीं थी. उसको जरूर पता था. क्या करे, किससे कहे... कहने से भी कौन सुनेगा... कुंवारी लड़की की कौन सुनता है... दादी... दादी क्या करेगी, अपाहिज, मुंहताज... पागल क्या करेगी.

भाग जाये! कहां? किसके भरोसे, इस आधी रात में? भैया आंगन में. कौन भागने देगा? लड़की क्या हाट पर बिकता हुआ बैल है? किसी खूंटे से दूसरा बैल लाओ, जोड़ी मिला दो!

किस आशा में बंधी बैठी रही तू? बाबूजी, भैया

विभा के दुःख की सोच-सोच ज्ञान का गला भर आया. हाथ की पोटली को उसने कलेजे से लगा लिया. ओढ़नी के सिरे से अपनी आंख पोंछती पाये के सहारे बैठ गयी. ज्ञान के अंदर दूध मथने वाली मथनी चल रही थी. दीदी ठीक कहती थी—बाबूजी को पूरा तिलक नहीं देना था तो किसी गरीब के घर बिठा देते. कम से कम रोज ताना तो नहीं सुनना पड़ता....

लड़का ढूंढेंगे. धूम-धाम से शादी होगी. रोती-बिलखती ससुराल जायेगी. रो, बिलख. शादी से पहले रो... बाद में भी रोते रहना. सारी उम्र रोने को पड़ी है. औरत के पास क्या है रोने के सिवा? कमजोर, अपनी जंजीरों में कैद. तू औरत क्यों हुई? अपमान, लांछना आंसू के लिए?

"बबुनी!" दुलहिन ने पुकारा.

ज्ञान कुछ बोली नहीं. दुलहिन पास चली गयी. ज्ञान की आंख से आंसू तेजी से डबडबा आये. दुलहिन सहम गयी. धीरे-धीरे ज्ञान के बदन से सट गयी. ज्ञान ने फरियादी की तरह दुलहिन को देखा. दुलहिन की भी आंखें भीग गयीं.

"लो बबुनी, इसे पहन ले." दुलहिन का हाथ ज्ञान के माथे पर फिरने लगा. ज्ञान दुलहिन की कोख से सट सुबकने लगी.

"अब कुछ नहीं होगा, बबुनी. पहन लो... सुआसिनें आती होंगीं." कहकर दुलहिन तेजी से कमरे से निकल गयी.

आंगन में लड़कियां, सुहागिनें आने लगी थीं. उनींदी. बिना बनाव-सिंगार के. सब कुछ फीका. खुले आंगन में विवाह-मंडप. मंडप बिना छत के. जल्दी-जल्दी चावल पीसकर, घोलकर सजावट की जाने लगी.

दुलहिन ने सुहागिनों के साथ दालान पर जाकर दूल्हे को गाड़ी से उतारा. परंपरागत ढंग से बलैयां लेती बिना उत्साह के बेसुर में गीत गाती महिलाओं ने दूल्हे को आंगन में विवाह-स्थल पर बिठा दिया. अशोक बाबू ने दो कुर्सियां दूल्हे के थोड़ा पीछे रखवा दीं. दोनों मुस्टंडे जमकर बैठ गये. पूजन-हवन चलने लगा. ढंकी-मुंदी ज्ञान को दूल्हे के बगल में बिठा दिया गया.

बाहर टाटा सिंह, पहला और अशोक बाबू पान चबा रहे थे.

पंडितजी ने लड़के का नाम पूछा.

लड़का चुप.

तीसरे ने कहा, "शरमाते हैं, प्राण कुमार, बाबूजी का नाम पूरबी सिंह मूल दीधवै गोत्र शांडिल्य."

एक लड़की चहकी, "दूल्हा बोलिये न! गूंगे हैं क्या?"

"चुप रह, कैंची सन कचर-कचर करती है!" एक सयानी महिला ने उसे डांट दिया.

बीच में अशोक बाबू आये. कन्यादान की रस्म निभाकर चले. धुएं से आंख मलते. रति और कामदेव की परंपरागत अनुकंपा के बगैर जीवन का मधुरतम कार्य, विवाह विश्वकर्मा यानी पिस्तौल की कृपा से संपन्न हो गया.

दालान पर रामौतार सोये रहे. नशे में डूबे. जाने के समय टाटा सिंह ने जगाने की कोशिश की. बेकार. तीनों मुस्टंडे टाटा सिंह के पास खड़े थे.

"गिन लिया न ठीक से?" अशोक बाबू ने हाथ जोड़े पूछा.

"ठीक होगा अशोक बाबू! कंपाउंडर साहब को बता दीजियेगा कि हम लोग चले गये."

"बाद में कोनो बात हो तो टैक्सी स्टैंड में आकर मिलियेगा. हम लोग सब ठीक कर देंगे." टाटा सिंह ने झूमते हुए आश्वासन दिया.

"बस एक ही शिकायत." अशोक बाबू का हाथ अभी तक जुड़ा था.

"क्या?" टाटा सिंह ने चौंककर पूछा.

"आप लोगों ने ठीक से खाया-पिया नहीं?"

"इह! कंपाउंडर साहब ने अंग्रेजी पिला दिया. अपने लुढक गये. हम लोगों को ओर क्या चाहिए..." टाटा सिंह हंसने लगा, फिर गंभीरता से बोला, "अशोक बाबू.... अब इ तो अपना घर है, आना-जान लगा रहेगा... अच्छा परनाम." टाटा सिंह गाड़ी में बैठ गया.

तीनों मुस्टंडे भी गाड़ी में बैठ गये. देखते ही गाड़ी हवेली से बाहर.

अशोक बाबू ने दालान की कुर्सी पर बैठकर एक गहरी सांस ली. सब संयोग ठीक. जैसे सोचा वैसा हुआ. शरीर एकदम हलका, नशीला लग रहा था. मंद-मंद हवा उनको रुई के भीगे फाहे की तरह छू रही थी. सीढ़ी पर गूंगा बंधु बैठा था. सामने चांदनी रात में खुले मैदान की ओर देखता. अशोक बाबू को बंधु बहुत महत्वपूर्ण लगने लगा. कल इसे भी नये कपड़े ला दूंगा. प्रसन्नता, सफलता ने अशोक बाबू को उदार बना दिया था. अब त सब हो गया. शादी हो गयी. बाबूजी, बड़का भैया, दुल्हे का बाप सबको मनाना? इतना हुआ, सब हो जायेगा. समय सबका ईलाज है. दो-चार दिन गांव में चर्चा होगी. सुनने कौन जाता है? घर से निकलने की क्या जरूरत है? दो-चार दिन के बाद सब ठंडा. बड़का भैया त गाय हैं. असल हैं बाबूजी... परशुराम का अवतार.

ज्ञान को भाभी की सलाह याद थी, "बबुनी, जो हुआ-सो हुआ, अब यही तेरा स्वर्ग है." कितनी आसानी से भाभी कह गयी यह सब. अचानक कैसे थिर पत्थर से वह ढलान पर लुढ़कनेवाला पत्थर बन गयी थी. सब कुछ कैसे घट गया? सत्यनारायण कथा होते-होते उसकी शादी हो गयी! कैसे पत्थर की चक्की की तरह सात फेरे घूम गयी? कैसे उसके दिल की आग दादी के आंसुओं की तरह थम गयी. पकड़ौआ लड़के से शादी का भविष्य वह जानती है. हो सकता है कि ससुरालवाले उसे कभी न ले जायें. बिरजू सिंह की बेटी प्रभा पांच साल से घर बैठी है. विधवा की तरह. न दुबारा शादी हो सकती है, न पति अपने घर ले जायेगा. उसका पति भी अगर इस जबर्दस्ती शादी से मुकर जाये तब....

कलेजा धक-धक कर रहा था कि हठात् कमरे का दरवाजा खुला और दुल्हा किसी बोरे की तरह आ गया. फटाक! दरवाजा बंद करने की आवाज हुई. छोटी दुलहिन की खिलखिलाने की आवाज... जौनावाली की खी-खी-खी. औचन ज्ञान जड़ हो गयी. दुलहा अपने को संभालता सीधा खड़ा हो गया. कुछ क्षणों बाद बिना ज्ञान की ओर देखे धीमे से

बिस्तर के बगल में रखी कुर्सी पर बैठ गया.

ज्ञान ने उसे झटके से देखा—सांवला, मजबूत, साफ नाक-नक्श, पतली मूंछें. चेहरा मुलायम, कोमल और संवेदनशील. सफेद सिल्क के कुरते और चंपई रंग की धोती में उटपटांग लग रहा था. ज्ञान का सिर झुक गया. अंगूठे से जमीन कुरेदने लगी. धीरे से उसने माथे पर साड़ी का पल्लू चढ़ा लिया.

दूल्हे ने लंबी गोरी-चिट्टी ज्ञान को देखा. अपरूप सुंदर. घने बाल. रोबीला चेहरा. बड़ी-बड़ी आंखें. जैसे चोरी पकड़ी गयी हो, दूल्हे का सिर झुक गया. बाद में सामने दीवार की ओर देखने लगा. वहां ज्ञान की सिर्फ छाया थी. चांदनी की वजह से.

कमरे में असह्य, गुप्त मौन था. ज्ञान और दूल्हे के मन आंधियां चल रही थीं. होंठ बिखर जाने को थे. कान एकदम सजग थे. समय दिल के साथ धड़क रहा था. एक नयी जिंदगी के अंकुर फूट रहे थे. कड़ी मिट्टी के नीचे. मिट्टी की पपड़ी बहुत कड़ी थी. समाज, वर्जनाएं, संकोच, अमानवीय स्थिति सब घुले-मिले थे. अंकुर बस भविष्य की ताकत के बल पर फूट-फूट रहा था, सपने हुमक-हुमककर गर्मा रहे थे. दोनों दूर ध्रुवीय चट्टान की तरह पड़े पिघलने लगे थे. पहले कौन अपरिचय का विंध्याचल लांघे, यही सवाल मधुमक्खी की गुनगुनहाट की तरह कमरे में गूंज रहा था. तभी ज्ञान को दूल्हे की हिचकी सुनायी पड़ी.

धीमे-धीमे संकोच तोड़कर ज्ञान दूल्हे के पास पहुंच गयी. तैरती आहिस्ता-आहिस्ता. सूखते कंठ से फुसफुसाती आवाज निकली, "क्यों रो रहे हैं?"

दूल्हा चैतन्य हो गया. झट अपने आंसू पोंछकर पूर्ववत संज्ञाहीन दीवार को देखने लगा जैसे ज्ञान वहां हो ही नहीं.

ज्ञान दूल्हे के संकोच को भांप गयी और इससे ज्ञान के संकोच का शिकंजा और ढीला हो गया. उसने धीमे से हाथ बढ़ाकर दूल्हे के कंधे पर रख दिया. ज्ञान को लगा कि हाथ रखने में उसे कई युग लग गये.

दूल्हा चौंक गया और झटके से उसने ज्ञान का हाथ अपने कंधे पर से हटा दिया जैसे घबराकर लोग बिच्छू को हटा देते हैं.

ज्ञान पर इसका कोई असर नहीं हुआ, उल्टे उसमें और दृढ़ता आ गयी, "मुझे भी नहीं बतायेंगे?"

दूल्हे ने बलि को ले जाते मेमने-सी कातर दृष्टि ज्ञान को देखा. उसके होंठ फरफराये. निःशब्द. आंखों से आंसू बह चले.

दूल्हे की यह मुद्रा ज्ञान को बींध गयी. उसका भी गला भर आया और आंसू लुढ़ककर गाल पर आ गये. रुंधे गले से आवाज निकली, "ठीक है... इस घर में तो कोई मेरा है ही नहीं... जब आप भी परायी..." दुल्हा ज्ञान को रोते देख सकते में आ गया. उसे अपने-आप पर शर्म आने लगी. इस शादी में इस लड़की का क्या कुसूर! यह तो गाय है चाहे जिस खूंटे से बांध दो. यह नहीं समझती... कुछ नहीं समझती... मुझे सब बताना पड़ेगा. दीवार की बजाय उसने ज्ञान को ओर सीधे देखा. तना चेहरा. तनाव से दपदप. सख्त और सधी आवाज से बोला, "मैं प्राण कुमार सिंह नहीं हूं, न मेरा घर सिमरिया... प्राण मेरे साथ ही पढ़ता है... हम दोनों बरौनी लॉज के कमरे में साथ ही रहते हैं. मुझे प्राण समझकर सब लोग उठा लाये... मारपीट, पिस्तौल... मुंह में ठूंसा कपड़ा, आंख पर पट्टी. बोलने भी नहीं दिया. जैसे बोलना चाहता कि चोप्प साले! थप्पड़! मेरा नाम मदन सहनी है... बस प्राण की पेंट-शर्ट के धोखे में उठा लिया... हम दोनों ने साथ-साथ सिलवाया था... मैं.... आप विश्वास करिये... मैं बेकसूर हूं!"

आखिर में मदन का गला रुंध गया. वह धीरे से उठा और खिड़की के पास जाकर खड़ा हो गया. दुःख से भरा, आंसुओं को संभालता टुक-टुक बाहर देखता.

ज्ञान को लग रहा था पहाड़ में पलीता लगाकर तोड़ा जा रहा हो. धड़ाम-धड़ाम. मुंगेर-जमालपुर के पहाड़! वह घाटी में खड़ी सुन रही है. मदन की आवाज पहाड़ों से टकराकर गूंज रही है. धीरे-धीरे आवाजें बंद हो गयी. जड़ ज्ञान की तंद्रा टूटी. वह धीरे-धीरे चलकर मदन के पास पहुंच गयी.

"आप जबर्दस्ती की शादी से नाराज... आपके घरवाले क्या..." मदन झटके से पलटा और सामान्य होता दिखा.

"नहीं-नहीं!" मदन ने टोका, "शादी तो कभी न कभी होनी थी... मेरा घर हसनपुर है... किसी को भेजकर मेरे बाबूजी परमेश्वर सहनी के बारे पता कर सकती हैं!... मैं समझ गया हूं, आप लोग अशराफ हैं... इस बात के खुलने से मेरी जान भी... कौन अशरफ बर्दाश्त करेगा ऐसी शादी? बरौनी लॉज कमरा नं. चार में मेरा आइडेंटिटी कार्ड है, वही मंगवा लीजिये.

मदन की ऊंची आवाज से ज्ञान संभल गयी. इतनी जोर से बोलने पर तो कोई सुन लेगा. कहीं भाभी सुहाग रात की लीला देखने-सुनने के बहाने दरवाजे से कान लगाये न बैठी हो.

"धीरे", ज्ञान ने उंगली से इशारा किया, "धीरे बोलिये, कहीं किसी ने सुन लिया तो सवेरे ही..."

"जब यह सच ही है तो..." साफ सच्ची आवाज में मदन कहा.

उस कमरे में जहां जीवन के मधुरतम क्षण बीतते, करुणा, आशंका, क्रोध और बेबसी के ताने-बाने भर गये थे. हृदय के श्रेष्ठतम उद्गार की जगह दिमाग ने ले ली थी. बौद्धिक बोझिलता ने हवा का भार बढ़ा दिया था. दीवारें चुपचाप उसका ताप महसूस कर रही थीं. न बादलों से छेड़छाड़ करता चंद्रमा, न ठंडी बयार ही ज्ञान को उद्वेलित कर रही थीं. उनके सामने जीवन दुर्दांत रूप में खड़ा था.

"हां यह सच है! यही सच है!" हथौड़े से घंटी पीटी जाने लगी. टन-टन-टन.. चौकस करती. ज्ञान को लगा, भूकंप आ रहा है. माथा घूमने लगा. खड़े-खड़े जैसे गिर जायेगी वह.भैया मल्लाह के घर

...सूने दालान में हरिप्रसाद बाबू टहलते रहे. चांद अभी भी नहीं निकला था. हवेली की उखड़ी ईंटें बोल रही थीं. गुमसुम हरिप्रसाद बाबू सुन रहे थे. वे दिन भी क्या थे. शान और रोबदाब से भरे दिन. शाम होते ही यहां महफिल लगती थी. बेटा बाप से बात नहीं कर सकता था. पत्नी पति के पांव की धूल थी. अशोक की मां से बर्दाश्त नहीं हुआ, जहर खाकर सो रही.

अपनी बहन को कभी नहीं जाने देंगे... शादीशुदा विधवा प्रभा की तरह बैठी रहेगी वह... भाभी के ताने सुनती, नौकरानी की तरह खटती. दादी नहीं बचेगी! बड़का भैया, बड़ी भाभी, बाबूजी... अब गि...री... हाथ बढ़ाकर लपका. नजदीक आकर सहम गया.

"सुनिये." सांसों को संभालता मदन बोला.

सांय-सांय आंधी चल रही थी. धूल भरे बगूले उठते और पटाखे वाली सीटी की तरह उपर चले जाते. चक्रवात! खरखराते पत्ते हवा में डूबते-उतराते. आंधी चल रही थी ज्ञान के मन में. कहां गया दादी का राजकुमार? सात फेरे लेकर कहां पहुंची वह? यह क्यों बोल रहा है.. इसे मुझसे क्या मतलब है... मैं इसकी कौन हूं, क्या हूं? कल यह फिर अनजाना हो जायेगा... इस कमरे से निकल जायेगा... मेरी जिंदगी से बाहर हो जायेगा... क्यों टोक रहा है मुझे?... इसके बाद मेरा कौन है? कौन होगा? कोई नहीं. भाई, भाभी, बाबूजी सब घृणा करेगें, तरस खायेगें. उसका अपना कोई चेहरा नहीं रहेगा. जिंदा लाश की तरह हिलती-डुलती भर रहेगी. सुनबहरी की तरह सुन्न. इसके बाद कुछ नहीं है, कोई नहीं है.... कोई नहीं...

"सुनिये!" मदन ने हाथ आगे बढ़ाकर झिंझोर दिया, "आप...."

ज्ञान ने आंखें खोलीं. चिंतित, परेशान मदन का चेहरा काफी नजदीक. उसकी सांसें ज्ञान तक पहुंच रही थीं. आंधी में जोर से फुहार आयी और धूल बैठ गया अचानक. ज्ञान ने मुस्कराने की कोशिश की.

"मैं आप नहीं, ज्ञान हूं! ज्ञानवती... " बाकी कुछ कह न पायी.

आश्वस्त मदन सीधा हो गया. जैसे छाती पर से बोझ हट गया हो.

"आपको क्या हो गया था... आप एकदम?"

मदन आहिस्ता से पलंग पर बैठ गया.

"आप नहीं, ज्ञान." ज्ञान की आंखों में जैसे बादलों से भरा आकाश समा गया था. मदन सन्न! अजीब लड़की है! कौन इसकी बात में आये! वह झटके से उठा और तिपाई पर पड़े गिलास में जग से पानी उड़ेलकर ज्ञान के सामने बढ़ा दिया.

अचंभे में ज्ञान ᐧदन को यह करते देख संभल गयी. मदन के गि. ास को जैसे देखा ही नहीं और टेबुल पड़ी मिठाई की प्लेट उसके सामने बढ़ा दी. मां जैसे आत्मविश्वास से भरी ज्ञान की आंखें बोल रही थीं. सीधा, एकदम सधा हाथ और आगे बढ़ा.

मदन ने गौर से उसे सवालिया नजरों से देखा.

ज्ञान का मिठाई वाला हाथ और आगे बढ़ा. बायें हाथ ने मदन के गिलास को पकड़कर ले लिया. वह उगते सूर्य की तरह मुस्करायी. गिलास को तिपाई पर रख दिया.

मदन का मन रूई की तरह धुना जा रहा था. बकर-बांय-बकर बांय-बकर बांय! चारों तरफ रूई के तैरते रेशे. आंखों की पलकों, बरौनियों से चिपके रूई के रेशे. कानों, बालो से लिपटते रेशे. रेशे से लिपटा ज्ञान का मिठाईयों वाला हाथ. सफेद... रूई की तरह. जैसे ज्ञान परियों के देश से आयी हो. मदन ने झट सिर झुका लिया. भय से.

"खाइये!" अधिकार भरा स्वर उभरा.

मदन ने सिर उठाया. लगा कि ज्ञान कोई मंत्र पढ़ रही है बुद-बुद-बुद. मंत्रमुग्ध उसका दाहिना हाथ प्लेट की ओर बढ़ा. कलाकंद का टुकड़ा उठाने के बाद मदन ने फिर ज्ञान की ओर देखा.

"खाइये न!" लाड़ से ज्ञान ने कहा.

मिठाई के मुंह पर जाते ही जैसे ज्ञान के पर लग गये. चिड़िया की तरह उसकी हंसी चहचहाने लगी. फुदक-फुदककर चोंच से बच्चे को चारा खिलाती.

"ये भी... रसगुल्ला भी... खाइये! भूख लगी थी न..."

"हूं!" मिठाई मुह में धुलाते मदन ने हामी भरी. पानी के तुरंत बाद उसने पान बढ़ा दिया.

"जर्दा?"

"नहीं."

समय बीतता गया. अनजान कमरा धीरे-धीरे घर हो गया. आत्मीयता ने अपरिचय की जगह ले ली थी. वे दोनों कलियों की तरह धूप की गर्माहट से फूट रहे थे.

"इ कौन सा गांव है?" मदन ने पूछा.

"इ भी नहीं जानते? मंझौल है."

"आंख में पट्टी, हन्न-हन्न भागती कार. अंधेरी कोठरी. एक दोहत्थर के लगते ही बेहोश था. क्या पता कहां आ गया!" बुझी मुस्कराहट के साथ मदन बोला.

"बाबू हरि प्रसाद राय का घर है. उन्हीं की बेटी हूं. दो भाई हैं—बड़का भईया मुंगेर में वकील हैं, छोटे अशोक भैया खेती-बारी करते हैं. बहुत घटिया आदमी. उन्हीं का यह सब किया हुआ है. मुझे तो कहते भी लाज..." भाई के घटियापन की पोल खोलते झेंप गयी.

"छोड़िये... आपने कहां तक पढ़ाई की?" मदन ने ज्ञान को उबारा.

"बी.ए. मुंगेर से.... हायर सेकेंड्री से बी.ए. तक पढ़ी."

"अपने बारे में बताइये न?" पलंग पर बैठी ज्ञान की ठुड्डी घुटनों पर जमी थी.

"क्या जानियेगा!", मदन ने लंबी सांस ली, "जब रास्ते ही अलग हैं... क्या फायदा?"

"कुछ नहीं. बताइये ना!" ज्ञान ने नर्मी से कहा.

"अकेला भाई, मां, बाबू घर में. बी.ए. आनर्स की परीक्षा दूंगा इस बार." बेमन से मदन बोला.

"बाबूजी क्या करते हैं?" आगे भी ज्ञान ने पूछ लिया.

'क्यों पूछती हैं यह सब?... मेरे पिताजी मछली का व्यापार करते हैं. वो कोई जमींदार नहीं हैं." मदन भड़क उठा.

ज्ञान सकपका गयी. हैं तो हमसे उम्र में भी छोटे. इनको लगा, मैं जाति पूछ रही हूं. नहीं पूछना चाहिए था.
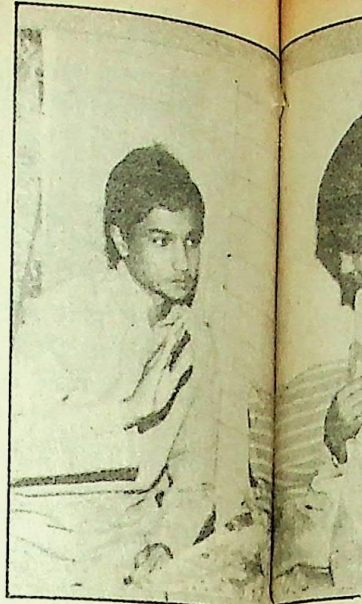
"अपने घर के बारे में पूछ लिया तो..." ज्ञान ने सफाई दी.

"घर? किसका घर?... कल सबेरे बात खुलते ही शायद मैं जिंदा भी नहीं रहूं. निश्चिंत होने की वजह से मुझे नहीं देखा. कल देख लेगें तो..."

"भैया दीदी को लाने जायेगें कल सबेरे! कैसे देखेगें?"

"हुंह! एक दिन की जिंदगी!... भैया के जाने के बाद मुझे भागने का रास्ता बता दें!" मदन ने हाथ जोड़ दिये, "जिंदगी भर एहसानमंद रहूंगा!"

"भागने का रास्ता? भईया की करनी, सजा मुझको?..." ज्ञान पलंग के पायताने उठंग गयी. आंखों से गंगा-जमुना बहने लगी. चुपचाप. कोई हरकत भी नहीं. मदन सहम गया. इसने क्या किया है? सब कुछ तो भाई ने किया है. उसे अपने पर शर्म आने लगी. इ तो गाय है, जिस खूंटे से बांध दो. सात फेरे को यह क्या समझती है? यहां से किसी तरह निकलना है, इसे रुलाने से क्या फायदा?

"हिम्मत रखिये... कौन दुःखी नहीं है? आप भाई की वजह से दुःखी हैं! मैं अपनी जाति से दुःखी हूं. देखिये... रोइये नहीं... जो हो गया उससे बचने का उपाय सोचिये... शायद हम दोनों कोई रास्ता निकाल लें!" सांत्वना के शब्द और 'हम दोनों' ने बिजली जैसा काम किया, ज्ञान सिहर उठी. अपने को सहेजा और आंसू भीगे होंठों पर मुस्कान की पतली रेखा तैरने लगी, "अब नहीं रोऊंगी!," उसने दृढ़ता से कहा और फटी मुस्कान और फैल गयी.

"अगर किसी और से शादी हुई होती तो आज....," मदन रुका, संभलकर बोलने लगा, "आज आप रोती नहीं... मैं ही अभागा आपके दुःख की जड़... लेकिन मैं कहां दोषी हूं... ऐसा दुःख..."

"मुझे कोई दुःख नहीं है. अब जो होना होगा... आपको मेरी वजह से कुछ हो न जाये... खैर!"

"तो कल आपके भईया के जाने के बाद निकल सकता हूं?"

"इस कपड़े में?... पकड़े जायेंगे!"

मदन ने चंपई धोती को देखा. इसकी जगह पर सफेद धोती हो तब कोई बात नहीं. पास में पैसा भी तो नहीं.

"एक सफेद धोती, कुछ पैसा हो जाता तो?"

"आपको लाया कौन था?" ज्ञान ने सोचते हुए पूछा.

"क्या पता... चार लोग थे. एक ड्राइवर, तीन रंगबाज. शादी के समय दो रंगबाज पीछे की कुर्सी पर बैठा था... सब आप पर ही है!" नींद ज्ञान की पलकों पर आ बैठी थी. ज्ञान ने जम्हुआई ली.

"सो जाइये!", मदन बिस्तर पर से उठ गया, "डरिये नहीं, मैं कुर्सी पर बैठे-बैठे सो जाऊंगा."

सोने का नाम सुनते ही ज्ञान के गाल आरक्त हो उठे. उसकी गर्दन झुक गयी और उंगलियां आंचल के छोर से खेलने लगीं.

मदन कुर्सी पर बैठ गया था.

"छिः कहीं आपको कुर्सी पर सोते देख लिया तो... भाभी मेरा फजीहत कर देगी. मैं ही जमीन पर सो जाऊंगी!"

"नहीं-नहीं, कोई नहीं देखेगा." मदन ने विरोध किया. ज्ञान पलंग से नीचे उतर गयी. मदन के सामने आकर खड़ी हो गई. आजिजी से से कातर, "मेरा एक बात मान लीजिये." ...म से ज्ञान बोली मदन कुर्सी से उठकर बिस्तर पर लेट गया.

ज्ञान ने खिड़की बंद कर दी. जीरो पावर का भी बल्ब बुझाकर कुर्सी को किनारे कर दिया. लंबी सांस ली और आहिस्ता से दीवार के सहार सटकर बैठ गयी.

तभी मदन को लगा कि यह तो बिना बिछावन, तकिये के फर्श पर सोयेगी. मदन झटके से उठा. पलंग पर पड़ी नयी चादर खींच ली और नीचे बिछा दिया. पलंग पर लेटे-लेटे उसने दूसरा तकिया भी नीचे डाल दिया.

अगले दिन!

दरवाजे को बंद करते ही ज्ञान तेजी से अलगनी पर सूखती सफेद धोती को आहिस्ता-आहिस्ता समेटने लगी. बीच से मोड़कर धोती की तह लगाने लगी. कमरे का दरवाजा खुला था. कमरे की ओर बढ़ी. कमरे में मदन बेसुध सो रहा था. मदन को देखते ही उसके पांव रुक गये. फिर बढ़ी और अलमारी पर गुल्लक को उठाकर बाहर आ गयी. सहन के फर्श पर पटककर फोड़ दिया, मुड़े-तुड़े नोटों और पैसों को समटने लगी. कंधे पर सफेद धोती पड़ी थी. मुठ्ठी में पैसे. कमरे में आते ही खिड़की खुली देख उसी तरफ बढ़ गयी. टेबुल पर धोती और पैसे को रखकर खिड़की को बंद कर दिया. कमरे में झीनी रोशनी रह गयी थी. पलटकर दरवाजा भी आहिस्ता से बे-आवाज ही बंद कर दिया. कुर्सी पर उठंगकर बैठ गयी. आखें बंद कर लंबी सांस ली.

मदन ने करवट बदली. उसका चेहरा ज्ञान के सामने था. उसके भोले सांवले चेहरे पर अपूर्व कोमलता थी. कसरती देह, गहरे काले-चमकीले बाल, सांवला रंग, सुघड़ नाक, मुंदी पलकें. चुपचाप चोर नजरों से ज्ञान मदन के मोहक रूप को पीती रही.

जगा देती हूं!... नहीं जगाऊंगी. रात भर नहीं सोये. धोती, पैसे के बारे में बता दूं. बोलकर जगाना भी मुश्किल. धीमे से उठेंगे नहीं. वह मदन के सिरहाने बैठ गयी. उसके अनियंत्रित हाथ की उंगलियां मदन के बालों को सहलाने लगीं. मदन आराम से सोता रहा.

ज्ञान की उंगलिया मदन के माथे पर फिसल रही थीं. चमड़े पर स्पर्श होते ही मदन की आंखें खुल गयीं, "कौन?"

ज्ञान ने हड़बड़ाकर अपना हाथ खींच लिया और शर्म से उसका सिर झुक गया. मदन ने गौर से उसे देखा और उठ बैठा.

"ज्ञानजी, हमें अपनी सीमा नहीं भूलनी चाहिए."

"मैं तो जगा रही थी... आप गलत मत समझिये!" ज्ञान ने हड़बड़ाकर सफाई दी.

"सिर्फ आज का मेहमान हूं... मोह मत पालिये... आप भूमिहार, मैं मल्लाह!" हाथ जुड़ गये मदन के, "मुझे जाने दीजिये... मुझे मत भरमाइये!"

'भरमाइये!' सुनते ही ज्ञान के तन बदन में जैसे आग लग गयी हो. झपटकर उठी और टेबुल पर पड़ी सफेद धोती और पैसे को मदन के सामने पटक दिया, "क्यों भरमायेंगे आपको? मैं कौन होती हूं? इंतजाम हो गया न? चले जाइयेगा! बस!"

"आप नाराज हो रही हैं, बेकार... मेरी हालत सोचिये!"

"हां!" व्यंग की धार तेज करती ज्ञान की आवाज थी, "मेरी कौन सोचेगा?" मदन चुप.

"आप क्या बोलेंगे?" वह रुकी, धीरे हुई, "आप पुरुष हैं न?"

"इह... हां!"

"इस शादी के बाद दुबारा शादी कर सकते हैं?... कहिये हां!... क्या औरत बिना तलाक के, बिना पति के मरे दूसरी शादी कर सकती है?"

"नहीं, पर ज्ञानजी?" मदन हकचकाया.

"ज्ञानजी, ज्ञानजी. आपकी पत्नी हूं और आप नहीं, तुम!.... आप भागना चाहते हैं न... जान बचाने के लिए... यहां भेद खुलने पर खतरा है इसीलिए न?"

"अ... हां!"

ज्ञान कुर्सी पर अपने को संभालती बैठ गयी. उत्तेजना से थर थर कर रहा था शरीर. चेहरा लाल, भाले की तरह तना. निशाने पर.

"और क्या मैं कुरूप हूं? क्या मैं अनपढ़ हूं?"

"नहीं, नहीं!" मदन सफाई देने लगा, "कौन आपको ऐसा कहेगा? आप जैसी लड़की... मैं ही अभागा हूं... मैं..."

"नहीं, आप डरपोक हैं, कायर हैं! ठीक है भागिये... मैं भी आपके साथ भागूंगी!"

"ज्ञानजी!" मदन आश्चर्य से लगभग चीख उठा.

"आप कहेंगे, मेरे घर वाले न मानेंगे. मैं मनाऊंगी उन्हें... मैं."

"ज्ञानजी मैं... मैं कैसे...?"

"आप चाहते हैं बचना.... मैं विधवा की तरह घुल-घुलकर मर जाऊं!" ज्ञान के चेहरे पर काली नफरत तैर गयी, "छिः कितने स्वार्थी हैं आप!" धोती उठाकर सामने बढ़ाती बोली, "लीजिये पहनिये और भागिये!"

"देखिये... आप गलत मत समझिये... मैं इस काबिल नहीं. मेरे घर वाले सीधे-सादे लोग हैं! आप कहां और मैं कहां!..." आपके घर वाले हमें बरबाद कर देंगे!"

"आप किससे डरते हैं? ये कायर लोग आपको छू नहीं सकते. मैं सबको देख लूंगी. मुझे मारकर ही कोई आपको मार सकता है!"

बिफरती ज्ञान की ऊंची आवाज में मदन घबरा गया. हाथ बढ़ाकर ज्ञान का हाथ दबा दिया ताकि वह धीरे बोले. मदन स्थिति को समझने लगा.

"ज्ञानजी!... आप..."

ज्ञान झटके से उठी और मदन के गोद में सर पटकने लगी. रोते-बिलखते. बेसुध, "मैं विधवा नहीं बनूंगी... आपके रहते... नहीं जाने दूंगी! अकेले बहुत सहा है... बहुत सहा है... साथ ही मरेंगे... हम साथ ही मरेंगे!" ज्ञान की हिचकियां! आंसू. उसका दुःख.

मदन अंदर से दहल गया. उसकी आंखें भी भर आयीं. उसके हाथ ज्ञान के बाल सहलाने लगे.

ज्ञान रोती रही. मदन की गोद में मुंह छुपाये.

मदन का हाथ तना. दोनों हाथों से उसने ज्ञान का चेहरा अपने हाथों में भर लिया. जोर लगाकर उसे ऊपर उठा लिया.

कातर हिरणी की तरह लाल गीली आंखों में ज्ञान मदन को निष्पलक देखती रही. आंसू अनवरत बहते रहे.

मदन ने उसे खड़े होने के लिए सहारा दिया और धीमे बोला, "उठो ज्ञान!" ज्ञान की आंखों से और आंसू झरने लगे. आंखें हंस रही थीं, आंखें रो रही थीं. होंठ थरथरा रहे थे. संशय से, कल्पना से.

"आप?" अविश्वास से ज्ञान ने पूछा.

"हां ज्ञान!", मदन की आंखें भी बरसने लगीं, "मैं नहीं भागूंगा.... मैं नहीं भागूंगा!" हम साथ-साथ...."

मदन का अस्पष्ट स्वर बीच में अटक गया. खुशी के अतिरेक से वह कटे पेड़ की तरह मदन की तरफ लड़खड़ाती झुकी. मदन के कंधे से झूल गयी! मदन की मजबूत बाहों ने उसे संभाल लिया. मदन के बांहों के कसाव में बेसुध हो गयी. दोनों एक मजबूत दरख्त की तरह खड़े थे. पृथ्वी में उसकी जड़ें बहुत गहरे चली गयी थी. पृथ्वी की गति बढ़ गयी थी. सूर्य मोम की तरह कोमल हो गया था. धूप हर्ष के फुहार से निखर उठी थी. आंगन में छोटी चौकी पर मदन नहा रहा था. ठंडे पानी से नहाना बड़ा अच्छा लग रहा था. जौनावाली नल चला-चलाकर पानी भरती जा रही थी. ब्रीफकेस लिये अशोक बाबू खुले दरवाजे से घुसे. मदन पर नजर पड़ते ही कलेजा धक्क! यह दूसरा कौन है? नहीं, नहीं! धोखा हुआ. वही है. न... वह गौरा-चिट्टा, इससे नाटा था. चौड़ा चेहरा. यह सांवला है! दनदनाते दुलहिन के कमरे में चले गये.

कमरे में दुलहिन बिस्तर लगा रही थी. मुड़े-तुड़े कपड़े सहेज रही थी. कमरे में घुसते ही दुलहिन ने ब्रीफकेस थाम लिया. रखकर निकलने लगी!

"कहां?"

"विभा की विदाई नहीं होने दी. मोटर सायकिल का मामला... बहुत कहा. इसीलिए रात भर रुक भी गया.... जी में आता था कहीं बाबूजी न आ गये हों."

"न, बाबूजी कहां आये!... बड़े चांडाल लोग हैं... विदाई रोकने से मोटरसायकिल मिल जायेगी?"

"यह भी कहा—मेहमान को जाने दीजिये. बुढ़वा बोला—हमीं को ले चलिये... साला, हरामी!"

भय

☐ राजेंद्र राजन

बरसात के कारण सड़क पर कुछ पानी रुक गया था. अभी-अभी बारिश थमी थी—समय रहा होगा रात के लगभग साढ़े दस बजे का. सड़कों पर जबसे सोडियम लाइट लगी है तब से यहां दिन और रात का अंतर काफी कम हो गया है. मुझे घर पहुंचने की जल्दी थी इसीलिए मैं तेजी से बढ़ा जा रहा था. और, तभी मेरे पांव क्या, सारे जिस्म की जैसे जान ही निकल गयी. मैंने देखा कि एक बहुत लंबा बिल्कुल काला सांप

मुझसे दो-तीन फीट आगे सड़क पर चल रहा है. मेरे कदम जहां के तहां रह गये और "सांप-सांप" शब्द मिश्रित चीख मेरे मुंह से निकल गयी.

अच्छा हुआ कि मेरे पीछे ही दो अच्छे बलिष्ठ युवक आ रहे थे. वे मेरी चीख सुनकर तुरंत पास वाले मकान में घुस गये और दो भारी-भारी डंडे लेकर बाहर निकले. दौड़कर वे दोनों सांप के निकट आये लेकिन जैसे ही उन्होंने सांप पर प्रहार करने के लिए डंडा साधा कि लाइट गुल हो गयी. अब वे दोनों भी मेरे साथ सांप-सांप चिल्ला रहे थे. □

दोनों बच्चे छिपकर आहिस्ते से कमरे में घुस गये थे. पापा के लिए. अशोक बाबू की नजर पड़ गयी. उन्होंने रिंकू का सिर सहला दिया.

"विभा बबुनी ठीक हैं न?" दुलहिन ने चिंता से पूछा.

"कुछ ठीक नहीं है... सुना, लगता है जो लड़का हमने देखा था, ऊ यह नहीं है. वह गोरा, यह सांवला है... शादी के वक्त तो मुकुट के झालर से चेहरा ढंका था...."

"क्या कहते हैं?"

"रामौतार पर विश्वास किया... मुझे तो शक है!"

"आपको बेकार शक है... अपना नाम प्राण कुमार, घर सिमरिया, बाप का नाम पुरबी सिंह बताता है... वह झूठ क्यों बोलेगा."

"तुम थोड़ा घुमा-फिराकर पता लगाओ.... लड़के का एक बहन की शादी बछवाड़ा और दूसरे की सदानपुर में हैं. असल होगा तो ठीक जवाब देगा. मैं दालान पर चलता हूं. थोड़ा नहाने का पानी भिजवा देना..." अशोक बाबू निकल गये.

छोटी दुलहिन पसीने से भर उठी. हे भगवान, यह क्या हो रहा है. जी को कड़ाकर ओसारे पर आयी तो मदन तौलिये से बाल पोंछ रहा था. दुलहिन लपक कर आईना और कंघी ले आयी. मदन के सामने बढ़ा दिया.

"बहुत मानती हैं भाभी आप!" मदन मुस्कराया.

"हम तो मानेंगे ही. शादी हो गयी, जोड़ी मिल गयी.. आपके पिताजी मानेंगे तब न?" सूखी हंसी दुलहिन के चेहरे पर आयी.

"छोटे भईया शादी करा सकते हैं तो पिताजी को भी मना लेंगे!" कंघी करते मदन बोला.

छोटी दुलहिन ने सूत्र संभाल लिया, "खबर कैसे भेजी जाये? पहले आपके पिताजी को किसी और कुटुंब को?"

"हां, यही ठीक रहेगा." मदन ने अनमने ढंग से कहा.

"आपकी बड़ी बहन कहां ब्याही है, बहनोई का नाम क्या है?"

"बहन?" मदन चौंक गया. क्या बताये, वह तो जानता ही नहीं, "सब है, अभी जल्दी क्या है?"

शक पक्का होते ही क्रोध से छोटी दुलहिन के जबड़े भिंच गये. खूबसूरत मांसल चेहरे पर से लावण्य गायब!

"सच बताइये मेहमानजी... आप प्राणकुमार सिंह हैं?" जबरन मुलायम पड़ती दुलहिन ने जोड़ दिया, "अब तो शादी हो गयी... छिपाने से क्या फायदा?" मदन कांप गया. खोखली हंसी बिखेरता बोला, "भाभी शक क्यों? शादी के बाद शक करने से क्या फायदा!"

"बात को घुमाइये नहीं. प्राण कुमार की एक बहन बछवाड़ा, दूसरी सदानपुर में ब्याही है. सच बताइये मेहमानजी, आप कौन हैं? कहां है घर? आखिर बबुनी को उसी घर में बसना है!"

मदन को लगा कि अब झूठ का लबादा ओढ़ने से काम नहीं चलेगा. ज्ञान से पूछ लेते. कैसे? वह जौनावाली के साथ रसोई में दूर सामने वाले ओसारे पर बैठी है. कैसे जाऊं वहां? सच की आग में हाथ जलाना ही पड़ेगा. मदन ने आईना छोटी दुलहिन के हाथ में थमा दिया. कंघी उसी में फंसी थी. "सच सुनेंगी भाभी? मेरा नाम मदन सहनी है. घर हसानपुर, चीनी मिल जहां है, प्राण कुमार मेरे साथ पढ़ता है, मेरे साथ एक ही कमरे में रहता है. चारों रंगबाज मुझे प्राणकुमार समझकर उठा लाये. मुंह में कपड़ा ठूंस दिया. बताने की कोशिश की तो पिस्तौल! मेरा क्या कसूर है... शादी के वक्त पीछे दो पिस्तौल वाले रंगबाज!"

"हे भगवान!" दुलहिन का जैसे खून सूख गया हो, जैसे-तैसे बोली, "मेहमानजी, यह बात अपने तक... ज्ञान से भी नहीं, यही प्रार्थना है... सब ठीक हो जायेगा. दुलहिन को दरवाजे की तरफ लपकते देख मदन ने ताली बजायी. ज्ञान ने मुंह चिढ़ाते हुए संकेत में पूछा, क्या है?

जाती भाभी की ओर इशारा, मुंह के खुल जाने का संकेत. अपनी गरदन को दोनों हाथ से दबाने का उपक्रम मदन ने किया. आश्चर्य और भय से ज्ञान का मुंह खुला रह गया. दाहिनी हथेली मुंह पर चली गयी. ज्ञान ने मदन से कमरे में जाने का इशारा किया.

मदन कमरे में चला आया. सफेद धुली धोती निकाली और जल्दी-जल्दी पहनने लगा. कुरते की जेब में हाथ डालकर पैसा देखा. फिर कुरता पहनकर चप्पल पहनने लगा.

ओसारे पर, जौनावाली को दिन-दहाड़े इशारे देखकर चुहल सूझी. पूड़ियां तलते हाथ रुक गये.

"ए बबुनी, रात से जी नहीं भरा जो दिन में चटक-मटक! आय?"

"हटो भौजी! तुमको मजाक... यहां जान जाने पर है!"

"किसका?" अचंभे में जौनावाली ने पूछा.

"मेहमानजी का!"

"काहे-काहे बबुनी? हे भगवान! इ क्यों..."

"इ जाति के मल्लाह हैं, गलती से गुंडा सब भूमिहार समझकर उठा लाया. अब भैया-भाभी को मालूम पड़ गया है... भैया तो काटकर फेंक देंगे.... इज्जत का सवाल... मेरा तो दिल घबरा रहा है भौजी.....उनका क्या कसूर! उ तो देवता हैं, हमरा देह भी नहीं छूए... भौजी हमारा त कोई नहीं."

"इ जुलुम, एक त जबर्दस्ती बियाह, अब गलती हो गयी तो बेकसूर को मारेंगे-पीटेंगे... हमरे रहते इ अनर्थ नहीं होगा बबुनी... तू पड़ी छानो, हम जाते हैं लोक को बुलाने... घबराना मत बबुनी! भगवान सब की रच्छा करता है..."

जौनावाली फुलेना को ढूंढने हवा हो गयी.

कहां चले गये? कहा पानी रखवाने! नहाना है. हे भगवान! अभी ही जाना था... दरवाजे पर खड़ी-खड़ी दुलहिन के मन में उनचास पवन चल

रहा था. शरीर जैसे ज्वर के ताप से झरझरा गया था. किसको कहूं उनको बुलाने... सामने बंधू बैल का बघान खर्रा से साफ कर रहा था.... इस गूंगे-बेहरे को कहना बेकार! इसी बीच अशोक बाबू की सायकिल अहाते में घुसी. दुलहिन को देख कोने में सायकिल लगायी और बैठक में घुसे.

"क्या हुआ? कहां गये थे?"

"साला रामौतारा के यहां! कल ही कुटमैती चला गया है... हमको लगता है जानबूझकर भाग गया..." बहहवास अशोक बाबू की सांसें धौंकनी की तरह चल रही थीं.

"पूछा था उससे?" अशोक बाबू ने पूछा!

"हां, तुम्हारा शक ठीक है. यह तो मदन सहनी है. उसी लड़के साथ रहता है लॉज में. गलती से इसे उठा लिया. बोलने भी नहीं दिया. मुंह में कपड़ा ठूसकर, मारपीट, पिस्तौल के बल पर पहुंचा दिया. इसका क्या कसूर... दो गुंडे तो शादी के समय भी आंगन में था!"

"मैं नहीं छोड़ूंगा इस साले को! गलती हो न हो... भुमिहार की बेटी से मल्लाह का ब्याह!" अशोक बाबू लपके आंगन की ओर. दुलहिन ने रोका, "पागल होने से काम चलेगा?... इसको भगा देते हैं, बबुनी को मुंगेर भेज देंगे. वहीं से कहीं और शादी कर देंगे... मारपीट से क्या फायदा?" छोटी दुलहिन के चेहरे पर कुटिल मुस्कान थी.

कमरे में मदन चिंतित बैठा था कि दुलहिन ने आवाज दी, "मेहमानजी, इधर आइये!"

मदन दुलहिन के कमरे में चला गया. सशंकित, लेकिन संयत और दृढ़ देखते ही दुलहिन बोलने लगी, "मेहमानजी... उनसे हमने सब बता दिया. वे बोले कि विधि का यही विधान था. बस... एक कृपा करिये कि आप आज यहां से चले जाइये. हम लोग खबर फैला देंगे कि लड़का भाग गया. कुछ दिन बात गुप्त रखिये... कुछ दिन में बात ठंडी पर जायेगी तो बबुनी को ले जाइयेगा... इसी में सबकी भलाई है."

मदन झटके में चाल समझ गया. अब घुमाने-फिराने से क्या फायदा? सरल आवाज में बोलने लगा, "भाभी यह आज्ञा है कि प्रार्थना? शादी के बाद लड़का कहीं बिना लड़की के घर गया है?... मुझे जाने में कोई एतराज नहीं है पर ज्ञान को भी ले जाऊंगा. आप कहेंगी तो जिंदगी भर इसे छिपाकर रखूंगा कि ज्ञान हरि प्रसाद बाबू की बेटी है. लेकिन अकेले नहीं जाऊंगा... ज्ञान मेरी पत्नी है...."

"क्यों आफत में पड़ते हैं?" दुलहिन झल्ला गयी, "जिद का नतीजा बहुत बुरा होगा... मेरी बात मान लीजिये!"

"नहीं भाभी!" मदन ने सोचते हुए कहा, "मैं जैसे ही एक बार यहां से जाऊंगा, दुबारा ज्ञान का चेहरा भी नहीं देख सकूंगा! मैं उसे अकेली नहीं छोड़ूंगा."

"अपनी जान बचाइये मेहमानजी!" मुलायम होती दुलहिन बोली, "आप रहेंगे, तभी पत्नी रहेगी... थोड़ा और सोचिये..."

लघुकथा

पेट

□ नर्मदा प्रसाद उपाध्याय

वे दोनों अपना-अपना पेट पकड़े जमीन पर लेटे थे.

एक अधनंगा, फटे चीथड़ों में एक गंदी बस्ती की संकरी गली के बीचोंबीच.

दूसरा कोट, पैंट पहिने, टाई की नाट ढीले किये एक आलीशान बंगले के शानदार कालीन पर. पहिले की बीमारी भूख थी और दूसरे की बदहजमी. □

संशय और उत्सुकता से भरी ज्ञान अपने कमरे के पास मदन और भाभी की बातचीत सुनने की कोशिश कर रही थी.

अशोक बाबू दुलहिन को आने में देर देखकर घुसे. ज्ञान को कान पाते देखकर तैश में आये और दौड़कर ज्ञान को कमरे में ढेल दिया.

"पुराण सुनती है!" हांफते अशोक बाबू ने बाहर से सांकल चढ़ा दी.

ज्ञान को बंद करने के बाद अशोक बाबू आंगन पारकर दरवाजे के पास रुके और जोर से आवाज दी, "मेहमानजी... जरा दालान पर आइये, कुछ बात करनी है."

आगे-आगे मदन, पीछे से दुलहिन! मदन चौकी पर बैठे अशोक बाबू के सामने खड़ा हो गया.

"बैठिये!" अशोक बाबू ने कुर्सी की ओर इशारा किया.

मदन कुर्सी पर बैठ गया और सामने देखने लगा. दालान के नीचे बंधू दातौन कर रहा था. पिच्च-पिच्च थूक फेंकता जा रहा था.

"क्यो सोचा आपने?" अशोक बाबू ने भरसक मुलायम होते कहा.

"कहते हैं कि बबुनी को भी साथ जाने दीजिये. हम कभी नहीं आयेंगे, न जिक्र ही करेंगे. पर अकेले नहीं जायेंगे." दुलहिन ने दरवाजे पर से सुनाया.

"आप सोचते क्यों नहीं... कुछ मेरी इज्जत की भी सोचिये!"

"छोटे भईया, आपको भी तो मेरी और ज्ञान की इज्जत के लिए सोचना चाहिए. बिना बहू के जाऊंगा तो मां-बाप क्या कहेंगे? ज्ञान का क्या होगा?"

"सोच लीजिये... अभी तो मौका है!" अशोक बाबू उतावले हो धमकी पर उतर आये.

"अब कहां मौका है, छोटे भईया? इज्जत के बारे में देर से सोच रहे हैं आप जब..."

"तो तुम नहीं मानोगे?" चीखे अशोक बाबू.

बंधू जीभ साफ करता गों-गों कर रहा-था. अशोक बाबू ने बंधू को इशारा किया, बंधू दौड़ा.

"बांध दो इस साले को." जब तक मदन संभलता, बंधू और अशोक बाबू की गिरफ्त में आ गया. दोनों हाथों को उलटा चढ़ाये, बंधू ने उसे अशोक बाबू के इशारे पर पाये के तरफ ठेला. अशोक बाबू ने बंधू का अंगोछा झपटा और हाथों को उलटकर पाये से फंसा दिया. दोनों हाथ अंगोछे से बंध गये. क्रोध और बेबसी से मदन का रक्त सनसनाने लगा.

"बोलो! हमारी बात मानोगे कि नहीं? " विजेता के दर्प से चहके अशोक बाबू. मदन चुप. "बंधू! जा, तलवार ला!" बंधू को हाथ के इशारे से अशोक बाबू ने बतलाया. सिर झुकाये बंधू हवेली के पिछवाड़े के दरवाजे की ओर बढ़ा. दरवाजे के पहले अपने कमरे की खिड़की पर ज्ञान खड़ी थी. रोती-बिसूरंती. इस आस में कि कोई आये और खोल दे.

बंधू ठिठका.

ज्ञान ने हाथ जोड़कर कुंडी खोलने का इशारा किया. अंदर जाकर, इधर-उधर देखकर कुंडी को खोलकर उसने आहिस्ता से दरवाजा खोला. बदहवास ज्ञान दरवाजे की तरफ भागी. डरा बंधू पिछले दरवाजे से निकला हवेली का अहाता फांदता फुलेना के घर की बगल वाली गली में समा गया.

दरवाजे पर अशोक बाबू तड़पकर उठे और मदन की ओर लपके, तड़ातड़ दो तमाचे मदन के गाल पर जड़ दिये.

"बोल साले मल्लाह! तेरे बाप-दादे की औकात नहीं है भुमिहार की लड़की ले जाने की!... कह रहा हूं, गलती हो गयी... मान जा... नहीं, लड़की ले जायेंगे... ले साले!" फुंफकारते अशोक बाबू ने मदन के पेट में दो घूंसे जमा दिये.

मदन ऐंठकर रह गया. निश्चल न रोया, न गिड़गिड़ाया. घृणा से अशोक बाबू को घूरता रहा.

ज्ञान दालान के दरवाजे पर भाभी के पीछे खड़ी थी. घूंसा लगते ही मदन के चेहरे की ऐंठन उसे बींध गयी. परकटी चिड़िया की तरह फड़फड़ाती, दुलहिन को धकेलती, मदन से जा लिपटी.

"बस करो भैया.... ये..." ज्ञान चिल्लायी.

"हट जा ज्ञान! नहीं तो तेरी भी चमड़ी उधेड़ दूंगा!" गरजे अशोक बाबू.

दुलहिन थरथर कांप रही थी. असगुन होने वाला था. दुलहिन के दोनों बच्चे आजू-बाजू चिपके थे. इनके गुस्से के सामने कौन जाये?

"हटती है कि नहीं?"

"नहीं!" सीटी की तरह ज्ञान चीख पड़ी, "मारो... मुझे मारो भैया... मार दो! गला दबा दो... इनको कुछ मत कहो.... मेरी मांग मत उजाड़ो!"

लपके अशोक बाबू ज्ञान का बाल पकड़ने. हाथ रुक गये, पलटे एक कड़कती आवाज!

"रुको!"

छह साईकिलों पर दो-दोकर लदे लोग अहाते में घुस रहे थे. उन्हीं में से कोई चिल्लाया था. क्षणों में वे सायकिलें दालान के सामने रुक गयीं. उन्हीं लोगों में से बंदर की तरह रजेंदरा उछला. उसने हतप्रभ अशोक बाबू की बांह मरोड़ दी और पीठ से सटा दिया. अशोक बाबू का हिलना मुहाल.

"रजेंदरा तुम इस दगाबाज को नहीं जानते! इस मल्लाह ने धोखे से मेरी बहन से शादी कर ली... जाति की इज्जत का सवाल है... रजेंदरा" अशोक बाबू गिड़गिड़ाने लगे.

"चोप्प! अभी इज्जत चाहिए!" रजेंदरा ने डांटा.

"इ भूमिहार होकर भी मदद नहीं रजेंदर? तुम्हीं सोचो सच्चिदा." अवश अशोक बाबू गिड़गिड़ा ही सकते थे.

झल्लाये सच्चिदा ने एक झापड़ रख दिया.

"अभी जाति की याद आ रही है... जब रामौतार के साथ इस मल्लाह को भुमिहार समझ उठा लाये थे, तब नहीं सोचा था... बहुत चालू बनते थे!"

दुलहिन डर के मारे दोनों बच्चों से और चिपक गयी. "बांध दो इ अशोकवा को!" दालान के नीचे से रामरक्षा सहनी चिल्लाया. जगदीश और फुलेना दालान के ऊपर चढ़े. ज्ञान मदन से वैसे ही चिपटी रही. हांफती, मछली की तरह फक-फक!

फुलेना ने शोरगुल को शांत रहने का इशारा किया और ज्ञान की ओर मुखातिब हो गया, "बोलो छोटी बबुनी, तुम्हें यह शादी पसंद है?" ज्ञान की नजरें जमीन में झुक गयीं. मदन की आंखों में जैसे रेगिस्तान के बाद पानी देखने के बाद चमक लौट आयी थी. मदन का मुंह खुला था, चमत्कार से.

"तुम इसके साथ जाओगी?"

ज्ञान की नजरें झुकी रहीं. चुप.

"बोलो?"

"हां!" रो पड़ी ज्ञान. खुशी के आंसू चमकने लगे.

"ए सच्चिदा, तुम इस कुत्ते को संभालो! इस पर निगरानी रखो. हम इ दोनों को बारह बजे वाली बस में महेशवारा वाले रास्ते से ले जाकर चढ़ा देते हैं.... इ गांव में चौक पर बेकार हंगामा होगा... पांच लोग मेरे साथ आओ." अशोक बाबू को रजेंदरा ने सच्चिदा की तरफ धकेल दिया.

जगदीश ने लपककर मदन का हाथ खोल दिया.

"चलो!" रजेंदरा की आवाज सुन मदन ने ज्ञान को देखा.

ज्ञान ने सिर झुकाकर हामी भरी. मदन आगे बढ़ गया. ज्ञान पीछे. सात लोग रजेंदरा के साथ चल पड़े. मदन और ज्ञान. जल्दी-जल्दी. गली के छोटे रास्ते से जल्दी पहुंचने के लिए, बिना चौक गये. दुसधटोली होकर. अहाते के बाहर दीवार से सटकर जौनावाली खड़ी थी. छोटी बबुनी को देख आंखें बरसने लगी. फुलेना को साथ जाते देख जौनावाली की छाती हुलस उठी. उसके चेहरे पर दिव्य मुस्कान फैल गयी. अगले मोड़ से सब ओझल हो गये.

बस में बैठने के बाद मदन ने सबको हाथ जोड़े. ज्ञान ने भरी आंखों से प्रणाम किया. गों-गों करती बस आगे बढ़ गयी. हवा के झोंके ने आंसुओं को सोख लिया था. दोनों के होंठों पर मुस्कान तैरने लगी. भविष्य का सपना बस के आगे-आगे गेहूं के हरे खेतों की मेड़ पर उछलता भाग रहा था!

और अंत में

प्रिय पाठक,

आप कहेंगे कथा समाप्त हो गयी. जय-पराजय से भरी जीवन की कथा कोई अंत नहीं होता. इसी कहानी में क्या हुआ? हरिप्रसाद बाबू का दर्द, नवधनाढ्य टुन्नू बाबू की पहुंच और रामौतार के गुंडों ने क्या ज्ञान और मदन को चैन से रहने दिया? मरणासन्न बटेरन नाई और जौनावाली अशोक जैसे बाज के लिए सबसे कमजोर शिकार थे ही, रजेंदरा को और दो केसों में फंसा दिया गया. करखनिया मजदूर फुलेना कलकत्ते लौट गया. दादी सदमे से मर गयी. मेरी सूचना के अनुसार विभा अगर साल दो साल जी ले तो बहुत है.

इह! हम तो बहुत लिख नहीं पाये. खैर थोड़ा लिखा बहुत समझना जी और चिट्ठी को तार समझना जी.

कोंपल कथा

छायाकार
पवन महेंद्रू

मॉडल

ज्ञान	भवानी
फुलेना	गीता झा
हरिप्रसाद बाबू	परमानंद झा
रामोतार बाबू	ओमपाल सिंह
अशोक बाबू	पी.पी. वर्मा
मदन	कन्हैया
टाटासिंह	पवन महेंद्रू

मॉरीशस खंड की रचनाएं — डा. कमल किशोर गोयनका के सौजन्य से

वह भी

□ रामदेव धुरंधर

पार्टी में शराब के दौर ने दुमन को हीरो बना दिया था... वह उस समाज की भाषा थी. पर रात के सन्नाटे में जो कुछ घटित होता दीख रहा था... उसकी एक अलग ही भाषा थी. आखिर क्या वजह थी कि अन्नू इस भाषा की अनुगूंज में अपना स्वर भी मिलाना चाहती थी...?

खिड़की का परदा हटाने से कमरे में उजास का भर जाना निश्चित था. पर अन्नू को अपने हाथों की थिरकन पर गुस्सा आया. शायद परदा हटाने की गरज से वह किचन का काम छोड़कर इधर नहीं आयी थी. कमरे में बेतरतीब किरणें बिछ गयी थीं और अन्नू अब जो कर सकती थी, वह इतना ही कि अपने हाथों पर गुस्सा करके अंततः चुपचाप किचन को लौट सकती थी. परदे को दोनों ओर से खींच कमरे में बिछी हुई किरणों को वापस लौटाया जा सकता था. पर इससे अन्नू को कोई लाभ नजर नहीं आया. कमरे में अंधेरा हो या उजाला, दोनों स्थितियों में दुमन की उपस्थिति एक जैसी थी. अंधेरे में वह दुमन था और उजाले में भी दुमन था. अन्नू यह फर्क न कर पा रही थी कि कमरे के अंधेरे को वह क्यों ज्यादा पसंद कर रही थी और उजाले के लिए उसके मन में कोई इच्छा नहीं थी.

किरणों के तेज ने दुमन के चेहरे पर जैसे सुइयां चुभो दी थीं और वह कुछ बुदबुदा रहा था. अन्नू उसके जागने की प्रतीक्षा में दीवार से पीठ टिकाये चुपचाप खड़ी थी. ऐसा हो सकता था कि परदे की सरसराहट से उसकी नींद टूट गयी हो, लेकिन अन्नू के धैर्य की परीक्षा लेने के लिए वह आंखें मूंदे चुपचाप पड़ा हो. अन्नू को महसूस हुआ कि दुमन की परीक्षा में वह असफल हो गयी है और दुमन ताड़ना भरे शब्दों से उसे बुरी तरह छलनी कर रहा है. पर यह अन्नू का वहम था. दुमन ने बुदबुदाते हुए करवट बदली और पूर्ववत गहरी नींद में डूब गया. थोड़ी देर पहले वह दायें हाथ पर सिर का भार डाले था और अब सिर का सारा बोझ बायें हाथ पर था. किंतु तब उसका चेहरा अन्नू की ओर था और अब दीवार की ओर. अन्नू को लगा, अब वह कमरे में ज्यादा देर तक ठहर सकती है. कमरे के उजास के प्रति गुस्साने की बजाय वह खिड़की के पास खड़ी होकर बाहर के दृश्यों को बेरोक-टोक देख सकती है. दुमन का नशा अब तक छंट चुका होगा और वह कभी भी उठकर दफ्तर जाने के लिए जल्दी-जल्दी तैयार हो सकता है. अन्नू का इस तरह बेमतलब खिड़की के पास खड़ा रहना और पति को जगाने की बजाय अपने आप में खोयी-सी रहना दुमन को क्रोधित कर सकता है. कोई आश्चर्य नहीं कि वह अन्नू को एक थप्पड़ न मार दे. अन्नू को डराने और पराजित करने के लिए उसके पास पता नहीं कितनी ताकत हो!

ऐसा कभी नहीं हुआ कि अन्नू ने उसके मर्द होने के अधिकार को प्रश्निल आंखों से देखा हो या गुस्से में कही उसकी बात को ही अनसुना किया हो. पर आज तो जैसे वह विद्रोह से लैस थी और दुमन के हर गुस्से का जवाब तैयार था उसके पास.

वह आशंकित हो सकती थी कि किस मुद्दे पर वह विद्रोही रुख की रूपरेखा तैयार कर रही है. दुमन से लड़ने के लिए उसके पास आखिर वह आत्म-बल कहां था जो वह लड़ाई का ताना-बाना बुन रही है? ठंडे दिमाग और सुस्त मन को आज किस झंझावत ने चुनौती दी थी कि कल की अन्नू आज अपने भीतर कोई चेतना महसूस कर रही थी!

सच पूछा जाये तो इस सुलगन के लिए अन्नू के पास कोई निर्धारित मनोभूमि नहीं थी. सामाजिक मान्यताओं के आधार पर दुमन उसका पति था. घर को सजाने के लिए फर्नीचर खरीदने में दुमन ने कभी कंजूसी नहीं की. अन्नू के लिए नित नयी साड़ियां खरीद लाना दुमन के लिए जैसे एक अनिवार्यता थी. ऐसा सब कुछ था अन्नू के पास जो उसे धनी औरत का नाम देता था. अन्नू को अपनी इस संपन्नता का गुमान था.

नशे की हालत में दुमन को अपनी देह की सुध नहीं थी. अन्नू उसके नशे में होने को उतना ही बर्दाश्त करती थी, जितने से वह होश में रहे और मोटर ड्राइव करते वक्त उसके हाथों में कंपन न हो. अन्नू की आंखों के आगे रात का भयावह अंधेरा चीख रहा था. मोटर

की लाइट अंधेरे को मिटाकर आगे बढ़ने का रास्ता दिखा तो सकती थी, और अन्नू भरोसा कर सकती थी कि एक घंटे का समय बहुत है घर पहुंचने के लिए. पर दुमन की बेसुधी अन्नू के भीतर तरह-तरह की आशंकाएं पैदा कर रही थी. कितनी ही बार ऐसा घटित हो चुका था कि दुमन ने पार्टी में कुछ ज्यादा पी ली और फिर उस रोज रास्ते में तरह-तरह की मुसीबतों का सामना करना पड़ा. मोटर किसी पेड़ से टकराते-टकराते बची या सीधा-समतल रास्ता छोड़कर खाई में गिरते-गिरते.

मिस्टर चरण ने पार्टी का एकमात्र हीरो दुमन को घोषित किया था. सभी मर्द पैग लेने से हाथ पीछे खींच चुके थे, जबकि दुमन को अभी कई पैग गटकने का जोश बना हुआ था. मिस्टर चरण 'हीरो' शब्द से उसका हौसला बढ़ाये जा रहे थे. सभी मर्दों की हंसी उड़ाते हुए मिस्टर चरण बार-बार एक ही बात दुहरा रहे थे कि एक अकेला दुमन फौलादी कलेजे का आदमी है. बाकी सब तो मुर्गी का दिल रखनेवाले साधारण आदमी हैं. खुद मिस्टर चरण ने स्वीकार किया कि दुमन के सामने आज वह बेहद बौना आदमी बन कर रह गये हैं. खैर, अगली किसी पार्टी में नये सिरे से होड़ लगेगी. दुमन बार-बार हीरो नहीं हो सकता.

मिस्टर चरण की इन बातों में अन्नू को व्यंग्य का आभास नहीं मिला था. वह समाज आखिर शराब की बुनियाद पर ही तो खड़ा था. इधर उधर की औपचारिक बातों में पार्टी के सदस्य एक दूसरे की समस्या को सुनते और निदान के लिए माथापच्ची करते. इस प्रक्रिया में दिमागी थकन की शिकायतें शुरू होतीं और शराब के लिए पृष्ठभूमि अपने-आप तैयार हो जाती. कालाबाजारी से लेकर राजनेताओं के लिए चुनाव की योजनाएं तैयार करने के लिए पार्टी का कोई जवाब नहीं था. शराब के साथ-साथ पार्टी के लिए शबाब भी जरूरी था. शराब के नशे को औरत के जिस्म के साथ जोड़कर एक नया नशा ईजाद होता था. पत्नी अकसर वहां एक जिस्म में बदल जाती थी और जिस्म का हर मर्द अधिकारी हो जाता था. मिस्टर चरण ने अन्नू को धीरे से अपनी बांहों में खींच लिया था. अन्नू उस समाज की आदी थी. दुमन का नशे में होना उसके लिए दूसरे शब्दों में पूरी छूट का पर्याय था.

परंतु पार्टी के बाद.......? अन्नू को यदि चिंता थी तो केवल इस बात की कि घर जाने के लिए नशे में धुत्त दुमन मोटर चलायेगा.

अन्नू ने ड्राइविंग सीखी थी, लेकिन उसके पास लाइसेंस नहीं था. दुमन इस बात पर बल देता था कि जल्द-से-जल्द अन्नू को लाइसेंस मिल जाना चाहिए. दुमन के हिसाब से समय की तेज रफ्तार के साथ कदम मिलाकर चलने के लिए अन्नू के पास लाइसेंस जरूरी था. अन्नू स्वयं आधुनिका बनने की दौड़ में दुमन के साथ थी. उसे खुशी थी कि दुमन पति होने के साथ उसका सहयोगी भी था.

मिस्टर चरण ने जब देखा कि दुमन मोटर चलाने में पूरी तरह असमर्थ है तो उसने कहा था, "आज की रात आप दोनों मेरे मेहमान हैं."

इस आतिथ्य के पीछे अन्नू को लगा था कि मिस्टर चरण दुमन के मरे जाने की प्रतीक्षा में है. उसके हाथ अन्नू को विवस्त्र करने के लिए कुनमुना रहे हैं. अन्नू मन-ही-मन मुस्करायी थी. विवस्त्र होने में आखिर उसे क्या तकलीफ हो सकती थी! कल जब दुमन पूछेगा कि सारी रात तुम कहां थीं, तो वह निस्संकोच कह तो सकेगी ही कि मैं वहां थी, जहां मुझे होना चाहिए था. पर इस खेल में रुकावट थी. वैसे दुमन ने प्रोमोशन, पैसा, बड़प्पन के नाम पर हर जुए को ठाठ से खेला था. मिस्टर चरण यदि कोई मंत्री होता तो यह निश्चित था कि अन्नू से अगली सुबह को यह नहीं पूछा जाता कि वह सारी रात कहां थी! मिस्टर चरण की पत्नी लकुए से पीड़ित थी और कई वर्षों से बिस्तर पर धंसी थी. दुमन
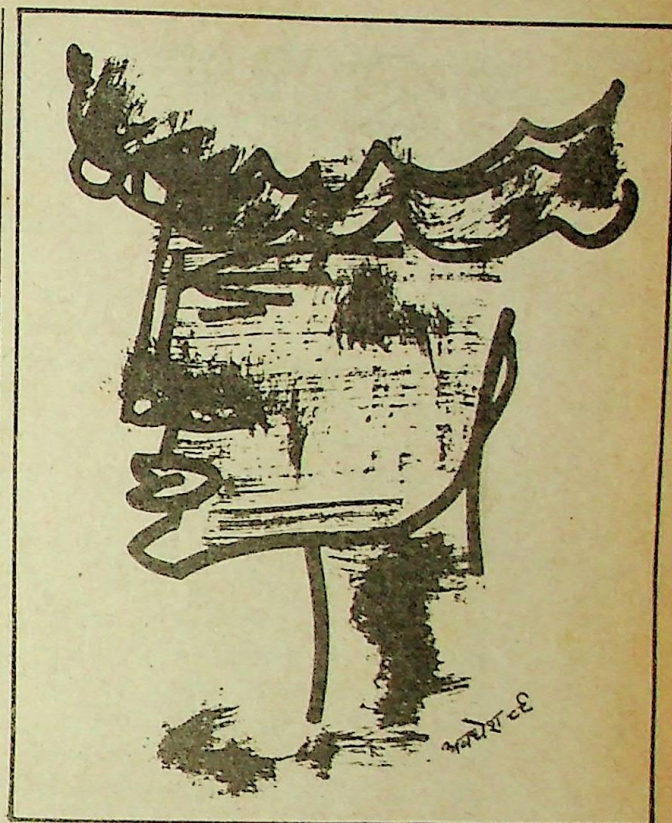
इस आदमी पर थूकता था और इससे बोलते वक्त तकलीफ महसूसता था. ऐसे आदमी के साथ सारी रात अन्नू का रह जाना दुमन की प्रतिष्ठा का लांछित हो जाना था. अन्नू अपनी शारीरिक भूख को अनसुना करने को तैयार नहीं थी लेकिन वह यह भी नहीं भूल सकती थी कि जिस दुमन ने उसे ऐसी पार्टियों का सुख दिया है, अगले किसी भी क्षण वही दुमन उसके पैरों में जंजीर डालकर किसी अंधेरे घर में बंद भी कर सकता है. उसने गौर से एक नजर दुमन को देखा था और एक नजर मिस्टर चरण को. दुमन शराब के नशे में था और उसकी आंखें बंद थीं. दूसरी ओर, मिस्टर चरण की आंखें वासना भरी बिल्लौरी हो गयी थीं. अन्नू बीच में थी. उसे दोनों में से एक को चुनना था और वह मिस्टर चरण के आलिंगन को अपने लिए जरूरी मान रही थी. पर.....!

पार्टी के अंत में अन्नू ने मोटर खुद ड्राइव की थी और उसके बगल में बेहोश-सा दुमन पसरा हुआ था. अन्नू को मोटर की लाइट ने संभाला तो था पर दुमन का अचेत-सा होना उसके लिए दोहरे अंधकार जैसा था.

रास्ते के बीचोंबीच खड़े एक आदमी ने मोटर को रोका था. अन्नू के शरीर में डर की सिहरन फैल गयी थी. मोटर को इस हालत में रोकना ही पड़ा था. ब्रेक लगने से दुमन को होश आया था. उसने किसी तरह लड़खड़ा कर बैठते हुए कहा था. "मैं....! मैं.... मैं कहां हूं?"

"नरक में."

"नरक में...!" दुमन आंखें भींचने लगा था.

"देखो, सामने एक आदमी है!"

"कहां है आदमी?" दुमन अब भी आंखें भींच रहा था.

"अंधे हो क्या!"

दुमन ने इसी स्थिति सामने के आदमी को ठीक से देखा था. अन्नू ने लाइट बुझायी नहीं थी. आदमी तेज चाल में मोटर की ओर आ रहा था. वस्तुस्थिति दुमन की समझ में कुछ-कुछ आयी थी. उसने जेब से पेस्तौल निकाल ली थी.

दुमन सोकर उठा तो दफ्तर जाने के लिए क़ाफी देर हो चुकी थी. आंखें मलते हुए उसने अन्नू को पुकारा. रात की ख़ुमारी आंखों में ऐसे तारी थी कि खिड़की के पास खड़ी अन्नू को पहचानने के लिए उसे कुछ देर सोचते रह जाना पड़ा. उसे न जगाकर अन्नू ने गलती की थी. उसे पता था कि आज दुमन को किसी से मिलना था. समय निर्धारित था, नौ बजे का. कोई सैलानी था. लेकिन सैलानी से ज्यादा वह था कालाबाजारी का छंटा हुआ आदमी. वह चार वीडिओ सेट बेच रहा था दुमन के हाथों.

"तुमने मुझे जगाया क्यों नहीं?"

"जगाया तो..."

"तो फिर मैं जगा क्यों नहीं!"

"मैं नहीं जानती."

बाल फिल्म–
'अंकुर, मैना और कबूतर'

भारत की बाल चित्र समिति ने नवंबर, 1989 में दिल्ली में छठा बाल फिल्म समारोह आयोजित किया. इस समारोह में प्रदर्शित पहली फिल्म का गौरव मिला–भारत-मॉरीशस द्वारा संयुक्त रूप से निर्मित बाल फिल्म 'अंकुर, मैना और कबूतर' को. मॉरीशस प्राकृतिक सुषमा का देश है. वहां एक जमाने में 29 प्रकार के पक्षी थे, लेकिन अब केवल नौ प्रकार के बचे हैं. डोडो नामक पक्षी सोलहवीं शताब्दी में ही समाप्त हो गया था. डच नाविकों ने अपनी पेट-पूजा में उसे खत्म कर दिया. अब वहां पिंक पिजंस के लुप्त होने का संकट पैदा हो गया है, पर अब वहां पर्यावरण को बचाने की बेचैनी है: 'अंकुर, मैना और कबूतर', इसी पिंक पिजंस को बचाने के प्रयास की फिल्म है. मॉरीशस के फिल्म डेवलपमेंट कार्पोरेशन तथा भारत की बाल चित्र समिति ने मिलकर इस बाल-फिल्म का निर्माण किया. इसकी कहानी लिखी है मॉरीशस के लेखक रमेश रामदयाल ने तथा निर्देशन किया है मदन बवारिया ने. यह बाल फिल्म दो देशों के परस्पर सहयोग का उदाहरण तो है ही, साथ ही बच्चों में अपने पर्यावरण की रक्षा तथा उसके प्रति संवेदनशील होने का भाव भी उत्पन्न करती है. 'अंकुर, मैना और कबूतर' मॉरीशस के जीवन, प्राकृतिक सौंदर्य तथा मानव-नियति की सच्चाइयों को जीवंतता के साथ उद्घाटित करती है. □

–डॉ. कमल किशोर गोयनका

"खिड़की के पास क्या कर रही हो?"

"खड़ी हूं."

"मौसम कैसा है?"

"पानी बरसेगा."

दुमन ने उसे प्यार करना चाहा, आलिंगन में लेकर चूमना चाहा. पर दुमन ऐसा नहीं था कि प्यार को बिजनेस पर हावी होने देता. उसने जम्हाई ली और तैयार होने चल दिया. दुमन उसे डांटने के लिए कुछ घड़ी यहां रुक जाता तो अन्नू हमेशा की तरह चुप न रहती और दुमन देखता कि अन्नू में काफी परिवर्तन आ गया है. दुमन के चले जाने से वह क्रोध में कुछ बुदबुदायी और पलंग पर बैठ गयी. पर उसने यह भी महसूस किया कि दुमन के गुस्से के प्रत्युत्तर के लिए उसके पास सामर्थ्य की कमी है. शायद इतनी जल्दी, रातों-रात, आत्म-परिवर्तन का विश्वास कर पाना आसान नहीं था.

उसे लगा, शराब और सिगरेट की गंध से सारा कमरा जहरीला हो उठा है. दुमन नहाकर बैठक में आ गया था और उसे पुकार रहा था. उसने दुमन की आवाज सुनी, लेकिन टस-से-मस नहीं हुई. दुमन कभी भी दरवाजा धकेलकर भीतर आ सकता था और उसके बहरेपन पर उसे डांट सकता था. इस अहसास से अन्नू को कंपकंपी-सी हुई. आखिर कितनी कठिनाई से अन्नू ने मोटर को घर तक पहुंचाया था. वह बेहद थक गयी थी. उन सारी कठिनाइयों का जिम्मेदार दुमन ही तो था. यदि उसे अपनी सामर्थ्य का थोड़ा भी विश्वास हो जाता तो वह दुमन को धिक्कारती कि वह कैसा पति है जो रात में यह एकदम भुला बैठा था कि उसकी पत्नी साथ में थी. यदि अन्नू ने अपनी अक्ल से काम न लिया होता तो दुमन का सबसे बड़ा दुश्मन मिस्टर चरण अन्नू के जिस्म को सारी रात अपनी बांहों में छिपाये होता!

दुमन भरसक जल्दी तैयार होता रहा, लेकिन घड़ी की सुइयां कब की नौ बजने की सूचना दे चुकी थीं. दुमन की ऐसी जल्दबाजी के क्षणों में अन्नू प्यार के साथ उसके जूतों के फीते बांधती थी. उसकी टाई ठीक करती थी और कोट पहनाने के लिए एक मीठी-सी अदा के साथ उसकी बांहों में बंध जाती थी.

आज अन्नू ने कुछ नहीं किया. इस विद्रोह के पीछे मिस्टर चरण लक्षित नहीं था. या ऐसा भी नहीं कि पार्टी की वीभत्सता ने अन्नू के नारीत्व को चुनौती दी थी और वह अपनी अस्मिता की तलाश में दुमन के सामने विद्रोही रुख के साथ खड़ा होने की सोच रही थी. दरअसल इस तरह की पार्टियों का एक अंग तो अन्नू बन ही गयी थी. शुरू-शुरू में उस वातावरण से कतराने की कोशिश करती थी, लेकिन धीरे-धीरे उसने अपने आप से समझौता कर लिया था. अंततः उसने समझ लिया था कि वह उस समाज से भाग तो सकती है, किन्तु दुमन से नहीं. जबकि दुमन उस समाज की ही उपज था और उसके बिना जी नहीं सकता था.

"मैं मोटर ड्राइव कर रहा होता तो हरगिज नहीं रुकता." दुमन ने अलमारी से पैसे निकालकर अपने बटुए में भरते हुए कहा, "साले ने नींद हराम कर के रख दी!"

"पिस्तौल तो हाथ में थी."

"तो क्या मैं उसकी हत्या कर देता!"

"तुम तो हत्या करने के लिए तैयार थे."

"हत्या तो कर सकता था. पर इसके बाद क्या होता?"

"कुछ नहीं."

"मुझे सजा नहीं होती?"

"बड़े लोगों को भी वही सजा होती है?"

"तुम बेसिर-पैर की बातों से मेरा दिमाग क्यों खा रही हो!"

"तुम मुझे बेचते क्यों हो?" अन्नू ने विद्रोही रुख प्रकट करने का साहस किया.

"कौन कहता है, मैं तुम्हें बेचता हूं!"

"मैं....!"

दुमन खिलखिलाकर हंसते हुए बोला, "लोग सच कहते हैं कि औरत एक पहेली है. जहां तक मुझे याद है, पार्टियों में जाने के लिए तुम नयी-नयी साड़ियों की मांग करती हो. अब कहो, मैं तुम्हें बेचता कब हूं? मैं तो तुम्हें ऊंचे लोगों के बीच ले जाकर तुम्हारा मान बढ़ाता हूं."

"लेकिन मैं थक गयी हूं."

"मान के बोझ से थक गयी हो!"

"नहीं, अपने पापों के बोझ से."

दुमन दो-चार बार 'पाप' शब्द बुदबुदाता रहा और फिर हंसने लगा. हाथ की घड़ी देखी. देर हो जाने पर झल्लाया हुआ तो था ही. अन्नू की कमर भींचकर उसने बहशी प्यार की कुछ छाप छोड़ी और मोटर में जा बैठा. अन्नू को लगा कि इस तरह उसके विद्रोही रुख की हंसी उड़ायी गयी है.

ड्राइवर की सीट पर एक महिला को देखकर वह आदमी झेंप गया था. दुमन ने उस आदमी को डांटकर अपनी ओर बुलाया था और शीशा कुछ नीचे कर दिया था. आदमी ने हाथ जोड़कर कहा था, "मेरी पत्नी बहुत बीमार है. उसे अस्पताल ले जाना है. मेरे गांव में मोटर मिलनी बहुत मुश्किल है. रात में मोटर-मालिक हमारे लिए अपनी नींद गंवाना नहीं चाहते. टूरिस्टों को हवाई अड्डे पर पहुंचाना हो तो ये झटपट चल देंगे."

"मुझसे क्या चाहते हो?" दुमन का नशा हिरण हो गया था.

"मेरी पत्नी को अस्पताल पहुंचाने में मेरी मदद करें."

"मुझे फुर्सत नहीं."

"दया कीजिए साहब!"

"अन्नू, मोटर चलाओ!" दुमन ने अन्नू को आदेश दिया था.

"नहीं साहब! आप ऐसा नहीं कर सकते. मेरी पत्नी मर रही है."

"मैं कुछ नहीं कर सकता."

अन्नू मोटर स्टार्ट करने की कोशिश में अपने हाथ-पांव सुन्न महसूस कर रही थी. उस आदमी को वह जानती नहीं थी और न ही जानना चाहती थी. किंतु एक औरत मर रही थी और अन्नू एक औरत थी. रात की भयावहता का खयाल रखते हुए अन्नू को यह कहने का साहस न हो सका कि मैं तुम्हारी औरत को अस्पताल पहुंचाने के लिए तैयार हूं.

"अन्नू, क्या बात है? मोटर चलाती क्यों नहीं?"

उस आदमी ने अधखुले शीशे में हाथ डालकर दुमन के हाथ से पिस्तौल छीन ली थी. दुमन इस संकट में फंस जाने पर उस आदमी को गाली देने के साथ-साथ अन्नू को डांटने लगा था. अन्नू पहले तो बेतरह डरी, लेकिन अचानक यह घटना उसे बड़ी अच्छी लगी थी. उसने दुमन को घिघियाते कभी नहीं देखा था. घिघियाने की मजबूरी ने दुमन को भिखारी-जैसा बना दिया था. वह हाथ जोड़कर उस आदमी से अपनी पिस्तौल मांग रहा था. आदमी पिस्तौल लौटाने के पीछे शर्त रख रहा था कि उसकी औरत को अस्पताल पहुंचाने में उसकी मदद की जाये. अन्नू को यह सब फिल्मी दृश्य की तरह लगा. पर वह यहां जो कुछ देख रही थी इसका संबंध फिल्म से नहीं था. इसका संबंध उसकी अपनी संवेदना के साथ था. उसका हथियार अजनबी के कब्जे में था और इस हालत में उसे अजनबी की बातों को मानना ही था.

अजनबी ने पिछली सीट का दरवाजा खोलकर बैठते हुए कहा था, "आप मेरी औरत को अस्पताल पहुंचाकर मुझ पर बहुत कृपा करेंगे."

उसका रिरियाना अन्नू को अच्छा नहीं लगा था. वह चाहती थी कि वह आदमी साधिकार मोटर को तब तक अपने वश में किये रहे, जब तक उसकी औरत अस्पताल पहुंच नहीं जाती. पार्टी में शराब के दौर ने दुमन को हीरो बना दिया था. वह उस समाज की भाषा थी. रात को इस सन्नाटे में जो कछ घटित हो रहा था, इसकी अपनी अलग भाषा थी. अन्नू इस भाषा की अनुगूंज में अपना स्वर मिलाकर कहने के लिए विकल थी, 'असली हीरो तो यह अजनबी है! अपनी जान पर खेल कर इसने पिस्तौल छीन ली और दुमन की मोटर को अपने कब्जे में कर लिया. मेरे पति दुमन, तुम हीरो हरगिज नहीं. यदि तुम कुछ हो, तो केवल हीरो का मुखौटा...'

अजनबी चाहता था कि मोटर की रफ्तार तेज की जाये. उसकी विकलता से अन्नू को प्यार हो आया था. उसने सोचा था– 'पति ऐसा भी होता है? क्या सचमुच पति ऐसा होता है? ऐसा होता है... पति?'

घने जंगल और टेढ़े-मेढ़े रास्ते के बाद एक बस्ती दिखाई दी थी. घुप्प अंधेरे के बीच कुछ टिमटिमाते दीपों से उस बस्ती का अक्स उभरा था. मोटर के रुकते ही अजनबी अपने घर की ओर भागा था. परंतु उसकी दौड़-धूप अंततः उसके सपने को जीवंतता न दे सकी थी. पत्नी मर चुकी थी. बड़ों के साथ दो-तीन बच्चे भी रोने में शामिल थे. आंगन के एक पत्थर पर दीया रखा हुआ था. हवा के झोंके उसे बुझाने के सतत प्रयत्न में थे. कुछ लोग दीये के इर्द-गिर्द खड़े थे, जिनकी परछाइयां बेहद लंबी थीं. किंतु कुछ दूरी में चारों ओर अंधेरे का विस्तार था, जो हर आदमी की परछाईं को मानो बड़ी मुस्तैदी से कुचल रहा था.

प्रकाश नाम था उसका. उसकी पत्नी से बलात्कार किया गया था. इस हादसे ने पत्नी को आत्महत्या के लिए विवश किया था. प्रकाश जब काम से लौटा तो पत्नी के शरीर में जहर फैल चुका था और उसके होंठ नीले पड़ चुके थे. पड़ोस की स्त्रियों ने उसे अस्पताल ले जाने के लिए टैक्सी ढूंढी थी लेकिन एक भी टैक्सी ऐन वक्त पर नहीं मिली. जहर ने शरीर में ऐंठन पैदा कर दी थी और वह कमरे में लोट रही थी. दोनों बच्चे काफी देर तक मां से चिपककर रोते रहे थे. बलात्कारी न जाने कौन था! लेकिन इतना तय था कि वह इस बस्ती का नहीं था.

बस्ती से कुछ दूरी पर पांच सितारा पैराडाइज टूरिस्ट होटल होने के कारण बस्ती की दोनों टैक्सियां टूरिस्ट ग्राहकों की टोह में रात-दिन होटल के फाटक पर खड़ी रहती थीं. प्रकाश मोटर के लिए दौड़ता रहा. होटल तक गया लेकिन पता चला कि हवाई अड्डे पर ढेर सारे पर्यटक पहुंच रहे हैं. फिर क्या था टैक्सियां पैसे के पीछे हवाई अड्डे के लिए निकल गयी थीं. समुद्र किनारे स्थित उस होटल को एक ओर विस्तृत समुद्र का दर्शन होता था और उसके पिछले भाग में घने जंगल थे. टूरिस्टों को उस जगह में किसी चीज की कमी नहीं थी, किंतु आस-पास की बस्तियों के लोग अब छोटी-छोटी चीजों के अभाव से गुजरने लगे थे. जंगलों के चारों ओर फेंस खड़े हो गये थे. बताने वाले आदमी का कहना था कि भोजन पकाने के लिए लकड़ी तो अब सपना बनती चली जा रही है. समुद्र से मछली मारने के लिए दूर-दूर तक रोक का नियम लागू हो जाने से इधर के गरीब लोग अब समुद्र में बंसी डुबाने का साहस नहीं कर पाते. अजीब बिडंबना है. मछलियों पर यहां के कितने लोग अपनी गृहस्थी चलाते थे!

अन्नू के पास खड़े वृद्ध ने संजीदगी के साथ अपनी बातें पूरी की थीं, "टूरिस्ट औरत-मर्द नंगे शरीर इधर घूमते हुए दीख जाते हैं. बच्चों पर बहुत बुरा असर पड़ रहा है!"

दुमन अभी लौटा नहीं था और अन्नू उसके लौटने के इंतजार में भी नहीं थी. अखबार वाला ऊंची आवाज में ताजा छपी खबरों का हवाला देते हुए दौड़ता जा रहा था. अन्नू ने नौकरानी को अखबार खरीद लाने के लिए कहा. यह अपने आप में एक विचित्र घटना थी कि अन्नू अखबार के लिए उत्सुकता दिखा रही थी. नौकरानी जैसे कुछ न समझी और उसे देखती ही रह गयी. अन्नू ने उसे डांटा और अखबार के लिए उसके हाथ में दो रुपये रख दिये.

चार पृष्ठों के अखबार को उलटने-पलटने के बाद अन्नू निराश हो गयी. उस बलात्कार की कहीं चर्चा नहीं थी. उसने अखबार फेंक दिया. पर उसने तत्काल नये सिरे से धैर्य के साथ अखबार उठाया और अपनी चाहत के अनुसार उस एक खबर के लिए विकल हो उठी. काश, कहीं दीख जाता कि प्रकाश ने पत्नी का बलात्कार हो जाने पर बौखला कर प्रतिशोध के तहत किसी से बलात्कार कर डाला है. महिला अधमरी पायी गयी है. अभी पता नहीं चला कि महिला कौन है, कहां की है! उसके जीने की कोई आशा नहीं.

...यदि वह महिला अन्नू होती तो मरने से पहले वह एक काम अवश्य करती. खबर के सारे शब्दों को लाल स्याही से रेखांकित कर देती और नीचे एक नोट लिख देती–वह भी बलात्कार कर सकता है. □

□ लोचन विदेशी

संबंधों की एक सीमा होती है. पर जब यह सीमा लांघने की कोशिश की जाती है... तब? कैसा होता है आस्थाओं का टूटना?

आज उसका मन बहुत खिन्न था. कब से वह एकाग्रचित हो पढ़ने की बेकार कोशिश कर रहा था. सामने मेज पर खुली पुस्तक को वह शून्य दृष्टि से देख रहा था. पहले अक्सर जब पाठ्य पुस्तक से उसका जी उब जाता था तो वह माधुरी के दो-एक पन्ने उलटकर जी बहला लेता था. मगर आज फ्रेंक हॉरीस की गुदगुदानेवाली दास्तान भी उसका मन न बहला सकी.

कालेज ही में दोपहर से वह खोया-खोया-सा महसूस रहा था. उस चुलबुले छात्र से अध्यापक ने भी पूछा था, "अजय, प्रश्नों का जवाब देकर आखिर तू ही तो क्लास की इज्जत बचाता है, ये आज तुझे हो क्या गया है कि आसान सवालों के उत्तर भी नहीं दे पा रहा है?... बीमार है क्या!"

कछुए की भांति जरा-सा सिर हिलाकर मंद मुस्कराहट से अजय ने नकारात्मक उत्तर दिया था.

"तो पिताजी ने कुछ..."

"नहीं नहीं सर, पिताजी ने कुछ नहीं...."

अध्यापक अजय को मूड में लाने के लिए मजाक के अंदाज में कहा था, "कहीं तुम प्यार-वार के चक्कर में तो नहीं!"

यह सुनते ही अजय का चेहरा पल भर को फक पड़ गया था.

यकीनन आज अजय को मधु की याद बहुत सता रही थी. उसकी एक झलक देखने के लिए वह बेताब हो रहा था. आज ही उसके क्लासफेलो ने मधु की बात छेड़कर उसकी याद को गुदगुदा दिया था.

अजय और मदन गांव के कालेज में पढ़ते थे. सायंकालीन पाठशाला में हिंदी भी पढ़ते थे. फिलहाल अजय को हिंदी शिक्षालय में जाने की मनाही है.

आज ही कालेज में रिसस के वक्त जब मदन दालपूड़ी खरीदने चौराहे पर फेरीवाले के पास जा रहा था तो उसने मधु को पटरी पर जाते हुए देख लिया था.

मदन ने सोचा था शायद अजय ने भी देख लिया होगा उसे. यह जानने के लिए ही उसने उससे पूछा था, "देखा तुमने उसे!"

"किसे!"

"मधु को. अभी जाते हुए."

"नहीं तो."

"चौराहे पर जाकर देख लो!.... क्या बनठन के जा रही है! साड़ी में तो वह जन्नत की हूर लग रही है."

"अच्छा! तो उसने भी देखा तुझे!"

"देखा भी और देखकर मुस्करायी भी." मजाक के अंदाज में मदन बोला था.

"बड़े भाग्यवान हो दोस्त!"

"बस, बुरा मान गये." नाहक कहा.... "तुम भी आना आज रात मंदिर में. हम छात्रों का भी प्रोग्राम है. शायद मधु से गुफ्तगू करने का मौका मिल जाये!"

"और वह अध्यापक का दादा पीछे पड़ गया तो."

"अरे यार, बड़े डरपोक हो. आना तो सही."

मुद्दत से अजय हिंदी सायंकालीन विद्यालय में पढ़ने नहीं जाता है. पाठशाला के अध्यापक ने उसे रिस्टिकेट कर दिया था. इसीलिए अजय हिंदी शिक्षक से सख्त नफरत करता है और भय भी खाता है. साला, बड़ा गुस्सैल है. जब देखो पारा चढ़ा रहता है. वह बेसाख्ता कह देता है, "स्पेर ज रोड स्पॉइल ज चाइल्ड."

सहशिक्षण के तो कट्टर विरोधी थे. क्या मजाल कि कोई छात्र किसी छात्रा से मेलजोल बढ़ा ले. ऐसी हरकत देख ले तो शेर हो जाता है. एक वर्ष पहले ऐसी ही एक खूबसूरत हरकत अजय से हो गयी थी. छात्रों के सम्मेलन के समक्ष अध्यापक ने अजय के चरित्र की धज्जियां उड़ायी थीं. जबरन अजय को वचन देना पड़ा था कि आइंदा वह मधु से

नहीं मिलेगा. मगर मधु को भूलना दुश्वार था उसके लिए. काश, कहीं तनहाई में उससे दो बातें कर लेता! उससे मिलने के लिए वह तड़प उठा.

उसने पुस्तक बंद कर दी. उठा. धीरे से कुरसी पीछे सरका खामोश कमरे में नजर दौड़ायी. उसका छोटा भाई पांव पसारे सो रहा था. अजय ने सावधानी से साइकिल निकाली. दूर आते-जाते राहगीरों की पदचांप की आवाज साफ सुनाई दे रही थी. उसने अनुमान लगाया, शायद मुसलमान भाई होंगे. नमाज पढ़कर घर जा रहे होंगे. अभी-अभी बूंदा-बांदी हुई थी. हवा में नमी थी. चांद पूरे शबाब पर था. मगर वह अजय को बेनूर-सा लगा. उसने एक गहरी सांस ली और साइकिल पर सवार हो गया.

मंदिर दूर न था. मिनटों में पहुंच गया. देवालय के प्रांगण में अजय ने पैदल ही प्रवेश किया. वह हिचकते चोर की भांति हाल की ओर बढ़ रहा था. भजन, कीर्तन हॉल में जारी थी. लोग समवेत स्वर में गा रहे थे— 'अब सौंप दिया इस जीवन का सब भार तुम्हारे हाथों में.' हाल के बाहर भी इक्का-दुक्का भक्त चहलकदमी कर रहे थे. क्योंकि एकादशी में भक्तों को रात भर बाकायदा जागना पड़ता है. दो-एक महिलाएं मटरगश्ती करते अपनी बहू-बेटियां के शिकवा-शिकायत में मशगूल थीं.

अजय दीवार की ओट से हाल में नजर दौड़ाने लगा. हाल ज्यादातर किशोरियों से खचाखच भरा हुआ था. शोर-शराबे के बावजूद पुजारी ने मंत्र उच्चारण कर दिया था. हवन कुंड के चारों तरफ छात्राओं का ही अधिकार था. मधु भी शायद पूजा की बेदी के आसपास ही बैठी होगी. इसी आशा से अजय एक एक युवती को पहचानने की कोशिश कर रहा था. इस गहमागहमी में अजय ने बहुतों को पहचाना भी. मगर आसपास मधु कहीं भी नहीं थी. मुमकिन है, पूजा करके चली भी गयी होगी. रहकर करती भी क्या! अजय ने अनुमान लगाया. गत कृष्ण जयंती उत्सव में रात बीतने तक वे एक-दूसरे के कितने करीब थे. आज यह वियोग उससे सहा नहीं गया होगा. ....मगर उसका मन कहता था मधु यहीं कहीं होगी.

वह पूछे भी तो किससे! मदन का कहीं भी नामोनिशान नहीं. वह इसी खयाल में था कि इतने में उसने प्रदीप को आते देखा. अजय को गुस्सा आ गया. अध्यापक का दलाल! अभी देख लेगा तो गुरु के कान फूंक देगा और शिक्षक उफनता आयेगा. न आव देखेगा न ताव, खरी-खोटी सुनाने लगेगा— 'फिर आ गये छेड़खानी करने. गलीज हरकतों से बाज नहीं आओगे. फौरन दफा हो जाओ वरना...!' जाने क्या-क्या बकने लगेगा. अतः वह पीछे ओसारे में खिसक, चौकस हो गया.

इतने में एक वयस्क छात्र ने ऐलान किया कि भक्तों के मनोरंजन हेतु एक रूपक प्रस्तुत किया जायेगा. एक समय था, जब अजय खुद इस प्रकार के आयोजनों का संचालन करता था. नाटक में तो उसकी दिलचस्पी थी ही, तीज-त्यौहारों में रूपक आदि भी प्रस्तुत करता रहता था. गत पारितोषिक वितरणोत्सव में तो उसी के निर्देशन में शकुंतला नाटक खेला गया था. वह खुद बना था दुश्यंत और शकुंतला के रोल में मधु खूब फबी थी. सभी ने उन्हें शाबासी दी थी.

मगर जब अध्यापक ने अजय और मधु को असली जिंदगी में भी दुश्यंत और शकुंतला की भांति प्रणय क्रीड़ा करते देखा तो भड़क उठे थे, "अभी तुम उम्र और बुद्धि के कच्चे हो..."

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहि विकास यही काल...

शिक्षक आवेश में बेसाख्ता कहता गया था और उसने मधु को घूरते हुए कहा था, "गांधीजी ने भी कहा है— औरत मां भी है और नरक का द्वार भी. यदि तुम अध्ययनकाल में ही इश्क फरमाने लगे तो तुम्हारा पतन होकर रहेगा." आखिरी जुमला बोलते वक्त अध्यापक ने अजय को तरेरकर देखा था.

शिक्षक को तो पहले से ही अजय के चरित्र पर शक था. दो-एक चेले उसके खिलाफ गुरु के कान फूंक चुके थे. सो अध्यापक मौके की ताक में था. इस दिन उसने सारा गुब्बार निकाल दिया था. डांट फटकार कर अजय को विद्यालय से फौरन दफा होने के लिए कहा था उसने.

अजय अपनी हरकत पर शर्मिंदा था. उसे सावधानी बरतनी चाहिए थी. सब चौपट हो गया था. वह अध्यापक की निगाह से गिर गया था. उसे बड़ी ग्लानि हो रही थी. अकसर उसे वह फिल्मी धन याद हो आती है— 'छोटी-सी एक भूल ने सारा गुलशन जला दिया.'
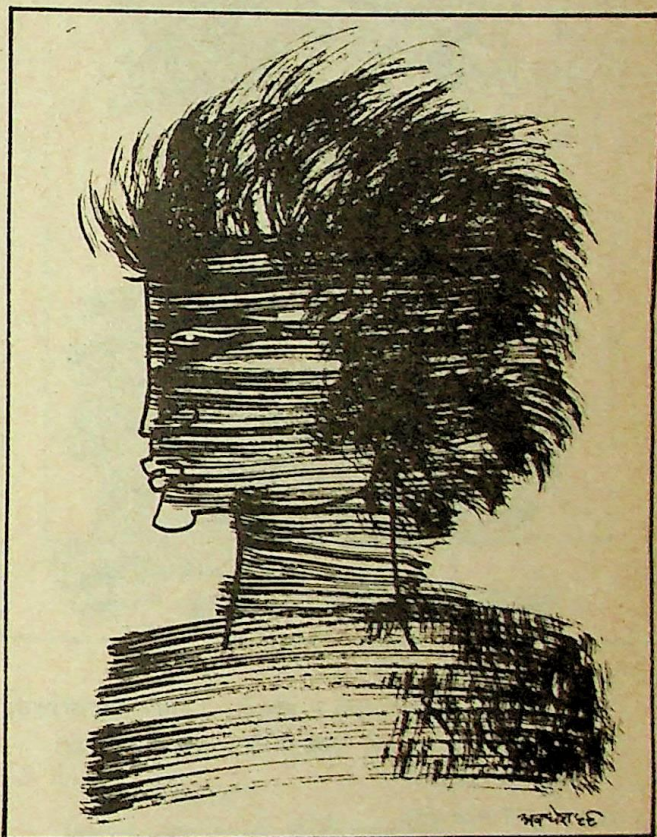
तब से आज हाल में आने का साहस किया था अजय ने.

मंच पर नाटक खेला जा रहा था. रूपक मीरा के जीवन पर आधारित था. एक खूबसूरत किशोरी मीरा का रोल अदा कर रही थी. प्रसंग बड़ा करुण था. उसके हाथ में राणा द्वारा भेजा गया जहर का प्याला था. वह अपने इष्टदेव की दुहाई देकर विषय पीने जा रही थी. बावजूद इसके अजय का मन उसमें नहीं रम रहा था. मधु की जुदाई की कसक उससे अब और बर्दाश्त नहीं हो पा रहा था. उसकी एक झलक के लिए वह कब से हाल में इधर उधर ताक-झांक रहा था. हाल के दूसरी तरफ जाने के लिए वह कदम उठाने ही वाला था कि किसी ने पीछे से उसके कंधे पर दस्तक दी.

"हलो अजय!"

अजय ने आगंतुक को घूर कर देखा.

"कब से मैं तुझे यहां खड़ा देख रहा हूं."

"तो तुमने दलाली नहीं की." अजय सरोष बोला.

"मैं गुरुजी का चमचा नहीं अजय.... वास्तव में जतन ने चुगली की थी. उसी ने तुम्हारा प्रेम पत्र मधु की पुस्तक से निकाला था."

"तो आज सफाई दे रहे हो!"

"तुमने मौका ही नहीं दिया."

"उससे तो मैं निबट लूंगा."
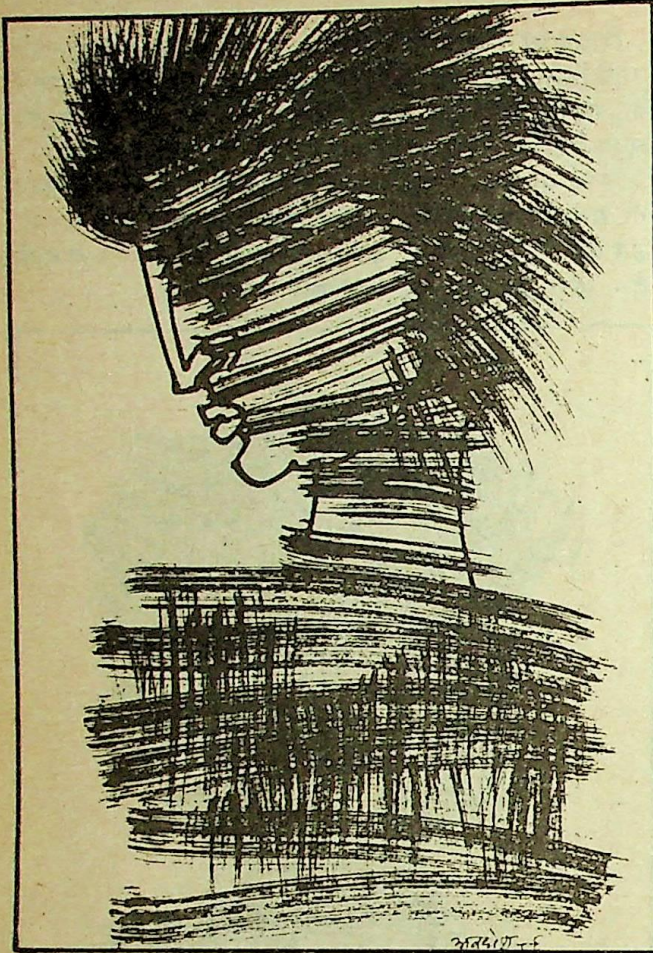
क्षण भर दोनों खामोश रहे.

"यहां ओस पड़ रही होगी. चलो न, हॉल में." प्रदीप ने निवेदन किया.

"तुम तो जानते ही हो मेरी मजबूरी."

"...कुसुम से मिलोगे!"

अजय चुप्पी साधे रहा.

"आजकल मधु से भी मन-मुटाव हो गया है मेरा.... तुम यहीं इंतजार करो. उसकी सहेली से कहलवा देता हूं कि तुम आये हो."

प्रदीप चला गया. अजय को अब कहीं कुछ तसल्ली हुई. कुसुम की मदद से मिलन होकर रहेगा. हमजोलियों में वही तो एक मधु की हमदर्द और हमराज रही है.

उसे अजय कैसे भूल सकता है भला! एक बार वह सप्ताह भर गैरहाजिर था. मधु तो बेहाल हो गयी थी. कुसुम ने ही उसे ढाढस दिया था. अपनी सहेली की मायूसी का कारण पूछा था उसने.

"क्या बात है मधु. आजकल खोयी खोयी नजर आती हो!"

"नहीं तो!"

"मुझसे भी पर्दा!"

"यूं ही, गुरुजी से खफा हूं. वे हमारा बहुत अपमान करते हैं... मैं पढ़ना छोड़ दूंगी." और वह फफक पड़ी थी.

उसे नसीहत देते हुए कुसुम ने समझाया था, "गुरुजी तो हमारे ही भले की बात कहते हैं. यदि हम पर से अंकुश उठा दें तो हम भी गुमराह हो जायेंगे... शीला की तरह...."

"तब तो तुम से कुछ भी कहना बेकार है."

"साफ साफ कहो न."

"मेरा एक उपकार करोगी."

"बताओ तो सही."

"मेरी सारी किताबें अजय को दे आओ उसके घर."

"बावली हो गयी है क्या?"

"तुम नहीं जानती. वह फटेहाल गुजारा करता है. पाठ्य पुस्तकों के लिए कहां से पैसे लायेगा. दो जून की रोटी के लिए तड़के सवेरे रोटी बेचने जाता है. ..गुरुजी को देखा नहीं, उस दिन कितना अपमान कर दिया था उसका! हम सब के सामने.. इसे तुम हमदर्दी कहो या.. प्यार!"

सहेली की खातिर कुसुम मजबूरन अजय के घर गयी थी. मधु उसका कितना खयाल करती है! उसी दिन अजय ने उसके प्यार से विह्वल होकर दो कतरे आंसू बहाए थे.

प्रदीप को आते देखा तो अजय की स्मृतियों की कड़ी टूटी.

"कुसुम ने हमें उधर सूनी जगह पर खंडहर के आसपास आने को कहा है. चल, वह मधु को लेकर वहीं आयेगी."

प्रदीप और अजय निर्दिष्ट दिशा की ओर चल पड़े. प्रदीप के पीछे-पीछे अजय जा रहा था. प्रदीप खंडहर के पास न रुककर आगे बढ़ गया.

"कुछ देखा." प्रदीप रुककर फुसफुसाया.

"क्या?" आहिस्ता से अजय बोला.

"खंडहर में एक साया है."

"कोई पेशाब कर रहा होगा."

"भूत होगा." प्रदीप विश्वास दिलाते हुए बोला.

"मैं भूत प्रेत नहीं मानता.... आओ देखें."

वे दबे पांव खंडहर के मुंहाने पर पहुंचे.

बेशक दो साये नजर आये. पांव की आहट से साये सुलझने लगे थे.

"दो जने हैं." प्रदीप धीरे बोला.

अजय को गोया सनक सवार हो गयी. वह सहसा पुकार उठा, "कौन है?"

दोनों साये जैसे चौकन्ने हो गये. एक साये में हरकत हुई देखते-देखते वह दफा हो गया.

"कौन हो तुम?" अजय चीखा.

"यह तो कोई औरत मालूम पड़ती है." प्रदीप ने अंदाजा लगाया.

"बोलती क्यों नहीं?" अजय दहाड़ा.

"मुझे जाने दो."

"मधु तुम!" आवाज और डीलडौल से प्रदीप ने पहचान लिया.

"क्या कर रही थी यहां? कौन था तेरे साथ?"

"साला भाग गया. बुझदिल कहीं का!"

"साहबजादी यहां इश्क फरमा रही थी अपने बायफ्रेंड के साथ." अजय ने तैश में आकर मधु को झकझोर दिया.

"बोल बेवफा! कौन था जिसके साथ लहंगा पसार रही थी." अजय आपे में नहीं था.

"कंचन होगा. आजकल उसी को इस पर मंडराते देखता हूं. मैं तो पहले ही भांप गया था कि दोनों में कोई चक्कर है."

"अभी इन दोनों की शिकायत करता हूं गुरुजी से."

"उस नालायक का तो मैं गला ही घोंट दूंगा."

"नहीं.. वो कंचन नहीं था." वह भयभीत बोली.

"तो कौन था? बता बेशरम।"

"वो... वो कमलेश था." वह सिसकने लगी थी.

"कमलेश कौन?"

"कमलेश गुरुजी." मधु हिस्टीरिया-के से दौरे में बकती वहां से बदहवास भागी.

सुनकर अजय और प्रदीप सन्न रह गये. दोनों विस्फारित नेत्रों से अंधेरे को भेदकर रोशनी तलाशने लगे थे. उधर हाल में खेले जा रहे नाटक में नायिका गा रही थी.

हे री मैं तो प्रेम दिवानी, मेरा दरद न जाने कोय! □

आओ साथ-साथ

□ मुकेश जीबोध

मैं खुद को गंवाना नहीं चाहता
अपने सीने में तूफान लेकर
बेजुबां हो खोना नहीं चाहता
दुनिया की बेमुरव्वती सही नहीं जाती
अपने ही तसव्वुर में भागता काफिला
और कितनी देर तक देखता रहूं

जितना अपने दोजख को
जन्नत बनाने की कोशिश करता हूं
लोग मेरे बहिश्त को जहन्नुम बना देते हैं
जीस्त जितनी ही बांहों में समेट लेना चाहता हूं
उतने ही मेरे हिस्से में फना आ जाती है

तुम चाहते हो कि मैं
किसी फकीर की तरह
हाथ में करकोल लिये दर दर फिरता रहूं
एक लहजे खुशी की खातिर
हर गली हर मोड़ हर मंजर
मैं हो आया हर एक आलम से
कहीं भी खुशगवार निस्बत नहीं बनती
दम भर को राहत नहीं मिलती

ये दिन भी चले जायेंगे नये आ जायेंगे
ये रातें भी खत्म हो जायेंगी ताजी आ जायेंगी
मैं जानता हूं मेरे दोस्त
मगर तुम्हारी नजदीकियों के वो लमहात
कैसे भुलाये जायेंगे
कैसे याद नहीं रहेंगे
वो नेक इरादे तनहाई के बियाबान मिटाने के
जिंदगी को खुशबू देने के वो मुबारक खयाल
कैसे याद नहीं रहेंगे!

कुछ सलीके मेरे पास हैं
कुछ तरीके तुम्हारे अपने हैं
आओ साथ-साथ
हम कभी हाथ न आनेवाले मौजों को
अपनी ओक में भर लें!

अपनी पहचान

□ धर्मानंद भंटु

मेरा परिचय मत पूछो
मैं अस्वीकृत हूं
मर्यादा और कानून के शिकंजों में
बार-बार कसकर
राष्ट्र और समाज ने
अपनी सुविधानुसार
धर्म और सभ्यता के नाम पर
तोड़-फोड़कर
नकाबपोश, कृत्रिम व्यक्तित्व थोपकर
मेरा आमूल परिवर्तन किया.
बनने-संवरने की प्रक्रिया में
अपना अतीत भूलकर
पिंजड़े में कैद
बेजुबान पक्षी की तरह असंतुष्ट और विवश
वैयक्तिक स्वतंत्रता खोकर
शोभा की वस्तु बना हुआ हूं.
मेरा परिचय मत पूछो!
अपनी पहचान कराने में असमर्थ हूं.

□ पूजानंद नेमा

कुलदीप हरना से प्यार क्यों करने लगा...? क्या सेठ जी की मौनावस्था ममत्व पर गोली चलाने के अपराध को मिटा सकी...?

एकाएक बहुत सारे लोग इकट्ठे हो गये. शोर सुनकर सेठ माधवराव अपने दौलतखाने से बाहर निकले, "आप का 'हरना' भाग रहा है सेठ जी!" भीड़ से एक आवाज निकली.

"मुझे मालूम है." माधवराव ने मुस्कराते हुए कहा.

"आप आज्ञा दें तो हम उसे पकड़ सकते हैं." सब आवाजों को अलगाता हुआ कोई बोल उठा था.

"नहीं काशी! आज उसे जाने दो. अब हम उसे बंद रखना नहीं चाहते. हम उसे भी आजाद कर देना चाहते हैं."

और कई लोग भी आ गये. किसी के हाथ में लाठी थी तो किसी के कंधे पर तेकाला, "साहब! यदि आप आज्ञा दें तो हम उसे अपने लिये पकड़ सकते हैं."

"हां, सरकार! हम गरीबों की मौज हो जायेगी. सकुचाते हुए किसी ने व्यक्त किया था.

सेठ माधवराव को मालूम था कि उनका दो वर्ष का 'हरना' अहाते से भाग निकला है. यदि वे चाहते तो 'हरना' को बिना बंदूक के ही पकड़ लेते परंतु उन्होंने उसे जाने दिया है. सेठाईन होती तो बात ही कुछ और होती. उसकी मृत्यु के बाद सेठजी का दिल बदल गया है. अब वे हरना को कैद रखना नहीं चाहते हैं आज उन्हें पता चला है कि ममता क्या चीज है... उसके अभाव में आदमी के कितने आंसू बहते हैं.

"नहीं दोस्ती!" बदले हुए लहजे में सेठजी बोले, "तुम उसे मारकर क्या करोगे?"

बांट-बूंट कर खा लेंगे." कहने वालों ने शायद यह समझकर कहा हो कि सेठजी ने हरना को पाला-पोसा है, इसलिए वह उसे अपने हाथ से मारना नहीं चाहते या स्वयं मांस खाना पसंद नहीं करेंगे. लोगों को यह पता है कि अभी परसों ही उनके घर से एक अर्थी उठी थी और....

"बेकार तुम हरना के पीछे पड़े हो. उसका मांस खाने लायक नहीं है. उसने कुतिया का दूध पिया है."

इतना सुनकर काफी लोग चले गये खासकर वे जो कुछ इज्जतदार और मर्यादा वाले माने जाते हैं. काशी बाबू भी चले गये क्योंकि वह क्षत्रिय कुल के हैं. और वह हरिण के मांस को छोड़कर और किसी प्रकार का मांस नहीं खाते. कानाफूसी बढ़ी और भीड़ छंट गयी पर कुछ लोग फिर भी जमा रहे. उनकी भूख शायद सब कुछ स्वीकार कर लेती है.

दस्ती-छड़ी की नोक उठाकर सेठजी ने देखा और फिर जब उनकी नजरें उठीं तो मुस्टंडे हरिया के नश्तर पर अटक गयीं. तीन आदमियों के सामने से सेठजी गायब से हो गये. स्तब्ध और अवाक्...

फिर छड़ी को जीने पर ठोंकते हुए प्रश्न किया, "तुम लोगों ने हरना को कहां देखा?"

उत्तर देने के लिए हरिया ने थोड़ा थूक घोंटा और कंठ साफ होते ही सुनाया, "गांव वालों ने उसे बाग में घेर रखा है. बगीचे के परकोटे से वह निकल नहीं सकता. द्वार पर लाठी लिए बीस-पच्चीस आदमी मौजूद हैं."

"जाओ कह दो कि कोई भी उस पर लाठी न चलाये. हरना को जंगल की ओर भाग जाने दो." विषण्णा भाव से माधवराव कह कर अपने विशाल भवन में प्रवेश कर गये.

दालान में हरिणों के चार सिर कटी गर्दन लिये दीवार पर जड़े थे. सब के शाखाओं वाले सींग थे. सेठजी ने साल पहले स्वयं इन जानवरों को मारा था. शिकार प्रतियोगिताओं में उनको इनाम भी मिले थे. चार गोल्डन-कप और ये चार मृगशीर्ष जिन्हें देखने के लिए दूर-दूर के अनेक शिकारी आये थे.

सेठजी को लोग गन-मास्टर कहते हैं. जिस हरिण पर सेठजी गोली चलाते थे वह बारहसिंगे से किसी प्रकार कम नहीं होता था. खूबी तो यह थी कि वे जानवर की गर्दन पर ही निशाना बांधते थे जो सदा अचूक

रहता था.

शिकार के मौसम में एक अखबार में गन-मास्टर की निशाने-बाजी पर एक लंबा-चौड़ा सचित्र लेख छपा था. चित्र में एक मंझले हाथी जैसे हरिण के पास वह खड़े थे. हाथ में वही बंदूक थी जो आज दीवार पर अटकी है जिससे अब न कोई धमाका होता है न शोर. सेठ माधवरावजी ने बंदूक उठाना छोड़ दिया है.

आज यह घर भी उतना ही मौन और खामोश है जितनी यह बंदूक. इतने बड़े घर में माधवराव अपने इकलौते बेटे कुलदीप के साथ रहते हैं. सात साल का कुलदीप... जिसके अगल-बगल और कोई दीप नहीं. वह इस समय आया के साथ फुलवाड़ी में खेल रहा होगा. सेठ माधवराव की अट्टालिका आधे बीघे जमीन में इधर से उधर तक सर उठाये खड़ी है और शीश झुकाये खड़े हैं सेठजी—अपनी पत्नी बसंतबाला की भव्य तस्वीर के सामने.

उसके चल बसते ही इस घर में एक स्थावर पतझर-सी छा गयी. बाग की कली-कली ठिठुरा गयी. डाली-डाली उदास हो गयी है. हवाएं पैर दबाकर आती हैं. परिंदे भी आते हैं तो शोर नहीं करते और चुप ही चुप उड़ भी जाते हैं. इन सब चुप्पियों को समेटती रहती हैं कुलदीप और उसके 'हरना' की आंखें.

आज कुलदीप खाली-खाली अहाते को देख रहा है. उसे विस्मय हो रहा है कि आज हरना ने क्यों उसका साथ छोड़ दिया. क्या नौकर ने उसे चारा नहीं दिया था किसी ने उसे बुरा-भुला कहा! उससे बातें करना और उसे सहलाना तो कुलदीप का दैनिक काम था. उसे मार भगाने का किसी को क्या अधिकार?

अपने बेटे को उदास देखकर माधवराव की इच्छा हुई कि 'हरना' को पकड़वा लावे किंतु वे सहम गये. उन्हें हरना की मां की मौत याद आ गयी.

कानाका के सधन वन में हिरणों का शिकार हो रहा था. स्याह आसमान से पानी लगातार बरस रहा था. बरसाती ओढ़े माधवराव मचान पर बैठे थे. उनकी निगाहें सामने फैली पहाड़ी पर जमी थीं. यही वह झील है जिसे पार कर हिरण नदी के निकास की ओर भागते हैं. भीटे के उस पार एक लंबा-चौड़ा मैदान है जिसमें हरियाली लहराती है और जहां-तहां छोटे-बड़े तालाब हैं.

दोपहर का समय हो चुका था और सेठजी की दोनाली बंदूक ने एक भी गोली न छूटी थी. जाने हिरणों ने कैसी चाल की है कि इतने घंटों तक एक भी सौजा न मिला है. कुंदा कांख के नीचे दबा था और नाल सामने तनी थी. एकाएक पुतलियां मटकने लगीं और कान सतर्क हो गये. पेटी से दो गोलियां निकाल कर नालों में भर दीं. दस्ता दायें सीने पर जम गया और तर्जनी घोड़ों को छू-छू कर रह जाती. सेठ माधवराव ने लक्ष्य पर आंखें गड़ा दीं. एक स्थूलकाय हिरणी धीरे-धीरे पहाड़ी उतर रही थी. उसके पीछे निश्चय ही एक कुत्ता नहीं था इसीलिए तो वह इतना निडर होकर चली आ रही थी.

तराप के साथ हिरणी पागल हवा की तरह भागने लगी किंतु दूसरी गोली ने उसे ढेर कर दिया. जब वातावरण कुछ शांत हुआ तो सेठजी मचान से उतरे और दो लड़कों को साथ लेकर शिकार खोजने गये.

पहाड़ी के नीचे घास पर हिरणी बेजान पड़ी थी और उसका बच्चा उसका ठंडा दूध चूस-चूसकर पी रहा था. शायद उसमें ममता की उष्णता अभी बाकी थी. वैसे तो छोटे से हिरण को आदमी देखकर भाग जाना चाहिए था परंतु वह बड़ी मुस्तैदी से अपनी मां का दूध पी रहा था. कदाचित आखरी घूंट.

बसंतबाला और कुलदीप के शगल के लिए सेठजी वह नन्हा-सा हरिण पकड़ लाये थे. बसंतबाला ने उसका नाम 'हरना' रखा था. हरना और कुलदीप, कुलदीप और हरना मानो उसके दो बच्चे थे.
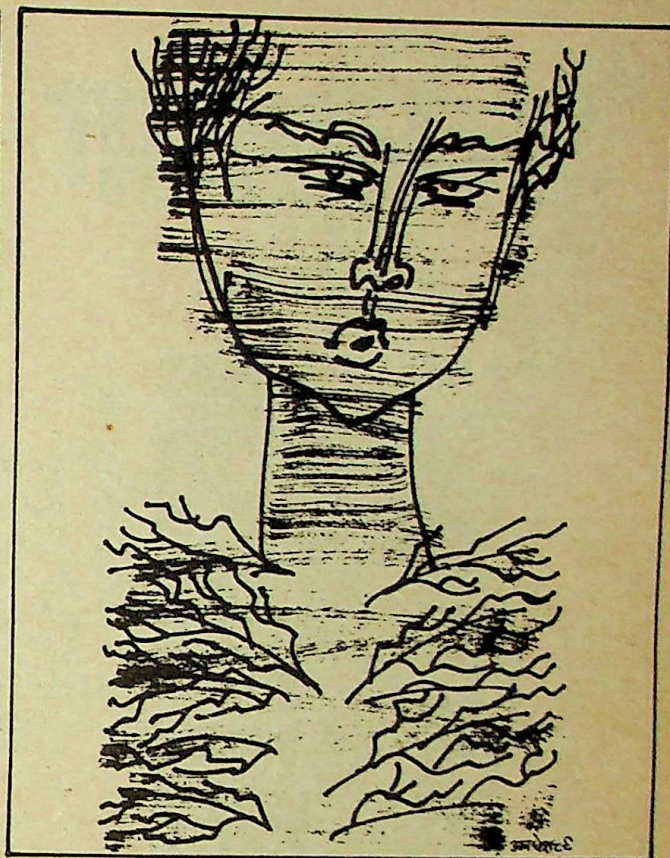
कुलदीप ने एक कुतिया पाल रखी थी जिसके छोटे-छोटे तीन पिल्ले थे. सब अपनी मां का दूध पीते थे, गरम-गरम और ममतामयी. सेठानीजी नकली टीट लगी शीशी में दूध भरकर हरना को पिलाती थी पर हरना रबर के कुच को मुंह में लेता ही न था.

एक दिन कुलदीप ने कुतिया को पिल्ले सहित अहाते में बंद कर दिया और तब से हरना भी पिल्लों की तरह कुतिया का दूध पीने लगा था. आज जब वह बड़ा हो गया तो...

"पापा! मैं भी हरना के साथ जाता हूं."

"कहां बेटे...?"

"मम्मी की तलाश में...."

"नहीं बेटे! तेरी मम्मी अब इस दुनिया में नहीं रही और हरना..." सेठ माधवराव ने बताया, "हरना की मम्मी को मैंने गोली से मार डाला था!"

"पापा!"

चिल्लाते हुए कुलदीप ने अपनी हवाई बंदूक सेठजी की तरफ तान दी.

"हां बेटे... मुझे मार डालो!" आंखों में उफनते आंसुओं के बोझ से उसका सिर हिलने लगा था.

"पापा!" सेठजी से लिपटकर रोनी आवाज में कुलदीप ने कहा, "तुम क्यों किसी की मम्मी पर गोली चलाते हो?"

कई दिन बाद 'हरना' अपने अहाते में वापस आ गया था—शायद उसे वह चीज न मिली जिसकी उसे तलाश थी. कुलदीप हरना से कहीं अधिक प्यार करने लगा था क्योंकि वह बचपन में एक मां के होने के दर्द को जानता था.

सेठजी मौन खड़े थे. क्या उनकी मौनावस्था ममत्व पर गोली चलाने के अपराध को मिटा सकती है? कहीं वह कुलदीप की मां को खोकर मातृविहीन हरना के या कुलदीप के आंसुओं को पोंछने के लिए ही...

गुजरता हुआ हरेक पल सेठजी की सांसों को छीन रहा था और कुलदीप हरना को सहला रहा था. ☐

□ विराम केवल

> मुझे तो एक ही चिंता है कि मेरे बाद पहाड़ चढ़ने वाला कोई होगा भी या नहीं? इस मुल्क में एक मैं ही तो रह गया हूं! काश सरकार अपना कर्तव्य और उत्तरदायित्व समझती!

अंग्रेजी में मसल मशहूर है– अगर आप पर्वत पर नहीं चढ़ेंगे तो मैदान नहीं देख पायेंगे. यह बात तो वही समझेगा जो पर्वत पढ़ चुका है या चढ़ रहा है. फिल्मों में हवाई जहाज या हेलिकॉप्टर के जरिए हवाई नजारे देखे होंगे तो जाहिर है कि बात थोड़ी-थोड़ी समझ में आ जायेगी. थोड़ी-थोड़ी मैंने इसलिए कहा क्योंकि पूरी-पूरी नहीं आयेगी और पूरी-पूरी नहीं आयेगी मैंने इसलिए कहा क्योंकि फिल्मों में देखे और दरअसल देखे गये प्राकृतिक नजारे में फर्क है. इस बात को भी वही मानेगा जो पर्वत चढ़ चुका है. जो नहीं चढ़ा है उसके लिए जरा मुश्किल है. खैर इस बात को यहीं छोड़ें, नाहक वक्त जाया कर रहे हैं. जो नहीं चढ़ा है, चढ़ लेगा.

कभी-कभी बैठकर सोचता हूं कि ये पर्वत कब के बने होंगे... मगर तभी लगता है कि यह खयाल ही गलत है. जब कइयों को यही पता नहीं होता, वे खुद कब के बने हैं, तो मुझे कैसे पता चलेगा कि ये पहाड़ कब के बने हुए हैं! साहब ये पहाड़ चाहे कभी के बने हों, मुझे इससे क्या? कोशिश भी नहीं करूंगा जानने की... क्योंकि मैं जानता हूं कि अच्छे पर्वतारोही को यह जानने का प्रयास नहीं करना चाहिए कि जिन पहाड़ों पर वह चढ़ रहा है वह कब का है!

जाने कितने बेमिसाल पर्वत हैं! कुछ ऐसे भी देश हैं जो मात्र अपने पहाड़ों से ही प्रसिद्ध हैं और कुछ शख्स भी हैं जो मात्र पहाड़ों पर चढ़ने-उतरने से अमरता को प्राप्त करते रहे हैं. और कुछ अमर होने की धुन में हैं. जैसे खुद मेरा देश छोटा है वैसे इसके पर्वत भी छोटे हैं. बौनी औरत से लंबी औलाद पैदा हो जाने का आसार तो होता है मगर छोटे देश में बड़े पर्वत होना नामुमकिन है. यूं ही नहीं छोटे देश में तमाम चीजें छोटी होती हैं सिवाय चमचत्व और चापलसी के. छोटी आबादी, छोटी शिक्षा, छोटे कर्त्तव्य, छोटा त्याग, छोटा साहित्य आदि. मुझे खुशी होती है कि न तो मैं आला साहित्यकार हूं और न आला पर्वतारोही. जो आला होता वह साला होता है और जो महाआला वो महासाला. फिर अमरता प्राप्त करने की भी कोई तमन्ना नहीं मुझे. अमर तो वही होता है जो भीतर भीतर दौलत, शोहरत और औरत कमा लेता है और बाहर से इन तीनों का त्याग कर दिया हो, ऐसा ढोंग रचाता है. गरीब आदमी को कौन चलावे कोई पूछता ही नहीं, गरीब आदमी तो तरसता ही रह जाता है कि काश उसका भी कोई मामूली फोटो किसी भी मामूली अखबार में छपे. काश उस पर कोई मामूली लेख कोई मामूली लेखक लिखे, मगर मामूली आदमी की मामूली ख्वाहिशें कभी मामूल से बाहर नहीं होती.

मेरे इस देश में और कुछ हो न हो मगर घोंघों और केंचुओं की तरह पहाड़ भी अलमगंज हैं. शायद इसी वजह यह हिंद महासागर की तारा कहलाता है.

कभी-कभी मैं निहायत ताज्जुब में पड़ जाता हूं कि आखिर कैसे पर्वत की ओर मेरी कोशिश रही. अपने खानदान में तो मैं ही हूं जिसने अपनी हड्डियल रानों से पहाड़ लांघे. मेरा बाप तो यूं बहुत कुछ चढ़ चुका है, मसलन चर्की, रेल. मगर पहाड़ कभी नहीं चढ़ा. फिर मुझमें पहाड़ से लगाव कैसे हुआ? मुमकिन है, तभी से जब मैं प्राइमेरी स्कूल में था और अध्यापक मॉरिशस के पहाड़ों के नाम और रेंज याद करवाता था. हो सकता है इसलिए भी कि मेरे कमरे के सामने वाली खिड़की से एक पहाड़ नजर आता है तो पीछे वाली खिड़की से दूसरा या हो सकता है बचपन की तरह मेरा बाप अपने कंधों पर न चढ़ाता हो इसीलिए यूं मेरा बाप भी एक पहाड़ ही है. उसका नाम है सुमेर, आई मीन सुमेर पर्वत, असली वजह क्या है, मैं नहीं जानता.

मैं जिंदगी में और कुछ भले ही चढ़ूं मगर पहाड़ चढ़ना नहीं छोड़ूंगा. लिखने की तरह पर्वत चढ़ना भी मैं किसी भी कीमत पर नहीं छोड़ूंगा. भले ही मुझे कोई इनाम न मिले, भले ही मेरा कोई विज्ञापन न हो और

भले ही मुझे कोई नाम न मिले, मैं सच कहता हूं कि एक कदम भी पीछे नहीं हटूंगा. मेरे घर वाले कहें चाहे आप के घरवाले, अब मत चढ़ पहाड़, तू बहुत चढ़ चुका. लाख कहें पहाड़ चढ़ना खतरे का काम है, मैं किसी की न मानूंगा. ठेंगा दिखाऊंगा और अपना काम करूंगा.

पहाड़ मैं बहुत बार चढ़ चुका हूं. कितनी बार चढ़ चुका हूं मालूम नहीं. इसका कोई लेखा-जोखा मेरे पास नहीं. मंत्रियों के पास जब कोई हिसाब किताब नहीं होता कि उन लोगों ने सरकार के कितने पैसे किधर गंवाये, किधर उड़ाये, किधर बांटे और बांगोले किये तो मैं अपना खर्च और अपने पैरों से पर्वत चढ़कर क्यों याद रखूं!

हां, मेरा एक दोस्त है अवश्य. सुरेंद्रनाथ शाह. यह मेरी तरह तो और कुछ याद नहीं कर पाता कि किसने इसका कितना पैसा हजम कर लिया और इसने कितनों को सफाचट कर दिया! इसकी कितनी पुस्तकें कितनों ने उठायीं और इसने कितनों की चुरायीं, मगर ये नहीं भूला कि हम दोनों इस पर्वत पर पांच दफे चढ़ चुके हैं और यह छठी बार है जब हम फिर...

जैसे शबरी राम को बेर खिलाने से पहले स्वयं चख लेती थी, वैसे ही मैं अपने साथ किसी को पर्वत चढ़ाने से पहले खुद चढ़कर आजमा लेता हूं. एक अच्छे पर्वतारोही का यह एक उत्तम गुण होता है.

खुद जब चढ़ लेता हूं तब दोस्तों को चढ़ाता हूं. मुझे अपने दोस्त बहुत प्यारे हैं. और, इस दुनिया में मेरे लिए है ही क्या सिवा चार-पांच दोस्तों के! भले ही वो मेरी तरह अकलमंद और होशियार न हों, पर हैं तो सही. ये लोग मर जायेंगे तो बहुत रोऊंगा. खुदा इनको लंबी उम्र बख्शे. चाहे इनके हाथ पांव टूट जायें. चाहे ये अंधे और बहरे हो जायें. चाहे ये अस्पताल की चारपाइयों पर पड़े रहें और इनके चेहरों पर मक्खियां भिनभिनायें, मुझे गवारा है, मगर मैं यह कभी नहीं बर्दाश्त कर सकूंगा कि इनका देहांत और अंतिम क्रिया हो. मरें मेरे दुश्मन. मेरे दोस्त मुझे प्यारे हैं. ये दोस्त जो बार में बीयर पीते हैं. ये दोस्त जो गोष्ठी में बकबक करते हैं. ये दोस्त जो पहाड़ पर चढ़कर साहित्य का कल्याण करते हैं. लॉंग लिव माय फ्रेंड्स...

पहाड़ औरों के लिए सिर्फ पहाड़ हों लेकिन मेरे लिए क्या कहूं? पत्थर को तो मैं नहीं पूजता मगर पहाड़ को मैं जरूर पूजता हूं. हनुमान ने यूं ही पहाड़ नहीं उठाया था. कृष्ण ने भी क्या यूं ही पर्वत उठाया था? जरूर इसमें कोई रहस्य होगा!

मैं सोचता हूं कभी कभी कि गंगास्नान के मानिंद पहाड़ चढ़ना भी हिंदुओं के लिए एक पर्व होना चाहिए जिसको पर्वत पर्व कहा जा सके. माना हिंदुओं के पास इतने त्यौहार हैं कि तमाम साल के दिन भी काफी नहीं होते, फिर भी एक और त्यौहार के आ जाने से क्या फर्क पड़ता है? अपनी सरकार है. हिंदू महासभा से विचार विनिमय करके इसको 'पब्लिक हॉलिडे' घोषित करवा सकते हैं. अगर इतना न हो सके, तो 'स्पेशल लीव' या 'टू आवर्स लीव' तो मुहैया की ही जा सकती है.

जब भी मैं पहाड़ चढ़ा हूं मैंने कविताएं लिखीं हैं. जब भी मैंने कविताएं लिखी हैं लड़कियों को पेश की हैं. अगर कोई लड़की कविता पढ़े तभी समझिये कि कविता सार्थक हुई वरना गयी माटी के मोल. कविता का काम है– वह लड़की का दिल जीत ले वरना कविता लिखना बंद कर दीजिए!

मेरी कविताएं कैसी हैं आप तो जानते ही हैं. इस पर कुछ भी कहना बेकार है. मेरी कविताएं पढ़ने के बाद लड़कियां मुझसे इश्क फरमाने लगती हैं. मैं उनसे कहता हूं मुझसे मुहब्बत करना आसान नहीं है. मैं फुर्सत में नहीं हूं जो सबसे मुहब्बत कर बैठूं. इस काम के लिए मेरे अपने

मॉरीशस और महात्मा गांधी

महात्मा गांधी के मॉरीशस-प्रवास को लेकर काफी विवाद रहा है. भारत और मॉरीशस के समाचार-पत्रों में इस संबंध में यदाकदा चर्चा होती रही है कि महात्मा गांधी ने मॉरीशस की यात्रा की थी या नहीं. मॉरीशस के कुछ लेखकों ने महात्मा गांधी के मॉरीशस आगमन की खोज की और उनके प्रामाणिक विवरण दिये. मॉरीशस के प्रसिद्ध लेखक बी. बिसुन दयाल एम.ए. ने अपनी पुस्तक **'द ट्रूथ एबाउट मॉरीशस'** में लिखा है कि 1901 के अंत में वे मॉरीशस में उतरे और उनका स्वागत करने में हिंदुओं और मुसलमानों में होड़ लगी थी. इसके बाद मॉरीशस के ही लेखक देवलाल ठाकुर ने 1970 में **'महात्मा गांधी इन मॉरीशस'** पुस्तक लिखी, जिसमें अनेक ऐसे प्रामाणिक तथ्य दिये गये जो महात्मा गांधी के मॉरीशस-प्रवास के कुछ विवरण देते हैं. इस पुस्तक के अनुसार डर्बन से मोहनदास कर्मचंद गांधी 1961 टन के नये जहाज 'नौशेरा' से सपरिवार भारत के लिए चले थे और 30 अक्टूबर, 1901 को पोर्टलुई बंदरगाह पर उतरे. ठाकुर ने अपने प्रमाणों में **'द प्लांटर्स एंड कमर्शियल गजट'** के 31 अक्तूबर, 1901 तथा इसी दिन प्रकाशित 'स्टैंडर्ड' का उल्लेख किया है, जिनमें एस.एस. नौशेरा के कल आने तथा भारतीय बैरिस्टर गांधी के बंबई जाने का समाचार छपा है. इसके अतिरिक्त महात्मा गांधी ने स्वयं अपनी आत्मकथा **'सत्य के साथ मेरे प्रयोग'** में लिखा है, **"रास्ते में जहाज मॉरीशस रुकता था और चूंकि जहाज वहां काफी समय तक रुका, इसलिए मैं वहां उतर गया और मैंने वहां की स्थितियों से अपने को अच्छी तरह परिचित करा लिया. एक रात में इस उपनिवेश के गवर्नर सर चार्ल्स ब्रूस का मेहमान भी रहा."**

महात्मा गांधी का पोर्टलुई में सार्वजनिक स्वागत भी हुआ. वहां के अखबार 'स्टैंडर्ड' तथा 'ल रैडिकल' ने 15 नवंबर, 1901 के अंक में लिखा— **"श्री गांधी ने समारोह में उपस्थित मेहमानों और खास तौर से मेजबान को धन्यवाद दिया. उन्होंने कहा कि द्वीप के चीनी-उद्योग को जो अभूतपूर्व सफलता मिली है, उसका श्रेय प्रवासी भारतीयों को है. उन्होंने जोर दिया कि भारतीयों को अपनी मातृभूमि में होनेवाली घटनाओं से परिचित रहना अपना कर्त्तव्य मानना चाहिए तथा राजनीति में भी दिलचस्पी होते रहना चाहिए. उन्होंने बच्चों की शिक्षा पर तुरंत ध्यान देने की आवश्यकता पर बहुत अधिक जोर दिया."**

देवलाल ठाकुर ने अपनी किताब में पोर्टलुई के होटल तथा उसके मैनेजर तक का नाम दिया है, जिसमें गांधी ठहरे थे. होटल का नाम था— ओरिएंटल होटल तथा मैनेजर था डेल थौमस. ठाकुर का मत है कि वे 30 अक्टूबर से 19 नवंबर तक मॉरीशस में रहे. 13 नवंबर को भारतीयों ने ताहिर बाग में गांधी का स्वागत किया तथा इसी दिन गुलाम मोहम्मद आजम कंपनी ने उनके सम्मान में एक पार्टी भी दी थी. 'गांधी वाङ्मय', खंड-3 के अनुसार महात्मा गांधी 19 नवंबर, 1901 को मॉरीशस से भारत के लिए रवाना हुए और 14 दिसंबर, 1901 को पोरबंदर होते हुए राजकोट पहुंचे और 17 दिसंबर को कलकत्ता-कांग्रेस में जाने के लिए राजकोट से बंबई को चल पड़े.

महात्मा गांधी की इस मॉरिशस-यात्रा को आधार बनाकर अभिमन्यु अनत ने 'गांधीजी बोले थे' शीर्षक उपन्यास लिखा. इसमें महात्मा गांधी के उद्बोधन तथा उनके मॉरीशस-समाज पर पड़े प्रभाव को जीवंतता के साथ प्रस्तुत किया गया है. □

कुसुम गोयनका

सिद्धांत हैं. उनमें से एक है पहाड़ चढ़ना.

मैं एक लड़की के साथ दो बार पहाड़ नहीं चढ़ता. न ही एक बार में दो लड़कियों के साथ. आप सवाल उठा सकते हैं क्यों, मगर कभी आपको कुछ नहीं बताऊंगा क्योंकि मेरे पाठक वर्ग में वे भूतपूर्व लड़कियां भी होंगी और भविष्योपरांत लड़कियां भी जो मेरे साथ चढ़ने के ख्वाब देख रहे होंगे.

पहाड़ चढ़ते-चढ़ते मेरे मौलिक तजुर्बे हैं, जो एक अच्छे इंसान के नाते आपको जरूर सुनाऊंगा. मैं उन लोगों में से नहीं हूं, जो कुछ पाकर अपने ही लिए रख लेते हों. 'अपने लिए जिये तो क्या जिये, ए दिल तू जी जमाने के लिए!' तो लीजिए मैं आपकी सेवा में प्रस्तुत कर रहा हूं एकाध जरूरी बातें. आप कड़ी धूप में न चढ़ें. थकान ज्यादा महसूस होती है. बारिश में भी न चढ़िए. मौसम गुमसुम हो तो पहाड़ चढ़ने में खूब ही मजा मिलता है. मन झूम-झूम जाता है. थोड़ी-सी हवा, थोड़ी-सी ठंडक, थोड़ा धुआं-सा, बादल की चिलमन से कभी-कभी सूरज का झांकना, कभी थोड़ी-सी रिमझिम रिमझिम, मैं क्या कहूं! दिल खुश हो जाता है! जो आनंद मिलता है वो तो बयां से बाहर है. इसके साथ—आप बीच बीच में रुककर नीचे मैदान देखते रहिए. खाने के निमित्त आप हलके-फुलके पकवान हलके-फुलके फल तैयार रखिए. पेट भी हलके फुलके हों. कपड़े भी हलके फुलके हों. पहाड़ उतरना चढ़ने से जरा ज्यादा मुश्किल है इसलिए सावधानी बरतनी चाहिए. और अगर आप न उतर सकें तो सरकार आप को सही सलामत हैलिकॉप्टर के जरिए उतारने का बंदोबस्त करेगी. बेफिक्र रहिए!

अंग्रेजी में और एक कहावत है. चूंकि मैं इन दिनों अंग्रेजी साहित्य ज्यादा पढ़ रहा हूं न, इसलिए अंग्रेजी शब्द और कहावतें ज्यादा इस्तेमाल कर रहा हूं. मैं तो बेकसूर हूं. अंग्रेजी साहित्य ही जमकर लिखा जा रहा है तो मैं करूं क्या! मैं तो मातृभाषा में ही ढूंढता हूं. आप बुरा न मानिए, अंग्रेजी साहित्य भले ही पढ़ रहा हूं, मगर लिखने को तो हिंदी में ही लिख रहा हूं. पी रहा हूं जहर, कोई बात नहीं, उगल तो अमृत रहा हूं न! हां तो कहावत है, 'अर्ली टू बेड अरली टू राइज मेक्स ए मेन हेल्दी वेल्दी एंड वाइज.' मैं इसका विरोध करता हूं क्योंकि बेड पर चढ़कर न तो कोई हेल्दी हो सकता है और न वे वेल्दी. और वाइज की तो बात ही अलग है. यह बात अपनी अपनी खोपड़ी के आकार पर निर्भर है. हेल्दी, वेल्दी और वाइज बनने की हरसत करने वालों को बिस्तर पर नहीं पर्वत पर चढ़ने उतरने की रियाज भी करनी चाहिए. अकेले चढ़ने में कोई दिक्कत हो तो मुझे इत्तिला कर दीजिए! मैं आपकी सहायता करूंगा.

मुझे तो एक ही चिंता है कि मेरे बाद पहाड़ चढ़ने वाला कोई होगा भी या नहीं. इस मुल्क में एक मैं ही तो रह गया हूं! काश सरकार अपना कर्तव्य और उत्तरदायित्व समझती. समझती तो विदेशों से विशेषज्ञ बुलाकर कोर्स नहीं दिलवाती. फोरम नहीं करवाती!

खैर कोई बात नहीं, हमें उदासीन होकर बैठना नहीं चाहिए. अपनी पूरी लगन, क्षमता और सामर्थ्य के साथ हमें अपना काम करना चाहिए. आप चढ़िए माउंटेन पर, वहां बैठकर हेल्थ, वेल्थ और विस्डम पाइए! किसी घटिया कागज पर किसी घटिया पेन से आर्टिकल्स लिखकर फेम पाते रहिए. मुझे बेइंतहा खुशी होगी.

नोट : कल सुबह एकाध उभरते हुए व्यंग्यकार को पहाड़ पर अपना विश्लेषणात्मक निबंध 'हिंदी साहित्य और पहाड़' सुनाने जा रहा हूं इच्छुक व्यक्ति सूरज निकलने से पहले नीचे लिखे पते पर इंतजार करें- तिनकोनिया, मुर्गी ढांका, मोंताई ब्लांश. खाने-पीने की चीजें अपनी होनी चाहिए. □

तो कल सुबह तक लिए नमस्कार! जय पहाड़!

लाल पसीना

अभिमन्यु अनत

पिछले अंक में आपने पढ़ा... कि कैसे मदन ने प्रकाश को वह सब बताया जो उसने कभी किसन सिंह से सुना था! संगठित शक्ति को तितर-बितर करने के लिए कैसी चालें चली जाती हैं...! किसन सिंह द्वारा लिखे गये मजदूरों के दस्तावेज की दास्तान के बाद अब पढ़िये— पत्नी की साल गिरह पर फूल भेंट करने की इच्छा कैसे एक मासूम किशोर की हत्या ही कर बैठी...
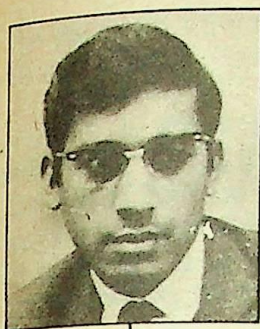
खेतों की उस दोपहरी धूप में उस चीख को कुछ मजदूरों ने दो बार सुना था. कुछ ने एक ही बार. जो लोग टीले के करीब थे उन्होंने उसे एक ही बार सुना था पर जो लोग उस दूसरे टीले के पास थे उन्होंने चीख भी सुनी थी और उसकी वह गूंज भी जो टीले की चट्टानों से प्रतिध्वनित हुई थी. लेकिन जो लोग टीले के पास थे, वे उस चीख से दहल गये थे. इतनी दर्दनाक थी वह चीख. हरि जब घटनास्थल पर पहुंचा था तो वह बच्चा बहोश हो चुका था. उसे घेरे खड़े थे कोठी का मालिक दो सरदार और वे चार-पांच मजदूर जो एकदम टीले के नीचे काम कर रहे थे. बच्चे के माथे और घुटने से खून बह रहा था. उस घायल शरीर पर झुकने से पहले ही हरि उसे पहचान गया था. वह खेतों में मजदूरों को पानी पिलानेवाला ग्यारह साल का गास्तों था. हरि के अपने दोस्त गाब्रियेल का बेटा.

अपनी जगह से दौड़कर वहां पहुंचने में हरि को कम से कम दो-तीन मिनट लग ही गये होंगे फिर भी अब तक किसी ने गाब्रियेल और सोलांज के उस बच्चे को छुआ तक नहीं था. हरि ने झट से घुटने के बल बैठकर बच्चे की नब्ज को टटोला, उसके हृदय पर हाथ रखा और राहत की सांस ली. जब पांव को पकड़ा तो वह घुटने के पास से झूल गया. हरि ने तुरंत कहा, "इसका पांव शायद टूट गया है. इसे तुरंत अस्पताल ले जाना होगा."

पीछे से कोठी के मालिक को आवाज आयी, "मैं किसा कोसों ला ची आल फेर लाओ. आखिर यह सुअर की औलाद ऊपर करने ही क्या गया था!"

एक सरदार ने कहा, "अपना काम छोड़कर मस्ती कर रहा था ऊपर."

हरि ने पीछे मुड़कर देखा और कहा, "आप लोग बातों में समय गंवाएंगे या इसे अस्पताल ले जायेंगे!"

मालिक ने थोड़ी-सी घबराहट महसूस करके अपने दोनों सरदारों की ओर देखा. हरि की वह डांट उसे तनिक भी नहीं भायी थी पर चुप रह जाने के अलावा कोई चारा भी नहीं था. इस बीच वहां कोई बीस-पच्चीस मजदूर जमा हो गये थे. छोटे मालिक ने अपने एक सरदार को आदेश दिया कि वह दौड़कर ड्राइवर से कार को अधिक से अधिक नजदीक लाने की कोशिश करे. हरि ने संतोष और एक दूसरे मजदूर के सहयोग से गास्तों के बेहोश शरीर को उठाया. दो खेतों और एक पगडंडी पार करने के बाद ही वे मुख्य रास्ते पर पहुंच सके. रास्ता पथरीला था इसलिए मोटरगाड़ी उस गुलैची के पेड़ के पास वाले मोड़ पर ही रुकी हुई थी.

कई मजदूर इधर-उधर से दौड़कर उस जगह पर आ गये जहां गाड़ी खड़ी थी. ईख के खेतों के बीच जो पक्के रास्ते थे वे इतनी अधिक दूरियों पर थे कि कटाई की जगह से कंधों पर गन्नों के बोझ लिये रेल के डिब्बे, बैल गाड़ियों और लारियों तक आते-जाते मजदूरों को कई बार लुढ़क जाना पड़ता था. हरि ने जब पहली बार कोठीवालों से मांग की थी कि मजदूरों को बेमौत मरने से बचाने के लिए उन फासलों को कम होना चाहिए तो वे लोग हंस रह गये थे. उस लंबे फासले के कारण लारी लादते हुए कई बार मजदूरों को सांसों के लिए छटपटाते पाया गया था फिर भी उस कठिनाई को मिटाने की जरूरत कभी नहीं समझी गयी. आज गास्तों के घायल शरीर के साथ दौड़ते हुए हरि को मालिकों के वे सभी रूखे जवाब याद आ रहे थे. पिछली बार जब सुप्रीम का छोटा भाई बेहोश होकर गिरा था तो हरि ने कहा था, "इन खेतों के बीच रास्ते निकलकर रहेंगे आज नहीं तो कल!"

गास्तों को मोटर में रखे जाने के बाद मजदूरों ने चाहा कि हरि भी उसके साथ अस्पताल पहुंचे पर छोटे मालिक ने मजदूरों की बात नहीं मानी. एक सरदार को वहीं छोड़कर दूसरे को अपने साथ लिये उसने कहा, "तुम सभी अपने-अपने काम में लग जाओ. मैं मारतें को साथ लेकर जा रहा हूं. गाड़ी के घड़घड़ाते ही दूसरे सरदार ने सभी मजदूरों को हुक्म दिया कि वे तुरंत अपने-अपने काम की जगह पर लौट जायें. उसने उनके आधे दिन की तनख्वाह काटे जाने की धमकी भी दी.

जब सभी लोग अपने-अपने काम को लौटने लगे तो संतोष ने एकदम हरि से सटकर चलते हुए धीरे से कहा, "गास्तों अपने आप टीले पर नहीं चढ़ा था. मैंने सभी कुछ देखा और सुना है."

"सच कह रहे हो?"

"एकदम सच कह रहा हूं."

"बता तो, क्या-क्या देखा क्या सुना?"

पीछे से सरदार ने चिल्लाकर दोनों को अलग कर दिया. अपने काम के ठौर पर पहुंचते हरि ने सोचा, अगर सोलांज के लड़के को कुछ हो गया तो इस कोठीवालों के लिए तो कोई बड़ी बात नहीं होगी. उनके लिए तो जैसे किसी गली में कोई एक कुत्ता मर गया... बस खत्म! पुलिस भी मान लेगी कि बच्चा अपनी लापरवाही के कारण मरा...

मीठी चीनी पैदा करनेवाले इन खेतों में तो इस तरह की कड़वाहट जो हरि एकाएक महसूस कर गया था आये दिन मिलती ही रहती थी. प्रकाश ने उसे बताया था कि इस द्वीप में नब्बे प्रतिशत से ऊपर आय चीनी के निर्यात से होतीं थी. उसने यह भी कहा था कि चीनी ही इस देश की रीढ़ की हड्डी थी. बाकी बातें गन्ने के खेतों में काम करते हुए हरि अपने आप सोचता रहा था.

...देश की नब्बे प्रतिशत आमदनी शक्कर से थी. शक्कर पैदा होता था गन्ने से. गन्ने को पैदा करनेवाले थे देश के इस छोर से उस छोर तक फैले खेतों के मजदूर. उस नब्बे प्रतिशत की आय का पच्चहतर प्रतिशत मुट्टी भर जमींदारों और मिल मालिकों के लिए पांच प्रतिशत बचता था. मजदूर जो हजारों में थे जो देश का धन पैदा करते थे, वे ही देश के सबसे कंगाल, सबसे अभावग्रस्त थे... उनके बच्चों के बदन पर मैले, फटे कपड़े, चेहरों पर पीलापन, उनकी पत्नियों की आंखों में अकाल का सूखा. धंसे हुए गाल, बदन से ऊपर झांकती हुई हड्डियां... और उससे जानना चाहा था क्यों?

तब प्रकाश ने कहा था, कुछ कानून के कारण कुछ मालिकों के कारण और कुछ खुद अपने ही कारण.

उसने कहा था कि जब तक खुद अपने कारण का सामना नहीं किया जायेगा, तब तक बाकी दोनों कारणों से, लाख लड़कर भी, उन्हें रोका नहीं जा सकता.

क्षितिज तक फैले जिस विस्तृत खेत में हरि काम कर रहा था, उसमें तीन सौ के करीब औरत-मर्द मजदूरी कर रहे थे. छः या सात सरदार उनके काम की निगरानी में लगे हुए थे. उन्हें कोई चार-पांच मिनट से अधिक चुप रहने को जैसे कि मना था. हर चौथे-पांचवें मिनट उनका मजदूरों पर चिल्लाना, गलियां देना जारी हो जाता था. हरि कल दोपहर में बीती घटना के बारे में सोच रहा था कि एक छोटे और एक बड़े, दो गोरे मालिक मोटर गाड़ी में आये चालक ने जब तक दोनों के लिए बारी-बारी से दरवाजा नहीं खोला तब तक वे बाहर नहीं आये. पहले रास्ते ही में खड़े होकर बड़े मालिक ने अपने चारों ओर के श्रमिकों को काम करते हुए देखा. फिर दोनों अपने-अपने छाते खोले और उनकी छाया में खेतों में घूम-घूमकर मुआयना करने लगे. हुक्म देते और गालियां बरसाते एक मजदूर से दूसरे के पास जाते रहे. तीन सौ आदमी देश के लिए धन पैदा कर रहे थे और दो आदमी उन्हें वैसा करते देख रहे थे. कल सारा धन वे दो आदमी बटोर ले जायेंगे और धन को पैदा करने वाले तीन सौ मजदूर अधनंगे रह अधभूखे रह जाने का फिर विदश हो जायेंगे. इस विवशता में उनका अपना भी हाथ होता था. उस बेचारगी और लिजलिजेपन के सामने हरि कभी क्रोध से तिलमिलाया था तो कभी दुख से. लोगों के उस भय को समझने का प्रयत्न करके भी वह उसे समझ नहीं पाता. लोगों से बातें करते हुए वह कहता है कि ठीक है, दो-चार आदमी आगे आने से डरते हैं क्योंकि उनको वैसा करने की सजा बहुत भारी रही है लेकिन जब सभी लोग एक साथ आगे आने को तैयार हो जायें तो क्या सजा देने वालों की हिम्मत टूट जाती है.

वह अपने आप से पूछता कि क्या सचमुच यह सजा का ही डर था या कोई अंदरूनी कायरता भी थी. मेहनतकश, जो इतने बड़े काम कर सकते थे, उनमें इस तरह की अंदरूनी कायरता के क्या कारण थे? वह यह मानने को तैयार नहीं था कि उसमें किसी तरह की अंदरूनी कायरता रही हो. उस दिन प्रकाश से तर्क किया था, "क्या ऐसा तो नहीं हुआ हो कि मजदूरों को एक साथ आगे लाने के तरीके में ही कहीं गलती हुई हो."

प्रकाश ने मुस्कराकर कहा था, "क्यों नहीं, ऐसा भी हुआ है. लेकिन ऐसा हुआ है, उधर से जानेवाले प्रलोभन और धमकी के कारण. हमारे अपने ही लोग जब उन प्रलोभनों में आते रहे हैं तो फिर आयोजन किस के बलबूते सफलता पा सकता था! किसन सिंह तथा मदन के टूटने के पीछे जितना हाथ उधर की ताकत का रहा, उतना ही अपनी ओर के बिक जानेवाले लोगों का भी रहा."

कल संतोष ने उससे कहा था कि वह गास्तों की दुर्घटना की सच्चाई को जानता है. पर शाम को जब हरि उससे मिलने गया तो वह घर के भीतर छिपा रहा.

कोई दस-बारह दिन पहले इन्हीं खेतों में संतोष और उसके तीन अन्य मित्रों की तनख्वाह का एक हिस्सा काट लिया गया था. उन्होंने जब सवाल किया था तो जवाब में गालियां पायी थीं. कल पत्थरों के टीले पर से ग्यारह वर्ष का लड़का नीचे गिरकर आज चिंताजनक स्थिति में पहुंच चुका था. मालिक और सरदार ने तो पहले ही से अपने को यह कहकर निर्दोष बता दिया था कि उस लड़के ने अपना काम छोड़कर उस खतरे को मोल लिया था. आसपास के मजदूरों में संतोष अकेला था जो सही बता सकता था पर... इससे आगे हरि को सोचना एकाएक बंद हो गया.

अपने काम में फिर से जुट जाने के बाद ही वह अपने आप से पूछ सका कि क्या संतोष उस सच्चाई

बात को बता पायेगा? बता भी दिया तो क्या पुलिस उसे मान लेगी? पुलिस के मानने और न मानने की बात को खैर भूलकर हरि यह सोचता रहा कि आखिर संतोष ने क्या देखा, क्या सुना था? जो देखा था, जो सुना था, बता पायेगा? अगर उसमें बता पाने का साहस था तो फिर वह हरि के सामने आने से कतरा क्यों रहा था?

शाम को बैठक की ओर जाते हुए हरि की मुलाकात **मूसा से हो गयी. हरि ने उससे गास्तों की** हालत के बारे में पूछा. मूसा को भी आगे की बात मालूम नहीं थी. उसके अपने भीतर भी दुख और नाराजगी दोनों थे. अपनी नाराजगी में ही उसने कहा, "ये लोग सोचते हैं कि यह कहकर कि वह लड़का अपना काम छोड़कर उस टीले पर चढ़ा था वे लोग लड़के को हरजाना चुकाने से बच पायेंगे! वे ये भूल रहे हैं कि ग्यारह साल के बच्चे से कोठी में काम करवाना गैरकानूनी है."

"संतोष बता रहा था कि गास्तों अपने आप ऊपर नहीं चढ़ा था."

"तो...?"

"बस इससे आगे नहीं बता पाया. उससे भेंट करने घर गया तो मिला ही नहीं."

"ग्यारह बरस के बच्चे से काम करवाना भी तो जुल्म है हरि."

हरि कुछ नहीं बोला. मन ही मन यह सोचकर कि उसने भी तो ग्यारह वर्ष की उम्र में ही काम शुरू किया था. जब कोठी में काम मिल गया था तो वह और उसकी मां, दोनों ने कोठीवाले का बहुत बड़ा एहसान माना था. मूसा ने जब अपने घर की पगडंडी पकड़ ली तो हरि अकेला चलता हुआ अपने बचपन के उन दिनों के बारे में सोचने लगा था— आज से आठ साल पहले वह प्रारंभिक स्कूल की पढ़ाई के तुरंत बाद नौकरी करने को मजबूर हुआ था. खेतों के बीच की कड़कती धूप में सरदारों की डांट-डपट में वह सप्ताह भर अपनी मां से छिप-छिपकर रोता रहा था. लेकिन जब वह आदी हुआ तो गन्ने का रस पकाने से लेकर गंधक जलाने तक के कठिन काम तक को बारी-बारी से करके ही रहा. पंद्रह की उम्र आते-आते तक चार वर्षों में गन्ने के खेतों का कोई भी ऐसा काम नहीं रहा जो उसने नहीं किया. यही नहीं, दो पैसे अधिक की आमदनी के लिए गाड़ीवान भी बना. लेकिन वह खेतों का चुंबक था, वहां के आकर्षण से वह अपने को दूर नहीं रख सका.

शाम को जब वह बैठक जाने के लिए संतोष के घर की ओर से चक्कर काटते हुए निकला. सोचा था, इस बार वह उसे मिल जायेगा और हरि उससे गास्तों की उस दुर्घटना के बारे में जान जायेगा. पर उसकी मां ने बताया कि वह तो अपनी बारी का कोर्वे कर रहा था खेतों में. यह कोर्वे शब्द हरि के अपने जेहन में चुभता रह गया. उसने एक बार फिर अपने आप से पूछा कि आखिर कब तक देश की शक्कर कोठियों में कोर्वे के नाम पर मजदूरों को हर सप्ताह में एक दिन मालिकों के लिए मुफ्त में काम करना पड़ेगा! सौ सालों से चला आ रहा था यह बेईमान कानून!

बैठका पहुंचने पर बच्चों ने उसे घेर लिया. तीन दिन पहले उसने जो कहानी अधूरी छोड़ी थी उसे सुनने के लिए सभी बच्चे मचल उठे. बच्चे जिद्द करते रहे पर वह अपने को कहानी सुनाने की रौ में नहीं पा रहा था. कोई घंटे भर बच्चों के बीच रहकर वह घर के लिए निकल पड़ा. रास्ते में जो भी मिला उससे गास्तों की हालत जानने की कोशिश की पर किसी कुछ पता नहीं था.

हरि घर पहुंचा तो संतोष को बाड़े के पास विजय से बातें करते पाया. हरि भी बाड़े तक पहुंच गया. वह कुछ बोलता कि संतोष ही पहले बोल गया.

तुम मुझे ढूंढने घर गये थे और मैं तुम्हें चारों तरफ ढूंढ रहा हूं.

संतोष के उस झूठ को पहचान कर भी हरि को खुशी ही हुई. उसे इस बात की हैरानी नहीं हुई कि उस लुकाछिपी के बाद आखिर में वह उस से बात करने को तैयार हो गया था.

हरि कुछ बोला. गाय की पीठ सहलाने के बाद अपने भाई से कहा, "मां ढूंढे तो कहना मैं संतोष के यहां गया हूं."

उसने संतोष के कंधे पर हाथ रख कर उसे अपने साथ लिये फिर से उसी रास्ते पर आ गया जिससे घर लौटा था. दोनों बस्ती के दूसरे छोर की ओर न जाकर गन्ने के खेतों की ओर चल पड़े एक तरफ के गन्ने के खेत तीन महीने पहले की कटनी के बाद फिर से लहलहाने लगे थे. जहां मिट्टी अच्छी थी वहां पौधे कमर तक पहुंचने को थे और उनकी जड़ों में दो-तीन इंच गन्ने भी दिखाई देने लगे थे. दोनों तरफ की घनी हरियाली के बीचों-बीच की पगडंडी एकदम पश्चिमी क्षितिज पर दम तोड़ती प्रतीत हो रही थी जहां सूरज के ओझल होने के बाद आकाश में लालिमा फैल गयी थी. अब तक चलते हुए दोनों ने इधर-उधर की बातें की थीं.

नीम के पेड़ के नीचे की कालिमाई से आगे निकल जाने पर हरि ने पूछा, "गास्तों के बारे में क्या बता रहा था?"

"मेरी औरत बोल रही थी कि उस बात को कहने में खतरा है."

"कैसा खतरा."

"मालिक लोग इसका बुरा मान जायेंगे."

''तुम्हें फांसी दे देंगे क्या!'' ''मैं तो नहीं डरता पर मेरी औरत...''

''कोई कुछ नहीं कर सकता! तुम बात तो बताओ, तुमने कहा था कि तुमने देखा और सुना भी.''

''मैंने सभी कुछ देखा सभी कुछ सुना.''

''क्या?''

''छोटे मालिक सरदारों से बात कर रहे थे. कुछ दूरी पर सोलांज का छोकरा लोगों को पानी पिला रहा था. छोटे मालिक सरदारों के साथ टीले के नीचे खड़ा था कि तभी उसकी नजर टीले के ऊपर नागफनी के उस फूल पर जा पड़ी थी. वे लोग मेरे एकदम सामने थे इसलिए उन्हें देखने-सुनने के लिए मुझे कमर सीधी करने की भी जरूरत नहीं थी. वह उसी तरह का फूल था जो हम दोनों ने एक बार तोड़ा था. नागफनी के सभी फूलों से भिन्न. याद है तुम्हें?''

''क्यों नहीं, तुम्हें बिरनियों ने चेहरे पर चार जगह बींधा था.''

''हां, फिर भी तुमने वह फल नहीं दिया था. इस बार का वह फूल उससे भी अधिक बड़ा और एकदम आग जैसा रंग और चमक लिये हुए था. फूल पर नजर पड़ते ही छोटे मालिक ने कहा था, यह तो कमाल का फूल है मास्ते. इतना सुंदर फूल तो हमारी फुलवारी में भी नहीं.''

मास्ते ने कहा था, 'जंगली फूल है साहब.'

''जंगली फूल और इतना सुंदर! कमाल है! कभी तो गंवार औरत और जंगली फूल की मिसाल नहीं होती. मारतें गेते मो बिजें सा फलेर ला.''

'''साहब आप यह जंगली फूल लेकर क्या करेंगे?'

'''मैंने कहा न मुझे चाहिए.!'

'''टीले के ये सारे पत्थर बड़े असावधानी से ऊपर पहुंचाये गये हैं ऊपर जाना आसान नहीं. पत्थर भड़क-लुढ़क सकते हैं.'

'''पा जीस्कीते आवेक म्वा!'

'''अभी दो महीने पहले उस जामुनवाले खेत के एक टीले पर से कुम्हड़े का साग ओंटती हुई एक औरत पत्थरों के नीचे दबकर मर गयी थी.'

'''मो बीजे सा फलेर ला! आज मेरी पत्नी की सालगिरह है. मैं उसे यह फूल भेंट करना चाहता हूं.'

''पिछले दो वाक्यों को उसने फ्रेंच में कहा था. उसी समय सोलांज का छोकरवा वहां से गुज़रा था. उस पर नजर पड़ते ही मारतें ने छोटे मालिक से कहा था...

'''यह लड़का बंदरों की तरह चट्टानों और पेड़ों पर चढ़ता है.'

''इस पर छोटे मालिक ने उस छोकरे को संबोधित करके कहा था, 'ए पीची तुम अपनी डोल को उधर रखकर यहां आओ.'

''छोकरे ने तुरंत वैसा किया. छोटे मालिक ने उसे टीले का वह फूल दिखाते हुए क्रियोली में कहा, 'देख रहे हो उस फूल को?'

'''व्ही मिस्ये.'

'''चलो, ऊपर जाओ और उसे तोड़ लाओ, मेरे लिए. पर देखना, फूल बिखरने न पाये नहीं तो जान ले लूंगा. तो फिन तांदे!'

'''व्ही मिस्ये.' इतना कहकर सोलांज का छोकरवा टीले पर चढ़ने लगा था. उसने चार-पांच पत्थरों को ही पार किया था कि एक बड़ा-सा गोल पत्थर एकाएक लुढ़क गया था और उसके साथ ही वह छोकरा चीत्कार करता हुआ नीचे के पत्थरों पर आ गिरा था.''

संतोष के चुप हो जाने पर हरि भी ठिठक गया. कुछ क्षण चुप रहा. फिर उसने संतोष की ओर देखा और पूछा, ''सच कह रहे हो?''

''मेरी अगल-बगल के और भी मजदूरों ने देखा और सूना था.''

''इस सच्चाई को दोहरा सकोगे?''

''दोहरा सकोगे का मतलब?''

''मालिक और पुलिस के सामने.''

''मालिक और पुलिस के सामने?''

''हां, तुम्हें पुलिस के सामने इस सच्चाई को रखना होगा.''

''पर मेरी औरत...''

''तुम सच्चाई नहीं कहोगे तो मास्तों को अपने इलाज तक के लिए पैसा नहीं मिलेगा!''

''तुम्हें कह दिया, अब तुम जानो. तुम मेरा नाम न लेना.''

''तुम्हारा नाम न लूंगा तो वह बात सच कैसे मानी जायेगी! मैं तो वहां बाद में पहुंचा था.''

''पर पर मेरी औरत...?''

अंधेर छा गया. दोनों को बातों के दौरान इसका पता तक नहीं चला.

क्रमशः

अगले अंक में पढ़िये— सप्ताह भर बाद उस बरसाती शनिवार को जब आकाश पर काली बदली छायी थी... प्रकाश हरि की मोटी बही लेकर बैठ गया. कैसी है यह बही? विचारों के अतिरिक्त बीच-बीच में बने व्यंग्य चित्र और कथाविस्तार के साथ एक नयी दुनिया...

मॉरिशस का कथा-संसार:

आम जन जीवन की अकृतिम कहानियां

डॉ. रत्नलाल शर्मा

मॉरिशस का कथा साहित्य, (कहानियां), संपादक: डॉ॰ कामता कमलेश; प्रकाशक: अनन्य प्रकाशन, 675 कटरा हीरालाल, चांदनी चौक, दिल्ली, मूल्य : 36 रुपये.

अवश्य ही इन कहानियों का अध्ययन विकसित हिंदी कहानी के संदर्भ में न करके इस दृष्टि से करना चाहिए कि मॉरिशस की हिंदी कहानी की पृष्ठभूमि में कहानी की लंबी परंपरा नहीं है...

हिंदी कहानी हिंदी क्षेत्र तक कभी सीमित नहीं थी. इसका स्वरूप शुरू से ही क्षेत्रीयता को अतिक्रमित करने का रहा है. आज वह अखिल भारतीय अभिव्यक्ति का माध्यम ही नहीं है, बल्कि विश्व के कई देशों में हिंदी कहानी की रचना हो रही है जिनमें मॉरिशस अग्रणी है. यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि देश-विदेश में हिंदी में रचित कहानी हिंदी कहानी ही है जिसे सारी शक्तियों एवं कमजोरियों के साथ हमें अपनाना है. अतः हिंदी कहानी की चर्चा करते समय अन्य देशों में रचित हिंदी कहानी को भी शामिल करना चाहिए. इसके लिए यह आवश्यक है कि हम देश विदेश में रचित हिंदी कहानी से परिचित हों. प्रस्तुत पुस्तक से हम मॉरिशस की समकालीन हिंदी कहानी की जानकारी पा सकते हैं.

प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित कहानीकारों की इन कहानियों में कथा और शैली की दृष्टि से न किसी प्रयोग की तलाश है और न चमत्कार उत्पन्न करने की प्रयत्नशीलता. कहानीकारों ने अपने कथ्य को सीधे जीवन से लिया है जिसमें शिल्प को परिष्कृत करने, किसी बनावट या बुनावट से जुड़ने की सायासता नहीं है. इनमें न जटिल जीवन की जटिलता है और न तनावों का चरमोत्कर्ष एवं तीव्रता. ये कहानीकार सहजता, सरलता और सादगी के साथ मॉरिशस के सामाजिक, पारिवारिक और व्यवस्थागत जीवन की कहानियां रचते हैं जिनमें वहां की व्यक्ति-चेतना भी उभर कर हमारे सामने आती है. इन कहानियों में मॉरिशस की भूमि की विविधता है जहां एक ओर प्रकृति का खुला वातावरण है तो दूसरी ओर नये विकसित शहरों की आधुनिक सभ्यता की अंधी दौड़ है. एक ओर निजता, अपनापन और आसपास से जुड़ाव दृष्टिगत होता है तो दूसरी ओर व्यक्तित्वहीनता, अलगाव और अजनबीपन की मानसिकता मिलती है.

ये कहानियां आम जन जीवन की समस्याओं, संघर्षों, यथार्थ-आदर्श के द्वंद्वों, स्वप्नों, आकांक्षाओं और विघ्न बाधाओं को साथ-साथ उद्घाटित करती है. जीवन के अनेक क्षेत्रों के पात्र अपनी-अपनी समस्याओं से ग्रस्त हैं. कहीं बेरोजगारी की समस्या है जिसे राजनीति एवं नौकरशाही के कारण दूषित व्यवस्था से प्रश्रय मिलता है (गिरवी रखी आत्मा : जयदत्त जीऊत) और कहानीकार व्यंग्य की तीखी मार करता है. जब यह प्रसंग नौकर-मालिक के संदर्भ में सीधा सामने आ जाता है तो कहानीकार क्रमिक विकसित स्थितियों के माध्यम से दो वर्गों की मानसिकता को रूपायित करता है. एक भीतर बाहर से एक है तो दूसरा अपने उच्च वर्ग की भांति छद्म ओढ़े हुए है जिसे अभिमन्यु अनत (मानरक्षा) ने बड़े कौशल से तोड़ा है और असली चेहरा दिखा दिया है. वह इस क्रम में बाह्य स्थिति के संदर्भ में व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक उतार-चढ़ाव को बखूबी दिखाने में समर्थ हुए हैं.

रामदेव धुरंधर (दायरे के भीतर) परिवार में पति-पत्नी के तनावों को ही अभिव्यक्ति देते हैं, पर अनत व्यक्ति की समस्या को परिवार, समाज और व्यवस्था तक ले जाते हैं और व्यापक अर्थ देते हैं. कृष्णलाल बिहारी (सपने का स्वर्ग) अमीर-गरीब दोनों वर्गों के बीच की चौड़ी खाई को दिखाना जरूरी समझते हैं और अंततः व्यवस्था पर व्यंग्य करते हैं. दीपचंद बिहारी (शीशे के टुकड़े) इस सड़ी-गली व्यवस्था पर चोट करना चाहते हैं और उसके सामने युवा-पीढ़ी को खड़ा कर देते हैं जो क्रांति के मार्ग पर चल निकलती है और तोड़फोड़ शुरू हो जाती है. इस व्यवस्था-विरोध को कहानीकार ने व्यक्ति और परिवार के स्तर पर उठाकर संवेदनापूर्ण बनाया है.

इस संग्रह की संग्रहीत 25 कहानियों में व्यतीत में झांकने की प्रवृत्ति मिलती है जहां व्यक्ति सिलसिलेवार घटनाओं के माध्यम से अपने कृत्यों पर सोच-विचार करता है और अवसाद से भर जाता है (वह चेहरा : भागमती नागदान). किसी भी कहानी में ब्यौरे बहुत आवश्यक होते हैं, पर केवल उनके बल पर कहानी नहीं चल सकती. अगर ऐसा होता है तो कोई विशेष स्थिति नहीं उभर सकती जिस से कहानी में बिखराव आ जाता है (वह इंसान : भारद्वाज मंगलिया). यह आवश्यक नहीं है कि जीवन का हर यथार्थ कहानी की सृजनात्मकता में यथार्थ का चित्र प्रस्तुत करे, क्योंकि यथार्थ का आभास दे कर भी वह हमें आश्वस्ति नहीं दे पाता (रीते इंसान : पुष्पा भूमा). सफीना खोदाबख्श (वह छाया नहीं थी) एक दिलचस्प कथा के माध्यम से कथानायक को मित्र के साथ विश्वासघात करने से रोकती हैं जिसे मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि में उठाया गया है.

अवश्य ही इन कहानियों का अध्ययन विकसित हिंदी कहानी के संदर्भ में न कर के इस दृष्टि से करना चाहिए कि मॉरिशस की हिंदी कहानी की पृष्ठभूमि में कहानी की लंबी परंपरा नहीं है. फिर भी ऐसा नहीं है कि ये कहानियां अभिव्यक्ति-सामर्थ्य नहीं रखती हैं. हां, 'जयतु जय हिंदी' (रानी राम सहाय) और 'क्रिसमस' (पूजानंद नेक) जैसी भावुकता प्रधान कहानियां काफी कमजोर हैं.

मॉरिशस की कहानियों को इस पुस्तक के माध्यम से भारत के हिंदी पाठक के सामने रखने का श्रेय संपादक डॉ. कामता कमलेश को है, पर यह बेहतर संकलन भी हो सकता था. कला और समकालीन यथार्थ की दृष्टि से मॉरिशस और अधिक सशक्त कहानियां प्रस्तुत की जा सकती थीं या इस में से कुछ कम की जा सकती हैं. संपादक ने अपनी भूमिका में कहानी से अपनी अपेक्षाओं को स्पष्ट नहीं किया है और न मॉरिशस की हिंदी कहानी का विकास दिया है. इसमें न संकलित कहानियों का विवेचन-विश्लेषण है और न कहानीकारों का परिचय. इन कहानियों के चयन के पीछे संपादक की दृष्टि क्या रही, यह कहीं स्पष्ट नहीं हुआ. □

मानसिक गुलामी की संघर्ष गाथा

□ कृष्णदत्त पालीवाल

किस्सा गुलाम, रमेशचंद्र शाह,
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन,
नयी दिल्ली-2
मूल्य : 55 रुपये.

पिछले वर्षों के हिंदी उपन्यास जगत में संवेदना और संबंध के स्तर पर जो परिवर्तन आया है उसकी महत्वपूर्ण अनुगूंज **'किस्सा गुलाम'** में सुनाई देती है. रचनाकार पुराने चश्मों, मूल्यों, मान्यताओं, सिद्धांतों, आदर्शों को खूंटी पर टांगकर नये सिरे से स्थिति को परिभाषित करता है. गुलामी के संस्कारों में जकड़ी पीढ़ियों की मनोभूमिका को आंतरिक कशमकश और एक मौन चीख से अभिव्यक्त किया गया है. ऊपर से मुक्त और शिक्षित व्यक्तित्व तक में गुलामी का संस्कार टेप की तरह भीतर बज रहा है और इस भीतर की आवाज से हम बचना भी चाहते हैं. उस के विरुद्ध अनाप-शनाप प्रगतिशीलता झाड़कर मन हलका कर लेना चाहते हैं. उपन्यास के कथ्य से एक ध्वनि फूटती है. हम सब अभी भी गुलाम मानसिकता में जी रहे हैं पर ऊपर से ऐसा ढक्कन लगाये घूम रहे हैं कि पहचान पाना कठिन हो गया है.

आधुनिक भारतीय मानस की बनावट को उपन्यासकार आत्मपरक शैली में रेशे-रेशे उघाड़ देता है. ताज्जुब होता है कि **'गोबर गणेश'** उपन्यास का रचनाकार इतनी जल्दी कलात्मक वैचारिक स्तर पर इतना विवेक वयस्क कैसे हो गया. **'गोबर गणेश'** के केंद्र में एक बालक है और यह अज्ञेय के **'शेखर : एक जीवनी'** की याद दिलाता है. निर्मल वर्मा का **'लालटीन की छत'** भी बालक की मानसिकता का घेरा बनाता है. शाह ने बालक विनायक की मानसिकता के उन सूत्रों को तलाशने की कोशिश की थी जो जीवन में चरित्र का निर्धारण नियामक रूप में संचालन करते हैं. पर इधर शाह ने **'किस्सा गुलाम'** में एक नया प्रयोग ही कर डाला है. जाहिर है कि गुलामी की मानसिकता का इतना बड़ा किस्सा प्रगीतात्मक संवेदना के सहारे रचा नहीं जा सकता था. अनुभव-बहुलता, प्रस्तुतीकरण की स्तरीय तार्किकता और सक्षम प्रतीकात्मकता को मूर्तमान करने के लिए महाकाव्यात्मक कल्पना को टेरना और थमकर रचना जरूरी थी. कल्पना अनुभवों के संश्लिष्ट पुंज को नाटकीयता के साथ सृजन में ढालती है और कथ्य के स्तर पर अंतर्योजना को खंडित नहीं होने देती. कथान्विति की पकड़ ने कृति की समग्र संरचना को सावधानी से तराश दिया है.

इस उपन्यास का नाम **'किस्सा गुलाम'** कई स्तरों पर सार्थकता रखता है. कारण गुलामी के कई अर्थस्तरों पर रचनात्मक मार करती है. सामाजिक व्यवस्था ऐसी है कि नायक कुंदन, जो कि शूद्र जाति का है, वह अनुभव करता है कि सवर्णों के बीच गहरी खाई है. एक शर्मनाक, वाहियात, दलदली दंगल में समाज फंस गया है. उसके भीतर से यह ध्वनि भी उठती है कि जैसे इस्लाम की बदौलत यहां दस करोड़ मुसलमान हो गये, वैसे ही ईसाइयत की बदौलत दस-बारह करोड़ ईसाई भी हो जाते तो शूद्रों को जिंदा जला दिये जाने का बलात्कार और लूटपाट का सिलसिला तो खत्म होता. इससे कम से कम जातिगत गुलामी से तो मुक्ति मिलती ही. भारतीय जाति प्रथा ही गुलामी में गर्क करती भारतीय जाति प्रथा ही गुलामी में गर्क करती है—यह चिंतन रचना में उभरता है. कुंदन का बचपन स्वाधीनता संग्राम के दिनों में बीता है. वह औपनिवेशिक गुलामी से मुक्ति के लिए संघर्ष करता है. इसी चर्चा में गांधी युग की राजनीति का जीवंत चित्र उपन्यास में प्रस्तुत किया गया है. कुंदन के पिता रामनारायण गांधी विचार के भक्त हैं और नाना हरिजन नेता. किंतु कुंदन पिता से बना नहीं पाता. प्रतिभाशाली कुंदन उच्च शिक्षा प्राप्त कर नृतत्व शास्त्री हो जाता है और विदेश में रिसर्च करने चला जाता है पर उसके दिमाग पर इस ग्रंथि का बराबर जोर रहता है कि विदेश के लोग भी एक अनजानी अनकही दूरी रखते हैं. उससे लगता है कि वह वहां के सवर्णों से भी अलग है.

भारतीय दया भावना में इसे सदैव मानव की असमर्थता का भाव मिला है. इस दया भावना को उसने कभी स्वीकार नहीं किया. एक स्तर पर तो ऐसी मानसिकता निष्पन्न होती है कि वह पूरी भारतीयता से मुक्त होना चाहता है. उस समाज से मुक्त होना चाहता है जो आदमी को गुलाम बनाता है और कई प्रकार की गुलामी ढोने को विवश करता है. एक वैचारिक हलचल का झोंका आता है और वह ईसाई धर्म को श्रेष्ठ समझकर एक जर्मन महिला एलिस से शादी कर लेता है. उसे हिंदुस्तान आने की प्रेरणा भी इस जर्मन महिला से ही मिलती है. वह आया और प्राध्यापक भी हो गया. किंतु वह अपने को शूद्र समझने की मानसिकता को जीत नहीं पाया. एलिस उसे छोड़कर अपने देश चली गयी और उसे एहसास होता रहा कि यूरोपीय मानसिकता की गुलामी भी ढोने की वस्तु नहीं है. भारत में मिशनरी धर्म प्रछार, अंग्रेजी शिक्षा, आदिवासियों को मदद करने की स्थिति के पीछे कुंदन को वही उपनिवेशवादी साम्राज्यवादी गुलामी का चक्र दिखाई देता है. अंततः उसे लगता है कि यूरोप सभ्यता, संस्कृति, भाषा, धर्म, विज्ञान, टेक्नालॉजी आदि सभी क्षेत्रों में दासता को कायम रखने की चाल इस देश में चल रहा है. **"गुलामी के दिनों की साम्राज्यवादी लूट से यह आजादी के दिनों की मल्टीनेशनल लूट किस माने में बेहतर है, जरा मुझे बताओ—क्या यह ज्यादा भयंकर नहीं है?"** (पृ. 216)

अपनी कथात्मक बुनावट में शाह का यह उपन्यास बारीक विचारों से प्रभावित करता है. पूरी कथा 'स्मृतियों' में चलती है. और कुंदन देश में सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक हाशिये को उजागर करता है. परिवेश ही शक्ति से रचनात्मकता में समाहित गया है. और इस उपन्यास की शक्ति इसका परिवेश ही है. स्थिति परिस्थिति की टकराहट को व्यक्त करनेवाली भाषा में व्यंजनात्मकता के साथ ही बिंब विधान की गहरी ताकत है. आजादी के बाद के जनमानस को इतनी बारीकी से सामने लानेवाला यह अपने ढंग का अकेला उपन्यास है. मूलतः यह समाज शास्त्र की संपत्ति से संपन्न है पर इसे अनुभव ने कला में ढालकर बौद्धिक शक्ति से गतिमान बनाया है. इस अभिनव कथा प्रयोग से हिंदी उपन्यास नये मोड़ की सूचना देता है. □

चरित्र लौट रहे हैं

□ धीरेंद्र अस्थाना

मैं वही हूं (कहानी संग्रह), लेखक : वीरेंद्र जैन, प्रकाशक : जगतराम एंड संस, 9/221, मेन रोड, गांधी नगर, दिल्ली-31, मूल्य : 40 रुपये, पृष्ठ : 120

उपन्यासकार वीरेंद्र जैन की कहानियों का पहला संकलन 'मैं वही हूं' भीड़ में खो नहीं जायेगा, यह आश्वासन और भरोसा इसमें शामिल कहानियों में निहित है, सक्रिय भी. वीरेंद्र कहानी कहने की अपनी सादगी और किस्सागो शैली के लिए जाने जाते हैं. उनकी यह औपन्यासिक विशेषता इस संग्रह में भी उपस्थित है—दो टूक. उलझाव रहित कथ्य, उसे प्रस्तुत करने का किस्सागो अंदाज और गिरफ्त में ले लेने वाली साफ-शफ्फाक, पारदर्शी भाषा. लेकिन यह तो हुआ लेखक का अपना स्थायी भाव. महत्वपूर्ण एक दूसरी चीज है और यह दूसरी चीज ही इन कहानियों को सामान्य से अलग कर दुर्लभ बनाती है.

यह एक ऐसा समय है जब कनिष्ठ से वरिष्ठ रचनाकार तक यह मान और मनवा रहे हैं कि कहानियों से चरित्रों की विदाई हो चुकी है, कि यह नायक या नायिका के विलोपीकरण का समय है क्योंकि इस समय में हिंदी कहानी स्थितियों के बीच जी और उससे संचालित हो रही है. और जब स्थितियां प्रमुख हों तो चरित्र, याद रह जानेवाला चरित्र, अलग से रचा जाना मुमकिन नहीं दीखता और शायद उसकी जरूरत भी नहीं है.

यह बात सच भी हो सकती है, कुछ सीमा तक, लेकिन इस भाव में कहीं अपनी लेखनीय अक्षमता का भाव भी मौजूद है. सवाल किया जा सकता है कि स्थितियों के बीच ही तो चरित्र जीते हैं तो फिर क्यों आज की हिंदी कहानी में उस तरह के जीते-जागते, मांसल और यादगार चरित्र नहीं हैं जिनके कारण आज भी हम अनेक कहानियों को उनके चरित्रों की वजह से याद रखे हुए हैं.

चरित्रों की विदाई की इस समवेत सहमति के विरुद्ध इसीलिए वीरेंद्र जैन का यह कहानी संग्रह एक रचनात्मक प्रतिवाद की तरह उपस्थित हुआ है—रचनात्मक क्षमता पर नयी बहस की अपेक्षाओं और अनिवार्यता के साथ, पुनः यह भरोसा देता हुआ कि चरित्र लौट रहे हैं.

संग्रह में कुल दस कहानियां हैं—चार पन्नों की 'बीच के बारह बरस' से ले कर चालीस पन्नों की 'तलाश' तक. और अचरज यह कि वीरेंद्र ने जहां चालीस पन्नों की 'तलाश' में पूजा बब्बा जैसे चरित्र को यादगार ऊंचाइयां और मांसल, हांट करने वाली, जीवंत उपस्थिति दी है वहीं सिर्फ चार पन्नों की 'बीच के बारह बरस' में जिस सत्यवती नामक टाइपिस्ट को मूर्त किया है—उसके अभिशाप, उसकी वेदना, उसकी प्रतिकूल जीवन स्थितियों और उसकी अदभ्य जिजीविषा के साथ, वह पाठक की स्मृति में देर तक टिका रह जानेवाला अनुभव है. उस पर उल्लेखनीय यह है कि सत्यवती अपनी उपस्थिति का एकांकिक एहसास नहीं कराती बल्कि अपने जैसा अभागा जीवन जी रही सैकड़ों स्त्रियों का प्रतिनिधिक चरित्र भी बनती है—यातना की अपनी खास स्थितियों के बावजूद.

चरित्रों की यह उठान और स्मरणीय निर्मिति हमें 'मैं वही हूं' की सोन दीदी, 'तब' के संजय, 'ओ हरामजादे' की मां और 'तलाश' के पूजा बब्बा और सूत्रधार बीरन में भी मिलती है. दिलचस्प बात यह कि ये सभी कहानियां अलग-अलग परिवेश, पृष्ठभूमि और स्थितियों की कहानियां हैं.

पत्र शैली में लिखी 'तलाश' एक बीहड़ यथार्थ को बीहड़ की पृष्ठभूमि में खोलती है. यह कहानी इस मिथक को भी तोड़ती है कि अपने अभावों और अत्याचारों से त्रस्त हो कर ही गांव के नौजवान बंदूक थाम बीहड़ों में उतर जाते हैं. सच्चाई का एक सहज-सा पहलू यह भी है लेकिन असहज या भयावह पहलू यह है कि गांव के साहूकार अपनी संपत्ति की रक्षा के लिए अपने ही गांव के किसी नौजवान या नौजवानों को डकैत बनने के लिए 'प्रेरित' करते हैं—अत्याचार, प्रलोभन, याचना और आर्थिक संरक्षण देकर. और जब कोई डकैत आत्मसमर्पण की मुद्रा अपनाता है तो साहूकारों और पुलिस की एक ऐसी दुरभि-संधि तैयार होती है जिसमें उलझकर आत्मसमर्पण का यह पवित्र भाव एकाएक तिरोहित हो जाता है. साहूकार और पुलिस के इसी तिलिस्म को तोड़ने के लिए खड़े होते हैं पूजा बब्बा—ताकि फिर किसी आत्मसमर्पण करने जा रहे डकैत को मुठभेड़ का शिकार हो कर न मरना पड़े. साहूकारों के विरुद्ध निचली दलित जाति के बीच पनपता गहरा साथी भाव इस कहानी को एक अतिरिक्त ऊर्जा देता है.

'प्रेम चिन्ह' एक प्रेम कहानी है—बेहद हल्की-फुल्की लेकिन प्रेम की ऊष्मा और प्रेम करते युगल के सरल विश्वासों को रेखांकित करती हुई—निर्दोष प्रेम की निर्दोष कथा-सी.

'दिवास्वप्न' मध्यवर्गीय संघर्षों और स्वप्नों के टूटने का विलाप है—संयुक्त परिवार के बिखरने और उसमें जन्म लेते व्यक्तिगत स्वार्थों के उभरने का सफरनामा न झेल पाने वाले परिवार के मुखिया 'पिता' के ध्वस्त हो जाने की करुणा के बीचों बीच उपस्थित तीखा विलाप. इस कहानी का पिता सत्तर के दशक के पिताओं की तरह खलनायक के रूप में नहीं, पिटे हुए, छले गये और अपनी शुभेच्छाओं के बीच अकेले छूट गये पिता के रूप में उपस्थित होता है. 'शह और मात' एक लोककथा का आधुनिक संदर्भों में दिलचस्प पुनर्लेखन है. और 'शाप मुक्ति' स्त्री की यातना का एक और साक्ष्य.

और किसी रचनाकार के पहले ही संग्रह में इतनी अधिक कहानियां उल्लेख और चर्चा के योग्य निकल आयें, यह छोटी उपलब्धि नहीं है—बल्कि इस अर्थ में तो बड़ी उपलब्धि भी है कि उसकी कहानियों के कारण चरित्रों की वापसी की संभावना संभव हुई.

इस संग्रह के पहले फ्लैप पर प्रकाशित पाठकीय प्रतिक्रियाओं में से दो को मैं उदाहरणस्वरूप यहां प्रस्तुत करना चाहूंगा. पहले पत्र में दैनिक अमर किरण समाचार पत्र के संपादक श्री राजनारायण मिश्र लिखते हैं कि—आपकी लंबी कहानी 'तलाश' एक ही सांस में पढ़ गया. न कोई नाटकीयता, न रोचकता बनाये रखने का उपक्रम और न कहीं संपादन की जरूरत. यहां तक कि अपनी ओर से कोई नया शीर्षक भी नहीं दिया जा सकता. इसे अखबार के प्रवेशांक में दे रहा हूं.

वहीं एक अन्य पत्र में भारतीय वायुसेना के एक सैनिक अधिकारी श्री राधाकृष्ण उपाध्याय लिखते हैं कि—मैं भारतीय वायुसेना का एक फौजी भाई वीरेंद्र जैन को 'तब' जैसी कहानी लिखने के लिए बधाई देता हूं. इस कहानी में फौज में कार्यरत उन फौजियों की मजबूरियों का यथार्थ चित्रण है जो समाज के ठेकेदारों के षड्यंत्रों का शिकार होते हैं मगर समाज और प्रशासन तब भी उन्हीं को दोषी ठहराता है. □

यह कटाक्ष मात्र होता है, चोट नहीं होती..

☐ हरिशंकर परसाई
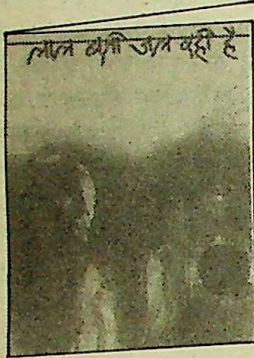
लाल बत्ती जल रही है (व्यंग्य संग्रह); महावीर अग्रवाल, प्रकाशक : शारदा प्रकाशन, 542 के.एल. कीडगंज, इलाहाबाद, मूल्य : तीस रुपये, पृष्ठ : 136

व्यंग्य को विधा का सम्मान दिलाने वाले समर्थ रचनाकार परसाई जी ने युवा व्यंग्यकार के पहले संग्रह की भूमिका लिखते हुए उसे व्यापक अनुभव क्षेत्र का व्यंग्यकार बताया है ... प्रस्तुत है समूची भूमिका.

महावीर अग्रवाल का यह पहला व्यंग्य संग्रह है. मुख्यतः इसमें उनके समय-समय पर या नियमित लिखे गये व्यंग्य स्तंभ तथा कुछ स्वतंत्र रचनाएं हैं. व्यंग्य विसंगति, अतिरेक, ढोंग, पाखंड, अनुपातहीनता आदि को सशक्त ढंग से अभिव्यक्ति करने का माध्यम है. हमारे जमाने में चारों तरफ विसंगतियां ही विसंगतियां हैं और वे पहले से अधिक लक्षित की जा रही हैं. समाज एक संतुलन बनाए रखता है. एक आनुपातिकता— सामाजिक क्रिया-कलाप और व्यवहार में होती है. एक स्तर होता है. एक मानदंड होता है. पानी जैसी समतलता समाज भी खोज लेता है. इस समतलता को 'नार्मल' होना कहा जाता है. जब यह समतलता गड़बड़ा जाती है तब हमारी चेतना को झटका लगता है और यदि हम लेखक हैं तो इस अतिरेक और असंगति के विद्रूप को प्रगट करते हैं.

महावीर अपने निकट परिवेश का पर्यवेक्षण करते हैं. वे कहीं भागीदार हैं और कहीं मात्र पर्यवेक्षक. वे स्वयं अध्यापक हैं, इसलिए स्कूल के वातावरण में भागीदार हैं. छात्रों के जीवन में उनकी दिलचस्पी है. साथ ही वे इस जीवन के पर्यवेक्षक और आलोचक भी हैं. अब साधारणतः छात्रों की ट्यूशन को हमारे संतुलन ने स्वीकार कर लिया है. कोई-कोई छात्र अध्यापक के घर पढ़ने जाते हैं और पढ़ाई पूरी करते हैं. अध्यापक को छात्र का अभिभावक फीस देता है. यह एक संतुलन स्वीकार कर लिया गया है. पर अगर ऐसा हो कि पूरी कक्षा को अध्यापक स्कूल में न पढ़ाकर घर पर पढ़ाने लगे तो संतुलन बिगड़ता है, अतिरेक होता है. इस पर महावीर कटाक्ष करते हैं. इसकी आलोचन करते हैं. यह कटाक्ष मात्र होता है चोट नहीं होती. यह असंतुलन, अनुपातहीनता और विसंगति को सामने रख देता है और निष्कर्ष निकालने के लिए पाठक स्वतंत्र होता है. महावीर स्वयं निष्कर्ष निकाल कर नहीं देते. महावीर की यही 'एप्रोच' है.

अपने निकट परिवेश से वे शुरू करते हैं. परिवेश का दायरा बढ़ता जाता है. वह राजनीति तक पहुंचता है, धर्म तक पहुंचता है. इसके साथ-साथ नये-पुराने संदर्भ जुड़ते हैं और लेखन की भूमिका तैयार होती है. चुनाव की राजनीति, कुर्सी के लिए दौड़, कुर्सी से चिपकना आज आम प्रवृत्ति है. पर इसका अतिरेक लेखक को बर्दाश्त नहीं. मुखौटे उसे पसंद नहीं. वह इसकी ओर इंगित करता है. जीता हुआ उम्मीदवार और हारा हुआ उम्मीदवार दोनों ढोंग करते हैं, दोनों मुखौटे लगाते हैं. इसे लेखक उजागर करता है. तीर्थों में क्या आशा लेकर श्रद्धालु जाता है और वहां क्या होता है इस असंगति को भी लेखक परिलक्षित करता है.

महावीर का अनुभव क्षेत्र व्यापक है. अनुभवों को उन्होंने 'कंडीशन' नहीं किया है. इस कारण उनकी रचनाओं में विविधता है. एकरूपता के दोष से बचे हैं. उनकी शैली और भाषा सधी हुई है. वे अनावश्यक शब्दाडंबर नहीं करते. संतुलन बनाए रखते हैं. इसलिए ये रचनाएं जिनमें कटाक्ष के साथ आलोचन है, सधी हुई रचनाएं हैं. ☐

घाव करें गंभीर
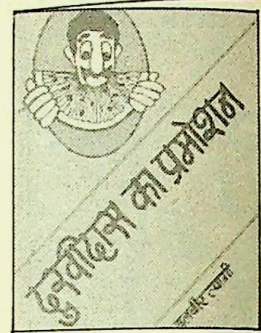
दुखीदास का प्रमोशन (व्यंग्य संग्रह); बलबीर त्यागी, प्रकाशक : सामयिक प्रकाशन 3543, जटवाड़ा, दरियागंज, नयी दिल्ली-2, मूल्य : 35 रुपये.

'दुखीदास' और 'पैंट कंधे पर' के बाद बलबीर त्यागी का तीसरा व्यंग्य संग्रह आया है 'दुखीदास का प्रमोशन'. लेखक ने अपनी इस पुस्तक को क्रमशः 'कुल्हड़ में हुल्लड़', 'बेताल कथाएं', 'लघु व्यंग्य कथाएं' और 'नजर अपनी-अपनी' नाम से चार खंडों में विभक्त किया है. इन चार खंडों में लेखक की चवालीस व्यंग्य रचनाएं समाहित हैं. इन व्यंग्य कथाओं के संदर्भ में जैसा कि श्री हंसराज रहबर का मत है कि छोटी-बड़ी इन तमाम रचनाओं में जन-जीवन के व्यंग्य-चित्र समाहित हैं. कहीं दुखीराम अपने झाड़ीनुमा रूखे बालों और मक्खियों के छत्ते जैसी दाढ़ी से यमराज को चौंका रहा है तो दूसरी जगह काका भुषंडी अपने करतब दिखा रहा है. अगर एक खंड में लोककथा का रंग है तो दूसरे खंड में पत्र-विधा का प्रयोग किया गया है. मतलब, बात पाठक तक पहुंचने से है, त्यागी के पास अतुल शब्द भंडार है. शब्द हिंदी, उर्दू, अंग्रेजी किसी भी भाषा का हो, वह जहां रख दिया है वहीं नगीने की तरह फिट हो गया है. शहरी जिंदगी का अनुभव जन्म से ही संस्कार में रचा-बसा हुआ है. एक तरफ नौकरी के नाते और दूसरी तरफ परिवार के नाते जनजीवन से निकट संबंध बना हुआ है. इसी से व्यंग्य में पैनापन और विविधता आयी है. उनमें अगर 'केबिन में बंद अफसर' की हुंकार है तो खेत में उगे गन्ने के रस की ताजगी भी है और त्यागी ने अपने अध्ययन-अभ्यास से यह भी समझ लिया है कि बात जितनी सीधे-सहज ढंग से कही जाती है उतना ही मन में गहरी उतरती भी है. ☐

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'वर्तमान साहित्य' की पुरस्कृत कहानियां

सातवें वर्ष का चौथा और पांचवा अंक लेकर 'वर्तमान साहित्य' जिस विश्वास से उपस्थित हुआ है, उससे लगता है कि आज के आपाधापी भरे माहौल में यह पत्रिका धीमी गति से भले ही सही... पर लंबा जीवन जीने की शक्ति जुटाती जा रही है. यहां न बहुत बड़े दावे हैं और न बहुत बड़ी उपलब्धियां... पर एक सहज रचनात्मक आस्था है जो सार्वजनीन प्रश्नाकुलताओं से अपनी कहानियों में जूझते रचनाकारों को सामने लाने के लिए कृतसंकल्प है. 'कृष्ण प्रताप स्मृति कहानी प्रतियोगिता 1989' की पुरस्कृत कहानियों की वजह से ये दोनों अंक संग्रहणीय बन पड़े हैं.

विविधता भरे समकालीन जीवन और समाज की ताजगी भरी झांकी प्रस्तुत करती रतन वर्मा, जितेन ठाकुर, शिवजी श्रीवास्तव, महावीर राजी, जयनंदन, परदेसी राम वर्मा, आशिक बालौत, राजाराम सिंह और रमेश खुराना स्वप्न की कहानियों में 'गुलबिया', 'तबादला', 'मांद', 'ठेंगा' और 'सूखा' पाठक का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करती हैं.

'गुलबिया' एक प्रभावपूर्ण चरित्र है. गुलबिया का लापरवाह पति डोमिनिया के जाल में फंसा है... बावजूद इसके गुलबिया का अपना एक अनुशासित संसार है जहां परिवार की तमाम जरूरतें पूरी करने के लिए वह श्रम का सहारा लेती है. सीतरम्मा जैसे लोगों से निबटना वह खूब जानती है. नहीं जानती वह तो बस यह कि साल-सवा साल में क्यों हर बार गर्भवती हो अस्पताल पहुंच जाती है! सिंदूर की अहमियत तक भूल चुकी इस औरत के चारों ओर मजबूरियों का ऐसा जाल तैयार हो चुका है कि दो-दो तीन-तीन घरों में काम करते हुए देह तोड़ना नियति में बदल जाता है. गरीबी का असहनीय भार झेलती हुई भी गुलबिया के भीतर की 'मां' स्वाभिमान की दृष्टि से अपने आप में किसी से कम नहीं है. ''पइसा दिखाते हैं साहब मेरे को?... थू फेंकती है गुलबिया पइसा पर... आकथू!'' गुलबिया का यह संवाद उस सहज आक्रोश का विस्फोट है जिसका कारण बच्चे के प्रति उसका ममत्व तो है ही साहब के प्रति घृणा का ज्वार भी है.

जितेन ठाकुर की कहानी 'तबादला' हमारे स्वातंत्र्योत्तर समाज में अवसरवादी चरित्रों की सफलता को एक्सपोज करती है. दलाल संस्कृति की कीचड़ में फलते-फूलते जा रहे ऐसे चरित्रों के प्रति वितृष्णा का नाटकीय एहसास भर कराकर नहीं रह जाती यह कहानी. यह हमें उन स्थितियों के प्रति सचेत भी करती है कि कैसे हम खुद इस संस्कृति का एक हिस्सा ही बने जा रहे हैं! 'तबादला' यहां अपनी कई अर्थछवियां लेकर उपस्थित हुआ है.

वर्तमान साहित्य : संपादक : से.रा. यात्री, विभूति नारायण राय, 109 रिछपाल पुरी पो. बॉ. नं. : 13, गाजियाबाद-201 001

परिणाम

'कृष्ण प्रताप स्मृति कहानी प्रतियोगिता : 1989' में पुरस्कृत कथाकार हैं—रतन वर्मा ['गुलबिया' कहानी पर प्रथम पुरस्कार], जितेन ठाकुर ['तबादला' पर द्वितीय पुरस्कार], शिवजी श्रीवास्तव ['मांद' पर तृतीय पुरस्कार]. प्रथम पुरस्कार दो हजार रुपये, द्वितीय पुरस्कार डेढ़ हजार रुपये, तृतीय पुरस्कार एक हजार रुपये का है. पांच-पांच सौ रुपये के ग्यारह प्रोत्साहन पुरस्कार क्रमशः महावीर राजी, जयनंदन, परदेशी राम वर्मा, आशिक बालौत, राजाराम सिंह, रमेश खुराना स्वप्न, बलकेश, राकेश अशेष, नारायण सिंह, शैलेंद्र सागर और कुसुमांजलि शर्मा को दिये गये. प्रतियोगिता के निर्णायक थे—श्रीमती मृणाल पांडे, श्रीमती चित्रा मुद्गल और डा० हरदयाल.

रतन वर्मा
प्रथम पुरस्कार विजेता

जितेन ठाकुर
द्वितीय पुरस्कार विजेता

शिक्षक-जगत के वीभत्स वातावरण पर बुनी गयी कहानी है—'मांद'. यहां एक सीधा-सरल व योग्य अध्यापक इसलिए अकेला पड़ जाता है कि वह किसी 'गलत' का साथ नहीं देना चाहता. कुछ अधिक विस्तार से वर्णित इस कहानी का रचना-सत्य यह है कि अपनी अयोग्यता का पर्दाफाश होने से बचाने की कोशिश में हैरेसमेंट की नीति अपनाकर एकजुट हुए कुछ लोग कैसे अपना वर्चस्व बनाये रखते हैं. शिवजी श्रीवास्तव के पास परिवेश की मजबूत पकड़ जरूर है पर सभी कुछ कहानी में उतार देने के मोह से यदि बच सके होते तो यह रचना अपनी बुनावट में अधिक सधी और गठी बन पाती. बावजूद इसके, इनके रचना-सरोकार एक निर्भीक रचनाकार को तो सामने रखते ही हैं. यह तीनों इधर की कहानी के लिहाज से इसलिए उल्लेखनीय कही जा सकती हैं कि यहां उस छल-छद्म को बेनकाब किया गया है जो अलग-अलग शक्ल में हमारे समाज पर छाया हुआ है. ये कहानियां तकनीक की दृष्टि से भले ही बहुत सधी न हों पर जमीन से जुड़ी और ईमानदार दृष्टि से लैस जरूर हैं... और यह युवा रचनाधर्मिता के लिए एक महत्वपूर्ण आधार है. कृष्ण प्रताप का लेख अपनी सुलझी हुई समझ के कारण साहित्य के मूल्यांकन की एक नयी नजर देता है.

अंक : 5 में परदेसी राम वर्मा, जयनंदन और महावीर राजी की कहानियां भी इसी रूप में आश्वस्त करती हैं. □

—अलका पांडे

साहित्य अकादमी पुरस्कार समारोह

साहित्य अकादमी द्वारा रवींद्र भवन, नयी दिल्ली में 19 फरवरी को आयोजित एक समारोह में हिंदी के साहित्यकार केदारनाथ सिंह, सारिका के सुपरिचित कथाकार यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र', सुरेंद्र प्रकाश सहित 25 साहित्यकारों को 1989 के अकादमी पुरस्कार से सम्मानित किया गया. अकादमी के अध्यक्ष डॉ. वीरेंद्र कुमार भट्टाचार्य ने उन्हें ताम्रफलक, प्रशस्तिपत्र और 25 हजार रु. का चैक अर्पित किया.

हिंदी के लिए पुरस्कृत कवि केदारनाथ सिंह जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र में प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष हैं. उनका जन्म बलिया जिले के एक गांव में हुआ था. हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी से एम.ए. तथा पी.एच.डी. करने के बाद वे गोरखपुर विश्वविद्यालय से संबद्ध एक महाविद्यालय में विभागाध्यक्ष तथा प्राचार्य के पद पर कार्य करते रहे. 1981 में उन्हें 'जमीन पक रही है' नामक काव्य संकलन पर केरल का कुमारन आशान पुरस्कार प्रदान किया गया. अकादमी द्वारा पुरस्कृत कविता संग्रह 'अकाल में सारस' को भाषा की ताजगी और गहरी जीवन आसक्ति के लिए विशेष रूप से जाना गया है.

अन्य पुरस्कृत साहित्यकार हैं: रामकरण शर्मा (संस्कृत), यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र' (राजस्थानी), एस. कमल (सिंधी), ला.स. रामा मृतम (तमिल), यस्वी जोगाराव (तेलुगु), सुरेंद्र प्रकाश (उर्दू), हीरेन गोहाई (असमिया), शीर्षेंदु मुखोपाध्याय (बांग्ला), मोहनलाल सपोलिया (डोगरी), जोसफ मेकवान (गुजरात), अमिताभ घोष (अंग्रेजी), हा.मा. नायक (कन्नड़), प्राण किशोर (कश्मीरी), चा.प्र.द. कोश्ता (कोंकणी), के.एन. झा 'किरण' (मैथिली), ओलप्पणी (मलयालम), नीलवीर शास्त्री (मणिपुरी), प्रभाकर उर्ध्वरेषे (मराठी), तुलसी 'अपतन' (नेपाली), मानुजीराव (उड़िया) और तारासिंह (पंजाबी). सभी पुरस्कृत साहित्यकारों को सारिका परिवार की ओर से हार्दिक बधाई.

कहानीकार शिविर

राजस्थान साहित्य अकादमी और अजित प्राच्य एवं समाज विद्या संस्थान के संयुक्त तत्वाधान में 12'14 जनवरी' 90 को सिरोही में तीन दिवसीय कहानीकार शिविर आयोजित हुआ.

शिविर का उद्घाटन सुपरिचित कथाकार श्री राजेंद्र यादव ने किया. इस अवसर पर श्री यादव ने कहा कि 'सोचने वाला सबसे बहिष्कृत प्राणी है. इस समय सबसे बड़ा खतरा बुद्धिजीवी को है. वैज्ञानिक सोच धार्मिक विश्वासों पर आघात करते हैं. किसी की भावनाओं को चोट पहुंचाने का डर लेखन में बाधित होता है कि किसी जाति, किसी वर्ग को ठेस न लगे.'

शिविर के प्रथम सत्र में 'हिंदी कहानी: विरासत और समकालीन परिप्रेक्ष्य' पर अकादमी अध्यक्ष डॉ० हेतु भारद्वाज ने आधार वक्तव्य दिया. इस सत्र की अध्यक्षता श्रीमति मनमोहिनी जैन ने की संयोजन श्री रामबक्ष ने किया. डा० शैलेश पंडित, डॉ० प्रभा सक्सेना, डा० जगदीश शर्मा, श्री रामकुमार ओझा, श्री राजेन्द्र यादव ने चर्चा में हिस्सा लिया.

13 जनवरी को तीन सत्र हुए. पहले सत्र में 'कहानी की रचना प्रक्रिया' पर डा० शैलेश पंडित ने आधार वक्तव्य दिया. सत्र की अध्यक्षता डा० नवलकिशोर ने की. संयोजन डा. माधव हाड़ा ने किया. डा. स्वयं प्रकाश, डा० रमाकांत शर्मा, श्री मालचंद्र तिवाड़ी, श्री श्याम जांगीड़, श्री राजेन्द्र यादव और प्रो. मोहन कृष्ण बोहरा ने चर्चा में हिस्सा लिया.

दूसरे सत्र में 'कहानी का शिल्प' पर डॉ० जगदीश शर्मा ने आधार वक्तव्य दिया. सत्र की अध्यक्षता प्रो० मोहन कृष्ण बोहरा ने की. संयोजन श्री सदाशिव श्रोत्रिय ने किया. श्री श्याम जांगीड़, श्री राजेन्द्र यादव, श्री मालचंद तिवाड़ी ने चर्चा में हिस्सा लिया.

तीसरे सत्र में 'कहानी और विचारधारा' पर डा० स्वयं प्रकाश ने आधार-वक्तव्य दिया. सत्र की अध्यक्षता प्रो. हेतु भारद्वाज ने की संयोजन श्री मालचंद तिवाड़ी ने किया. डा० प्रभा सक्सेना, डा. माधव हाड़ा, प्रो. मोहन कृष्ण बोहरा ने हिस्सा लिया.

14 जनवरी को अंतिम सत्र हुआ इस सत्र में 'माध्यम की चुनौतियां और हिंदी कहानी' पर श्री राजेन्द्र यादव ने आधार वक्तव्य दिया. इस सत्र की अध्यक्षता डा० शैलेश पंडित ने की. संयोजन डा. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने किया. डा० हेतु भारद्वाज, प्रो. मोहनकृष्ण बोहरा, डा. रमाकांत शर्मा, डा. स्वयं प्रकाश ने चर्चा में हिस्सा लिया.

12, 13 जनवरी को रात्रि में कहानीकारों ने अपनी कहानियां पढ़ी. बाद में उन पर विस्तृत चर्चा हुई.

शिविर में पहले दिन शिविर संयोजक डा. सोहनलाल पटनी शिविर निदेशक डा. दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने कहानीकारों का स्वागत किया. अकादमी के अध्यक्ष डा० हेतु भारद्वाज व सचिव डा० लक्ष्मीनारायण नंदवाना ने अकादमी की गतिविधियों का परिचय दिया. अंतिम दिन शिविर संयोजक डा० सोहनलाल पटनी, शिविर निदेशक डा० दुर्गाप्रसाद अग्रवाल ने आमंत्रित कहानीकारों का आभार व्यक्त किया. तीन दिवसीय इस शिविर में प्रांत के लगभग पच्चीस कहानीकारों ने हिस्सा लिया.

□ सुधीर सक्सेना 'सुधि'

साहित्य और पत्रकारिता के लिए नेताजी सुभाषचंद्र बोस सम्मान
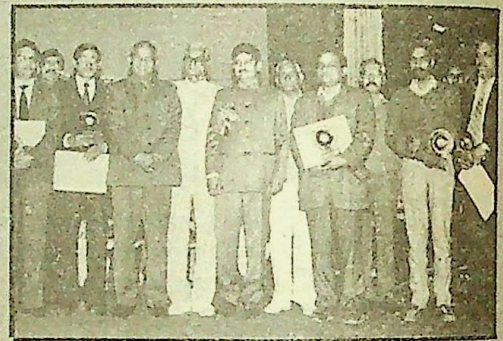
दिल्ली की एक प्रमुख साहित्यिक, सांस्कृतिक संस्था 'राजधानी स्वतंत्र पत्र-लेखक मंच' के तत्वावधान में 22 जनवरी को नेताजी सुभाषचंद्र बोस की जयंती धूमधाम से मनायी गयी. इस अवसर पर मंच की ओर से लोकसभा अध्यक्ष श्री रविराय ने साहित्य एवं पत्रकारिता के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान के लिए अठारह साहित्यकारों और पत्रकारों को वर्ष 1990 के नेताजी सुभाषचंद्र बोस स्मृति सम्मान से सम्मानित किया. सम्मानित साहित्यकारों और पत्रकारों में सर्वश्री वीरेंद्र जैन (उपन्यास), महेश दर्पण, अरूण प्रकाश (कहानी), रामकुमार कृषक (कविता), डा० माहेश्वर (आलोचना). राजेंद्र प्रसाद मिश्र (अनुवाद), विनोद भारद्वाज (कला समीक्षा), आरफा शबनम (गजल), मनमोहन चड्ढा (फिल्म पत्रकारिता), धर्मवीर जयनर (फोटो पत्रकारिता), काक (कार्टून), विजय क्रांति, दुर्गाप्रसाद नौटियाल, रवि रंजनपांडे, बालकृष्ण, राकेश भटनागर (पत्रकारिता), सुरेश वशिष्ठ (स्वतंत्रलेखन) और सुरेंद्र मोंगिया (पत्र लेखन) के लिए सम्मानित किए गये.

सम्मानित पत्रकारों एवं साहित्यकारों को संबोधित करते हुए लोकसभा अध्यक्ष श्री रविराय ने कहा कि हमारे समाज में पत्रकार एवं साहित्यकार सजग प्रहरी के रूप में लोकतंत्र में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं. साहित्यकार और पत्रकारों पर देश के भविष्य निर्माण का भार भी है. उन्होंने साहित्यकारों और पत्रकारों को नेताजी सम्मान पाने पर हार्दिक बधाई भी दी और मंच को इस आयोजन के लिए बधाई दी कि उन्होंने नेताजी की जयंती पर यह सम्मान प्रदान करके जयंती को सार्थकता प्रदान की.

पुरस्कार समर्पण समारोह के उपरांत मनोहरी सांस्कृतिक कार्यक्रम प्रस्तुत किए गये.

□ दयानंद वत्स

गोष्ठी रपट

जुगनुओं के अंग-संग

पिछले दिनों पंजाब के दूर-पास के जिलों-शहरों से ही नहीं, दिल्ली व हरियाणा से भी आये पंजाबी-हिंदी के अनेक कथाकार जब मालवा साहित्य केंद्र व 'पंजाबी मिनी कहानी लेखक मंच' के संयुक्त तत्वावधान में 'जुगनुओं के अंग-संग' लड़ी के अंतर्गत देर रात तक चलनेवाली लघुकथा कार्यशाला रूपी पहली गोष्ठी में कोटकपूरा 'पंजाब' पधारे तो लगा ही नहीं कि जलते पंजाब की आतंक भरी रातों का खौफ इन कलम के सिपाहियों के भीतर कहीं है! रात ढाई-तीन बजे तक पंजाबी-हिंदी कथाकारों ने न केवल अपनी श्रेष्ठतम लघुकथाओं का पाठ किया वरन लघुकथा को गंभीरता प्रदान करने के लिए एक सार्थक और खुली बहस भी की.

हिंदी-पंजाबी के चर्चित युवा लेखक तरसेम गुजराल की अध्यक्षता में संपन्न हुई इस गोष्ठी में सर्वश्री अशोक भाटिया, सुभाष नीरव, श्यामसुंदर अग्रवाल, देविंदर बिमरा, श्याम सुंदर दीप्ति, बलबीर परवाना, हरभजन खेमकरनी, निरंजन बोहा, राजेंद्र बिमल, अशोक चावला, हरमोहन, इंद्रपाल मेहता तथा मदन लाल मान आदि हिंदी-पंजाबी के अनेक कथाकारों ने खुलकर हिस्सा लिया. पढ़ी गयी लघुकथाओं पर सविस्तार बहुपक्षीय चर्चा हुई. प्रो. अशोक भाटिया ने केवल घटना के तथ्यात्मक प्रयोग से बचने की ओर संकेत करते हुए कहा कि साहित्य की शक्ति रचना में विद्यमान होनी चाहिए. सुभाष नीरव ने मानवीय रिश्तों में समाप्त होती जा रही संवेदना के विषय में बोलते हुए तथा खबर और रचना के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा कि रचना में यदि दिल तक उतर जाने की ताकत नहीं हो तो वह खबर से बढ़कर कुछ नहीं हो सकती.

तरसेम गुजराल का कथन था कि यह सच नहीं है कि लघुकथा वक्त की कमी से उत्पन्न हुआ कोई साहित्य है. कथातत्व की ओर संकेत करते हुए उन्होंने कहा कि लघुकथा में कथातत्व ही उसे विशिष्टता प्रदान करता है.

□ सुभाष नीरव

पोस्टर लेखन स्पर्द्धा व लघु कथा पोस्टर प्रदर्शनी

गणतंत्र दिवस पर हरियाणा की विशिष्ट हिंदी कथा पत्रिका कथा-भाषा द्वारा छात्रों की तत्काल पोस्टर लेखन स्पर्द्धा आयोजित की गयी. इसमें नगर के लगभग सौ कलाकार छात्रों को हिंदी की एक-एक श्रेष्ठ लघुकथा पोस्टर पर अंकित करने को दी गयी थी जिसे उन्होंने निर्धारित समय में बड़े ही मोहक और कलात्मक ढंग से अंकित कर दर्शकों को मुग्ध कर दिया. श्रेष्ठ पोस्टरों में नीलम जैन की 'साकार सच', चंद्रभूषण सिंह 'चंद्र' की 'गुरुदक्षिणा' व अशोक आनन की 'कहीं गम तो कहीं खुशी' पर बने पोस्टरों के कलाकारों को क्रमशः प्रथम, द्वितीय व तृतीय पुरस्कार प्रदान किये गये. अन्य सौ लघु कथाकारों की लघु-कथाओं पर पोस्टर अंकित हुये उनमें प्रमुख हैं—सर्वश्री रूपसिंह चंदेल, कुमार नरेंद्र, डा० सतीश शुक्ल, सुरेश उनियाल, रमेश बतरा, महेश दर्पण, कमल चोपड़ा आदि.

तदोपरांत सभी पोस्टरों की प्रदर्शनी दर्शकों हेतु लगाई गयी जिसे नगरवासियों ने बेहद सराहा.

कार्यक्रम की अभूतपूर्व सफलता को देखते हुये कथाभाषा के संयोजक (संपादक) हरेराम समीप ने घोषणा की कि यह आयोजन आगामी 26 जनवरी को और बड़े पैमाने पर आयोजित किया जायेगा. □

अग्रणी महिलाओं का सम्मान

जीवन के सभी क्षेत्रों में रचनात्मकता के उन्नयन के उद्देश्य से आज से लगभग एक दशक पूर्व स्थापित राष्ट्रीय संस्था 'भारत निर्माण' ने पिछले दिनों नयी दिल्ली में एक भव्य समारोह का आयोजन कर दस महिलाओं को विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय योगदान के लिये 'भारत निर्माण वर्ष 1989 का पुरस्कार' प्रदान कर सम्मानित किया. पुरस्कृत महिलाओं में शामिल थीं—श्रीमती इंदु जैन (आध्यात्म), सुश्री रीटा सिंह (उद्यम), श्रीमती इंदिरा गोस्वामी (साहित्य), श्रीमती पामेला सिंह (संगीत), श्रीमती शहनाज हुसेन (सौंदर्य संस्कार), श्रीमती उमा तुली (समाज सेवा), श्रीमती मीरा रामचंद्रन (शिक्षा), श्रीमती चंद्रप्रभा निर्वाण (नृत्य), सुश्री सीमा किरण (पत्रकारिता) तथा श्रीमती रीटा मुखर्जी (बैंकिंग) समारोह में मुख्य अतिथि के रूप में मानव संसाधन मंत्रालय के सचिव श्री वीर राघवन उपस्थित थे. उन्होंने पुरस्कार विजेताओं को शील्ड तथा पारितोषिक प्रदान किया.

समारोह के प्रारंभ में 'भारत निर्माण' के संस्थापक संयोजक श्री एम.सी. भंडारी ने संस्था के उद्देश्यों तथा पुरस्कार प्राप्तकर्ताओं की उपलब्धियों का संक्षिप्त परिचय दिया. पुरस्कृत महिलाओं ने अपने उद्बोधन में एक स्वर से यही स्थापना दुहरायी कि दृढ़ संकल्पित और उद्यम भावना से कुछ भी प्राप्त किया जा सकता है. संकल्प की भावना से आगे बढ़ी महिलाओं की हथेलियों के सामने आकाश की सीमाएं भी सिमट कर छोटी हो जाती हैं.

□ क्षमा मिश्रा

'सापेक्ष' आस्था की पहचान

सद्भावना से ओत-प्रोत मानवीय मूल्यों के विकास का रास्ता दिखाते हुए, सांप्रदायिक दंगों के विरुद्ध विशेष अंक में 'सापेक्ष' संपादकः महावीर अग्रवाल ने संपादकीय में सही व्याख्या की है. ...... क्योंकि यहां गोरख पांडेय, बर्तोल्तब्रेख्त और मंटो से जो शुरूआत दीखती है वह आगे जाकर नेहरू, प्रेमचंद, निराला, भगत सिंह, मुक्तिबोध, परसाई, रामविलास शर्मा, विष्णु प्रभाकर आदि सहित मार्क्स, लेनिन, तालस्तोय, माओ-त्से-तुंग और गोर्की सरीखे विचारकों की विचार-धरोहर से जुड़ती साफ नजर आती है. नेहरू के विचारों को अलग तरीके से प्रस्तुत करने का तर्क जरूर समझ से बाहर रहा. असगर अली इंजीनियर के लेख में मराठवाड़ा के दंगों का सही कारण स्पष्ट हुआ है तो सत्यपाल डांग के लेख में समाधान स्वरूप किया गया यह इशारा भी सही है कि बाबरी मस्जिद रामजन्मभूमि को राष्ट्रीय चिन्ह क्यों न घोषित कर दिया जाये! शमशेर, केदार नाथ अग्रवाल, नागार्जुन एवं त्रिलोचन शास्त्री से की गयी बातचीत और नुक्कड़ कला की शहादत खंड इस अंक का महत्वपूर्ण हिस्सा है. रचनाओं और समीक्षाओं के जरिए भी विषय को समग्रतः समझने की दिशा में खासी मदद मिलती है. 'सांप्रदायिकता और हिंदी कहानी' लेख में मधुरेश प्रारंभ से ही सांप्रदायिकता और उसके उद्देश्य को बखूबी बेनकाब करते हैं. उनका यह रेखांकित करना भी सही है कि भारतीय कथा साहित्य में प्रेमचंद पहले लेखक हैं जिन्होंने स्वाधीनता आंदोलन के संदर्भ में जातीय सद्भाव के महत्व को समझा. सांप्रदायिक उन्माद के दोनों दौरों का खुलासा करते हुए रचनाओं की व्याख्या के माध्यम से मधुरेश ने अपनी बात बेहतर ढंग से स्पष्ट की है.... कि दंगे कहीं न कहीं सत्ता के निजी हितों से जुड़े हैं और उनकी भूमिका विपक्षी जनांदोलन के उभार से बचने के लिए एक पूर्व नियोजित रणनीति की तरह सही है. विपक्ष में फूट डालकर राज्य करने में ही उसे अपने हित ओर अस्तित्व सुरक्षित दिखाई देते हैं. इस तरह के जरूरी आयोजन 'सापेक्ष' के प्रति आस्था जगाएंगे. □
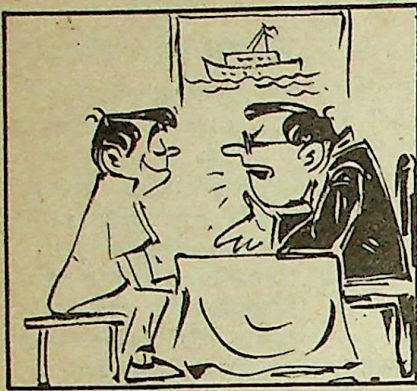
माउंटबेटेन लार्ड बनने के पूर्व एक बार जल सेना के एक पद के लिए साक्षात्कार में गये. कमीशन के चेयरमैन ने उनसे पूछा, "जहाज बीच समुद्र में हो और तूफान आ जाये तो आप क्या करेंगे?"

"सर लंगर डाल दूंगा."

"फिर तूफान आ जाये तो क्या करोगे?"

"लंगर डाल दूंगा."

"और अगर तीसरी बार भी तूफान आ जाये?"

"सर! फिर लंगर डाल दूंगा."

कमीशन का चेयरमैन चिल्लाया, "तुम इतने लंगर कहां से लाओगे?"

माउंटबेटेन ने बड़ी नरमी से जवाब दिया, "हुजूर जहां से आप इतने तूफान ले आयेंगे!"

—अजफलुरहमान हाशमी

बाजार बंद होने पर एक लाला अपनी दुकान की कुंडी लगाकर सामने बिछी चारपाई पर आराम करने लेट गया. धीरे-धीरे उस पर नींद की खुमारी छाने लगी. एक चोर मौके की तलाश में था. लाला की पलक मुंदते ही कुंडी खोल वह दुकान में घुस गया. खटर-पटर सुनकर लाला की आंख खुल गयी. उसने झट उठकर दुकान की कुंडी चढ़ायी और ताला लगा दिया. अब चोर बड़ा परेशान! क्या करे बेचारा, बुरी तरह फंस गया.

आखिरकार उसने एक तरकीब निकाली. वह बिल्ली की नकल करते हुए 'म्याऊँ-म्याऊँ' करने लगा. पर लाला भी उसका गुरू था. बोला—भैया जी, थोड़ा धीरज रखो, सवेरा होने दो. पंचों को बुलायेंगे. तब दरवाजा खोलेंगे. अगर पंच कहें तो बिल्ली और चोर कहें तो चोर! बेचारा चोर सिर पीटकर रह गया.

पागलखाने की पिछली खिड़की खुली रह गयी. दोनों पागल भाग निकले. कुछ दूर चलने पर एक नदी मिली. एक पागल ने आव देखा न ताव और उसमें छलांग लगा दी. दूसरे पागल ने यह देखा तो वह भी उसके पीछे पानी में कूद गया. और पहले वाले को पकड़कर किनारे पर ले आया. दोनों किसी तरह फिर पागलखाने पहुंच गये. दूसरे पागल ने अगले दिन यह घटना पागलखाने के वार्डन को सुनायी. वह बहुत खुश हुए और बोले—तुमने बड़ी बहादुरी और समझदारी का काम किया है. ऐसा काम करने वाला
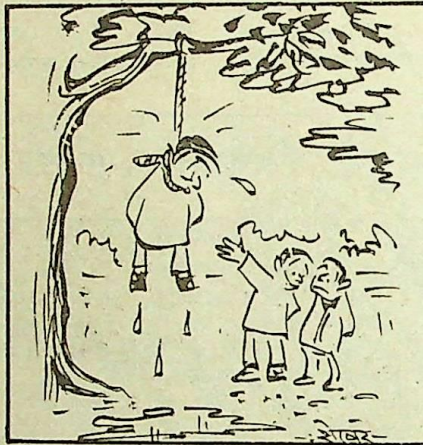
पागल नहीं हो सकता. तुम कल अपने घर चले जाना. तभी एक चौकीदार भागा-भागा आया और उसने वार्डन के कान में कुछ कहा. सुनकर वार्डन पागल से बोले-भाई, एक बड़ी बुरी खबर मिली है. तुमने कल जिस पागल की जान बचायी थी, उसने अपने गले में रस्सी का फंदा डालकर खुद को पेड़ से लटका लिया है.

नहीं साहब! पागल ने विरोध करते हुए कहा-वह बिल्कुल ठीक है, उसे कुछ नहीं हुआ. वह बहुत भींग गया था. इसलिए मैंने खुद उसे सुखाने के लिए पेड़ पर लटका दिया है.

एक यात्री बद्रीनाथ की यात्रा से लौटा तो गांव में उसके साथियों ने उसे घेर लिया और बद्रीनाथ के मौसम के बारे में पूछने लगे. यात्री बोला-क्या बताऊं यारो, वहां कितनी ठंड पड़ती है! यह तो मैं ही था जो सहन कर गया. कोई ऐसा-वैसा होता तो मारे ठंड के वहीं जम जाता.

अच्छा! इतनी ठंड पड़ती है! एक ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा.

और नहीं तो क्या! मैं जल चढ़ाने के लिए लोटे में पानी लेकर मंदिर में घुसा, पर ठंड इतनी थी कि जल और लोटा दोनों जमकर हवा में गायब हो गये और मैं हक्का-बक्का-सा देखता रह गया. मैं करता भी तो क्या करता! बस बिना जल चढ़ाये ही वापस लौट आया. यात्री ने बताया. एक नौजवान ने जो अब तक बड़े ध्यान से उसकी बात सुन रहा था, उसे टोका, "यह कैसे हो सकता है? गुरुत्वाकर्षण शक्ति के सिद्धांत के तो यह बिल्कुल विपरीत है."

अरे भाई वहां ठंड ही इतनी थी कि गुरुत्वाकर्षण का सिद्धांत भी उस समय जम गया था. यात्री ने इतमिनान से समझाते हुए कहा.

—दिनेश दर्पण

रिक्शा चालक रमुआ घर पहुंचा और जैसे ही हाथ धोने के लिए लोटे में पानी भर रहा था कि उसकी बहू रामी ने आकर शिकायत शुरू कर दी, "आज फिर दुकानदार ने सड़ा हुआ आटा और कंकर वाले चावल दे दिये... क्या दुकानदार के लिये तुम कुछ नहीं कर सकते?"

रमुआ हंसते हुए बोला, "अरी भागवान, यही मिल रहा है वह कम है क्या? क्या पता कल को यह भी नसीब न हो."

उसने एक लंबी सांस ली और कहा, "अच्छा जो भी बना है जल्दी दे दे. आज महंगाई और मिलावट खोरी के विरोध में जुलूस निकलने वाला है. उम्मीद है अच्छा काम मिल जायेगा. कुछ पैसे बन जायें तो शाम को अच्छा भोजन करेंगे."
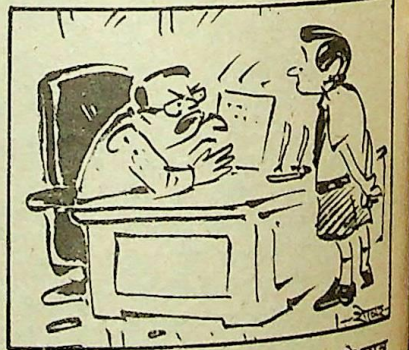
कान्वेंट स्कूल में नौवीं कक्षा के छात्र ने आठवीं कक्षा की एक छात्रा को प्रेम-पत्र लिखा. छात्रा ने इसकी शिकायत स्कूल के फादर को की.

फादर ने छात्र को बुलाया और तुरंत पचास रुपये जुर्माना करते हुए ताकीद दी, "कान्वेंट में पढ़ते हो ... पत्र अंग्रेजी में लिखा करो."

—महेश राजा

फिल्मोत्सव 1990 कलकत्ता

□ कुंवर नारायण

कवि-कथाकार कुंवर नारायण कलकत्ता फिल्मोत्सव में 10 से 20 जनवरी तक रहे. 'सारिका' के लिए खास तौर पर लिखी उनकी विश्लेषणपरक रिपोर्ट प्रस्तुत है...

'भारत का अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह : 90'—इस वर्ष कलकत्ता में 10-20 जनवरी तक खासे उत्साह और खासी बदइंतजामी के बीच संपन्न हुआ. 10 जनवरी को समारोह के उद्घाटन अवसर पर 'रवींद्र सरोवर' के मुक्ताकाश मंच पर विश्वविख्यात फिल्मकार श्री सत्यजित राय और बंगाल के मुख्यमंत्री श्री ज्योति बसु ने अपने शालीन भाषणों से जिस गरिमामय वातावरण को बनाया उसे श्री जी.पी. सिप्पी ने मुंह खोलते ही ढहा देने में कोई कसर नहीं रखी. फिल्म साहित्य और कला के लिए हमेशा उत्साही कलकत्ता में उस दूसरे यथार्थ से बाहर निकलते ही पहला सामना हुआ जिसकी ओर श्री राय ने अपने संक्षिप्त भाषण में इशारा किया था—बुरी तरह टूटे-फूटे फुटपाथ, सवारी से दूर भागती खस्ता—हाल टैक्सियां, जानलेवा ट्रैफिक, धूल-धक्कड़ और भीड़भभ्भड़ वगैरह के बीच से रास्ता निकाल-निकालकर फिल्मों तक पहुंचना फिल्में देखने से कम चौंधियाने वाला अनुभव न था.

कुछ फिल्में निस्संदेह उच्च कोटि की थीं, पर ज्यादातर फिल्में सामान्य लगीं तथा अंतर्राष्ट्रीय स्तर की नहीं कही जा सकतीं. इस समारोह में दिखायी गयी निर्देशक गॉडफ्रे रेगियो की 'पोवाक्कात्सी' (अमरीकी फिल्म) एक बिल्कुल अलग तरह की कृति थी जिसकी अभी विस्तार से चर्चा करूंगा. इसके अलावा मुझे पोलिश फिल्मकार किस्तॉफ किएस्लोव्स्की की तीन फिल्में 'अ शार्ट फिल्म अबाउट लव' (प्रेम के बारे में एक लघुचित्र), 'अ शार्ट फिल्म अबाउट किलिंग' (हत्या के बारे में एक लघुचित्र) तथा 'ब्लाइंड चांस' (अंधा अवसर) बहुत ही प्रभावशली फिल्में लगीं. इसमें कोई संदेह नहीं कि पोलैंड के विख्यात फिल्मकार आंद्रे वायदा और जानुस्सी की ही तरह किएस्लोव्स्की भी वहां के एक ऐसे प्रतिभा-संपन्न और अत्यंत संवेदनशील फिल्मकार हैं जिनका काम अंतर्राष्ट्रीय स्तर का माना जा सकता है और जिन्होंने पिछले दशक में अपनी एक निश्चित पहचान बनायी है.

अन्य फिल्मों में उद्घाटन के अवसर पर दिखायी गयी ग्रीस के थिओ एंजेलोपुलोस की 'लैंडस्केप इन द मिस्ट' (कोहरे में डूबा दृश्य) एक साफसुथरी, संतुलित फिल्म कही जा सकती है पर शायद उस स्तर तक नहीं पहुंच सकी है जिस तक खुद उनकी पिछली फिल्में 'ट्रैवलिंग प्लेयर्स' (घुमंतू नट) 1974-75 और 'द हंटर्स' (शिकारी) 1976-77 पहुंच सकीं. दो बच्चे पिता की तलाश में एक दिन अपने घर से निकल पड़ते हैं—उस पिता की तलाश में जिसे उन्होंने कभी देखा नहीं है, केवल मां से सुन रखा है कि वे कमाई के लिए जर्मनी गये हुए हैं. बच्चों के लिए पिता की खोज दुनिया की जटिल और मुश्किल राहों से गुजरते हुए खुद अपनी वयस्कता की खोज 'यात्रा-रूपक' बन जाता है. बालक अलेक्जेंडर तथा उसकी बड़ी बहन वायला जीवन का उसकी पूरी क्रूरता और कोमलता में एक के बाद एक अनुभव करते हैं. वयः संधि पर खड़ी वायला बलात्कार और प्रेम के झकझोर देनेवाले अनुभव से कुछ इस तरह गुजरती है कि दोनों में से किसी पर भी विश्वास कर पाना उसके लिए मुश्किल हो जाता है. इसी नाजुक बिंदु पर मानो वह बिल्कुल अपने सहारे संयत हो सकने की प्रौढ़ मानसिकता में प्रवेश करती है—अंतिम दृश्य में दिखाये गये एक छोटे-से स्वावलंबी वृक्ष की तरह. इस फिल्म की शैली और गति एंजेलोपुलोस की पिछली फिल्मों से बिल्कुल भिन्न है, तथा यथार्थवादी मुहावरे के ज्यादा नजदीक है.

पोलैंड के क्रिस्तोफ जानुस्सी की 'इंवेंटरी' (लेखा-जोखा) और प्रसिद्ध अमरीकी फिल्मकार वुडी अलेन की 'अनदर वोमन' (दूसरी स्त्री) स्त्री-पुरुष संबंधों को लेकर बहुत सूक्ष्म और सतर्क फिल्में होते हुए भी इस माने में असाधारण फिल्में नहीं कही जा सकतीं कि वे स्त्री और पुरुष या स्त्री और समाज के बीच निरंतर बहुत तेजी से बदल रहे रिश्तों के बारे में कोई नयी जानकारी या नयी समझ देती हों. 'इंवेंटरी' में जरूर मुझे लगा कि एक खास समस्या की ओर इशारा है. तीन प्रमुख पात्रों पर कहानी केंद्रित है—युवा नायक तोमेक भूगोल का विद्यार्थी है जो अपनी तलाकशुदा मां जोफिया के साथ रहता है. दोनों ही सीधेसादे धार्मिक संवेदनाओंवाले लोग हैं. मां डेंटिस्ट है जहां तोमेक एक दिन जूलिया से मिलता है, जो उसे काफी परेशान और टूटी हुई लगती है. तोमेक उसकी मदद के लिए हाथ बढ़ाता है, और जब उसे अपना लेता है तब समस्याएं शुरू होती हैं. जूलिया को मादक दवाओं की लत है. तोमेक बेरोजगार है. मां की आय इतनी नहीं कि तीनों उस पर रह सकें, न यह नैतिक दृष्टि से तोमेक को स्वीकार्य ही है. जर्मनी में रह रहे संपन्न पिता से भी तोमेक आर्थिक सहायता स्वीकार करना अपने आत्मसम्मान के विरुद्ध समझता है. घरों की रंगाई का एक छोटा-सा काम ढूंढ लेता है—पर मां के सारे तर्कों के बावजूद अपने इस संकल्प से नहीं डिगता कि उसे अंत तक जूलिया का साथ देना है, क्योंकि उसकी मदद के बिना वह बिल्कुल नष्ट हो जाएगी. फिल्म में मां और बेटे के बीच बातचीत का एक लंबा और निर्णायक प्रसंग है. मां अत्यंत

'किलिंग' का एक दृश्य

संयत और संतुलित ढंग से सिद्ध कर देती है कि जूलिया के लिए तोमेक की चिंता नितांत अव्यावहारिक है, भावुक है, तर्कविरुद्ध है. तोमेक के पास मां के तर्कों का कोई माकूल जवाब नहीं है, केवल एक तीव्र मानवीय संवेदना का नैतिक आवेग है जिसके बल पर वह जूलिया की मदद का अंतिम निर्णय लेता है. एक प्रश्न उठता है कि पाश्चात्य जीवनमूल्य तर्क पर जितना भरोसा रख कर चलते हैं कहीं जानुस्सी की फिल्म उस भरोसे पर एक प्रश्न-चिन्ह तो नहीं लगाती? कहीं ऐसा तो नहीं कि मानवीय मूल्यों का स्रोत भावनात्मकता से बौद्धिकता की ओर जरूरत से ज्यादा खिसक गया हो? तोमेक के व्यवहार के पीछे प्रेम के बजाय एक दृढ़ मानवीय करुणा को प्रमुख रख कर जानुस्सी शायद मानव संबंधों के एक ज्यादा बड़े आधार की ओर संकेत करते हैं.

फिल्म माध्यम की बुनियादी ताकत उसकी वृत्तात्मकता में है...यानी सामने जो है या जो हो रहा है उसे ज्यों-का-त्यों बिंबों में पकड़ सकने की क्षमता में. बिंबों की भाषा में तथ्यों का विवरण देते हुए एक फिल्म सब से अधिक प्रामाणिक सिद्ध होती है. एक 'कहानी' या 'नाटक' को भी फिल्म द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन एक फिल्म का खास अपनी विधा में रचनात्मक होने का मतलब उसके एक 'कहानी' या 'नाटक' होने से भिन्न हो सकता है. फिल्मोत्सव : 90 की कई ऐसी महत्वपूर्ण फिल्में ध्यान आकृष्ट करती थीं जिनमें एक सुनियोजित प्लाट की अपेक्षा जीवन को उसके स्वाभाविक बिखराव या परस्परता में इस तरह पेश करने की कोशिश की थी कि हम उसे अधिक-से-अधिक अरंजित घनिष्ठता में महसूस कर सकें. कहानी-सी लगती हुई भी कहानी के जादू को तोड़ती हुई पोलिश फिल्मकार फ्रिस्तॉफ किएस्लोव्स्की की पूर्वोक्त तीनों फिल्में शायद इस बार की उत्कृष्टतम फिल्मों में से मानी जा सकती हैं. बाइबिल के 'टेन कमांडमेंट्स' (दस आदेश) की 'ध्वनियों' से जोड़ते हुए दस लघुचित्र—'डेकालोग'—की परियोजना बनायी है. ये पहले टी.वी. फिर सिनेमा के लिए विस्तृत की गयी फिल्में हैं. 'प्रेम' और 'हत्या' पर बनी उपरोक्त फिल्में मनुष्य की दो बुनियादी प्रवृत्तियों को केंद्र में रखकर बनायी गयी अत्यंत सार्थक, सशक्त और विचारपूर्ण कृतियां हैं. विषय पुराने हैं, लेकिन पुराने विषयों पर भी कितनी ताजगी और कलापूर्ण ढंग से सोचा जा सकता है इसका अंदाजा, फिल्म देखकर ही लगता है. फिल्म का, कथानक बहुत महत्वपूर्ण नहीं है : चरित्रों से अत्यंत जीवंत संपर्क का एहसास शायद इन फिल्मों की सबसे बड़ी खूबी है. अधेड़ उम्र की नायिका मैगडालीन की फिल्म में सशक्त उपस्थिति देर तक मन पर बनी रहती है. किशोर वय का टॉम अपनी अकेली मां के साथ एक छोटे-से फ्लैट में रहता है और डाकखाने में काम करता है. अपने कमरे की खिड़की से वह सड़क के पार दूसरे फ्लैट में रहती मैगडालीन के कमरे की खिड़की से, एक दूरबीन द्वारा, उसके निजी जीवन-प्रसंगों को छिपकर देखता है. धीरे-धीरे उसके प्रति एक प्रबल आकर्षण अनुभव करने लगता है. कभी-कभी उसके जीवन में लुकाछिपी हस्तक्षेप भी कर डालता है—कभी केवल उसे निकट से देखने की लालसा से, तो कभी शरारत में. एक दिन मैगडालीन पर जब यह भेद खुलता है तो पहले तो वह एक विक्षुब्ध बेचैनी महसूस करती है फिर टॉम के प्रति सहानुभूति. शायद उसके किशोर मनोविज्ञान को लेकर वह एक चुहलभरा कौतूहल भी अनुभव करती है. उसे अपने कमरे में ले जाकर सेक्स के बारे में उसकी उत्सुकता को शांत करना चाहती है. उत्कंठा और घबराहट में टॉम को लगता है कि वह असफल रहा. ग्लानि उसके मानसिक संतुलन को इस हद तक बिगाड़ देती है कि वह आत्महत्या करने की कोशिश करता है. मैगडालीन भीषण अपराधबोध से विचलित हो उठती है कि एक संवेदनशील किशोर-मन की आंतरिक समस्याओं को समझने में उससे अनायास इतनी बड़ी भूल हुई. टॉम का जीवन बच जाता है, पर
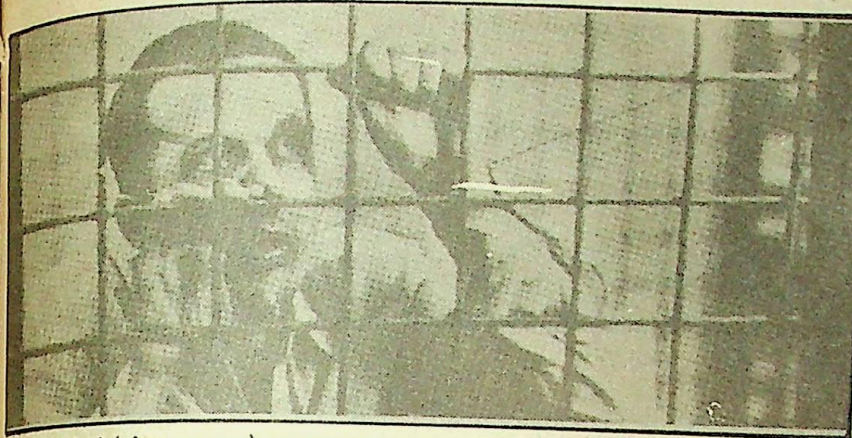
'ब्लाइंड चांस' (अंधा अवसर) का एक दृश्य

उसकी मां नहीं चाहती कि मैगडालीन फिर उससे मिले. फिल्म का सबसे मार्मिक दृश्य वह है जब मैगडालीन टॉम के कमरे में उसकी दूरबीन से अपने कमरे में अपने आप को टॉम की निगाहों और संवेदना से देखती है. मैगडालीन की अप्रत्याशित रूप से उदार और मानवीय प्रतिक्रियाओं में किएस्लोव्स्की ने 'कामुकता' से क्रमशः एक प्रौढ़तर 'ममत्व' की दिशा में जो बारीक संतरण दिखाया है उसकी कोमलता और विश्वसनीयता सचमुच सराहनीय है. निस्संदेह, मैगडालीन की भूमिका को ग्राजीना शापोतोव्स्का के अभिनय ने पूरी गहरायी और आत्मविश्वास से चित्रित किया है. सेक्स से संबंधित इतने नाजुक प्रसंग को भी इतनी शालीनता से चित्रित किया जा सकता है यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ.

'हत्या' के बारे में फिल्म हत्या मात्र के प्रति एक विचित्र जुगुप्सा जगाती है. वह हत्या चाहे किसी सिरफिरे हत्यारे द्वारा पूरी तैयारी से की गयी हो, चाहे राज्य द्वारा दंड-स्वरूप उतनी ही भयानक तैयारी के बाद! हिंसा और प्रतिहिंसा के प्रति एक ही प्रकार की मानसिकता को रेखांकित करती हुई यह फिल्म मृत्युदंड के विरुद्ध कोई साफ तर्क न रखते हुए भी हत्या के 'उपकरणों' और 'साधनों' को कुछ इस तरह इस्तेमाल करती है—(मसलन पहले उस 'रस्सी' को जिससे हत्यारा एक टैक्सीचालक का गला घोंटकर हत्या करता है, फिर उस 'रस्सी' को जिस पर लटकाकर हत्यारे को फांसी दी जाती है) कि अपराधी और दंड देनेवाली मनोवृत्तियों के बीच बहुत कम फासला रह जाता है! हत्या के लिए दोनों ही अपने-अपने औजारों को जिस हृदयहीन कुशलता से जांचते-परखते हैं उसकी विडंबना सचमुच दहला देनेवाली है. हत्या के लिए तर्क चाहे एक हत्यारे के प्रतिशोध की भावना में हों चाहे कानून में, कहीं न कहीं हिंसा की उस आदिम प्रवृत्ति की याद दिलाते हैं जिसके लिए
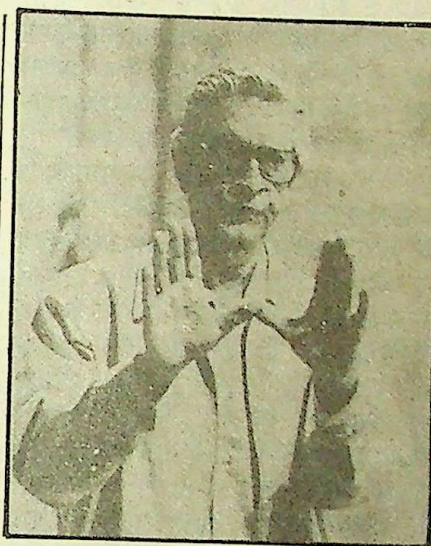
सत्यजित राय

जायज कारण ढूंढ लेने में आदमी को देर नहीं लगती.

किएस्लोव्स्की की ही 'ब्लाइंड चांस' (अंधा अवसर) उपरोक्त दोनों फिल्मों से बिल्कुल अलग तरह की फिल्म है. डाक्टरी पढ़ रहे विटाक ग्यूगोश के जीवन में तीन मौके आते हैं जब वह अपने जीवन को एक निर्णायक मोड़ दे सकता है. छूटती ट्रेन पकड़ने की तीन नाकाम कोशिशों से उसके तीन जीवन-प्रसंग जुड़े हैं. जिन जीवनों को पकड़ पाने में वह बार-बार असफल रहता है, और जो जीवन उसे बार-बार पकड़ लेता है (अस्पताल में घिसटते शव की तरह जिसका बिंब लौट-लौटकर विटाक की मानसिक अवस्था को प्रतिबिंबित करता लगता है) उनके बीच रखकर मनुष्य की आकांक्षाओं और जीवन यथार्थ पर विचारोत्तेजक टिप्पणी प्रस्तुत की गयी है.

अन्य फिल्में जिनमें विषय या कथ्य को ही प्रधानता दी गयी है—एड्स रोग से संबंधित चेक फिल्म 'टेंटेड हार्सप्ले' (कुत्सित खिलवाड़) तथा शोही इमामुरा की जापानी फिल्म 'ब्लैक रेन' (काली बारिश)—(हिरोशिमा पर गिराये गये बम की विभीषिका से संबंधित) विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं. 'एड्स' इस समय दुनिया में बहुचर्चित, घृणित और घातक यौन-रोग है : फिल्म इस रोग की पूरी भयानकता को एक अत्यंत मानवीय कोण से संप्रेषित करती है.

जिस फिल्म ने मुझे 'विषय' और 'तकनीक' दोनों दृष्टि से काफी प्रभावित किया, वह थी अमरीकी निर्देशक गॉडफ्रे रेग्गिओ की 'पोवाक्कात्सी'. यह होपी भाषा से लिया गया एक संयुक्त शब्द है—'पोवाक्' का अर्थ है

निर्देशक किएस्लोव्स्की

मायावी या जादूगर (कुछ-कुछ राक्षसी अर्थ में) तथा 'कात्सी' का अर्थ है जीवन : भावार्थ है, एक ऐसी जीवनपद्धति जो दूसरों के जीवन की शोषक हो. यह एक शब्दरहित फिल्म है. केवल बिंबों और संगीत के कुशल संयोजन द्वारा एक 'भाषा' की रचना की गयी है. प्रयोग यद्यपि एकदम निराला नहीं, लेकिन इस भाषा द्वारा रेग्गियो ने पृथ्वी पर रहनेवाले प्राणियों तथा **प्राकृतिक संपदा के तेजी से नष्ट होते जा रहे भंडार को लेकर जो चिंता और चिंतन व्यक्त किया है वह कई स्तरों पर हमें सोचने के लिए बाध्य करता है. रेग्गियो ने बिंबों की सामान्य 'गति' और 'लय' न रखकर उन्हें पूरी फिल्म में धीमी लय में बांधा है, मानो सांकेतिक तौर पर कह रहे हों कि इन दृश्यों पर धीरता से विचार कीजिए!**

'फिल्मोत्सव' के दौरान रेग्गियो से परिचय और बातचीत का एक दिलचस्प अवसर मिला. दरअसल, 'कात्सी' (जीवन) श्रृंखला में उन्होंने तीन फिल्मों की योजना बना रखी है. 'कोयानिस-कात्सी' यानी असंतुलित जीवन; 1983 में बन चुकी है. बिंबों का विलंबित लय में संयोजन तथा उसके साथ फिलिप ग्लास के अत्यंत कुशल संगीत की संगत, इस फिल्म में ही अपना प्रभावशाली मुहावरा बना चुकी थी. इसी मुहावरे को रेग्गियो ने अपनी नयी फिल्म 'पोवा-कात्सी' (1987) में दुहराया है, तथा इसी शैली में अपनी अगली फिल्म 'नाकोय-कात्सी' (प्रकृति की मृत्यु) फिल्म बना रहे हैं. 'नाकोय' का शाब्दिक अर्थ है 'युद्ध' : यानी 'युद्ध का जीवन' जिसमें मनुष्य और प्रकृति के विनाश के बीज छिपे हैं. यह 'कात्सी' श्रृंखला की तीसरी फिल्म होगी. इस तीसरी फिल्म का आलेख रेग्गियो अपने साथ लाये थे जिस पर मेरी उनसे काफी बातचीत हुई. 'पोवा-कात्सी' तथा इस आलेख पर बातचीत को ध्यान में रखते हुए यहां रेग्गियो के चिंतन पर एक दृष्टि डालना चाहूंगा. मनुष्य और मनुष्य, तथा मनुष्य और प्रकृति के बीच बनते बिगड़ते संबंधों को वे एक व्यापक परिवेश में रखकर सोचना चाहते हैं. 'पोवा-कात्सी' का फिल्मांकन ब्राजील, इजिप्ट, केन्या, पेरु, भारत, हांगकांग, इस्राइल, फ्रांस, नेपाल तथा बर्लिन में किया गया है. देशों के इस कोलाज की ही तरह बिंबों का कोलाज भी संदर्भगर्भित है. भारत से रेग्गियो काफी अर्से से जुड़े रहे हैं तथा गांधी को इस युग के महानतम विचारकों में से मानते हैं. (भारतीय दृश्यों के फिल्मांकन में श्याम बेनेगल के सहयोग के प्रति आभार मानते हैं). 'पोवाकात्सी' को देखना मंत्रमुग्ध कर देनेवाला लगभग आध्यात्मिक किस्म का अनुभव था : प्रत्येक बिंब मानो हम से संवाद के लिए उत्सुक एक वक्तव्य हो. मनुष्य की
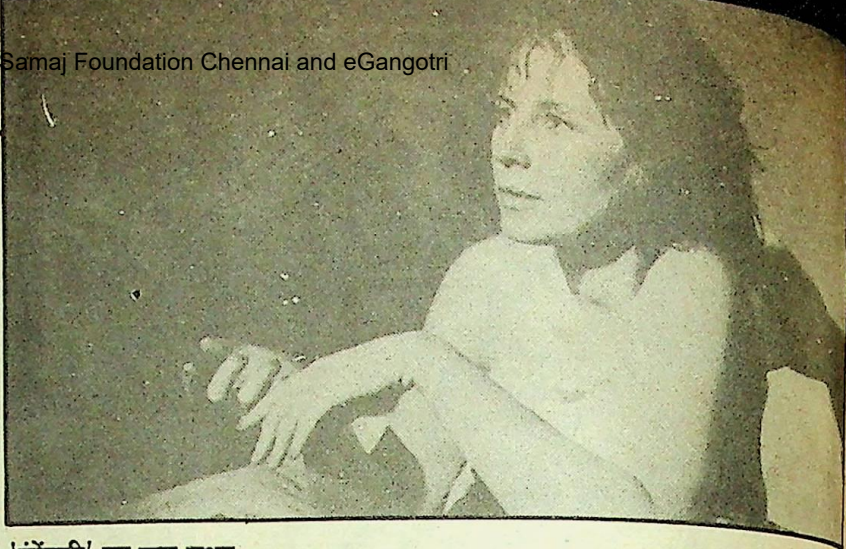
'इंवेंटरी' का एक दृश्य

जीवन-पद्धति में व्याप्त युद्ध, आक्रामकता और हिंसावृत्तियों को वे आत्मघाती मानते हैं. पुराने समयों में जब मनुष्य के हाथों में सीमित ताकतें थीं ये प्रवृत्तियां फिर भी इतनी विनाशक नहीं हो सकी थीं जितनी आज हो सकती हैं जब विज्ञान और टेक्नोलॉजी ने इन प्रवृत्तियों की विनाशक शक्ति को हजारों गुना ज्यादा बढ़ा दिया है. मेरे पूछने पर कि विज्ञान और टेक्नोलॉजी के विकल्प के रूप में उनके दिमाग में किस प्रकार की जीवनपद्धति की बात आती है उन्होंने एक संत की-सी सहजता से कहा—'शायद, किसी प्रकार के हस्तनिर्मित जीवन (हैंडमेड लाइफ) के चित्र उभरते हैं!' उन्हें संदेह है कि विज्ञान **और टेक्नोलॉजी** ने हमारी पृथ्वी और उस पर **बसे जीवन को** अधिक सुरक्षित बनाया है : शायद **इसका उल्टा** ज्यादा सही हो. एक दूसरे के प्रति **व्यक्तिगत** तथा सामूहिक जिम्मेदारी को रेग्गियो **प्राथमिक महत्व** देते हैं और इसी संदर्भ में 'आधुनिकता की उपासना' को एक अंधी सनक मानते हैं. उनका आग्रह है कि दुनिया को नयी तरह परिकल्पित करो, उसे एक विनम्र और सादा स्वप्न दो, अन्यथा तकनीक का दैत्याकार फैलाव उसे खा जाएगा : कोई दूसरा नाम दो प्रगति को जिसका प्रमुख आशय हो दूसरों के साथ सौहार्द्रपूर्ण ढंग से जीना. 'आजादी' का यह अर्थ नहीं कि हमें किसी भी तरह जीने की छूट है, न प्रजातंत्र हमें उस तरह की आजादी ही देता है. सही आजादी के लिए हमें संघर्ष करना होगा और उसे सब के हित में सही तरह परिभाषित और परिकल्पित करना होगा. मनुष्य की आजादी को वे एक सही 'नैतिक चुनाव कर सकने के विवेक' में देखते हैं. तकनीक के महाकाय जादू ने मनुष्य की बुद्धि को चकरा दिया है: वह पूरे संसार को ही एक उपभोक्ता माल में तब्दील कर डालना चाहता है. हम अपने ही रचे एक कृतिम मायाजाल में कुछ इस तरह फंस गए हैं कि हमारा यथार्थबोध एक आक्रामक और हिंसक जीवन-पद्धति का गुलाम होता जा रहा है. यह जीवन-पद्धति हमारी मित्र नहीं शत्रु है. रेग्गियो के चिंतन में हो सकता है हमें किंचित् सरलीकरण की प्रवृत्ति नजर आये. वर्तमान से असंतोष स्वाभाविक है: वापस लौटने की इच्छा अगर अपलायनवादी है तो भविष्य की कल्पना का आधार किसी प्राक्-आधुनिक जीवन पद्धति में खोजना भी कम निर्हेतुक नहीं. दूसरे, तकनीकी विकास को मनुष्य की आक्रामक प्रवृत्तियों के साथ मोटे तौर पर जोड़ना मुझे ठीक नहीं लगता. मनुष्य की जिन 'आक्रामक' और 'हिंसक' वृत्तियों पर नियंत्रण जरूरी है उसका निदान 'तकनीक' पर नियंत्रण में नहीं है. संभवतः उनके इस यकीन में ज्यादा दम है कि सही नैतिक-विवेक सही जीवन-विवेक भी है, और इसीलिए मनुष्य को भौतिक जीवन की अंधाधुंध समृद्धि से पहले अपने आत्मिक जीवन की समृद्धि की बात सोचनी चाहिए. उनका कहना था कि ऐसा लगता है बड़े-बड़े व्यवस्था-तंत्रों के जंगल में मानवता के अर्थ खोते चले जा रहे हैं: 'सच्चाई को नाम देने के लिए शब्द और भाषा जूझ रहे हैं. मैंने अपनी फिल्म में एक अनुभव देना चाहा है—संगीत और बिंबों को इस तरह संपादित किया है कि दोनों एक दूसरे में घुलमिलकर शब्दरहित ध्वनि-रूपक बनाते हैं जो पूर्णतः अनुभवगत है. 'इस अनुभव को', उनका कहना था 'दर्शक देखने से ज्यादा सोखता है. 1983 में जब 'कोयानीसकात्सी' अमरीका और अन्य देशा में दिखायी गयी तो उसकी शैली का व्यापक प्रभाव पड़ा—कई फिल्मों पर, और संगीत पर बनी अनेक वीडिओ फिल्मों पर. खासतौर से 'कात्सी'—श्रृंखला की फिल्में यद्यपि महान फिल्मों की कोटि में नहीं रखी जा सकतीं पर उनके पीछे जो चिंतन है आज उसका विश्वव्यापी महत्व है—एक समस्या के रूप में भी, और 'आक्रामकता' तथा 'हिंसा' जैसी प्रवृत्तियों पर जो सोच-विचार कोनराड लारेंज और आरद्रे आदि ने पशुविज्ञान (ईथोलॉजी) के क्षेत्र में किया है उसके संदर्भ में भी. लेकिन गांधी के मानवतावाद की ओर रेग्गियो के झुकाव का मतलब अगर आधुनिक तकनीकी उपलब्धियों का सरासर नकार नहीं है तो फिलहाल यह कहना चाहूंगा कि उनकी फिल्म दोनों के समन्वय का एक सुंदर उदाहरण है! ▫
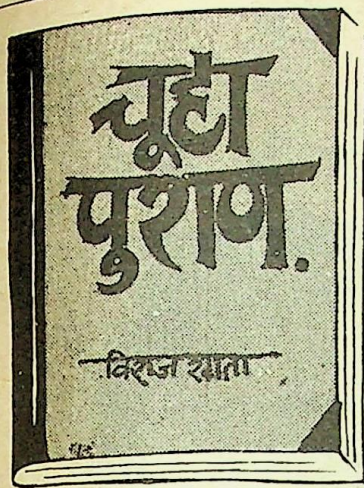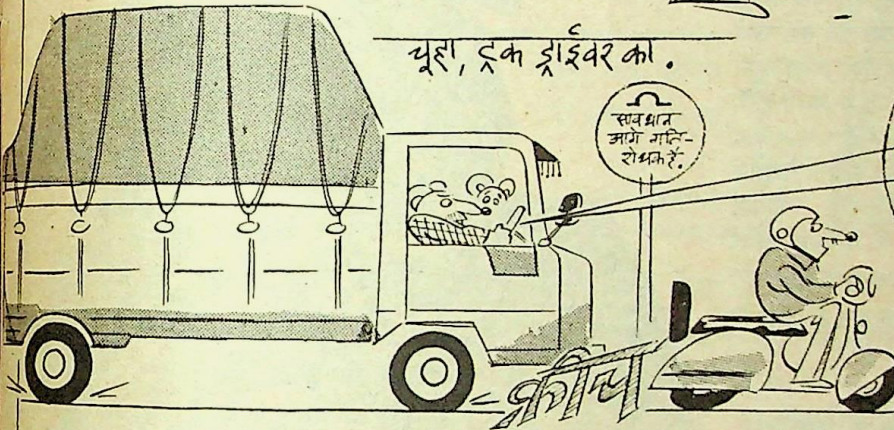
चूहा पुराण.
चूहे, होली खेलते अफसरों के.
-तुमने तो मेरे सेक्रेटरी को रंग लगा लिया - अब मेरी बारी है - तुम्हारे सेक्रेटरी को रंगने की.
चूहा, ट्रक ड्राईवर का.
सावधान आगे गति-रोधक हैं.
देखा कैसे स्पीड ब्रेकर को देखते ही स्कूटर धीमा कर दिया -, अभी एक्सिडेंट हो जाता तो सभी हमारी गलती बताते!
चूहा, रेलवे चीफ का.
भारतीय रेल.
जिस वक्त 'फाईव अप' एक्सप्रेस पटरी पर जा रही थी - उसी वक्त 'थ्री डाऊन शटल' भी उसी पटरी पर आ रही थी - दोनों के ड्राइवरों को पता चलता इससे पहले 'ऐक्सिडेंट' हो गया - अब भला इसमें हमारा क्या कसूर है?
चूहा, भारतीय स्टूडैंट का.
सर! आज सुबह जब मैं स्कूल आ रहा था तो किसी ने पूछा - बेटे पाठशाला जा रहे हो क्या? ये पाठशाला क्या होती है सर?
चूहे, असली होली मनाने वालों के.
...तूने सही कहा था 'हिक' होली का असली मजा 'हिक' पीये बिना कहाँ!
बिराज
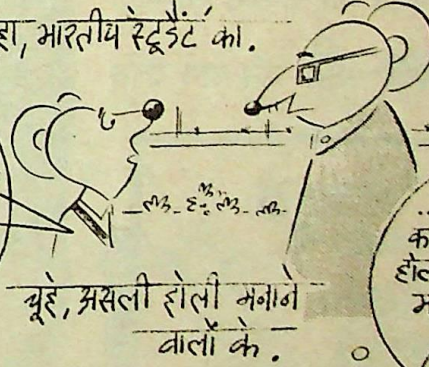
ये मुस्कान रहेगी कायम

जिस दिन से मिल गया उसे अनचाहे गर्भ से छुटकारा,
उसकी खुशियों का झिलमिलाया सितारा।
अपने परिवार को छोटा रखने के लिए आज
संसार में साढ़े छः करोड़ से भी ज्यादा औरतें ओरल पिल्स यानि
गर्भ निरोधक गोलियां खा रही हैं।
उन्हीं की तरह उसने भी माला-डी-नई छोटी
खुराक वाली गोलियां खाना शुरु कर दी हैं।
ये गोलियां खासतौर से भारतीय महिलाओं
के लिए अनुकूल हैं।
पहला बच्चा जल्दी नहीं,
दूसरा उसके तीन साल बाद
और इसके लिए हर समझदार औरत खाती है गर्भ निरोधक
गोलियां
माला-डी गोलियों के सेवन से श्रोणि शोथ रोग, अस्थानिक गर्भाधान, अंतर
गर्भाशय कैंसर, डिम्ब ग्रन्थी कैंसर, सुसाध्य वक्ष जैसे रोगों का खतरा
काफी हद तक कम हो जाता है।

डाक्टर की सलाह लीजिए,
वह आपको **माला-डी** की राय देंगे।

माला-डी, बच्चों के जन्म में अन्तर के लिए
सुरक्षित, सरल और शर्तिया उपाय
नई खाने की गर्भ-निरोधक गोलियां,
रियायती दामों पर,
सिर्फ 2 रु. में एक पैकेट।

डी ए वी पी 89/692
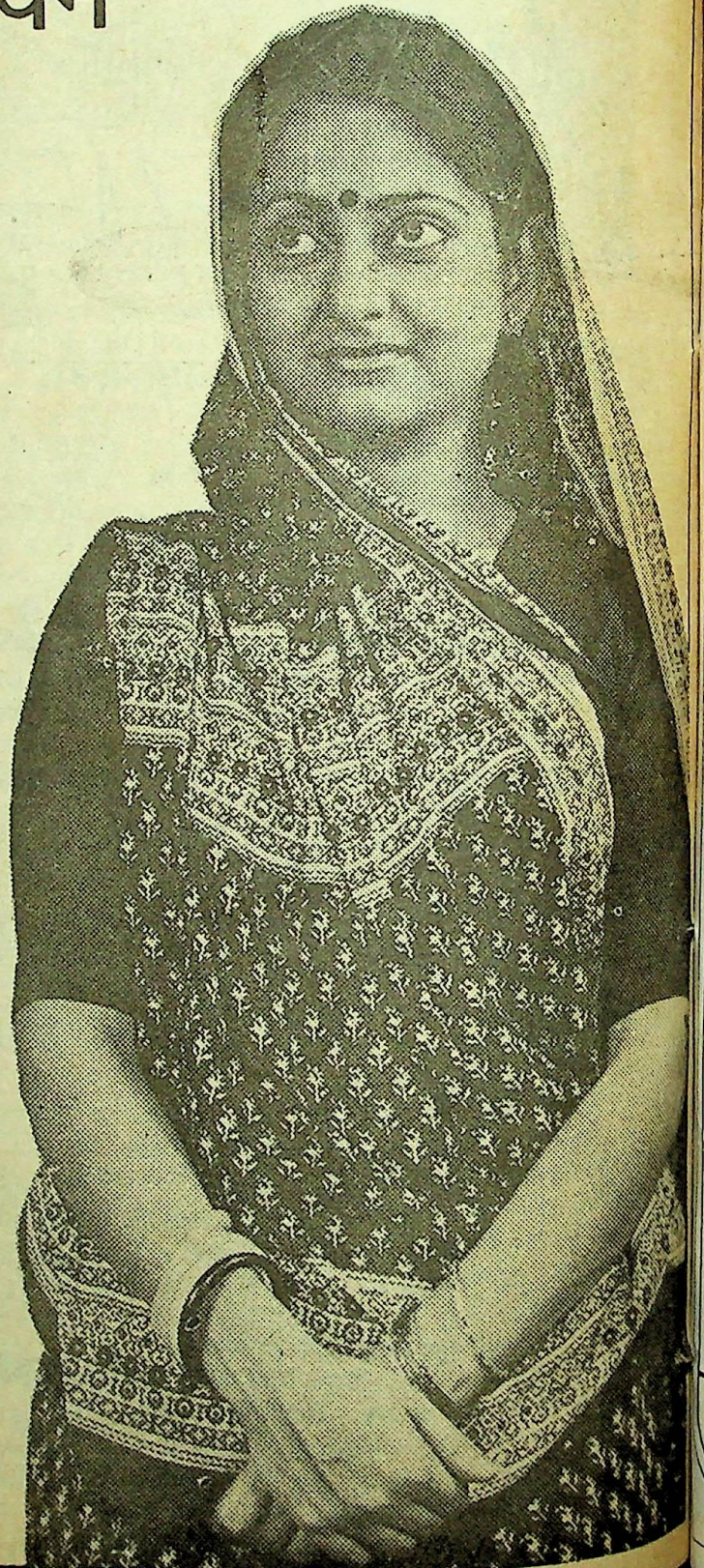
विश्व भर में बहुचर्चित कृति The Second Sex का भारत में पहला हिन्दी रूपान्तर

(Le Deuxieme Sexe मूल फ्रेंच नाम)

फ्रांस की महान् लेखिका सीमोन द बोउवार कृत

संसार भर में सदा-सदा से पीड़ित, उपेक्षित एवं वंचित स्त्री के विषय में समग्र अध्ययन, जो उसी स्त्री जाति का प्रबल पक्षधर है

प्रस्तुति: डॉ० प्रभा खेतान

- स्त्री कभी पैदा नहीं होती, बल्कि उसे बना दिया जाता है।
- स्त्री, पुरुष प्रधान समाज की एक कृति है। वह अपनी सत्ता को बनाए रखने के लिए स्त्री को जन्म से ही अनेक नियमों के ढांचे में ढालता चला गया है।
- चूंकि सामाजिक संहिता का निर्माता पुरुष है, अत: यह विज्ञप्ति कि स्त्री पुरुष से हीन है, अब तक संस्कारों से पुष्ट होती रही है।

— **सीमोन द बोउवार**

विशेष छूट!

यदि आप 31 मार्च 1990 तक यह पुस्तक मंगाएं, तो केवल 150/- मनी आर्डर/बैंक ड्राफ्ट द्वारा अग्रिम भेज दें। हम आपको डाक द्वारा पुस्तक भेज देंगे।

आकार: 23×36/16 (**डिमाई**) ★ **पृष्ठ**: 352
मूल्य : 195/-

अन्य महत्वपूर्ण कृतियां

■ उपन्यास

आनंद नगर	**डोमिनीक लापिएर**	90/-
करुणा	**रवीन्द्रनाथ ठाकुर**	50/-
मेरा भाई	**शिवानी**	45/-
आओ पेपे, घर चलें!	**प्रभा खेतान**	50/-
ठीकरे की मंगनी	**नासिरा शर्मा**	90/-

■ कहानियां

मालगुडी डेज	**आर० के० नारायण**	35/-

■ काव्य

सांकलों में कैद क्षितिज (कुछ दक्षिण अफ्रीकी कविताएं)	**प्रभा खेतान**	45/-

■ संत-भक्त कवि

गुरु नानक	**डॉ० महीप सिंह**	35/-
संत रैदास	**योगेश गुप्त**	45/-

■ शायरी

दीवान - ए - गालिब		30/-

■ विश्व चिंतन

बर्ट्रण्ड रसल	**डॉ० दुर्गापंत**	45/-
खलील जिब्रान	**डॉ० नीलिमा सिंह**	40/-
कन्फ्यूशियस	**डॉ० विनय**	40/-

■ नीति शास्त्र

विदुर नीति	**महात्मा विदुर**	50/-
चाणक्य नीति	**आचार्य चाणक्य**	35/-

■ चिकित्सा - स्वास्थ्य

एड्स	**डॉ० पुष्पा खुराना**	80/-

उर्दू पाठकों के लिए दस्तावेज़ी पुस्तक ★ रसीदी टिकट (आत्म-कथा) **अमृता प्रीतम** 40/-

★ **'हिन्द पॉकेट बुक्स' का सहयोगी संस्थान**

हेड ऑफिस: दिलशाद गार्डन, जी० टी० रोड, शाहदरा, दिल्ली-110095
सिटी ऑफिस: C - 36 कनॉट प्लेस, नयी दिल्ली-110001
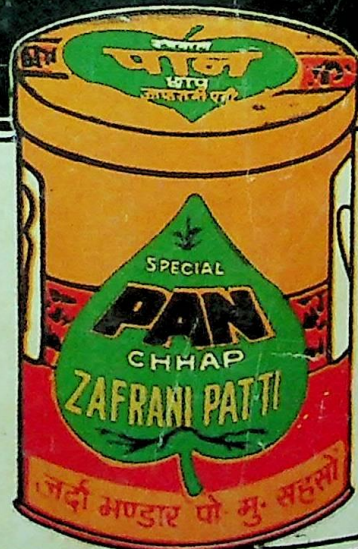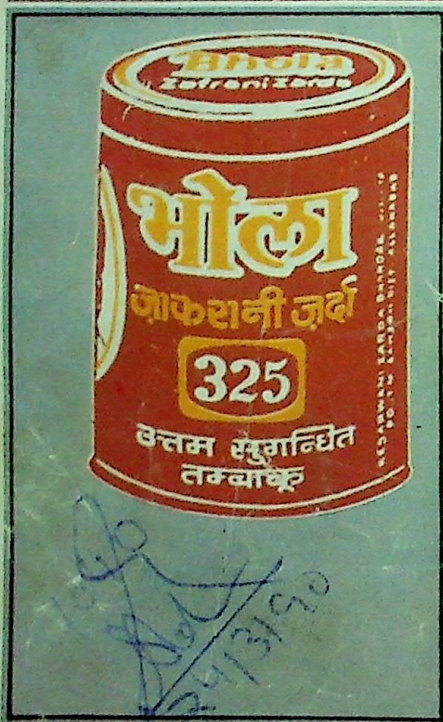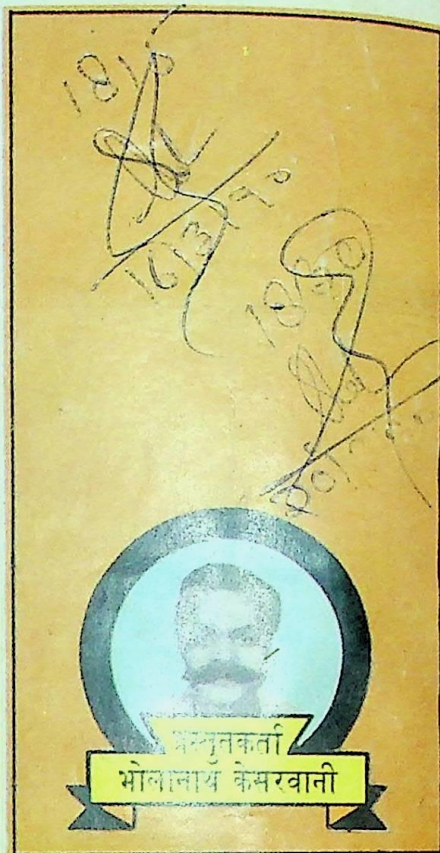
बैनेट कोलमैन एंड कं. लिमिटेड, स्वत्वाधिकारी के लिए रमेश चंद्र द्वारा नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स, 10 दरियागंज नयी दिल्ली-110002 से मुद्रित व प्रकाशित. पंजी. कार्यालय, डॉ. दादाभाई नौरोजी रोड, बंबई-400001. शाखाएं. 7 बहादुरशाह ज़फर मार्ग, ... 88 ... गांधी रोड, बंगलौर-560001; S-9 अनुपम चैंबर्स, टोंक रोड, जयपुर- 302004.

रजीयत सं. D-(C)-779
पूर्व शुल्क के बिना डाक में डालने की अनुमति सं. U-89

RNI No. 6254/60

Regn. No. G6/TN MS(C)
Regn. No. KRN/BG GPO
RJ 2954

सारिका

समय, समाज, संस्कृति और साहित्य की पहचान
वर्ष : 30, अंक : 455, अप्रैल, 1990

प्रकाशक :
रमेशचंद्र

संपादक :
अवधनारायण मुद्गल

उपसंपादक :
सुरेश उनियाल
महेश दर्पण
वीरेंद्र जैन

आवरण एवं सज्जा प्रबंधक :
लोकेश भार्गव

सीनियर मैनेजर विज्ञापन :
एस.एस. मेहता

मैनेजर रिसपांस :
डा. राजेंद्रपाल जैन

प्रोडक्शन :
हरेंद्र सिंह नेगी
उदेश कुमार

अंक सज्जा :
किनमिन

संपादकीय, विज्ञापन, प्रसार एवं व्यवस्था :
10 दरियागंज, नयी दिल्ली-110002
दूरभाष : 3271911

टाइम्स हाउस, 7 बहादुरशाह ज़फर मार्ग, नयी दिल्ली-110002
दूरभाष : 3312277 (20 लाइनें)

अन्य कार्यालय :
डा. दादाभाई नौरोजी मार्ग, बंबई-400 001
फ्रेज़र रोड, पटना
अनुपम चैंबर्स, टोंक रोड, जयपुर
33 आश्रम रोड, अहमदाबाद-1
13-1-2 गवर्नमेंट प्लेस, ईस्ट, कलकत्ता-700 062
'गंगा-गृह' तीसरी मंजिल, 6-डी नुंगमबक्कम हाई रोड, मद्रास-600 034
88 महात्मा गांधी रोड, बंगलूर
407-1 तीरथ भवन, क्वार्टर गेट, पुणे-411 002

उपन्यास

रंग बिरंगे लोग (बंगला) :
शीर्षेंदु मुखोपाध्याय

वनश्री अपने रूप के बारे में काफी सजग है पर उसे सहेजने संवारने के लिए, मोम की गुड़िया जैसी बैठी—धरी नहीं रह पाती. वह तो कड़ी धूप में घनी वर्षा में भी दूर-दूर तक पैदल चलकर ही ग्राम सेविका का काम करती है. तरह-तरह के राहत-कार्यों के लिए भी उसे इधर-उधर आना-जाना पड़ जाता है., कॉलेज के दिनों में तो वह यूनियन के लिए भी जी-जान से काम करती थी. जाने कब वो जमाना बीत गया. अब तो उसे घर में ही रहना पड़ता है. दरअसल उसके लिए रिश्ते ढूंढे जा रहे हैं. लड़के वाले बात चलाने आते रहते हैं. कुछ तो उसे देख भी चुके हैं. जिन्हें लड़की पसंद आ जाती है. वे सब दहेज के भूखे निकलते हैं, सो बात तय होते-होते रुक जाती है, कहीं कुछ और अड़चन आ जाती है. एक जगह रिश्ता करीब-करीब तय हो चुका था, तभी किसी ने खबर भेजी, लड़के ने चुपचाप किसी से सिविल मैरेज कर ली है.

कथा-रचनाएं

30. लाडली : यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'
38. एक बहका हुआ आदमी (उर्दू) : सुरेंद्र प्रकाश
43. तोंबा (मणिपुरी) : सिजगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री
46. दिशाहीन : द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'
52. युद्धविराम : विजयकिशोर मानव
56. मुट्ठी भर रोशनी : तेजेंद्र शर्मा
62. जो एक सपना था : शैलजा
72. सारे जहां से अच्छा : रवींद्रनाथ त्यागी

धारावाही उपन्यास

68. लाल पसीना : अभिमन्यु अनत

कविताएं

37. नमक : केदारनाथ सिंह

साक्षात्कार

71. बाबा नागार्जुन : क. कि. गोयनका की बातचीत

विशिष्ट आयोजन

66. फाइल पढ़ि-पढ़ि जग मुआ : गोपाल चतुर्वेदी

74. स्मृतिप्रसंग देवीशंकर अवस्थी : कमलेश अवस्थी
76. आलोचना की पुनर्यात्रा : सुधीश पचौरी
79. परिचर्चा-देवीशंकर अवस्थी : चरणसिंह अमी
82. कथाकार माखनलाल चतुर्वेदी : देवेंद्र कुमार चौबे

स्थायी स्तंभ

6. आपकी बात
55. सारिका कथा पहेली
84. कृतियां

आवरण पारदर्शी : आर.के. यादव

बौने होते विचार

सभी कहानियां पढ़ चुका हूं. हंसराज रहबर की कहानी 'हो भी और नहीं भी' मानवीय अवमूल्यन की, कहानी है. सचमुच आज हमारे विचार दिन-प्रतिदिन बौने होते जा रहे हैं. इतना ही नहीं लेखक और बुद्धिजीवी वर्ग भी अपने बौनेपन में क़ैद होते जा रहे हैं और उनके विचार उनके उपन्यासों के टाइटलों की तरह उलझे हैं कि एक सामान्य आदमी उसे नहीं समझ पाता है जबकि उनके विचार लिखने भर को छोड़कर एक सामान्य आदमी से ज्यादा ऊंचे नहीं होते हैं. सुरेंद्र अरोड़ा की 'पहली सवारी' भी मानव के टुच्चेपन को उद्घाटित करती है. 'पिशाच पुरुष' और 'गद्दार' भी अच्छी बन पड़ी हैं. शेष कहानियां तो मुझे सारिका के स्तर की लगी ही नहीं.

□ **ज्योतिर्मय आनंद, सोनाली (कटिहार)**

समय की मांग

अविनाश रचित उपन्यासिका अत्यधिक रोचक लगी. कामायनी का चरित्र चित्रण और पुरुष के बिना अपना जीवन स्वतंत्र रूप से जीने का संकल्प मन मोह लेता है. लेखक महोदय को बधाई. विश्व पुस्तक मेले के अवसर पर श्री कृष्ण चंद्र बेरी का 'विचार प्रकाशन उद्योग लोभ का शिकार हो गया है सही लगा. हिंदी के प्रचार-प्रसार के लियें साहित्यिक कृतियों के अल्पमोली पेपरबैक संस्करण समय की आवश्यकता है.

□ **आर.एन. सिंह, जबलपुर**

जाल बिछाने से क्या होगा?

क्या होगा इस जाल बिछाने से?

आज के युग में किसके पास समय है कि वह पुस्तकालय से अपना संबंध जोड़े? सारिका जैसी पत्रिका कितने पुस्तकालयों में आती है? 'पिशाच पुरुष' के बारे में क्या-क्या नहीं सोचा? जहां आती भी है वहां उसको स्पर्श करने का साहस कितने लोगों को है?

ऐसा क्यों?

इस विषय पर विचार करना क्या आवश्यक नहीं?

अनिल पालीवाल को धन्यवाद तथा विभा रानी को भी.

□ **स्वामी आनंद सत्य, कालका (हरियाणा)**

यही अंतिम सत्य नहीं

'पिशाच पुरुष' और 'गद्दार' शीर्षक की कहानियों में पुरुष मानसिकता का ऐसा चित्रण किया गया है कि समस्त 'नेगेटिव एस्पेक्ट' प्रकट होकर निराशावाद को जन्म देता है. यद्यपि इन कहानियों में सौ फीसदी यथार्थपरकता है तथापि निराशावाद रूपी अंत कुछ उचित नहीं जंचता. पुरुष मनोविज्ञान भी चरित्रगत संवेदनाओं के अलावा परिगत मूल्यों से प्रभावित होता है और इन मूल्यों की अश्लीलता प्रकट करना मात्र ही अंतिम हल या अंतिम सत्य नहीं है. कहीं प्रतिद्रोही चिंगारी सुलगी अवश्य है जो कालांतर में शर्म और फिर शोलों में तबदील होगी और सांस्कृतिक विरासत के पिटारे में कुछ और नवीन मूल्यों का समागम होगा. अवसरों के द्वार खुल रहे हैं तो मुक्ति भी सुगम होगी परंतु सदियों से चली आ रही समस्या के मुक्तिपथ पर बाधाएं भी अवश्य आयेंगी और वेश्यावृत्ति संस्कृति आज कॉलगर्ल संस्कृति में तबदील होती जा रही है फिर समानांतर रूप से स्त्रियों की स्थिति एक कदम और आगे खिसक पड़ेगी जब इनमें शिक्षा का प्रसार नौकरशाही को पूर्णतः फांस लेने में इन्हें कामयाब बना देगा. राजनीतिक हलकों में देखा जाये तो नौकरशाही और राजनेताओं का संघर्ष बढ़ता जा रहा है और भोग्या के रूप में ही सही पर स्त्री इन दो समुदायों के मध्य संघर्ष का मूल बन ही सकती है.

□ **जयंत चक्रवर्ती, पटना सिटी**

कामायनी से जानिए

अविनाश का उपन्यास 'यूं होता तो क्या होता?' काफी अच्छा रहा. पुरुष प्रधान समाज में नारी मन की अवहेलना करते हुये कितनी सहजता से पुरुष अपने अनुरूप निर्णय ले लेता है. समानता के अधिकारों की मांग करनेवाली नारियों को 'कामायनी' के अनुरूप ही दृढ़ निश्चयी होना पड़ेगा, तब ही नारी मुक्ति आंदोलन सफल हो सकेगा. आज की परिस्थितियों में इसी पृष्ठभूमि के लेखों व उपन्यास-कहानियों की आवश्यकता है. उपन्यासकार व चयन संपादकीय टीम धन्यवाद की पात्र है.

पहले भी कई बार मॉडलों को लेकर लिख चुका हूं, एक बार फिर लिखने के लिये बाध्य हूं कि कहानी के कथानक के अनुरूप मॉडल्स के चेहरों पर भाव नहीं आ पा रहे हैं. बेहतर होगा मॉडलों की बेमेल तस्वीरें छापना बंद कर दें. यदि उचित समझें तो इस बारे में आप पाठकों की राय आमंत्रित कर लें.

□ **लोकेश बाजपेयी विदिशा (म०प्र०)**

दोष किसका है

अविनाश की उपन्यासिका 'यूं होता तो क्या होता?' मानव जीवन का सजीव चित्रण लगा. उपन्यास पढ़ते-पढ़ते मैं भी अपने आप से प्रश्न करने लगता हूं कि इस पृथ्वी के चेतनाशील दैहिक मानव को देह की ऊपरी परत से इतना लगाव क्यों है? इसका जवाब समाज, पुरुष के लिये सुंदरता-असुंदरता उतना मायने नहीं रखता जितना एक स्त्री के लिये. जिस लोकापवाद, सामाजिक परंपराओं में उलझे इस उपन्यास के पात्र ने कामायनी जैसी आत्मिक शुद्धता एवं स्वतंत्र विचारवाली लड़की को ठुकरा दिया—बहुत हद तक अविनाश की यह बड़ी गलती कही जायेगी क्योंकि उसे खुद उसको अपनी अर्द्धांगिनी बनाकर समाज के सामने आदर्श रखना चाहिये था. दैहिक सुंदरता तो क्षणिक है लेकिन आत्मिक सुंदरता तो संसार में सबको मिलना संभव नहीं. लेकिन अविनाश को दैहिक सुंदरता उस समय फीकी लगने लगी जब उसकी ब्याहता पत्नी (नाममात्र) जो कामायनी की छोटी बहन थी, की सारी बातें उसे पता चल गयीं. यहां पर बात सोचने वाली है कि...कामायनी... क्यों सुंदर है....?

धन्य है कामायनी जैसी लड़की जो अकेले समाज को बताने की हिम्मत रखती है कि वह खुद बिना पुरुष के, संरक्षण के, अपना जीवन आत्मनिर्भर होकर गुजार सकती है. लेकिन सृष्टि का नियम यह कहता है कि बिना स्त्री-पुरुष के मानव जीवन की कल्पना निरर्थक है. ऐसा कथन सही अवश्य है लेकिन जब स्त्री की कल्पना को पुरुष द्वारा कुचल दिया जाता है तो दोष किसका है? कुछ दोष समाज का. ऐसी सामाजिक परंपरा का निर्वाह करने से क्या फायदा जहां कामायनी जैसी सर्वगुण संपन्न लड़कियां मात्र श्यामवर्ण होने के चलते ब्याही तक न जा सकें.

शायद कामायनी को अपनी आत्मनिर्भरता का अहसास तब हुआ जब उसने अपने मां-बाप, भाई-बहन सभी को खो दिया, तब अकेले में उसका 'मैं' जागा होगा और कर्मवादी दृष्टिकोण में उलझ-उलझकर उसे आत्म-निर्भरता ही वह सहारा मिला जिसके बल पर वह अपना जीवन गुज़ार सकती है.

□ सुरेशकुमार गौरव 'दास', पटना सिटी

प्रासंगिक प्रश्न

अविनाश की उपन्यासिका 'यूं होता तो क्या होता?' में उठाये गये प्रश्न अति प्रासंगिक और सामयिक हैं. आज भारतवर्ष में मूर्ख, अशिक्षित, निरक्षर और प्रायः शोषित-उत्पीड़ित स्त्रियों के समुद्र जैसे विशाल समाज में हमें कामायनी सदृश कुछ ऐसी स्त्रियां भी मिल जायेंगी जिन्होंने पुरुषों के समान पद प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है, समाज में समान दायित्व का अपना न्यायोचित स्थान ग्रहण करने में समर्थ हैं और पूर्ण आत्मविश्वास एवं स्वाभिमान के साथ अपने कर्तव्य का निर्वाह कर रही हैं. कामायनी ने पुरुष के सहभाग की बिना अपेक्षा किये अपना यह घर बसाया है, जीवन बनाया है. वह इस बात का प्रमाण है कि सामंतवादी समाज व्यवस्था और पुरातनपंथी सोच पर विजय पा आज स्त्री बहुत ऊंचे उठ गयी है. स्त्री आज केवल 'काम' नहीं है. 'कर्म' भी है. मैं मानता हूं कि नारी का जीवन पुरुष के बिना सार्थक नहीं, वह पुरुष के बगैर खुद को पूर्ण नहीं कह सकती, परंतु जिस चाम के लोभी (जीव में रमे राम का नहीं) पुरुष-समाज ने उसकी सदैव अवमानना की, तिरस्कृत किया, उसकी वह सहभागिनी क्यों बने, सहधर्मिणी क्यों बने? कामायनी को ग्यारहों युवकों ने किसी न किसी बहाने 'रिजेक्ट' किया. क्योंकि उन सबकी यही धारणा रही होगी कि काया का सौंदर्य ही सर्वोत्तम सौंदर्य है, कदाचित वे भूल गये कि सबसे बड़ी सुंदरता तो मन ही की होती है जो काया की सुंदरता पर अपने-आप को मढ़कर उसे असंख्य गुणा अधिक सुंदर बना देती है. क्या कामायनी में हृदयगत उच्च संस्कारों एवं मानसिक सूक्ष्म परिदृष्टि की कोई कमी थी? वह अपनी ही सगी बहन मंदाकिनी से कहीं लाख गुना अच्छी थी—स्पष्ट है फिर उसे अपनाने में इतनी खींचतान क्यों? क्या युवा पीढ़ी के सामने यह एक प्रश्न चिन्ह नहीं?

परंतु, अंत में कथानायक युवक धीरेंद्र को अपने अकेलेपन की स्थिति में जब अपनी गलती का अहसास हुआ तो वह 'रिजेक्ट' कामायनी के सामने उसे अंगीकार करने की बात उठाता है कि "वही कामायनी के स्त्री जीवन सार्थक करने के लिये जन्मा है," वह अस्वीकार कर देती है कि "आज के जमाने में स्त्री पुरुष का हाथ पकड़े बिना जी सकती है." यथेष्ट समय पर हृदय में नहीं उपजा प्रेम यहीं पर हार जाता है.

□ कुंदन एम. सिद्धार्थ, नरकटियागंज, बिहार

प्रकाशन—तंत्र

'नवां नयी दिल्ली विश्व पुस्तक मेला' प्रगति मैदान नयी दिल्ली में लेखकों, पाठकों और प्रकाशकों का मुख्य केंद्र रहा. हिंदी प्रकाशन उद्योग में निरंतर पतन आता रहा है. इसका कारण है कि प्रकाशक कुछ स्थापित लेखकों की किताबें छाप देते हैं, उनकी कीमत इतनी ऊंची होती है कि आम पाठक उसे खरीदने की भी नहीं सोच सकता. सिवाय कुछ शोधार्थियों के आम पाठक इनकी कठिन भाषा को भी गले से नहीं उतारता. ये किताबें ज्यादातर लाइब्रेरियों की शोभा बनती हैं. हिंदी साहित्य को रुचिकर बनाने के लिये लेखक, प्रकाशक व पाठक के बीच तालमेल रखना होगा. आज हमारे महान साहित्यकारों की रचनाओं की कीमतें आसमान छू रही हैं जैसे प्रेमचंद, शरतचंद का साहित्य काफी महंगा है. पाठक सस्ता मनोरंजन नहीं चाहता. लेकिन साथ ही वह यह भी चाहता है कि कोई भी किताब वह पढ़े तो काफी देर तक उसकी छाप उसके मन पर रहे. अतः जहां एक ओर लेखक को भी पाठक की रुचियों की तरफ ध्यान रखना होगा, दूसरी तरफ प्रकाशक को चाहिये कि वह अच्छे साहित्य को कम कीमत पर मुहैया करें. यदि इस प्रकार हो जाये तो कोई कारण नहीं जब हिंदी साहित्य देश में अग्रणी रहेगा. इस क्षेत्र में सारिका का योगदान बेहतर है.

□ अनंत शर्मा अनंत, चंडीगढ़

रंग-बिरंगे लोग

□ शीर्षेंदु मुखोपाध्याय

(बांग्ला कथाकार)
जन्म : सन् 1935 मैमन सिंग जिले में (अब बांग्लादेश)
प्रमुख कृतियां : 'घुणपोका' (उपन्यास) अंग्रेजी सहित 14 भाषाओं में अनुवाद. अब तक 48 उपन्यास, 12 बाल उपन्यास और 16 कहानी संग्रह प्रकाशित. पांच कथा-कृतियों पर फिल्में व एक पर दूरदर्शन के लिए फिल्म.
'मानवजमिन (उपन्यास) पर सन् 1989 का सहित्य अकादेमी पुरस्कार.
विविध : 1973 व 1976 में आनंद पुरस्कार, 1975 में विद्यासागर पुरस्कार तथा 1988 का भुवालका पुरस्कार.
संप्रति : साप्ताहिक 'देश', कलकत्ता में सहायक संपादक.
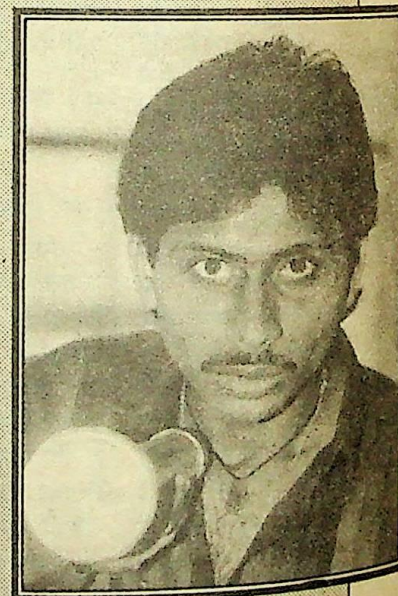
कुंजनाथ को खत्म करने के लिए वे तीनों मैदान में घात लगाकर बैठे हुए थे. पटल, रेवंत और कालिदास.

कुंजनाथ रोज इसी रास्ते से गुजरता है. आज भी आयेगा. रात कुछ खास नहीं गहरायी थी मगर सन्नाटा था. माघ के महीने की जानलेवा ठंड और घुप्प घना अंधेरा.

तीनों रह-रहकर आसमान की ओर देखते हैं. बारिश हुई तो इस खुले मैदान में बैठना मुश्किल हो जायेगा. कहीं न कहीं भागना ही पड़ेगा. फिर कुंजनाथ भी इस आंधी-पानी के बीच नहर पार कर मैदान के रास्ते से क्यों कर जाने लगा! वह भी पक्की सड़क से निकल जायेगा. अगर सचमुच यही हुआ तो कुंजनाथ की आयु एक दिन और ठहर गयी. होनी को कौन टाल सकता है! मगर अब आनाकानी करने का भी वक्त नहीं है. जोखिमवाला काम कल के लिए नहीं छोड़ा जा सकता. तनाव हट जाने पर सुस्ती आ जाती है फिर आदमी के मन का क्या भरोसा!

रात के कुल नौ बजे हैं. कुंजनाथ छह बजेवाली गाड़ी से स्टेशन पर उतरेगा. साढ़े छह बजे के बाद कोई बस नहीं मिलती, इसलिए उसे साढ़े छह वाली बस पकड़नी ही पड़ेगी. बाजार तक पहुंचे-पहुंचते साढ़े सात बज जायेंगे. हां, कुंजनाथ चाहे तो यहां न उतरकर पिछलेवाले गांव श्यामपुर में भी उतर सकता है. उसे तो हर जगह काम ही काम लगा रहता है. खैर, कुल मिलाकर अब तक कुंज को यहां पहुंच जाना चाहिए. अब देखना है कि पहले कुंजनाथ आता है या बेमौसम की बरसात.

कत्ल की नीयत से कोई छाता लेकर घर से नहीं निकलता. वे भी छाता नहीं लाये थे. आसपास कोई ठौरठिकाना भी नहीं. सबसे नजदीक वाली हाबू की कोठी भी यहां से काफी दूर है. बारिश हुई तो तालाब के किनारे से भागते-दौड़ते दो बगीचों को पार करके कहीं हाबू के घर पहुंचा जा सकता है. तब तक वे भीगकर लंगूर बन जायेंगे.

पटल के हाथ में एक कसाईवाली कटार है. इसी से वह काम तमाम कर देता है. पहले ही निश्चय कर लिया गया है कि कुंज को इस बार किसी भी हालत में फिर से बच जाने या अस्पताल जाने का मौका नहीं दिया जायेगा. पहले ही गर्दन को धड़ से निकालकर कम-से-कम दस हाथ की दूरी पर रख दिया जायेगा और भागने से पहले टार्च जलाकर उसके दोनों हिस्सों की पूरी जांच कर ली जायेगी. यों कुंजनाथ का कोई भरोसा नहीं. इससे पहले भी दो बार मौत के मुंह से बचकर आया है. जख्मी हिस्सों की सिलाई-पट्टी करवाकर मजे में रहता है.

पटल अच्छी तरह जानता है कि आज का असली काम उसे ही करना है. रेवंत के हाथ में एक जबर्दस्त लाठी है. कालिदास के पास टार्च के अलावा एक मामूली-सा चाकू है लेकिन ऐन मौके पर जिम्मेदारी उसी को निभानी है. वैसे उसके सधे हुए हाथों पर सभी को पक्का विश्वास है फिर भी ड्यूटी पर लगते ही जाने क्यों उसकी नस तन जाती है. वह एकदम मौन साध लेता है. उस वक्त पेड़ से कोई पत्ता टपक जाये या हवा से कोई तिनका भी हिल जाये तो वह चौंककर तीन कदम पीछे हट जाता है.

ठंड से उसकी सांस धौंकनी-सी चल रही है. मौका पाकर दमे की बीमारी जोर मार रही है. मुंह खोलकर जोर से सांस लेते वक्त सीना ऊपर नीचे हो रहा है. सांय-सांय की आवाज निकल रही है. बड़ी मुश्किल से दबी जुबान से खांसकर वह कुछ बलगम थूक लेता है. बीमारी जैसे जान लेने पर तुली हुई है.

रेवंत हथेली की आड़ में सिगरेट छिपाकर धुआं निगल रहा है. वह हर हालत में ठंडे दिमाग से काम लेता है और बेफिक्र बना रहता है. इस समय भी वह मस्त है. उसे अपनी साली बन्नो की याद आ रही है. इन दिनों उस पर बन्नो का नशा चढ़ा हुआ है. जब देखो उसी के बारे में सोचता रहता है. किसी को इसकी आहट तक नहीं मिलती. बन्नो को भी नहीं. मुमकिन है ऊपरवाले को सब मालूम हो. दरअसल बन्नो को वह किसी तरह हासिल नहीं कर सकता, सिर्फ खयालों में ही उतार सकता है. तभी तो सोचता रहता है. अपनी आदत से मजबूर है रेवंत. इस समय भी वह उसी मस्ती में खोया हुआ है. वह जैसे जानता ही नहीं कि चंद लम्हों में यहां खून की धार बह जायेगी, हाड़-मास की फौलादी आवाज में चीख-पुकार और कराह की भयानकता घुल जायेगी. वह अपने नशे की वजह से शांत और निश्चिंत बना हुआ है.

कुंज के साथ रवि तो होगा ही. कालिदास को इसी की चिंता लगी हुई है. उसे कुंज को मारना है, रवि को नहीं. कालिदास बहुत दूर की बात नहीं सोच सकता. वह इतना ही जानता है कि रवि के बच जाने से एक गवाह रह जाने का खतरा बना रहेगा. हालांकि रवि भागेगा जरूर, मगर भागते-भागते भी कुछ-न-कुछ वह देख ही लेगा. ऐसे गवाह को छोड़ देने में कोई तुक नहीं. कुछ भी हो, कालिदास आज कुंज का काम तमाम करके ही रहेगा. यह भी निश्चित हो चुका है कि कुंज के जख्मी होकर गिरते ही वह झपटकर पहले कुंज की जेब से होमियोपैथी दवा की शीशी निकाल लेगा. पिछली बार कुंज के गले की नली कट गयी थी फिर भी वह बच गया. उससे भी पहले एक बार उसका सीना भाले से छेद दिया गया था मगर वह नहीं मरा. हो-न-हो, यह होमियोपैथी की करामात थी. कालिदास काफी देर से देख रहा है, पटल को दमे का दौरा पड़ गया है. वह रह-रहकर खांसने लगा है.

नहर के उस पार की पक्की सड़क कल्याणी कॉटन मिल तक पहुंचती है. उसी सड़क से एक और रास्ता निकलकर बायीं ओर धनुष की तरह मुड़ गया है. यह रास्ता हाईस्कूल वाली इमारत के किनारे से होते हुए इमली तले तक पहुंच जाता है. इमली तले जो घनी बस्ती नजर आती है, वह बाहरवालों

न जाने कुंज को यह क्यों नहीं सूझता कि तनू ने कभी किसी से दिली मुहब्बत नहीं की थी. पहले भी काफी होशियार थी, अब भी वैसी ही है. दुनियादारी खूब समझती है.

की नहीं, कल्याणी काटन मिल के मालिक भंज के परिवार वालों की ही है. यहां करीबन सौ घर बसे हैं जिनमें उन्हीं के बिरादरी वाले रहते हैं. कुछ इधर-उधर के भी हैं. भंजों के कई दामाद भी सपरिवार यहीं आकर रहने लगे हैं. कुंजनाथ के पिता हरिनाथ भी इनके दामाद लगते थे.

पक्की सड़क से फट्-फट् करता हुआ एक स्कूटर निकल गया. रफ्तार बहुत तेज थी. धनुषाकार रास्ते में पहुंचते ही उसकी रोशनी दिखाई पड़ी. रेवंत उतनी दूर से भी इस रोशनी को पहचान गया. गिरिधारी भंजा जैसा मालूम पड़ता है. ललितमोहन का यह बेटा कुछ शौकिया मिजाज का है. स्टेशनवाली चाय की दूकान में स्कूटर छोड़कर रोज मौज-मस्ती मनाने कलकत्ता चला जाता है. आज भी गया था. इतनी देर से लौट रहा है. फिर तो कुंज के आने में भी देर नहीं है. इधर बादल भी बरसने पर उतारू हो गये हैं. अब इसे रोकना कतई मुमकिन नहीं. हवा में नमी महसूस हो रही है. दूर मैदान रिमझिम फुहारों से भीगने लगे हैं.

बाजार के बीचोंबीच बना है ब्रजेश्वरी ग्रंथालय दरअसल यह एक बनिये की दूकान है. एक ओर साधारण लकड़ी से बनी एक पीली आलमारी रखी है, इसमें करीबन दो सौ किताबें हैं. इसी के बगल में एक चौकी है जिसपर चटाई बिछी है. उसी के बीच के हिस्से से सटी एक खिड़की है जिससे पीछे की नहर दीखती दिखती है. खिड़की से पेड़-पौधों की फुनगियां ताकती झांकती रहती हैं.

चौकी में बैठा राजू खिड़की के बाहर अंधेरे में लिपटी हरियाली को कमरे से बिखरती हुई बिजली की रोशनी में समेटने की कोशिश कर रहा था. जैसे डूब गया.

ग्रंथालय और बनिये की दूकान का काम तेजेन साथ-साथ चलाता है. उसे कुछ-न-कुछ लिखते रहने की बीमारी है. राजू को वह कई बार अपनी कविता कहानी वगैरह सुना चुका है. राजू चुपचाप सुनता रहा. कभी हुंकारी तक नहीं भरी. यों तेजेन लेखक चाहे कैसा भी हो, आदमी बहुत सीधा-सादा और नेक है. बी.ए. पास कर चुका है. अब पन्ने रंग रहा है. कभी-कभी उदासी के दौर में कहता है—"मुझसे कुछ खास नहीं बन सकता, है न राजू बाबू!"

चाय का गिलास खाली हो गया तो तेजेन ने पान मंगवाया. कुंज किसी सज्जन से दुनियादारी की बातें कर रहा है. राजू को पान थमाते हुए तेजेन ने कहा—"आप कुछ दुबले नजर आ रहे हैं!" राजू एकदम से चौंक जाता है. सीने में एक अजीब-सा डर बिलबिलाने लगता है. माथे की नस फड़कने लगती है. कुंज तेजेन की ओर देखते हुए आंख मारता है, पिच्च से पीक थूककर कहता है—"अमां, जाड़े में सभी की कदकाठी कुछ सिकुड़ी हुई नजर आती है." तेजेन उसके इशारे को समझे बिना कुछ और ही कहने जा रहा था. कुंज ने बात काटते हुए कहा—"मालूम है, राजू की थैली में दो किताबें हैं मांगो तो तुम्हारी लाइब्रेरी को दे देगा."

मुंह लटकाकर राजू ने अपने चमड़ेवाले शांतिनिकेतनी बैग से दो किताबें निकाल दीं. एक तो नवंबर का रीडर्स डाइजेस्ट था, दूसरा यू.एस.आई.एस. से प्राप्त साल बेलो का उपन्यास. भला तेजेन की लाइब्रेरी में इन्हें कौन पढ़ेगा! फिर भी वह उत्साह से कहता है—"सचमुच देना चाहते हैं तो उपहार के तौर पर इनमें दो-चार शब्द भी लिख दें."

"मैं यों ही दे रहा हूं, कुछ लिखने-विखने की जरूरत नहीं." राज मुस्कराने लगता है.

रवि कहीं गया हुआ था. एक हाथ में बाजार की थैली दबाये दरवाजे पर उद्घोषक की तरह हाजिर हो गया.

एक दिन वनश्री सोयी हुई थी. तभी नींद में ही उसे कुछ बेचैनी-सी हुई, जैसे कोई उसे जगाने के लिए अंदर ही अंदर कुरेद रहा हो. वह चौंककर उठ गयी थी.

बोला, "बारिश आ रही है!"

"चल रे राजू! उठ." कुंज ने जल्दी मचा दी.

"अभी कुछ दिन ठहरेंगे न!" तेजेन ने पूछा.

"नहीं, कल-परसों तक वापस चला जाऊंगा."

"ऐसी भी क्या जल्दी पड़ी है! ठहर जाइए न, एक दिन सब मिलकर इकट्ठे बैठेंगे, यहां तो साहित्य पर आलोचना करनेवाला भी नहीं मिलता."

"फिर कभी आ जाऊंगा." कहते-कहते राजू चलने लगता है. रास्ते में तेज कदम चलना भी कितना मुश्किल हैं. पग-पग में कोई रोकता-बुलाता रहता है—'कुंज दा सुनिए तो सही!', 'कुंजबाबू, क्या हालचाल है!', 'कुंजवा रे, कहां चला!' आवाजों से घिर जाता है कुंज.

पिछली बार चुनाव में दो-चार वोटों से हार गया था कुंज. पुराने कांग्रेस का जमाना था. फिर हवा बदल गयी तो वह नये कांग्रेस में आ गया, लेकिन नोमिनेशन नहीं मिला. अब तो राजनीति की ऐसी उल्टी हवा चल रही है कि यह भी नहीं सूझता—कहां जायें, किस दल में नाम लिखायें. वह अब भी मौके की तलाश में है. सुनने में आता है, उसका बाप कुछ जमीन जायदाद छोड़ गया है. एक बुढ़िया नानी थी. मुमकिन है वह भी मरते वक्त कुंज के नाम कुछ लिख-लिखा गयी हो. लेकिन उसके भी बहुत से हिस्सेदार हैं. भाइयों के अलावा तीन-तीन कुंवारी बहनें भी हैं. कुंज की सबसे बड़ी अमानत है उसकी मीठी बोली. न किसी से बैर-बुराई, न किसी को जलील करने की कोशिश. रवि, जो निरा उल्लू का पट्ठा है, कुंज उसकी भी इज्जत करता है. तभी तो वह कुंज के साथ चिपका रहता है.

राह चलते-चलते और तीन-चार आदमी मिल गये. मजबूरन चाल धीमी पड़ गयी. रवि टार्च जलाकर रास्ता दिखा रहा है. अंधेरे में हाथ को हाथ नहीं सूझता. राजू का जी घबराने लगता है. इन दिनों उसके मिजाज का कोई ठिकाना नहीं. कभी अकेलापन रास आता है, कभी लोगों की संगत. ये सब उसके हाल के लक्षण हैं. जब से वह भयानक सपना देखा था, तभी से...

रवि बायीं ओर टार्च दिखा रहा है, जहां पक्की सड़क से एक पगडंडी निकल गयी है. पास ही नहर पर एक लकड़ी का पुल बना है. इस रास्ते से बहुत जल्दी पहुंचा जा सकता है. राजू कई बार जा चुका है.

राजू को पता है, रवि हद दर्जे का बेवकूफ है. न उसके भेजे में कोई बात पैठती है, न उसके पेट में कोई बात पचती है. यों ही बकता रहता है. रास्ते में लोग उसकी खिल्ली उड़ाते हैं. लोग-बाग उसकी ऊलजलूल बातों से ऊबकर कन्नी काट लेते हैं. मगर वोट के उम्मीदवार कुंज की बात कुछ और ही है. हर किसी से मिलना-जुलना, हर किसी की बात सुनना, सबकी इज्जत करना अब उसकी आदत बन चुकी है. अब निकम्मा रवि साये की तरह दिन-रात उसके पीछे लगा रहता है. इतने पर भी कुंज का दिमाग दुरुस्त है.

जानबूझकर कुंज और राजू रवि से पिछड़ गये.

"तनू ने कोई चिट्ठी दी!" कुंज ने दबी जुबान से पूछा.

"क्यों नहीं, अक्सर देती रहती है."

"सब ठीक-ठाक तो है न!"

राजू के सीने में एक टीस-सी उभरती है. वह दर्द को पी जाता है. कुंज इस मामले में इतना नादान क्यों है! रवि आगे बढ़ गया था. ठहरकर उसने पीछे टार्च दिखाया, कहा—"जल्दी करो कुंज दा, बारिश आ गयी!"

"तू आगे बढ़ जा, हम बतियाते हुए आ ही रहे हैं."

रवि ने चलना शुरू कर दिया. कुंज राजू के पीछे-पीछे जा रहा था. वैसे तो घना अंधेरा छाया हुआ है मगर रह-रहकर बिजली कौंधने से राह दिख जाती है. राजू

जानता है, कुंज क्या सुनना चाहता है. तनू पति के घर सुख-चैन से रहती है, क्या यह कुंज से कहने की बात हुई! वह तो चाहता है कि पति के घर रहते हुए भी तनू उसकी याद में तड़पती रहे, बिलखती रहे. चिट्ठी लिख-लिखकर कुंज का हाल पूछती रहे.... जैसे मुगलों के जमाने में हुआ करता था. सिर्फ इसी मामले में कुंज नादान बना हुआ है. कुंज ने फिर उन्हीं बातों की कड़ियां जोड़ीं—"शीतांशु का ग्रेड इस वक्त कितना है?"

"क्या पता! इंजीनियरों का ग्रेड हम क्या जानें! सुनते हैं डेढ़-दो हजार कमा लेता है." राजू ने उखड़ा-सा जवाब दिया.

"गाड़ी भी होगी!"

वही पुराने प्रश्नों का भंवर. शायद कुंज अपने को शीतांशु के साथ तोल रहा है. शीतांशु निहायत काला-कलूटा मंझले कद का आदमी है पर बहुत बड़े अमीर का बेटा है, कई बार विलायत घूम आया है. न जाने कुंज को यह क्यों नहीं सूझता कि तनू ने कभी किसी से दिली मुहब्बत नहीं की थी. पहले भी काफी होशियार थी, अब भी वैसी ही है. दुनियादारी खूब समझती है. कॉलेज के जमाने में तमाम मजनुओं को आगे बढ़ने का मौका देती थी. मर्दों से उसे किसी तरह का परहेज नहीं. हर किसी के संग मटकती फिरती थी. मगर हां, किसी को सिर पर नहीं चढ़ाती थी. राजू अपनी बहन की हरकतों से बेहद शर्मिंदा था. यह बात और है कि राजू और उसके माता-पिता भलीभांति जानते थे—तनू आग-पीछा सोचे बिना किसी से जिस्मानी तौर पर उलझकर मुंह काला नहीं करवायेगी. वाकई तनू इस मामले में बड़ी होशियार निकली. एम.ए. पास करने के बाद अपने दोस्त-यारों में सबसे काबिल आदमी को चुनकर बाकायदा उससे शादी कर ली. शादी के बाद तो उसकी काया पलट हो गयी. अब तो घर गृहस्थी के तमाम नुस्खे उसकी मुट्ठी में थे. पति पर जादू-चलाकर, सास-ससुर को अपने वश में करके दो-चार पैसे जुटा भी लेती है. देखकर कोई नहीं कह सकता यह लड़की कभी गुलछर्रे उड़ानेवाली मनचली छोकरी रही होगी. तनू यौवन के दहलीज में थी, तभी से कुंज का उसके यहां आना-जाना था. औरों की तरह कुंज भी तनू के संग घूमता-फिरता था. अधिक न जानने पर भी राजू को कुंज के हावभाव से शक होने लगता था.

"तनू की शादी अच्छे घर में हुई है, है न राजू." कुंज की आवाज दबी हुई थी.

राजू ने उसे दिलासा देने की कोशिश की, "अब तुम चाहो तो अच्छा ही कह लो मगर अंदर की बात कुछ और भी हो सकती है. जो ऊंचे ओहदे पर रहता है, ढेरों कमाता है, जमीन-जायदाद बनता है, लोग उसी को सराहते हैं, पर जिंदगी सिर्फ इन्हीं बातें पर तो नहीं टिका करती. असली कामयाबी तो उसी को मिलती है जो इंसानियत में, ईमानदारी में, जनसेवा कार्यों में आगे रहता है."

कुंज को यह बात बहुत भली लगी. उसने भाव भीने स्वर में कहा, "तुम बिल्कुल ठीक कह रहे हो. पर क्या लड़कियां भी इस तरह से सोचा करती हैं!"

सर्पाकार यह रास्ता तालाब, बगीचे और नारियल कुंज के किनारे-किनारे मुड़ता हुआ आगे बढ़ता है. उसके बाद मैदान. वहां तक पहुंचकर रवि ने पीछे की ओर रोशनी दिखायी. जोर से कहा, "लो, बारिश आ ही गयी. सोंधी महक आ रही है." सपाट मैदान. पेड़-पौधे की कोई आड़ नहीं. हवा नश्तर की तरह चुभ रही है, नमी सोखकर बेहिसाब सर्द हो गयी है राजू को सांस लेने में तकलीफ हो रही है. नाक और कान जैसे फटे जा रहे हैं.

कुंज दो कदम आगे-आगे कुछ सोचते हुए जा रहा है. सोच के दायरे में तनू ही तनू छायी हुई है. हृदय की वेदी पर तनू की प्रतिमा समस्त अवयवों के साथ बिराज रही है. राजू को कुंज से हमदर्दी होने लगती है लेकिन कुंज की शादी अगर तनू से हो गयी होती तो क्या राजू खुश हो पाता! नहीं, हर्गिज नहीं! तनू ने अपने लिए बिल्कुल योग्य व्यक्ति को ही चुना है. अपने ही कुलशील का कमाता-खाता लड़का है.

रवि इधर-उधर टार्च मार रहा है. वह बीच-बीच में गुनगुनाता है तो तेज हवा उसकी आवाज उड़ा ले जाती है. घने अंधेरे में दूर तलक बिछा हुआ मैदान, उस पर तेज हवा के जोरदार झोंके! वे अनजाने ही एक दूसरे से दूर-दूर हो जाते हैं. जैसे तीनों अकेले चल रहे हों. अकेलेपन का एहसास उबरते ही राजू के मन में उपलपुथल-सी होने लगी. पुराना डर गर्दन उठाने लगा. राजू को लगा कोई उसे खत्म करने के लिए अंधेरे में घात लगाए बैठा है.वह हांफने लगता है. गले में जैसे कुछ अटक गया है.

अचानक सामने की ओर थोड़े ही फासले पर कुछ हरकत-सी हुई. रवि के हाथ से टार्च छिटककर मैदान में गिर गया और वहीं पड़ा-पड़ा रोशनी की आंखों से शून्य को निहारने लगा. उसी रोशनी में डरावने प्रेतों की छाया कांपती दिखाई पड़ी, कुछ चलते-फिरते पैर और लाठी की परछाई उसमें घुलमिल गयी थी.

रवि शायद चिल्लाया हो, चीखा हो, कुछ पता नहीं चला. मगर इतना मालूम हो गया कि उसने टार्च नहीं उठाया. कुंज ने चिल्लाकर चेतावनी दी, "राजू, दायें उतर जा."

"क्यों?" कांपती-सी आवाज आयी. अब कुंज ने आगे-पीछे नहीं देखा. दोनों हाथ ऊपर उठाकर पागलों की तरह चीखते हुए आगे की ओर दौड़ने लगा, "खून हो गया.....खून....खून!" राजू इस हादसे से अनजान बना हुआ था. उसकी आंखें कुंज की तरह अंधेरे को नहीं भेद सकीं. जहां बिजली न हो, वहां शहरी राजू अंधा बन जाता है. खैर, कुंज ने देखा है तो ठीक ही देखा होगा. उसके सीने में ऐसी उथल-पुथल होने लगी कि दम घुटता प्रतीत हुआ. वह दायीं ओर भागना चाह रहा था. पैर हिलते नहीं थे. बदन में जैसे करंट लग गया था. कुंज चिल्लाते हुए भागता ही जा रहा था लेकिन इस उजाड़ मैदान में, तेज हवा से टकराकर उसकी लाचार आवाज अपनी जगह लौट आती थी. दूर, भंजों के इलाके में मर्करी लाइट जलती दिख रही थी. सड़क के किनारे-किनारे भी बिजली की कतार लगी हुई है.वहां लोगों का आना-जाना भी चल रहा है मगर यहां की कोई खबर वहां तक नहीं पहुंच पाती.

"हम दोनों अभी-अभी मौत के मुंह से निकलकर आ रहे हैं. बड़े मैदान में तीन आदमियों ने कुंज को मारने की कोशिश की थी."

भंजों के इलाके में पहुंचते ही उसने बिजली की मद्धिम रोशनी में कुछ काले चेहरों को जैसे आसमान से टपकते देखा. वे सब लाठी और हथियार से लैस थे. उनकी जुबान बंद थी. राजू हैरान. आगे से उसने हमेशा चाकू लेकर निकलने का निश्चय कर लिया. अफसोस और लाचारी की हद से गुजरता वह उकडूं बैठकर अपने इर्द-गिर्द मारने लायक पत्थर या ढेला तलाशने लगा. तभी कोई भारी और ठोस चीज उसके हाथ में आ गयी. फासला बहुत नहीं था. वह गरज उठा, "खबरदार! मैं एक-एक की जान ले लूंगा." उसने पूरे जोर से भारी चीज को निशाने पर दे मारा. जाहिर है, उसका निशाना चूक गया था. लेकिन इससे हमलावरों को हौसला भी टूट गया. वे इस अप्रत्याशित प्रतिरोध से घबराकर, अजनबी की चीख-पुकार से त्रस्त होकर उसी क्षण अंधेरे में विलीन हो गये.

शक्ल-सूरत से वनश्री बिल्कुल वन की शोभा जैसी ही है. उसे देखकर किसी भी मर्द को वृक्ष की छाया

अथवा झील की गहराई याद आ सकती है. वनश्री खुद भी जानती है उसके रूप में चांदनी की स्निग्धता है, लपटों की दाहकता नहीं. उसे कोई मां कहकर पुकार दे तो वह बस पिघल जाती है.

वनश्री की खूबसूरती का राज उसके घने काले बालों में छिपा हुआ है. लगता है, काले रंग की कोई स्रोतस्विनी छोटी-छोटी लहरों से अठखेलियां करती हुई ऊपर से नीचे कूद पड़ी है. उसके खुले बालों में काली रात उतर आती है, उसी की परछाई से बदन सांवला-सलोना प्रतीत होता है. एक बार कहीं से लड़के वाले उसे देखने आये थे, उन्हीं में किसी मुंहफट ने कह दिया था, "लड़की तो काली है!" वनश्री के अहं को गहरी चोट लगी थी. शर्म से जैसे गड़ गयी थी वह. तब भी उसे पक्का यकीन था कि उसका रंग न तो काला है, न गोरा है. इस रंग में गहरे झील की नीलिमा है. घने जंगल की हरियाली है, जिसे सिर्फ पारखी आंखें ही देख सकती हैं. वह जानती है, जब मर्द उसे आंखों में उतारने की कोशिश करते हैं तब उनमें कामना का ज्वार नहीं उमड़ता बल्कि कोई भूली-बिसरी चाह उभरने लगती है.

वनश्री अपने रूप के बारे में काफी सजग है पर उसे सहेजने संवारने के लिए मोम की गुड़िया जैसी बैठी-धरी नहीं रह पाती. वह तो कड़ी धूप में, घनी वर्षा में भी दूर-दूर तक पैदल चलकर ही ग्राम सेविका का काम करती है. तरह-तरह के राहत-कार्यों के लिए भी उसे इधर-उधर आना-जाना पड़ जाता है. कॉलेज के दिनों में तो वह यूनियन के लिए भी जी-जान से काम करती थी. जाने कब वो जमाना बीत गया. अब तो उसे घर में ही रहना पड़ता है. दरअसल उसके लिए रिश्ते ढूंढ़े जा रहे हैं. लड़के वाले बात चलाने आते रहते हैं. कुछ तो उसे देख भी चुके हैं. जिन्हें लड़की पसंद आ जाती है वे सब दहेज के भूखे निकलते हैं, सो बात तय होते-होते रुक जाती है. कहीं कुछ और अड़चन आ जाती है. एक जगह रिश्ता करीब-करीब तय हो चुका था, तभी किसी ने खबर भेजी, लड़के ने चुपचाप किसी से सिविल मैरेज कर ली है. वनश्री के पिता सत्यव्रत कभी शांतिनिकेतन में कलाभवन के छात्र थे. अब भी यदा-कदा परिवारवालों के संग तीर्थयात्रा की भावना से शांतिनिकेतन पहुंच जाते हैं. वे रवि ठाकुर के परम भक्त थे. उनकी दिली इच्छा है वनश्री की शादी किसी कला प्रेमी से हो जाये.

वनश्री चाहती तो अपनी इच्छा से भी प्रेम-विवाह कर सकती थी पर इस बात को उसने कभी मन से चाहा ही नहीं. आजकल के छोकरे बड़े ही लापरवाह बिंदास और मनचले हुआ करते हैं. इन पर कैसे भरोसा किया जा सकता है! उसे तो कोई समझदार बुजुर्ग आदमी चाहिए जो उससे कम से कम दस साल बड़ा हो. मेहनतकश और वफादार हो. घर गृहस्थी से लगाव रखता हो और बदचलन भी न हो. तभी से वनश्री प्रतीक्षा में है. दामन में बरगद की ठंडी छांव लिये बैठी हुई है. किसी दिन कोई थका-हारा मनचाहा पथिक बहुत दूर से आकर इस छांव में बैठेगा. वनश्री उसके तन-मन को शीतल कर देगी.

रेवंतदा, उसके जीजाजी आज भी दोपहर को बेवजह आ गये थे. ऐसा नहीं कि रेवंत उसे अच्छा-भला नहीं प्रतीत होता, बल्कि लंबे कद के इस भावुक आदमी से वनश्री को काफी लगाव है. उसकी दीदी श्यामश्री भी बन्नो की तरह स्निग्ध सौंदर्य से भरी हुई है. हां, उसका दिमाग कुछ कमजोर है. बात-बात में गुस्सा खा जाती है, राई से पर्वत बना देती है. उसके घर दिन-रात खिच-खिच लगी रहती है. बड़ी जिद्दी लड़की है श्यामश्री. रेवंत को जो बात पसंद न हो, वही करने पर तुली रहती है.

कोई देढ़ साल पहले जब श्यामश्री की शादी हुई थी तो वनश्री भी जवान हो चुकी थी. मर्दों की आंखों की मौन भाषा पढ़ सकती थी. उनकी शादी के कुछ ही दिनों बाद वनश्री ने अपने जीजा की आंखों में एक अजीब-सी चाह उमड़ते देखी थी. तभी से वह सहम गयी है. वैसे बाहर से दोनों का बर्ताव बहुत सहज स्वाभाविक बना हुआ है. कहीं कोई गड़बड़ नहीं, लेकिन कभी-कभी रेवंत को न जाने क्या हो जाता है, वनश्री को वह प्यासी आंखों से अपलक निहारता रह जाता है.

एक दिन वनश्री सोयी हुई थी. तभी नींद में ही उसे कुछ बेचैनी-सी हुई, जैसे कोई उसे जगाने के लिए अंदर ही अंदर कुरेद रहा हो. वह चौंककर उठ गयी थी. उठते ही देखा, उसके पैरों के पास रेवंत बैठा है. अधरों में हल्की-सी मुस्कान और आंखों में पकड़े जाने की झेंप लिये. नहीं, रेवंत ने उसे कभी स्पर्श नहीं किया, कोई ऐसी-वैसी हरकत भी नहीं की लेकिन उसका यों बैठे रहना वनश्री को ठीक नहीं लगा. कोई पराया आदमी नींद में पड़ी जवान लड़की को यों देखता रहे तो कितना बुरा लगता है. वनश्री उठकर बैठ गयी तो रेवंत ने मुस्कराते हुए कहा, "तुम्हारे पांव कितने सुंदर हैं! बैठा-बैठा देख रहा था." छि, छि, वनश्री तो जैसे कटकर रह गयी. साड़ी पिंडलियों के ऊपर चली गयी थी, हड़बड़ाकर नीचे किया. "बन्नो! इसमें शर्माने की क्या बात है! ऐसे सुंदर पांव मैंने किसी लड़की के नहीं देखे, ये बड़े शुभ लक्षण कहलाते हैं." रेवंत की ये बातें भी बन्नो को खटक गयी थीं. उसी दिन से मन में कोई कांटा-सा चुभने लगा. यों भी किसी दामाद का घड़ी-घड़ी ससुराल आना कुछ ठीक नहीं लगता. यह सच है कि रेवंत का गांव श्यामपुर यहां से पास ही है लेकिन इसका मतलब यह तो नहीं कि वह रोज यहां आता रहे.

आज भी दोपहर को आ गया था. चेहरा मुर्झाया हुआ था. उखड़ा-उखड़ा-सा दिख रहा था. आते ही बाहर से आवाज लगायी, "चीरू! अरी ओ चीरू!" चिरश्री स्कूल गयी हुई थी. सविताश्री ने बन्नो से कहा, "जरा देखो तो सही. लगता है, जमाई आया है." वैसे रेवंत को बाहर से आवाज लगाने की जरूरत नहीं थी. उसे तो सीधे ही अंदर घुस जाने की आदत है. बन्नो बाहर आयी तो देखा वह बरामदे वाली चौकी पर चुपचाप बैठा हुआ है. थोड़ी देर पहले इस चौकी पर बीशू बबुआ वगैरह पड़ोस के लड़के 'ट्वेंटी नाइन' खेल रहे थे. अभी तक ताश के पते छितरे हुए हैं. रेवंत कुछ अनमना-सा उधर ही देख रहा है. उसकी साइकिल बरामदे में रखी हुई है.

"अरे, जमाई बाबू! क्या बात है? बाहर क्यों बैठे हैं?"

रेवंत क्या कहता! बहुत ही दयनीय और विवश दृष्टि से बन्नो को देखते हुए उसने बड़ी मुश्किल से कहा था, "मैं अभी चला जाऊंगा." इस बात में कोई तुक नहीं था. चले ही जाना था तो आया क्यों! फिर भी बन्नो सहज बनी रही, बोली, "ऐसी जल्दी भी क्या है? चलिए मां अंदर बुला रही हैं. मैं चाय बना देती हूं."

"नहीं, आज रहने दो, मेरे साथ और लोग भी हैं."

"इससे क्या? उन्हें अंदर बुलवा लीजिए, मैं सब के लिए चाय ला रही हूं."

"वे यहां नहीं आयेंगे. रेवंत की यह बात भी बन्नो को ठीक नहीं लगी. श्यामश्री कह रही थी, रेवंत आजकल कुछ उल्टे-सीधे लोगों से मेल-मिलाप बढ़ाने लगा है. बाबूजी ने भी उसे एक दिन बगनान स्टेशन पर पटल के साथ देखा था. वे भी कुढ़ गये थे. पटल एक नंबर का बदमाश है. वनश्री लाख दिमाग खपाने पर भी नहीं समझ पाती कि रेवंत जैसा सुंदर और शरीफ आदमी इन सिरफिरों के साथ क्यों घूमने लगा है! सोचकर मन कसैला हो जाता है.

अचानक रेवंत ने वनश्री की आंखों में झांकते हुए कहा, 'बन्नो! अब अगर मैं कभी न आऊं तो?''

''कैसी बातें करते हैं!'' वनश्री हैरान.

''नहीं....मान लो मुझे कुछ हो जाये.... तो!''

वनश्री की धड़कन तेज हो गयी. बड़ी मुश्किल से उसने पूछा, ''आखिर बात क्या है? दीदी ने कुछ बुरा-भला तो नहीं कह दिया!''

''नहीं, वो बात नहीं.'' कहकर रेवंत चुप हो गया, एकटक अपनी साइकिल की तरफ देखता रहा. तभी सविताश्री धुली साड़ी पहन, सिर में आधा पल्ला डालकर दरवाजे पे आयीं. बोलीं, ''धूप में तपकर आये हो, थोड़ी देर बैठ लो, फिर यहीं से खाना खाकर जाना. रेवंत किसी तरह राजी नहीं हुआ. कहने लगा, ''बहुत काम पड़ा है. जल्दी जाना है.'' वनश्री चाय ले आयी तो किसी तरह गले से नीचे उतार साइकिल उठाकर चलता बना. वनश्री देखती रह गयी. मां से बोली, ''लगता है, फिर दीदी से झगड़ा हो गया.'' गांधीवादी परिवेश में पलने के कारण सविताश्री में धीरज और सहनशीलता बहुत अधिक है. न जल्दी तैश में आती हैं न गुस्सा प्रकट करती हैं, बल्कि हर मसले का कोई-न-कोई शांति पूर्ण तरीका ढूंढ़ने को तत्पर रहती हैं. उन्होंने कुछ सोचते हुए कहा, ''जमाई की कोई गलती नहीं, श्यामा बहुत जिद्दी है.''

''लेकिन जीजाजी का चेहरा आज बहुत उतरा हुआ था. लगता है जरूर कुछ गड़बड़ है. तुम जल्दी किसी को दीदी के पास भिजवाकर पता कर लो.''

शाम से पहले ही शुभ दीदी के घर से घूम आया. उसने बताया, ''दीदी से कोई झगड़ा-वगड़ा नहीं हुआ. पर दीदी कह रही थी, जीजाजी आजकल दिनभर बाहर-ही-बाहर रहते हैं. घर में खाना भी नहीं खाते. सिर्फ रात को सोने के लिए आ जाते हैं. घर में किसी को नहीं मालूम कि कहां जाते हैं, क्या करते हैं. दीदी पूछती हैं तो कुछ जवाब नहीं देते.''

सत्यव्रत को यह सब कुछ नहीं मालूम था. शाम को स्कूल से लौटे तो आंगन में रखे हुए पीढ़े पर खड़े होकर हाथ मुंह धोते हुए सविताश्री से बोले, ''आज स्कूल के काम से बगनान गया था, लौटते वक्त श्यामा से मिलने गया तो पता चला, रेवंत को अमिता के बारे में सब कुछ मालूम हो गया है. इस पर दोनों में काफी कहा-सुनी हो गयी. यह भी सुनने में आया कि रेवंत ने कहा है पहले से पता होता तो इस घर से रिश्ता नहीं जोड़ता.''

अमिता सविताश्री की छोटी बहन है. तेज दिमाग की यह महिला तन मन से समाजसेवा में लगी रहती है. एक बार कुंवारेपन में उसे गर्भ ठहर गया था. इस पर सविताश्री के पिता ने शोरगुल नहीं मचने दिया. उन्होंने बेटी से सिर्फ अनागत संतान के पिता का नाम पूछा था और यह भी पूछा था कि उससे अमिता की शादी हो सकती है या नहीं. अमिता ने किसी का भी नाम नहीं बताया. केवल इतना बता दिया कि उससे अमिता की शादी नहीं हो सकती. फिर सविताश्री के पिता गगनबाबू ने कोई पूछताछ नहीं की. यथासमय अमिता की गोद भर गयी. गगन बाबू ने इस उपलक्ष्य में मुहल्ले भर में मिठाई बांटी. कुछ ही दिनों बाद अमिता पिता का आश्रय छोड़कर अन्यत्र नौकरी करने चली गयी. बात आयी-गयी हो गयी.. धीरे-धीरे लोग इस घटना को भूल गये. अब तो खास नजदीकवालों को छोड़ किसी को अमिता का नाम तक याद नहीं होगा. सत्यव्रत की बात सुनकर सविताश्री सकते में आ गयीं. बोलीं, ''उसें किसने बताया?''

''कौन जाने?'' सत्यव्रत ने रूखेपन से कहा, ''श्यामा हद दर्जे की बेवकूफ है, गुस्से में कभी बक गयी होगी. पर यह भी सुन लो, जमाई को अमिता के कारनामे उतने बुरे नहीं लगे जितने कि उनके पिता गगन बाबू के. आखिर उन्होंने मिठाई क्यों बांटी? क्या यह खुशी जतानेवाली बात थी? खैर, उसकी नाराजगी बेवजह तो नहीं. सच मानो, तुम्हारा पूरा खानदान ही सिरफिरा है... बदचलन!''

उस दिन शाम को ही ये बातें हुईं. वनश्री या उसके भाई-बहनों को मां-बाप के बीच बोलने-बहसने की आदत नहीं है. यह सविताश्री की सीख है. जाड़े की उस मरियल-शाम को भी बन्नो सब कुछ सुनकर चुप ही रही. उसने अपने पिता के चेहरे पर बेहिसाब नाराजगी और तनाव देखा था. अंदर घुसने से पहले बाहर पड़े हुए बस्ते पर जोर-जोर से पैर रगड़ते हुए उन्होंने आक्रोश प्रकट किया था. कहा था, ''जिस परिवार के इतिहास में कालिख पुता हुआ हो, उसका यही हश्र होना है. जमाई पर दोष लगाने से क्या फायदा! असलियत तो हम जानते ही हैं, क्या हमें यह सब अच्छा लगता है?'' दरअसल सत्यव्रत पहले से ही निराशाओं में घिरा हुआ है. शांतिनिकेतन छोड़ने के बाद कलकत्ते के आर्ट स्कूल में बहुत थोड़े वेतन पर ड्राईंग सिखाते थे. कितनी तंगी झेली! रंग और कैनवस का पैसा जुटाना भी मुश्किल हो जाता था. उस पर माउंटिंग और एग्जिबीशन का खर्च अलग. कुछ सालों तक डटकर संघर्ष किया पर चित्रकार बनने की ख्वाहिश पूरी नहीं हुई. जेब उलीचकर अपने चित्रों की पांच नुमाइशें लगवायीं मगर तकदीर नहीं बनी. क्या-क्या नहीं किया उन दिनों! कला प्रेमी साहबों के पीछे-पीछे भागते रहे. कितने कला समालोचकों की खुशामद की नकली ठाट बनाये रखने के लिए पीना शुरू कर दिया. जब आंखें खुलीं तो सारा भरम छट गया. तभी भंजों के स्कूल में ड्राईंग मास्टर की नौकरी मिल गयी और चले आये. बूढ़े शीतल भंज का भरपूर प्यार मिला उन्हें. ये जमीन-जायदाद, खेत-खलिहान सब उन्हीं की देन है. अब शीतल बाबू नहीं रहे मगर उनके बेटे भी सत्यव्रत की इज्जत करते हैं. भंजों के बहुतेरे लड़के उनके छात्र हैं. इन दिनों सत्यव्रत ड्राईंग मास्टर नहीं, हैडमास्टर हैं.

वनश्री अपने पिता की उदासी भांप सकती है. बाहर से खुशहाल दिखनेवाले इस आदमी के अंदर धू-धू रेगिस्तान तप रहा है. नाकामी कुरेद रही है. उन्हें संतोष सिर्फ इस बात का है कि खुद कलाकार न होते हुए भी अपनी औलादों में उन्होंने कला के प्रति लगाव पैदा कर दिया है. अपने बेटे शुभ को वे आजकल चित्रकारी सिखाने लगे हैं. यह बात अलग है कि जबसे अपना अभ्यास छूटा, तबसे हर चीज के प्रति एक तरह की उदासीनता और विरक्ति पनपने लगी है. उनके चेहरे की झुर्रियों से, आंखों की संजीदगी से यह साफ पता चल जाता है.

आज का दिन बड़ा मनहूस निकला. श्यामश्री और रेवंत के बीच जो अनबन हुई, उससे वनश्री को स्वयं के भविष्य की चिंता होने लगी. आज की घटना से मन में यों ही उदासी घिरी हुई थी उस पर बेमौसम की बारिश ने परिवेश को और भाराकांत बना दिया. जाड़े की शाम अभी से मुफलिस के चिराग की तरह बुझी-बुझी-सी दिख रही है.

शाम ढलने पर सत्यव्रत बाहर निकल गये. चिरश्री और शुभश्री आदत के मुताबिक पढ़ने के कमरे में और सविताश्री रसोई घर में चली गयी. अकेली बनश्री परेशान है. कुछ देर तक वह रेडियो सुनती रही. फिर जब मौसम की खराबी से उसमें गड़गड़ाहट होने लगी तो मजबूरन उसे बंद करना पड़ा. किसी तरह पढ़ने में भी जी नहीं लगा. बाहर घने अंधेरे को अपलक निहारती वह खिड़की के पास बैठी रही. बाहर तूफानी हवा का तांडव मचा हुआ

था. पास ही कहीं से बिजली गिरने की कर्णभेदी आवाज आयी. खिड़की बंद करते-करते जोरों से बारिश आ गयी. लगा कि दक्षिण की ओर टीन की छत पर कोई कंकड़ मार रहा है, इधर तालाब के पानी में बौछारों से कितनी तरल और मृदुल आवाज निकल रही है, पेड़-पौधों पर भी एक अलग किस्म का स्वर लहरा रहा है. मायूसी के हालात में ये शब्द वनश्री को और भी विचित्र प्रतीत हो रहे थे. वह मन लगाकर सुन रही थी. तभी बाहर बरामदे से किसी के बोलने की आवाज आयी.

"कौन है वहां?" वनश्री ने अंदर से पुकारा.

"डरो मत. मैं घर का ही आदमी हूं.—कुंज."

कुंज ने ठीक ही कहा.वह अपने को हर घर का आदमी समझता है और हर किसी से बेझिझक करीबी रिश्ता जोड़ लेता है, चाहे लोग उसे मानें या न मानें. यह भी सच है कि वह आड़े वक्त हर किसी का सहारा बन जाता है. उसे अपने घर आते देख कोई बुरा नहीं मानता. वह हर किसी का हितैषी है. यहां श्यामश्री की शादी भी कुंज के जरिये से हुई थी. रेवंत से उसकी गहरी छनती थी. अब सुनने में आता है, दोनों की हालत सांप छुछुंदर जैसी हो गयी है. वनश्री ने तय किया इस मामले में वह कुंज से खुलकर बात करेगी. उसने ज्यों ही दरवाजा खोला, तेज हवा के झोंके से कांपते हुए किवाड़ उसके हाथों से छूट गये. बाहर मौसम का रुख देखकर वनश्री सिहर उठी. उसने जोर से चिल्लाकर कहा, "कुंजदा, अंदर आइए." तभी बिजली कौंधी और क्षणिक उजाले में वनश्री को दो व्यक्तियों की छाया भर दिखाई पड़ी.

कुंज हंसते हुए अपने दोस्त को बुलवा लेता है. अंदर आकर खुद ही किवाड़ बंद कर देता है फिर उजाले में अपनी हालत का मुआयना करते हुए कहता है, "भीगने की भी हद हो गयी. कमबख्त बारिश ने हमारी मिट्टी पलीत कर दी. आ:! यहां देखो, कितना आराम है! घर का सुख कुछ और ही हुआ करता है. तुझे मालूम है राजू! यह घर तो एक तरह से अपना ही है."

अब वनश्री ने उजाले में राजू का चेहरा गौर से देखा. शक्ल-सूरत से आदमी कुछ अक्खड़ और सख्त मिजाज वाला प्रतीत हुआ. लंबोतरा मुंह, उभरे हुए गाल और आंखों में एक तरह का तीखापन झलकता है.

"यह मेरे कॉलेज का दोस्त राजू है. हम दोनों एक साथ यूनियन किया करते थे." कुंज ने संक्षेप में परिचय करवा दिया.

"बैठिए न! कितने भीगे गये हैं दोनों! कुंजदा, मैं कुछ कपड़े ले आऊं!"

"अरे नहीं नहीं, हमें भीगने की आदत है. तुम चाय पिला दो, यही बहुत है." राजू ने कोई बात नहीं की. एक-दो पल वनश्री को उड़ती निगाह से देखा. कमरे में एक चारपाई और कुछ कुर्सियां पड़ी हुई थीं. कुंज आराम से हाथ-पैर पसारकर चारपाई पर बैठ गया.

वनश्री को देखकर गंभीर स्वर में सविताश्री बोलीं, "कौन आया है?"

"कुंजदा हैं.... उनसे जीजाजी के बारे में पूछूं?"

"क्या जरूरत है! मियां-बीवी के मामले में तीसरे आदमी का दखल देना ठीक नहीं होता."

वनश्री जानती है, सविताश्री ने जो राय दी है वही उनका अंतिम आदेश है. उम्र के लिहाज से वनश्री बालिग हो चुकी तो क्या, मां का कहना किसी भी हालत में नहीं टाल सकती. सिर्फ उसी की नहीं, सभी भाई-बहनों की यही स्थिति है. सविताश्री को कुछ कहने की जरूरत नहीं पड़ती. उन्होंने पहले ही चाय का पानी चढ़ा दिया था. अब हमेशा की तरह संयत स्वर में बोलीं, "तुम जाओ. मैं कुसुम से चाय भिजवा दूंगी. कितने लोग हैं?"

"बस दो ही हैं."

"कुछ नाश्ता भी भिजवा दूंगी."

वनश्री उन दोनों की परेशानी से वाकिफ नहीं थी. नाश्ते को किसी ने हाथ तक नहीं लगाया. वनश्री चाय देने लगी तो राजू ने उसकी ओर देखते हुए मजाक के तौर पर जो कुछ कहा वह बड़ा ही अजीब और असंभव-सा प्रतीत हुआ—"हम दोनों अभी-अभी मौत के मुंह से निकलकर आ रहे हैं. बड़े मैदान में तीन आदमियों ने कुंज को मारने की कोशिश की थी."

"यह आप क्या कह रहे हैं!" वनश्री कुछ समझ न पायी.

"तुम भी इसके कहने में आ गयीं, सब बकवास है! राजू, पहले यह बता कि तुझे कब अक्ल आयेगी!"

"बात छिपाने से क्या फायदा कुंजदा!" वनश्री काफी गंभीर हो गयी थी. बोली, "इस इलाके में जो कुछ भी हो, हमें पता लगना चाहिए, कौन थे ये तीनों?"

"लो जी! अंधेरे में यह कैसे पता चलता? होगा कोई ऐरा-गैरा!" कुंज अनजान बनने की कोशिश कर रहा था, पर वनश्री को पक्का विश्वास हो गया कि कुंज उन्हें पहचान गया है. कुंज इस इलाके के तमाम लोगों को अंधेरे में सिर्फ आहट से पहचान सकता है. फिर वहां तो टार्च की रोशनी भी थी. वह सोच में पड़ गयी. कुंज की ओर देखते हुए उसने दबे स्वर में कहा, "वे नाकाम हो गये!"

"सो भी राजू की वजह से. उन लोगों ने सोचा था, हमेशा की तरह आज भी रवि मेरे साथ होगा और जब इसे देखा तो बुरी तरह घबरा गये. उनका हिसाब गड़बड़ा गया!" कुंज हंसने लगा.

"रवि कहां है? वनश्री गंभीर बनी हुई है.

"आपको कहीं चोट तो नहीं लगी?"

"नहीं. मैं ठीक हूं." कुंज जाने के लिए उतावला हो रहा था. बारिश का जोर भी कुछ कम हो गया था. वनश्री अंदर से दो लेडीज छाते ले आयी. बोली, "इनसे कुछ तो बचाव हो जायेगा." अब कुंज उठकर खड़ा हो गया.

हल्की-हल्की बूंदाबांदी अभी तक जारी है. कुंज के घर का आंगन पानी से लबालब भरा हुआ है. सनसनाती सर्द हवा शरीर में नश्तर की तरह चुभ रही है. बिगड़े मौसम की वजह से रात वक्त से पेश्तर गहराने लगी है. खाना खाकर कुंज और राजू इत्मीनान से कमरे में बैठ गये हैं. यह कमरा बाहर की ओर होने के कारण पूरे मकान से कटा हुआ है. अपने घर से कुंज का भी नाता करीब-करीब टूट चुका है. वह ज्यादातर बाहर-बाहर ही रहता है. खाने-सोने के सिवाय घर से उसका कोई ताल्लुक नहीं. चारपाई पर बैठे-बैठे तौलिये से पांव रगड़ते हुए कुंज ने कहा, "रवि के घर जाकर पता लगाना चाहिए."

"अब इस आंधी-पानी में कौन निकले! रात के नौ बज गये हैं."

"अमां, हमारे लिए यह कौन-सी बड़ी बात है! तू सो जा, मैं जरा घूमकर आता हूं. बाहर से ताला लगाकर जाऊंगा, तुझे दरवाजा खोलने की जरूरत नहीं पड़ेगी." थोड़ी देर पहले इस कमरे में एक भोली-भाली कमसिन औरत आयी थी. वह बिस्तर वगैरह सहेजकर अंदर चली गयी. सिर पर पल्ला डाले हुए थी पर चेहरा खुला हुआ था. वह दुबारा पान देने आयी तो राजू ने उसे गौर से देखा. उसकी बड़ी-बड़ी आंखों में एक अजीब-सी खुमारी चढ़ी हुई थी. राजू के मन का कोई अछूता तार अचानक झनझना उठा. इस झंकार में एक तरह का पूर्व संकेत छिपा हुआ था. बड़ी अजीब बात है, आजकल राजू को अक्सर

अलग होते हुए

□ विपिन जैन

बहुत दिनों बाद लड़के को सामने पाया तो लड़की खुशी की लहरों को चेहरे पर रोक न पायी. और पास आकर उसका हाथ थाम लिया, "ओह अभय! तुम यहां!" इतने सालों बाद भी तुम मुझे नहीं भूले. तुम्हें सामने पाकर आज मुझे बहुत खुशी हो रही है."

लड़का उसकी आंखों में झांकने लगा और बोला, "पिछले पांच साल में हर पल इसी एहसास के साथ रहा कि एक दिन तुमसे मिलने जरूर आऊंगा. मुश्किल से तुम्हारा पता मिला. पता चला कि तुम यहां लैक्चरर लग गयी हो."

"और तुम्हारा आई.ए.एस. में जाने का इरादा कहां तक सफल रहा?" लड़की ने पूछा.

लड़का कुछ देर चुप रहा. फिर कहने लगा,

"सुधा, मुझे सरकारी नौकरी मिल गयी है. तुम तो जानती हो बेरोजगारी कितनी है? अब मेरे ऊपर शादी का दबाव पड़ रहा है. मैं तुम्हारा विचार जानने आया

हूं."

लड़की के चेहरे का रंग बदल गया. वह बोली, "अभय, इस बारे में मैं कोई निर्णय नहीं ले सकती. तुम फिर कभी मिलने आना. मम्मी-पापा से पूछना होगा."

लड़का थोड़े दिन बाद फिर उससे मिलने गया. दोनों ने फिल्म देखी. खाना खाया और रात को देर तक साथ घूमते रहे. फिर लड़की ने अलग होते हुए कहा, "अभय, पापा क्लर्क के गांव के लड़के के लिए तैयार नहीं हैं. मैं मन से तुम्हें ही चाहती हूं, पर मजबूर हूं."

लड़का उदास हो गया.

"अच्छा, अब चलता हूं."

एक मोड़ पर आकर दोनों ने अपने-अपने घर की बस पकड़ ली. अपने-अपने रास्ते जाते हुए दोनों सोच रहे थे. लड़की सोच रही थी– 'बात निभ गयी अब पापा की बात भी रह जायेगी. लड़का अच्छा है पर छोटी सी नौकरी...' लड़का सोच रहा था–'लैक्चरर हो गयी है इसलिए मैं उससे शादी के लिए इच्छुक था. नहीं तो रूप-रंग भी कुछ खास नहीं है. और फिर दहेज में भी कुछ नहीं मिलने वाला है.' □

ऐसे सांकेतिक शब्द, गंध और स्पर्शों का बोध होता रहता है. ऐसा आम आदमियों को नहीं होता. औरत पान रखकर चली गयी तो कुंज ने कहा, "यह केष्टो की बीवी है, बगनान के एक मास्टर की बेटी. बड़ी मुश्किल से यहां ब्याही गयी है."

"केष्टो कौन?"

"मेरा मंझला भाई. तूने उसे देखा है. शायद भूल गया हो. छोरा कच्ची उम्र में गांजा भंग चढ़ाकर रमता जोगी बन गया था. नशा रंग लाने लगा तो इस छोकरी से इश्कबाजी शुरू हो गयी. मामला बिगड़ते देख मैंने ही बात चलाकर दोनों की शादी करवा दी..... मगर बात नहीं बनी. तभी से घर में बलवा मचा रहता है. दिनरात बीवी से झड़प होती है सो अलग, निकम्मा गाली-गलौज पर उतर आता है."

"मगर क्यों?"

"क्योंकि उसका सौदा घाटे का रहा. शादी के नाम पर लड़के वाले अपनी जेब भरते हैं. जहां पैसा हड़पने का मौका नहीं मिलता, वहां खिचखिच शुरू हो जाती है. और सुन, दहेज न मिलने के कारण केष्टो मुझसे भी चिढ़ा हुआ है." कहते-कहते कुंज की आवाज लड़खड़ा जाती है. वह कुछ सोचते हुए उदास मन से कहता है, "अब कहीं किसी का रिश्ता नहीं जोड़ूंगा, यह काम बहुत महंगा पड़ता है. अभी सत्य बाबू के घर जो लड़की मिली थी न, उसकी बहन श्यामा की शादी मैंने ही करवायी थी. अब वहां भी मारामारी चल रही है. मेरी किस्मत ही खोटी है."

राजू इन ऊलजलूल बातों से ऊब रहा था. वह रजाई तानकर चुपचाप लेट गया. लेटते ही आंखों के सामने वनश्री का सलोना चेहरा दिप् दिप् चमकने लगा. पल में दिल के रेगिस्तान में फव्वारे छूटने लगे.

सोचते-सोचते राजू विभोर हो जाता है. यह भावना उसके मन में आज पहली बार नहीं आयी. वह जब भी किसी खूबसूरत लड़की को देखता है तभी यह चाह उमड़ने लगती है. इतने में लकड़ी की कुर्सी चरमराने लगी तो राजू समझ गया कुंज उठकर जाने लगा है. कैसा अक्खड़ आदमी है! जिद्द पर अड़ जाता है. चाहता तो कल सुबह भी रवि की पूछताछ कर सकता था. राजू ने रजाई के भीतर से ही अकुलाते हुए कहा, "कुंज, एक बात पूछूं?"

"हां हां, पूछ."

"हमलावरों में से किसी को भी तूने नहीं पहचाना?"

"कैसे पहचानता! वहां घना अंधेरा था."

"मेरे खयाल से तूने किसी एक को जरूर देखा है."

"रवि ने शायद देखा हो, उसके पास टार्च था. पर देखा भी होगा तो मुश्किल में पड़ जायेगा. वे भले आदमी थोड़े ही थे."

राजू ने अफसोस जताते हुए गहरी सांस ली, "रवि ने तो खैर देखा ही है. तूने भी कुछ-न-कुछ जरूर देखा है मगर राज नहीं खोलेगा. पॉलिटिक्स करनेवालों की यही तो खूबी है. खैर, नहीं बतायेगा तो ना सही."

कुंज बाहर से दरवाजे पर ताला लगाकर रवाना हो गया. अब राजू आंखें बंद किये-किये केष्टो की बीवी को याद करने लगा. उस औरत की भेदभरी निगाहों में कोई अनजान इशारा था. वह कुछ कहना चाहती थी या पाना चाहती थी. हो सकता है वह केष्टो से प्यार न करती हो या और किसी से करती हो, आखिर किससे करती होगी! राजू के मन में अजीब हलचल होने लगी. बाहर आंधी-पानी का शोर, अंदर यह छटपटाहट. एक ठंडी झुरझुरी शरीर में भर गयी. तभी बाहर कुछ हल्ला सुनाई पड़ा. उसके कान खड़े हो गये. गरजते बादल और बरसते पानी के कारण शोर कुछ दबा हुआ था. धीरे-धीरे यह हंगामा जोर पकड़ता गया. आवाज अंदर से आ रही थी. एक औरत रह-रहकर चीख रही थी. कई लोग एक साथ चिल्ला-चिल्लाकर मिन्नत कर रहे थे, "अब छोड़ दे केष्टो! बस कर.... हद हो गयी... गजब है... अरे ओ निताई! तू ही सम्हाल, ले जा इस करमजली को... अरे....रे.....रे मर जायेगी!" राजू को मामला कुछ गड़बड़ प्रतीत हुआ पर वह चौंका नहीं. उसके मन में काफी देर से खतरे की घंटी टनटना रही थी. दरअसल वह औरत अपनी आंखों से कुछ इशारे छोड़ गयी थी. राजू समझ गया था, औरत पर कोई विपदा आने वाली है.

उसने बड़ी सतर्कता से अंदरवाले दरवाजे की कुंडी खोल दी. अड़ियल हवा उसे पूरी ताकत से भीतर ढकेल रही थी. वह मुश्किल से किवाड़ का आधा हिस्सा खोल पाया. वहीं से उसने देखा, आंगन में काफी लोग इकट्ठे हो गये हैं. दायीं ओर बरामदे के फर्श पर बैठकर कुछ नौकर-चाकर सरीखे लोग खाना खा रहे हैं. उसी के सामने वाले कमरे के पास कुछ लोग खड़े-खड़े चिल्ला रहे हैं और बंद दरवाजे पर जोर-जोर से धक्के मार रहे हैं. एक मोटा आदमी बेतहाशा चिल्ला रहा था, "अबे, खोलता क्यों नहीं? साला जान लेने पर तुल गया है! फांसी पे लटकने का इरादा है क्या? मैं कहता हूं छोड़ दे उसकी गर्दन!" कमरे के अंदर कोई औरत मरियल आवाज में कराह रही थी. वह दम तोड़ती गउ की तरह हांफ रही थी. राजू ने कान लगाकर सुना, कोई आदमी उसे धमकियां दिये जा रहा था–"तू बतायेगी या नहीं! अगर जान प्यारी हो तो सब कुछ सच-सच बता दे वर्ना...." तेज हवा के झोंके शब्दों को उड़ा ले गये. इस हंगामे के बीच बरामदे में बैठे हुए लोग चुपचाप खाना खाए जा रहे थे. वहां बिजली की रोशनी भी नहीं थी. किसी तरह एक लालटेन जलायी गयी थी. उसे आंधी-पानी से बचाने के लिए एक कपड़े की आड़ में रखा गया था. इसकी रहस्यमय रोशनी पूरे बियाबान को घर की तरफ धकेल रही थी. राजू खड़ा-खड़ा देख रहा था. इतने में एक लड़की सिर पे पल्ला डाले आंगन के उस पार से तेज कदम चलकर राजू के सामने आ पहुंची. आते ही उसने पुकारा, "बड़े दादा!" राजू ने दरवाजा छोड़ दिया था. लड़की ने कमरे में झांककर देखा फिर राजू से पूछा, "बड़े दादा नहीं हैं?"

"बाहर गये हैं." राजू इस लड़की को पहचानता है. कुंज की तीन क्वांरी बहनों में से एक है.

"आपसे कुछ कहकर नहीं गये! कहां गये होंगे?" लड़की बेहद घबरायी हुई थी. राजू ने साफ-साफ बता दिया, "रवि के घर गया है...." फिर उससे कौतूहल नहीं दबाया गया, "बात क्या है? वहां कौन चिल्ला रहा है?" राजू ने देखा लड़की सकुचा रही है. उसकी उम्र कोई पंद्रह-सोलह साल होगी. दुबली-पतली और सांवली है. दांत कुछ उभरे हुए हैं. वह दरवाजे की आड़ से बोली, "मंझले दादा भड़क गये हैं."

"मगर क्यों?"

लड़की चुप. राजू ने तंग आकर झिड़की लगायी–"चलो, अंदर आओ, साफ-साफ बताओ कि मामला क्या है!" अब लड़की डरी-डरी-सी अंदर आ गयी. उसकी साड़ी और चादर कुछ-कुछ भीग गयी थी. वह ठंड से थर-थर कांप रही थी. सिमटकर दबी जुबान से बोली, "गलती असल में भाभी की है. उसने चुपचाप मायके में खबर भेजी थी उसे लिवा जाने के लिए.... तो आज शाम को उसके भैया लेने आ गये. यहां किसी को कुछ मालूम नहीं था. बस, पता चलते ही मझले दादा तैश में आ गये."

"केष्टो हमेशा ऐसे ही मारपीट किया करता है?" राजू के इस सवाल से लड़की और सकुचा गयी. हिचकती हुई

बोली, "करता तो है मगर रोज नहीं.... आज कुछ ज्यादा ही भड़क गया है. वहशी हो गया है." इन बातों से राजू और भी बौखला गया, कड़ककर बोला, "केष्टो से जाकर कह दो फौरन होश में आ जाये वर्ना मैं उसकी हड्डी-पसली बराबर कर दूंगा! फिर उस नालायक को जेल की हवा न चखाऊं तो मेरा नाम राजीव बनर्जी नहीं.... समझी?" लड़की ने कोई जवाब नहीं दिया. चुपचाप वहां से खिसक गयी.

बरामदे का हल्ला-गुल्ला करीब शांत हो चुका है. कमरे में सीलन अधिक होने की वजह से राजू को सर्दी लग गयी. कान दुखने लगे. उसकी आंखें बरबस केष्टो के कमरे की ओर चली गयीं. वहां से कुंडी सरकाने की आवाज आयी. एक आदमी कमरे से बाहर निकला. यही केष्टो होगा. उसके चिल्लाने से सन्नाटा टूट गया—"टूशी! अरी ओ टूशी!"

"आयी दादा." टूशी ने ऊंचे स्वर में जवाब दिया. केष्टो फिर कमरे में घुस गया. इतने में एक दुबली-पतली-सी लड़की दौड़ती हुई आयी. यही टूशी है. वह अंदर दाखिल हुई. कुछ ही मिनटों में वह केष्टो की पत्नी को सहारा देकर बाहर बरामदे में ले आयी. औरत कसमसाती खाल वाली एक निर्जीव काया थी. टूशी ने उसे बड़ी सतर्कता से बरामदे में बैठा दिया. उसके मुंह पर पानी के छींटे मारे. मुंह पर पानी के छींटे पड़ने से औरत उठने लायक हुई तो टूशी उसे सहारा देकर फिर अंदर कमरे में ले गयी. राजू पलटकर अपने कमरे में रजाई तानकर लेट गया. काफी देर तक वह आंखें मूंदकर शीत लहरी की चुभन झेलता रहा. फिर हल्की-सी आहट हुई तो आंख खुल गयी. कुंज की बहन पानी रखने आयी थी. बोली, "और कुछ चाहिए?"

"एक दियासलाई की जरूरत थी."

"ला रही हूं." लड़की के पैरों में जैसे पंख लगे थे. वह बड़ी फुर्ती से आंगन पार कर केष्टो के कमरे तक पहुंच गयी. उसने बाहर से आवाज लगायी. केष्टो ने दरवाजा खोला. चंद मिनटों में वह दियासलाई लेकर लौट आयी.—"यह लीजिए."

उसके हाथों से दियासलाई लेते वक्त राजू को कुछ झेंप-सी लगी. उसने कहा, "गुस्से के मारे मैं जाने क्या-क्या कह गया तुमसे. गलती हुई. पर तुम्हीं सोचो, कोई औरत पर हाथ उठाये तो उसे कैसे बर्दाश्त किया जा सकता है!"

टूशी अपलक राजू को देख रही थी. उन आंखों में कितना आतंक समाया था. बेबसी से चेहरा सूख गया था. वह लंबी सांस खींचकर बोली, "भाभी की हालत बहुत नाजुक है. दांत ऐंठ गये हैं. पुतलियां उलट गयी हैं. रह-रहकर बेहोशी का दौरा पड़ रहा है और...." टूशी का प्रवाह एकबेग रुक जाता है.

"और क्या?" क्रोध और तनाव से राजू की कनपटियां तप रही थीं.

"खून जा रहा है.... भाभी पेट से थी, मालूम नहीं अब क्या होगा."

"आसपास कोई डाक्टर नहीं है?"

डरी-सहमी लड़की थूक निगलकर बोली, "राधू डाक्टर बुलाने जा रहा था मंझले दादा ने उसे मार डालने की धमकी दी है. बड़े दादा ने जाने कहां चले गये! उनके सिवाय और कोई कुछ नहीं कर सकता." लड़की ने आंचल से मुंह ढक लिया. राजू को अपने हाथ-पैर जकड़े प्रतीत हुए. फिर भी पुश्तापन लाने की अपने तईं उसने पूरी कोशिश की, कहा, "एक छाता ले आओ और राधू को मेरे पास भेज दो."

सावित्री ने कोई जवाब नहीं दिया. पाषाण प्रतिमा जैसी निश्चल आंखों से उसे देखती रही. थोड़ी देर बाद उसके गले से एक मरियल आवाज निकली, "वह कहां है?"

"आप जायेंगे?"

"जाना ही पड़ेगा वर्ना औरत मर जायेगी."

आंधी-पानी में आप कहां जायेंगे, मैं राधू को भेज रही हूं. आप तब तक मंझले दादा को जरा सम्हालिए. वैसे भी आप बड़े दादा के दोस्त हैं, उस पर कलकत्ते के निवासी. आपसे भिड़ने की उसे हिम्मत नहीं पड़ेगी." गुस्सा खा जाने पर राजू अब भी जंगली सूअर की तरह भड़क जाता है. आव देखा न ताव, वह कमरे से निकल गया. चलते-चलते उसने कुंज की बहन से कहा, "राधू से कहो जल्दी जाये. मैं केष्टो से निपटने जा रहा हूं." वह तेज कदमों से केष्टो के दरवाजे पर पहुंच गया. जोर-जोर से दस्तक दी. केष्टो ने किवाड़ खोले. एक अजनबी को वहां देखकर वह हक्का-बक्का रह गया. राजू ने उसे गौर से देखा. वह लंबे कद का हट्ठा-कट्ठा आदमी है. कड़ाके की ठंड में भी एक गंजी पहने हुए है. उसके मुंह से देशी शराब की बू आ रही है.

"क्या बात है?" राजू ने कड़ककर उससे पूछा. हैरत में पड़े हुए केष्टो ने गला खंखार कर कहा, "साबी की तबीयत ठीक नहीं है.... खून जा रहा है." राजू का दिमाग भन्ना गया. जी में आया, कसकर उसे एक तमाचा लगा दे. फिर यह समझकर सम्हल गया कि आदमी पहले से ही डरा हुआ है, हिचक रहा है. उसने तीखे स्वर में पूछा, "उसके लिए क्या इंतजाम किया है? किसी को बुलाया है!"

"आप अंदर आइए. मुझे तो कुछ सूझता ही नहीं, जरा देखिए तो सही, केस किस हालत में है." खून के नाम से ही उसका हौसला ढह गया था. उसने केष्टो को अनदेखा करते हुए कहा, "मेरे आने, न आने से क्या होगा? पहले से ही सीरियस केस है, घर के लोगों को बुलवाओ." तब तक केष्टो के सिर से भूत उतर चुका था. उसने संत्रस्त होकर कहा, "मैं अभी बुलाता हूं. आप कुछ देर यहीं ठहरिए. टूशी आ रही होगी." कहते-कहते केष्टो करीब दौड़कर आंगन में विलीन हो गया.

बहकी हवा के झोंके से कुंज का छाता हुबककर उलट गया है. ऊपर बौछारों की मार, नीचे कीचड़ का दलदल. ठंड से ठिठुरता, कीचड़ में पांव मारता, बड़ी मुश्किल से कुंज रवि के दरवाजे तक पहुंचा. रवि ने खिड़की से झांककर पहले कुंज को अच्छी तरह देख लिया फिर धीरे से दरवाजा खोला. उसके हाथ में एक तेज धारवाली कटार है, जाहिर है, वह अब तक घबराया हुआ है. कुंज कुछ बोलने की स्थिति में नहीं था. अंदर घुसकर वह कपड़े निचोड़ने लगा. रवि ने फौरन दरवाजे की कुंडी चढ़ा दी. भेदिया निगाह से कुंज को देखा. फिर कटार को सम्हालकर ताख में रख दिया.

"मैं सोच रहा था, सालों ने तुम्हारी अंतड़ी निकाल दी होगी." रवि ने मजाक के तौर पर मन की बात कह डाली. ठंड से कुंज के दांत किटकिटा रहे थे. गीली चादर को निचोड़कर उसी से हाथ-पैर पोंछते हुए उसने कहा, "किसी को पहचाना?"

"बात निकल जाये तो मुझे वे जिंदा नहीं छोड़ेंगे. खैर... तुमसे क्या छिपाना? साले ने लपककर बायें हाथ से मेरी गर्दन पकड़ी और दायें हाथ से चाकू तान दिया. ऐन सीने के सामने. उसने मफलर से चेहरा छिपा रखा था लेकिन ऐसे हांफ रहा था जैसे दमे का मरीज हो. मैं हमेशा तुम्हारे पीछे-पीछे रहता हूं न! इसलिए उससे जरा गलती हो गयी. ज्यों ही उसने चाकू भोंकने के लिए हाथ उठाया, पीछे से किसी मुस्तंडे ने कहा 'यह कुंज नहीं है, रवि है साले को दो लात मार दे! चौकड़ी मारकर भाग जायेगा.' उसने मेरी

गर्दन छोड़ दी. पेट में दो घूंसे मारकर बोला, 'जुबान खोली तो लाश गिरा दूंगा, समझे!' फिर क्या! मैं जान छुड़ाकर भाग निकला. भागते-भागते ही मैं पटल को पहचान गया था. पीछे मालूम नहीं कौन दो जने थे. एक लंबे कदवाला भी था." कुंज के गीले कपड़ों से बराबर पानी चू रहा था. कोठरी की जमीन गीली हो गयी. कुंज ने देखा, एक ओर मचान पर कुछ चिथड़े और एक चटाई रखी हुई है. दूसरी ओर एक बकरी लीद और कचरे में बैठी जाने क्या चबाए जा रही है. कुंज को उल्टी आने लगी. उसने सीधे रवि की आंखों में झांकते हुए धीमे स्वर में कहा, "जो देखा सो देखा, क्लब में कुछ बताया तो नहीं?"

"जब दौड़ता हुआ क्लब के सामने से गुजर रहा था, तब किसी ने पूछा, 'क्या हुआ जी? ऐसे भाग क्यों रहे हो!' मेरी तो हांफ-हांफकर बोलती बंद हो गयी थी. सो कहता क्या! अब तुम बताओ कि तुम्हारे ऊपर क्या गुजरी! क्या किया उन लोगों ने?"

"करता क्या? कुछ नहीं किया."

"कुंजदा कहीं तुम भूत बनकर तो नहीं आये हो!..." कुंज ने कोई जवाब नहीं दिया. उसकी बंद आंखों के सामने कुछ अधूरी लकीरें खिंच रही थीं और उनसे एक लंब आदमी की आकृति बन रही थी. वहीं मैदान में एक टार्च गिरा हुआ था. जलता हुआ टार्च. उसकी रोशनी में पलभर के लिए एक गोरा चेहरा दिखाई पड़ा—रेवंत का. कुंज एकाएक छाता उठाकर चलने की तैयारी करता है. कुछ सोचकर रवि से कहता है, "किसी से कुछ कहना मत, तू मुसीबत में पड़ जायेगा, जो करना है सो मैं करूंगा." कुंज अच्छी तरह जानता है कुछ लोग निजी स्वार्थ के लिए कुंज के पीछे पड़े हुए हैं, वे अपने रास्ते में कुंज को हटाना चाहते हैं. उसने जाते-जाते रवि को प्यार से देखा, कहा, "बहुत दूर की बातें हैं, तू अभी नहीं समझेगा." रवि दरवाजा खोल देता है, कहता है, "सम्हलकर जाना." फिर उसका चेहरा शर्म से पसीज जाता है, अंदर का कोई बंधा हुआ सोता जैसा गलगलाकर बाहर निकल जाता है, "कुंजदा, इतने दिनों से तुम्हारे साथ साये की तरह लगा हुआ था. सोचता था तुम्हारे लिए जान भी न्योछावर कर सकता हूं और जब सचमुच तुम्हारे ऊपर विपदा आयी तो सबसे पहले मैं ही भाग निकला.... अब तुम चाहो तो मुझे नकमहराम कह लो पर मैं अपने सीने में हाथ रखकर कह सकता हूं कि..." झंझावात के जोरदार झटके से बातों की कड़ी टूट गयी. उंचास पवन का तांडव और कुंज अकेला.

पिछले हमलों से कुंज की लोकप्रियता और बढ़ गयी थी लेकिन ये बातें चुनाव के दिनों में हुई थीं इसलिए उन पर अपने आप राजनीतिक बना चढ़ गया था. इस बार का मामला बिल्कुल अलग किस्म का है. ये आपसी रंजिश की बातें हैं. इसमें पब्लिक को क्या हमदर्दी हो सकती है! कुंज को पहले ही समझना था कि जिस दिन उसने किसी की नाजायज जमीन पर छापा मारा, रिपोर्ट दर्ज करवायी, उसी दिन उसने मौत को चुनौती दी थी. और जब हाबू की झुग्गी में जुआड़ी शराबियों को खदेड़ने गया था, तब भी जानबूझकर ही खतरा मोल लिया था. मरने की चिंता कुंज अब भी नहीं कर रहा है. उसे तो एक ही चिंता खाये जा रही है कि उसकी नेकनामी पर दाग लग रहा है. अब वह निश्चित ही पहले जैसा पॉपुलर नहीं रहा. उस दिन टार्च की रोशनी में रेवंत को पहचान लेने पर उसे इस बात का झटका नहीं लगा था कि खुद रेवंत उसका हत्यारा बन रहा है, बल्कि उसे रेवंत के चेहरे पर जो नफरत दिखाई पड़ी थी, उसी ने दहला दिया था. घृणा से रेवंत की आंखें सिकुड़ गयी थीं.

आगे पक्का रास्ता मिल जाने पर कुंज को थोड़ी-सी राहत मिली. वह सीधे इमली तले के युवक संघ में जा पहुंचा. बरामदे में गीला छाता समेटकर उसने दरवाजे पर दस्तक दी. इतनी रात को भी कुछ लोग वहां ताश खेल रहे थे. वे कुंज को आश्चर्य से देखने लगे. मजे की बात यह कि समूचे इमली तले को कुंज अपना ननिहाल समझता रहा है. यहां उसके कितने मामा-मामी, मौसा-मौसी बसे हुए हैं, इसका कोई हिसाब नहीं. इस वक्त ताश खेलने वालों में भी उसके एक मामा और मौसेरे भाई बैठे हुए हैं. मामा ने पूछा, "इतनी रात गये आंधी-पानी में तू कहां से आ रहा है? कोई गड़बड़ तो नहीं है न?" कुंज ने सिर हिला दिया.

"तो फिर?"

कुंज इसका क्या जवाब देता! जैसे खुद ही नहीं मालूम कि वह क्यों आया है. शायद वह जानना चाहता है कि पुराने परिचित अड्डों में अभी तक उसकी दखलदारी बनी हुई है या नहीं. इस क्लब की स्थापना कुंज ने अपने हाथों से की थी. इस इलाके के तमाम उत्साही नौजवानों को इकट्ठा कर क्लब को सरबुलंद बनाया था. पीछेवाले कमरे में अभी तक कुछ लाठी, बर्छी और तेजधार तलवार रखे हुए हैं. हो सकता है, कुंज के संकट की सूचना मिलने पर पूरा क्लब मैदान में उतर आये पर कुंज को इतने से तसल्ली नहीं मिल सकती. वह समझ गया है, पैरों तले अब पहले जैसी पुख्ता जमीन नहीं रह गयी है. रिस-रिसकर मिट्टी झुरझुरी हो गयी है. पिछली बार जब इस क्लब के प्रेसिडेंट का चुनाव हुआ था तब कुंज को अपने ही मौसेरे भाई से मुंह की खानी पड़ी थी. किसी तरह ले-देकर दस वोट से कुंज जीत गया था. यह बात अभी तक कांटे की तरह दिल में चुभ रही है. हवा का रुख बदल गया है. सच है विपदा आने पर कुंज के कुछ मददगार अब भी सीना तानकर मुकाबला करेंगे पर कन्नी काटने वाले भी बहुतेरे होंगे. चुनाव में खड़े होने पर भी हालत ऐसी ही रहेगी. बैठे-बैठे ही कुंज के मौसेरे भाई नलिनी ने कहा, "कुंजदा! तुम बुरी तरह भीग गये हो. तुम्हारी तबीयत पहले से ही ठीक नहीं है. सम्हलकर रहना चाहिए, आलमारी के पीछे मेरी बरसाती रखी हुई है, जाते समय ले जाना."

अब वहां ठहरने का कोई अर्थ नहीं था. कुंज क्लब से निकल आया.

उसकी प्रसिद्धि, लोकप्रियता उसे अंगूठा दिखा रही थी. उसकी भावमूर्ति पर कोई ढेरों कीचड़ उछाल रहा था. दो-तरफा दबाव से वह टूटता जा रहा था.

इस बिगड़े मौसम में कुंज को एक और दरवाजा याद आ गया. कभी यहां आने की फुर्सत नहीं मिलती थी और अब फुर्सत ही फुर्सत है. उसने धड़कते दिल से मंझले नाना का दरवाजा खटखटाया मंझले नाना यानी भंजों की जायदाद के सबसे बड़े भागीदार, करोड़पति भंजबाबू. उन्हें देखकर कोई उनकी दौलत का पता नहीं लगा सकता. एकदम सीधा-सादा रहन-सहन, चाल-चलन गंवार जैसा. उम्र अस्सी के आसपास होगी. इस वक्त मंझले नाना ऊनी चादर से बदन लपेटकर, पैरों में मौजे और सिर पर 'मंकी कैप' डालकर आराम से बड़े कमरे में बैठे हुए हैं. कुंज को देखकर उनके माथे पर सिकुड़न आ गयी. बोले, "इतनी रात को, ऐसी बारिश में कैसे आना हुआ! कोई बुरी खबर तो नहीं?"

"नहीं."

"चलो खैरियत है." भंजबाबू ने गहरी सांस ली, कहा, "मुझे तो हमेशा तुम सबों की फिकर लगी रहती है. मानता हूं मेरे गुजर जाने पर तुम लोगों को सूतक भी नहीं लगेगा. एक तो ममेरा रिश्ता, वह भी दूर का मगर मेरा नजरिया इस मामले में और ही रहा है. मेरे विचार से इमली तले के सभी बासिंदे एक रिश्ते में बंधे हुए हैं. सब हमसाये हैं. एक दूसरे के सुख-दुख में मिले हुए. होनी को कौन टाल सकता है! पता नहीं कब किस पर संकट आ जाये, कौन दुनिया से कूच कर जाये! मुझे तो बड़ी चिंता

लगी रहती है."

"आपसे मिले अर्सा हो गया—यही सोचकर आ गया हूं."

"तुम सच कह रहे हो न!" मंझले नाना ने कुंज को शक्की निगाह से देखते हुए पूछा, "किसी पर कोई मुसीबत तो नहीं आयी?"

"नहीं नानाजी."

"और तुम कैसे हो? तुम्हारे घरवालों का क्या हालचाल है? बहुत दिनों से तुम सबों को देखा नहीं, उनसे भी मिलने के लिए कह देना."

"कह दूंगा."

मंझले नाना कुछ सोचने लगे फिर गंभीर स्वर में बोले, "तुमने कभी मुझसे सलाह मशविरा करना जरूरी नहीं समझा. कभी कुछ पूछा होता तो मैं जरूर तुम्हें नेक सलाह देता. मैं तुम्हें सच्चे दिल से चाहता था पर तुम इसे नहीं समझ पाये." कुंज ध्यान से नाना की बातें सुन रहा था और उनकी भावनाओं को नापने की कोशिश कर रहा था. पहले कुंज को देखकर नाना की आंखें चमकने लगती थीं और अब? वे कितने निरासक्त बने हुए हैं. कुंज महसूस कर रहा है कहीं से लयकारी टूट रही है. सुर-ताल बिगड़ रहे हैं. एक बेसुरी झंकार कानों में खटक रही है. इसी मंझले नाना ने किसी समय चुनाव के वक्त अपना 'नॉमिनेशन' वापस ले लिया था, कहा था, "पब्लिक कुंज को चाहती है हम कौन होते हैं बीच में रोड़ा डालने वाले!" इन शब्दों को उन्होंने हंसते-हंसते, आत्मसम्मान से सीना तानकर कहा था. उसी साल कुंज पर हमला हुआ था. डाक्टर ने घायल कुंज को कलकत्ते के अस्पताल में भेजना चाहा था. तब भी मंझले नाना ने डटकर इसका विरोध किया था. कहा था, "कुंज को कलकत्ता नहीं जाना है, वहां किसी का इलाज नहीं होता, तमाशा होता है. क्या कुंज के करम इतने खोटे हैं कि जानबूझ उसे वहीं मरने जाना है! नहीं! उसका इलाज यहीं होगा!" मंझले नाना ने उस संकट काल में भंजों की रकम और मददगारों की सहायता से कुंज की जान बचा ली थी. उसी के लिए खास तौर से इमली तले का अस्पताल तरह-तरह की मशीनों से, एक्स-रे यूनिट ओर और दवाइयों से भर गया था. एक अच्छे डाक्टर की भी नियुक्ति हुई थी. इन सबके बावजूद कुंज ने किसी का एहसान नहीं माना. उसे लगता था, यह भंजों की नैतिक जिम्मेदारी है, सो निभा रहे हैं. आखिर कुंज उन सबका नेता है. आज वह मन ही मन मंझले नाना से दब रहा है. उसे अपने किये पर पछतावा हो रहा है. मन के किसी अज्ञात कोने में बेवफाई का एक कांटा चुभ रहा है. कुंज उदास हो गया. झिझकते हुए उसने नाना से कहा, "आजकल आप मुझे पहले की तरह नहीं बुलाते. क्या मुझसे कोई गलती हो गयी?"

नानाजी विचलित हो उठे, "कैसी बातें करते हो कुंज! गलती का तो सवाल ही नहीं है. दरअसल मेरी उम्र ढल गयी है, ऐसे में हर किसी का ध्यान नहीं रख पाता. वैसे तुम्हारी खबर मुझे बराबर मिलती रहती है. एक बात तुमसे कहना चाहूंगा." भंजबाबू सीना तानकर बैठ गये, "पहले तुम्हारी आंखों में एक जोशभरी चमक हुआ करती थी.... अब वो चीज नहीं रही."

"क्या मैं भटक रहा हूं? गलत रास्ते पर हूं?" कुंज सचाई जानने के लिए व्याकुल हो उठा था. उसे रह-रहकर रेवंत का चेहरा याद आ रहा था. कितनी घृणा भरी हुई थी उसकी आंखों में! उसने उठते हुए कहा, "नानाजी अब चलता हूं."

कुंज बाहर निकला तो पीछे-पीछे निर्मम हवा और आततायी बौछारों का एक भारी हुजूम उसे धिक्कारता हुआ आगे बढ़ा—"छि! छि! कुंज, तू कितना गिरा हुआ है!" कुंज कटकर रह गया.

पक्की सड़क पर कुंज को अचानक ही उसका छोटा भाई राधानाथ मिल गया. वह बड़ी मुश्किल से छाता सम्हालने की कोशिश कर रहा था और थर-थर कांप रहा था. कुंज को देखकर वह सकपका गया, बोला, "भाभी की हालत बहुत नाजुक है, डाक्टर को बुलाने जा रहा हूं."

"क्या हुआ है?"

"मंझले दादा ने मारा है, बे-तहाशा खून जा रहा है." कुंज के रोएं खड़े हो गये. वह अपनी कंपकंपी छिपाने की कोशिश करता हुआ आगे बढ़ा.

रात के तीसरे पहर बादल छंट गये, हवा का जोर भी कम हो गया. हल्की-हल्की चांदनी निकल आयी.

रोगिणी का कमरा करीब-करीब खाली हो चुका था. टूशी इतनी देर तक जाग रही थी. अब वह भी नीचे चटाई पर कंबल ओढ़कर सो गयी है. कमरे में कुंज अकेला जाग रहा है. सावित्री अचेतन्य-सी पड़ी हुई है. खून जाना बंद हो गया है पर हालत करीब-करीब वैसी ही बनी हुई है. रह-रहकर गले से एक दर्दनाक कराह निकल रही है. जब तक कमरा खून से भरा हुआ था, तब तक वह बाहर ही बैठा रहा. जेठ होने के नाते कुछ तो शर्म-हया करनी ही पड़ती है. कमरा साफ होने के बाद वह सावित्री के पास आया था. तब से यहीं बैठा हुआ है. उसका यों बैठे रहना भी ठीक नहीं दिखता, पर यह उसकी मजबूरी है. अम्मां और चाची सावित्री के पास रातभर बैठना चाहती थीं. कुंज ने उन्हें समझा बुझाकर सोनेवाले कमरे में भेज दिया. सिर्फ टूशी यहां रह गयी है.

बहुत देर उसी तरह बैठे रहने के बाद, जो कि उसके लिए अंतहीन समय था, उसने सावित्री को आंखें खोलते देखा. उसकी तीक्ष्ण दृष्टि कुंज को कचोट रही थी. कुंज ने अपने को संयत रखते हुए कोमल स्वर में पूछा, "अब तबीयत कैसी है?"

सावित्री ने कोई जवाब नहीं दिया. पाषाण प्रतिमा जैसी निश्चल आंखों से उसे देखती रही. थोड़ी देर बाद उसके गले से एक मरियल आवाज निकली, "वह कहां है?"

"भाग गया है!"

तभी सावित्री ने नजर घुमाकर देखा, टूशी वहीं सो रही है, उसने पूछा, "और सब लोग कहां हैं?"

"अपने कमरों में सो रहे हैं." अब सावित्री अपने को नहीं रोक पायी. टप-टप आंसू बहने लगे. उसने रुंधे स्वर से कहा, "मैं बार-बार आपसे कहती रही—उसे मुझ पर शक होने लगा है. आखिर हुई न वही बात!"

"आज कुछ कहा तुमसे?"

सावित्री ने आंखें बंद कर लीं, रोते-रोते ही कहा, "उसे सब पता चल गया है." कुंज को लगा पैरों के नीचे की जमीन उसे लीलती जा रही है. वह बड़ी मुश्किल से कह पाया, "बात उस तक नहीं पहुंचनी चाहिए थी."

सावित्री आंखें फाड़कर कुंज को देखने लगी. बोली, "आपने कभी हमारे रिश्ते के बारे में कुछ पूछा है? कुछ जानना चाहा है? फिर इस नतीजे पर कैसे पहुंच गये? मालूम है!, पिछले चार महीनों से उसने मुझे स्पर्श नहीं किया." कुंज के दिमाग में कोई जोर-जोर से नगाड़ा पीटने लगा. उसकी चेतना थरथराने लगी. नेकनामी और लोकप्रियता का अहंकार शीशे की तरह झनझनाकर टूट गया. अकुलाकर पूछा, "तुम सच कह रही हो? उसने तुम्हें स्पर्श नहीं किया."

"नहीं!" सावित्री उदास हो गयी. किसी तरह रुलाई का आवेग संभालती हुई बोली, "कभी-कभी वह चाहता तो था पर मुझे उससे घिन्न आती थी. मैं झगड़ने लगती थी....

आप कहां?

नीचे के एक अधिकारी ने विभागाध्यक्ष से शिकायत की, "इस विभाग के नब्बे प्रतिशत कर्मचारी कार्यालय समय में या तो आसपास के होटलों में बैठे गपशप करते रहते हैं या सड़कों पर मटरगश्ती..."

इस पर विभागाध्यक्ष ने प्रश्नयुक्त टिप्पणी की, "आप उस समय कहां होते हैं?" □

— कमल सोगानी

फिर वह भी सिकुड़ जाता था." कुंज उसकी बेवकूफी से हतवाक् रह गया. उसके सब्र की हद तिरमिराने लगी. उसने खौफ उगलते हुए कहा, "फिर तो उसकी कोई गलती नहीं. तुम्हीं ने उसे शक करने का मौका दिया है, पहले मुझसे कहा होता तो मैं तुम्हें यही सलाह देता कि कभी-कभार उसे भी छूट दे दिया करो."

"पर मुझे उसके चेहरे से ही नफरत होती थी. साथ सोना असंभव हो गया था."

"और अब जो चोरी पकड़ ली गयी!" सावित्री की आंखें पलभर के लिए बेसहारा हो गयीं. राख होते हुए उसने कहा, "सारी गलती मेरी ही है? आपकी कोई जिम्मेदारी नहीं थी?" कुंज को किसी ने बलात् यथार्थ के ठोस धरातल पर पटक दिया. उसका गला सूख रहा था. उसने चिंतित स्वर में पूछा, "केष्टो को यह कैसे पता चला कि दोषी मैं हूं?"

"मैंने ही उसे बता दिया है."

"तुमने?" कुंज की आंखें फटी रह गयीं.

"क्या करती! रोज-रोज यही पूछता था कि किसका बच्चा है, जानना चाहता था आपका हो सकता है या नहीं. मैं होंठ बंद किये रहती थी, इससे और बौखला जाता था, पागलों-सा मुझे झिंझोरते हुए ऐरे-गैरे का नाम लेता रहता था, फिर उसने भेद जानने के लिए मुझे मारना-पीटना शुरू कर दिया. बेरहमी से मारता था. रोज यही सिलसिला चलता रहता. आखिर मुझसे नहीं रहा गया. मैंने कल आपका नाम बता दिया."

"तुम्हारा दिमाग तो नहीं फिर गया!"

"क्यों? मैंने कोई झूठ नहीं बोला. यह हकीकत है. मेरे जीवन का सबसे बड़ा सच." सावित्री की आंखों में उबलते पानी का सोता फूट पड़ा, "मेरा तो जी चाहता है, चारों तरफ ढिंढोरा पिटवा दूं, सबको बुला-बुलाकर यह खुशखबरी सुना दूं कि आप जैसे सरताज आदमी ने मुझे अपनाया है. प्यार दिया है. कल जब वह मेरा गला दबाकर ऐंठ रहा था तब भी मेरा मन जरा भी नहीं सकुचाया. मैं बिना डरे, बिना झिझके सच्ची बात कह गयी. कहकर मुझे इतनी तृप्ति मिली कि मैं चीखी नहीं, चिल्लायी नहीं, होंठ दबाकर मार खाती रही." सावित्री के पंपड़ाये होंठों में गर्व की मुस्कान झलकने लगी. कुंज बुत बना बैठा रहा. उसकी प्रसिद्धि, लोकप्रियता उसे अंगूठा दिखा रही थी. उसकी भावमूर्ति पर कोई ढेरों कीचड़ उछाल रहा था. दो-तरफा दबाव से वह टूटता जा रहा था.

क्या सचमुच पटल बूढ़ा हो गया है! आंखें कमजोर पड़ गयीं! दिमाग सठिया गया है! वर्ना उसने रवि को कुंज कैसे समझ लिया! ऐसी गलती हुई क्यों? टार्च की रोशनी में आंखें चौंधिया गयीं. खैर, इस गलती को तो वह फिर भी माफ कर सकता था पर यह क्या बात हुई कि किसी गीदड़ की हांक सुनते ही उसके हाथ-पैर ढीले पड़ गये और वह भाग आया. हाबू की झोपड़ी में बैठा-बैठा पटल इसी उधेड़बुन में लगा हुआ था. एक तो खांसते-खांसते और बलगम थूकते उसकी जान निकली जा रही थी उसपर बुढ़ापे की चिंता अलग कचोटने लगी. जब से हरि डाक्टर गुजर गया तब से इस खांसी का कोई उपचार नहीं हो सकता. अब तो स्थिति इतनी संगीन हो चुकी है कि लगता है खांसते-खांसते ही प्राण बाहर निकलेंगे. हाय! अभी तो सारी उम्मीदें धरी हुई हैं. झाड़ग्राम वाले ममेरे ससुर का बगीचा भी खरीदना बाकी है. उस केले के बगीचे का भी कोई जवाब नहीं. पटल की जिंदगी का क्या भरोसा! अगर यह बगीचा खरीद लेता तो अभी से बीवी-बच्चों को झाड़ग्राम में बसा देता. उसकी पत्नी बासंती दुनियादारी खूब समझती है, केले का कारोबार संभाल लेगी. मगर होनी को कौन टाल सकता है! आज अगर वह कुंज को खत्म कर देता तो रेवंत उसे बगीचे की पूरी रकम तुरंत दे देता. बात तय हो चुकी थी. पटल के लिए खूनखराबा कोई मुश्किल काम नहीं. पहले भी कभी नेताओं के इशारे पर, कभी रुपयेवालों की खातिर उसने कई जगह लाशें गिरायी हैं. इसमें कोई पछतावा नहीं, अफसोस नहीं. आदमी जब देखो तब मक्खी, मच्छर, भेड़, बकरियां मारता रहता है. फिर आदमी को मारने में क्या बुराई है! वैसे भी रेवंत ने आड़े वक्त पटल की बहुत मदद की है. अब उसे भी एहसान का बोझ उतारना चाहिए. इस बीच बुढ़ापा आ गया तो वह कुछ नहीं कर पायेगा. इतनी देर से खांसते-खांसते और बलगम थूकते-थूकते पटल बिल्कुल पस्त हो गया. कमरे में दूसरी ओर कालिदास चटाई पर बैठे ताड़ी पी रहा था. नशा काफी चढ़ चुका था.वह पटल को देखकर मंद-मंद मुस्काने लगा. बोला, "ससुरा होमियोपैथी दवा न हुई कोई जादू हो गया! सच्ची, मैंने अपनी आंखों से देखा वहां...उ-त-नी दूर से कुंज ने दवा मुंह में डाली और यहां करीब सौ हाथ के फासले पर पटलवा को सांप सूंघ गया. जादूवाली दवा थी तभी तो कुंज को अपने खतरे का पता पहले से ही मिल गया था. तभी तो अपने साथ वह एक बकराक्षस ले आया था. बाप रे बाप! साले ने ताल ठोककर ऐसी हांक लगायी कि पटल जैसे आदमी की घिग्घी बांध गयी. वह उल्टे पांव भागा, इधर रेवंत बाबू की क्या हालत हुई! राम, राम! आंधी-पानी में दुम दबाकर भाग गया."

नारियल के बगीचे से निकलते ही रेवंत फिर बौछारों से घिर गया. बर्फीली हवा उसे धक्के मार-मारकर आगे को ढकेल रही थी. उसके हाथ-पैर जकड़ रहे थे. शरीर पानी से तर-बतर हो चुका था. एक-एक कदम चलना उसके लिए पहाड़ जैसा प्रतीत हो रहा था. पर वह किसी भी हालत में वहां नहीं रुक सकता. कौन जाने अंधेरे में वे उसका पीछा कर रहे हैं या नहीं! वह बार-बार पीछे मुड़कर देखता और आशंकित हो उठता था.

श्यामपुर पहुंचते-पहुंचते उसकी आधी जान निकल चुकी थी. ठंड से हाथ-पैर सुन्न पड़ गये थे. कानों का दर्द अब पूरे सिर में भौंरे की तरह मंडरा-मंडराकर भन्नाने लगा था. जैसे-तैसे पैर घसीटकर वह बाजार तक पहुंच गया. उसी हालत में तेजेन की दूकान से अपनी साइकिल निकालने लगा तो तेजेन को उस पर तरस आ गया. उसने रेवंत को रोकने की कोशिश की, "भला ऐसी हालत में कोई बाहर निकलता है? मेरी सुनो, आज रात यहीं ठहर जाओ. कल तड़के निकल जाना." पर रेवंत कुछ सुनने-समझने की स्थिति में नहीं था. उसने साइकिल उठायी. सनकी मौसम को अनदेखा करते हुए धड़ल्ले से कीचड़ के समुद्र में उतर गया. उसे खुद भी नहीं मालूम कि कैसे दो बेजान पहियों को दलदल में घसीट-घसीटकर वह अपने घर तक पहुंच गया. वह करीब अधमरा हो चुका था पर श्यामश्री के सामने अपने को संयत और सहज बनाए रखने की उसने भरसक कोशिश की. अंततः उसका प्रयास असफल हो गया. वह ज्यों ही साइकिल बरामदे पर चढ़ाने लगा, पैर लड़खड़ा गये. वह किसी तरह गिरते-गिरते बचा अंदर जाकर सबसे पहले उसने गीले कपड़े बदले, फिर भी सर्दी पकड़ गयी. वह जोर-जोर से छींकने लगा. आंख और नाक बहना भी शुरू हो गया. श्यामश्री ने अभी तक उससे एक शब्द भी नहीं कहा. वह बराबर रेवंत को देख जा रही थी. अब वह अंदर जाकर कुछ गरम कपड़े ले आयी. रेवंत को कपड़े देती हुई धीमे स्वर में बोली, "आज छत पर मत जाना, बहुत ठंड है. यहीं रजाई ओढ़कर लेटे रहो. उसने

ख्याति

एक नयी लेखिका ने प्रकाशक से पूछा, "तो क्या आप केवल ख्यातिप्राप्त लेखक-लेखिकाओं की ही पुस्तकें छापते हैं?"

"जी हां!" प्रकाशक ने जवाब दिया. लेखिका ने फिर पूछा, "पर उन्हें ख्याति मिली कैसे है?"

"हमारे प्रकाशन में उनकी पुस्तकें छपने के उपरांत." प्रकाशक ने कहा. □

— कमल सोगानी

जल्दी से फर्श का बहता पानी पोंछ दिया.

करीब एक महीने से रेवंत ने अपने सोने का अलग इंतजाम कर लिया है. वह छत की एक कोठरी में अकेला सोया करता है. श्यामश्री से इन दिनों बहुत कम ही बातचीत हुआ करती थी. वह चुपचाप निकल गयी. कुछ ही देर में रेवंत के लिए एक गिलास गरमागरम अदरक वाली चाय ले आयी. साथ में लाई-चना और भुजिया लाना भी नहीं भूली. खा-पीकर रेवंत के टूटते शरीर में कुछ दम आया. उसे विश्राम की जरूरत थी पर अंदर-ही-अंदर एक बेचैनी उसे बुरी तरह कचोट रही थी.वह ऊलजलूल विचारों में खो गया.

नक्सालों के जमाने में इस इलाके में न कोई खून-खराबा हुआ, न हंगामा. सात गांव के लोगों ने मिलकर प्रतिरक्षा वाहिनी बनायी थी और उस वाहिनी का सरताज था—कुंज. इलाके में शांति बनाए रखने की जिम्मेदारी खुद उसने अपने कंधों पर ले ली थी. वह इस इलाके के चप्पे-चप्पे से परिचित था. उन दिनों पुलिसवालों को भी अपने काम के लिए कुंज से मदद लेनी पड़ती थी. वह रात-रात भर जागकर बड़ी मुस्तैदी से गांवों की रखवाली करता था. लोग उसे निरस्त्र सेनापति समझते थे. शरीर दुर्बल और फेफड़े कमजोर होने की वजह से वह खुद साइकिल नहीं चला पाता था. रेवंत उसे अपने सामने बैठा लेता था. दोनों बोलते-बतियाते सड़कों पर साइकिल में घूमते रहते थे. आंखों पर रात बीत जाती थी. उन्हीं दिनों वे दोनों एक दूसरे के काफी करीब आ गये थे.

जब बांगला देश में मुक्ति युद्ध चल रहा था तब भी दोनों में काफी दोस्ती थी. मुक्ति युद्ध समाप्त होते ही चुनाव आ गया. कुंज की जिंदगी का वह वक्फा गलतफहमी और मनमुटाव का एक मुस्तकिल सिलसिला था. उस बार कुंज कांग्रेस की ओर से नामिनेशन पाने की उम्मीद में प्रतिष्ठित उम्मीदवार नन्नू का मुकाबला करने को तैयार हो गया. रेवंत का माथा ठनका. कुंज अपने को क्या समझता है! मान लिया उसने अपने इलाके में जबर्दस्त मोर्चाबंदी की है पर इतने से विधानसभा में पहुंच जाने की काबिलियत नहीं बनती. रेवंत ने आव देखा न ताव, धडल्ले से नन्नू के लिए प्रचार कार्य करना शुरू कर दिया. अपने तईं पूरी कोशिश करने पर भी कुंज उस बार चुनाव हार गया था.

कई बार गुजरते वक्त के साथ-साथ मन का मैल भी धुलता जाता है. कुंज और रेवंत में भी एक अनाम समझौता होने लगा था. पहले जैसी घनिष्टता तो नहीं रही पर मिलना-जुलना होता रहता था. अब कुंज पुरानी पार्टी से हटकर नयी पार्टी में आ गया था. पहले की तरह समाज सेवा का चस्का उसे अभी तक लगा हुआ था. गर्मजोशी और चुस्ती वैसी ही बनी हुई थी. भाषण, मीटिंग, चंदे की वसूली या राहत कार्यों से उसका जी कभी नहीं भरता. श्यामापुर में रेवंत के परिवारवालों का काफी बोलबाला है. रेवंत के पूर्वज जाने-माने रईस समझे जाते थे, काफी जमीन-जायदाद छोड़ गये थे. रेवंत मस्ती से राजनीति के गुलछर्रे उड़ा रहा है. बी.एस-सी. पास करने के बाद किसी स्कूल में मास्टरी करने गया था. जी नहीं लगा तो निकल आया. तब से खाली दिमाग शैतान का घर बना हुआ है. शाम होते ही हाबू की झोपड़ी याद आ जाती है. वहां नशे के साथ-साथ रतना यानी रातरानी भी मिल जाया करती है. रतना हाबू की बीवी है और ग्राहकों की खास चहेती. मुंह फट नौजवानों ने उसका असली नाम बिगाड़कर रातरानी रख दिया है.

एक रात जब रेवंत हाबू की झोपड़ी में रतना के संग रंगरलियां मना रहा था, तभी कुंज का दल-बल वहां छापा मारने पहुंच गया. कुंज ने अंदर घुसकर रेवंत को हौले से पिछवाड़े की ओर खदेड़ दिया था, दबे स्वर में कहा था, "जा.... निकल जा.... फिर कभी भूलकर भी इस तरफ मत आना!" रेवंत दुम दबाकर भाग गया था. कुछ दिनों तक शर्म से घर के बाहर भी नहीं निकला. कुंज उन दिनों बड़े जोर-शोर से बदमाशों का डेरा उखाड़ने में लगा हुआ था. कुछ दिनों बाद जब फिर श्यामपुर में रेवंत की उससे मुलाकात हुई तो उसने समझाने के तौर पर रेवंत से कहा था, "सत्यबाबू की बेटी श्यामश्री बहुत नेक लड़की है, तुम्हीं लोगों की जात-बिरादरी की है, ऐसा अच्छा रिश्ता नहीं मिलेगा... सोच लो." वह रेवंत पहले से ही शर्मिंदा था. क्या कहता! वह इसे भी कुंज की एक चालबाजी समझ रहा था. हो न हो वह रेवंत को फंसाना चाहता है. कुंज भी इतनी आसानी से रेवंत को कैसे छोड़ देता! उसने रेवंत के घरवालों से बातचीत की. समझा-बुझाकर यह रिश्ता मंजूर करवा लिया.

श्यामश्री ने रेवंत को कभी भी हृदय से स्वीकार नहीं किया. अपने लायक भी नहीं समझा. कहां श्यामा जैसी गुणवंती लड़की, कहां रेवंत जैसा भुच्च गंवार आदमी! सुन-सुनकर अब रेवंत का मन भी कसैला हो गया है. उसने भी श्यामा से पूरी तरह मुंह मोड़ लिया है. वैसे रेवंत को श्यामश्री की शक्ल-सूरत से कोई शिकायत नहीं. वह भी बन्नो की तरह सांवली-सलोनी है, यौवन की कांति से खिली हुई है. बातचीत भी ढंग से करना जानती है, पर रेवंत को उसका दंभ और अभिमान फूटी आंखों नहीं सुहाता. विधाता ने ऐसे कोमल शरीर में इतना कठोर हृदय कैसे बना दिया?

अगर बन्नो न मिली होती तो अपनी शादी से रेवंत को घाटा-ही-घाटा नजर आता. सच, बन्नो क्या मिल गयी, रेवंत के अंधेरे हृदय के कोने-कोने में रोशनी फैल गयी. बन्नो दिन-रात, हर पल सांस में बसी खुशबू की तरह उसके संग लिपटी रहती है. यह दिखाई पड़ने वाली चीज नहीं है, एक तरह की खुमारी है जिसमें रेवंत डूबा हुआ है. उसकी कल्पना में बन्नो सजीव रूप धारण कर आ जाती है. रेवंत उससे घंटों प्यार भरी बातें करता, मनुहार करता फिर एकदम से बेचैन हो उठता है. जब यह स्थिति असहनीय होने लगती है तभी वह हाबू की झोपड़ी में चला जाता है. रातरानी उसके जख्मों को भर देती है. अब उसे लोक लाज की भी चिंता नहीं रही. कुंज का समाज सेवा दल टूट चुका है. अब किसी हल्ले की आशंका भी नहीं रही. वनश्री के प्रति रेवंत का यह छिपा-प्यार भी एक दिन अकस्मात् कुंज के सामने प्रकट हो गया. उस दिन रेवंत नशे में धुत्त पड़ा हुआ था. रात ढलने लगी थी पर वह घर जाने की स्थिति में नहीं था. तभी कुंज वहां से गुजरा. उसे दूसरों का उपकार करने में बड़ा लुत्फ आता है. उसने रेवंत को घर पहुंचाने की जिम्मेदारी स्वेच्छा से ली थी. सुनसान रास्ते पर रिक्शे में कुंज को अपने साथ बैठा देख रेवंत का खून खौलने लगा. एकाएक उसका नशा उतर गया था. मन के अंदर दबा हुआ आक्रोश क्रुद्ध सर्प की तरह फुफकार रहा था—"आज मैं तुझे जिंदा नहीं छोड़ूंगा! किसने तुझे दलाली करने का ठेका दिया है—बोल! क्यों तूने मेरी जिंदगी बर्बाद कर दी, क्यों!" वह पागलों की तरह चीख रहा था.

रेवंत चाहता तो उसी वहशीपन के दौर में वह कुंज का कत्ल कर सकता था. उसने धक्के मारकर कुंज को गिराने की कोशिश भी की थी, पर कुंज संभल गया था. रेवंत ने लपककर कुंज का गला दबोच लिया था. उसका सीना आग उगल रहा था—"बोल, क्यों तूने श्यामा को मेरे गले

में बांध दिया था, ऐं! कान खोलकर सुन ले, मैं उस सिरफिरी औरत से नफरत करता हूं! मैं उसे मार डालूंगा! हां, फिर मैं बन्नो से शादी कर लूंगा!" इस तरह नशे में ही उसके दिल की बात होंठों पर आ गयी थी. कुंज सब कुछ जान गया था.

रेवंत कुंज का स्वभाव अच्छी तरह जानता है. कुंज इतने छिछले किस्म का आदमी नहीं है कि रेवंत और बन्नो के बारे में लोगों से कहता फिरेगा. मगर इस बात का रेवंत को गहरा अफसोस है कि उसने कुंज के सामने अपना दिल खोलकर रख दिया. अब तो उसके सामने मुंह दिखाना मुश्किल हो गया.

तेज हवा का एक झोंका आया. बाहर रखी हुई रेवंत की साइकिल झनझनाकर गिर गयी. यह साइकिल उसे दहेज में मिली है, काफी मंहगी है. रेवंत काफी देर से रजाई ओढ़कर बैठा हुआ है. कान दर्द से फटा जा रहा है. साइकिल की आवाज से भी उठने की इच्छा नहीं हुई. शादी में रेवंत को सत्यबाबू ने काफी चीजें दी थीं. इस कमरे की छोटी-बड़ी सभी चीजें उन्हीं की दी हुई हैं. इस बात का खयाल आते ही रेवंत का जी मिचलाने लगा. एक-एक चीज घिनौनी और गलीच प्रतीत होने लगी. कमरे में बैठे रहना भी मुश्किल हो गया. वह तड़ित् वेग से उठकर बरामदे में आ गया. वहां श्यामश्री को अपने सामने देख वह एक पल को ठिठका फिर निहायत रूखेपन से बोले, "छत में जा रहा हूं... नीचे का दरवाजा बंद कर दो!" श्यामश्री इस पर जरा भी ध्यान दिये बिना कठोर स्वर में पूछ बैठी, "आज दोपहर को तुम हमारे घर गये थे?"

"हां, गया था, क्यों?"

"मर्दों का यों बार-बार ससुराल जाना अच्छा नहीं समझा जाता." रेवंत पर जैसे शब्दों के कोड़े पड़ रहे थे. उसने मुश्किल से गुस्सा दबाते हुए पूछा, "तुम्हें कोई तकलीफ होती है?"

"हां, होती है." श्यामश्री जरा भी उत्तेजित नहीं हुई, हमेशा की तरह ठंडे और कड़े स्वर में वार करती गयी, "आज शुभ यह पता लगाने आया था कि हम दोनों के बीच क्या अनबन हुई है. मैं नहीं चाहती कि यहां की हर बात वहां तक पहुंच जाये, ये हमारा निजी मामला है, पर उन्हें तुम्हारे रंग-ढंग से शक हो गया है. कम-से-कम घर का कीचड़ ससुराल में ले जाकर मत उछाला करो!" रेवंत भीतर से डगमगाकर रह गया. बाहर से अकड़कर बोला, "उनके समझने, न समझने से मेरा कुछ नहीं बिगड़ता!"

"सो मैं जानती हूं पर हर कोई तुम्हारे जैसा निर्लज्ज नहीं होता." मुझे यह सब बुरा लगता है. आखिर तुम उस घर के जमाई हो, बिना बुलाये वहां तुम्हारा बार-बार जाना अच्छा नहीं लगता, अपनी इज्जत बिगड़ती है." एक शिक्षिका की तरह शांत-संयत स्वर में श्यामश्री रेवंत को समझाने की कोशिश कर रही थी. श्यामश्री की तीखी बातों से बारूद के ढेर में जैसे चिंगारी पड़ जाती है. रेवंत के मन में एक भयानक विस्फोट-सा होता है. कोई उसके अंदर पागलों की तरह चीख-चीखकर कहता है, "रेवंत, दबो मत, इस औरत पर वार करो, बदला लो!" रेवंत मुठ्ठी भींच लेता है. आंखों में खून उतर आता है. अगर ऐसी ही घृणा, ऐसा ही आक्रोश आज कुंज को मारते समय दिल में समाया होता तो कुंज की लाश गिर जाती. वह कामयाब हो जाता. रेवंत ने एक झटके से श्यामश्री को कमरे के अंदर खींच लिया. वह गिरते-गिरते संभल गयी. कपड़े अस्त-व्यस्त हो गये. उसने घोर आश्चर्य से रेवंत की ओर देखा. रेवंत का चेहरा तमतमा रहा था. आंखों में वहशी किस्म की चमक थी. श्यामश्री गांधीजी के आदर्शों पर पली है. वह पिटने से नहीं डरती. रेवंत को आगे बढ़ते देख भी वह अपनी जगह से नहीं हटी. रेवंत अब खूंखार जानवर की तरह उस पर झपट पड़ा. वह भूखे भेड़िये की तरह श्यामा के कोमल अवयवों को पैने दांतों से काटने-दबोचने लगा. श्यामश्री के होंठों, उरोजों और गले से खून की धार निकल आयी. वह प्रचंड यंत्रणा को अपने अंदर सोखने की कोशिश कर रही थी. दरवाजा खुला पड़ा था. चीखने-चिल्लाने से कोई आ जाता तो वह कहीं की नहीं रहती. उसके शरीर पर गुजरते तूफान का एक-एक झटका उसके लिए असहनीय प्रतीत हो रहा था. वह महसूस रही थी रेवंत के शरीर में जरा भी कामना की उत्तेजना नहीं, सिर्फ बलात्कार का आक्रोश उफन रहा है. अंग-संचालन में आवेग नहीं, संभोग की आकुलता नहीं, सिर्फ एक वहशीपन है. श्यामा का दम घुटने लगा, आंखें उलट गयीं. उसके गले से एक अमानवीय आवाज निकली, "मार डालो मुझे!... इससे तो मौत ही अच्छी." रेवंत ने उसके होंठों को निर्ममता से कुचल दिया. बाहर तूफानी हवा का तांडव उसी प्रकार चल रहा था. खुला दरवाजा स्तब्ध-सा अंदर-बाहर की तबाही देख रहा था. श्यामश्री को पूरी तरह विध्वस्त कर जब रेवंत उठ बैठा तो उसके पैरों में झुरझुरी चढ़ गयी थी. श्यामश्री आम लड़कियों की तरह भावुक या कमजोर नहीं थी. इस कदर कुचले जाने के बावजूद वह रेवंत के सामने टूटना या झुकना नहीं चाहती थी. चेहरे पर छितरे बालों को जैसे-तैसे हटाकर उसने जलती निगाह से रेवंत को देखा. उन आंखों से नफरत की ज्वाला फूट रही थी. रेवंत परेशान हो गया. श्यामश्री अपने जिगरे के जोर से किसी तरह उठकर बैठ गयी. कांपते हाथों से जख्मी शरीर पर कपड़ा लपेट लिया. रेवंत ने दरवाजे की ओर बढ़ते हुए कहा, "मैं जा रहा हूं!"

"क्यों? दिखा चुके मर्दानगी! बस! लानत है ऐसे मर्द पर जो एक औरत को भी तृप्त नहीं कर पाता!" श्यामा की जली-कटी बातों से रेवंत के तन-बदन में आग लग गयी. श्यामश्री के जख्मी होंठों में व्यंग्य की मुस्कान उभर आयी थी. रेवंत को लगा, अब वह अपने को नहीं रोक पायेगा और लपककर श्यामश्री का गला दबा देगा. इस हादसे को टालने के लिए वह तेज कदम कमरे से बाहर निकल गया. तूफानी हवा उसी तरह सांय-सांय किये जा रही थी. छत की सीढ़ियों पर चढ़ते-चढ़ते रेवंत ने देखा, श्यामश्री ने दरवाजा बंद कर दिया है.

आधी रात को आसमान साफ हो गया और चारों तरफ मटमैली-सी चांदनी बिखर गयी. छतों, दीवारों और पेड़ों के पत्तों से पानी की बूंदें टप्प-टप्प गिरती जा रही हैं. यही एक आवाज सन्नाटे को सहनीय बनाये हुए है वर्ना निस्तब्धता से दम घुटने लगता. ठंड पहले से भी तीव्र हो गयी है. कंबल से अच्छी तरह मुंह ढककर भी राजू ठिठुरने लगता है. सोचते-सोचते ही उसने देखा, दरवाजे पर एक आदमी खड़ा है, वह होंठ हिला-हिलाकर कुछ कह भी रहा है. राजू कुछ पहचानने या समझने की स्थिति में नहीं है. दरवाजे पर खड़ी आकृति अब उसके पास आ गयी है. एक परिचित आवाज काफी देर से उसके कानों से टकरा रही है लेकिन उस पर कोई प्रतिक्रिया नहीं. न जाने कब तक वह इसी तरह बोध-शून्य हालत में ऊंघता रहा. अचानक एक झटका-सा लगा. वह आश्चर्य से इधर-उधर देखने लगा. कुंज ने मुस्कराते हुए कहा, "नींद आ गयी है. जा, अंदर जाकर सो जा!" राजू ने कोई जवाब नहीं दिया. वह अब भी नीम बेहोशी में हिचकोले भर रहा था. उसने देखा, कुंज के हाथ में कोई चीज है. क्या है? वह पहचान गया, यह 'हॉट-वाटर-बैग'

रेवंत चाहता तो उसी वहशीपन के दौर में वह कुंज का कत्ल कर सकता था. उसने धक्के मारकर कुंज को गिराने की कोशिश भी की थी, पर कुंज संभल गया था.

है. कुंज बत्ती के पास खड़ा था, बैग को दबा-दबाकर देख रहा था. उसने राजू से कहा, ''बैग बहुत पुराना हो गया है, जरा देख तो सही, इससे काम चलेगा या नहीं?''

राजू ने घुमा-फिराकर बैग देखा, कहा, ''इसका रबड़ गल गया है, पानी नहीं ठहरेगा.''

''फिर तो किसी से मांगना पड़ेगा.'' कुंज ने चिंतित होकर कहा. राजू अब पूरी तरह होश में आ गया था. उसने उद्विग्न होकर पूछा, ''केष्टो की बीवी अब कैसी है?''

''कुछ ठीक है... मैं चलूं... कहीं से बैग लाना पड़ेगा.'' कुंज टूशी को अपने साथ लेकर बैग लाने निकला तो राजू ने कहा, ''चलो, मैं भी चलता हूं.'' वे तीनों बाहर निकल गये. कुंज टार्च लेकर आगे-आगे चल रहा था. बीच में टूशी और पीछे राजू. कीचड़ की वजह से काफी सम्हलकर चलना पड़ रहा था. जगह-जगह खड्डों में पानी भरा हुआ था. मटमैली चांदनी में ऊंघते घर-बार, पेड़-पौधे बड़े ही रहस्यमय प्रतीत हो रहे थे. कुहरे के कारण चांदनी भी धूसर प्रतीत हो रही थी. राजू के मन में जाने कैसा आतंक समा गया. लगा कि वह निपट अकेला है, कोई उसका पीछा कर रहा है. उसने भयभीत होकर पुकारा, ''कुंज!''

कुंज ने टार्च घुमाकर पीछे देखा, ''क्या बात है! तू इतना पीछे रह गया है! चलने में तकलीफ तो नहीं हो रही है?'' कुंज उसके लिए ठहर गया. राजू को इन दिनों असलियत छिपाने की आदत पड़ गसी है, उसने बात टालते हुए कहा, ''नहीं, रास्ते में फिसलन है न! फिर कीचड़ में चलने की आदत भी नहीं है.''

''फिर तो आपको बहुत तकलीफ हो रही है राजूदा! आपको इस कीचड़ में नहीं आना था.'' टूशी की अंतरंगता राजू को बहुत अच्छी लगी. महज औपचारिक्ता निभाने के लिए उसने टूशी से कहा, ''नहीं, मुझे कोई तकलीफ नहीं हो रही है. आने का मन किया इसलिए आ गया.''

''बस, अब तो पहुंच ही गये हैं.'' कहते-कहते कुंज ने सामने की ओर टार्च की रोशनी फेंकी तो एक मकान का अहाता और बरामदे का कुछ हिस्सा साफ दिखाई पड़ा. गौर से देखते ही राजू यह मकान पहचान गया. हां, इसी मकान में एक प्यारे-से नामवाली मीठी-सी लड़की रहती है—वनश्री. इस नाम से ही राजू की धड़कन तेज हो गयी.

टूशी बरामदे में चढ़कर दरवाजा खटखटाती है और जोर से आवाज लगाती है, ''मौसीजी! मौसीजी! अरी ओ बन्नो!.... चीरू! कोई है!'' इस आवाज से सबसे पहले बन्नो की नींद टूटी. वह टूशी की आवाज पहचान गयी थी पर आधी रात को अचानक दरवाजा खोलना ठीक नहीं होता. वह थोड़ी देर ठहर गयी. उसे उठते देख सविताश्री की भी नींद खुल गयी. उन्होंने पूछा, ''क्या बात है बन्नो! कौन बुला रहा है?'' तभी बाहर से टूशी ने फिर आवाज लगायी, ''मौसीजी, मैं टूशी हूं, भाभी बहुत बीमार है, मैं गरम पानी का बैग लेने आयी हूं.''

''हां, हां अभी आयी,'' कहती हुई सविताश्री हड़बड़ाकर उठने लगीं तो वनश्री ने उन्हें रोकते हुए कहा, ''मैं जा रही हूं, तुम्हें उठने की जरूरत नहीं. तुम लेटी रहो.''

''पहले उससे यह तो पूछ कि साबी का क्या हुआ है.'' सविताश्री काफी चिंतित प्रतीत हुई. वनश्री ने उठकर दरवाजा खोल दिया. हल्की-हल्की चांदनी में उसने देखा, टूशी के पीछे कुंज और राजू भी हैं. वह जरा सकुचाकर पीछे हट गयी. किवाड़ की आड़ से बोली, ''क्या बात है टूशी? भाभी को क्या हुआ है?''

''क्या बताऊं! बारिश में आंगन पार करते वक्त भाभी के पैर फिसल गये, ऐसी गिरी कि पूछो मत, काफी चोट आयी है.'' टूशी बेझिझक झूठ बोल गयी.

वनश्री को गहरी चिंता हुई, उसने व्यथित स्वर में कहा, ''साबी के तो दिन चढ़े हैं!''

''हां, यही तो परेशानी है. क्या पता इस बार ठहरेगा या नहीं!''

''मैं अभी बैग ला रही हूं.'' वनश्री भागती हुई अंदर चली गयी. वे तीनों बैग लेकर चले गये तो उदास वनश्री कुछ देर तक दरवाजे पर ही खड़ी रह गयी. ऐसी मायावी चांदनी उसने कभी नहीं देखी थी.

रूह कंपानेवाली ठंडक ने वनश्री की उत्तेजना सोख ली थी. वह बार-बार यही सोचती कि राजू उसके संग क्यों आया था! कुंज और राजू इस कदर चिंतित और परेशान क्यों दिख रहे थे!

पौ फटते ही पेड़ों के माथे पर नर्म धूप की चादर फैलने लगी. हर रोज इसी वक्त वनश्री की दिनचर्या शुरू होती है. नित्यकर्म से निवृत्त होकर जब वह बरामदे में आयी तो चारों तरफ उजाला फैल गया था. वह बरामदे की सीढ़ियों पर बैठकर अपने खुले बालों को उंगलियों से सहलाने लगी. मन में उदासी के बुलबुले से उठ रहे थे. चिंतन के पहलू में कई-कई सवाल उभर रहे थे. यह आवाज भी बन्नो को बहुत नीरस और उबाऊ प्रतीत हो रही थी. वह खीझकर बगीचे के उस पार चली गयी. उसे सुस्ती-सी महसूस हो रही थी. एकांत में रहने की इच्छा हो रही थी. अचानक साइकिल की आवाज से बन्नो ने पीछे मुड़कर देखा, रेवंत खूब सजधजकर फाटक से घुस रहा है. उसका साफ-सुथरा चेहरा बेहद आकर्षक प्रतीत हो रहा है. पर वह कुछ उदास-सा लग रहा है. इतनी सुबह उसे आते देख बन्नो को कुछ अजीब-सा लगा. रेवंत सीधे बरामदे की ओर जा रहा था. तभी बन्नो ने पीछे से आवाज लगायी, ''रेवंतदा!'' रेवंत की साइकिल डगमगा गयी. वह गिरते-गिरते बचा. पैरों से जमीन पर टेक लगाकर उसने पीछे की ओर देखा. वनश्री ने मुस्कराकर पूछा, ''इतनी सुबह-सुबह!'' रेवंत करीब आ गया था. उसने जबर्जस्ती होंठों पर मुस्कराहट लाने की कोशिश की. वनश्री ने मजाक के तौर पर हंसते हुए कहा, ''आज तो बिल्कुल जमाई बाबू बनकर आये हैं. किसी की नजर न लग जाये.''

रेवंत के गोरे-मुखड़े पर लाली फैल गयी. जुकाम हो जाने से उसकी आवाज खुश्क हो गयी थी. किसी तरह खांसी दबाते हुए उसने कहा, ''मैं एक बात पूछने आया था...'' वनश्री को लगा कि दाल में कुछ काला है तभी तो अंदर उफनता हुआ तनाव रेवंत के चेहरे पर बिछल रहा है. परिवेश को हल्का बनाने के लिए वनश्री ने अपने स्वाभाविक भोलेपन से कहा, ''कहिए न! क्या बात है?''

''यह बताओ कि मेरा यहां आना श्यामा को इतना बुरा क्यों लगता है?''

वनश्री ने आश्चर्य प्रकट करते हुए कहा, ''अच्छा, तो फिर दोनों में झगड़ा हो गया?''

''क्या करूं! बात-बात में मुझे जलील करने पर तुली रहती है. बन्नो, तुम बुरा मत मानना, तुम सभी बहनें बहुत तेज मिजाज वाली हो.''

''हो सकता है. मगर आप भी किसी से कम नहीं हैं. कल दोपहर को आपने कैसा बर्ताव किया था, भूल गये?'' वनश्री ने अपने छितरे बालों को एक झटके से परे हटा दिया. आवेग की तीव्रता से रेवंत का चेहरा तमतमाने लगा. उसने कांपते स्वर में कहा, ''बन्नो! तुम्हीं बताओ, मैं यहां आये बिना कैसे रह सकता हूं! मैं मजबूर हूं. बन्नो, तुमसे मुझे एक बहुत जरूरी बात कहनी है. एकदम निजी बात, फिर किसी दिन कहूंगा.''

''हां, जरूर कहियेगा.'' वनश्री किसी नशे में डूब गयी थी. वह मुग्ध नेत्रों से रेवंत को देख रही थी.

करवट बदलते ही एक झटका-सा लगा और राजू की आंख खुल गयी. तंद्रा का आवेश अभी तक बना हुआ था. पराये-घर में इतनी देर तक सोये रहना कितना बुरा लगता है. वह बेहद शर्मिंदा हो जाता है. कुंज को सुबह उठने की आदत है. वह कब का निकल चुका है. राजू भी झटपट उठकर बैठ गया. सपनों की दुनिया से यथार्थ की ठोस धरातल पर उतरने में काफी वक्त लग गया. कमरे से निकलते ही उसने देखा, हमेशा की तरह उजली धूप निकल आयी है. लोग इधर-उधर अपने दैनिक कार्यों में उलझे हुए हैं. यही तो उसकी जानी-पहचानी दुनिया है. आजकल उसके मन में हमेशा एक संघर्ष चलता रहता है, वह अक्सर मोहाविष्ट बना रहता है, इस दुनिया के राग-रंग में शामिल नहीं हो पाता. कटा-कटा-सा रहता है. अजीब-अजीब-सी कल्पनाएं, रूमानी भावनाएं उसे भरमाए रहती हैं. वह ख़यालों में डूबा-डूबा आगे बढ़ा. कुछ दूर जाते ही फिर वनश्री से उसकी मुलाकात हो गयी. वह केष्टो के कमरे के पास खड़ी टूशी से बात कर रही थी. उसने एक बहुत ही कलात्मक ढीलाढाला जूड़ा बना लिया था. सुबह की नर्म धूप से उसका चेहरा खिला-खिला-सा प्रतीत हो रहा था. राजू उसे अपलक देखता रह गया. नहीं, उसके मन में कोई कामना या खास तरह की चाह नहीं उपजी थी.

"अरे राजूदा! आप उठ गये!" टूशी उसे देखकर चहचहाने लगी.

"ठहरिये, मैं अभी आपके लिए मंजन ला रही हूं." वह फुदककर अंदर चली गयी. वनश्री ने राजू को कनखियों से देखा तो राजू को लगा, आंगन में पसरी हुई शून्यता भी आबाद हो गयी. उसकी सत्ता ही समस्त रिक्तता को पूर्ण किये दे रही थी. राजू ने वनश्री की आंखों में एक खास तरह की मुग्धता देखी, उसे लगा यह लड़की किसी से मुहब्बत करती है पर वह इतनी उदास और क्लांत क्यों बनी हुई है! जैसे राजू उसे देख रहा था और उसके मन को समझने की कोशिश कर रहा था. उसी तरह वनश्री भी राजू को भेदिया निगाह से देख रही थी. किसी ने कोई बात नहीं की. उदासी दोनों के चेहरों पर झलक रही थी. कुछ सोचती हुई बन्नो धीरे-धीरे आंगन पार कर अंदर की ओर चली गयी.

टूशी एक सफेद मंजन की शीशी ले आयी. इसे राजू के सामने रखती हुई बोली, "लीजिए, आप मुंह धोइए, मैं चाय ला रही हूं." वह फिर आंखों से ओझल हो गयी. राजू के लिए रोजमर्रा का यह सब काम जैसे सिरदर्द बन गया. हर दिन मुंह धोना, दिशा फिराकत को जाना, नहाना... धत्तेरे की, राजू इन सबसे बेहद ऊब गया है.

बाहरी हिस्से में एक अलग कमरा बना हुआ है, यही कुंज का दवाखाना है. मौसम साफ हो चुका देख राजू अकेले ही घूमने जा रहा था. बाहर निकलने से पहले वह कुंज के दवाखाने के सामने पलभर को ठहर गया. अंदर कुछ लोग बैठकर गपशाप कर रहे थे. कुंज मेज पर झुककर ध्यान से होमियोपैथी दवा की पुड़िया बना रहा था, वहीं से उसने राजू को देख लिया. मुस्कराते हुए कहा, "उठ गया तू? बैठ थोड़ी देर, मैं आ रहा हूं."

"मैं जरा घूमकर आ रहा हूं." राजू ने हावभाव से व्यस्तता दिखलायी तो कुंज ने सिर हिलाकर स्वीकृति दे दी. चलने से पहले राजू ने फिर कुंज को ध्यान से देखा तो अचंभे में पड़ गया. उसके अंदर खतरे की घंटी टनटनाने लगी. राजू ने बिल्कुल साफ-साफ देखा, वहां कुंज नहीं, एक मुर्दा शरीर लटका हुआ था. चेहरा रक्तशून्य और निर्जीव, आंखें उलटी हुईं. होंठ मरियल सफेद. लगता था, चमड़ी के नीचे उसका खून भी जमकर ठंडा हो गया है.

राजू बेहद घबरा गया. क्या कुंज की जान सचमुच खतरे में है! क्या वह जल्दी ही मारा जायेगा! सोच-सोचकर राजू को बेचैनी-सी होने लगी. सारी सृष्टि उजली धूप में हंसती हुई नजर आ रही थी मगर राजू का मन बिगड़े मौसम की तरह उदास और बोझिल हो उठा. चारों तरफ गजब की हरियाली छायी हुई थी, कल रात की भीषणता का कहीं नामो-निशान नहीं था. फिर भी मन चंचल और आशंकित होने के कारण राजू को सब फीका-फीका ही लग रहा था. आजकल वह अपनी अंतर्दृष्टि से बहुत कुछ देख सकता है पर सबका अर्थ नहीं समझ पाता. वह मन ही मन आज के देखे हुए दृश्य का विश्लेषण करते हुए चल रहा था. रास्ते के मोड़ पर आते ही वह ठिठक गया. दायें-बायें दो रास्ते निकल गये हैं. वह किधर जाये! क्या करे! अजीब दुविधा है. तभी उसने गौर किया, दायीं ओर का रास्ता बिल्कुल सुनसान है, किनारे-किनारे छायादार पेड़ लगे हुए हैं. उसे यही रास्ता पसंद आया. कुछ दूर जाकर एक बांस के झुरमुट के सामने वह ठहर गया. उसके अंदर एक विचित्र अनुभूति जागने लगी. उसने महसूस किया, धीरे-धीरे उसकी सत्ता मिटती जा रही है, वह आदमी से जानवर बनता जा रहा है. उसके पीछे भी एक दुम निकल आयी है और उसके कान लंबे-लंबे हो गये हैं. अब वह कुत्ते की आंखों से दुनिया को देख रहा है. ऐसी स्थिति में संसार के रूप-रंग का उसके लिए कोई अर्थ नहीं रहा. वह सिर्फ गंध पहचान सकता है. अब वह आगे-पीछे की बातें सोच भी नहीं सकता. हां, इतना उसे जरूर याद है कि रास्ते में कई दुश्मन मिल सकते हैं, उनसे सावधान रहना है.

कुछ दूर जाकर राजू को फिर रुक जाना पड़ा. यहां पगडंडी दो हिस्सों में बंट गयी है. उसने वहां की जमीन को अच्छी तरह सूंघ-सूंघकर देखा. वह परिचित गंध अब पास के ही एक मकान से आ रही थी. मकान के सामने वाले हिस्से में एक बगीचा था. वह गंध का अनुसरण करते हुए फाटक से अंदर घुस गया. बगीचे में एक जगह गंध बहुत तीव्र प्रतीत हुई, उसी जगह एक लड़की घुटनों पर सिर टिकाए बैठी हुई थी. वह किसी गहन चिंता में डूबी हुई थी. शायद अपना ही मन टटोलकर देख रही थी. राजू ने महसूस किया, इसी लड़की के शरीर से गंध निकल रही है. एक तीव्र और मादक गंध.वह उस लड़की के ऐन सामने खड़ा हो गया. वनश्री जरा भी नहीं चौंकी. उसने धीरे-धीरे सिर उठाकर देखा. वह जैसे किसी सपने की दुनिया में खोयी हुई थी. यथार्थ को पकड़ने में कुछ देर हुई. तब तक राजू भी अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ गया. कुत्ते की अनुभूति करीब-करीब चली गयी.

वनश्री उठकर खड़ी हो गयी. उसने कोमल स्वर में कहा, "आप!"

राजू को कहां मालूम था कि इतनी देर से जिस गंध का पीछा करते हुए वह यहां तक आया है उसका आधार है—वनश्री. राजू के मन में सवालों बुलबुले उठने लगे. आखिर वह इस गंध से आकृष्ट क्यों हुआ! अब इस लड़की से राजू क्या कहे! कैसी बातें करे! अब तो वह बोध शून्य नहीं रहा, उसके मन में विचारों की कड़ियां फिर से जुड़ने लगी है. उसने चारों तरफ निगाह दौड़ाते हुए कहा, "आप लोगों का बगीचा काफी बड़ा है. मैं यों ही घूमने निकला था फिर अचानक यह बगीचा दिख गया तो अपने को रोक नहीं सका, चला आया."

"टूशी बता रही थी, कल सारी रात आप लोग जागते रहे." वनश्री उसे आत्मीयता से देख रही थी. राजू भूल गया कि टूशी कौन है, कल रात वाली घटना उसके दिमाग से करीब-करीब निकल चुकी थी. उसने महज बातों का
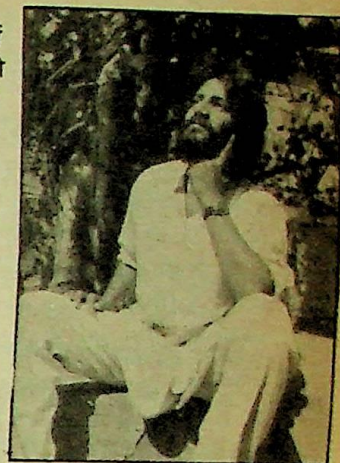
वह अपनी जगह से नहीं हटी. रेवंत अब खूंखार जानवर की तरह उस पर झपट पड़ा. वह भूखे भेड़िये की तरह श्यामा के कोमल अवयवों को पैने दांतों से काटने-दबोचने लगा.

सिलसिला जारी रखने के लिए कहा, "हां, बड़ी मुश्किल से रात बीत पायी, यों भी अंधेरा बहुत मनहूस हुआ करता है. बिताए नहीं बीतता. मन उजली धूप के लिए तरसता रहता है."

"यहां आकर आपकी अच्छी-खासी मुसीबत हो गयी." वनश्री के स्वर से अंतरंगता प्रकट हो रही थी. सुबह राजू ने जब इस लड़की को देखा था तब उसकी चेतना पर बिल्ली की अनुभूति मंडरा रही थी. वह कुछ देर तक यों ही वनश्री को देखता रहा, सोचता रहा फिर उसने धीमे से कहा, "मैं चलता हूं."

उठने की कोशिश करते ही कुंज को चक्कर आ गया. बड़ी मुश्किल से टेबुल का सहारा लेकर उसने अपने को सम्हाल लिया. सांस लेने में भी तकलीफ हो रही थी. सीने में एक अस्पष्ट-सा दर्द उभर रहा था. उसे पता है, सावित्री के बाबूजी आ गये हैं. चाहते हुए भी अंदर जाने में उसे संकोच हो रहा था. दिन के उजाले में परिचित लोगों की सूरत से और उनकी बातचीत से कुंज के तन-बदन में जैसे आग लग रही थी. वह किसी निर्जन स्थान में बैठे रहने के लिए या बहुत दूर कहीं चले जाने के लिए तरसने लगा. मजबूरी क्या नहीं करवाती! दवाखाने में ताला लगाकर कुंज धीरे-धीरे अंदर की ओर जाने लगा. आंगन में अभी तक बारिश का पानी भरा हुआ था. सम्हलकर चलना पड़ा रहा था. उसने देखा, सावित्री के कमरे में अच्छी-खासी भीड़ लगी है. सावित्री के पिता बिस्तर के पास एक कुर्सी पर बैठे हुए हैं. उन्हें घेरकर घर की तमाम औरतें एक साथ उतावलेपन से बोलती जा रही हैं. कुंज चुपचाप सबके पीछे जाकर खड़ा हो गया. काफी देर तक उसने किसी तरफ निगाह उठाकर देखा तक नहीं और जब देखा तो आंखें उसी से टकरा गयीं जिससे वह कन्नी काट रहा था. भीड़भाड़ में भी सावित्री सबकी नजर बचाकर सीधे उसी को देख रही थी. उसके रक्तशून्य रुग्ण चेहरे पर किसी ने घड़ों स्याही उड़ेल दी थी, फिर भी वह अपनी बची-खुची शक्ति समेटकर कुंज को एकटक देख रही थी. उस दृष्टि में न तो संकोच था, ना ही घृणा या अपराध की भावना थी. इतने बड़े संकट में भी उसने कुंज से कोई शिकायत नहीं की, हमदर्दी नहीं मांगी.

सावित्री को इस तरह घूरते देख कुंज को आश्चर्य तो नहीं हुआ पर उसका जोश बिल्कुल ठंडा पड़ गया. वह महसूसने लगा, प्यार के रिश्ते बहुत खतरनाक हुआ करते हैं. उसका दम घुट रहा था. वह कमरे से बाहर निकल गया. सावित्री के पिता भी उसके पीछे-पीछे निकल आये. कुंज के अंदर एक सिहरन-सी दौड़ गयी. कुछ-कुछ डर भी लग रहा था. क्या पता अर्धचेतना की स्थिति में सावित्री ने अपने बाबूजी से सब कुछ बता दिया हो! कुंज ने कनखियों से उन्हें देखा. नहीं, ऐसी कोई उत्तेजना या द्वेषभावना नहीं झलक रही थी. हां, चिंता से भौंहें जरा सिकुड़ी हुई थीं. बरामदा पार करते समय उन्होंने कहा, "सावी को मैं ले जाना चाहता था, पर उसकी मां बहुत बीमार है, वहां इसकी देखभाल कैसे होगी! यहां तो तुम सब हो...."

"आप ले जाते तो उसे कुछ तसल्ली हो जाती." कुंज बहुत कमजोर पड़ता जा रहा था.

"मैंने सुना है, मेरे दो छात्र बता रहे थे, उन्होंने केष्टो को ट्रेन में चढ़ते देखा है. शायद वह कलकत्ता भाग रहा था. मुझे देर से खबर मिली वर्ना मैं जरूर पकड़कर ले आता." कुंज के दिमाग में अब एक ही शब्द मंडराने लगा, 'भाग गया!', 'केष्टो भाग भाग!' उसके सीने से एक भारी पत्थर उतर गया. चलो, कुछ दिनों के लिए राहत मिली. अगर वह सामने न आये तो कुंज की नींव उतनी कमजोर नहीं पड़ेगी. वह उखड़ने से बच जायेगा. अगले ही क्षण कुंज फिर निराशा से ग्रस्त हो गया. याद आ गया कि केष्टो के भागने से समस्या नहीं सुलझेगी. सावित्री, जो उससे भी खतरनाक साबित हो सकती है, यहीं रह गयी है. अव्वल तो कुंज दुधारी तलवार पर खड़ा है. सावित्री के पिता चले गये तो कुंज अकेला ही उदास मन से एक ओर निकल पड़ा. कुंज एक खुले मैदान के करीब आ गया. यह जगह बहुत सुनसान थी. वह एक पेड़ के साये में बैठ गया. रह-रहकर उसे अपने सफेद खरगोश की याद आ रही थी. उसने कुंज की आंखें खोल दी थी फिर भी कुंज से इतनी बड़ी भूल हो गयी. जब सावित्री रात के सन्नाटे में मंत्रमुग्ध-सी उसके पास चली आयी थी, तब वह कैसे भूल गया कि यह चीज अपनी नहीं है, यह केष्टो की अमानत है. सावित्री का क्या भरोसा! किसी दिन उत्तेजनावश वह सबके सामने भेद खोल देगी. कुंज की नेकनामी, कठिनाई से हासिल की गयी लोकप्रियता मिट्टी में मिल जायेगी. लोग उसे गिरा हुआ समझेंगे. कुछ दिनों में केष्टो भी लौट आयेगा, बात का बतड़ंग बनायेगा, फिर कौन-सा मुंह लेकर कुंज यहां रहेगा! धीरे-धीरे ढलवां रास्ता पार कर वह ऊंची जमीन पर चढ़ गया. यहां चारों तरफ नारियल के ऊंचे-ऊंचे पेड़ थे, इस वजह से हरियाली भी थी और ठंडी-ठंडी छाया भी. कुछ ही दूर पर एक कच्चा मकान दिखाई पड़ा. उसके सामने साफ-सुथरे आंगन पर एक बच्चा बैठा हुआ था, पास ही धूप में कुछ चिथड़े सूख रहे थे. एक चटाई रखी हुई थी. वह अनजाने ही उस आंगन में प्रविष्ट हो गया. खुली प्रकृति के बीच सुहावने मौसम के प्रभाव से कुंज का मन काफी हल्का हो गया.

आंगन में खड़े-खड़े कुंज ने आवाज लगायी, "पटल! ओ पटल!" किसी ने जवाब नहीं दिया. मासूम बच्चा मुंह बाये उसे देख रहा था. अब कुंज ऊपर चढ़ गया. इस बार उसने जोर से पटल को बुलाया. पटल ने अंदर से झांककर देखा, एक तो उसका शरीर यों ही भारी-भरकम है उस पर एक गंदा-सा कंबल लपेटकर गले में लाल मफलर बांधकर अपने चेहरे को उसने और डरावना बना लिया है. वह डाकू मंगल सिंह की तरह लाल-लाल खूंखार आंखों से कुंज को घूरने लगा. बड़ी मुश्किल से उसके गले से एक बलगमी आवाज निकली, "क्या बात है? इस वक्त!"

"तू जरा बाहर आ सकता है? मुझे तुझसे कुछ कहना है."

"मेरी तबीयत ठीक नहीं है, दमे का दौरा पड़ा है, जो कहना है यहीं से कह दो." पटल कुछ पीछे खिसक गया.

"अमा, तू डर मत, मैं अकेला आया हूं."

"डरने की क्या बात है?"

"तो फिर उठा ले अपना चाकू और चल मैदान में, आज तुझे कोई नहीं रोकेगा, मैं निहत्था हूं, अकेला हूं, चल पटल! शौक से मेरी जान ले-ले."

"क्या बक रहे हो! तुम्हारा दिमाग तो नहीं बिगड़ गया! बेकार दुश्मनी मोल लेना चाहते हो! घर जाओ. मुझे परेशान मत करो. मैं वाकई बीमार हूं." अब कुंज दांत से होंठ दबाकर उसके करीब आ गया. पटल सहमकर दो-कदम पीछे खिसक गया. कुंज ने अनुनय के स्वर में कहा, "मैंने कभी झूठ बोला है पटल! बोल, यकीन मान, मैं बिल्कुल निहत्था हूं. चाहे तो तलाशी ले ले. तू अगर हाथ उठायेगा तो मैं चूं तक नहीं करूंगा. लेकिन मरने से पहले सिर्फ दो बातें पूछनी हैं, तू बाहर आ-जा."

अब पटल बाहर आ गया पर अचानक उसे दमे का दौरा पड़ गया. वह आंगन में बैठा-बैठा खांसने लगा और बलगम निकालने लगा. कुछ चैन पड़ा तो उसने हांफते हुए कहा, "क्या कहना चाहते हो, बोलो!"

साहब बाथरूम में हैं

□ जीवन मेहता

अपनी विभिन्न समस्याओं के समाधान हेतु विभिन्न मंत्रियों-उच्चाधिकारियों से लोग जब भी मिलने जाते तब उन्हें टालने और उनके ऐशो-आराम में खलल न डालने के उद्देश्य से निर्देशानुसार उनके मातहतों द्वारा अधिकतर उन्हें यही उत्तर मिलता, "साहब बाथरूम में हैं!" लोग यह उत्तर सुनते-सुनते न सिर्फ उकता गये वरन् परेशान भी हो गये, क्योंकि इस कारण से न तो उनकी संबंधित मंत्रियों-उच्चाधिकारियों से भेंट हो पाती और न उनकी विभिन्न समस्याओं का समाधान ही हो पाता.

इसलिए तंग आकर चुनाव के वक्त लोगों ने एक नये दल का गठन किया तथा सत्ताधारी दल के चुनाव घोषणा पत्र के

हूबहू अपने चुनाव घोषणा पत्र के रूप में अपनाते हुए उसके अंत में सिर्फ यह एक वाक्य और जोड़ दिया कि, 'उनका दल सत्ता में आने प. मंत्रियों-उच्चाधिकारियों आदि के बाथरूमों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित कर उन्हें प्रतिदिन एक निश्चित समय पर खोले और बंद किये जाने की व्यवस्था करेगा.

कहने की बात नहीं कि इस आधार पर नये दल ने शानदार सफलता प्राप्त कर सत्ता हासिल की और अपने चुनाव घोषणा पत्र में जनता से किये गये वायदे के मुताबिक मंत्रियों और उच्चाधिकारियों के बाथरूमों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित कर उन्हें प्रतिदिन एक निश्चित समय पर खोले और बंद किये जाने की पुख्ता व्यवस्था स्थापित की. फलतः अब उनका मंत्रियों-उच्चाधिकारियों से मिलना सहज हो गया और उनकी समस्याओं का समाधान समय पर होने लगा. □

"रेवंत मुझे क्यों मारना चाहता है, तू बतायेगा!" पटल ने पहले तो घोर आश्चर्य से कुंज को देखा फिर उसने खीसें निपोरते हुए कहा, "लो जी! यह भी कोई बात हुई! भला रेवंत बाबू तुम्हें क्यों मारना चाहेंगे! तुम्हारा तो सचमच दिमाग खराब हो गया है, जाओ बाबू, घर जाओ, आराम करो."

कुंज ने बिना उत्तेजित हुए कहा, "तुम्हारी बात अलग है, मैं जानता हूं तुम रुपयों की खातिर सब कुछ कर सकते हो, लेकिन रेवंत मुझे क्यों मारना चाहता है, मैं नहीं जानता, तू बतायेगा?"

"तुम बेकार मेरे पीछे पड़ गये हो, मैं खुद ही मुसीबत का मारा हूं, दूसरों के झूठ-झमेले में नहीं पड़ना चाहता."

"अच्छा, यह बता, झाड़ग्राम वाला बगीचा तूने खरीद लिया है?"

पटल इस अप्रासंगिक सवाल से जरा भी नहीं घबराया. वह जानता है, यह बात जगजाहिर है. सब जानते हैं, वह काफी दिनों से बगीचा खरीदने की कोशिश कर रहा है. उसने आंख मूंदकर सिर हिला दिया, "नहीं, इतने पैसे कहां हैं?"

"क्यों? रेवंत नहीं दे सकता?"

पटल ने गहरी सांस छोड़कर कहां, "अजी, कौन किसको देता है? मतलब की दुनिया है, फिर रेवंत बाबू मुझे क्यों देंगे?" पटल खुफिया निगाह से कुंज की प्रतिक्रिया देखता जा रहा था.

कुंज अभी तक स्वाभाविक नहीं हो पाया था. विचारों की कड़ियां टूटती जा रही थीं और सूझ-बूझ भी ढीली पड़ी हुई थी.वह कुछ देर तक सोचता रहा फिर अचानक ही पूछ बैठा, "आजकल हाबू के डेरे में केष्टो रोज जाने लगा है?"

"हां जी, बैठता तो है. अब इसमें हमारा क्या कसूर?"

"कुछ कहता भी होगा?"

"किस बारे में?"

"यही कि..." कहते-कहते कुंज सावधान हो गया, बोला, "मेरे बारे में उल्टा-सीधा कुछ तो कहता होगा."

"आज तुम्हारा दिमाग वाकई ठीक नहीं है, जाने क्या-क्या बक रहे हो! पटल ठंड से सिकुड़ता हुआ कंबल के अंदर दुबक गया फिर कुंज का मन टटोलने के लिए उसने पूछा, "वह तुम्हारी बुराई क्यों करेगा, क्या तुम बुरे आदमी हो?" कुंज के अधरों पर बहुत फीकी मुस्कान झलकने लगी.

पटल की बीवी बासंती पोखर से कपड़े धोकर लौट रही थी, वह कुंज को देखकर चौंक पड़ी. आश्चर्य प्रकट करती हुई बोली, "आप इस वक्त? सब खैरियत तो है?" कुंज ने हामी भर दी. वह बासंती को बहुत पहले से जानता है. इससे पहले दो बार बासंती की शादी हुई थी. जहां तक याद है इसके दूसरे पति को पटल ने ही मार डाला था. उसके बाद शादी की. कुंज ने हैरत से देखा बासंती के पीछे उसके बच्चों की पूरी फौज खड़ी है, वह अपने तीनों पतियों के बच्चों को एक साथ पाल रही है. दुनियावालों को चाहिए कि उससे सबक सीखें. ऐसी समदृष्टि बहुत कम देखी जाती है. पटल ने धीमे स्वर में कुंज से कहा, "अब घर जाओ बाबू, आराम करो." कुंज थके पांव वापस लौट चला. तीन मील उबड़-खाबड़ रास्ता तय करना अब उसके लिए पहाड़ बन गया था.

सावित्री के कमरे में दक्षिण की खिड़की खुली हुई थी. वहां धूप और हवा अठखेलियां कर रही थी. झाड़-झंखाड़ के पीछे नीला आसमान मुस्करा रहा था. भरी दुपहरिया में जामुन के पेड़ पर कोयल कूक रही थी. वह खिड़की के पास ही लेटी हुई थी, अचानक किसी की दबी आवाज सुनाई पड़ी, "सावित्री!" सावित्री की आंखें मुंदी हुई थीं. कुंज की आवाज से सावित्री का शरीर हमेशा इसी तरह पुलक प्रकट करता है. उसके गले से एक विह्वल स्वर निकल आया, "कहिए." खिड़की के उस पार अनंत आकाश है, अपार हरियाली है और विस्तृत खेत खलिहान हैं. वहीं कहीं से एक कातर आवाज आयी, "ये हमने क्या किया सावित्री! मेरा तो सर्वस्व चला गया!"

सावित्री जरा भी विचलित नहीं हुई. शांत स्वर में बोली, "आपका कुछ नहीं बिगड़ेगा, मर्दों पर कलंक नहीं लगता."

सावित्री की भौंहें सिकुड़ गयीं. उसने तनिक सोचकर कहा, "नहीं, आप आम आदमियों जैसे नहीं हैं, इज्जतदार हैं, आपको कोई कुछ नहीं कहेगा. क्या सूर्य किसी छाया से मलिन हो सकता है!"

"ये सब किताबी बातें हैं सावित्री! मेरी नहीं तो कम से कम अपनी दुर्गति का तो खयाल करो, लोग तुम्हें क्या कहेंगे?"

"अब कहने को रहा ही क्या? जब बच्चा ही नहीं रहा तो दुर्गति कैसी?"

बाहर दीर्घश्वास के साथ एक उखड़ी-सी आवाज सुनाई पड़ी, "मेरी मौत से सारा हिसाब चुकता हो जायेगा सावित्री! तब तक किसी के सामने जुबान मत खोलना, हां, मैं तुम्हारी भलाई के लिए कह रहा हूं." अब सावित्री की चेतना लौट आयी. वह बड़ी मुश्किल से अपना सिर ऊपर उठा सकी. आर्द्र स्वर में बोली, "ऐसी अशुभ बात आपने मुंह से क्यों निकाली? सुनिए, मैं आपसे विनती करती हूं, भूलकर भी ऐसा मत सोचिए, मैं किसी से कुछ नहीं कहूंगी.

खिड़की के उस पार अचानक अजीब-सा सन्नाटा छा गया. सावित्री ने सिर उठाकर देखने की भरसक कोशिश की. खिड़की खाली पड़ी हुई थी. सावित्री फिर बिस्तर पर लुढ़क गयी. बंद आंखों से आंसू की धार बह निकली. उसका हृदय हाहाकार कर उठा, "हाय! मैंने कभी मरने की बात नहीं सोची, आपने कैसे सोच ली? अगर मर ही जाऊंगी तो प्यार किस तरह निभाऊंगी! भागने की यह प्रवृत्ति आपमें कैसे जागी?"

भीतरवाले बरामदे में आसन जमाकर राजू बड़ी मुस्तैदी से चिरश्री का पेंसिल-स्केच बना रहा था. उसके चारों तरफ अच्छी खासी भीड़ लगी थी. वह अब तक बारी-बारी से करीब सात स्केच बना चुका है, सविताश्री, सत्यव्रत, वनश्री, शुभश्री और कुछ पास-पड़ोस वाले भी इसमें शामिल है. उससे पहले राजू ने सबको रवींद्र संगीत सुनाया है, राजनीति पर गर्मागर्म बहस की है और अंत में हाथ देखकर सबका भविष्य फल भी बता दिया है. बदले में उसे चार कप चाय, आमलेट और बेसन के पकोड़े मिले हैं. इस तरह काफी समय गुजर जाने पर सविताश्री ने उससे कहा, "आज तो कुंज के घर सब परेशान होंगे, इतना बड़ा अकांड हो गया, बेहतर है, आज दोपहर का खाना यहीं खा लेना. मैं कुंज के घर खबर भिजवा दूंगी."

राजू के चेहरे पर रौनक आ गयी. उसने भरपूर निगाह से वनश्री को देखा, याद करने की कोशिश की, किस उपन्यास में बिल्कुल इसी तरह से नायक-नायिका को पास आने और प्रेम करने का मौका मिला था. संभव है शरत्चंद का उपन्यास रहा हो. दरअसल पुराने जमाने में ऐसी ही स्थितियों में प्रेम पनपता था. उसने कोई आनाकानी नहीं की. साग्रह निमंत्रण स्वीकार कर लिया. सत्यव्रत तो पहले ही राजू पर फिदा हो गये थे, एक तो छोकरा कलकत्ते का, ऊपर से चित्रकार. बातचीत में तेज-तर्रार. अब सविताश्री भी उससे काफी प्रभावित प्रतीत

हुई. श्यामश्री की शादी के बाद सत्यव्रत ने यह तय कर लिया था कि अब किसी बेटी की शादी गंवार आदमी से नहीं करेंगे. उसकी शादी कलकत्ते में होगी. लगता है ईश्वर ने उनके मन की बात सुन ली, वर्ना कलकत्ते का ऐसा होनहार युवक उनके घर कैसे चला आया! संयोग से लड़का स्वजातीय भी है, ऊंचे कुल का भी. ऐसा काबिल लड़का तो ढूंढ़ने पर भी नहीं मिलता. सत्यव्रत उत्साह से फड़कने लगे. सविताश्री के पीछे-पीछे चौके में पहुंच गये. वहीं पर दोनों में इस मामले में बातचीत होने लगी.

मौका पाकर राजू ने वनश्री से धीमे स्वर में कहा, "कभी-कभी ऐसा भी होता है."

वनश्री उसे मुग्ध दृष्टि से देख रही थी, वह कुछ नहीं समझी, बोली, "क्या होता है?"

राजू ने कागज पर रेखा खींचते हुए कहा, "कहीं पढ़ा था मैंने.... पहले जमाने में इसी तरह से शुरुआत होती थी.... पहले आना-जाना फिर खाना-पीना, उसके बाद..." राजू जैसे कुछ याद करने लगा, "हां, इस तरह से हो सकता है." स्केच बन चुका था, राजू ने वह पन्ना फाड़कर चित्रश्री को दे दिया.

अल्हड़ किशोरी अपना फूल-सा खिला-खिला चेहरा देखकर गद्गद् हो उठी. अब राजू ने अगले पृष्ठ में पास-पास दो गोलाइयां बनायी फिर मुस्काते हुए वनश्री को देखा. वनश्री कौतूहल से कागज पर झुक गयी, "यह क्या है?" उसकी आंखें आग्रह से चमक रही थीं.

"आप ही बताइए न क्या है?"

"मैं क्या जानूं आपके मन में क्या है!" वनश्री के चेहरे पर मासूमियत छलक आयी. देखते-देखते राजू ने उन वृत्तों पर कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएं जोड़ दीं. उन्हीं से 'स्पोक' 'मडगार्ड' सीट और हैंडिल बनते गये.

"अरे! यह तो साइकिल है!" वनश्री आश्चर्य से चहक उठी. हां, यह एक साइकिल थी जिसे राजू कितनी देर से अपने अंदर घूमते-फिरते देख रहा है. मन के पर्दे पर रह-रहकर एक छायाचित्र उभर रहा था. दो पहिये इस मकान के चारों तरफ किसी चुंबकीय आकर्षण वश निरंतर घूमते जा रहे थे, लेकिन उनकी चाल स्वच्छंद नहीं थी. वे झिझक रहे थे, दुविधा में पड़े हुए थे. फिर भी राजू उन्हें इस दायरे से बाहर नहीं हटा सका.

रेवंत को लगा, यह काम कुछ टेढ़ा है. यदि श्यामश्री के गले में फंदा लगाकर खींच दिया जाये तो भी प्राण निकलने में दो-तीन मिनट लगेंगे ही. उसके बाद पंखे से उसे लटकाना भी पड़ेगा ताकि पूरी घटना आत्महत्या जैसी प्रतीत हो, लेकिन इतने पर भी शंका बनी रहेगी. आमतौर से लोग किवाड़ खोलकर आत्महत्या नहीं करते. यही तो गड़बड़ है! रेवंत अंदर से दरवाजा बंद कर दे तो बाहर कैसे निकलेगा! हां, एक तरीका और हो सकता है. जब श्यामा नहाने के लिए पोखर में जाने लगेगी उसी समय अगर झाड़ियों के पीछे से उसके सिर पर ईंट मार दिया जाये तो निश्चित ही बेहोश हो जायेगी, ऐसी हालत में उसे खींचकर पानी में फेंक देना कोई मुश्किल काम नहीं. लोग इसे दुर्घटना ही समझ लेंगे. यह अलग बात है कि श्यामा को तैराना भी आता है और उसे उठाने पर सिर की चोट भी दिखाई पड़ेगी. इससे बेहतर तरीका तो यह है कि रेवंत उसे किसी 'हिल स्टेशन' में घुमाने ले जाये. पहाड़ों में कितने ही घुमावदार रास्ते मिलते हैं. वहीं किसी खतरनाक मोड़ पर दोनों खड़े हो जायेंगे. नीचे गहरी खाई होगी. वह श्यामा को बातों में बहकाकर किनारे पर ले जायेगा. फिर अचानक उसे चौंकाकर हौले से एक धक्का मार देगा. वह पहले ही होटल में अपना नकली नाम और पता लिखवा देगा ताकि पुलिसवालों को तलाशी का भी मौका न मिल सके.

इतने दिनों तक वह वनश्री की भावनाओं को नहीं समझ पाया था इसलिए मन में एक दुविधा बनी हुई थी पर आज तो उसने सुबह के उजाले में वनश्री के हृदय को स्वच्छ जल में तैरती हुई मछली की तरह स्पष्ट देख लिया है. अब तो संदेह का तनिक भी अवकाश नहीं रह गया है. जल्द से जल्द कोई फैसला करना होगा. औरत के मन का क्या ठिकाना! कुछ दिनों बाद अगर वनश्री की यह भावुकता चली गयी, तो? रेवंत ने फिर पैडल पर जोर-जोर से पैर मारा. चलते-चलते वह पसीने से तर-बतर हो गया. दिनभर की कड़ी धूप से रास्ते का कीचड़ सूख गया था और चारों तरफ धूल ही धूल उड़ती नजर आ रही थी. रेवंत के चमचमाते कपड़ों पर भी धूल की पर्त जम गयी थी. रौनकदार चेहरा कुम्हला गया था फिर भी एक अजीब विवशता से खिंचा-खिंचा वह वनश्री के घर जा रहा था.

बड़ी मुश्किल से पैडल पर धक्के मार-मारकर रेवंत अपनी अपाहिज साइकिल को ऊंची जमीन पर ले आया. माथे का पसीना पोंछने के लिए वह जेब से रूमाल निकाल रहा था तभी अचानक सामने वाले रास्ते पर कोई ऊंची दीवाल से कूद पड़ा.

"कौन?" अरे, यह तो राजू है! वह हक्का-बक्का रह गया. घबराहट में साइकिल भी डगमगा गयी. वह भरसक जोर लगाकर आगे बढ़ने की कोशिश करने लगा. उसने गर्दन झुका ली. क्या पता राजू ने कल रात को उसकी शक्ल देखी थी या नहीं! रेवंत सिर झुकाकर साइकिल चला रहा था. दोनों की दूरी क्रमशः घट रही थी. रेवंत जी-जान से पैडल पर धक्के मार रहा था. इससे पहले कि वह जरा सम्हल पाता, राजू ने पीछे से साइकिल का कैरियर पकड़ लिया. मजबूरन रेवंत को उतरना पड़ा. उसने जबर्दस्ती मुस्कराने की कोशिश की, "अरे राजू बाबू! आप! कहिए, कैसे आना हुआ?"

राजू देर तक उसे घूरते रहने के बाद बोला, "आप ही रेवंत बाबू हैं न!"

"अच्छा! तो आप मुझे पहचान नहीं पा रहे थे!"

"ऐसी बात नहीं है, दरअसल मैं सिर्फ साइकिल को ही देख रहा था, आपको नहीं."

"साइकिल को देख रहे थे? कमाल है." रेवंत खिसियाकर हंसने लगा, वह मन ही मन बड़बड़ा रहा था, "साले शहरवाले भी कैसे-कैसे नखड़े मारते हैं!"

राजू ने प्यार से साइकिल पर हाथ फेरते हुए कहा, "बड़ी उम्दा सवारी है, एक साइकिल मिल जाये तो आदमी कहां-कहां चला जा सकता है!" अब रेवंत को पसीना छूटने लगा. मुसीबत टालने की नीयत से कहा, "आप चाहें तो यही साइकिल ले सकते हैं... हां, हां, घूम-फिर आइए, मगर एक बात है... पिछले टायर में हवा नहीं है."

"कोई बात नहीं, है तो साइकिल ही. और क्या चाहिए." राजू ने झपटकर साइकिल ले ली, जरा-सा आभार प्रदर्शन भी नहीं किया. देखते-ही-देखते वह बड़ी मस्ती से साइकिल पर चढ़कर आगे निकल गया. मैदान के बीच खड़े रेवंत ने सूनी आंखों से उसे झूम-झूमकर जाते हुए देखा. यह बात उसके पल्ले नहीं पड़ी. दिमाग चकराने लगा था. मन में तरह-तरह की आशंकाएं गहराने लगी थीं. वह सोच में डूबा बाजार की ओर चल पड़ा.

कुंज अपनी बीमारी से भलीभांति परिचित है. इसकी शुरुआत इसी तरह से होती है. पहले फेफड़े में पानी भरने लगता है, फिर तेज बुखार आता है फिर एक-एक पल काटना मुश्किल हो जाता है, उसके बाद
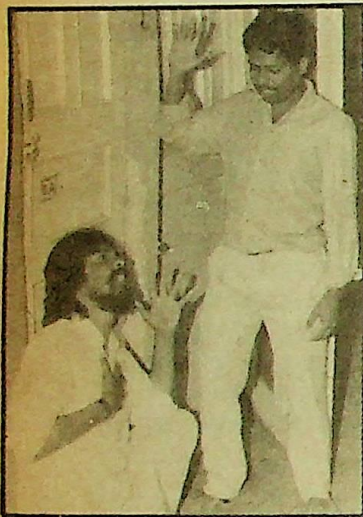
मौत के लिए बेसब्री से इंतजार. अब उसे किसी कातिल की जरूरत नहीं है, मौत उसके सिरहाने पर बैठी हुई है, उसे तो सिर्फ पोखर में जाकर ठंडे पानी से नहाना है फिर घर लौटकर भरपेट दाल-भाल और खटाई खा लेनी है. बस, शाम तक हरहराकर बुखार आ जायेगा और काम तमाम. सोच-सोचकर कुंज मुस्कारने लगा. पपड़ाये होंठों में जगह-जगह खून रिसने लगा था.

तेजेन ने अपने तेल के पैसे गिनकर रख लिये. वह तख्ते पर उकड़ूं बैठकर कुंज से बोला, "आदमी नशे में क्या-क्या नहीं बकता, अब केष्टो को ही देख लो! पीता है तो उसके मुंह से लगाम छूट जाती है. भरे बाजार में अपनी बीवी के साथ तुम्हारा नाम जोड़कर जाने क्या-क्या अनाप-शनाप बक रहा था. अब उसकी बातों पर भला कौन विश्वास करेगा! सबके सब मुझसे ही पूछने चले आये थे, छोकरे ने अच्छा तमाशा बना रक्खा है!"

"लेकिन तूने यह बात मुझे कल या परसों क्यों नहीं बतायी? सारी दुनिया जान गयी, अकेला मैं ही अनजान बना रहा?"

"अजी, शराबी की बातें हैं, भला किसने विश्वास किया होगा! फिर तुम्हारे सामने ऐसी ओछी बातें मुंह में लाते हुए भी शर्म आती है, आज तुमने पूछ ही लिया तो मुझे कहना पड़ गया. खैर, तुम अपना दिल छोटा मत करो, ये बातें दिमाग से निकाल दो." गहरी सांस छोड़कर कुंज तेजेन की दूकान से निकल गया. सामने, बाजार में इस वक्त काफी चहल-पहल थी, लोग थैली लेकर निकल पड़े थे. वैसे तो सभी दूकानों में खरीददारी चल रही थी पर जाड़े में सब्जियों की दूकान में कुछ ज्यादा ही रौनक रहती है. सुबह की सुनहली धूप में सब कुछ कितना उजला-उजला साफ प्रतीत हो रहा है लेकिन कुंज जानता है, इन सबके अंदर दीमक लगा हुआ है. भीतर ही भीतर सारा संसार खोखला और गलीच बना हुआ है. वक्त ने क्या गुल खिलाया कि बाजार यूनियन का सेक्रेट्री कुंज इस कदर उदास हो गया. उसके पैर लड़खड़ा रहे थे. जिंदगी में पहली बार उसे गर्दन झुकाकर चलना पड़ रहा था.

पुलिया के किनारे मजंताली की झोपड़ी थी, उसने कुंज को यों जमीन पर बैठा देखा तो उसे बड़ी हैरानी हुई. पास आकर बोला, "क्या हुआ जी? तबीयत खराब है?"

"नहीं, बहुत थक गया था इसलिए जरा सुस्ता रहा था." कहते-कहते कुंज उठकर चलने लगा. उस पर जैसे कोई भयंकर नशा चढ़ रहा था. चारों तरफ के दृश्य बड़े हीं अपार्थिव और रहस्यमय प्रतीत हो रहे थे. वह जैसे भूल से किसी मायावी जगत में आ पहुंचा है. वह तेज बुखार और दर्द से बिलबिलाता हुआ दो-चार कदम आगे बढ़ा तभी सामने बांस का घना जंगल दिखाई पड़ गया, वहीं पगडंडी के रास्ते पर एक लंबी-सी आकृति बिजली की तरह कौंधी फिर अचानक बांसों के झुरमुट में गायब हो गयी. कुंज की सांस ऊपर-नीचे होने लगी. पैर कांपने लगे, वह सोचने लगा कि दिन-दहाड़े उसे अजीब-अजीब सपने क्योंकर दिखाई देने लगे! इसे भ्रम के बावजूद उसे लगा कि भागनेवाले के पैरों की आहट जानी-पहचानी है, सूरत भी...... कुंज यंत्रचालित-सा घने बांस के जंगल में दाखिल हो गया. टेढ़े-मेढ़े संकरे रास्ते सड़े-गले पत्तों से और भी दुर्भेद्य हो गये थे. दिन में भी शाम का धुंधलका छाया हुआ था. कुंज उस भुलभुलैया में घुटनों के बल रेंग-रेंगकर चलने लगा. उसकी पारखी आंखों ने लंबी आकृति को पूरब की ओर सरकते हुए देख लिया था. कुंज ने कातर स्वर में पुकारा, "रेवंत!"

लंबे कद का आदमी अचानक ठिठक गया.

"रुक जा रेवंत! मेरी बात तो सुन." कुंज ने गिड़गिड़ाते हुए विनती की.

"क्या कहना चाहते हो?" रेवंत की आवाज कड़की. जंगल की तीखे गंध ने उसे कड़वाहट को सोख लिया.

कुंज पागल की तरह झाड़ियों को रौंदता, कुचलता उसके करीब पहुंच गया, "मौत अब मेरे सिर पर आ गयी है, मरने में ही मेरी भलाई है, बोल रेवंत! मैं ठीक कह रहा हूं न?"

"मुझे क्या मालूम?" रेवंत बगलें झांक रहा था. अब कुंज उसके सामने खड़ा हो गया. उसके सीने में जंगल की हवा चिंघाड़ रही थी, "सुन रेवंत, तू एक सड़ा-गला आदमी है और मैं भी. अगर दोनों ही दुनिया से हट जायें तो कैसा रहे?"

रेवंत के चेहरे में हवाईयां उड़ने लगीं. दस-पंद्रह हाथ की दूरी से कुंज उसकी तमाम विशेषताओं को बारीकी से परख रहा था. मूंगे का चमकीला कुर्ता, कश्मीरी दुशाला और धारीदार किनारे की धोती उस पर खूब फब रही थी. कुंज ने गंभीर स्वर में कहा, "सारी जिंदगी यही सोचता रहा, यही चाहता रहा कि चैन से मर सकूं. बाइज्जत मर सकूं. लोगों की दुआएं मिलें. रेवंत! तू मुझे इस तरह की मौत दे सकता है? मैं तुझसे वादा करता हूं... पक्का वादा! शाम ढलते ही बड़े मैदान में पहुंच जाऊंगा, पटल से कह देना तैयार रहे. चूं तक नहीं करूंगा... मगर सावित्री वाला किस्सा मत फैलाना रेवंत!" रेवंत ने कुछ भी नहीं कहा. उसकी दीर्घ आकृति धीरे-धीरे बांस के झुरमुट में अदृश्य हो गयी. जंगल के सूखे पत्तों पर एक परिचित पदशब्द की अनुगूंज रह गयी.

दोपहर को खाने के बाद राजू इत्मीनान से बरामदे में बैठकर साइकिल ठीक करने लगा. वैसे उसके पास मरम्मत के साज-सामान, औजार वगैरह काफी थे मगर इस काम की उसे आदत नहीं थी इसलिए खास फायदा नहीं हो रहा था. सत्यव्रत भी अपने कमरे की खिड़की से राजू को काम करते हुए देख रहे थे. सविताश्री उनके कमरे में पानी रखने गयी तो वे संतोष प्रकट करते हुए बोले, "देखा! इस लड़के में कितनी लगन और निष्ठा है! इसे जीवन में कामयाबी जरूर मिलेगी. मैं आज ही कुंज से कहूंगा, इस लड़के से बन्नो के लिए बात चलाये." अपने माता-पिता की यह मनोभावना वनश्री से भी छिपी नहीं रही. अब वह राजू के सामने आने से हिचकने लगी. वह अपने कमरे में लेटी-लेटी एक किताब पढ़ रही थी. आंखें कहीं लगी हुई थीं, मन कहीं और भटक रहा था. इतवार की दोपहर को सब अपने-अपने ढंग से वक्त गुजारते हैं. शुभ अपने क्लब में क्रिकेट खेलने चला गया. सविताश्री सिलाई लेकर बैठ गयीं. चिरश्री काफी देर तक राजू के पास बैठी-बैठी गपशप कर रही थी फिर उसे भी सहेली ने बुला लिया. राजू अकेला हो गया तो वनश्री सकुचाती हुई उसके पास आयी, बोली, "अभी तक यह ठीक नहीं हुई?"

"न-ना." राजू ने हंसकर सिर हिला दिया.

"आप भी अजीब हैं! घर में दो-दो साइकिल पड़ी हुई हैं और आप इसी के पीछे पड़ गये हैं!"

"मुझे सिर्फ यही साइकिल चाहिए, यह मुझसे बहुत कुछ कह सकती है."

"सचमुच आपका दिमाग गड़बड़ा गया है!"

राजू पहिए को रगड़-रगड़कर साफ कर रहा था. बोला, "नहीं. हर चीज की अपनी एक भाषा होती है, उसे सुनने की, समझने की काबिलियत होनी चाहिए. हर चीज पर किसी घटना की या किसी भावना की कोई न कोई निशानी जरूर रहती है, देखो, रिकार्ड तो एक बेजान चीज है पर

उसमें से आवाज निकलती है, यह भी कुछ-कुछ वैसा ही है." वनश्री बहस के मूड में नहीं थी, फिर वाहियात बातों में उलझने का कोई अर्थ भी नहीं होता. बेशक इस आदमी को बात करने का तौर-तरीका मालूम है, बेहूदा बातों को भी तरकीब से कहना जानता है. राजू मन लगाकर ट्यूब के छेद में 'सल्यूशन' लगा रहा था. अचानक वनश्री ने पूछा, "आप मुझे भी सिखायेंगे?"

"क्या?"

"यही, किस तरह से साइकिल की बातें सुनी और समझी जाती हैं!"

"हां, हां सिखा दूंगा." उसने ठोक-पीटकर अंततः साइकिल को चलने लायक बना ही लिया. टायर में हवा भरकर उसने आंगन में ही दो-चार चक्कर मार लिये.

"मजा आ गया!" वह बेहद खुश नजर आ रहा था.

"क्या कहा साइकिल ने?" वनश्री हंसने लगी.

"उसने कहा—देखो राजू, आज सुबह तक मैं रेवंत की थी अब तुम्हारी हूं."

"अच्छा! तो यह साइकिल अब आपकी हो गयी? आप इसे वापस नहीं करेंगे?"

"लो जी, यह मैंने थोड़े ही कहा है, यह तो साइकिल कह रही है."

"और क्या कह रही है?"

"अब मैं सारी बातें तो नहीं समझ सकता, हां इसे अभी कहना तो बहुत कुछ है धीरे-धीरे बतायेगी." राजू फिर आंगन में चक्कर मारने लगा. अचानक वनश्री के चेहरे पर उदासी छा गयी. वह कातर स्वर में अनुनय करती हुई बोली, "आप इस साइकिल को छोड़ दीजिए, उतर जाइए न! मुझे यह साइकिल बहुत अमंगली लग रही है." राजू वनश्री को बहुत ध्यान से देख रहा था. अब उसके चेहरे में पहले जैसी विह्वलता नहीं झलक रही थी. लग रहा था उसके मन से रेवंत का जादू उतर चुका था. वनश्री उसके रूप की मादकता से विमुक्त हो चुकी थी.

"तुम ठीक कह रही हो, अब मैं भी इससे कुछ नहीं पूछूंगा." राजू ने साइकिल से उतरते हुए कहा.

दिन ढलने लगा था. आंगन में इंद्रधनुषी किरणों की रंगोली सज रही थी. दूर कोई कोकिला तन्मयता से कूक रही थी, दिशाओं को रोमांचित किये दे रही थी.

करवट बदलते ही सावित्री असहनीय पीड़ा से कराह उठी, "टूशी! अरी ओ टूशी!" किसी ने जवाब नहीं दिया. सावित्री की आंखें भर आयीं. उसने देखा, खिड़की पर शाम उतर रही है—धीरे....धीरे, निःशब्द चरणों से. मन में उदासी घिर आयी. खिड़की बिल्कुल सूनी पड़ी थी. कहीं कोई नहीं. उसने जरा उठकर बैठने की कोशिश की तो लगा कि जान ही निकल जायेगी. गले से एक तड़पभरी आवाज निकली, "कहां चले गये आप! मेरी आंखें आपको देखने के लिए तरस रही हैं, मैं क्या करूं!" सावित्री की आवाज शून्य से टकराकर लौट आयी. उत्तरी हवा उसके तनमन को निर्दयता से झकझोर गयी. सावित्री का कलेजा फटने लगा, "हाय! ये लोग मुझे नींद की गोलियां खिला-खिलाकर सुला देंगे, मुझे फिर नींद आ जायेगी, अब मैं आपको कैसे देख पाऊंगी! कहां चले गये आप?" कमरा मौन रह गया. सावित्री सुबकने लगी, "आप खुद को इतना गिरा हुआ क्यों समझने लगे! लोगों की बातों से किसी का क्या बिगड़ता है? लोगों का तो काम ही यही है, आप खुद अपने को सम्हाले रहिए न!" कमरे में अंधेरा गहराने लगा. खिड़की से इक्के-दुक्के तारे झांकने लगे. सावित्री का दुर्बल शरीर थर-थर कांप रहा था. नींद से बोझिल पलकों से दो-चार आंसू ढुलक पड़े. उसने खिड़की की ओर देखते हुए कहा, "मर जाने में किसी का कोई फायदा नहीं—न मेरा, न

अल्हड़ किशोरी अपना फूल-सा खिला-खिला चेहरा देखकर गद्‌गद् हो उठी. अब राजू ने अगले पृष्ठ में पास-पास दो गोलाइयां बनायीं फिर मुस्काते हुए वनश्री की देखा.

आपका. जैसे बचपन में हम पेंसिल के निशान को रबड़ से पोंछ दिया करते थे, उसी तरह इस कलंक को हम दोनों चाहें तो मिटा भी सकते हैं. मैं आपसे वादा करती हूं.... कसम खाती हूं फिर कभी आपको अपने पहलू में नहीं घसीटूंगी. आप मुझसे चाहे दूर ही रहिए पर कहीं रहिए जरूर. आप चुप क्यों हैं? कहां चले गये? वचन दीजिए, आप मुझे छोड़कर... दुनिया छोड़कर नहीं जायेंगे!" खिड़की के बाहर कोई पक्षी चहचहाया. सावित्री पस्त होकर फिर बिस्तर में लेटी रह गयी.

कुंज ने महज अपने जिगरे के जोर से इतना बड़ा मैदान पार कर लिया. उसने देखा, सिंदूरी क्षितिज में किसी ने ढेरों स्याही उड़ेल दी थी. आसमान में लाखों चिराग टिमटिमाने लगे थे. कुंज को लगा उसके सामने एक अनंत सागर लहरा रहा है, उसके किनारे कुछ जहाज बंधे हुए हैं. उसे भी वहीं पर जाना है, पर वह जितनी बार आगे बढ़ने की कोशिश करता है, गश खाकर गिर जाता है. उसे फिर उठकर चलना पड़ता है. यही क्रम चलता रहा. दिशाएं कुहरे से घिरी हुई थीं. आंखों के सामने काले-काले बादल उड़ते-फिरते दिखाई पड़ रहे थे. उसने रेवंत से वादा किया था, शाम को अकेला ही मैदान में पहुंच जायेगा और वह पहुंच भी गया है. कल रात को जहां रवि का टार्च गिर गया था, वह ठीक उसी जगह पर खड़ा हो गया, बोला, "सुन पटल, मुझे कुछ देर हो गयी, क्या करता! बुखार इतना तेज हो गया कि बांसवाले जंगल में ही लेट गया था. आंखें खुलीं तो देखा, शाम ढल चुकी है. खैर अब तो आ ही गया हूं. जल्दी-जल्दी काम खत्म कर! वर्ना कौन जाने किस ओर से कोई बाधा पड़ जाये, सुना तूने! पटल! ए पटल!" सांय-सांय करती हवा उसके ऊपर से गुजर गयी. कुंज ने देखा, मैदान खाली पड़ा है. सामने अपार समुद्र लहरा रहा है. किनारे पर जहाज बंधे हुए हैं. कुंज काफी देर तक इंतजार करता रहा. फिर उसके सब्र का बांध ढह गया. वह गिड़गिड़ाने लगा, "देख भैया! एक मिनट का काम है, छुट्टी कर दे. तेरा निशाना कभी नहीं चूकता, फिर मेरा शरीर तो पहले से ही घिस-घिसकर अधमरा हो गया है फिर काहे को आनाकानी कर रहा है! आ जा पटल, तू अपना काम पूरा कर ले! यह पुकार भी शून्य में विलीन हो गयी. लहराते सागर में बंधे हुए जहाज कुंज को अब भी दिखायी पड़ रहे थे. लाचार कुंज बड़ी मुश्किल से अपने घिसे-पिटे शरीर को खाई की ओर ले जाने की कोशिश कर रहा था. वहां से खुद को नीचे लुढ़का देना बहुत आसान काम है. धरती माता उसके लिए आंचल बिछाकर बैठी हुई हैं. ठंड से कुंज का सारा शरीर जकड़ गया था. सीने का दर्द भूखे भेड़िए की तरह अपने पैने पंजों से उसे नोच खसोट रहा था. आकाश के प्रांगण में अनगिनत दीये जल उठे थे. कुंज गेंद की तरह लुढ़कता हुआ शिरीष के पेड़ के नीचे पहुंच गया. सारी इंद्रियां विकल होती जा रही थीं. दिमाग भी ठीक से काम नहीं कर रहा था. उसे लगा, कहीं वह इमलीतले तो नहीं पहुंच गया! फिर तो पक्की सड़क के उस पार जो बत्ती जल रही थीं, वह भंजों के इलाके की ही होगी. कुंज हैरान रह गया कि परिचित जगहों की शक्ल-सूरत इतनी जल्दी कैसे बदल गयी! टिम-टिम करते जुगनू उसे गीदड़ की आंखों की तरह क्यों लग रहे हैं! उसे याद आ गया, इसी जगह उसने बचपन में एक खरगोश का बच्चा पकड़ा था. उसी ने कुंज को सिखाया था दुनिया की हर चीज पर अपना अधिकार नहीं हो पाता, कुछेक चीजें ही अपनी हुआ करती हैं. कुंज आज हृदय से महसूस कर रहा है कि उसने गलत सिखाया था. दुनिया की कोई चीज अपनी नहीं हुआ करती. संसार तो एक प्रवास जैसा है, भला प्रवास में कौन किसका होता है.

अब तो कुंज का यह हाड़-मांस का शरीर भी उसका अपना नहीं रहा. इसे वह चाहे तो अभी केंचुल की तरह उतारकर फेंक सकता है. थोड़ी ही दूर पर पातालस्पर्शी गहरी खाई उसके लिए आंचल बिछाए बैठी है. कुंज की सांस गले में अटकी हुई थी. उसे पता ही नहीं चला कि किस तरह गिरता सम्हलता वह दवाखाने के करीब पहुंच गया. उसकी आंखें निहायत कमजोर पड़ गयी थीं. सामने बरामदे में एक लाटेन धुआं उगल रही थी. उसी धुंधलके में कुंज ने देखा, एक आदमी कंबल ओढ़कर बरामदे में लेटा हुआ है. आदमी बड़ी मुश्किल से सांस खींच रहा था. उसकी पत्नी सिरहाने बैठी हुई थी.

कुंज को आते देख औरत ने कातर स्वर में पुकारा, "बाबू!"

इस आवाज ने कुंज को अंदर से झकझोर दिया. वह तनकर खड़ा हो गया, "कौन?" उसने स्वयं को सम्हालते हुए पूछा.

"मैं हूं बाबू!.... बासंती."

"बासंती?" कुंज परेशान. बासंती यहां पटल को लेकर क्यों बैठी हुई है?

"मैं और कहां जाती?" बासंती रोने लगी, "देखिए न! इसकी क्या हालत हो गयी है! उल्टी सांस चलने लगी है. चलने-फिरने की ताकत नहीं. गोपाल डाक्टर ने भी जवाब दे दिया है! इन्हीं के कहने से यहां ले आयी, कह रहा था हरि बाबू के डेरे में ले चलो, मुमकिन है उनकी दुआ से कोई चमत्कार हो जाये!"

कुंज आश्चर्य में पड़ गया था. बोला, "अब क्या चाहते हो?"

"बाबू! कोई फायदेवाली दवा दे दो. कह रहा था तुम्हारे हाथों में जादू है."

लालटेन की मद्धिम रोशनी में पटल का विकृत चेहरा देखकर कुंज सकते में आ गया. पटल के सूजे हुये होंठों से एक क्षीण और कातर प्रार्थना निकल आयी, "तुम हरि बाबा के बेटे हो, कुछ तो जादू जानते होगे..... हैं! चाहो तो मुर्दे को भी जिला सकते हो.... मुझे बचा लो."

कुंज के अंदर एक लहर-सी दौड़ गयी. वह यंत्रचालित-सा आगे बढ़ा. कांपते हाथों से उसने दवाखाने का दरवाजा खोला, बासंती से कहा, "उसे अंदर ले जाओ."

बासंती ने गाड़ीवाले की सहायता से पटल को अंदर लाकर सुला दिया. कुंजनाथ ने तय कर लिया, अब उसे पटल की ओर नहीं देखना है. आदमी के मन का कोई भरोसा नहीं. क्या पता कब उसमें खोट आ जाये! कुंजनाथ तो अपनी दरियादिली के लिए मशहूर है. मरने से पहले भी वह वैसा ही बना रहेगा. कुंज दवा की अलमारी खोलकर गुनगुनाते हुए एक-एक दवा का नाम ले रहा था. उसके पिता भी रोगी का लक्षण पहचानकर इसी तरह गुनगुनाते हुए दवा निकालते थे, अचानक ही किसी एक शीशी पर उंगली ठहर जाती थी, वही रामबाण साबित होता था. इस वक्त कुंज की आंखें इतनी कमजोर हो गयी थीं कि किसी दवा का नाम वह नहीं पढ़ सकता था. उसने महज अपने अनुभव और अंदाजे से एक शीशी निकाली और पटल के हाथों में दे दी. पटल ने बड़ी श्रद्धा से इसे माथे से लगाया. दवा की पहली गोली खाकर वह एक घंटे तक वहीं बैठा रहा फिर कुंज ने उसे दूसरा 'डोज' खिलाया. बासंती से कहा, "अब इसे घर ले जाओ, आधी रात को एक बार और खिला देना. ठीक हो जायेगा." पटल अब खुद ही उठकर खड़ा हो गया, अब उसकी सांस भी ठीक-ठाक चल रही थी.

कुंज काफी देर तक वहीं अंधेरे में बैठा-बैठा ऊंघता रहा. बंद आंखों के सामने एक हरी-भरी उपत्यका फैली हुई थी. उसी के ऐन सामने एक गहरी खाई थी. बर्फीली हवा रह-रहकर कुंज को उस खाई में ढकेलने का प्रयास कर रही थी. बैठे-बैठे ही कुंज को अपने पिता का परिचित पदशब्द सुनाई पड़ा. वे अलमारी में कोई दवा ढूंढ़ रहे थे. पीछे मुड़कर वे कुंज से बोले, "तुझे मरने की क्यों सूझी"

"क्योंकि और कोई चारा ही नहीं था."

"लेकिन क्या जिंदगी तुम्हारी अपनी चीज है?"

"फिर किसकी है?"

"तू कितना नादान है कुंज! यह भी नहीं जानता कि कितनी कठिनाई से आदमी का जन्म होता है, एक-एक जन्म के पीछे कितनी लंबी व्यथा कथा छिपी रहती है, कितने रहस्य लिपटे रहते हैं, तू अपनी जिंदगी मिटानेवाला कौन होता है? तू तो बहती नदिया की एक धारा है—धारा!"

"जानता हूं, सब जानता हूं मैं."

"फिर तुझे तो हर चीज से इतना प्यार था, लगाव था, तूने यह बात कैसे सोची?" कुंज ने गर्दन उठाकर देखना चाहा पर गर्दन ऐंठ गयी थी. आंखें दृष्टिशून्य होती जा रही थीं. उसे न कोई आदमी दिखायी पड़ा, न अलमारी नजर आयी. हां, एक अस्पष्ट-सी छाया इधर-उधर हिलती नजर आ रही थी. वह एकदम से उत्तेजित हो उठा, "कौन है? कौन घूम रहा है यहां? पिताजी या राजू! राजू! तू आ गया है?" कुंज ने व्याकुल होकर कहा, "राजू! तू नींद में जाने क्या-क्या बड़बड़ा रहा था, तुझे किस बात का गम सता रहा है, बता! मुझे तो लगता है यह शहर कलकत्ता तुझे बिस्कुट की तरह कुतर-कुतरकर खा जायेगा."

कुंज की बात सुनकर छायामूर्ति उसके करीब आ गयी. उसने कहा, "शहर तो किसी को भी नहीं छोड़ेगा. वह अजगर जैसा है, हर किसी को निगल जायेगा, अगर कोई जबर्दस्ती उसके मुंह से शिकार छीन भी ले तो भी उस पर अजगर का जहर चढ़ जायेगा, वह तबाह हो जायेगा, मेरे नसीब में भी यही लिखा है पर तेरी बात अलग है, तू इंसान को प्यार बांटने आया है, भरोसा देने आया है, उसे जगाने आया है."

"इसी से तो मैं मारा गया, उजड़ गया. पर तुम कौन हो? पिताजी! या राजू! देखिए पिताजी, मैं तो वही कुंजनाथ हूं. हूं न! भला मुझ पर कोई कलंक लग सकता है?"

किसी बुजुर्ग ने गंभीर स्वर में जवाब दिया, "तुम्हीं ने तो कहा था, समय ऐसी छोटी-छोटी बातों को भुला देता है. सौ साल बाद किसे याद रहेगा कि कौन था कुंजनाथ, कैसे वह बदनाम हुआ था, फिर यह चिंता कैसी?" अब कुंज और भी विचलित हो उठा. यह कौन उससे बोल रहा है? 'राजू या पिताजी!" उसने छाया को ही देखते हुए कहा, 'मुझसे अब और नहीं सहा जाता."

"मगर तुम इन सबका मोह कैसे छोड़ पाओगे?"

"नहीं... नहीं, अब मैं इन सबसे मुक्ति चाहता हूं." कुंज उत्तेजना से थर-थर कांपने लगा, "देखो न! मेरा सीना दर्द से फटा जा रहा है, फेफड़े में बर्फ जम गयी है."

"चुप रह, बेवकूफ कहीं का! पिताजी ने उसे डांटते हुए जोर से कहा, "चल उठ, दायीं अलमारी से दो नंबर वाली शीशी उठा ला. सब ठीक हो जायेगा. अब कुंज मौत की उपत्यका के अंतिम छोर पर खड़ा था. पैरों के नीचे गहरी खाई उसे लीलने के लिए तैयार बैठी थी. कुंज ने जरा भी देर नहीं की. अपनी सारी शक्ति समेटकर वह कुर्सी से उठ गया. कांपते हाथों से उसने दायीं अलमारी का किवाड़ खोला. कुछ और करीब जाकर दवा का नाम गुनगुनाते हुए उसने एकदम से दो नंबर वाली शीशी पर उंगली रख दी. □

रंग बिरंगे लोग

छायाकार
पवन महेंद्रू
मॉडल
वन श्री
बबीता शर्मा
कुंजनाथ
अंजनीकुमार
रेवत
दीपक शर्मा
पटल
दिनेश सोलंकी
कालिदास
ललित कोचर
राजू
विनोद शर्मा
सावित्री श्री
कांता शर्मा
ट्शी
सुनीता शर्मा

हिंदी अनुवाद
मधुछंदा

लाडली

लाडली ने उसे खा जाने की दृष्टि से देखा! यदि कोई और समय होता तो वह उस पर बाज की तरह झपट्टा मारती... वह अपने प्यार का नतीजा देखना चाहती थी! राजस्थानी परिवेश की एक संघर्ष कथा—
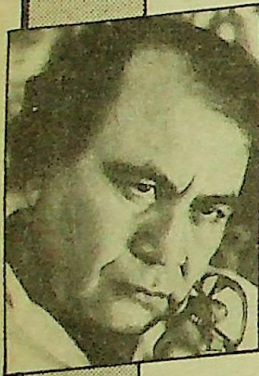
□ यादवेंद्र शर्मा 'चंद्र'

(राजस्थानी साहित्यकार)
जन्म : सन् 1932 बीकानेर, राजस्थान.
प्रमुख कृतियां : 'कला परिधि', 'हजार घोड़ों का सवार', 'एक और मुख्यमंत्री', 'प्रजाराम' तथा 'गुनाहों की देवी' सहित हिंदी में अब तक पचास उपन्यास प्रकाशित. 'इक्यावन कहानियां', 'जंजाल तथा अन्य कहानियां', 'निख खोरी' सहित सत्रह कहानी संग्रह. 'हूं गोरी किण पीव री', 'जोग संजोग' व 'तास रो घट' (राजस्थानी साहित्य) 'जमारो' कहानी संग्रह पर सन् 1989 का साहित्य अकादेमी पुरस्कार.
विविध : सन् 1955 से स्वतंत्र लेखन.
संपर्क : 'आशालक्ष्मी' नया शहर, बीकानेर राजस्थान.

बन्नै बहुत ही घबराया हुआ आया. उसने हांफते-हांफते कहा : "काका, काका गजब हो गया?"

"क्या हो गया रे बन्नै?" काका ने भौंहें उठाकर देखा.

"काका! गैचिये की बहू लाडली को पाकिस्तानी उठाईगीर उठाकर ले गये." उसने अपना सिर पकड़ लिया.

"क्या?" काका नाथ्या एकदम सचेत हो गया. सफेद दाढ़ी-मूंछों से ढंके झुर्रियोंदार चेहरे पर चमकती दो आंखें और दहक उठीं. शरीर में तनाव आ गया. जड़ता भी. क्षणिक!

"लाडली एकदम मोट्यार है. फूठरीफरी है. कहीं उन दुष्टों ने उसके साथ अनचीती कर ली तो....?" बन्नै की आंखों में आशंका तैर उठी. उसकी काली आकृति का रंग और गहरा हो गया. अपने गले में पहने तांबे के मादलिये (ताबीज) को छूकर उसने बुझे स्वर में कहा, "क्या थाणे में खबर करें? खबर तो देनी होगी वर्ना थाणेदार नाराज हो जायेगा."

काका ने पास में रखी पानी की लोटड़ी से गटागट ऊंचे से पानी पिया. फिर जरा हथेली में पानी लेकर मुंह को धोया. दाढ़ी को ठीक किया और मूंछों पर ताव देकर कहा, "चल, मैं थाणे चलता हूं. पुलिस को खबर तो कर ही देनी चाहिए. बिना खबर दिये हमारा पलड़ा कमजोर रहेगा. साले कहेंगे कि तुम लोग जरामयपेशा हो न, जन्मजात चोर-उचक्के और लड़ाकू.... कानून को भी हाथ में ले लेते हो?" उसने एक पल रुककर फिर कहा, "और उन सालों का कानून अंधा और बहरा है."....कुछ पल सोचकर दो घूंट लोटड़ी में से फिर पानी पीकर, दाढ़ी को हल्के-हल्के बायें हाथ से खुजाते हुए उसने फिर कहा, "चलो थाणे, रपट तो लिखा ही दें... हां गैचिया कहां है?"

"दारू के नशे में धुत सो रहा है. खूब झिंझोड़ा तो ऊटपटांग बकने लगा."

"अच्छा चलो. उसे बाद में देखेंगे."

सूरज उग गया था. पूर्व में उजास की चादर पल-पल गहरी होती जा रही थी. सीमावर्ती इलाके की एक ढाणी.... इस ढाणी में अधिकांश घर हैं कापड़िया सांसियों के. इनकी चोरियों से उकताकर किसी राजा ने इन्हें यहां बसा दिया और खेती करने की जमीन दे दी. कहते हैं, इनके अपराधों से तंग आकर इनके साथ एक जबानी शर्तनामा भी किया था कि वे अपने राजा के शहर में कभी भी चोरी-चकारी करने नहीं आयेंगे. इस शर्तनामें का काफी हद तक इन लोगों ने पालन भी किया.

रास्ता रेतीला था. रेत भरा रास्ता 'ओकळी' कहलाता था. ये लोग पांच थे. पांचों ने जीर्णशीर्ण कपड़े पहन रखे थे. पंछिया, बंडा या बगलबंदी! नाथ्या ने सिर पर साफा बांध रखा था. शेष चारों ने चिथड़ा-सा लपेट रखा था. सबके बलदार मूंछें थीं. बाल छोटे-छोटे. एक की चोटी लंबी थी और उसमें रामदेव बाबा का मादलियां गूंथा हुआ था. उसका नाम जेठा था. सबके रंग काले थे. कद-काठी मजबूत. नाथ्या के गले में काले मोतियों की माला थी. हाथ में हाथी दांत का कड़ा. पग में लोहे के खरताळ वाली मजबूत जूती. सभी ने पुरानी जूतियां पहनी हुई थीं जिनमें भद्दी कारियां लगी हुई थीं.

रेत जूतियों में घुस जाती थी जिससे उन्हें बार-बार चलते-चलते जूतियों को खोलना पड़ता था. हालांकि रेत अभी तक गर्म नहीं हुई थी फिर भी नाथ्या के ललाट पर पसीना चू रहा था.

वे सब एकदम चुप थे. उनकी भावमुद्रा से लग रहा था कि वे अपने-अपने भीतरी संघर्ष में डूबे हुए हैं.

लंबे मौन को तोड़ा काका नाथ्या ने, "बन्नै! तुमने लाडली के धणी गैंचिया को उसकी लुगाई के गायब होने की खबर तो दे दी है."

बन्नै ने दायीं बांह से पसीना पोंछते हुए कहा, "हां, दे दी है पण वह तो दारू के नशे में धुत है. आंखें खोल ही नहीं पाता.... बेसी चिंचोड़ने से उसे दम भर को होश आया. मेरे कहने पर वह निखट्टू बोला, 'साली खानगी

को भाग जाने दे.... मर्द लुगाई के भाग जाने की चिंता थोड़े ही करता है... मैं दूजी ले आवंगा... जा बन्ना.... जा.... काका!' मुझे तो लगता है कि लाडली को भगा देने में इस नीच का ही हाथ हो सकता है.... दारू ने इसे कहीं का नहीं रखा. खूब गाली-गलौज निकालता था इधर."

चारों ओर सूनवाड़ ही सूनवाड़. रेत ही. रेत. कहीं.... कहीं कींकर, आक और खेजड़ा. फोग.... फोग की जड़ों में बैठी एक बांडी... (एक जहरीली सांप की किस्म) दुष्ट और बेमतलब डसनेवाली.

जेठा ने चौंककर कहा, "काका! बांडी...."

आदमियों की बोली सुनते ही बांडी सरदेसरी फोग की झाड़ी से बाहर निकली और भागने लगी. मोवनिये ने चौंककर कहा, "रंडारू... हमारी ओर आ रही है. खबरदार..."

"उनकी एक लुगाई को पाकिस्तानी उठाईगीर उठाकर ले गये" सिपाही ने जोर से कहा.

अब थानेदार की ऊंघ टूटी. वह अपने सिर पर टोपी लगाता हुआ हुमककर बोला, "पाकिस्तान.... क्या हुआ पाकिस्तान में...?"

लगा कि उसने ऊंघ में केवल पाकिस्तान शब्द ही सुना हो. सिपाही कुछ बोले, इसके पहले ही भीतरी भय से आशंकित-सा थानेदार बोला, "क्या आतंकवादी पाकिस्तान से हमारे इलाके में घुस आये हैं."

"बात यह है साब...." सिपाही ने असली बात बतानी चाही पर भीतर से भयभीत थानेदार जैसे अपने आप से बोला, "सालों की खैर नहीं.... एक-एक को भून डालूंगा. मेरा नाम गोपसिंह राठौड़ है. कौन है जो मुझसे नहीं थर्राता?"

गुलाम शेख की कलाकृति
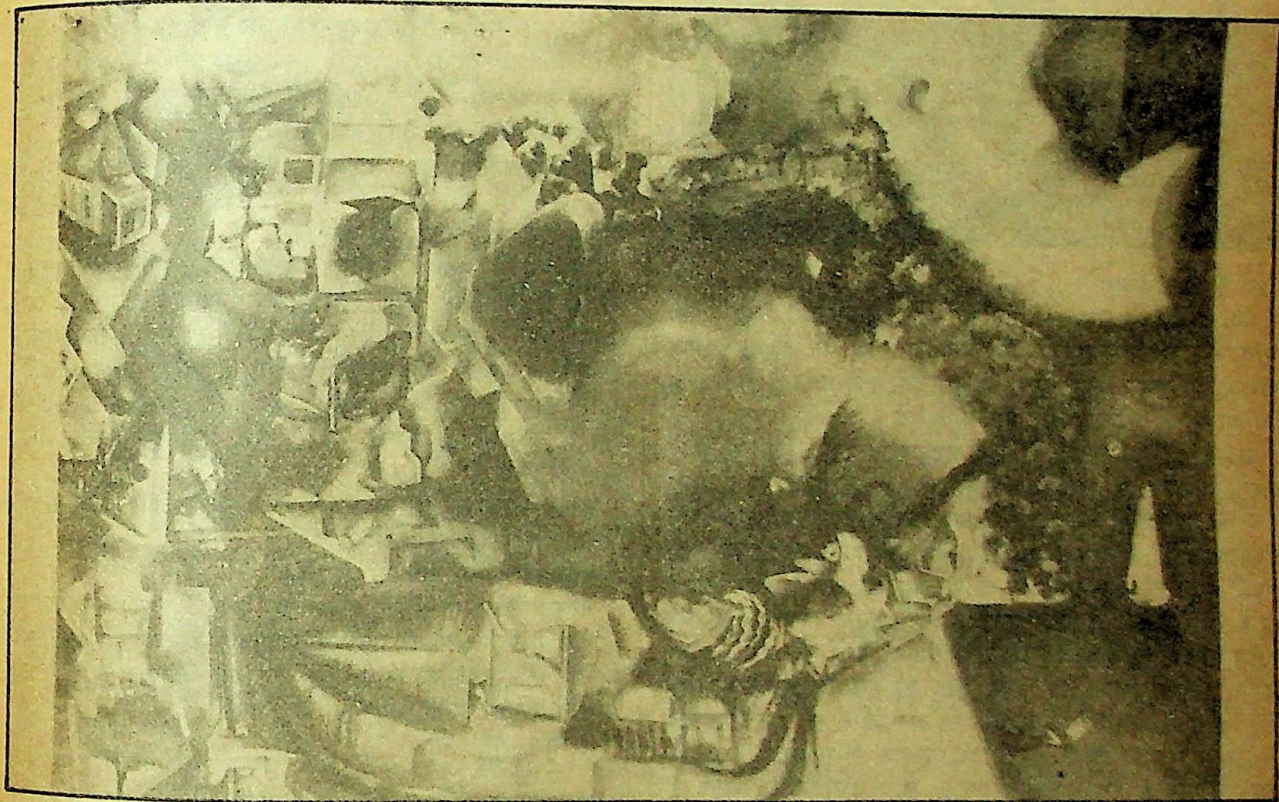
"बन्ना! मार न मादरकाढ को."

बन्ने ने अपने एक पांव की जूती खोली. प्रहारक जैसी मुद्रा बनायी. जूती में रेत भरी. फिर उसने जूती का एक तगड़ा वार बांडी के मुंह पर किया. बांडी शिथिल. फिर जूती के पांच-दस और प्रहार. बांडी-शांत. काका ने अपनी लकड़ी के फिर कई वार किये. किसी भी आकृति पर जीवहत्या के समय में उपजती करुणा-दया और ग्लानि का कोई भाव नहीं. एकदम सहजता.

जब बांडी मृत्यु की गोद में सो गयी तब काका ने बुजुर्गाना अंदाज में कहा, "अब इसे पेड़ की डाल पर लटका दो वर्ना यह बांडी की बच्ची धूड़ खाकर फिर जी जायेगी."

"काका! मरा हुआ कभी वापस जिया है?" चेतिया ने कहा.

काका ने कहा, "उस प्रभु की माया अपरंपार है. वह बांडी क्या, मिनख को भी धूड़ से जिंदा कर सकता है."

फिर सब चुप. वे चलते जा रहे थे. थाना कस्बे में था. वे लोग जब थाने पहुंचे तब थानेदार गोपसिंह राठौड़ अपनी कुर्सी पर बैठे-बैठे ऊंघ रहे थे. सिपाही ने जाकर कहा, "साब! सांसी शिकायत दर्ज कराने आये हैं."

"कर लो...." वह फिर ऊंघने लगा.

"आप पहले मेरी पूरी बात तो सुनिए हुजूर? दरअसल सांसी गैचिया की बहू लाडली को पाकिस्तानी उठाईगीरे उठाकर ले गये."

"कौन गैचिया... मा." उसने एक भद्दी गाली दी.

"कापड़िया सांसी,... जो सीमा पर रहता है न....?"

"फिर कोई खास बात नहीं." थानेदार ने इत्मीनान की सांस लेते हुए कहा—"ओह! मेरे तो पसीने आ गये?.... सोचा कि आतंकवादी हमारे इलाके में घुस आये हैं. अमजद खां! सारे आतंकवादी पाकिस्तान से ही तो आते हैं. तुझे एक रहस्य की बात बताऊं... वहां आतंकवादियों को बाकायदा ट्रेनिंग दी जाती है—हथियार चलाने सिखाए जाते हैं... बड़े वहशी और दरिंदे होते हैं ये. आज भले ही इधर न आये हों पर कभी भी आ सकते हैं. अपने को सावधान रखो एकदम, एलर्ट.... हां, तो गैचिये की बहू को पाकिस्तानी उठाईगीर उठाकर ले गये! मामला बहुत गंभीर है. अमजद खां, रपट लिख लो. उसमें यह जरूर लिखना रंग... रूप... उम्र.... कब ले गये... कैसे ले गये... फिर मेरे पास उन्हें भेजना."

थोड़ी देर में वे पांचों जने थानेदार के पास उनके कमरे में पहुंचे. दुआ-सलाम करके थानेदार ने कहा, "अरे भई! सिगरेट तो पिलाओ."

"साब! बीड़ी है."

मंजीत बावा की कलाकृति

"ला बीड़ी ही पिला...."

बील्या ने बीड़ी का बंडल व माचिस थानेदार को जरा झुककर दी.

थानेदार ने बीड़ी सुलगायी. फिर बंडल और माचिस को अपनी मेज की दराज में डालकर कहा, "यह तुम लोग कैसे कह सकते हो कि गैचिया की घरवाली को पाकिस्तानी उठाकर ले गये?"

"माई बाप!" काका बोला, "ऐसी घटनाएं आये दिन होती रहती हैं. जानवरों से लेकर मर्द-लुगाई तक लाना, ले जाना तो चलता ही रहता है. आप से क्या छिपा है. हुजूर! कोई ढोर-पशु उधर निकल जाता है तो हमें लेने जाना ही पड़ता है. सोचिए न, एक गाय-भैंस आज कितने रुपयों की होती है? कभी-कभी तो ऊंट भी खेजड़े की पतियां खाता-खाता उधर निकल जाता है. बड़ी सावधानी रखनी पड़ती है, यदि उनकी नजर हम पर पड़ गयी तब बावेला हो जाता है. एक बार पाकिस्तानी हमारा ऊंट चुराकर ले गये!.... साब, छिमा करें... हम रात को एक राईके को बुलाकर लाये.... आप तो जानते हैं कि राईका ऊंट को डागले (छत) पर चढ़ा देता है.... उसे पूरे पांच बीसी रुपये दिये. उसके साथ गये.... लाठियां, गैचियां, चौंसगियां और कंवाड़े लेकर.... बाबा रामदेव का प्रसाद भी बोला. बाबा की किरपा से एक की जगह दो ऊंट चुरा लाये. हमें वोह कंकर की मारेगा तो वह पत्थर की पकायत खायेगा."

"अरे नाथ्या! तू किसके सामने चोरी-जारी की बातें कर रहा है." थानेदार ने आंखें निकालकर कहा, "थानेदार राठौड़ के सामने, हरामजादों को थाने में बंद कर दूंगा. चोरी ऊपर से सीनाजोरी का बखान. कहां है वह दूसरा ऊंट? उसे थाने में हाजिर करो."

चेतिया ने पहली बार मौन तोड़ा. वह आगे बढ़कर हाथ जोड़कर बोला, "वह दूसरा ऊंट तो हम सबके पेट में चला गया. उसे बेचकर हमने अपने समाज में दावत कर दी थी, खूब दारू उड़ी थी हुजूर. आपको भी तो दो बोतलें भिजवायी थीं और जायकेदार मांस भी."

थानेदार ने चेतिया को खा जाने की नजर से देखा. फिर कहा, "हमें तो याद नहीं."

काका व्यंग्य से मुस्कराकर बोला, "आपको खाया-पिया कहां याद रहता है हुजूर. कितने लोग खिलाते-पिलाते हैं."

"अच्छा-अच्छा... जब वह औरत वापस आ जाये तो हमें सूंचना देना."

"आप उसके वापस बुलाने का जतन करिए हुजूर." बन्नै ने जरा झुककर कहा, "हमें तो पाकिस्तानी लोगों ने तंग कर रखा है. अब वह औरत आयेगी कैसे? सीमा पार तो लुगाई खरीदी-बेची जाती है. दाम भी बहुत ऊंचे हैं. यह भी पता चला है माईबाप कि हमारे इधर की औरतों को ये पाकिस्तानी उठाईगीर ईरान-ईराक भेज देते हैं."

"हमें सब मालूम है गधे के बच्चे." थानेदार ने नाराजगी प्रकट करते हुए कहा, "क्या तू समझता है कि हम अखबार नहीं पढ़ते?... अरे हम जहान भर की बातों को जानते हैं.... इसके लिए मैं कार्रवाही तुरंत करूंगा. जयपुर-दिल्ली तक आपकी शिकायत पहुंचाऊंगा.... अरे भई!... दारू-बारू का तो पैसा दे जाओ. अमजद खां.... रपट लिख ली!"

उसने दूर से ही कहा, "हां हुजूर... ऐसी रपट लिख दी है कि इन्हें फायदा ही फायदा होगा."

काका ने मूंछों पर हाथ फेरकर सहमते-सहमते कहा, "माइ बाप! सुबह-सुबह दारू के पैसे....?"

"दारू के पैसों के लिए सुबह-शाम का क्या मतलब?...... याद है, पिछले दिनों बील्या ने जब सरदार हनुवंत सिंह के घर में चोरी की थी तब मैंने चुप्पी धारली थी और तुम सब लोगों को जेल जाने से बचा लिया था. मेरे अहसानों को याद करो कंबख्तो!"

काका ने झट से कहा, "माईबाप! क्यों जीती माखी निगल रहे हैं. हर माल का चौथाई हिस्सा ही तो हमें मिलता है. बाकी तो आप सब हजम कर जाते हैं और डकार भी नहीं लेते."

"चुप-चुप... साले." थानेदार एकदम घबरा गया. फिर सबके अर्थ भरे चेहरों को देखकर कहा, "सालो! बहुत चालाक हो गये हो? कागला (कौवा) बेसी चालाक होता है तो चोंच 'गूं' में डालता है. कहीं तुम लोगों की बेसी चालाकी.... निकालो पांच रुपये.... सुबह-सुबह बोहनी नहीं हुई तो सारा दिन खाली जायेगा.... ओह! मेरी हथेली में खुजली भी आ रही है. निकालो... निकालो... जल्दी करो. मुझे आपके लिए आई.जी. साब को लिखना है. राजधानी तक जाना है."

काका ने पांच का नोट यह सोचते हुए थानेदार को दिया कि साला लिये बिना जान नहीं छोड़ेगा.

थानेदार ने नोट जेब में रख लिया.

चेतिया ने अपनी बगल खुजाते हुए कहा, "हुजूर! हम कुछ करें."

"जो मर्जी में आये वह करो पर मुझे सारी जानकारी मिलनी चाहिए. आखिर मैं इस इलाके का थाणेदार हूं." वह कुटिलता से हंसा. उसकी आकृति पर प्रश्नों का जाल-सा फैल गया.

वे लोग लौट आये.

जब गैचिया का नशा हवा हुआ तब उसकी वास्तविक चेतना लौटी. उसने इधर-उधर देखा. झोंपड़ी सूनीसट्ट थी. तरह-तरह के चिथड़े इधर-उधर बिखरे थे. मिट्टी के बर्तन और दो रलकियां एक कोने में पड़ी थीं. एक खूंटी की तरह लगी लकड़ी पर लाडली की लाल रंग की कांचली पड़ी थी. एक बक्से पर दो घाघरे पीले और आसमानी रंग के रखे थे. एक अन्य लकड़ी पर उसकी रंगबिरंगी चूड़ियां पड़ी थीं.

सहसा उसके भीतर मधुर स्मृतियों की लंबी-लंबी घंटियां बज गयीं. लाडली का मोहक चेहरा उसके चारों ओर अजीब-अजीब मुद्राओं में घूमने लगा. उसने आंखें मूंद लीं. सोचने लगा कि इधर उसने लाडली के साथ न्याय नहीं किया. मुफ्त का दारू पीकर उसे रंडी, छिनाल, मालजादी के संबोधनों से पुकारा. धन्नू के जाल में फंसकर उसे घर से निकालने का कुचक्र सोचने लगा. जबकि वह अपने पहले मालदार खसम धन्नू को छोड़कर सबके सामने सीना तानकर उसके साथ खुशी-खुशी प्रेमवश चली आयी थी.

धन्नू उसका पहला पति, हड्डियों का ठेकेदार और कितनी ही वर्जनाओं से भरा धर्मांध व्यक्ति पैसों के लिए हर खुशी को बलिदान करनेवाला कुटिल और चालाक मिनख.

लाडली थी वर्णसंकर. सांसण और ब्राहमण की मिलीजुली संतान! दो रक्त बीजों से उत्पन्न वह लता-सी कोमल लाडली धन्नू के घर आकर एक विचित्र उदासी से घिर गयी. उसके जीवन में आहिस्ता-आहिस्ता एक यांत्रिकता आ गयी और भावात्मक स्तर पर वह अपने को बंदिनी समझने लगी. उसकी हिये की प्यास में एक अनबुझा अहसास था जो उसे खालीपन, घुटन और ऊब से घेरता जा रहा था.

एक दिन उसके पति धन्नू ने पूछा था, "सुण, घर री धणियाणी! मेरे पास किसी चीज की कमी नहीं है. फिर भी तू अणमणी और उखड़ी-उखड़ी क्यूं रहती है. तू कहे तो चांदी की जगह सोने के गैणै-गांठें बनवा दूं."

"नहीं, मुझे नहीं चाहिए गैणैं-गांठें.... मैं तो परदेश में बसे पिया की गोरड़ी की तरह झुर-झुर पिंजर हो रही हूं... हाओ... कदैई तो सेज सजाओ.... मन री पूरी कराओ."

पर धन्नू उसे तृप्त नहीं कर सका. शरीर को वह गैणां-गांठा से सजाता रहा, अच्छी-अच्छी पोशाकों से आकर्षक बनाता रहा पर वह लाडली को आंतरिक रूप से प्रसन्न नहीं कर सका. सजा नहीं पाया. लग रहा था कि उसके शरीर के भीतर एक ऐसा सच है जो नंगा होना चाहता है. उसके होठों पर एक ऐसा गूढ़ार्थ दपदप कर रहा है जो परिभाषित होकर सार्थक होना चाहता है. उसकी आंखों में कभी-कभी ऐसी दहक होती थी जैसी विद्रोह के पूर्व होती है. धन्नू सहम जाता. आंतरिक भय से कांप जाता. उसे लगता कि एक अंतहीन पीड़ा से ग्रस्त है उसकी बहू लाडली. ओझा से संपर्क किया गया. एक मादलिया पहनाया गया. इधर क्रमशः लाडली की आंखों की दहक बढ़ती ही जा रही थी. धन्नू चिंतित और परेशान था. वह बार-बार उसे पूछता था कि आखिर बात क्या है? वह केवल मर्मांतक पीड़ा से अपलक देखती रहती. जब वह ज्यादा ही प्रश्नों से बींधता तब लाडली रूआंसी होकर कहती, "तू मर्द है न, मर्द होकर लुगाई के हिये की लाय (आग) को नहीं जानता. अरे! तेरे टकै-पइसै में कोई भदरक नहीं है.... म्हैं थूकती हूं इन पैसों पर. तू देवी-देवता को पूज.... अरे! वे पत्थर के हैं. उनके हियै में लुगाई-मर्द वाली लाय कठै?"

"तू....तू.... मेरे देवता रामदेव..."

"तेरा देवता रामदेव.... तेरी देवी दुर्गा?... वे तुझे लुगाई की लाय बुझाने लायक मर्द क्यूं नहीं बनाते? तू...." क्रोध में उसका चेहरा आरक्त हो गया.

धन्नू ने गुस्से में लाडली को मारना-पीटना शुरू कर दिया. लातों-घूंसों से. जब वह मार रहा था तब उसके मन में ओझा के शब्द गूंज रहे थे—"अरे! तेरी लुगाई के रगत में मिलावट है-इसको तू लात घूंसों से नहीं समझायेगा तो यह कभी नहीं समझेगी. इसकी नथली में लगाम डाल."

लाडली कई दिनों तक मार खाती रही. फिर एक दिन वह एकाएक भड़क उठी. अपने पति को जोर का धक्का देकर रणचंडी की तरह बोली "हिजड़े! जब मर्दानगी मूत करने लगी तब मार-पीट पर उतर आया!... अरे! मैं आज से हाड़-तुड़वाने वाली नहीं रहूंगी...... ले तेरी चूड़ियां,.... मैं जाती हूं. नामर्द कहीं का.... बाईगट्टा.... खा बैठ कर अपने धन को. चबा अपने रुपये पैसों को."

वैसे वह गैचिया को सदा देखती थी. अपनापा भरी नजर से देखती थी और गैचिया उसे. गैचिया का बदन कई बार लाडली के शरीर में धंस गया था. कई बार उसके अंगों को विचित्र तृप्तियों से भिगो गया था. दोनों एक खिड़की में से चोरी-चोरी देखते रहते थे... कभी-कभी अनायास लाडली के होठों पर मुस्कान तैर जाती थी. एकदम मौन और सांकेतिक प्रेम. कभी-कभी यह प्रेम उजागर भी होता था—जब लाडली बाजरी का चूरमा बनाकर उसमें घी-गुड़ डालकर उसे भेजती... कभी चोरी से दूध का कटोरा देती. गैचिया विगलित हो जाता था. आनंद के अतिरेक में आत्मविभोर-सा हो जाता. आंखें नम-सी हो जाती थीं....

सुधीर पटवर्धन की कलाकृति
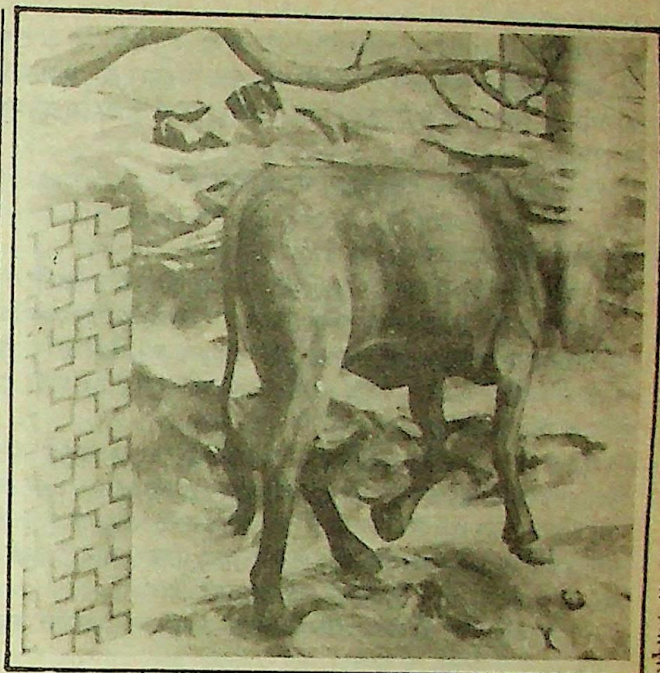
कितना लुका-छुपी का मौन प्रेम. गैचिया बहुत ही डरता था धन्नू से. आतंकित था वह. सामने एक झोंपड़ी में रहता वह उसकी ही चाकरी करता था.

क्रोध और आवेश में पागल बनी लाडली वहां से निकलकर गैचिये के पास गयी. गैचिया उसे देखते ही थर्र-थर्र कांपने लगा.

"बोल गैचिया रखेगा अपने साथ हमेशा-हमेशा के लिए घरवाली बनाकर!" लाडली ने गर्ज कर कहा, "मैं धन्नू पर थूककर आ रही हूं. वह नामर्द है, हिजड़ा है. मुझे नहीं चाहिए इसके महल-मालिए-गैणा-गांठें... कपड़े-लतै...."

वह अनर्गल बकती जा रही थी. देखते-देखते भीड़ लग गयी.

लाडली ने सीधा निर्णय सुनाते हुए पांव पटककर कहा, "मैं धन्नू को छोड़कर जा रही हूं... मेरे पास इसकी एक कौडी भी नहीं है. आज से मैं इससे सारे नाते-रिश्तों को तोड़ रही हूं. यह...." वह हाथों की चूड़ियां तोड़ने लगी.

धन्नू बाज की तरह झपटता हुआ आया और उसके मुंह पर हाथ रखकर-भीतर ले गया. वह क्रोध और प्रार्थना के मिश्रित स्वर में बोला, "चुप....चुप हो जा गैली रांड..... अरे! ऐसी पगड़ी क्यों उछाल रही है कि दूजी लुगाई ही इस घर में न आये. जा... रांड हत्तीतत्ती, जा, पर नामर्दवाली बात सरेआम मत कह. मैं सब कुछ सह लूंगा... तुझसे लाभ हानि भी कुछ नहीं लूंगा. चुप रह.... मादरकाढ चुप रह, वर्ना खूनखराबा हो जायेगा."

जैसे लाडली सब कुछ समझ गयी. उसने कहा—"मेरा पिंड-छोड़. गैचिये को डराना-धमकाना नहीं. उसे रोकना-टोकना नहीं. मैं अपने होंठ-सी लूंगी."...

धन्नू के स्वर में हजारों पछतावे एक साथ तैर उठे, "तेरे जैसी भयंकर लाचेवाली लुगाई मैंने इस भोम पर नहीं देखी. इत्ता सोनो-चांदी, अन्न, धन छोड़कर एक नागे-भूखे मोट्यार गैचिये के साथ जा रही है? बहुत दुख पायेगी. लाडली! सोरी खा-खाकर तू टांगें पसार-पसार सोती थी इसलिए इस मजूरड़े के सागै जा रही है?" उसने उलाहना देते हुए फिर, कहा, "दुख से तो सभी धाप जाते हैं पण सुख से तुझे ही धापते देखा है."

"बाहर के सुख से भीतरी सुख बड़ा होता है." वह दृढ़ता से बोली, "अरे बाईगट्टा! मेरी भीतरी लुगाई सिर पीट कर रोती है. तेरा सापा करती है. तू पैसे-ढक्के से लुगाई को बांधना चाहता है! केवल पैसे से नहीं बंधती है लुगाई. पैसे से उसकी प्यास नहीं बुझती सुन. उसे तो पूरा मर्द

ही बांध सकता है."

लाडली ने सारा ऐश्वर्य छोड़ दिया और राजी-खुशी गैचिये के साथ आ गयी. मजूरी करने लगे दोनों! गैचिया पूरा मोट्यार था. पूरा मर्द! लाडली की लुगाई को तृप्त कर दिया. उसकी लुगाई के सर्वांग को पूर्ण कर दिया.

वह गैचियै के साथ सुख-शांति से जी रही थी.

समय बीत रहा था.

इधर गैचिया बदलने लगा. वह दो-दो, तीन-तीन दिनों तक प्रेतात्मा की तरह गायब हो जाता था. हर समय उसके देह-मंदिर का अर्चन करनेवाला उसकी उपेक्षा करने लगा. लाडली जैसी दबंग और मस्ती से जीनेवाली औरत उसकी जरा-सी भी उपेक्षा नहीं सह पायी. वह चिंतित और उत्तेजित रहने लगी.

एक दिन उसने उसे हबंगपन से कहा, "सुन गैचिया, मैं चींचड़ नहीं हूं कि चिपक गयी तो चिपक गयी. मैं ठहरी साफ-सच्ची लुगाई. इधर तेरा मन लगता है कि मुझ से भर गया है, मैं तुझे साफ-साफ पूछती हूं कि तेरे मन में क्या है. मुझे सच-सच बता. तू दारू कहां पीकर आता है. कहीं तू मेरे पहले खसम धन्नू हिजड़े के पास तो नहीं जाता?"

"नहीं-नहीं, तेरी सौगन." गैचिया ने अपना टेंटुआ पकड़कर कहा, "यह तो यार-दोस्तों के साथ...."

"देख, मुझसे झूठ मत बोलना. मैं गिरज-दीठ (गिद्ध-दृष्टि) रखती हूं. पता लगा लूंगी." लाडली ने उसे बांहों में भरते हुए कहा, "यह बिल्कुल सच है कि मैं तेरे बिना नहीं रह सकती. कूवा-खाड कर लूंगी, मार कर मर जाऊंगी... तू पक्का मर्द है. तेरे साथ भूखी-तिसी रहने पर भी एक सुख मिलता है, एक आनंद मिलता है. सुबह जब सोकर जागती हूं तब आत्मा एकदम तिरप्त लगती है."

"अरे बावली... मेरा भरोसा कर...."

"भरोसा तो है ही पर उसे तोड़ना अच्छा नहीं होगा."

"नहीं तोडूंगा—नहीं तोडूंगा... नहीं तोडूंगा." वह गहरे विश्वास से बोला.

वह उसे अपने में भींचता गया.

आखिर लाडली को पता लग ही गया कि गैचिया धन्नू के पास जाता है. वहीं से दारू पीकर आता है. धन्नू इस चेष्टा में है कि इस नागण का फन तोड़ूं... इसे दर-दर की भिखारिन बना दूं....

पर नागिन तो नागिन ही होती है.

उस रात वह जब दारू पीकर आया और खूब पीकर आया तो नशे में सब कुछ उगल गया. लाडली जान गयी कि धन्नू उसका सर्वस्व नष्ट करके बदला लेना चाहता है... वह गैचिये को अनाचारी शराबी बनाकर उसके जीवन में आग लगाना चाहता है. फिर भी मन साख नहीं भरता था कि गैचिया ऐसा करेगा. उसका मन गहरे अवसाद से भर गया. इस प्रश्न को लेकर.

वह नहीं बोली.

उसकी आंखें भर-भर आयीं.

उस दिन उसकी गाय जंगल में घास चरती-चरती पाकिस्तान की सीमा में घुस गयी. लाडली हाथ में लाठी लिये पीछे-पीछे चली गयी. गाय तो आ गयी पर वह नहीं आयी.

बन्नै की बहू कपूरी ने अपने पति को बताया कि चार जने आये थे और लाडली को दबोच कर ले गये. बन्नै ने सबको कह दिया. बात आग की तरह फैल गयी.

जब नशा उतरा और सारी बात जब गैचिया को मालूम हुई तो उसक जैसे अस्तित्व ही हिल गया. अपने पर ग्लानि भी हुई. अपने को धिक्कारा भी. लाडली के जाने के बाद उसका अभाव, अपनापन और प्यार उसे सताने लगा. उसका मन उचट गया. अभाव खलने लगा. पछतावा किया. रोया-गिड़गिड़ाया फिर वह प्रतिहिंसा से भर गया

उसने काका और अपनी बिरादरी के लोगों के पास जाकर कहा, "मैं कंगालों और हरामजादों को सबक सिखा दूंगा. एक की जगह दो लुगाइयां उधर से उठाकर लाऊंगा.... देखता हूं कि वे मेरी लाडली को कैसे रखते हैं?"

"हमें ऐसा ही करना है." काका ने उसकी बात का समर्थन किया, "पुलिस के भरोसे कुछ नहीं होने वाला है. उन्हें दारू-मांस दो और ढांढस लो. कहते रहेंगे—'बड़े साब के पास रपट भिजवा दी है. दूसरे देश का मामला है.... वक्त तो लगेगा ही. फिर अपना यह थाणेदार बहुत नीच और मक्कार है. आ धमकेगा ढांणी में और उल्टे-सुल्टे दोष लगाकर हमें ही लूटेगा. मैं कहता हूं कि तुम कई जने जाओ और घात लगाकर एक या दो पाकिस्तानी औरतें ले जाओ. हमारा अपने न्याय का फैसला तो यही है. एक औरत के बदले एक औरत. दो ले आओ तो लाभ ही लाभ."

सब ने रामदेव बाबा को हाथ जोड़कर अरदास की. प्रसाद बोला फिर अपने अभियान पर चल पड़े.

वे पांच-छह लोग बेर की झाड़ियों की ओट में छुपे हुए थे. उनकी गिद्ध-दृष्टि सीमा पार थी. खोज रही थी—अपना शिकार. उनके भीतर घृणा का लावा था. प्रतिहिंसा की लपटें थीं और क्रोध का बवंडर था. एक दिन बीत गया. खाना-पीना भी वहीं. रात भी ढल गयी. दूसरी सुबह भी बीत गया.

धूप! तपती रेत! लू के जलते हुए थपेड़े. लगता था कि जैसे कोई गर्म-स्पर्श कर रहा हो. चारों ओर सन्नाटा ही सन्नाटा. सूना आकाश और सूनी धरा.

लंबी प्रतीक्षा ने उनके भीतर एक ऊब और उकताहट को जन्म दे दिया. सारी बातें भी उनकी खत्म हो गयीं. क्योंकि उनकी दुनिया भी तो थी केवल खेत, बिरादरी, जंगल, चोरी और उठाईगीरी. शहरों के दर्शन तो कभी-कभार करते थे. इसलिए उनके बारे में बहुत कम जानते थे.

फिर भी बील्या बोला, "यह तो थका देने वाली बात हुई. आज उधर एक लड़की भी दिखायी नहीं दी."

"यह सब भाग के खेल हैं." बन्ना बोला. फिर उसने नाक सड़का और बंछिये से पोंछा.

लघुकथा

यह भी सही है

□ हीरालाल ठाकुर

दो मित्र, रमेश और मोहन बातचीत कर रहे थे. रमेश ने कहा, "मोहन, तुम्हारा वह जो मित्र है न? क्या नाम है उसका? याद आया सुरेश. बड़ा भला आदमी है."

"हां है." मोहन ने कहा.

"बड़ा ही परोपकारी जीव है."

"हां है."

"पर यार, कभी-कभी वह झूठ भी बोलता है."

"हां, बोलता है."

"मक्कारी भी करता है."

"हां, करता है."
"महिला-प्रेमी भी है. कई महिलाओं के साथ मैंने उसे देखा है."
"सही है तुम्हारी बात."
"जुआ भी खेलता है."
"हां, खेलता है."
"दारू भी पीता है."
"हां, पीता है."
"एक दिन तो वह मुझे वेश्याओं के मुहल्ले में भी दिखा था."
"दिखा होगा."
"अब एक बात बता. ऐसे आदमी से तेरी मित्रता क्यों है?"
ये जो आठ विशेषताएं तुमने गिनाईं न उसकी, वे सब सही हैं. वह अकेला मेरे लिए आठ मित्रों के बराबर है. नहीं तो मुझे अलग अलग आठ लोगों से मित्रता करनी पड़ती. एक ही से काम चल जाता है." मोहन ने समझाया.
"हां यार, यह भी सही है." रमेश इसके सिवाय कुछ न कह सका. □

"धीरज रखो." चेतिया ने कहा.

गैचिया ने अफसोस जाहिर करते हुए कहा, "सब गलती मेरी है. मैंने ही लाडली के साथ कपट किया. उसे डांटा-डपटा. उसे थप्पड़ भी मारा. क्या करता, धन्नू ने खूब दारू पिला दी थी. एकदम रद्दी दारू... बील्या! मैं नीच आदमी हूं... मैंने उससे छुपकर धन्नू से यारी की. मैं लाडली को दुखी करना चाहता था."

"नीच!" बील्या ने जैसे झिड़का, "जिस धन्नू के महल-मालियों पर वह थूककर आयी थी, उन्हीं महल-मालियों में घुसने का तूने जतन किया? छिः छिः बहुत ही नीच है तू."

गैचिया ने लंबा सांस लेकर कहा, "आदमी लालच में मारा जाता है. सच, उस धन्नू के बच्चे ने मेरी बुद्धि निकाल ली थी पर यह भी सच है कि मैं बिना लाडली के जी नहीं सकता. वह मेरी जीवण-जेवड़ी है."

तभी उन्हें दो लड़कियां दिखायी दीं. सत्रह-अठारह बरस कीं. सबकी आंखों से प्रश्न निकलकर आपस में टकरा गये. हिंस्त्रता भरे इरादे उनकी आंखों में स्पष्ट दिखायी पड़े. सहसा वे नरभक्षी जानवर बन गये.

चुपचाप छुपते-छुपते वे पाकिस्तानी सीमा में घुसे.... कुछ ही क्षणों के अंतराल के बाद वे दोनों लड़कियां उनके कब्जे में थीं. उनकी गाय-भैंसें वैसे ही निर्द्वंद्व भाव से चर रही थीं. नीले आकाश में गिद्ध शांति से तैर रहे थे. कींकर पर सांप लटक रहा था, वह भी वैसा ही लटक रहा था. दो काले रंग के 'गूंगले' पेड़ की जड़ की ओर बढ़ रहे थे.

वे लोग लौट आये. जैसे उन्होंने अपनी प्रतिशोध भावना को सही ढंग से पूरा कर लिया हो. उनके चेहरों पर खुशियों के सूरज थे और ये लड़कियां अज्ञात आतंक से पीली हो गयी थी.

दिन ढ़ल रहा था.

सलाह-मशविरा के लिए बैठक का आयोजन किया गया. धन्नू भी था!

काका ने सहमी-सहमी और अनागत विपत की भयपूर्ण स्थितियों में आकुल उन छोरियों को देखा जो बुत बनी हुई थीं! कदाचित वे भीतर से इतनी डर गयी थीं कि उनसे कुछ भी बोला नहीं जा रहा था. वैसे उनके लिए कोई सवाल भी नहीं था.

काका ने बीड़ी सुलगाकर लंबा कश लिया, "यह हमारी शानदार जीत है! वे कमीने हमारी एक औरत को ले गये और हम दो ले आये! जीत तो हमारी ही रही. फायदा तो हमें ही हुआ! पर अब एक समस्या भी पैदा हो गयी कि एक की जगह दो आ गयीं! एक तो इन दोनों में से छांटकर गैचिया ले लेगा पर दूजी का क्या करेंगे?"

चेतिया ने जैसे दूर की सोची हो. बोला, "मेरी तो राय है कि दूजी छोरी को थाणेदार को सौंप दें और उसके बदले 'मनिया' को चोरी के चक्कर से निकलवा लें! वह भी थाणेदार के चंगुल में है. साला थाणेदार औरतों का भुक्कड़ है! लकड़ी की औरत देखकर भी उसकी बांछें खिल जाती हैं!"

गैचिया अभी तक चुप था! वह घूर-घूरकर उन दोनों लड़कियों को देख रहा था. जैसे जांच रहा हो कि कौन-सी अच्छी है? यदि उसका वश चलता तो वह उठकर उनके एक-एक अंग को टटोलकर देखता! मन में पाप जन्मने लगा! नीयत बिगड़ने लगी.

दोनों लड़कियां बला की सुंदर थीं. हालांकि उनके कपड़े गंदे और मैले थे. एक-दो जगह पैबंद भी लगे हुए थे! बाल रूखड़ और चिपचिपे थे! शायद पानी के अभाव में नहाती ही न हों! रेगिस्तान के उस इलाके में पानी का अत्यंत अभाव जो रहता है!

काका की बीड़ी बुझ गयी थी! उसे पुनः जलाकर दो फटाफट कश लेकर उसने कहा, "एक छोरी गैचिया अपनी पसंद की ले ले! उसकी सारी जिम्मेदारी उसकी होगी! यदि यह भाग गयी तो बिरादरी का कोई जिम्मा नहीं है! दूसरी छोरी के बदले मनिया को चोरी के अपराध से छुड़ाया जायेगा! थाणेदारजी को कहा जायेगा कि वह मनिया को बरी करा दे? क्यों ठीक है न?"

सभी ने एक स्वर में कहा, "ठीक है, ठीक है."

यह सब तय हो रहा था, तभी थानेदार राठौड़ प्रेतात्मा की तरह प्रकट हो गया. उसके साथ उसका खास चमचा अमजद खां था.

दोनों ने वहां मजमा लगा देखा तो चौंके! उनके चेहरों पर अचरज के कांटे उभर आये! राठौड़ की आंखें फैलती गयीं.

भौंहें तन गयीं!

एक पल उसका दिमाग तेजी से दौड़ा कि आखिर यह माजरा क्या है? ये दो छोरियां कौन हैं? वह गिद्ध-दृष्टि से उन्हें घूरने लगा!

इधर थानेदार को देखते ही सारी सांसी बिरादरी को मानो सांप सूंघ गया हो.

काका ने मन ही मन उसे गाली देकर कहा, "यह साला हरामजादा कहां से आ गया? चलो, हमें जाना नहीं पड़ेगा इसके पास."

थानेदार हवा में हाथ हिलाकर चिल्लाया, "सूअर के बच्चो! यह क्या तमाशा हो रहा है?" फिर उसकी छोरियों पर निगाह पड़ी. वह जैसे बाघ बन गया. तीखी दृष्टि से उन्हें घूरकर बोला, "ये छोरियां कौन हैं? जल्दी बोलो वर्ना एक-एक को बंद कर दूंगा. तुमने समझ क्या रखा है थाणेदार राठौड़ को! अरे! मेरे नाम से अच्छे-अच्छे तीसमारखाओं का मूत निकल जाता है. बताओ, ये कौन हैं?" वह सांप की तरह होंठों पर जीभ फिरा रहा था.

सारी बात बताकर काका ने कहा, "माई बाप! हमने तो आपकी मौज-मस्ती का इंतजाम पहले ही सोच रखा है पर...."

"ओ बे चोट्टे! गंडमरे!.... कानून को हाथ में लेता है?" उसने उसे डांट पिलायी, "यह कैसे मान लूं कि ये छोरियां तुम पकड़ कर लाये हो? यह भी तो हो सकता है कि ये जानबूझकर तुम्हारे साथ आयी हों. फिर यहां रहकर हमारी गुप्त बातों का पता लगाती रहेंगी. अरे गधो! ये जासूस भी तो हो सकती हैं. इन दोनों को पूछताछ के लिए थाणे ले जाना होगा."

"अन्नदाता! आप भरोसा करें. इन्हें हम गैचिये की बहू के बदले उठाकर लाये हैं. आखिर हमारी एक औरत भी तो वे हरामजादे उठाकर ले गये हैं." उसने उसे समझाने की चेष्टा की!

थानेदार आंखें निकालकर कुत्ते की तरह गुर्राया, "मुझे बना रहा है साला. मैं कोई भड़भूंजा हूं. मैं हूं थाणेदार गोपसिंह राठौड़. उड़ती

चिड़िया को पहचान लेता हूं. अमजद खां! इन छोरियों को थाणे ले चलो."

गैचिया ने विरोध प्रकट किया, "नहीं, ये थाणे नहीं जायेंगी. क्या इन्हें जीतेजी मरना है वहां जाकर... थाणे में आप क्या करेंगे ये हम सब जानते हैं. इन पर जबरजन्ना करेंगे और...."

"ओ रे कुत्ते की औलाद! भेजा फोड़ दूंगा मादरकाढ़, थाणेदार राठौड़ को क्या समझता है? सुनो, कानून को हाथ में लेना बड़ा जुर्म है... जेल में चक्की पीसनी होगी."

काका ने अपने हाथ की बुझी बीड़ी को फेंक दिया और कहा, "माईबाप! बात को उलझाइए नहीं. गांठ पर गांठ लगाने से रस्सी सीधी नहीं होगी."

"चुप कर बुढ़्ढ़े... मुझे समझाता है. मैं इन दोनों का.... अरे मेघला भी इस अपराध में शामिल है. ओ मेघला. तू तो फौज में है. तू भी इन उठाईगीरों के साथ...." जैसे उसने मेघला को चेतावनी दी!

मेघला गेहुएं रंग का गबरू जवान था. फौज में हवलदार था. उठकर बोला, "थाणेदारजी! यह बिरादरी का मामला है इसमें तो आना ही पड़ता है."

"कान खोल के सुनो, मैं दोनों को गिरफ्तार करके कानूनी कार्रवाही करूंगा. यह मेरी ड्यूटी है." वह जैसे भयंकर नाराजगी प्रकट करते हुए बोला, "मैं हर समय क्या अपना ईमान-धर्म बेचता रहूं?.... देखो, तुम लोगों ने मेरी बात नहीं मानी तो मुझसे बुरा कोई न होगा. सबको बंधवा दूंगा... मार-मारकर भुर्ता बनवा दूंगा. मेरी बात मानोगे तो सुख पाओगे. मैं इन्हें थाणे में पूछताछ करके कल तक तुम लोगों से समझौता करने की जुगत कर सकता हूं."

काका जानता था कि रात भर ये आदमखोर इनके गर्म गोश्त को खाता रहेगा. बड़ा ही कमीना है. दारूबाज और कामी कुता..."

थानेदार ने हवा में डंडा घुमाते हुए फिर कहा, "मेरी बात मानोगे या मैं....? शांति से मेरी बात सुनो.... इस गांव में मेरी मर्जी के बिना कुछ भी नहीं होना चाहिए, यदि होगा तो बुरे फंसोगे?"

वह अभी अपनी बात पूरी नहीं कर पाया था कि एकाएक देवात्मा की तरह लाडली प्रकट हो गयी.

उसके हाथ में राइफल थी. राइफल को देखते ही मेघला चौंका. जोर से बोला, "यह तो मेरी राइफल है. अरे लाडली मेरी राइफल क्यों उठा लायी? मुझे मरवायेगी क्या?"

लाडली ने गरजकर कहा, "सुनो-सुनो, अपने गैचिये की कसम खाकर मैं कहती हूं कि मुझे पाकिस्तानी उठाईगीर उठाकर नहीं ले गये. मैं तो गैचिया से नाराज होकर अपनी भायली संतूड़ी के यहां चली गयी थी. कपूरी ने मेरे कहे अनुसार यह झूठी बात फैला दी. यह साली मरदजात... थू है इन्हें. खरे रहते ही नहीं... हर समय लुगाई से कपट करते रहते हैं. इस गैचिये ने भी मुझसे कपट किया. मारा-पीटा, गंदी गालियां दीं. बस, मैं इसे सबक सिखाने के लिए संतूड़ी के पास चली गयी. इसको एक झटका देना था! मुझे कपूरी से सब मालूम हो गया कि यह गोंचू गैचिया पीछे से खूब रोया-गिड़गिड़ाया. पछतावा किया कि जो लुगाई मेरे पीछे धन्नू के मालियों और पैसे पर लात मारकर आयी है वह उसे कितना प्यार करती होगी! सच, मैं उसे बहुत प्यार करती हूं! यह पक्का मर्द है. एकदम तने हुए घोड़े की माफिक! पर साला है गिचपिच! चला गया धन्नू के पास... पीने लगा दारू, निकालने लगा भद्दी गालियां, कमीना मुझे पीटने भी लगा. तब मैंने सोचा कि इस लफंगे को सबक सिखाना चाहिए."

थाणेदार ने चेतावनी देते हुए कहा, "सुन लाडली, कानून को हाथ में मत ले, तेरा मसला सुलझ गया, तुझे तेरा गैचिया मिल गया.... यदि तूने थाणेदार राठौड़ से झगड़ा मोल लिया तो मिर्चें भरवा दूंगा."

"कई देखे हैं मिर्च भरवानेवाले. मैं इन छोरियों को तुम्हें छूने भी नहीं दूंगी. ये बापड़ी निरदोष व सीधी-सादी हैं. जब मुझे पाकिस्तानी उठाईगीर उठाकर ही नहीं ले गये तब इन पर जोर-जुल्म क्यों? देखिए थाणेदारजी, यह हमारी बिरादरी का मामला है. अभी आप पधारिए.... हमारे फैसले के बाद ही आप अपना फैसला करें! हमने कई बार ऐसे फैसले किये हैं तब तो आप नहीं बोले! आज सतवादी बन गये क्योंकि दो छोरियां जो हैं."

"मैं तुझे फांसी पर चढ़वा दूंगा." वह चीखा, "मैं अभी सारे सिपाहियों को लेकर आता हूं."

"चढ़वा दीजिए, पर अभी आप जाइए! हमारी पंचायत में आप अपनी टांग मत अड़ाइए!"

थानेदार पागलों की तरह अंटसंट बकता हुआ चला गया. उसके पीछे कंधे उचकाता हुआ अमजद खां भी.

सारे लोग एक अनजानी दहशत से घिर गये! वे जानते थे कि यह दुष्ट और भ्रष्ट थानेदार हाथ पर हाथ धरे बैठा नहीं रहेगा!

उन सबको नजर में भरती हुई लाडली फिर जोर से बोली, "डरो नहीं, यह गंडमरा थाणेदार हमारा कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता. यह तो पैसे और छोरियों का भूखा है! जांघों के जंगल में इसकी सारी ईमानदारी घुस जाती है? ऐसा बेईमान हम नंगों के छत्तों में हाथ डालता हुआ सोचेगा! क्यों जाने दूं इन छोरियों को?"

इस बार बन्नै बोला, "नहीं! तू झूठ भी बोल सकती है कि तू उठाईगीरों के चंगुल में नहीं फंसी. सब कुछ लुटवाकर चालाकी से भाग आयी हो. आखिर हो तुम दबंग-हुशियार औरत. अब तो गैचिया ही फैसला करेगा कि वह तुझे अपनाए या इन दो लड़कियों में से किसी एक को!"

एकदम घृणा से लाडली बोली, "अरे वाह राजा हरिश चंद्र,.... मैं क्यों झूठ बोलने लगी! संतूड़ी को बुला लो. देखती हूं इन छोरियों का आप इंसाफ कैसे करते हैं? फिर मेरा इंसाफ तो मेरा गैचिया करेगा?"

काका ने हथेलियां मसलते हुए कहा, "लाडली! बिरादरी के बीच में खच्चर-पच्चर करनेवाली तू हैं कौन?.... गैचिया ही इसका चुनाव करेगा. बोल गैचिया, तू लाडली को रखेगा या इनमें से एक छोकरी को?"

गैचिया एक बारगी विमूढ़ हो गया. वह कुछ भी निर्णय नहीं कर पा रहा था.

एक ओर एकदम जवान और ताजा पूरी पाठी छोरी और दूसरी ओर उसके लिए सरबस निछावर करनेवाली एक बाघिन किस्म की औरत! एकदम प्यार की दीवानी!

धन्नू सोच रहा था कि गैचिया उसकी दारू पीता है, मांस खाता है, उससे दो-चार रुपये समय-समय पर ले जाता है, जरूर लाडली को छोड़ देगा! उसकी जीत हो जायेगी.

धन्नू चिल्लाया, "बोलता क्यों नहीं गैचिया? छोड़ दे इस छिनाल को."

लाडली ने उसे खा जाने की दृष्टि से देखा! यदि कोई और समय होता तो वह उस पर बाज की तरह झपट्टा मारती, पर अभी वह अपने गुस्से को पी गयी. वह केवल गैचिया का फैसला चाहती थी. अपने प्यार के इम्तिहान का नतीजा चाहती थी!

गैचिया काले कपड़ोंवाली लड़की को प्यासी आंखों से घूरता रहा. घूरता रहा. कितनी फूठरी है! कितनी मांसल.. कितनी कमसिन!

लाडली के भीतर उबाल था! एक दुर्घर्ष संघर्ष!

अचानक गैचिये के मुख से निकला, "लाडली." जैसे उसने अपनी आत्मा के विरुद्ध इस शब्द को उगला हो!

लाडली ने उन छोरियों को कहा, "भाग जाओ अपने घर... भागो. देर मत करो. मेरे हाथ में रैफल है. भागो... जोर से भागो..."

छोरियां पूरी शक्ति से भाग पड़ीं. भागती रहीं! धीरे-धीरे वे ओझल हो गयीं!

लाडली नये संघर्षशील विश्वास के साथ रायफल पर हाथ फेरती रही. □

• साहित्य अकादेमी पुरस्कार विजेता रचनाकार : तीन

रामेश्वर बूटा की कलाकृति

□ केदार नाथ सिंह

जन्म : सन् 1934 उत्तर प्रदेश के बलिया जिले के एक गांव में.
प्रमुख कृतियां : 'जमीन पक रही है' तथा 'अकाल में सारस' सहित चार कविता संग्रह और दो आलोचना पुस्तकें.
पुरस्कार : 'अकाल में सारस' पर सन् 1989 का साहित्य अकादेमी पुरस्कार. सन् 1981 में कुमारन आशान पुरस्कार (केरल).
संप्रति : जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र में प्रोफेसर तथा विभागाध्यक्ष.
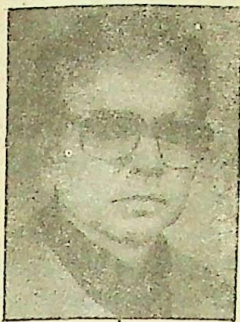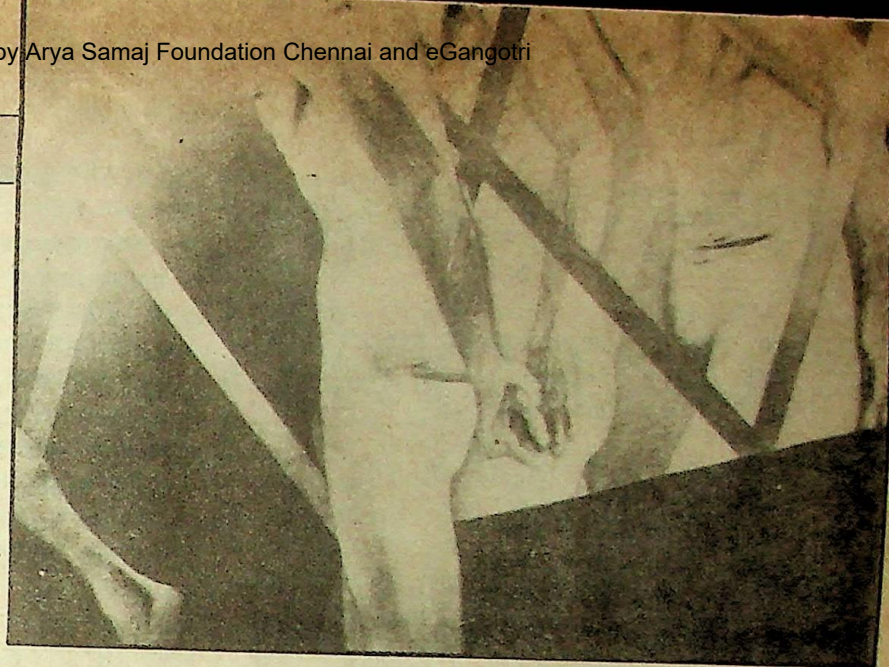
नमक

एक शाम शहर से गुज़रते हुए
नमक ने सोचा
मैं क्यों हूं नमक!

और जब कुछ नहीं सूझा
तो वह चुपके से घुस गया एक घर में

घर सुंदर था
जैसा कि आमतौर पर होता है
अक्तूबर के शुरू में

एक चम्मच में गिरते हुए
नमक ने सोचा
चलो अब सब ठीक हो जायेगा

फिर ज़रा दम लेने के बाद
वह उठा
चूल्हे के पास तक गया
और धीरे से घुल गया दाल में
सब्जी में

और ठीक समय पर
जब सज गई मेज़
और शुरू हुआ खाना
तो सबसे अधिक खुश था नमक ही
जैसे उसकी जीभ
अपने ही स्वाद का इंतज़ार कर रही हो

—कि ठीक उसी समय
पुरुष जो कि उससे अधिक चुप था
धीरे से बोला—
'दाल फीकी है'.
'फीकी है?'
स्त्री ने आश्चर्य से पूछा.
'हां, फीकी है—
मैं कहता हूं फीकी है.'
पुरुष ने लगभग चीखते हुए कहा.

अब स्त्री चुप
कुत्ता हैरान
बच्चे एकटक
एक दूसरे को ताकते हुए

फिर सबसे पहले पुरुष उठा
फिर बारी बारी मेज़ से उठ गये सब
एक नमक को छोड़कर

दाल में पड़े-पड़े
नमक ने देखा बच्चों की ओर
बच्चे कुत्ते की ओर देख रहे थे
कुत्ता देख रहा था
जाती हुई स्त्री की ओर

न सही दाल
कुछ न कुछ फीका ज़रूर है
सब सोच रहे थे
लेकिन वह क्या है?

नमक को लगा
उस समूचे घर में एक कुत्ते के अलावा
इसे कोई नहीं जानता. □

एक बहका हुआ आदमी

मैं वहां खड़ा रहा और सोचने लगा कि जब यह शहर नहीं बसा था तो यहां क्या होगा...? और वह कौन था जो सबसे पहले यहां आया होगा...? एक सशक्त उर्दू कथा—

□ सुरेंद्र प्रकाश

(उर्दू कथाकार)
जन्म : सन् 1930 लायलपुर (अब पाकिस्तान).
प्रमुख कृतियां : 'दूसरे आदमी का ड्राइंग रूम', 'बर्फ पर मकाल्मा' और 'बाज गोयी' (कहानी संग्रह) 'बाजगोयी' पर सन् 1989 का साहित्य अकादेमी पुरस्कार फिलहाल 'फसाना' उपन्यास पर काम कर रहे हैं.
संप्रति : दूरदर्शन व धारावाहिकों के लिए लेखन कार्य कर रहे हैं.

कई दिनों से महसूस हो रहा था कि जिंदगी में कहीं किसी चीज की कमी-सी हो गयी है. वातावरण धूल-धूसरित था. आसमान पर गुबार चढ़ा हुआ था और उस धुंधलके में सूरज का चेहरा फीका पड़ गया था. यानी जो रुपया भी हाथ आता था, हथेली पर धरकर देखो तो सौ पैसे का नहीं लगता था.

लोग सड़कों पर सिर झुकाकर उदास-उदास-से चलते दिखायी देते थे. शहर के ऐन बीच में जो फौवारा था, उसमें से निकलने वाली फुहारें बदस्तूर वक्त का पता देती थीं यानी एक बजे एक फुहार उछलती, दो बजे दो फुहारें और तीन बजे...

जब यह फौवारा नया-नया बनकर तैयार हुआ था तो इसके आसपास एक भीड़ घंटों जमा रहती और फौवारे से निकलने वाले पानी की फुहारों पर एक-स्वर से चिल्ला उठती—"तीन बज गये... चार बज गये... पांच बज गये..."

गर्ज यह कि रात के बारह बजे तक जब फौवारे के सूराखों से बारह की बारह फुहारें प्रकट होतीं तो शहरवाले यहां इकट्ठे रहते, फिर दोपहर के बारह बजे तक. और फिर यह जिंदगी का हिस्सा बनकर रह गया. लोग यहां से गुजरते हुए एक नजर उस पर डालते, वक्त का अंदाजा करते और अपने काम पर चलते बनते.

फिर फौवारे के चारों तरफ बने हौज में पानी पीने के लिए कौवे और चिड़ियां आने लगीं. मगर कभी-कभी कोई अजनबी चिड़ियां भी नजर आ जाती, जिसके पंख रंगदार और चमकीले होते. वह हमारी आम चिड़ियों से आदत और व्यवहार के हिसाब से भिन्न होती.

शहर ज्यामिति के सिद्धांत के अनुसार तामीर किया गया था. उसका नक्शा कुछ यों था—जैसे एक केंद्रीय बिंदु पर से आठ रेखाएं गुजार दी गयी हों या फिर आठ रेखाओं का जहां संगम होता है वहां केंद्रीय बिंदु बन गया हो.

और यही केंद्रीय बिंदु वह फौवारा था. उसके चारों तरफ एक बागीचा गोलाई में बना था जिसकी हरी और नरम घास पर थके-हारे मुसाफिर जरा सुस्ताकर आगे बढ़ते थे. उसके बाद एक गोल सड़क फौवारे के सब तरफ घूमती थी और उसी सड़क पर से आठ सड़कें निकली थीं—जो इस शहर के आठ बाजार कहलाते थे. और जो बाजार जिस पड़ोसी शहर को जाने वाली सड़क में जाकर मिल जाता था, उस बाजार का नाम उसी शहर के नाम पर रख दिया गया था.

और इन्हीं बाजारों को काटती हुई कई गोल गलियां थीं जिनमें बने मकानों में शहर के लोग रहते थे.

और इसी शहर के लोग सिर झुकाकर सड़कों पर उदास-उदास से चलते दिखायी देते थे. मुझे इस उदासी का कारण समझ में नहीं आता था—और मेरा जिगरी दोस्त बशीर अहमद शेख बदस्तूर अखबार पढ़ने में व्यस्त रहता. वह एक ऐसा दोस्त था जो मेरा दुख-सुख सुनता, जानता और उसका निराकरण करने की कोशिश करता.

मैं और बशीर अहमद शेख बचपन से एक ही स्कूल में पढ़ते रहे थे. मुझे कल की तरह याद है. मैं तीसरी क्लास में पढ़ता था. सुबह का वक्त था. अभी हम लोग प्रार्थना के लिए इकट्ठे नहीं हुए थे. उससे पहले का नियम यह था कि हर बच्चा स्कूल के अहाते में दाखिल होते ही दायीं तरफ बने मंदिर में प्रणाम करने जाता. मंदिर में भगवान कृष्ण और राधाजी की संगमरमर से बनी बड़ी ही सुंदर मूर्तियां स्थापित थीं, जिनको रंगदार रेशमी वस्त्र पहनाये गये थे, सोने के आभूषणों से सजाया गया था और उनके सिरों पर मोती-जड़े मुकट रखे थे. दोनों मूर्तियों की आंखें बड़ी-बड़ी और बड़ी आकर्षक थीं, आंखों की पुतलियां रंग से काली कर दी गयी थीं जिससे उनमें असाधारण चमक पैदा हो गयी थी. हम दोनों हाथ जोड़कर मूर्तियों के सामने खड़े हो जाते थे और एक टक मूर्तियों को देखने लगते. अचानक ऐसा महसूस होने लगता कि मूर्तियां आंखें झपका रही हैं और उनके होंठों पर मुस्कराहट नाचने लगी है. फिर हम माथे टेककर पुजारीजी से चरणामृत लेते जो स्वच्छ जल में तुलसी के

पत्ते डालकर बनाया जाता था. भिगोयी हुई किशमिश के दो-दो दाने प्रसाद के रूप में दिये जाते. हम चरणामृत तो फौरन ही पी लेते और भीगे हुए हाथों को अपने सिर के बालों से पोंछकर प्रसाद चबाते हुए मंदिर की सीढ़ियां उतरते और प्रार्थना के लिए ग्राउंड की तरफ बढ़ जाते.

उस रोज मंदिर की सीढ़ियां उतरते हुए मैंने एक वर्दीधारी हवलदार को एक छोटे-से बच्चे के साथ हैड मास्टर साहब के कमरे की तरफ जाते देखा था. बच्चे ने सिर पर सुर्ख रंग की तुर्की टोपी पहन रखी थी, जिसका फुंदना उसके सिर की हरकत से इधर-उधर कुदकता फिरता था. पुलिस हवलदार ने बच्चे का हाथ थाम रखा था, ऊपरी तौर पर मालूम यह होता था कि पुलिसवाला बच्चे को गिरफ्तार करके किसी तहकीकात के सिलसिले में यहां लाया है. मेरा और कई और बच्चों का कुतूहल बढ़ा और हम लपककर आगे गये और उन दोनों को जाते हुए देखा. बच्चा सूरत-शक्ल से बड़ा मासूम और प्यारा लग रहा था. मैंने दिल ही दिल में कहा—'नहीं, यह कोई जुर्म नहीं कर सकता.' और वे दोनों क्लर्क साहब के साथ खिड़की से कुछ बात करके हैड मास्टर साहब के कमरे के बाहर बिछे बैंच पर बैठ गये. फिर अचानक प्रार्थना की घंटी बजी और हम सब भागते हुए ग्राउंड की तरफ बढ़ने लगे.

प्रार्थना यही हुआ करती थी कि ओ विद्या की देवी, तू हम नादान बच्चों पर कृपा कर, हमारी जिंदगी के अंधेरे रास्तों में उजाला कर और हमें सद्बुद्धि दे कि हम जो ज्ञान प्राप्त करें उससे दूसरों का भला करें, ओ करुणामयी देवी, तुम्हें बार-बार प्रणाम!

क्लास रूम में मास्टर तख्तराम ने हमें हिसाब का पहला सवाल निकालने के लिए दिया था—कि वह बच्चा जिसने सुर्ख तुर्की टोपी पहन रखी थी, हैड मास्टर साहब और पुलिस हवलदार के साथ कमरे में दाखिल हुआ. हम सब उसके सम्मान में खड़े हो गये. हैड मास्टर साहब ने बैठने का इशारा किया. हम सब फिर अपने लंबे टाट पर बैठ गये. हैड मास्टर साहब ने कहना शुरू किया, "बच्चो, आज आपकी क्लास में आपका एक नया साथी आया है. इसका नाम है बशीर अहमद शेख. यह हवलदार मुनीर अहमद शेख साहब का बेटा है. यह आपके साथ ही पढ़ेगा."

सब बच्चों के चेहरों पर जो एक तरह की उत्सुकता छायी हुई थी, वह दूर हुई और सबने आगे बढ़-बढ़कर यह कोशिश की कि बशीर उनके साथ बैठे. मगर वह अपनी जगह खड़ा सारे क्लास-रूम का जायजा लेता रहा. फिर आहिस्ता से आगे बढ़ा और मेरे साथवाली खाली जगह पर बैठ गया.

यह मेरी और बशीर की पहली मुलाकात थी, जिसकी याद चौदह वर्ष गुजर जाने पर भी अभी तक ताजा है. मैं और बशीर उसी क्षण एक-दूसरे के हो गये थे. अगले दिन से हम स्कूल के गेट पर मिलने लगे. मैं मंदिर जाता तो वह सीढ़ियों पर खड़ा मेरा इंतजार करता. वापसी पर मैं किशमिश का एकाध दाना उसे देता जिसे वह मुंह में डालकर चबाता हुआ प्रार्थना के लिए ग्राउंड की तरफ चलने लगता.

एक दिन उसने मुझ से पूछा, "छिंदी, यह आप लोगों के मंदिर में क्या होता है?"

मैंने तफसील से उसे सब बताया. उसके चेहरे पर अजीब-सा आश्चर्य फैल गया. फिर अचानक एक दिन प्रार्थना के बाद क्लास-रूम की तरफ जाते हुए उसने सवाल किया, "यार छिंदी, यह विद्या की देवी क्या है, इल्म का फरिश्ता क्यों नहीं?"

मैं क्या जवाब देता. मेरे पास इस बात का कोई जवाब ही नहीं था. इसी तरह हमारा बचपन गुजर गया था और अब हम सयाने हो गये थे. मैं अपने पिता की सोडा वाटर की फैक्टरी पर बैठने लगा था और बशीर को शहर की अदालत में मजिस्ट्रेट के मुंशी की नौकरी मिल गयी थी और उसे अखबार पढ़ने की लत बीमारी की हद तक पड़ गयी थी. वह जिंदगी की हर समस्या का हल अखबार में छपी खबरों और संपादकीय. लेखों में ढूंढ़ने की कोशिश करता. शहर में जितने अखबार आते थे, वह उन

अंजलि इला मेनन की कलाकृति

सबको पढ़ना अपना फर्ज समझता था. इस सिलसिले में उसको शहर के कई हलवाइयों, नान बाइयों और हज्जामों की दुकानों के चक्कर लगाने पड़ते. शाम को जब हम मिलते तो अखबार में लिखे की रोशनी में दुनिया-भर की समस्याओं पर चर्चा होती.

मगर अचानक हमारी जिंदगियों में कहीं किसी चीज की कमी महसूस होने लगी थी.

इसका सबसे बड़ा सबूत तो यह था कि अब उसने अखबार की खबरों पर टीका-टिप्पणी करनी बंद कर दी थी. इसका कारण जानने के लिए मैंने कई दिन तक लगातार वह तमाम अखबार पढ़े जो वह पढ़ा करता था. उनमें कुछ इस तरह की खबरें होती थीं—फीरोजाबाद में दो संप्रदायों में झगड़ा, पुलिस की गोली से तीन की मृत्यु बारह घायल, सीलमपुर में बम फटा, फुटपाथ पर सोये हुए पांच लोग मारे गये जिनमें दो बच्चे और एक औरत शामिल हैं, छह घायलों को अस्पताल में दाखिल कराया गया है जिनमें एक की हालत गंभीर, एक बस खड्ड में गिर गयी—आधे से ज्यादा बाराती मृत, घर-घर तलाशी में बहुत-सा अस्लाह और गोला-बारूद बरामद, तीन व्यक्ति गिरफ्तार, तानपुर अकादमी की तरफ से प्रोफेसर बेताल पुरी को उनकी श्रेष्ठ साहित्य-सेवाओं पर ग्यारह हजार रुपये का विशिष्ट पुरस्कार, आतंकवादियों ने चार की जान ले ली जिनमें एक गर्भवती महिला भी शामिल है, चालीस लाख रुपये का तस्करी का माल पकड़ा गया, डाक-तार विभाग के कर्मचारियों की तरफ से हड़ताल की धमकी, विदेशी मुद्रा विनिमय के घोटाले में एक बड़े नेता पर संदेह, देश की राजनीति पर पूंजीवाद का शिकंजा सख्त होने का खतरा.

मैं जब बशीर अहमद शेख के घर पहुंचा तो वह रोजाना की तरह बरामदे में चारपाई पर बैठा हुक्का पी रहा था. मैं भी पास जाकर बैठ गया. हम में काफी देर तक कोई बात न हुई. उसने हुक्के की निगाली मेरी तरफ बढ़ा दी और मैं कश पर कश लगाने लगा. आज बरामदे में हम दोनों अकेले थे. अचानक मुझे बचपन की वह घटना याद आ गयी, जब बशीर की अम्मी जिंदा थीं. उन्होंने एक अर्सा वैधव्य की जिंदगी काटी थी—कि बशीर के पिता मुनीर अहमद शेख एक पुलिस पार्टी के साथ

नलिनी मलानी की कलाकृति
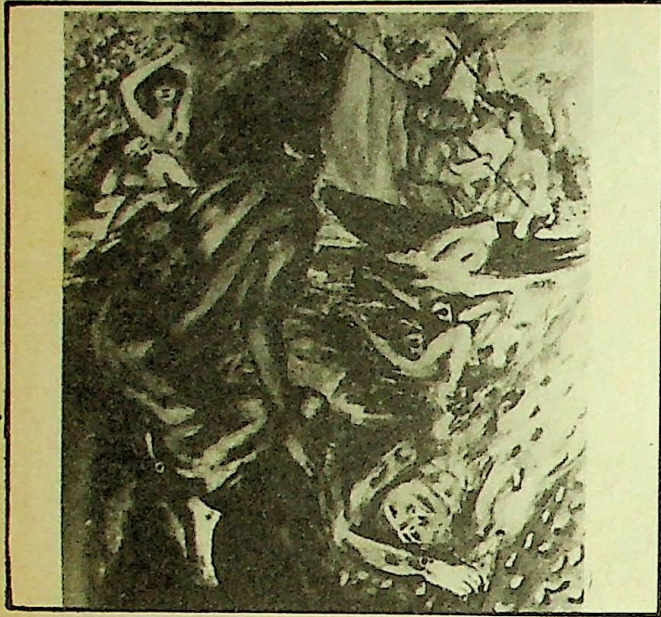
डाकुओं के मुकाबले पर गये थे और डाकुओं की गोली का निशाना बन गये थे.

उस दिन भी हम दोनों इसी तरह चारपाइयों पर आमने-सामने बैठे हुक्का पी रहे थे और बातें कर रहे थे कि बशीर की अम्मी अंदर से हमारे लिए छाछ लेकर आयीं. छाछ के गिलास उसने हमें पकड़ाये और देर तक हम दोनों को गौर से देखती रहीं. फिर एकाएक बोली, "ओय बशीर! हैरानी की बात है!"

हम दोनों का ध्यान अम्मी की तरफ गया.

"क्यों, क्या हुआ, अम्मी जान?" बशीर ने पूछा.

"अल्लाह रखे—मुझे आज पहली बार महसूस हुआ कि तुम दोनों की शक्लें एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं."

"वो कैसे अम्माजी?" मैंने मुस्कराते हुए मगर हैरानी से पूछा.

"अल्लाह रखे—यह तो मालूम नहीं, मगर एक बात आयी है दिल में. छिंदी पुत्तर तू मुसलमान क्यों नही हो जाता!" अम्मां ने कहा.

"आधे से ज्यादा मुसलमान तो मैं हूं ही!" मैंने जवाब दिया. "रसूल को पैगंबर मानता हूं, कलमा पढ़ लेता हूं और बशीर ने मुझे नमाज भी सिखा दी है. एक बार तो मस्जिद में जाकर इसके साथ जमात में नमाज भी पढ़ आया था. अब तो बशीरे से कहो, वह हिंदू हो जाये."

"नऊजु बिल्लाह!" अम्मां के चेहरे पर गुस्से की रेखाएं उभरीं और वह यह कहते हुए—"ऐसे अल्फाज मुंह से नहीं निकालने चाहिए बेवकूफ!"—अंदर की तरफ चली गयीं.

मैं और बशीर देर तक अम्मां की बात पर हंसते रहे थे. मगर आज हम खामोश थे. इतना भी न हुआ कि डेमोक्रेसी पर चर्चा करते.

"अच्छा तो बशीर, चलता हूं." मैंने हुक्के की निगाली उसके हवाले की और उठकर खड़ा हो गया.

"हूं...." उसने जरा-सी आवाज मुंह से निकाली और सिर के इशारे से मुझे जाने की इजाजत दे दी.

घर पहुंचा तो अचानक नजर पिताजी की तस्वीर पर पड़ी. उनकी बहुत-सी बातें याद आयीं. वह सुबह सबेरे उठकर पूजापाठ किया करते थे और दिन में फुर्सत के वक्त 'सरितुलुनबी', 'कसिसुल् अंबिया' 'मुहम्मद कुरआन' पढ़ा करते थे और अक्सर कहा करते थे, "मुहम्मद बहुत बड़ी शख्सियत थे. ऐसे पैगंबर तो हर मजहब में होने चाहिए. कभी ख्वाब में भी मिल जायें तो उनके चरण धोकर पीना पुण्य है..." ये बातें याद करके भी मन न बहला. मैंने अपनी बीवी की तरफ देखा जो गर्भवती थी और पूरे दिनों से थी. थोड़ी देर इधर-उधर टहलता रहा. मगर बेचैनी कम न हुई और मैं घर से निकल खड़ा हुआ.

मेरे घर के बिल्कुल सामने एक सफेद दाढ़ीवाला बुजुर्ग खड़ा दिखायी दिया जो मेरे घर की तरफ टकटकी बांधे देख रहा था. मुझे देखकर उसने सिर घुमाया और एक तरफ को चल दिया. मुझे उसकी सूरत जानी-पहचानी-सी लगी. वह जल्दी ही आंखों से ओझल हो गया.

मैं शहर की गलियों और बाजारों में बेमतलब घूमता रहा. किसी ने मेरी तरफ आंख उठाकर भी न देखा और न कुछ बात की. शहर के चौक में से गुजरा तो फौवारे के करीब रुक गया. वक्त दो से ऊपर का था—कि दो फुहारें पूरी तरह उछल रही थीं और तीसरी फुहार गोया अपने सूराख में से रह-रहकर रिस उठती थी. चौक में सवारियों के इंतजार में घूमनेवाले तांगों के घोड़े भी सिर झुकाकर चल रहे थे.

मैं वहां खड़ा रहा और सोचने लगा कि जब यह शहर नहीं बसा था तो यहां क्या होगा...? दूर-दूर तक वीराना—कीकर के पेड़, बबूल की झाड़ियां, ऊबड़-खाबड़ जमीन और उड़ते हुए बगूले, दूर पहाड़ियों की सुरमई लकीर और शहर के बाहर बहने वाली नदी.

लघुकथा

शर्म हया

□ बिंदु सिन्हा

रेलवे क्रासिंग के पास, सड़क के किनारे पुलिया पर पांच-छह लड़के बैठे थे. सबके सामने खोमचे धरे थे. किसी में मूंगफली थी तो किसी में चना-कुरमुरा, पॉप कार्न, खट्टी-मीठी गोलियां. ट्रेन आने के समय जब फाटक बंद हो जाता तो सवारियों की कतार लग जाया करती, अच्छी बिक्री हो जाती घंटे आध घंटे में ही.

सिर पर किलकिलाती धूप, सड़क पर सन्नाटा-सा हो चला था, लड़के बैठे-बैठे ऊब चले थे, तभी सामने से एक लड़की गुजरी. लाल सलवार, हरी कमीज पहने. चुन्नी भी लाल लहासोट थी. एक लड़के ने उसकी ओर देख सीटी बजायी, दूसरे ने 'हाय....' कहकर सीने पर हाथ रख लिया. तीसरा धीरे से फुसफुसाया, 'कटारी है... कटारी?

और वह कौन था जो सबसे पहले यहां आया होगा, जिसने अपनी आंखों पर अपनी हथेली का शामियाना तानकर सारे में अपनी नजर दौड़ायी होगी और सोचा होगा कि यहीं डेरे डाल देने चाहिए और यहां अपना शहर बसाना चाहिए. वह कौन से कीकर के पेड़ के नीचे सुस्ताया होगा? कौन-सा पत्थर का टुकड़ा उसका तकिया बना होगा? वह अब कहां है जिसकी आवाज पर आनेवाली कई नस्लों ने हुंकारा दिया होगा और फिर इतना शानदार शहर यहां बस गया होगा. आज अगर वह सामने आ जाये तो हम उसे पहचान भी न पायेंगे, मगर उसकी रूह जरूर इस शहर की फसील को छूकर गुजरती होगी. वह जरूर शहर के सारे वजूद में सांस लेता होगा.

यह सब सोचता हुआ मैं शहर के बाहर बहने वाली नदी तक पहुंच गया. नदी की पुलिया पर से किसी नंगधड़ंग आदमी ने नदी में छलांग लगायी. पानी में से एक छपाके की आवाज आयी. मैंने देखा, एक आदमी नदी में कूदा है और अपने जिस्म को मल-मलकर नहाने लगा है. नहाने के बाद वह आदमी नदी में से निकला और पुलिया पर रखे अपने कपड़े पहनने लगा—और सिर पर सफेद पगड़ी बांध, सफेद लुंगी और लंबा सफेद कोट पहनकर वह आदमी पुलिया पर चलता हुआ मेरे करीब से

गुजरकर शहर की तरफ बढ़ गया. यह वही सफेद दाढ़ीवाला बुजुर्ग था जिसे मैंने अपने घर के सामने खड़ा देखा था, जिसकी सूरत जानी-पहचानी थी.

अब वह अक्सर शहर के विभिन्न स्थानों पर चलता-फिरता मिल जाता. कभी वह किसी इमारत को गौर से देख रहा होता और कभी किसी आदमी या औरत को घूरता पाया जाता. कई लोगों ने नजर उठाकर उसकी तरफ देखा भी, मगर किसी के चेहरे पर किसी प्रकार की असामान्य प्रतिक्रिया न हुई. मगर न जाने मुझे वह क्यों बड़ी ही रहस्यमय शख्सियत लगता. एक दिन तो मेरी हैरानी की सीमा न रही जब मैंने उसे शहर के मध्य में फौवारे के पास गुजरते देखा. दोपहर का वक्त था और फौवारे में से बारह फुहारें निकल रही थीं यानी कि बारह बजे थे. वह फौवारे के करीब एक पल के लिए खड़ा हुआ. उसने फौवारे की तरफ नजर उठाकर देखा और फौरन ही फौवारे में से पानी उछलना बंद हो गया, फौवारे के चारों ओर बने हौज का पानी बिल्कुल सूख गया और हौज की दीवार पर बैठी पानी पीती चिड़ियां और कौवे आनन्-फानन् फुर्र से उड़ गये. मैं बिल्कुल स्तब्ध अवस्था में खड़ा रहा. और जब वह बुजुर्ग एक फासले पर पहुंचा तो पानी दोबारा उछलने लगा. लेकिन एक क्षण के बाद ही बारह की बजाय एक फुहार गिरने लगी.

और चौंथा... चौथे ने तो गजब कर दिया, आगे बढ़कर उसने लड़की का रास्ता रोक लिया, 'हाय... कहां चली जानम?'

लड़की क्षणभर ठिठकी, लड़के की ओर सीधी नजरों से देखा, फिर एक करारा थप्पड़ रसीद कर अपनी राह चल ली. लड़का खींसे निपोर गाल सहलाने लगा.

तब तक साथियों ने उसे घेर लिया. एक जो उनमें सबसे छोटा था, बड़ी संजीदगी से बोला, "हंसते क्या हो... तुम्हें तो शरम आनी चाहिए करमू भाई."

"शरम....?" लड़का होंठ चबाकर बोला, "मुझे शरम क्या आयेगी मरजा. मैंने तो शरम हया को उसी दिन राम-राम कर ली जिस दिन मां ने सुबै-सुबै हाथ में टीन का डब्बा थमाकर रेलवे लाइन की तरफ इशारा किया था. जा बेटा... फारिग हो ले. पहले तो बड़ी शरम आयी. रेलवे लाइन पर कतार में ढेर सारे लोग बैठे थे. पर मां ने जब दुबारा टोका तो जाकर उसी कतार में शामिल हो गया. उस दिन शरम हया सब उसी डब्बे में घोल कर पी गया."

कहकर उसने बड़ी पिच्च से थूक दिया, "हुंह.... स्साली... न जाने क्या समझती है अपने आप को." □

मैं उसके पीछे लपका. मगर वह फौरन ही आंखों से ओझल हो गया.

एक-दो दिन के बाद बशीर मेरे घर आया. मैं कुर्सी पर बैठा ऊंघ रहा था. उसने मेरे कंधे पर आहिस्ता से हाथ रखा, हल्का-सा झिंझोड़ा और जब मैंने चौंककर उसकी तरफ देखा तो बोला, "यार, यह तुमने क्या आडंबर रच रखा है? सफेद दाढ़ी-मूंछ लगाकर सफेद पगड़ी सिर पर बांधकर और सफेद पोशाक पहनकर शहर में घूमते-फिरते हो..."

"नहीं तो...." मैंने हैरानी में डूबकर जवाब दिया.

"जाने दे यार.... मैं क्या तुम्हें पहचानता नहीं हूं. तुम किसी भी रूप में मेरी नजरों से छिप नहीं सकते. इसमें जरूर तेरी कोई शरारत है. तुम लोगों का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित करना चाहते हो...."

मेरे हजार यकीन दिलाने पर भी बशीर न माना. हम दोनों ने इकट्ठे चाय पी, इधर-उधर की बातें कीं, जिनसे मुझे मालूम हुआ कि बशीर ने अखबार पढ़ना बिल्कुल छोड़ दिया है और वह शहर की हालत के बारे में मेरी तरह ही चिंतित है. उसने यहां तक कहा कि डेमोक्रेसी पर से उसका यकीन उठता जा रहा है और वह हद-दर्जे की बोरियत का शिकार है.
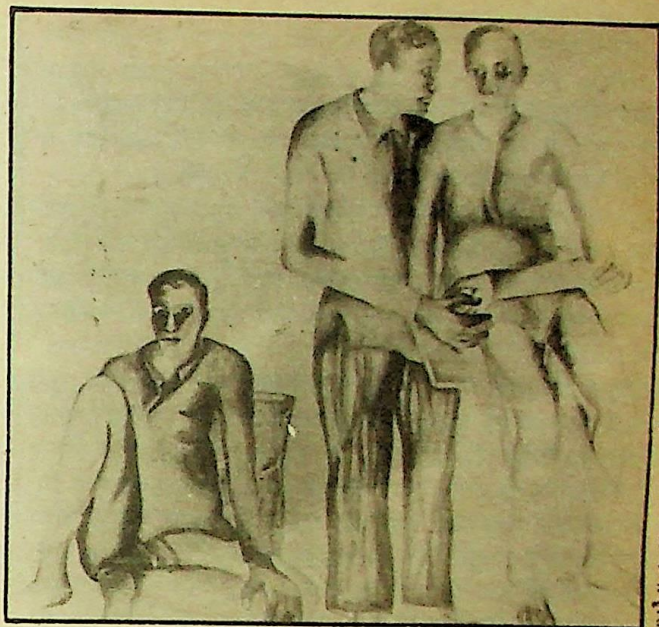
भूपेन खक्खर की कलाकृति

मैंने उसकी सब बातें मानीं, लेकिन वह यह नहीं माना कि शहर में रहस्यमय ढंग से प्रकट होने वाला सफेद दाढ़ीवाला बुजुर्ग मैं नहीं हूं. उसने जाते हुए पूछा, "उर्मिला भाभी के लिए कौन से प्रसूति-गृह में रूम बुक कराया है?"

"यहीं पास ही है, अगले बाजार के आखिरी सिरे पर."

"अंदाजन कितने दिन बाकी हैं?"

"एक हफ्ते के करीब. कल ही लेडी डाक्टर को दिखाने गये थे."

"अच्छा तो मैं चलता हूं. एक बात सुनो, मैंने हुक्का पीना छोड़ दिया है."

"क्यों."

"यों ही... मुझे उसमें से उठने वाली गुड़गुड़ाहट से खौफ महसूस होने लगा था."

मैं बिल्कुल सकते में आ गया. बशीर कब गया, मुझे मालूम भी न हुआ. उसी भाव-दशा में मैं अपने पिता की तस्वीर के सामने जा खड़ा हुआ. अचानक मुझ पर एक अजीबो-गरीब रहस्य खुल गया. उस सफेद दाढ़ीवाले बुजुर्ग की सूरत मेरे पिता से बहुत मिलती थी. यद्यपि वह दाढ़ी और मूंछें नहीं रखते थे, मगर उनके चेहरे पर दाढ़ी और मूंछें लगा दी जायें तो शक्ल हूबहू वैसी ही हो जाती जैसी कि उस सफेद दाढ़ीवाले बुजुर्ग की थी.

उन दिनों एक बात की बहुत चर्चा हो रही थी. शहर में एक नाटक कंपनी आयी थी. उसमें एक लंबे कद का अदाकार था, जो एक नाटक में राजा का अभिनय करता था. राजा जैसे ही जिरह-बख्तर पहनकर वह मंच पर आता था, सिर पर राजा जैसा ही शिरस्त्राण पहनता था. उसने हूबहू राजा की चाल-ढाल और हाव-भाव की नकल की थी. दर्शक उसके अभिनय से बहुत प्रभावित हुए थे और फिर पूरे तीन घंटे तक वह राजा की तरह जिंदगी गुजारने के दौरान अपनी असली जिंदगी और असली पहचान भूल गया. नौटंकी खत्म हुई तो वह सीधा राजमहल के द्वार पर जा खड़ा हुआ. दरबानों ने सिर झुकाकर और जमीन छूकर उसका स्वागत किया और वह राजमहल के अंदर दाखिल हो गया. उसके बाद उसे किसी ने नहीं देखा. नाटक कंपनी वाले एक हफ्ते तक उसकी वापसी का इंतजार करते रहे. जब किसी तरह भी उसका कोई अता-पता न मिला तो वे निराश होकर अपना तामझाम समेटकर चले गये. अब किसी को यह मालूम नहीं हो पा रहा था कि शहर पर असली राजा राज कर रहा था या उसके भेस में वह अदाकार...

क्योंकि मौसम बरसात का था मगर बारिश न हो रही थी. खेत सूखे पड़े थे. मुर्गियां बीमारी का शिकार हो गयी थीं. ढोर-डंगर चारे और पानी की किल्लत की वजह से मर रहे थे. अंडों, दूध और गोश्त के भाव आकाश को छूने लगे थे. जिसके घर में अनाज था, उसकी जिंदगी खतरे में थी. रहजनी की वारदातें आम हो चली थीं.... ऐसे हालात में उर्मिला को प्रसव-पीड़ा होने लगी.

मैं उर्मिला को लेकर हस्पताल के लिए रवाना हुआ. कुछ भी हो, मेरा पहला बच्चा था. उसके स्वागत के लिए किसी तरह की कोई कसर उठा न रखने का मैंने तहैया कर रखा था. मुझे ऐसा लग रहा था जैसे कई सदियों के बाद इस जमीन पर इंसान के बच्चे के अवतरित होने का वक्त आया है.

जैसे ही हम दोनों घर से बाहर निकलकर तांगे में बैठने लगे, मैंने देखा—घर के सामने दरख्त नीचे वही सफेद दाढ़ीवाला बुजुर्ग खड़ा था. वह टकटकी बांधे हम दोनों को देख रहा था और असामान्य रूप से उसके चेहरे पर हल्की-सी मुस्कराहट फैली हुई थी. मुझे देखते ही वह दरख्त की ओट में हो गया. कोचवान ने घोड़े की पीठ पर चाबुक रसीद किया और घोड़े ने एक झटके के साथ तांगा खींचना शुरू किया.

पूर्णमासी की रात थी. मैं हस्पताल के बरामदे में बिछे हुए बैंच पर बैठा आसमान को तक रहा था. पूरे चांद के गिर्द ढेरों तारे बिखरे हुए थे. मुझे वह पोयम याद आयी जो मैं और बशीर बचपन में मिलकर बुलंद आवाज में गाया करते थे—ट्विंकिल ट्विंकिल लिटिल स्टार्स...

...और मैंने गुनगुनाना शुरू किया—ट्विंकिल ट्विंकिल... पलटकर देखा—बशीर आहिस्ता-आहिस्ता मेरी तरफ बढ़ रहा था. वह मेरे करीब आकर रुक गया और बोला, "तांगेवाले ने तुम्हारा पैगाम दे दिया था, उसी तांगे से आया हूं. कोई खबर...?"

"अभी तो कुछ नहीं. बड़ी कष्टकारी प्रक्रिया है यार!"

"अब तो सब आदी हो गये हैं. रोजमर्रा का मामूल हो गयी है यह." नर्स ने आकर बताया, "मुबारक हो! लड़का हुआ है. बड़ा खूबसूरत है. उसकी मां बिल्कुल ठीक है. आप चलकर देख सकते हैं..."

मैं और बशीर बरामदे में चलते हुए उर्मिला के लेबर रूम की तरफ बढ़ने लगे. सफेद पोशाक में कई नर्सें और कुछ डाक्टर हमारे पास से गुजर रहे थे. अचानक हमने देखा कि वही सफेद दाढ़ीवाला बुजुर्ग एक नवजात बच्चे को सीने से लगाये एक कमरे में से निकला है और तेजी से बाहर की तरफ बढ़ गया है. इसके साथ ही बहुत-सी जनाना आवाजें और चीख-पुकार सुनायी दी... "पकड़ो...पकड़ो.... वह बच्चा चोरी करके ले जा रहा है!"

और इसके साथ ही दो-तीन नर्सें सफेद दाढ़ीवाले बुजुर्ग के पीछे भागने लगीं. हम दोनों भी बेतहाशा भागे और हस्पताल के बड़े फाटक तक हमने उस सफेद दाढ़ीवाले बुजुर्ग को जा लिया.

उसने बच्चा बदस्तूर सीने से चिपका रखा था और हांफ रहा था. कई नर्सें और डाक्टर भी वहां पहुंच गये और तब मालूम हुआ कि वह मेरा ही बच्चा चुराकर भाग रहा था.

अपना बशीर अहमद शेख मजिस्ट्रेट का मुंशी तो था ही. किसी किस्म की कानूनी मदद लेने में हमें दिक्कत पेश न आयी. पुलिस थाने में वह सफेद दाढ़ीवाला बुजुर्ग एक कोने में बच्चे को मजबूती से अपने साथ चिपकाए बैठा था. वह किसी तरह भी बच्चे को हमारे हवाले करने को तैयार न था.

थानेदार के बरगलाने, बहलाने और धमकाने के बावजूद वह टस से मस न हो रहा था.

हस्पताल में उर्मिला उसी वक्त से बहोश पड़ी थी और मैं थाने में थानेदार के सामनेवाली कुर्सी पर बैठा एकटक उस बुजुर्ग और उसकी बाहों में जकड़े हुए अपने बच्चे को देखे जा रहा था. बशीर का एक पांव थाने में था तो दूसरा हस्पताल में.

"क्यों, आखिर क्यों ले जाना चाहते हैं आप अपने साथ इस बच्चे को? इससे आपका क्या संबंध हैं? इस पर आपका हक ही क्या है?"

हम सब उसकी दहाड़ से भयभीत हो गये. मगर उस बुजुर्ग पर कोई असर न हुआ. वह वैसे ही बैठा रहा. उसके चेहरे पर किसी किस्म का कोई भाव-परिवर्तन नहीं हुआ. उसने बड़ी ममता भरी नजरों से बच्चे को देखा, फिर अपना दायां हाथ उसके सिर पर उगे हुए छोटे-छोटे मुलायम बालों पर फिराया और बड़ी गुरु-गंभीर वाणी में बोला, "इस बच्चे पर मेरा पूरा हक है. मैंने तेरह पीढ़ियों तक इसकी पैदाहश का इंतजार किया है!"

हम सब हैरान से हो गये.

"मैं आपका मतलब नहीं समझा, बुजुर्गवार!" थानेदार ने बड़ी नर्मी से पूछा.

"यह एक लंबी कहानी है, थानेदार साहब. तेरह पीढ़ियों पहले मैं इस जगह आया था. तब यह इलाका बिल्कुल वीरान था. दूर पहाड़ियों की सुरमई लकीर थी और जगह-जगह कीकर के पेड़ और बबूल की झाड़ियां थीं. जमीन ऊबड़-खाबड़ थी. इधर-उधर रोड़े और पत्थर बिखरे हुए थे. मैंने एक कीकर के पेड़ के नीचे पत्थर का तकिया बनाकर एक नींद ली थी और मुझे सपने में शुभ संवाद मिला था कि मुझे यहीं बस जाना चाहिए. मैंने इस शहर की तामीर के लिए पहली ईंट रखी. कई बरस तक इसकी तामीर में व्यस्त रहा—और एक खानदान का वजूद अमल में आ गया. मेरे बच्चे एक-दूसरे से बेहद मुहब्बत करते थे. मिल-बांटकर खाते थे, एक-दूसरे के सुख-दुख में काम आते थे और खिले हुए चेहरों के साथ जिंदगी बसर करते थे. मेरी तेरह पीढ़ियां इस शहर में पैदा हुई और वे इस शहर की गलियां और बाजारों में परवरिश पाकर परवान चढ़ीं... और आज यह हालत है.... और हालत आप जानते ही हैं, थानेदार साहब, ये विभाजित होकर एक दूसरे से उदासीन हो चुके हैं. मैं नहीं चाहता यह बच्चा, जिसका मैं पूर्वज हूं, इस शहर की गलियों में परवरिश पाये और कल को हाबेल और काबेल का किस्सा दोहराया जाये, और यह अपने खेतों को अपने भाइयों के खून से लाल कर दे. इसलिए मैं इस बच्चे को ले जाना चाहता हूं. मैं खुद अपनी देखरेख में अपने हाथों से इसकी परवरिश करूंगा... और जब यह जवान हो जायेगा, सयाना हो जायेगा तो मैं खुद इसको इस शहर में छोड़ने आऊंगा.... और वह दिन दुनिया में फिर से पहला दिन होगा, तब इस शहर की फिजा पर छाया हुआ गर्दोगुब्बार दूर हो जायेगा."

सफेद दाढ़ीवाले बुजुर्ग ने अपनी बात खत्म की, उठा और बच्चे को लेकर हमारे देखते ही देखते थाने की हदों से बाहर हो गया. उसे न बशीर की दोस्ती रोक सकी, न मेरी ममता और न ही मुल्क का कानून! □

सीढ़ी

□ युगल

उस रात शेखर बाबू की पत्नी कुछ ज्यादा देर से लौटी. किसी की कार उसे पहुंचा गयी थी. शेखर बाबू ने देखा कि पत्नी के पांव लड़खड़ा रहे हैं. उसने पी थी. शेखर तिलमिलाकर बोले, "तो अब तुम यहां तक पहुंच गयी हो?"

पत्नी ने पति की तिलमिलाहट को वक्र दृष्टि से देखा. बोली, "कहां तक पहुंची हूं? बोलो! तुम ने अपने कैरियर में ऊपर चढ़ने के लिए मुझे सीढ़ी की तरह इस्तेमाल किया. और अब, जब मैं अपने कैरियर के लिए खुद अपने को इस्तेमाल कर रही हूं, तो..."

शेखर को लगा, वह एक मछली है और उसके गलफड़े में कांटा फंसा है. □

तौंबा

कौन मां अपने छोटे बच्चे को पढ़ाना नहीं चाहती. तोंबा की मां लैरिकमचा भी तोंबा को पढ़ा न सकने की वजह से रोज रोती थी किंतु आज उसके पढ़ने की बात सुनकर क्रोधित क्यों हुई? मणिपुरी की एक मार्मिक-कथा—

□ सिजगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री
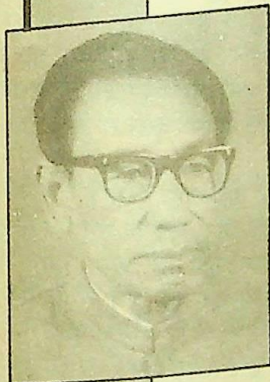
(मणिपुरी कथाकार)
जन्म : 28 अक्तूबर, 1927. ब्रह्मपुर भगवती लैकार, इंफाल.
प्रमुख कृतियां : 'अहिङ लिक्ला' (कविता), 'खोङजोम तीर्थ' (मणिपुरी भाषा का प्रथम खंडकाव्य), 'इथक इपोम' (काव्य संग्रह), 'वासंती चारोङ' (कहानी संग्रह).
'तत्खबा पुन्सि लैपुन' (कहानी संग्रह) को इस बार सन् 1989 के लिए पुरस्कृत किया गया है.
विविध : मणिपुर राज्य कला अकादमी, जामिनी सुंदर गुहा स्वर्ण पदक, हिंदी सेवकश्री व राष्ट्रीय शिक्षक पुरस्कार से सम्मानित. 'सारिका' में यह पहली कहानी.

"ओ तोंबा! कहां गया. एक भी गिलास नहीं है, दुकान से कोई चीज खरीदने भेजो, तो वापस नहीं आता, गिलास धोने गया, तो सड़क पर आने-जाने वाले लोगों को देखता रहता है. क्या करूं इस बच्चे को नियंत्रण में रखना बहुत मुश्किल है. तोंबा! ओ तोंबा!" चूल्हे के पास से होटल के ऐज्ञा की गुस्से से भरी बुलाहट सुनकर दोनों छोटे हाथों में तीन-तीन, चार-चार गिलास पकड़े लगभग सात साल का एक लड़का दौड़ता आया. वह तोंबा है. "चार-पांच गिलास धोने में इतनी देर क्यों अरे गधे?" यह कहकर ऐज्ञा ने एक-दो थप्पड़ मारे. तोंबा रोते हुए देहरी के पास खड़ा रह गया. तोंबा को इस होटल में काम करते हुए दो-तीन महीने हुए. वह एक छोटे से गांव के कोने में रहने वाला लड़का है. गाड़ी, रिक्शा, मोटर आदि वहां अक्सर नहीं दिखाई देती. इंफाल की हलचल तोंबा के लिए तो तमाशा ही है. सड़क के किनारे बैठकर गिलास धोता था, किंतु आंखें सिटी बस की तरफ देखती थीं. सिनेमा, ड्रामे का प्रोपेगेंडा या पेंफलेट बटोरने के लिए दौड़ जाता था. उधर ऐज्ञा चाय बनाने के लिए गिलास के इंतजार में रहता था. चूल्हे के पास बैठे मालिक का तेल जल रहा होता था. बेसन लाने गया तोंबा दूकानदार के साथ बतिया रहा होता था. होटल का ऐज्ञा बहुत हड़बड़ानेवाला गुस्सैल आदमी है, काला रंग है, लंबा कद है, मूछें लंबी हैं और बड़ी चोटी बांधता है. तेल पोंछने से मैली-काली बड़े-बड़े चेक वाले गमछे और खरीदने के बाद कभी न धोया गया बनियान उसके बहुत सुंदर वस्त्र हैं. बच्चों के लिए उसका यह स्वरूप सचमुच भयावह है. जब ऐज्ञा के न बताने पर कोई काम नहीं होता तो तोंबा गायब हो जाता है. दोस्तों के साथ थीकाप्पी या युमसाबी आदि खेलता रहता है. तोंबा को अनुशासन में रखना ऐज्ञा के लिए कष्टकर है. शहर के निकास पर पैंतीस रुपये की पूंजी से शुरू किये गये इस होटल में समझदार लड़का कैसे रखा जा सकता है! ख्वाइरमबंद बाजार के अनेक होटलों में काम करनेवाले लड़कों में से बहुत को ऐज्ञा चाओनु के इस होटल में ट्रेनिंग दी गयी है. कभी-कभी ऐज्ञा भी अपनी तारीफ करते हुए कहता है, "मेरे जैसे आदमी का सिखाया गया लड़का मणिपुर के हर होटल में पसंद किया जाता है. रानी होटल के अमुबा को मैं छुटपन में ही लाया था. मिष्ठान्न भंडार के थोइबा को मैंने ही कुशल बनाया है. क्या नाम है उनके बिहारी होटल का. उसके तोंबा और अवाड़ दूकान के होटल का लैरिजाओ. इन सबको मैंने गांव-गांव जाकर बड़े कष्ट से खोजा था, किंतु कुछ बड़े होने पर दूसरी जगह चले गये." होटल में लड़कों को रखते समय, यदि कोई ऐज्ञा चाओनु के होटल में काम कर चुका है, तो बड़ी रुचि के साथ रख लिया जाता है. होटल जगत में ऐज्ञा चाओनु के प्रमाण-पत्र का मूल्य बहुत अधिक है. चाय पीने आने वाले किसी ने पूछा, "किंतु ये बच्चे आपको छोड़कर क्यों चले गये?"

"इनके चले जाने का कारण और कुछ नहीं. मैं तो मासिक चार-पांच ही देता हूं, इसलिए कुछ दिन के बाद ट्रेंड हो जाने पर किसी बड़े होटल में चले जाते हैं."

एक दिन तोंबा ने ऐज्ञा चाओनु की मार न सह सकने के कारण घर भागने की तैयारी की. आह! घर में एक जून भोजन और विधवा मां के मुहल्ले में दूसरों का काम करके छोटे भाई-बहनों को पालने की याद आ गयी. वर्षा के समय छत टपकने के कारण सो न सकने से मां-बच्चे सब एक साथ दीवार के पास सूखी जगह पर या खंभे से टिककर बैठते थे. सर्दी के समय फटी रजाई और फटे बोरे के बीच एक चौड़ी चारपाई पर भाई-बहन और मां, चारों एक साथ सोते थे. घर में एक फटा हुआ बनियान तक पहनने को नहीं मिलता, किंतु यहां ऐज्ञा के बच्चों के फटे-पुराने कुछ वस्त्र मिल जाते हैं. ऐज्ञा की मार और घर की गरीबी का दुःख, दोनों के बारे में सोचते ही तोंबा दो पत्थरों के बीच का जिमीकंद हो गया. आंखों से अचानक आंसू बह उठे.

पक्ष अपना-अपना

■ डा० मनोहर लाल

एक बार एक शेर की दोस्ती एक शिकारी से हो गयी. वे दोनों अक्सर जंगल में इधर-उधर घूमते. एक दिन घूमते-घूमते बातों-ही-बातों में उन दोनों में बहस छिड़ गयी. बहस का मुद्दा था—बड़ा कौन? शेर या आदमी?

शिकारी बार-बार इस बात पर जोर दे रहा था कि आदमी बड़ा है और शेर दहाड़-दहाड़कर कर जता रहा था कि जंगल का राजा शेर ही बड़ा है, आदमी नहीं. बात बढ़ती ही चली जा रही थी. कोई भी अपनी हार मानने को तैयार नहीं हुआ.

इस बीच एक अनोखी घटना घटी. चलते-चलते उनकी नजर एक मूर्ति पर पड़ी. इस मूर्ति में एक पुरुष को शेर की हत्या करते दिखाया गया था. शिकारी ने वक्त का लाभ उठाते हुए शेर से कहा, "देखो, आदमी की ताकत का सबूत तुम्हारे सामने है. आदमी बड़ा है, यह मूर्ति इस बात की गवाह है. अब तो तुम्हारी तसल्ली हो गयी न!"

इस पर शेर बोला, "हां भाई, मैं इस मूर्ति को देख रहा हूं. और, मेरा अभी भी यही मत है कि आदमी नहीं, शेर ही बड़ा है. कारण, यह मूर्ति आदमी की बनायी हुई है. छैनी तो आदमी के हाथ में थी न! उसे तो शेर की यह दुर्गति दिखानी ही थी. जरा सोचो—यदि यह मूर्ति शेर ने बनायी होती तो इसका क्या रूप होता? शेर कभी भी यह नहीं दिखाता कि शेर आदमी के पैरों तले रौंदा जा रहा है, वह दिखाता—आदमी शेर के पंजों के नीचे लहूलुहान होकर अपनी अंतिम सांसें गिन रहा है." □

"मेम्मा, तुम्हारे साथ मैं भी पढ़ूं," तोंबा ने होटल के ऐज्ञा की लड़की से कहा.

"अरे, मैं तो पैसा देकर ट्यूशन कर रही हूं. क्या तुम्हारे पास पैसा है?"

तोंबा चुप रह गया. गिलास धोने का उसके चार-पांच रुपये हर महीने मां आकर ले लेती थी. कुछ देर बाद दुःखी मन से उत्तर दिया, "मेम्मा, मेरे पास तो देने के लिए पैसा नहीं है."

"तोंबा भैया, तब तो मास्टरजी नहीं मानेंगे."

"अरे! मेम्मा एक बात है. मैं ऐसे ही चुप-चाप सुनूंगा, मास्टरजी से नहीं पूछूंगा. जो भी मुझे समझ में नहीं आयेगा वह तुम उनके चले जाने के बाद तनिक समझाना."

"अच्छा तोंबा भैया, आगे से ऐसा ही करें." मेम्मा बहुत छोटी, किंतु बहुत चतुर है. ध्यान से सोचने के बाद फिर बोली, "तोंबा भैया, नहीं होगा, नहीं होगा."

"क्या हुआ, मास्टरजी मारेंगे, क्या सुनना भी मना है? अगर नहीं होगा, तो कल-परसों मां के आने पर कुछ पैसा ले लूंगा."

"उसी की बात नहीं, जब तुम पढ़ोगे तो होटल में गिलास कौन धोएगा?"

यह तो तोंबा ने पहले नहीं सोचा था. कोई उपाय न देख वह चिंतित होकर चुपचाप बैठ गया. होटल में चाय पीने के लिए आने वाले लोगों से तोंबा ने कई बार पढ़ाई-लिखाई की बातें सुनी थीं. कुछ तोंबा के मां-बाप पर क्रोध करते थे. वे नहीं जानते कि तोंबा विधवा का पुत्र है. तोंबा के परिवार में, क्या घट रहा है. इसे समझे बिना उन्होंने सोचा कि पैसे के

के.के. हैब्बार की कलाकृति
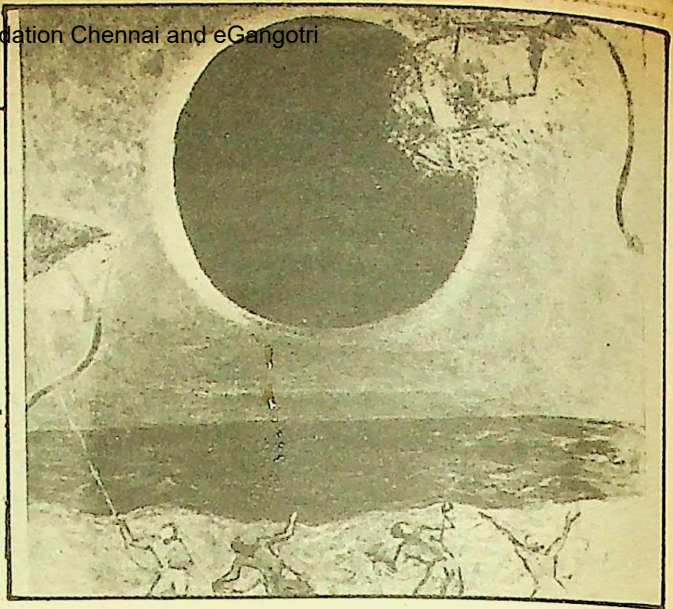
लालच में पढ़ने की उम्र वाले इस बच्चे से गिलास धुलवा रहे हैं. तोंबा की हालत देखकर मेम्मा के मन में दुख हुआ, कहा, "तोंबा भैया, पिताजी से कहकर देखें. तुम्हें डर हो, तो मैं कहूं." मेम्मा की बात सुनकर तोंबा थोड़ा खुश हुआ. होटल के खाली समय में मेम्मा के लिए बेर बटोरने दौड़ गया. मेम्मा और तोंबा का तमाशा भी अजीब है. वे दोनों पल भर के लिए भी अलग नहीं होते. स्कूल से वापस आते ही मेम्मा, तोंबा को खोजती है. मां के बाजार से खरीदे कबोक, तोंबा का हिस्सा निकाले बिना, मेम्मा कभी नहीं खाती. मेम्मा के दिए कबोक पर, ज्यादा है, कम है, तुमने ज्यादा ले लिया आदि कहकर तोंबा हठ भी करता है. बच्चे का यह निर्मल-हृदय-पट कितना सुंदर है, मैं कौन हूं, वह कौन है, इसका खयाल ही नहीं. बच्चों के संसार में बस यही है कि तरह-तरह के खेल खेलना, खुश रहना, निराश हुए तो थोड़ी देर के लिए हठ करना. किंतु, आदमी के रिवाज और समाज की कूची बच्चों के श्वेत पट को ऐसा रंग डालती है, कि तुम वह हो, मैं यह हूं. इस प्रकार अंत में एक दूसरे के बीच एक बड़ी दीवार खड़ी हो ही जाएगी.

आज मेम्मा का मन पढ़ने में अधिक नहीं लगा. अंगुली कहीं और है, आंखें कहीं और, मुंह से बोलती है कुछ और. उसका मन यह सोचकर अशांत था कि पढ़ाई शुरू हो गयी, किंतु तोंबा नहीं आया. मन न जमने के कारण मास्टरजी का डंडा भी खाया. उधर यह सोचकर कि मेम्मा के पढ़ने का समय हो गया है, तोंबा होटल से थोड़ी देर के लिए भाग निकलने का मौका खोज रहा था. कभी-कभी इस समय लोगों का आना-जाना कम हो जाता था, किंतु आज तो लोगों की भीड़ बनी रही. चाय दो, पकौड़ी दो, खिचड़ी दो. एक गिलास धोया, दो धोये, प्लेट धोयी, आज तो इस समय धोना समाप्त ही नहीं हुआ. ऐज्ञा रास्ते में आने-जाने वाले हर व्यक्ति को कम से कम एक-एक गिलास चाय पिलाना चाहता है. तोंबा सोचता है कि यदि एक भी आदमी न आये तो वह बहुत खुश हो. विचार मग्न होने के कारण अचानक हाथ से गिलास छूट गया. ऐज्ञा का एक भारी थप्पड़ खाया.

आज तो मौका पाकर तोंबा मेम्मा की किताब खोलकर पढ़ रहा है—"आ ा क ा कि इ ि कि ि को." गलत पढ़ता है, कहकर मेम्मा ने तोंबा को चांटा मारा. मेम्मा ने सिखाया, "आ ा क ा का इ ि क ि कि"

इस समय ऐज्ञा के पुकारने की आवाज सुनकर तोंबा उठकर भाग गया. ऐज्ञा चाओनु के घर और होटल के बीच अधिक दूरी नहीं है. इतनी है कि पुकारने पर सुनाई देता है. तोंबा के होटल पहुंचने पर ऐज्ञा क्रोध से आग-बबूला हो रहा था. पहुंचते ही ऐज्ञा ने पूछा, "कहां था?" तोंबा उत्तर नहीं दे सका. आंसू निकल आये. चाय पीने आये एक वृद्ध ने कहा, "ऐज्ञा, बच्चा है, कहीं खेल रहा होगा. यह अच्छा लड़का है, यहां काम करता रहता है, हमारे बेटे-पोतों को क्या काम है, खाना-पीना भी नहीं कर सकते." ऐज्ञा भी उस वृद्ध के सामने मारने-डाटने में संकोच करके, चुप रह गया. आज पहली तारीख है. तोंबा की मां लैरिकमचा कुछ
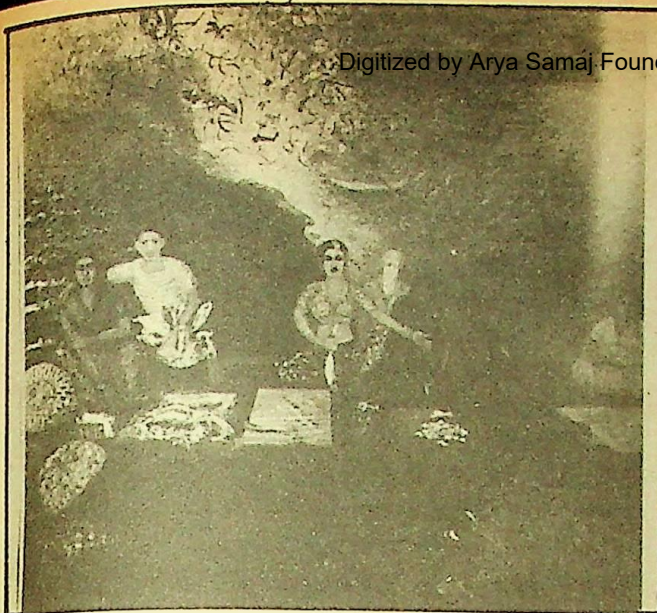
विवान सुंदरम की कलाकृति

कबोक लेकर आ गयी. मेम्मा और तोंबा कबोक का बंटवारा करने लगे. मेम्मा बोली, "तोंबा भैया, तुमने ज्यादा कबोक ले लिया." तोंबा ने कहा, "अरे, बराबर ही तो बांटा है." कबोक खाना समाप्त करने के बाद तोंबा ने मां से कहा, "मां, मेरे लिए एक अठन्नी देती जाओ."

"एक अठन्नी से तुम क्या करोगे?" तोंबा के उत्तर देने से पहले ही मेम्मा ने कहा, "अरे वो तो, पहली पोथी और गणित की किताब खरीदने के लिए." मां ने बड़े आश्चर्य से पूछा, "उनका तुम क्या करोगे?" "पुस्तक का क्या उपयोग होता है? पढ़ने के लिए." तोंबा ने उत्तर दिया. मेम्मा ने फिर कहा, "देखिए, मेरे पढ़ाने से वह उचि फारि, किसि, किरि तक पहुंच गया है." इन बातों को सुनकर तोंबा की मां को बहुत आश्चर्य हुआ और प्रसन्नता भी. उसने सोचा, ऐज्ञा चाओनु शायद अपना काम कराने के साथ ही मेरे बच्चे को कुछ बनाने के लिए पढ़ा-लिखा रहा है. पूछा, "मेम्मा, इसकून जाकर पढ़ता है?" तोंबा ने उत्तर दिया, "अरी, इसकून जाना-वाना नहीं, काम से फुर्सत के समय मेम्मा ने थोड़ा-थोड़ा सिखाया है."

"तो ऐज्ञा को पता है, मेम्मा?"

"मेरे माता-पिताजी नहीं जानते, हम दोनों चुपचाप सीखते हैं." यह सुनकर तोंबा की मां की आंखों में आंसू भर आये, प्यार और दुख से भारी हृदय संभाला नहीं जा सका, नकली गुस्सा दिखाकर कहा, "तोंबा, तुमको यहां काम के लिए रखा था, पढ़ते क्यों हो, क्यों होशियारी दिखाते हो. पढ़ाई-लिखाई मत करो, काम ठीक से करो." ऐसी ही दो-तीन बातें कह कर तोंबा की मां चली गयी. ऐज्ञा से ली हुई तोंबा की तलब के चार रुपयों में से अपने बच्चे को पांच पैसे तक नहीं दिये. पैसे देने पर किताब खरीदेगा, पढ़ेगा, उसके फलस्वरूप ऐज्ञा उसे काम से निकाल देगा. यह सब सोचकर दुखी हुई. गरीबी ने अनुचित विचार के लिए विवश कर दिया. कौन मां अपने छोटे बच्चे को पढ़ाना नहीं चाहती. तोंबा की मां लैरिकमचा भी तोंबा को पढ़ा न सकने की वजह से रोज रोती थी, किंतु आज छिपकर पढ़ने की बात सुनकर अपने बच्चे को डांटने के विषय में सोचकर लैरिकमचा के दुख की सीमा न रही. स्थान और समय के अधीन मनुष्य क्या नहीं बन जाता? मां के चले जाने पर मेम्मा ने कहा, "तोंबा भैया, तुम्हारी मां बहुत खराब है, दस नये पैसे तो देती." तोंबा बिना कुछ बोले चुप रहा. उसका बाल-मन नहीं समझ पाया कि उसके चुपचाप थोड़ा बहुत पढ़ने पर मां ने डांटा क्यों. वह जान नहीं सका कि मां के घर पहुंचने के इंतजार में कितने लोग होंगे.

आज ऐज्ञा चाओनु ने तोंबा को एक नयी किताब खोलकर पढ़ते देखा. उसने पूछा, "किताब कहां से आयी?"

तोंबा ने बहुत डरकर उत्तर दिया, "दूकान से खरीदी गयी किताब है."

"कहां के पैसे से खरीदी?" पूछने पर तोंबा चुप रहा. यह पैसा मेम्मा ने अपने बाप के बक्से से निकालकर तोंबा को दिया था. किंतु तोंबा ने नहीं बताया. तोंबा कभी झूठ नहीं बोलता था. इसलिए, मां ने दिया था, झूठ नहीं कहा, सच बोलने पर बाप मेम्मा को मारेगा. चुप रहने के सिवा तोंबा के सामने कोई उपाय नहीं था. उसकी चुप्पी से ऐज्ञा चाओनु का संदेह बढ़ गया. सौतेला व्यवहार न करते हुए भी, सुधारने का अवसर जानकर, ऐज्ञा ने तोंबा को धमकाना शुरू किया, "चोर, इतना छोटा होकर भी हाथ लंबा करना सीख गया." कहकर तोंबा की ओर बढ़ा. डर से कांपते हुए तोंबा पिछले पैरों सड़क की ओर धीरे-धीरे हटा.

अचानक तेजी से आने वाली एक गाड़ी ने तोंबा को टक्कर मारी. अस्पताल के बिस्तर पर तोंबा आंख बंद करके सो रहा है. पास ही चादर से एक बच्चा पीठ पर बांधे मां तोंबा को सहला रही है. इस समय तोंबा स्वप्न देख रहा था. उसके बाप को मरे डेढ़ साल बीत गया. किंतु सपने में लगा कि वह बहुत पैसा लेकर परदेश से लौट आया है. बाप तोंबा के लिए बहुत किताबें, स्लेट, बत्ती पैंट, खरीद कर लाया है. वह कपड़े पहनकर तोंबा को स्कूल ले जाने की प्रतीक्षा कर रहा है. तोंबा बड़बड़ाया, "मां! मां! पिताजी इंतजार कर रहे हैं, किताब दो, स्कूल जाऊंगा." ये कुछ शब्द तोंबा के जीवन की अंतिम आवाज थे.

मेम्मा प्रवेश-द्वार पर खड़ी तोंबा का इंतजार करती रही, किंतु वह फिर वापस नहीं आया. कुछ वर्षों बाद ऐज्ञा चाओनु का होटल भी सदा के लिए बंद हो गया. □

□ अनुवाद : इबोहल सिंह काङजम

उम्मीद

□ अतुल मोहन प्रसाद

"साहब!"

"क्या है?"

"रपट लिखानी है."

"क्या हुआ?"

"साहब! हम बरबाद हो गये. लुट गये..."

"अरे! कुछ बतायेगा या इसी तरह... किसने क्या किया? मैं अभी उसे पकड़कर थाना में बंद करता हूं." दरोगाजी ने कहा.

"साहब! वो चानी सिंह है न? वह मेरे नहीं रहने पर मेरी जवान बेटी के साथ..."

"तुमने जवान बेटी रखी ही क्यों है? रखी तो उसे अकेला छोड़कर क्यों गया? चानी सिंह के खिलाफ हम कुछ भी नहीं कर सकते. हमारे भी तो बाल-बच्चे हैं."

"साहब कुछ तो कीजिये."

"कुछ भी नहीं कर सकते. यहां का थाना चानी सिंह के खिलाफ कुछ भी नहीं कर सकता. जाओ. दूसरी जगह जाओ." दरोगा के चेहरे का रंग बदलता जा रहा था.

"सरकार! आप ही कुछ नहीं कर सकते तो दूसरा कौन करेगा?"

"मैं नहीं जानता!" दरोगा दहाड़ा, "दफा हो जाओ. जल्दी!"

सुखु सहमते कदम थाने से निकला. अचानक उसके कदम तेज हो गये. अब वह सोना सिंह के अड्डे की ओर तेजी से बढ़ रहा था जहां उसे न्याय मिलने का पूर्ण विश्वास था. □

दिशाहीन

शांतिस्वरूप चलते-चलते क्या कह गया था वह मानो भूल ही गयी थी... कितनी भारी भूल की थी उसने...! निर्गुणजी की एक मार्मिक कथा—
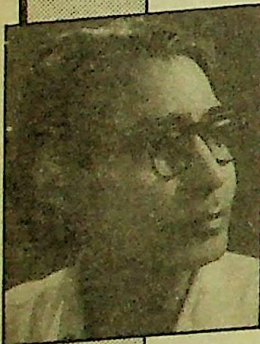
□ द्विजेंद्रनाथ मिश्र 'निर्गुण'

जन्म : 1915
प्रमुख कृतियां : प्यार के भूखे, छोटा डाक्टर, आसरा (कहानी संग्रह).
संपर्क : डी-5/131, त्रिपुरा भैरवी, मीरघाट, वाराणसी (उ.प्र.)

पांच पीरियड पढ़ाकर, विद्यालय से थकी-हारी लौटी ममता घर के दरवाजे पर आ खड़ी हुई, जरा रुकी, फिर आहिस्ता-अहिस्ता जीना चढ़ने लगी.

वह ऊपरवाली सीढ़ी तक पहुंची तो सुन पायी—बायीं ओर वाले कमरे से उसके छोटे भाई आनंद की नवविवाहिता पत्नी सावित्री बोल रही थी. ममता वहीं दीवार से लगकर खड़ी रह गयी.

सावित्री पति से कहे जा रही थी, "मैं आपसे किसी जेवर की, साड़ी-सेंडिल की फरमाइश नहीं कर रही हूं. आप की चल-अचल संपत्ति में अपने अधिकार का कोई दावा पेश नहीं कर रही हूं. मैं तो सिर्फ अपने अधिकार की भूखी हूं. आप खुद ही सोचिये, मैं इस घर में इस तरह कब तक रह सकती हूं-मैं खाना नहीं पका सकती, मैं आपके लिये थाली नहीं लगा सकती, अपनी रुचि से कोई मीठी-नमकीन चीज बनाकर आपको नहीं खिला सकती, आपके कपड़े नहीं धो सकती, आपकी आलमारी ठीक नहीं कर सकती. यहां तक कि आपकी पेन में स्याही भी नहीं भर सकती-यह मेरा कैसा जीवन बीत रहा है. आपने कभी ख्याल किया? मुझे इस घर में बहू बनकर आये आठ महीने बीत चुके, पर मैं आज भी इस घर के लिये मानो कोई अतिथि हूं. यह घर मानो सराय है और मैं यहां ठहरी कोई मुसाफिर हूं. सच कह रही हूं, मुझे ऐसा ही फील होता रहता है. और यह स्थिति अब मेरे लिये असह्य हो उठी है. आराम करते-करते ऊब उठी हूं मैं. आपको अपना यह दुख मैं कैसे समझाऊं?" बोलते-बोलते सावित्री का गला भर आया और वह चुप हो गयी.

अब आनंद कुछ कहेगा शायद—ममता ने वहीं खड़े होकर सोचा—क्या कहेगा वह?

और आनंद ने शांत स्वर में धीरे-धीरे कहा, "सुनो सवी, यह केवल दीदी की इच्छा पर निर्भर करता है. उसी से कहो अपने मन की बात. वही तुम्हें तुम्हारा अधिकार दे सकती है. तुम अगर यह चाहो कि तुम को लेकर मैं दीदी से कुछ कहूं तो यह मेरे लिये कतई असाध्य है. तुम्हें मैं अपना सब इतिहास सुना चुका हूं. पिता बचपन में ही बिछुड़ गये और मैं माता के नहीं—दीदी के हाथों पला हूं, बड़ा हुआ हूं, पढ़ा-लिखा हूं, इंसान बना हूं. मां जिंदा थी तब भी और मर गयी तब भी—मेरी यह जिंदगी, मेरा यह शरीर, मेरा रक्त-मांस और मेरे प्राण—मेरा सब कुछ मेरी दीदी की अमानत है. मैं उसके पर्वताकार त्याग और उत्सर्ग और स्नेह के नीचे दबा हुआ हूं. और तुम्हें मालूम है? दीदी मेरी सहोदरा नहीं, सौतेली बड़ी बहन है. मैं नहीं जानता, पूरे विश्व में मेरी दीदी जैसी और कितनी बहिनें हैं. हो शायद हजारों-लाखों में कोई एक ऐसी सौतेली बहिन तपस्विनी, मोहमयी, प्रेम की जीवंत देवता मेरी दीदी जैसी, मैं उसी बहिन से कहूं कि—तुम यों करो दीदी, यों रहो यहां! नहीं सवी, मेरे लिये यह असंभव सरीखा है."

सावित्री ने दबी जुबान से कहा, "मुझे मायके पहुंचा देंगे आप? मेरे ऊपर इतना उपकार तो कर सकेंगे?"

"जरूर कर सकूंगा, लेकिन दीदी कहेगी तब."

सावित्री खामोश रह गयी....

शिथिलगात ममता, दबे पांव, अपने कमरे तक आयी, कंधे का झोला कोने में पटका और आंखें मूंदकर खाट पर लुढ़क गयी.

आनंद पत्नी के पास से उठकर कब बाहर चला गया, कब आंगन से धूप सरक गयी और कब सांझ का झुटपुटा नीचे उतर आया—ममता को पता न चला. नयन मूंदे, अर्धचेतनावस्था में यों ही—यों ही पड़ी रही खुरदरी खाट पर.

घर का किशोर नौकर रग्घू बड़ी देर बाहर बैठा इंतजार करता रहा फिर उसने भीतर आकर स्विच दबाया, कमरा आलोकित हो उठा. घड़ी भर उसका प्रसुप्त मुख निहारता रहा, फिर हौले से पुकारा, "दीदी, उठोगी नहीं? रात हो रही है, आज खाना-वाना नहीं बनेगा क्या?"

ममता ने लेटे-लेटे ही प्यार से कहा, "रग्घू बेटे, मेरी तबियत ठीक

नहीं है, जा, सावित्री बहू से कह दे, इस बेला वही बना ले कुछ. और देख, शाक-सब्जी कम हो तो और ले आ सट्टी से...."

....उस रात बहुत देर तक ममता की आंखों पर नींद नहीं उतरी. सोचती रही और सोचती रही कि—यह क्या हो गया ? उसने अपनी भौजाई के साथ अन्याय किया है, अपराध हुआ है उससे? बचपन से लेकर आज तक भाई के लिये जो कुछ वह करती रही—उसे कभी किसी ने रोका-टोका नहीं. रोकनेवाला था ही कौन? ममता ने ही बीसियों लड़कियों में छांटकर सावित्री को चुना था. कितनी उमंगों से उसे ब्याहकर इस घर में लायी थी वह. कितने लाड़-प्यार से उसे सुखी रखने का प्रयास करती रही थी वह और आज अचानक ही उसे पता चला है कि सावित्री असंतुष्ट है, सावित्री दुखी है. दुखी सावित्री ने अपने पति से फरियाद की है. कोई उस के हक को मारे बैठा है, उसके अधिकार को बरबस दबाये बैठा है—और यह अन्याय करनेवाली एक मात्र तुम हो. अकुलाकर ममता उठ बैठी और रुद्ध कंठ होकर उसने अगोचर से कहा, "प्रभु, मुझसे अनजाने ही यह दारुण अपराध हो गया है. सब दे दूंगी मैं, सब सौंप दूंगी मैं अपनी सावित्री को. उसका सब अधिकार उसे अर्पित कर दूंगी. सुख पायेगी वह. आनंद की सारी चिंताओं से मैं अब मुक्त हो जाऊंगी." पति पर पत्नी का ही एक मात्र अधिकार होता है, बाकी रिश्ते तो बाद के होते हैं—इतनी मोटी बात तुम्हारी अकल मे नहीं आयी ममता. मैं माफी चाहती हूं. उसने अपने जमीर से कहा. माफ करो मुझे परंतु एक बात बतला दो. आनंद को बहू के हाथों सौंप कर फिर मैं इस घर में रहूंगी कैसे? दिन-रात यों ही अपने कमरे में बैठी रहूंगी क्या? चारों ओर से 'रिक्त' होकर जिंदा कैसे रहूंगी? जमीर बोला उसका कि—तुम्हारी यहां कोई जरूरत नहीं रही जहां से निरंतर 'आओ-आओ' की पुकारें आती रही हैं इतने सालों से और तुम अनसुनी करती रही हो भाई के व्यामोह में, जहां तुम्हारे जीवन की सार्थकता तुम्हारी बाट जोह रही है—वहीं चली चलो न! विश्वास करो, अभी ज्यादा विलंब नहीं हुआ है, तुम्हारे स्वागत के लिये वहां के द्वार आज भी खुले हैं. बोलो, चलोगी ? अस्फुट स्वर में ममता ने कहा—चलूंगी.

कितने दिन हुये. शायद दो दशक होने जा रहे हैं इस अतीत को. पिता की मृत्यु के बाद, अभावग्रस्त विधवा मां ने मकान का आधा पोर्शन किराये पर उठा दिया था. पति-पत्नी और बारह-तेरह साल का एक लड़का—ये तीन प्राणी उसी मकान में एक ओर आ बसे थे. सिर्फ बीस महीने वे लोग यहां रहे, फिर उनका ट्रांसफर हो गया किसी दूसरे शहर को.

किरायेदार की औरत मां की हमउम्र थीं. काम से फारिग होतीं वे दोनों तो बाहर आ बैठतीं. और घुल-मिलकर बातें करतीं. ममता तब कितनी बड़ी थी—नौ-दस की रही होगी और मां अक्सर सहेली के आगे उसकी तारीफें करती, कहती, "तुम्हें मैं क्या-क्या सुनाऊं इस लौंडिया की बातें! बड़ी बहिनें अपने छोटे भाई को प्यार करती हैं, यह ठीक है, लेकिन इस तरह भी कोई बहिन अपने छोटे भाई को प्यार देगी— मैंने न देखा और न सुना. मैं तुम्हें क्या सुनाऊं, जरा-सी थी तभी से यह हाल रहा कि अगर कोई मीठा दो, फल दो कोई, तो खुद न खाकर आनंद को खिला देती मुझसे छिपाकर. उसे क्या, गप-गप करके खा लेता बहिन का भी हिस्सा तो धीरे से समझाती— मुंह पोंछले और देख मां से मत कहियो! मुझे तो बहुत दिनों बाद पता चला. दोनों को डांटा तो दोनों हंसकर भाग गये मेरे आगे से....आनंद को एक बार बुखार आ गया तो मैंने उसे कुछ भी खाने को न दिया, पलंग पर लिटा दिया उसे और ममता से कहा मैंने—चल, तू खाले. थाली रखी उसके आगे तो उसने ग्रास न तोड़ा और रोने लगी. चुप-चुप क्या हुआ, रो क्यों रही है? हाय बहिन, उस दृश्य को कैसे समझाऊं तुम्हें! आंखों से टप-टप आंसू गिराती कांपते ओठों से बोली.
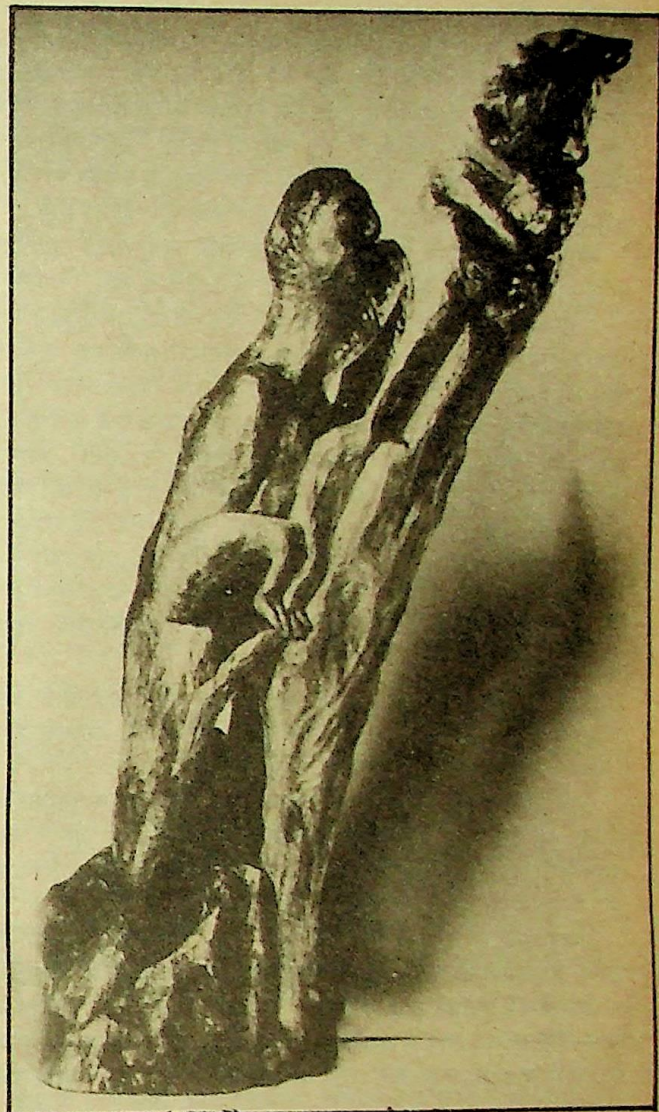
अलेक्स मेथ्यू की कलाकृति

भैया भूखा है, मुझसे नहीं खाया जायेगा मां! मेरा दिल हिल गया उसकी बात से. सारे दिन भूखी रही और रात को भूखी ही सो गयी....

फिर स्कूल जाने लगी. पहले तो मैं रोज ही उसकी जेब में कुछ पैसे डाल देती कि खा लेगी कुछ स्कूल में खरीदकर. जानती हो क्या करती रही वह? पैसों से कोई न कोई चीज खरीदती थी, पर छिपाकर आनंद को खिला देती, एक दिन मैंने पकड़ ली उस की चोरी, आनंद को डांटा—कहां से लाया ये अमरूद? तो वह रोता-रोता बोला—दीदी स्कूल से लाकर मुझे रोज अच्छी-अच्छी चीजें खिलाती है. क्या कहूं, क्या दंड दूं, किसे दूं— भाई को कि बहिन को? भौंचक्की खड़ी रह गयी मैं. ये तो बहुत बचपन की बातें हैं, अबोधावस्था की.... और अब तो यह हाल है दीदी कि जैसे दोनों भाई बहिन ने अपनी अलग दुनिया बसा ली हो, जहां मेरी कोई गुजर नहीं. मैं जैसे हूं ही नहीं उनके लिए. एक डाल पर खिले दो फूल.... साथ खायेंगे एक थाली में, साथ स्कूल जायेंगे, साथ ही सोयेंगे, साथ ही उठेंगे, साथ ही भगवान की पूजा करेंगे.और तुम्हें मालूम है? ममता मेरी कोख से नहीं पैदा हुई है. उसकी मां-मेरी सौत उसे दो-ढाई साल का छोड़कर मरी थी."

किरायेदार का लड़का शांतिस्वरूप एक ओर किताब खोले बैठा सुनता रहता ममता की मां के द्वारा कही जाने वाली ममता की बातें और मन ही मन सराहता ममता को कि ऐसी प्यार करनेवाली लड़की तो हजारों में कोई एक होती है और वह ममता के प्रति अनायास ही

आकर्षित होता गया—उसकी निकटता के लिए उत्सुक. अक्सर मुस्करा देती ममता, शांतिस्वरूप जैसे निहाल हो जाता. फिर मानो शांतिस्वरूप के भाग्य-देवता मेहरबान हो गये उस पर. एक दिन छत पर खड़ा वह आकाश में उड़ती दो पतंगों के दाव-पेंच देख रहा था कि ममता की मां ने उसे आवाज देकर बुलाया पास. और प्यार से बोली, "ममता मेरी जान नोच रही है, मैं काम में फंसी हूं, कल उस का 'टेस्ट' है अंग्रेजी का, जरा उसे सहायता करा दे बेटा, जा उसके पास चला जा, भीतर बैठी है."

ममता ने भी शायद सुन लिया था, वह इधर आया तो यह उसे देख मुस्करा दी. कोर्स की किताब आगे रख दी और हौले से कहा, "ये लेसन."

यूं ही मानो श्री गणेश हुआ उस मधुर संबंध का जो संबंध आगे चल कर जीवन भर के लिये अटूट और अजर-अमर सरीखा हो गया. वह उस दिन की पढ़ाई—वह पास-पास बैठना, एक-दूसरे की आंखों में बार-बार देखकर देखना. हंसना-मुस्कराना, प्रसन्न होना—आज तक याद है. वह पढ़ाई फिर प्रायः रोज होने लगी. ममता हंसकर कभी कहती, "मास्टर साहब, तुम मुझ से नाराज तो नहीं हो? रोज-रोज तुम्हें तंग करती हूं. एक पैसा भी तुम्हें मिलता नहीं पढ़ाने का," तो शांतिस्वरूप खिलखिलाता जोरों से और फिर एक दिन उसने ममता के दोनों हाथ अपने हाथों में ले लिये और धीरे से कहा, "तुम्हारे हाथ बहुत सुंदर हैं!"

ममता ने अपने हाथ न खींचे, हौले से बोली, "तुम्हारे हाथ भी तो सुंदर हैं!"

फिर एक दिन उसने कहा, "तुम बहुत मीठा-मीठा बोलती हो और तुम्हारा चेहरा बहुत सलोना है." ममता ने सिर झुकाये-झुकाये कहा, "तुम भी तो इतना मीठा बोलते हो, इतने सुंदर हो."

और बहुत रफ्तार से वे दिन बीतते चले गये और पिता के ट्रांसफर का आर्डर आ गया और उन लोगों ने जाने की तैयारी कर ली और स्टेशन जाने के लिये सिर्फ दो घंटे शेष रह गये तो शांतिस्वरूप अकुलाकर इधर भागा-भागा आया, "ममता कहां है?"

ऊपर, छत के कोने में ममता उदास-उदास सिर डाले बैठी थी. वह भी शांतिस्वरूप की तरह आकुल थी. शांतिस्वरूप सामने आ खड़ा हुआ तो ममता भी उठकर खड़ी हो गयी. शांतिस्वरूप ने उसके हाथ पकड़ लिये और गद्गद स्वर में कहने लगा, "मैं जब बड़ा हो जाऊंगा—तुम्हीं से शादी करूंगा. तुम मेरी बहू बनोगी न? वचन दो, वायदा करो मुझसे."

और ममता ने रुद्ध कंठ से कहा, "वचन देती हूं, तुम्हीं से शादी करूंगी मैं," और शांतिस्वरूप चला गया था यह घर सूना करके, यह शहर छोड़कर, ममता को छोड़कर....

अपरिपक्व अवस्था में, बिना विचारे, मोह में डूबकर दिया-लिया वह 'वचन' समय की अजस्र धारा में कहीं बह जाता—तो यही स्वाभाविक था, पर ऐसा हुआ नहीं....

शांतिस्वरूप की छोटी बुआ यहीं ब्याही हुई थी सो वह मां से बहाने कर-कर के बुआ के पास आता रहा, ममता से मिलता रहा और जाते समय ममता से हंसकर पूछता रहा, "अपना दिया वचन याद है न?" और सिर झुकाये, मुस्कराती-शरमाती ममता कहती रही, "हां अपना दिया वचन याद है मुझे."

यह क्रम बहुत दिनों नहीं चला. शांतिस्वरूप कहीं दूर के शहर में पढ़ने चला गया और सिर्फ गर्मियों की छुट्टी में उसका इधर आना होता रहा. फिर उसने ममता को पत्र लिखे और ममता ने पत्रों के उत्तर लिखे पर वे 'प्रेमपत्र' न थे. उन दोनों ने कभी प्रेम की भाषा का प्रयोग नहीं किया, किसी कविता की कोई पंक्ति नहीं उतारी पत्रों में. अति सामान्य छोटी-छोटी बातें, छोटे-छोटे समाचार और राजी- खुशी वाले. आगे चलकर संक्षिप्त होते गये और अंत में यह रूप हो गया कि—पूरे कोरे कागज के बीच शांतिस्वरूप सिर्फ एक वाक्य लिखकर पूछता—'कैसी हो?' और इसी तरह ममता भी एक वाक्य में ही उत्तर लिख भेजती—

मृणालिनी मुखर्जी की कलाकृति
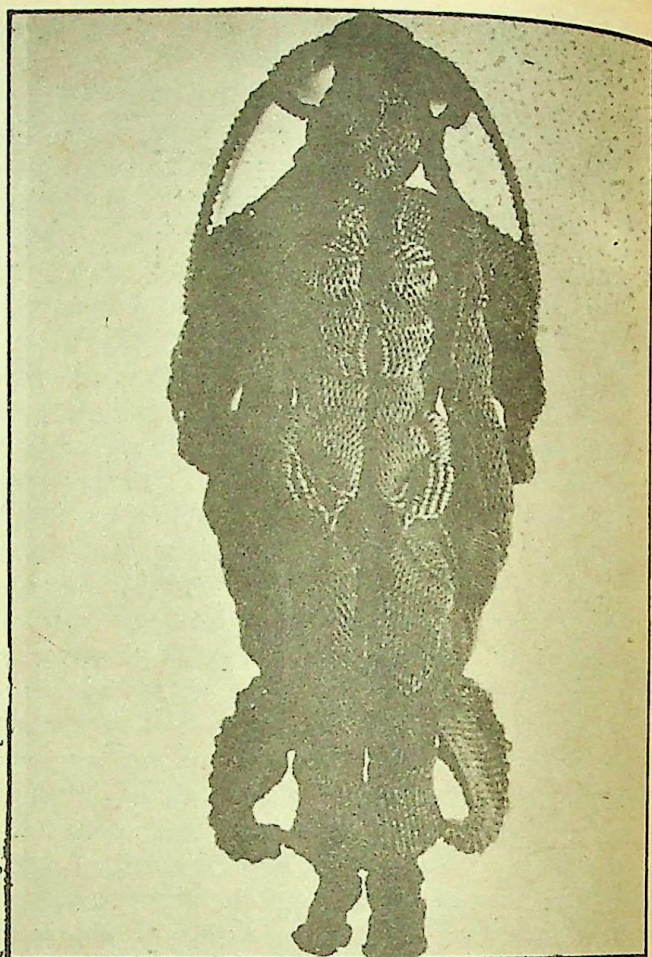
'अच्छी हूं.'

मासिक पत्रों के परे पेज पर सिगरेटों के आकर्षक रंगीन विज्ञापन छपते हैं और नीचे छोटे अक्षरों में छपा रहता है—'सिगरेट पीना स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है.' ठीक उसी तरह, शांतिस्वरूप के प्रत्येक पत्र के अंत में बहुत ही महीन अक्षरों में एक पंक्ति लिखी आती—"अपना दिया वचन याद है न?" और इधर से वैसे ही महीन अक्षरों में ममता की एक पंक्ति लिखी जाती— "अपना वचन याद है मुझे, भूली नहीं हूं." और इस प्रकार पत्रों के माध्यम से, बचपन में लिया—दिया वह शादीवाला वचन अक्षुण्ण बना रहा—पत्थर की लकीर हो गया मानो और साल पर साल बीतते गये और वे दोनों सयाने हो गये....

परीक्षाएं उत्तीर्ण करता शांतिस्वरूप सीढ़ी-दर-सीढ़ी ऊपर उठता चला गया और अंत में एक उच्च पदस्थ आफीसर बन गया. परंतु इस बीच उसकी मां और पिता-दोनों ही दिवंगत हो गये और वह एकाकी जीवन व्यतीत करने लगा.... इतने सालों का ममता का इतिहास केवल संघर्षों की एक लंबी कहानी है, जिसे अंतर्यामी के अतिरिक्त और कोई भी नहीं जानता. मृत्यु शैया पर पड़ी मां ने आंसू बहाते सिर्फ एक वाक्य कहा, "बेटी आनंद की जिंदगी तेरे हाथों में सौंपे जा रही हूं." फिर घरघराते कंठ से बिलखते-बिलखते दूसरा आधा वाक्य कहा मां ने, "तेरी जिंदगी भगवान को...." और मां मर गयी.'

कैसे उसने भाई को पाला, कैसे आगे बढ़ाया, पढ़ाया उसे—कैसे खुद जिंदा रही, अपनी पढ़ाई की, कोई नहीं जानता....

शांतिस्वरूप आता-जाता रहा, परेशानियों की बात पूछता रहा, सहायता की बात कहता रहा तो ममता बताती रही पर न उसे कभी

जरूरत पड़ी—न उसने कुछ मांगा कभी....

बी.ए. करके फिर ट्रेनिंग करके एक कन्या विद्यालय में वह अध्यापिका हो गयी थी और पूरी शक्ति लगाकर आनंद को आगे बढ़ा रही थी. तब एक दिन अचानक ही शांतिस्वरूप यहां आ खड़ा हुआ और पूछने लगा, "कुछ कहोगी नहीं?"

"कह रही हूं, सुनो, आनंद को अपनी पढ़ाई पूरी कर लेने दो," शांतिस्वरूप चला गया.

आखिरकार आनंद 'डाक्टरेट' करके यूनिवर्सिटी में 'एडहाक' नियुक्त हो गया और फिर स्थायी नियुक्ति भी उसकी हो गयी लेक्चरार के पद पर.

इस बार शांतिस्वरूप कुछ घंटों के लिये उससे मिलने आया तो उसने छोटा-सा यह प्रश्न किया हंसते-हंसते, "अब मेरे लिये क्या आज्ञा है तुम्हारी?" ममता मौन रही. शांतिस्वरूप अचानक ही उस समय मुखर हो उठा. ममता के मुख पर आंखें जमाकर दर्द भरी टोन में कहने लगा सुध-बुध बिसारकर, "कब तक मेरी परीक्षा लोगी तुम? मेरी प्रतीक्षा का कब अंत होगा? कब मेरा और अपना घर बसाने चलोगी तुम? मैं अब थक गया हूं ममता!"

तब ममता ने कातर कंठ से कहा, "आनंद का विवाह हो जाने दो, उस की गृहस्थी बस जाने दो, यह जिम्मेदारी भी मुझी को पूरी कर लेने दो. मैं तुमसे हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रही हूं, इतना समय मुझे और दो." घड़ी भर शांतिस्वरूप चुप रहा फिर उसने धीरे से कहा, "एवमस्तु" और फौरन उठकर चला गया.

कितनी विचित्र बात थी कि—जब कभी शांतिस्वरूप का पत्र आता तो ममता अभिभूत हो उठती, उसी के ख्यालों में खोयी रहती कई दिनों तक लगातार और जब कभी तनिक देर के लिये भी उसके पास आ खड़ा होता वह, तब तो फिर कहना ही क्या! वह जैसे फूली नहीं समाती कि इस भरी दुनिया में आनंद के अतिरिक्त भी कोई है उसका अपना, उसके मनः प्राणों से सटा-सटा. एक अनिर्वचनीय सुख की हल्की-हल्की लहरों पर. फिर वही एक मात्र आनंद का मोहपास उसे जकड़ लेता, आनंद के लिये ही उसके दिन-रात समर्पित हो जाते, बाकी सारी दुनिया को वह भूल जाती....मानो निर्मल आकाश के बीच पूर्ण चंद्र का उदय होता, चारों ओर शीतल-मधुर चांदनी बिखर जाती और फिर जाने कैसे, जाने किधर से धुंधलका घिरता आता धीरे-धीरे और वह चमचमाता चांद उसी धुंधलके में समा जता....

शांतिस्वरूप के यों उठकर चले जाने के बाद ममता कई दिन तक उदास-उदास रही फिर उसी मोहजाल में लिपटकर आनंद के लिये जीवन-संगिनी की तलाश में मशगूल हो गयी. अंत में उसने सावित्री का चयन कर लिया....

शांतिस्वरूप को विवाह का निमंत्रण-पत्र भेजने लगी तो उसने ये दो शब्द अपने हाथ से अंकित कर दिये—'अवश्य आना' और शांतिस्वरूप आ गया, विवाह उत्सव में शरीक हुआ, एक दिन और रुका, और अगले दिन उसने ममता को बुला लिया अपने पास सांझ ड्बती बेला, एक सुंदर-सा पैकेट ममता के आगे रखकर बोला, "लो यह आनंद की बहू के लिये तंजोरी साड़ी." खुश होती ममता पैकेट लेकर जाने लगी तो उसने खड़े होकर कहा, "रुको. मुझे तुमसे एक बात कहनी है. मैं इसी आठ वाली ट्रेन से चला जऊंगा और सुनो, अब मैं तुम्हारे पास नहीं आ सकूंगा, पत्र भी नहीं लिखूंगा तुम्हें. पत्र अब तुम लिखोगी मुझे, तुम खुद बुलाओगी मुझे तभी आऊंगा."

कुछ पलों के लिये ममता स्तब्ध खड़ी रह गयी फिर उसने शांतिस्वरूप के मुख पर आंखें टिकाकर धीरे से कहा, "नाराज हो गये हो मुझसे ?"

"कतई नहीं," शांतिस्वरूप ने साधारण स्वर में कहा, "जाओ, बहू को साड़ी दे आओ." अभ्यागतों की भीड़-भाड़ में लेने-देने में फंसी ममता भूल ही गयी कि शांतिस्वरूप ने अपने चले जाने की बात कही थी. याद आया तो वह इधर भागी आयी. कमरा खाली पड़ा था, शांतिस्वरूप न जाने कब चला गया था. बहुत पछतायी वह, बहुत कोसा उसने अपने आप को और फिर कामों में जैसे डूब गयी....

आठ मास हो चुके आनंद को 'युगल' बने. इतने दिनों ममता क्या करती रही? ममता बराबर व्यस्त रही. काहे में वह व्यस्त रही? आनंद और सावित्री का भावी जीवन किस तरह सुख-सुविधा-संपन्न हो, यही एक मात्र लक्ष्य मन में संजोये वह दिन-रात लगी रही, लगी रही....

उसने रसोई घर नये ढंग से बनवाया, पूरब की ओर पटिया लगवायी कि गैस का चूल्हा ऊपर रक्खा जा सके. उसने बड़े कमरे में दक्षिण की ओर खिड़की लगवायी कि उधर से खुली हवा आ सके. उसने ऊपर मंजिल से टीन उखड़वाकर पक्की छत डलवायी कि जाड़ों में वे दोनों वहां बैठकर धूप सेंक सकें और बरसात आये तो पलंग डालकर सोयें. दोनों वर्षा की फुहारों का मजा लूटते. नवविवाहिता को किसी भी ऋतु में कोई असुविधा न हो, कष्ट न हो, सोचती गयी और मकान में परिवर्तन कराती गयी. मकान की जैसे काया पलट गयी इतने महीनों में और यही सब करते-धरते उसने ये इतने दिन बिता दिये.

शांतिस्वरूप चलते-चलते क्या कह गया था—वह मानो भूल ही गयी थी. वह अब स्वयं नहीं आयेगा, पत्र भी नहीं लिखेगा. पत्र ममता लिखेगी, पत्र लिखकर उसे बुलायेगी और फिर अपना भविष्य, शांतिस्वरूप का भविष्य—दोनों एकाकार भविष्य—यह सब उसकी आंखों से तिरोहित हो गये थे न? कितनी भारी भूल की थी उसने—पहाड़ जैसी भूल. मां का वचन तो पालती रही जी जान से, अच्छा ही किया पर शांतिस्वरूप को दिया अपना वचन उसने किसी अंधेरे कोने में क्यों फैंक रक्खा था? क्या जबाब था उसके पास? कितनी भारी गलती की थी

व्यवहार

■ बलविंद्र बालम

दादी मां का मुझ से बड़ा स्नेह था. वह चोरी छुपे भी मुझे वह चीजें खिला देतीं, जिनकी घर में अधिक आवश्यकता होती थी. मेरे बहुत मना करने के बावजूद वह मुझे खिला ही देतीं. उस के इतने गहरे स्नेह के आगे मुझे झुकना ही पड़ता. पर दादी मां, मेरे दोस्तों का घर आना बर्दाश्त नहीं करती थी. यहां तक कि वह मेरे दोस्तों को चाय पिलाने से भी हिचकचाती थी. एक दिन मेरे दो तीन दोस्त आ गये. दादी मां के तेवरों में पहले-सी हलचल नहीं थी. उसने मेरे दोस्तों को बड़े प्यार से बुलाया, "तुम बैठो मैं दूध लाती हूं." मैं विस्मित रह गया कि दादी मां और दूध? यह तो चाय पिलाने के लिए तैयार नहीं, यह दूध कह रही है. खैर! हम सब को जल्दी थी. दादी मां ने सब को बड़े प्यार से दूध पिलाया. मैं बहुत प्रसन्न था कि दादी मां में कुछ बदलाव आया है.

अगले दिन मेरे दोस्त आये तो मुझे फिर उम्मीद थी कि दादी मां दूध पिलाएगी, मगर ऐसा कुछ नहीं हुआ. विपरीत, चाय भी बड़ी खिदमतदारी करने के पश्चात मिली. दोस्त चले गये, तो मैंने आक्रोश में आकर दादी मां से पूछा, "दादी मां, जब कल मेरे दोस्तों को दूध पिलाया था तो आज भी क्यों नहीं पिलाया?"

दादी मां ने मुझसे प्यार जतलाते हुए आहिस्ता से मेरे कान में कहा, "तेरे ग्लास में दूध सही था. तू भी पगला है, इतना सारा दूध रोज थोड़े ही देती. दूध को बिल्ली ...." अब मैं किस स्थिति में था, बता नहीं सकता. □

गणेश पाइन की कलाकृति

उसने-पहाड़ जैसी गलती....

'मुझसे गलती हो गयी है—गलती हो गयी है', अपराधिनी ममता बार—बार निःशब्द दुहराने लगी तो उसका जमीर सांस लेकर कहने लगा, 'अच्छा ही हुआ, तुम्हें अपनी गलती का अहसास हो रहा है, तुम्हें उबारने के लिये ही सावित्री के माध्यम से प्रभु ने तुम्हें चेतावनी दी है—यहां तेरा काम पूरा हो गया. अब यहां से हट जा.'

छलछलायी आंखें लिये ममता ने कातर होकर अपनी अंतरात्मा से प्रार्थना की, मुझे यहां से ले चलो, जितनी ज़ल्दी हो सके, ले चलो मुझे....

एक सप्ताह के भीतर ही ममता ने सब कुछ—आनंद का, घर-गृहस्थी का, रुपये-पैसे का, बाहर-भीतर का—समस्त कार्यभार—सावित्री बहू को खुशी-खुशी सौंप दिया. सारे उत्तर दायित्वों से मुक्त हो गयी वह.

खाली-खाली-खाली!

अब इस घर में उसकी लेशमात्र उपादेयता न रही.

उस दिन अपने एक मित्र की बहिन की शादी में शरीक होने के लिये आनंद और सावित्री गये हुये थे, रात्रि में विवाह-संस्कार होगा, वहीं रहेगा....

....ममता ने अटैची और होल्डाल खुद ही बांध-बूंधकर तैयार कर लिये. रग्घू को पुकारा कि—स्टेशन के लिये रिक्शा बुला ले. रिक्शा आ गया. सामान रख दिया गया. उस समय ममता ने रग्घू को एक चिट्ठी पकड़ाकर कहा, "यह अपने आनंद भैय्या को दे दीजियो और देख, अपनी भाभी के साथ लगे रहियो. अपने आनंद भैया का ख्याल रखियो."

रोकते- रोकते उसकी आंखें भर आयीं और गीले पलक लिये अकेली रिक्शे में बैठकर चली गयी....

वह ट्रेन में जा बैठी. तनिक देर बाद ही सीटी देकर ट्रेन आगे सरकने लगी. ममता ने खिड़की से बाहर झांका-स्टेशन पीछे छूटा, अपना यह नगर छूटा, यहां के वाशिंदे छूटे, प्यारा भाई आनंद छूटा-सावित्री छूटी-सब छूट रहा है उससे-ममता का दिल भर आया, आंखें भर आयीं उसने जल्दी से आंसू पोंछ लिये.

शहर के इस पार, एक मील के फासले पर, विशाल शिव मंदिर खड़ा था. स्वच्छ आकाश के बीच मंदिर का कलश चमचमा रहा था. मंदिर के पास से ट्रेन गुजरने लगी तो उसने दोनों हाथ जोड़कर, नयन मूंदकर, सिर नमाकर निःशब्द कहा—हे औघड़ दानी, हे आशुतोष, मैं अब परदेसिन हो जाऊंगी. तुम्हारे दर्शनों के लिये तरसती रहूंगी मैं. हे घट-घटवासी, मेरे आनंद पर अपनी करुणा बनाये रखना, उसे तुम्हारे सहारे छोड़े जा रही हूं प्रभु!

एक बार फिर उसका दिल भर आया और आंखें भर आयीं. उसने आंचल से आंसू पोंछे और सहयात्रियों को देखने लगी. धीरे-धीरे मन उसका शांत होता गया....

ट्रेन भागती चली गयी. दिन का प्रकाश धुंधलाया और फिर रात घिर आयी. सारे यात्री बिस्तर बिछा लेट रहे. ममता भी लेट गयी, पर उसे नींद न आयी. यह सारी रात और कल का सारा दिन बिताकर शाम को कहीं पहुंच पाऊंगी गंतव्य स्थल तक. आंखें मूंदे लेटी वह सोच रही थी. तब उसके मन का पंछी कल्पना के आकाश में पंख फड़फड़ाता उड़ चला. आकाश में उड़ता मन का पंछी पूछने लगा—वहां, उसके द्वार पर तुम पहुंचोगी तब, कैसे-क्या होगा? ममता बहुत हौले से बोली—घंटी बजाऊंगी, दरवाजा खुलेगा. वे मुझे सामने देख आश्चर्य में डूब जायेंगे, खुशी से आंखें चमक उठेंगी, मुस्कान भरे ओंठो से निकलेगा—'अरे तुम!' और मैं बिना कुछ बोले नीचे झुक जाऊंगी उनके चरणों पर तो मुझे फौरन कंधे पकड़कर उठा लेंगे और अपने हृदय से सटा लेंगे—उनके कलेजे से लग जाऊंगी मैं. फिर वे मुझे बाहों में समेटे घर के भीतर ले जायेंगे.... और ममता कल्पना से उस घर का एक-एक कमरा देखने लगी—शांतिस्वरूप का घर—उसका घर—उनका घर—स्वर्ग का एक कोना कि मन के पंछी ने विघ्न डाल दिया. आकाश में उड़ता मन का पंछी पूछने लगा—फिर क्या होगा? शादी होगी न तुम्हारी? विवाह—मंडप सजेगा, ग्रंथि—बंधन होगा, सप्तपदी की क्रिया पूर्ण होगी, क्यों?

नहीं—ममता ने शांत-धीर स्वर में कहा—यह सब कुछ न होगा. मेरी इतनी उमर हो चुकी और उनकी भी. यह सब हंगामा—अब भला 'शोभन' लगेगा?—सिविल मैरिज?—पंछी ने पूछा तो ममता ने दृढ़ स्वर से कहा, हरगिज नहीं, यह मैं कभी न होने दूंगी—यह तो एक-दूसरे पर अविश्वास का प्रतीक है. हम लोग किसी मंदिर में चले जायेंगे. भगवान को माल्यार्पण करेंगे और वहीं परमपिता को साक्षी मानकर एक-दूसरे को फूलों की माला पहिनायेंगे. भगवान के चरणों में नतसिर होंगे. पुजारी

ब्रह्म का रूप

□ वेद प्रकाश 'वटुक'

हैल पश्चिम के भौतिकवाद से ऊब गया था. यहां तक कि उसे शुद्ध यूरोपियन श्वेत स्त्री से भी चिढ़ होने लगी थी. अपने सफल व्यवसायी पिता से उसे घृणा थी. वह ब्रिटिशमूल का श्वेत पुरुष जो था. उसकी मां रेडइंडियन थी. वह उससे अभिभूत था. सेवक तो नहीं. उनसे सौ मील दूर किराये की ली गयी कोठरी को ही वह अपना घर मानता था. उन्नतालीस साल की उम्र में भी वह अपनी शिक्षा पूरी करने के लिए कटिबद्ध था. सफल न होने से, यानि अभी तक अपना घर, अपना बैंक बैलेंस न होने से, उसकी पत्नी बच्ची को लेकर पंद्रह वर्ष पहले ही किसी और के साथ घर बसा चुकी थी.

कुछ दिनों पूर्व उसका संपर्क एक भारतीय दार्शनिक से हो गया था. उपनिषद, गीता, रामायण आदि की चर्चा उसे प्रभावित करती. आत्म-ब्रह्म का वर्णन उसे भाता. उसे कुछ शांति होने लगी. अपनी निर्धनता को वह आध्यात्मिक आरोपण देने लगा. वह अपने नये रूप से सुखी था.

तभी उसके जीवन में आ गयी मलिंदा-सुदृढ़, सुडौल जिजीविषा से भरी रेडइंडियन महिला. अपने जातीय ज्ञान और परंपरा से ओत प्रोत. वह उस पर मोहित हो गया. उसका संसार पूरा होता दिखाई दिया.

से आशीर्वाद लेंगे और बस—मन का पंछी हंसकर बोला, 'फिर तुम्हारी सुहागरात होगी, मधुर-मिलन-यामिनी!'

'चुप रह!'—ममता ने लजा के मुस्करा के कहा—'बेशरम!....'

वह रात और अगला दिन बिताकर ममता ट्रेन से उतरी तो सांझ घिर आयी थी. शांतिस्वरूप के निवास-स्थान का पता उसे कंठस्थ याद था. टैंपोवाले को वही पता बतलाकर, बड़ी निश्चितता से सीट पर बैठ गयी....

सही जगह पर उसे उतारकर टैंपो धड़धड़ाता चला गया. धड़कता कलेजा लिये ममता ने 'काल-बेल' पर अंगुली रख दी. फौरन ही गेट खुल गया और एक रूप-लावण्यमयी नवयुवती को ममता ने अपने सामने देखा, जो प्रश्नमयी दृष्टि से अपलक उसे निहार रही थी. क्या वह गलत जगह आ गयी है?

> मलिंदा ने उसकी प्रेम-याचना स्वीकार कर ली. भारतीय दार्शनिक से प्रभावित हो उसने आर्यपद्धति से विवाह संस्कार करने की घोषणा कर दी. मित्र लोग उसे आश्चर्य-आशंका भरी निगाहों से देखने लगे. मलिंदा को उसके एक नारी व्रत के वचन से आश्वासन भरा सुख मिला. वह भी तो भुक्त भोगी थी.
>
> और एक शाम एक पार्टी में उसे मिल गयी सशीन, रेडइंडियन, अनेक आंदोलनों में कर्मठ और भूतपूर्व आयोवा राज्य की सर्वश्रेष्ठ घोषित सुंदरी. उसका मन उसकी बातों पर, भावभंगिमाओं पर, सौंदर्य पर ललचा गया. तुरंत उसने सशीन के सबके लिए फेंके सिनेमा जाने का जननिमंत्रण स्वीकार कर लिया.
>
> हॉल में अपने दल के वे दो ही थे.
>
> सशीन की बांह उसने सिनेमा के एक प्रसंग से प्रभावित होकर कसकर पकड़ ली.
>
> सशीन को सुखद आश्चर्य हुआ.
>
> वह सशीन को चाहने लगा. उसी क्षण.
>
> पर मलिंदा ? ..... "ओह, मेरे मित्र भारतीय दर्शन के मर्मज्ञ कहते थे, हम सब आत्मा हैं, ब्रह्म का रूप हैं. तुम भी, मैं भी और वह भी. और आत्मा और ब्रह्म का मिलन ही मोक्ष है. सच्चा आनंद है."
>
> और उस रात वह सशीन की बाहों में था. वह भी मलिंदा की तरह ब्रह्म का ही रूप तो थी. □

उसने हकलाकर पूछा, "शर्माजी यहीं रहते हैं न?"

"जी हां, आइये, भीतर आ जाइये," नवयुवती ने मधुर स्वर से कहा. ममता भीतर आकर सोफे पर शांति से बैठ गयी और अपने सामने बैठी नारी से उसने सकुचाकर पूछा, "आप शर्माजी की...." तब उस नारी ने जरा-सा मुस्कराकर हौले से कहा, "जी, मैं उनकी पत्नी हूं."

क्षण भर में, ममता को वह कमरा चक्राकार होकर घूमता लगा.

"कृपा कर के अपना परिचय दीजिये," उस नारी ने विनम्रता से पूछा तो अर्धचेतना में ममता ने धीरे से उत्तर दिया, "मैं उनकी क्लास-फेलो रही हूं. नागपुर जा रही थी, सोचा—भेंट करती चलूं शर्माजी से, सो उतर पड़ी यहां." इतना सफेद झूठ वह कैसे बोल गयी, खुद ही चौंक रही थी. परंतु शर्मा की पत्नी ने खिले चेहरे से कहा, "बहुत अच्छा किया आपने. पर वे तो आज सबेरे ही दिल्ली चले गये हैं और मंगलवार तक लौटेंगे. देखिये, दो दिन की तो बात है. मैं अब आपको नागपुर नहीं जाने दूंगी. उठिये, नहा-धो लीजिये. आपके लिये चाय तैयार करवाऊं."

हिम्मत शाह की कलाकृति

चाय पर ममता ने हौले-हौले पूछा. "आपकी शादी को कितने दिन हुये?"

नवयुवती जरा रुकी फिर प्रसन्नमुद्रा से सुनाने लगी, "हिसाब लगाकर बतला रही हूं, बस सिर्फ सौ दिन हुये हैं मेरी शादी को." ममता के प्याले में दबारा चाय डालते हुए उसने हंस-हंसकर सुनाया—"किसी भली लड़की ने उन्हें सालों भुलावे में रखा, फिर उनकी खोज-खबर तक न ली. वे शायद बहुत दुखी थे. फिर मेरे पिता के बहुत आग्रह करने पर यह पत्नी का पद और अधिकार मुझे सौंप दिया."—कहकर हंसी वह. ममता फिर एक शब्द भी न बोल सकी.... रात को आग्रहपूर्वक ममता को भोजन कराया शर्मा की पत्नी ने. फिर गुदगुदे पलंग पर ममता के शयन की व्यवस्था करके आदर से बोली, "अब आप आराम से सोइये यहां. रातभर की जागी हैं, गहरी नींद आयेगी. स्विच ऑफ कर दूं."

आरामदेह बिस्तर पर आंखें बंद किये लेटी ममता गहरी नींद नहीं सो पायी. घंटों बीत गये, पर तनिक देर के लिये भी नींद न आयी उसे. सोचती रही—क्या शर्मा की पत्नी के साथ इस घर में दो दिन रुके रहकर वह शर्मा का इंतजार करेगी? नहीं, वह शर्मा से नहीं मिलेगी. किस मुंह से वह शर्मा का सामना करेगी-एक अपराधिनी, धोखा देने वाली नारी. उसके लिये शर्मा ने कितनी तपस्या की-कितनी लंबी प्रतीक्षा की. सोचो जरा, शर्मा ने अपनी शादी करके उससे अन्याय किया है ऐसा कौन कहेगा भला? ऐसी सुंदर-सलोनी, मृदुभाषिणी, व्यवहारपटु, अल्हड़ यौवना परिणीता को पाकर निश्चय ही वह परम संतुष्टि का अनुभव कर रहा होगा. उसका यह सुख चिरस्थायी हो-तुम्हें प्रभु से प्रार्थना करनी चाहिये. प्रायश्चित करो तुम और सबेरा होते ही चल दो यहां से. पर कहां, किस दिशा को जाओगी तुम. यह तो कहो! भाई की पत्नी को उसका अधिकार स्वयं सौंपकर आयी हो तुम. वह घर अब सावित्री का है-तुम्हारा नहीं, याद करो विद्यालय से लंबी छुट्टी मंजूर करा के आयी हो तुम. एक दूसरी अध्यापिका वहां तुम्हारी जगह पढ़ा रही है-याद करो. यों जीविकाहीन , नितांत व्यर्थता भरा जीवन ढोती सावित्री के लिये अब बिना बुलाया एक दुखदायी मेहमान बनकर वहां रहोगी तुम, इतनी बेहयाई लाद सकोगी? साहस है?

तब फिर कहां जाओगी तुम-क्या करोगी तुम? एक झटका लगा हो जैसे. उसने आंखें खोल दीं. चमककर उठ बैठी और अपने चारों ओर फैले घुप्प अंधेरे को निहारती, व्याकुल होकर बार-बार अगोचर से पूछने लगी, 'कहां जाऊं मैं? कहां जाऊं मैं?' कहीं से कोई उत्तर न मिला.□

युद्धविराम

पिछले आठ वर्षों से उसका लोगों से ऐसा ही मिलना जुलना है पर अब तक एक आध को छोड़कर बाकी किसी काम के नहीं साबित हुए... युवा कथाकार मानव की कथा—

□ विजय किशोर मानव

जन्म : 9 अक्तूबर, 1950
प्रमुख कृतियां : 'गाती आग के साथ' (गीत संग्रह). 'सूखी डालों वाला दरख्त' कहानी संग्रह शीघ्र प्रकाश्य.
संप्रति : 'दैनिक हिंदुस्तान' में फीचर संपादक.
संपर्क : 'दैनिक हिंदुस्तान', कस्तूरबा गांधी मार्ग, नयी दिल्ली-110001

लखन ने खीझकर तीसरी बार कालबेल दबायी और देर तक उंगली को पूरे जोर से बटन पर रखे रहा. उसे अपने पोर्शन में बज रही घंटी की आवाज बाहर तक सुनायी दे रही थी. उसके होंठों पर एक बुदबुदाहट तैर गयी—जाने क्या किया करती है... स्सा...ली. तभी उसे दरवाजा खुलने की आवाज सुनायी दी. रमा का हमेशा की तरह का लटका चेहरा उसे और ज्यादा सुलगा गया.

सीढ़ियां चढ़कर रमा के पास पहुंचा तो उसके होंठों पर न जाने कहां से मुस्कान तिर गयी. उसने रोज की तरह फिर पूछ लिया, "मैडम! तबीयत तो ठीक है, मुन्ने राजा चंगे हैं कि... फिर क्या बात है?" उत्तर में रमा ने चुप रहकर ऐसा मुंह बनाया जैसे कह रही हो—आज फिर देर कर दी. तुमको तो हमारी फिकर ही नहीं रहती, दिन भर इस जेल में कैद रहो और आप साहब रात में दस बजे तशरीफ लिए चले आ रहे हैं. लखन शायद चुप्पी तोड़ने की गरज से फिर बोला था, "यार आज दफ्तर में देर हो गयी, तुम बोर हो गयी होगी." संभवतः उसने रमा के चेहरे पर तैर गए सवाल का जवाब दिया था. फिर उत्तर मिलने से बेपरवाह उसने फाइल अलमारी में रखी और मुन्ने के खटोले की तरफ गया. अपने सात महीने के सोते हुए बच्चे को उठाने के लिए झुका ही था कि रमा का आदेशात्मक स्वर कमरे में गूंजा, "दिन भर परेशान रही हूं, एक मिनट को भी चैन नहीं मिला है, अभी-अभी सोया है, उसे जगा मत दीजिएगा." उसका मन तो हुआ कि मुन्ने को झकझोर कर जगा ही नहीं, खूब जोर से रुला भी दे पर उसके बढ़े हुए हाथ चुपचाप वापस हो आए और अपने बटनों पर रेंगने लगे.

लखन कपड़े उतारकर गार्डेन चेयर पर पसर गया. रमा मशीन की तरह आयी और सामने रखी मेज पर पानी का गिलास रखकर फिर भीतर चली गयी. वह देर तक बैठा भीतर ही भीतर खुद में उलझता रहा, अपने ही जाले में फंसी मकड़ी की तरह. और छटपटाहट के इन क्षणों में रमा उसे हर कोने से थर्डक्लास ही लगती रही—नं पहनने ओढ़ने का सलीका न खाना बनाने का ढंग. हमेशा बस बच्चे को सुलाने की फिक्र में रहती है. बदमिजाज इतनी कि किसी दूसरे को बर्दाश्त करने का माद्दा ही नहीं है. ऊपर से डिग्रियों के फालतू के बोझ का गुमान. यानी एक तो करेला दूसरे नीम चढ़ा. पिछले दो वर्षों में कुछ देर तो भी उसे रमा डिग्रियां लादे किसी गधे से ज्यादा कभी नहीं लगी. कभी कुछ लगी तो सिर्फ एक घरेलू औरत बच्चे पैदा करने की मशीन, खाना बनाने वाली महराजिन और बर्तन मलने वाली महरी से जरा भी ऊपर नहीं. दिन भर में कई बार लखन, पढ़ी-लिखी लड़की से शादी के अपने गलत निर्णय को पोख्ता करता है. सोलह की उमर से अब वह बत्तीस का हो चुका है. उसके आसपास इस दौरान शीला, उषा, लता और कई तो मंडराती रही हैं. एक-दो तो बहुत करीब आ गयीं और उसने ही उन्हें उनकी हद बताकर वापस कर दिया कि तुम मेरी बीवी की जगह नहीं ले सकतीं, साथ घूमना-फिरना और चुहल करना और बात है. और आज बारीकी से उनकी ओर गौर करता है, पचासों किस्म के प्लस प्वाइंट्स निकालकर उनसे बंधे होने की कल्पना में जाने कहां-कहां तक चला जाता है. ऐसे में वह रमा के प्रति और क्रूर हो उठता, "साली की महरी भी छुड़ा दूंगा, जिस लायक है वही करे दिन भर!" रमा के मेज पर चाय रखने के साथ ही उसका कल्पनालोक ढह गया. वह पूछ रही थी, "चाय के साथ कुछ और लेंगे?" लखन को उसका चेहरा अब पहले से कुछ कम लटका महसूस हुआ. रमा फिर बिना कुछ बोले और उत्तर की प्रतीक्षा किये प्लेट में बिस्कुट रख कमरे में लौट आयी.

"बड़े सुस्त लग रहे हो, तबीयत तो ठीक है?... दफ्तर में कुछ खाया था कि ऐसे ही रहे दिन भर?" रमा उसका कोई उत्तर न आने पर पूछती ही गयी. वह अब नार्मल तो थी पर लखन को उसके पुरुष का अहम् गंभीर बनाए रहा. फिर उसने रूखे ढंग से ही खानापूरी की, "कोई खास बात नहीं रही, ठीक है... तुमने दवा खायी?" वो... असल में दवा खाने से

जोगेन चौधरी की कलाकृति

चक्कर आने लगते हैं और वो लिव-फिफ्टी टू भी नहीं थी, इसलिये नहीं खायी.'' उसका ठीक होता मूड एक बार फिर बिगड़ गया और उसने उपेक्षा के ही अंदाज में कह दिया, ''तुम्हें मरना है तो मरो जैसे करम हैं वैसा भोगो.'' वह शायद कुछ और कहता पर तभी बेल बजी और रमा दरवाजे की तरफ चली गयी. लौटी तो उसका मुंह वैसा ही लटका था जैसा उसने दफ्तर से आने पर देखा था. रमा भीतर जाते हुए कहती गयी,'' जाने कैसे-कैसे बेवकूफ चले आते हैं, घंटी बजाने तक की तमीज नहीं है, वही आए हैं, तुम्हारे अशोक. अब हो गयी फुरसत, इस घर में तो जैसे सराय है—कभी दो मिनट बात करने का मौका ही नहीं. सुबह आंख खुलने से दफ्तर जाने तक और शाम आते ही से सोने तक एक न एक बैठा ही रहेगा. मेरे तो चाय बनाते-बनाते नाक में दम आ गया है. आप इनसे वहीं मिला करिये.'' जवाब में लखन उसे कोई भद्दी-सी गाली देता पर अशोक दरवाजे पर आ गया था. अतः वह चुप ही रह गया.

कई बार इन मिलने वालों से खुद भी वह तंग आ जाता है पर दफ्तर में काम का बोझ इतना है कि उसे वहां बात करने की तो क्या बाथरूम जाने तक की फुरसत नहीं मिलती. तब भी वहां दो-चार तो आ ही जाते हैं और मजबूरन उसे उनसे घर पर ही आने को कहना पड़ता है. वह दफ्तर के बाद लोगों से बाहर भी मिल सकता है. पर, कहीं बाहर बैठने के लिए पैसा भी तो चाहिए. दूसरे घर पहुंचने में दस मिनट की भी देर होने पर रमा का पारा सातवें आसमान पर चला जाता है. कई बार उसके भीतर एक जल्लाद उभरता है लेकिन अचानक सब कुछ ठंडा हो जाता है.

पिछले आठ वर्षों से उसका लोगों से ऐसा ही मिलना-जुलना है पर अब तक एक-आध को छोड़ बाकी किसी काम के नहीं साबित हुए. उसका स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि जो उसे फूटी आंख भी नहीं सुहाता उसके साथ भी अभद्र नहीं हो पाता. रमा के प्रति उसमें आक्रोश भरने का एक कारण संभवतः ऐसे तमाम लोगों को दिन भर झेलने से उत्पन्न खीझ भी है. वैसे वह कभी भी कई दिनों या ज्यादा देर तक गुस्सा नहीं रह पाता. उसके भीतर एक कलाकार रहता है, बहुत ही सतर्क. औरत के प्रति उसकी आसक्ति, जवान होने के दिन से अब तक आदिम युगीन ही है. कारण मानसिक रूप से वह औरत को दुनिया की सबसे बड़ी आर्ट मानता है. एकांत में, अपने बात-बात पर उखड़ने के पक्ष में, वह खुद ही तर्क देता है कि मेरे भीतर आग है—और संतुष्ट हो जाता है कि उसके भीतर कुछ न कुछ सुलगता रहता है—जीने की आग, प्यार की आग और मन की आग. और यही सबूत है उसके पूरा जिंदा होने का.

अशोक के जाने के बाद, आधे घंटे तक अखबार पलटता रहा तब मुन्ना जागा और आंखे मलता उसके पास आ गया. वह मुन्ने को बहलाने लगा. घोड़ा बन, उसे पीठ पर बैठाए वह कमरे के कई चक्कर लगा चुका था. बीच-बीच में वह रुक जाता और बच्चे की मंशा से अगली हरकत करके उसकी खिलखिलाहट में खो जाता. इस बीच कब रमा कमरे में आ गयी, उसे खबर भी नहीं हुई. उसने तो तब जाना कि वह कमरे में है जब रमा ने अपने चिर-परिचित अंदाज में कहा, ''क्यों जी, यह भी कोई खेलने का वक्त है, खाने को वैसे ही आधी रात हो गयी है. अभी आपके कोई खास आ गए तो बस हो गयी फुर्सत... बारह से पहले नहीं टलेंगे.'' उसे लगा जैसे रसोई में कोई चीज जल गयी हो और उसकी भस से उसके नथुने कड़वा गए हों. रमा मुन्ने को टांगे भीतर लौट गयी और उसके पीछे-पीछे वह भी टरक गया तंग खोले घोड़े की तरह. उसे गुस्सा तो ऐसा आया कि एक बोतल मिट्टी का तेल उसके सिर में उड़ेल दे और माचिस की जलती तीली, सिगरेट की जगह उसकी ओर कर दे. पर, खाने के वक्त भी बात बढ़ाना उसे महज बेवकूफी ही लगा. वह आगे की सोचने लगा तो भीतर से कांप गया. एक क्षण के आवेश के बाद की अपनी जिंदगी उसे काफी कठिन लगी. उसका यह सोचकर जैसे दम फूलने लगा कि रमा के बाद उसके बच्चों को कौन देखेगा? ससुराल वाले भी बिना किसी आधार के कह सकते थे—लखन ने दहेज के चक्कर में रमा को फूंक दिया है. अखबार में जली हुई रमा और हथकड़ी पहने खुद की तस्वीर छपने का खौफ और इससे भी अधिक बच्चे अनाथ होने की कल्पना ने उसे बर्फ कर दिया. वह भीतर तक हिल गया. उसका साहस

नजर उठाकर रमा की ओर देखने का भी नहीं हो रहा था. रोते हुए मुन्ने को चुप न करा पाने पर उसे हमेशा इस बात का अहसास होता था कि बाप न हो तो कोई दिक्कत नहीं, बगैर मां के बच्चे पलना नामुमकिन है.

सामने रखी थाली को अपने भीतर उलटने की पूरी कोशिश के बावजूद वह किसी तरह दो ही पराठे हलक के नीचे उतार सका और यह सोचे बगैर कि रमा इस बात से और भिन्ना जाएगी थाली में बची सब्जी में ही हाथ धो लिए. रमा खाना शुरू करती इसके पहले ही वह कमरे में आ गया और मौन को अपने भीतर ही तोड़ने के लिए कमरे में टहलने लगा.

रमा तो शादी के बाद से ही बीमार रहती आयी है. ऊपर से दो-दो बच्चे एक न एक बीमारी घर में बसी ही रहती है. ऐसे घरों में महीने के सामान की तरह दवा भी जरूरी सामान की तरह नियमित रूप से आती है. लखन के घर भी एक अल्मारी दवाओं के नाम रिजर्व है. वह दफ्तर से आते वक्त अक्सर कोई न कोई पेटेंट दवा अक्सर और बिना जरूरत भी लेता आता है. पता नहीं कब जरूरत पड़ जाए! दफ्तर की डिस्पेंसरी से मुफ्त में ही मिल भी तो जाती है. हां थोड़ा-सा वक्त जरूर लगाना पड़ता है. अभी बीच में रमा को रात-रात नींद ही नहीं आती थी और उसका सोना भी बमुश्किल दो-तीन घंटे ही तो हो पाता है. बड़े साहब से अटैच होने के बाद से तो यह नियम जैसा हो गया है.

उसने पलंग के बगल में तिपाई रख ली. फिर अलमारी से दो-तीन डिब्बियां निकालकर उनमें से कुछ गोलियां हथेली पर रखते हुए आवाज दी, "रमा, पानी दे जाओ एक गिलास." कमरे में काफी देर बाद कोई स्वर गूंजा था. रमा पानी लिए आयी तो लखन की हथेली पर एक साथ इतनी टेबलेट्स देखकर अचकचा गयी. फिर खड़ी एकटक देखती रही. शायद लखन पहली बार इतनी सारी टेबलेट्स एक साथ खा रहा था. कई कांपोज एक साथ... उसे अचानक कंपकपी आ गयी. लखन ने रमा को अपनी हथेली घूरते देखा तो दूसरी तरफ देखने लगा. पर, रमा उससे गिड़गिड़ायी नहीं, "दूध पीकर खाइएगा सोते वक्त." कहकर गयी और गिलास में दूध लिए लौटी. रमा में इतनी तत्परता गुस्से के क्षणों में ही दिखती है जितनी आज दूध लाने में उसने दिखायी थी. खाना खत्म होने के बाद घर को समेटने में उसे घंटों लग जाते हैं और वह पड़ा-पड़ा इंतजार करता बोर हुआ करता है पर आज ऐसा नहीं हुआ. वह दो-तीन मिनट में ही फिर कमरे में थी.

वह अप्रत्याशित रूप से उसके पलंग पर ठीक बगल में बैठ गयी. एक मौन तना रहा. लखन ठंडा दूध इस तरह पीता रहा जैसे जल्दी पीने में होंठ जलने का खतरा हो. रमा कभी उसकी तो कभी बिस्तर की ओर देखती, उंगलियो से न जाने कौन से शब्दों को लिखती रही.

आखिर रमा ने ही चुप्पी तोड़ी—आज बहुत थके लगते हो, क्या तबीयत ठीक नहीं है? लखन ने जैसे उत्तर देना टालने के लिए दूध का गिलास मुंह से लगा लिया. थोड़ी देर की चुप्पी के बाद फिर रमा ही बोली, "जल्दी सो जाओ आज लिखना-पढ़ना रहने दो. देर हो गयी है नहीं तो डाक्टर को ही दिखा आते."

लखन ने हाथ की गोलियां मेज पर रखी दी थीं और पलंग के सिरहाने से टेक लगाकर अधलेटा-सा बैठ गया. उसने माथे पर हाथ रखकर आंखें मूंद लीं यानी तनाव की सी मुद्रा बना ली. रमा अपनी जगह बैठे-बैठे ही थोड़ा झुककर उसका माथा सहलाने लगी. फिर एक बार उसी ने पूछा, क्या दफ्तर में कोई बात हो गयी?" लखन ने इस बार जवाब दिया, "नहीं, कुछ नहीं." रमा ने उसके पांव दबाने शुरू कर दिए. "तुम क्यों चिंता करते हो, तुम्हारा कोई और न हो तो क्या, मैं तो हूं. अब नार्मल हो जाओ, प्लीज! मेरी खातिर." वह बोला तो कुछ नहीं पर पांवों पर घूमते रमा के हाथों ने धीरे-धीरे उसका चढ़ा पारा नीचे ला दिया. और नार्मल होने के बाद वह ज्यादा देर चुप नहीं रह पाया.

लघुकथा

बड़ा कौन

□ ज्ञान प्रकाश विवेक

आदमी और सांप आज फिर आपस में टकरा गये थे. सांप ने रास्ता रोक कर फन फैलाया और फुंफकारने लगा.

आदमी ने वार करने के लिये लाठी को मजबूती से पकड़ लिया.

सांप बोला, "मेरा विष तेरे शरीर को दो मिनटों में ठंडा कर सकता है. मैं तुझसे बड़ा हूं तू मेरी कृपा पर जीवित है."

आदमी ने सर्प की बात को उपहास में उड़ाते हुए ठहाका लगाया, "जिसके अपने पांव नहीं वह दूसरों से बड़ा होने का दावा कैसे बांध सकता है?"

"मेरे पांव न सही, लेकिन मैं इंसान से अधिक तेजी से भाग सकता हूं."

"बेवकूफ! तू आदमी की दौड़ से क्या मुकाबला करेगा. आदमी तुझसे बहुत बड़ा है."

"नहीं, बिलकुल नहीं. मेरा एक बूंद जहर आदमी के पूरे शरीर पर हॉवी हो सकता है. और फिर लोगों के मन में मेरी दहशत कितनी है?"

"अरे बातले सांप, मैं चाहूं तो तेरे टुकड़े-टुकड़े कर दूं. जानता नहीं तेरी चमड़ी की मैंने चप्पलें और कोट बनाये हैं. क्या तू किसी आदमी के साथ ऐसा कर सका है? मेरे दिमाग से तू क्या मुकबिला करेगा."

दोनों एक दूसरे से बड़ा होने का दावा करते रहे. तभी आकाश में बिजली चमकी. टूटी और दोनों पर गिरी. अगले पल दोनों राख का ढेर हो गये थे.

वक्त शायद इन दोनों से बड़ा था. □

कुछ ही क्षणों बाद रमा की धड़कनें सुन रहे थे उसके कान. आज रमा ने भी प्रतिरोध की जगह शरमाते हुए लखन को उसके मन का करने दिया. लखन को इधर महीनों से बासी, पुरानी और उबाऊ लगने वाली अपनी ही बीवी पहले दिन जैसी लगी. सख्ती, लुनाई और मांसलता सभी कुछ पाया था आज अपनी दो बच्चों की मां बन चुकी पत्नी में. उसने स्विच आफ करना चाहा. रमा ने रोकने के अंदाज में उसके हाथ पर हाथ तो रखा पर उसे बंद हो जाने दिया. युद्ध के चरम पर उजाले कहां भाते हैं. भीतर-बाहर सब कहीं गहरे अंधेरे युद्ध की शर्त जो है. कुछ देर बाद कमरे में तैरती फुसफुसाहटें और दूसरे स्वर जैसे ठहर गए, जैसे दोनों ऊंघ गए हों. सचमुच वह चेतना में लौटा तो उसे झिंझोड़ते हुए रोती रमा कह रही थी, "तुम इतने कठोर हो गए, मेरा न सही बच्चों का ही मुंह देखा होता! अब तुम मुझे चाहते नहीं बोझ समझते हो. मुझमें रह ही क्या गया है, फूल से ईंधन जो हो गयी हूं. आज तुम कुछ कर लेते तो मैं क्या करती, कहां जाती?" इसके बाद वह सिसकती रही शब्द गुम हो गए. शायद सिसकियों में उसके शब्द थे—यह भी कोई लड़ाई है, सभी तो लड़ते हैं, पर कोई ऐसा तो नहीं करता. तुम मुझे डांट-मार सकते थे लेकिन..." रमा लखन से लगभग चिपकी हुई थी और लखने के हाथ उसके आसपास. कुछ देर तक सिसकियों के साथ प्यार करने जैसे आवाजें आती रहीं. फिर सब थम गया जैसे लंबे समय से चला आ रहा युद्ध रुक गया हो. □

कथा पहेली

फरवरी : 1990

सर्वशुद्ध हल

1. राजेंद्र यादव
2. 'गरीबदास' में दर्शकों में से एक व्यक्ति.
3. काव्य रचनाएं/गजलें.
4. मंजुला.
5. I 'शीशों के पार उगी हरियाली' II 'नया कवि' III 'लाल पसीना' IV 'गरीबदास'
6. राम स्वरूप दीक्षित की रचना 'चोरी'.
7. 'समय चक्र'
8. 'पड़ाव-दो' की भूमिका से.
9. 'दालचीनी के जंगल'

3200 प्रतियोगियों में इस बार दो प्रतियोगी ही सर्वशुद्ध हल भेजने में सफल रहे हैं. बधाई!

सफल प्रतियोगी क्रमशः इस प्रकार हैं :

- हनीफ शेखानी,
  द्वारा हिंद रेडियो सर्विस, मुख्य मार्ग,
  कांकेर,
  जिला : बस्तर (म.प्र.)-494 334
- कुंदन कुमार मिश्र
  द्वारा श्री नागेंद्र नाथ मिश्र,
  सहायक शिक्षक,
  बेला मध्य विद्यालय, हरिनगर,
  पश्चिमी चंपारण, (बिहार)
  पिन-845 103.

सारिका कथा पहेली

कहानियां गौर से पढ़िए और 200 रुपये के पुरस्कार जीतिए!

'सारिका कथा पहेली' में भाग लेने के लिए आप सभी आमंत्रित हैं. प्रतियोगियों से अनुरोध है कि वे पूर्तियां इसी पृष्ठ पर भरकर भेजें. इस बार के प्रश्न मार्च : 1990 के अंक पर आधारित हैं. पूर्तियां कार्यालय में पहुंचने की अंतिम तिथि 25 अप्रैल, 1990 है. दूर-दराज के पाठक 25 तारीख के बाद भी उल्लेख सहित अपनी पूर्ति भेज सकते हैं.

कथा-पहेली : अप्रैल 1990

रिक्त स्थान भरिये

1. आवरण पृष्ठ पर जिन तीन व्यंग्यकारों के कैरीकेचर प्रमुख रूप से प्रकाशित हुए हैं, वे हैं—बांये से दांये सर्वश्री..
2. 'खबर देने का काम अखबारों का है. पर अखबार ही जब गड़बड़ करने लगें तो ऐसे ली जानी चाहिए उनकी खबर.' यह बात पृष्ठ.................. पर छपी......................से जाहिर होती है.
3. 23 फरवरी, 1990 का दिन भुलाया नहीं जा सकेगा क्योंकि इस दिन..
4. 'गुलामी के दिनों की साम्राज्यवादी लूट से यह आजादी के दिनों की मल्टीनेशनल लूट किस माने में बेहतर है, जरा मुझे बताओ—क्या यह ज्यादा भयंकर नहीं है?" यह अंश कथाकार...........................के...................का है.
5. इन रचनाओं के रचनाकरों के नाम कोष्ठक में लिखें—
   I 'मांद' [ ] II 'लाल बत्ती जल रही है' [ ] III 'शेखर: एक जीवनी' [ ] IV 'गोबर गणेश' [ ] V 'जयतु जय हिंदी' [ ] VI 'अपनी पहचान' [ ]
6. ले आउट एवं प्रस्तुति की दृष्टि से इस अंक की सर्वश्रेष्ठ रचना है...................
7. यह पात्र जिन रचनाओं के हैं उनके नाम कोष्ठक में लिखें—
   I अशोक बाबू [ ] II चौधरी साहब [ ] III पटल [ ] IV दुमन [ ] V सेठ माधवराव [ ]

नाम ....

पता ....

मुट्ठी भर रोशनी

अरविंद का मस्तिष्क झन्ना उठा. उसे पहेली और भी कठिन होती प्रतीत हुई... उसे लगा, वह उस कोहरे में सीमा को ढूंढ़ने की चेष्टा कर रहा है... तेजेंद्र की तेजतर्रार कहानी–

□ तेजेंद्र शर्मा

जन्म : 21 अक्तूबर, 1952, जगरांव विविध पत्र-पत्रिकाओं में कहानियां प्रकाशित शीघ्र ही 'काला सागर' कहानी संग्रह प्रकाशित होने को है. संपर्क : 302 एटलांटिक विंग-ए, स्वामी समर्थ नगर, लोखंडवाला कॉंपलेक्स, अंधेरी वेस्ट, बंबई-58.

"शाम के धुंधलके में उसकी निगाह खिड़की में से गुजरते हुए अथाह समुद्र पर जा टिकी. उसे महसूस हुआ जैसे यह समुद्र भी उसकी ही तरह उफनती हुई भावनाओं को अपने अंदर समेटे हुए है. कुछ ही क्षणों में सितारे चमकने लगेंगे और फिर चांद भी निकलेगा. कितना अकेला होता है यह चांद, इन सितारों के बीच! एकदम उसकी तरह!

वह उठी और उसने नौकरानी को आवाज दी. इस घर में वह केवल अपनी नौकरानी कला के साथ रहती है. वर्तमान एवं भविष्य से जैसे उसका कोई संबंध ही नहीं. वह अतीत में जी रही है और केवल अतीत में ही जीना चाहती है. कला के आने पर उसने एक कप चाय बनाने को कहा. उसे लगा जैसे सामने समुद्र से निकलकर कोई साया उसकी ओर बढ़ रहा है. वह हांफने लगी.

"बीबीजी चाय." कला चाय ले आयी थी.

चौंक-सी गयी सीमा. "रख दो मेज पर.... अरे हां, कई दिनों से तुम्हारा पति नजर नहीं आया. पहले तो बहुत चक्कर लगाया करता था."

"क्या बताएं बीबीजी, यह मरदए होते ही ऐसे हैं. अभी छः महीने शादी को नहीं हुए और मेरे से दिल भर गया. न जाने कौन-सी छिनाल पर नजर है उसकी. पहले तो हर रात कुत्तों की तरह मुझे चाटता फिरता था."

सीमा को महसूस हुआ कि हर औरत के जीवन में कहीं न कहीं एक काला साया मंडरा रहा है. यही कला शादी से पहले कितनी चंचल थी, कितनी बिंदास, बिल्कुल जंगली हिरनी की तरह. मगर शादी होते ही...

सीमा ने चाय का कप होंठों से लगाया और पहला घूंट भरते ही बोली, "अरे कला, चाय में चीनी डालना तो भूल ही गयी तू."

"अच्छा है न बीबीजी, एक तो चीनी की बचत होगी और आजकल तो फैशन हो गया है फीकी चाय पीने का."

सीमा को कला की भाषणबाजी पर हंसी आ गयी. उसने चाय का एक और घूंट भरा. वह सोच रही थी बिना चीनी की चाय पीनी इतना मुश्किल नहीं है उसके लिये. वैसे भी उसका जीवन क्या है? बिना चीनी के चाय का एक कप ही तो है. रसहीन! लक्ष्यहीन! वह जी रही है पर वह स्वयं नहीं जानती किसके लिये. एक थके हुए मुसाफिर की तरह बस चलती जा रही है.

"बीबीजी, राजू बाबू आये हैं." कला ने कहा.

"अच्छा! उसे अंदर ले आओ."

राजू! क्यों आया है? सीमा के मस्तिष्क में खलबली-सी मच गयी. मनीष की मौत के बाद आज पहली बार राजू... वह मनीष का करीबी दोस्त था... उसका हमराज.

"नमस्ते सीमाजी, अरे आप अंधेरे में ही बैठी हैं?"

"कला, जरा बत्ती जला दो." सीमा ने कला को आवाज दी. कैसे कहती कि अब तो अंधेरा ही उसका जीवन है. कमरे में बत्ती जला देने से उसके भीतर का अंधेरा कम नहीं होगा. अंधेरा, जो समय बीतने के साथ और गहराता जा रहा है.

"आज इधर कैसे? तुम तो शायद जर्मनी चले गये थे न?" सीमा ने कमरे के सन्नाटे को तोड़ने की चेष्टा की.

"जी हां फ्रैंकफर्ट में हूं. एक महीने की छुट्टी लेकर आया हूं. मां आजकल शादी के लिये बाध्य कर रही है. मनीष की याद जहन से निकलती ही नहीं. और अब तो सच यह है कि शादी के नाम से डर-सा लगने लगा है. जबसे मनीष...

सीमा के दिल में एक शूल-सा चुभ गया. उसे लगा राजू उसे ही इस सब का दोषी मानता है. उसका कटाक्ष उसी की ओर है. वह तड़प उठी, क्यों आए राजू तुम, क्यों तुम लोग मुझे चैन से नहीं जीने देते! क्यों आकर जखम कुरेदते हो!' उसने मन ही मन कहा.

□ अकबर पदमसी की कलाकृति

"सीमाजी मनीष के कुछ चित्र एक जर्मन पत्रिका ने प्रकाशित किये हैं और उनके लिये पच्चीस हजार मार्क्स का पुरस्कार भी दिया है. इस पुरस्कार की सही अधिकारिणी तो आप ही हैं. यह लीजिये..."

सीमा की आंखों का बांध टूटने लगा. बहुत कोशिश के बावजूद वह अपने आंसू रोक नहीं पायी. मनीष ने अपने जीवन में उसे क्या नहीं दिया—वास्तव में अपना जीवन ही दे दिया और अब मरने के बाद भी.... सीमा को लगा वह पागल हो जाएगी.

"और यह एक छोटी-सी भेंट आपके लिए." राजू ने एक पैकेट मेज पर रख दिया—जिसमें एक 'हेयर ड्रायर' था.

राजू के जाने के बाद बहुत देर तक प्रकृतिस्थ नहीं हो पायी. उसके जाने के बाद ज्वालामुखी अपने पूरे जोर के साथ फट पड़ा था. कला के लिये यह कोई नयी बात नहीं थी. पिछले दो वर्षों से वह अपनी मालकिन को इसी तरह अकेले में, बेतहाशा रोते हुये देखती रही है.

आखिर मनीष ने आत्महत्या क्यों की?

सीमा के हाथ में वो पत्रिका थी जिसमें मनीष का पुरस्कृत चित्र प्रकाशित हुआ था. उसने पत्रिका खोली और उसकी निगाह एक चित्र पर टिक कर रह गयी. एक बकरा सार्वजनिक शौचायल के टूटे हुए नल से पानी पी रहा था. थोड़ा दूर से देखने पर लगता जैसे बकरा भी आम मनुष्य की तरह वहां मूत्र त्याग रहा हो. क्या विडंबना थी—वो शौचालय जिसे कोई भी मनुष्य गंदगी के कारण उपयोग में नहीं लाता था, एक बकरे ने उसके अस्तित्व का औचित्य सिद्ध कर दिया था. अपनी प्यास बुझाकर. मनीष को अपना यह चित्र सबसे अधिक प्रिय था.

मन फिर यादों की पर्तों में झांकने लगा.

मनीष अपना कैमरा संभाले और सूटकेस उठाए राजधानी एक्सप्रेस की ओर बढ़ रहा था. सीमा उसे विदा करने आयी थी. मनीष पहली बार दिल्ली जा रहा था—उत्साह से भरपूर उसकी पेंटिंग्ज की एक प्रदर्शनी दिल्ली के अशोक होटल में लगने वाली थी. उसने सीमा के पांव छुए सीमा का दिल भर आया था. इतना प्यार, इतना सम्मान तो उसके अपने भाई ने भी नहीं दिया था.

"मेरे भाई, तुझे अपने जीवन में असीम सफलता मिले."

दीदी...!" और गला रुंध गया.

गाड़ी ने सीटी बजायी और चल दी. मनीष गाड़ी में से उचक-उचक कर तब तक हाथ हिलाता रहा जब तक वह सीमा को देख सकता था. पहली बार वह सीमा को छोड़कर बंबई से बाहर जा रहा था.

सीमा को उस रात तेज बुखार चढ़ा था. वह रात भर मनीष का नाम नींद में बड़बड़ती रही.

प्रदर्शनी में मनीष को बहुत प्रशंसा मिली थी—सर्वत्र उसकी पेंटिंग्स की चर्चा थी. प्रदर्शनी दो सप्ताह के लिये तय थी. परंतु दस दिन के भीतर ही मनीष के सभी चित्र कला प्रेमियों ने खरीद लिये थे.

सीमा ने कमरे की खिड़की खोल दी. सामने अथाह समुद्र था. अपनी ही लहरों से आंदोलित, कितना चंचल है यह समुद्र और उसकी जिंदगी—कितनी सपाट, कितनी स्पंदनहीन, अकेली!

"कितना अंतर है उसमें और मनीष में" वह सोचने लगी. मनीष आज संसार की हर चिंता से मुक्त, कहीं दूर—क्षितिज के पार मुस्करा रहा है. किंतु वह जीवन के थपेड़ सहने के लिये जी रही है—घिसट रही है. शायद यही उसकी नियति है.

बचपन में किसी का प्यार नहीं मिला. चार वर्ष बाद भाई विकास का जन्म हुआ. धूमधाम! जश्न! सब रिश्तेदार इकट्ठे हुए. संगीत भरी शाम. मुहल्ले की हर औरत बधाईयां दे रही थी. दादी के पांव तो धरती पर नहीं पड़ रहे थे. हर किसी से अपने पोते के नैन नक्श और गोरे रंग का बखान. यह सब कुछ. लड़का जो हुआ था.

समय का चक्र चलता रहा. सीमा और विकास बढ़ते रहे. सीमा की हर इच्छा दबा दी जाती थी. कोई शिकायत नहीं. अपने घर के एक अकेले अंधेरे कोने में खड़ी वह हर अन्याय को देखती और सह जाती. विकास के लिये चॉकलेट और आइसक्रीम, सीमा के लिए खालीपन! फिर भी अपने छोटे भाई को बहुत प्यार करती.

समय के साथ साथ अकेलापन बढ़ता गया. कभी भी अपने आप को उस परिवार का सदस्य नहीं मान पायी. प्यार क्या होता है रोज दूर से देखती थी. उसे स्वयं महसूसना उसके भाग्य में नहीं था. प्रतिदिन सीमा

के माता-पिता का प्यार विकास के लिये बढ़ रहा था और सीमा के लिये बढ़ रहा था एक भयानक काला अंधेरा और एक शून्य!

और इसी शून्य में से निकलकर उसे एक दिन मिला था मनीष!

सीमा अपने कार्यालय पहुंची तो गुप्ताजी का चेहरा कुछ उतरा हुआ था. पिछले दो वर्षों से पूरे मन से काम करके सीमा ने गुप्ताजी का विश्वास और मन, दोनों जीत लिये थे. गुप्ताजी भी उसे अपनी बेटी की तरह चाहने लगे थे. सीमा को अनुमान हो गया कि आज फिर गुप्ताजी के घर में कुछ कहासुनी हो गयी है. मिसेज गुप्ता अपने पति को एक पिछड़े हुए विचार से अधिक कुछ नहीं मानती थीं. उनका बेटा और बेटी कैसे जी रहे हैं, इससे मिसेज गुप्ता को कोई सरोकार नहीं था. गुप्ताजी से तो सदा उनका झगड़ा रहता ही था.

सीमा को देखकर गुप्ताजी चेहरे पर मुस्कुराहट ले आये. ''आ गयी बेटा. सब ठीक है न?''

''जी सर, आपके आसरे सब ठीक ही चल रहा है.''

सीमा ने दो वर्ष पूर्व यह आफिस एक स्टैनोग्राफर के रूप में आरंभ किया था. किंतु इतने कम समय में ही वह गुप्ताजी की निजी सचिव बन गयी थी. उन्हें मिलकर ही सीमा को मालूम हुआ कि पिता का प्यार क्या
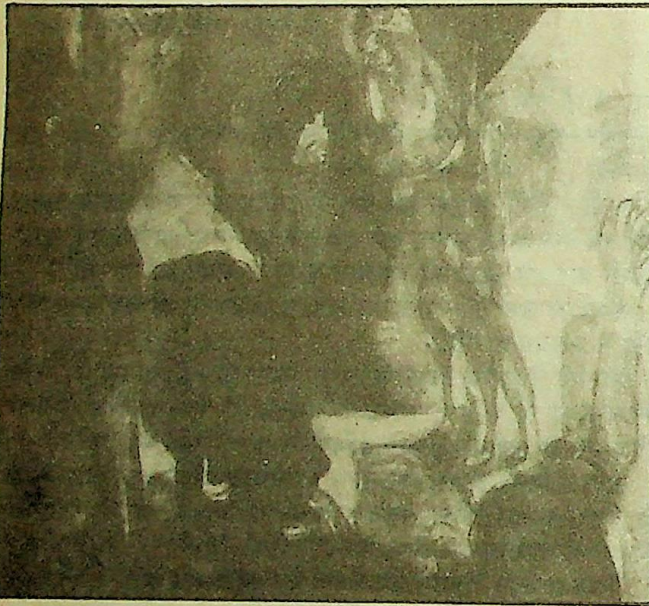
□ शीला गौड़ की कलाकृति

होता है. कहां तो उसके अपने पिता जो कभी उससे बात तक न करते थे, उसकी मां जिसे अपने बेटे के सिवाय दिखाई न देता था. और कहां गुप्ताजी, जो कि उसके हर दुख दर्द को समझते हैं.

कुछ ही देर बाद सीमा गुप्ताजी के सामने 'शार्टहैंड' की कापी व पेंसिल लिये 'डिक्टेशन' ले रही थी, गुप्ताजी को दोपहर बाद किसी मीटिंग में जाना था. वे चाहते थे कि सीमा कुछ आवश्यक कागज टाइप कर दे. सीमा ने अपने सधे हुये हाथों से सारा काम थोड़े ही समय में पूरा कर दिया और गुप्ताजी के सामने ला रखा।

लंच के बाद गुप्ताजी मीटिंग के लिये चल दिये. सीमा अपने काम में व्यस्त थी. फोन की घंटी बजी.

''हलो! वेस्टन कंपनी.''

''सीमाजी, अरविंद बोल रहा हूं.''

सीमा के चेहरे पर पसीने की बूंदें छलक आयीं. एयरकंडीशनर की आवाज थोड़ी अधिक लगने लगी.

''सीमाजी, मेरी आवाज सुन रही हैं न, आप?''

''जी? जी... जी हां.''

भू-आवंटी

■ जगवीर सिंह वर्मा

एक किसान को ऊसर भूमि सुधार योजना के अंतर्गत 5.22 एकड़ जमीन भूमि संरक्षण अधिकारी द्वारा विधिवत रूप से आवंटित की गयी थी. आवंटन समिति का अध्यक्ष परगनाधिकारी, सचिव भूमि संरक्षण अधिकारी तथा संबंधित ग्राम सभा के प्रधान वगैरह उसके सदस्य थे. दो वर्ष उस किसान ने उस जमीन को उपजाऊ बनाने में कड़ी मेहनत ही नहीं की, पैसा भी खर्च किया.

भोला-भाला वह किसान यह भी नहीं जानता था कि लेखपाल के कागजों में उसका नाम चढ़ा है या नहीं? किसी के सुझाने पर उसने अपना नाम चढ़ाने की लेखपाल से चिरौरी की तो बदले में उससे तीन हजार रुपयों की मांग की गयी. मांग की पूर्ति के अभाव में लेखपाल ने ग्रामप्रधान से मिलकर वह जमीन अन्य तीन किसानों को आवंटित कर दी. जबकि जिलाधिकारी के परगनाधिकारियों को यह स्पष्ट आदेश थे कि ऐसी भूमि किसी को न तो आवंटित की जाये और न ही ऐसे किसानों पर

अरे, आपकी तबीयत तो ठीक है न?''

''जी हां,'' सीमा ने स्वयं को संयत करते हुये कहा, ''कहिये कैसे हैं आप?''

''अजी हम कैसे हो सकते हैं. हमारा तो जीवन ही अतीत से जुड़ा है. कहीं शेक्सपीयर और मिल्टन हैं तो कहीं डिकंस और इलियट. किंतु हां, हमारा अतीत आपके अतीत से भिन्न है. जहां हम अतीत में जी रहे हैं. वहां आप अतीत को जी रही हैं.''

''कर दी न प्रोफेसरों वाली बातें शुरू?''

''अरे सीमाजी, आपने फिर से इस अदना से लेक्चरार को प्रोफेसर बना डाला... अच्छा सुनिये मुझे आपसे एक आवश्यक बात करनी है. आप अभी इसी समय मुझसे मिलिये.''

सीमा एक बार फिर दुविधा में पड़ गयी. वह कई बार अरविंद से कह चुकी थी कि मनीष की याद को दिल से नहीं निकाल सकती. किंतु अरविंद मानने को तैयार ही नहीं था.

''देखिये अरविंद बाबू...''

''सीमा मैं आज ना नहीं सुनूंगा. मैं 'टॉक आफ द टाउन' में आपकी प्रतीक्षा करूंगा ठीक साढ़े तीन बजे. अच्छा नमस्ते.''

सीमा विचारों के समुद्र में गोते लगाने लगी. उसे अरविंद का व्यक्तित्व समझ नहीं आ रहा था. एकाएक वह बच्चों का-सा हठ करने लगता था और कभी वह एक शांत प्रकृति का प्रौढ़ बन बैठता था.

'टॉक ऑफ द टाउन' सीमा के कार्यालय से बहुत करीब ही था. और सीमा को वहां पहुंचने में केवल पांच मिनट का समय लगना था. उसे वह पांच मिनट की दूरी कोसों लंबी लग रही थी.

अरविंद हल्की नीली कमीज और काली पैंट पहने 'टॉक ऑफ द टाऊन' के बाहर सीमा की प्रतीक्षा कर रहा था. घुंघराले बालों की लट रह-रहकर तेज समुद्री हवाओं के साथ उसके माथे पर लहरा रही थी. सामने ही समुद्र में लहरें रह रहकर किनारे से टकरा रही थीं. और फिर शांत होकर पानी वापिस जा रहा था—एक बार फिर किनारे को पाने के लिये.

''सीमाजी, आपने इस गरीब पर बहुत एहसान किया आकर, नहीं तो न मालूम मैं क्या कर बैठता.''

''क्या कर बैठते?... रोमियो-जूलियट पढ़ाते-पढ़ाते आप काफी प्रभावित हो गये लगते हैं....''

झेंप-सा गया अरविंद. इतनी छिछली बात उसके मुंह से कैसे निकली.

अनाधिकृत कब्जे के अंतर्गत कोई कानूनी कार्यवाही की जाये. फिर भी उस किसान पर लेखपाल द्वारा मुकदमा चलाया गया और कहीं कोई सुनवायी न होने पर तहसीलदार ने अवैध कब्जा करने के जुर्म में उस किसान पर ग्यारह सौ पचास रुपये जुर्माना कर दिया. जुर्माना अदा न करने पर उसे हवालात में बंद कर दिया. यहां दूसरे हवालातियों द्वारा उसके बंद होने का कारण पूछने पर वह उल्टा सवाल दागता बोला, "क्यों भाई, ये जमीन जैसी हमने सुनी है राजपाल के हुकम से हमें मिली हती, वकील, कलट्टर, सिपट्टर सबने कही है के ये तो सरकार ने दई है, न याहे कोई छीन सके और न यामें कोई कछु और कर सके. परि हमें तो राजपाल ते बड़ौ लेखपाल मालिम परत है, जाने नोकर दई, गोई ठीक है, बाकी लिखतपढ़त के 'अगार कोई नांय सुनि रहयो, अब बताओ मैं कौन ते कहा कहूं? कहा करूं? या तो तीन हजार रुपया देओ, नहीं तो जुर्माना भरो और जुर्माना न होय तो हवालात में बंद है जाओ, ये कैसो राज है भइया, जामें न कोई सुनवइया, न कोई कछु पूछवइया, आखिर हमारो या में कसूर कहा है?..."

हवालाती टुकुर-टुकर उसके मुंह की ओर निहार रहे थे ☐

"आइये बैठते हैं." उसने कहा और सीमा उसके साथ आगे बढ़ गयी.

दोनों कुछ बेचैन-से थे. अरविंद कुछ कहने के लिये, सीमा सुनने के लिये. अरविंद ने कॉफी और स्नैक्स का आर्डर दिया और अपनी उंगलियों के साथ मेज से खेलने लगा.

"सीमाजी," एकाएक अरविंद ने चुप्पी तोड़ी, "क्या कई बारे ऐसा नहीं होता कि इंसान चाहकर भी अपनी बात होंठों पर नहीं ला पाता! मुझे ही देखिये ना, पिछले एक साल से आपको लगभग हर रोज देखता हूं, कितनी बार मिला भी हूं, किंतु न जाने क्यों हर बार मुहं को एक ताला लग जाता है और मेरी बात मन की गहराइयों में दबी रह जाती है. अरविंद कपूर–जिसकी आवाज का लोहा विश्वविद्यालय के बड़े-बड़े प्राध्यापक तक मानते हैं, आपके सामने एक अजीब-सी भावना से ग्रस्त हो जाता है. ऐसा क्यों होता है?"

"अरविंद बाबू, आप जिस दिशा में सोच रहे हैं, मैं बहुत पहले ही उन दिशाओं को छोड़कर एक विपरीत धारा में बह रही हूं. मेरा जीवन एक काले अंधेरेमें जकड़ा हुआ है. और वह काला भयानक अंधेरा हर उस इंसान पर छा गया जो भी मेरे संपर्क में आया. आप मुझे न जानते हुए भी मुझ से प्रेम करते हैं. आप इस ऊपरी देह से इतने प्रभावित हैं कि आपने भीतर के सत्य को जानने का प्रयत्न ही नहीं किया."

"सीमा!" आवेश में कह उठा अरविंद. "तुम्हारे अतीत से मेरा कोई संबंध नहीं. तुम जो हो, जैसी हो, मुझे पसंद हो. मै तुमसे प्यार करता हूं और तुम्हारे साथ अपना एक छोटा-सा घर संसार बसाना चाहता हूं. मैंने एक सपना देखा है...."

अरविंद! मैं और मेरा अतीत कोई सपना नहीं है. न ही आपका भविष्य कोई सपना है. यह जीवन की एक ठोस सच्चाई है. एक रुपये का पैन खरीदते समय मनुष्य उसकी पूरी जांच पड़ताल करता है. फिर यहां तो जीवन भर का प्रश्न है. आपके जीवन साथी का अतीत क्या था, उसका वर्तमान क्या है, यह आपके भविष्य के लिये जान लेना बहुत आवश्यक है. मनुष्य आज जो भी है उसमें बड़ा हाथ अतीत का है. अतीत की एक एक तह जम कर इंसान का वर्तमान बनता है. आवेश या भावनाओं में बहकर जीवन की समस्याओं का हल नहीं ढूंढा जा सकता."

अरविंद का मस्तिष्क झन्ना उठा. उसे पहेली और भी कठिन होती प्रतीत हुई। उसे लगा कि सामने आसमान में कोहरा छाया जा रहा है. वह उस कोहरे में सीमा को ढूंढने की व्यर्थ चेष्टा कर रहा है. सीमा उससे दूर हुए जा रही है. उसे अपनी परिपक्वता पर शक होने लगा. वह अपने तर्कों से हजारों विद्यार्थियों व प्राध्यापकों को चुप करवा चुका था. किंतु सीमा की एक बात उसे झकझोर गयी थी. क्यों इतना चाहता है वह सीमा को? वह एक विचित्र स्थिति में पहुंच गया था.

"अच्छा अरविंद, मैं चलती हूं." और सीमा उठ कर चल दी. अरविंद ने सीमा के नेत्रों में से छलकते कुछ मोती देखे. वह कुछ भी नहीं बोल पाया.

सीमा सोच रही थी कि क्या मनीष उसे इस तरह जाने देता! क्या वह उसे हाथ पकड़ कर बैठा न लेता?

सुबह जब सीमा उठी तो उसे थोड़ा बुखार था. छाती में दर्द महसूस हो रहा था. कुछ ही देर में कला चाय ले आयी. चाय के लिये हाथ बढ़ाया तो उसे चक्कर आ गया. संभल नहीं पायी और बिस्तर पर ही गिर गयी. कला हड़बड़ा-सी गयी. हड़बड़ाहट में ही चाय उसके हाथ से गिर गयी. उसने देखा, सीमा का शरीर तप रहा था. जल्दी से पड़ोस के डाक्टर कोहली को बुला लायी. डाक्टर ने सीमा को चेक किया और एक इंजेक्शन व कुछ गोलियां दीं.

डाक्टर कोहली का चेहरा कुछ भिंचा हुआ था. जैसे किसी द्वंद्व में हों. वे एकाएक किसी निर्णय पर नहीं पहुंचना चाहते थे. सीमा का हांफना

☐ चित्रांकन: भट्टाचार्य की कलाकृति

जारी था और बीच बीच में खांसी.... डाक्टर कोहली ने लगभग डांटते हुए कहा, "सीमा, कभी अपनी सेहत का भी ख्याल रखा करो. हर समय काम या फिर सोचना! क्या तुम्हारे जीवन का यही ध्येय रह गया है. कितनी कमजोर होती जा रही हो तुम. मैं तुम्हें अपने जीवन के साथ खिलवाड़ नहीं करने दूंगा."

"डाक्टर, अब तो यह जीवन ही मेरे साथ खिलवाड़ कर रहा है. इस घिसटने को क्या जीवन कहते हैं?" और फिर जो खांसी शुरू हुई तो बेहोशी पर ही रुकी.

डा० कोहली जैसे किसी गंभीर समस्या पर विचार कर रहे थे.

सीमा की बीमारी की खबर सुनकर गुप्ताजी बहुत चिंतित हो उठे. उन्हें अपना डर सच होता लग रहा था. सीमा का हर समय चुप रहना, कुछ सोचते रहना और शून्य में ताकते रहना, उन्हें किसी बड़े खतरे का सूचक लगता था. तो क्या बस.... नहीं! गुप्ताजी के चेहरे पर पसीने की बूंदें तैरने लगीं. उन्होंने अपनी कार की चाबियां उठायीं और चल दिये.

गुप्ताजी नर्वस हो रहे थे, "डाक्टर, मनी इज नो प्राब्लम, जस्ट सेव

हर. डू एनी थिंग." और डाक्टर एक मशीन की भांति अपने काम में लगा था. उसने नर्स को कुछ निर्देश दिये और गुप्ताजी के साथ अपनी केबिन की ओर बढ़ गया. नर्स 'टेंपरेचर चार्ट' और नाड़ी की गति का चार्ट बना रही थी.

डाक्टर ने वाश बेसिन पर हाथ धोये. तौलिये से पोंछे, "गुप्ताजी, अभी तो हम एकदम किसी निश्कर्ष पर नहीं पहुंच सकते. कल मैं इनके टेस्ट करवाऊंगा. उसके बाद ही हम स्पष्ट रूप से कुछ कह पायेंगे. वैसे आज रात ही कठिनाई भरी है. इसलिये अगर आप चाहें तो आज रुक सकते हैं नहीं तो किसी और को छोड़ सकते हैं. वैसे हम तो यहां हैं ही."

गुप्ताजी ने एक क्षण को स्वयं ही रुकने की सोची किंतु दूसरे ही क्षण उन्हें मिसेज गुप्ता का रौद्र रूप स्मरण हो आया.

बेहोशी में भी मनीष के नाम की बड़बड़ाहट जारी थी.

अरविंद जब अस्पताल पहुंचा तो सीमा को होश आ चुका था. चेहरा उतरा हुआ था, शक्ल कमजोर. .एक फीकी-सी मुस्कान से उसने अरविंद का स्वागत किया. अरविंद के चेहरे पर परेशानी झलक रही थी, "सीमाजी, आपको अपने आप पर इस तरह जुल्म करने का कोई कह नहीं. यह तो सरासर ज्यादती है आपकी. मैं आपको ऐसा नहीं करने दूंगा."

वह देखती रही अरविंद की ओर. उसे संभवतः अरविंद की यह व्यग्रता अच्छी लग रही थी. "ऐसी कोई विशेष बात तो नहीं है अरविंद जी. यह तो जीवन के साथ चलता ही रहता है."

"इसे आप जीवन का चलना कहती हैं यह तो आत्मघात है. सीमाजी जीवन की कोई भी समस्या ऐसी नहीं जिसका कोई हल न हो. समस्या तो खड़ी ही इसलिये होती है ताकि अपने हल के साथ आत्मसात हो सके. पर याद रखिये, मैं आपको इस तरह आत्महत्या नहीं करने दूंगा. आप को जीना है. अपने लिये भी और मेरे लिये भी.... अरे हां, टेस्ट रिपोर्ट आ गयी क्या?"

"कल शायद सभी रिपोर्टें मिल जायेंगी. तभी पता चलेगा कितने दिन की मेहमान हूं."

"आप न तो कभी मेहमान थीं और न ही मैं आपको मेहमान बनने दूंगा. आपका व्यक्तित्व एक ठोस सच्चाई है और मेरा प्यार भी. अब मैं आपको और अकेला नहीं छोड़ूंगा. आपको भी जीवन साथी की आवश्यकता है, और मैं तो अकेला हूं ही."

बहुत प्यार से अरविंद ने रजनीगंधा के फूलों को फूलदान में सजा दिया, "कल मिलता हूं. आज तो कालेज में बहुत जरूरी काम है."

अरविंद चला गया.

सीमा ने आंखें मूंद लीं. दर्द में अब राहत थी पर मन पहले से कहीं अधिक अशांत था. अरविंद जब भी आता, सीमा के अंदर का समुद्र आंदोलित हो उठता था. लहरें ही लहरें और उन लहरों में डूब जती थी सीमा. अरविंद—कैसे समझाऊं तुम्हें! एक जिंदा लाश के साथ क्यों बांधना चाहते हो स्वयं को!

और कब उसकी आंख लग गयी सीमा को पता ही नहीं चला. सपने में आज मनीष के चित्र पर कुछ धुंध छायी हुई थी.

अस्पताल का बरामदा! दवाईयों की गंध! बीमार कमजोर चेहरे! सचमुच परेशान चेहरे! मुखौटे लगी परेशानियां! राजू ने देखा, अरविंद ने देखा, दोनों ने एक दूसरे को पहचाना. लंबे अरसे के बाद मिले थे.

"अरे मेरे कलाकार! क्या हाल हैं?" कालेज में अरविंद स्टेज पर काफी काम करता रहता था.

"ओह राज! तुम यहां कैसे? सुना था तुम तो कहीं विदेश चले गये थे."

"वहीं से आया हूं भाई. पर तुम यहां किस चक्कर में हो?" एक करीबी दोस्त बीमार है. तुम क्या दिखाने आये हो?"

"दिखाने नहीं यार! वो सीमा भाभी की तबीयत कुछ खराब है. मैं तो कुछ दिनों में वापिस फ्रैंकफर्ट जा रहा हूं...."

"राज, यह सीमा वही तो नहीं जो वर्सोवा में रहती है, सात बंगला में?" आवाज में व्यग्रता थी. राज को बात पूरी नहीं करने दी.

"अरे हां! पर तुम उन्हें कैसे जानते हो?"

"यार अब तुम्हें क्या बताऊं. चल जरा बाहर बैठ कर थोड़ी देर आराम से कैंटीन में बात करते हैं."

राजू हैरान! ठीक है अरविंद और राज एक ही कालेजमें थे—अरविंद राज का सीनियर. दोनों ही विद्यार्थी परिषद के सदस्य. किंतु दोनों कभी भी इतने अच्छे दोस्त नहीं थे कि बैठकर बातचीत का सिलसिला आरंभ किया जाता.

"राज, मेरे जीवन का काफी कुछ दारोमदार हमारी इस समय की बातचीत पर है." अरविंद ने कुर्सी की धूल झाड़ी. राज केवल स्थिति को समझने की चेष्टा कर रहा था. उसने दो स्पेशल चाय लाने को कहा.

"क्या बात है दोस्त, कि सीमा से विवाह करना चाहता हूं. केवल इतना जानता हूं कि वह विधवा है. पर वह है कि बात को टाले ही जा रही है. तुम उसके बारे में जो कुछ जानते हो बता डालो." अरविंद एक सांस में कह गया

राजू ने सिगरेट सुलगा ली, "सारी बात सुनकर तुम्हारा यह उत्साह कायम रह पायेगा? कहीं, और लोगों की तरह....!"

"यार भूमिका मत बनाओ, बस कह डालो."

राज ने चाय खत्म की, और बात शुरू की—"मां बाप के प्यार से वंचित, अकेलेपन में बड़ी हुई लड़की. नारी होने के कारण अपने ही घर में दूसरे दर्जे का जीवन जीने को मजबूर व्यक्तित्व का नाम है सीमा! अपने ही भाई विकास की तरफ मां बाप का अंधा प्यार देखकर सीमा को पुरुषों से नफरत-सी हो गयी थी. वह कभी किसी भी पुरुष से सहज नहीं हो पाती थी. प्यार का तो उसे अर्थ ही मालूम नहीं था.

"ऐसे में उसे मिला था मनीष—अभावों से ग्रस्त किंतु मस्त. सीमा से कोई तीन चार वर्ष छोटा था. विकास का दोस्त था. अपने फटे कपड़ों की परवाह किये बगैर वह उनके घर चला आया करता था. बचपन से ही कलाकार मन था उसका.

"एक बार बैठ गया सीमा की पेंटिंग बनाने. जिद में एक सप्ताह स्कूल भी नहीं गया. फिजिक्स का प्रेक्टिकल भी 'मिस' कर गया. पेंटिंग में कुछ ऐसे रंग भरे कि सीमा को उस पर बहुत प्यार आया. सीमा ने अपने आप में उतना प्यार कभी नहीं महसूसा था जितना कि उस पेंटिंग में दिखाई दे रहा था.

"अब सीमा को दीदी शब्द अच्छा लगने लगा था. हां मनीष उसे दीदी कह कर ही बुलाता था. वह भी उसकी हर बात का ध्यान रखती. उसके खाने, पहनने, पढ़ने की चिंता जैसे सीमा ने अपने ऊपर ओढ़ ली.

"स्वयं साहित्य की विद्यार्थी थी. चाहती थी कि मनीष भी साहित्य पढ़े. किंतु मनीष के घर कालेज की फीस और किताबों के लिये पैसे कहां थे. पिता को गुजरे एक अर्सा बीत गया था. बड़ी मुश्किल सहकर मां ने बड़ा किया था.

"किसी तरह टाइपिंग सीखी और 'एंपलायमेंट.एक्सचेंज' में अपना नाम लिखवा आया. नौकरी मिल गयी. पढ़ाई की कसक अभी भी बाकी थी. घर से बस में, वहां से लोकल, फिर बस और पैदल. सारा दिन दफ्तर में टाइपराइटर की टिक टिक. शाम तक थकान, ऊब! बंबई का चिपचिपा पसीना.

"कलाकार मन के लिये पढ़ाई का लोभ संवरण करना मुश्किल था.

सीमा के कहने पर सांध्य कालेज से साहित्य में बी.ए. शुरू कर दिया. समय और महंगी वस्तु हो गया.

"व्यक्तित्व और खामोश हो गया. हर बात आंखों से कहने की आदत-सी हो गयी. शब्दों के मामले में कंजूसी बढ़ती गयी. दिल के सारे तूफानों को कैनवस पर उगलने की कोशिश अनवरत जारी. विकास बी.ए. में दो वर्ष फेल! मनीष बी.ए. हो गया. मां बाप ने विकास को मनीष का उदाहरण देना शुरू किया. मन में मनीष के प्रति घृणा बढ़ने लगी. बहन पर दोषारोपण कि अपने से छोटे लड़के को फांस रही है.

"बाहरवाले! घरवाले! भाई! मां! पिता! इन सब रिश्तों का कोई अर्थ नहीं था सीमा के लिये. वह केवल एक ही इंसान के इर्द-गिर्द अपने जीवन का ताना-बाना बुन रही थी. वह मनीष के आगे कुछ सोच ही नहीं पाती थी. अपने एम.ए. के नोट्स ढूंढ निकाले. मनीष के लिये नोट्स बनाने की व्यस्तता.

"मनीष भी एक आर्टिस्ट के रूप में विख्यात होने लगा था. उसकी पेंटिंग्ज में कला प्रेमियों की रुचि बढ़ने लगी थी.

"मां-बाप चाहते थे कि सीमा विवाह कर ले. फिर चर्चा होती.

"'मनीष तुम ही बताओ, मैं शादी कैसे कर लूं! एक अनजान पुरुष के साथ कैसे जीवन शुरू कर लूं?'

"'दीदी, समाज में जीना है, तो इसके नियम तो मानने ही होंगे. आपके माता पिता विवाह किये बिना तो मानेंगे नहीं. और फिर हमारे बारे में जो ऊल जलूल बातें की जाती हैं....'

"'केवल बातें ही नहीं मनीष, अब तो मार भी....!' और सीमा का गला भर आया था.

"मनीष की मां के हाथ में कपड़ा सिलने की सुई खुब गयी. परवाह नहीं की. टेटनस हो गया. मां चल बसी. मनीष एकदम अकेला हो गया. पूरी तरह से सीमा पर आश्रित!

"एक लड़का देखने आया था सीमा को—एयरफोर्स में पायलट. पूना में 'पोस्टिड'. उसने सीमा को देखते ही पसंद कर लिया. सीमा ने उसे 'देखा' ही नहीं.

"मनीष स्वयं उसे मिलने गया. सीमा को मनाया. और सगाई हो गयी. पायलट हर सप्ताह बंबई आता. सीमा और वह इकट्ठे समय बिताते. कई बार मनीष भी साथ रहता.

"एक धमाका हुआ था. पायलट का विमान कलाबाजियां खाते हुए पेड़ों में जा गिरा था. उसका विक्षिप्त शरीर पहचाना नहीं जा रहा था. और सीमा विवाह से पहले ही विधवा! सुनकर बेहोश हो गयी थी. डाक्टर ने देखा. दूसरा विस्फोट!

"सीमा मां बनने वाली थी.

"'कलमुंही! इतनी क्या जवानी चढ़ी थी तुझे! चार दिन सबर नहीं था. खानदान की नाक कटवा दी.'

"मां, पिता, विकास सबकी ओर से पिटाई. सूजा चेहरा, पथरायी आंखें. एक दर्दनाक चुप्पी.

"रहा नहीं गया. मनीष उनके घर पहुंच ही गया.

"'क्या करने आये हो? अब हमारा मजाक उड़ाने आये हो क्या?'

"'आंटी, आपकी बेटी मेरी भी तो कुछ लगती है! आपकी इज्जत मेरी इज्जत है.'

"'अगर इज्जत का इतना ही ख्याल है तो सीमा से शादी कर ले. हम सबको समझा लेंगे. इस जन्मजली को अब कौन ब्याह कर ले जाएगा?'

"मनीष सकते में आ गया. 'यह क्या कह रही हैं आंटी?'

"'क्यों सांप सूंघ गया क्या! यह दिखावे वाला प्यार तो दुनिया में हर कोई कर लेता है. अगर उसे इतना ही प्यार करता है तो ले जा इसे अपने साथ. इस जिंदा लाश का हम क्या करेंगे!'

"'पर....!'

"रात भर करवटें बदलता रहा. जिसको सदा बड़ी बहन, मां समान माना हो, उससे....! दीदी की इज्जत! लोग क्या कहेंगे! वह स्वयं क्या सोचेगा. दीदी पर क्या गुजरेगी. अभी तो उसे मालूम ही नहीं कि उसकी मां ने क्या कहा है. पथरायी-सी दीदी. क्या वह उसे ऐसे ही मर जाने देगा. क्या उसे पत्नी बना पायेगा!.... उर्वशी का क्या होगा? उससे जो वादे किये हैं! उसका क्या दोष है? रातभर दावानल में जलता रहा. यह हलाहल उसे ही पीना होगा. अपनी प्यारी दीदी की इज्जत बचाने का और कोई उपाय नहीं था.

"मां बाप के हिसाब से उनकी और उनकी बेटी की इज्जत बच गयी थी. मनीष अपनी डोली को अपने छोटे से किराये के फ्लैट में ले आया था. सीमा अभी भी पथरायी आंखों से सब कुछ देख रही थी.

"उर्वशी का दिल टूट गया था. उसे मनीष की मजबूरी बिल्कुल समझ नहीं आयी थी. 'मेरे जीवन के सभी सपनों को चकनाचूर करके तुम समझते हो कि तुम खुशी से जी लोगे! नहीं. ऐसा नहीं होगा!.... अरे, अगर पहले से ही चक्कर चला रखा था, तो मुझे क्यों घसीटा इस गलाजत में?'

"हर आंख उसे अपनी ओर उठती ही दिखायी दे रही थी. वह उन आंखों का सामना नहीं कर पा रहा था. हर आदमी जैसे उससे एक ही सवाल कर रहा था. 'कौन है यह—उसकी दीदी या उसकी पत्नी?' दीदी की इज्जत बचाने की चाह में वह कितने गहरे जा गिरा था, इसका अहसास उसे अब हो रहा था.

"विकास ने तो सीधे कटाक्ष किया था, 'मैं तो कहता था न कि दोनों में कोई चक्कर है. और फिर क्या पता कि बच्चा किसका है! शायद अपना ही पाप ढो रहा है. नहीं तो कोई ऐसा भोला भंडारी नहीं है कि परायी आग में अपने हाथ जलाए.'

"मनीष अपने चरित्र पर किये गये इन लांछनों को सह नहीं पाया था. दीदी को पत्नी नहीं मान पाया था. शादी के पांचवें दिन ही मनीष की लाश समुद्र से, फूली हुई, मिली थी.

"लाश देखते ही सीमा के पेट में मरोड़-सा उठा था और लाल रंग बन कर उसका गर्भ बाहर आ गया. कई दिन हस्पताल में रही थी. उसके मां बाप तो कभी अपने थे ही नहीं. अब, मनीष भी चला गया था. बस गुप्ताजी ने ही उसे सहारा दिया."

राजू कहानी खत्म कर चुका था. काफी देर दोनों के बीच चुप्पी छायी रही. अरविंद इस बीच कई सिगरेटें फूंक चुका था. राजू ने उसकी ओर देखा, "क्यों अब भी तुम्हें लगता है कि सीमा के अंधेरे जीवन में रोशनी हो सकती है—चाहे मुट्ठी भर ही नहीं?"

अरविंद कुछ नहीं बोला. बस मुस्करा भर दिया.

सुबह कालेज जाने से पहले अरविंद हस्पताल पहुंचा. बाहर से ही रजनी गंधा के फूल लिये. सीमा के कमरे में अभी तक अंधेरा था. नर्स ने बताया था कि सीमा ने परदे न खोलने के लिये कहा है.

अरविंद आगे बढ़ा और खिड़कियों से परदे हटा दिये. कमरा सूर्य की रोशनी से भर गया. □

विपक्षी गवाह हाथ में गीता लेकर ज्योंही कसम की रस्म अदा कर रहा था उसकी आंखें डबडबाने लगीं और वह सिर पर हाथ रखकर बैठ गया.

हतप्रभ सरकारी वकील ने उससे पूछा, "भाई तुम्हें क्या हो गया है, रोते क्यूं हो?"

"कोटसाब! मैं इसलिए नहीं रो रहा कि झूठ सौगंध खा रहा हूं बल्कि इसलिए कि कभी सोचा भी न था कि झूठ मौलिक अधिकारों के लिए बोलना पड़ेगा."

तभी मेरी निगाह उसके चिपके हुए पेट पर गयी. □

—लोकेश शुक्ल

जो एक सपना था

अगले ही पल लाल गुलाब लिये हुए एक मर्दाना हाथ खिड़की की ओर बढ़ा, स्मिता को जैसे बिजली का करंट लगा. उसने लपककर वह हाथ कसकर पकड़ लिया.... महिला कथाकार की भावप्रवण कथा—

□ शैलजा

महिला कथाकारों में एक चर्चित नाम.

संपर्क: हि.प्र. मुख्यमंत्री निवास, शिमला (हिमाचल प्रदेश)

रेखांकन : हरिपाल त्यागी

आज फिर उसे खिड़की के परदे के पास रखा ताजा गुलाब मिला. उत्सुकता से उसने उसे उठा लिया. मोह भरी आंखों से देखा—अभी-अभी डाल से टूटा-ओस भीगा गुलाब. "ओह," गुलाब को होंठों से छुआते हुये वह आंखें बंद कर सोचने लगी-'कौन तोड़ता होगा इसे? किसको याद आती होगी उसकी?'

उसने आंखें खोलकर फिर खिड़की की ओर देखा. खिड़की रात भर खुली रहती थी. बंद खिड़की से स्मिता को घुटन होती थी. रात हो या दिन, सर्दी हो या गर्मी, उसके कमरे की यह खिड़की खुली रहती थी क्योंकि हवा ही नहीं—बाहर लान की हरियाली और आकाश के बदलते रंगों को देखना उसे बहुत अच्छा लगता. कभी सावन के गहराते काले बादलों से घिरा आकाश उसे उदास कर देता. कभी शरद के छितराये सफेद बादलों के टुकड़े उसे अपने बिखरे व्यक्तित्व की तरह भटकते लगते. कभी रात के सन्नाटे में तारों-जड़े रुपहले आकाश में उसे अपने सपनों का राजकुमार टेरता हुआ सुनाई देता. कभी पूनम की चांदनी में नहाया आकाश उसके अमावस के अंधेरे से घिरे प्राणों को चांदनी से भरता हुआ दिखाई देता......

'किंतु यह गुलाब......' उसने अपने भटकते विचारों को फिर से समेटकर हाथ में लिये गुलाब की ओर देखा. अंगुलियों से उसकी पंखुरियों को हौले से छुआ. लाल गुलाब मानो बिहंस उठा. लगा जैसे कोई कुछ कह रहा हो...... 'कौन है वह? किसने भेजा है यह गुलाब.' उत्तर ढूंढती उसकी आंखें खिड़की के पार दूर खड़े उस घर की ओर उठ गयीं—जहां गुलाब के अनेक पौधे थे. उन गुलाबों से उसका बरसों पुराना नाता था. उनकी सुगंध...... उनका रंग... उनका स्पर्श उसके तन-मन में बस गया था..... 'तो फिर गुलाब उसी ने भेजा होगा.....' और इस ख्याल के साथ ही स्मिता की खोयी हुई मुस्कराहट लौट आयी. मन एकदम फूल-सा हल्का हो गया. जी चाहा गुनगुनाये... झूमे, गाये.

बहुत दिनों पश्चात आज स्मिता खूब देर तक नहायी. फिर शीशे के सामने खड़े होकर अपने को देखा—शीशे से झांक रही रूखी-बिखरी लटें उससे गिला कर रही थीं. जाने कितने दिनों से उसने उन्हें ढंग से संवारा न था. आज उसने मन लगाकर अपना प्रिय 'जवां कुसुम' तेल खूब रगड़-रगड़कर मला..... घने काले बालों की दो चोटियां गूंथ जब उसने अल्हड़ता से दुपट्टे को कंधों पर डाला तो अनायास ही आंखें फिर उसी घर की ओर उठ गयीं. अतीत के धुंधलके से जैसे कोई हाथ हिला.....

वह झपटकर बाहर आ गयी..... "मामा. मामा!" उसकी आवाज से विस्मित मम्मी रसोई से बाहर निकली तो स्मिता की ओर देख ठगी-सी रह गयी. उसे लगा मानो किसी जादुई छड़ी ने उसकी बेटी के खोये हुये रूप-रंग को लौटा दिया हो. मन ने कहा, 'शुक्र है'.—बोली. "बेटी, आज तो कमाल कर दिया. इतनी जल्दी तैयार होकर कहां चल दी?" उसकी आवाज से पापा भी शेव करते-करते बाहर आ गये. हाथ में पकड़े शेविंग-ब्रुश और साबुन की झाग से झांक रहे उनके कौतूहल भरे नेत्रों को देखते ही स्मिता बेसाख्ता हंस पड़ी. पापा की यह पुरानी आदत थी. किसी भी आवाज पर वे यूं ही 'शेव' करते-करते उठ आते. स्मिता को हंसते देख वे भी हंस पड़े. बोले, "तो तुम मेरी हंसी उड़ा रही हो..... यानि कि अपने पापा—मि० वर्मा दी ग्रेट की." बनावटी नाराजगी से कहे गये उनके इस सुपरिचित वाक्य को सुनकर वह फिर हंस पड़ी. कितने दिनों बाद इस आंगन में हंसी के फूल खिले थे.

मम्मी-पापा की विस्मित आंखों से आंखें चुराते हुये वह बाहर की ओर लपकी, "मैं अंजलि के यहां जा रही हूं....." अंजलि उसकी एकमात्र अंतरंग सहेली थी. "अरे..... नाश्ता तो लेती जा... " मम्मी बोल उठी.

"नहीं मामा. आज नाश्ता वहीं करूंगी, " और दो ही कदमों में स्मिता ने आंगन पार कर लिया.

मां ने आश्वस्त आंखों से पति की ओर देखा. उन्होंने 'शेव' का काम जारी रखते हुए पूछा, "लेकिन... यह करिश्मा हुआ कैसे? स्मिता के उदासी के बादल किस तरह छंट गये?"

मां ने ठंडी सांस छोड़ते हुए कहा, "अजी, कैसे भी हुआ हो—पर में तो भगवान का लाख-शुक्र करती हूं कि मेरी बेटी का मन तो ठिकाने आया. ओह! कैसी सूरत बन गयी थी मेरी सोने जैसी बिटिया की. परमात्मा अगर कहीं है तो कभी न कभी जरूर बदला देगा उसे....."

"किसे...?" जानते हुये भी वे पूछ उठे.

"अजी, उसी कमबख्त संदीप को—जिसे हमने दामाद से बढ़कर अपना बेटा समझा था. उसने हमारी बेटी का सुख-चैन छीन लिया. क्या-क्या सपने संजोये थे हमने. कहां तो बेटी का ब्याह रचाना था—कहां उसके आंसू पोंछने पड़ गये. बेहया. प्यार किसी से—ब्याह किसी और से."

"देखो कमला." मि० वर्मा ने शेविंग ब्रश फिर नीचे रख दिया. "मुझे तुम्हारी यह बात बिल्कुल अच्छी नहीं लगती. तुम उसे बेकार कोसती रहती हो. ब्याह जिंदगी का सबसे अहम् हिस्सा है—उसमें भी अगर मन पसंद साथी न मिले, तो यह ब्याह हुआ या..."

लेकिन कमला भी हार मानने वाली न थी. "तो क्या तुम यह कहना चाहते हो कि स्मिता संदीप को पसंद न थी..... वो वर्षों का साथ... वे प्यार के रिश्ते... सब झूठे थे..."

स्मिता को अब हर सुबह के साथ आने वाले गुलाब का इंतजार रहने लगा. उसे लगता कि रात का हर पल, दिन की हर घड़ी उसी एक पल पर आकर अटक गयी है. दिन भर वह अपने को तरह-तरह के कामों में उलझाये रखती. सुबह के कुछ घंटे उसने रसोई के लिये रखे थे. मम्मी को वह स्नान के पश्चात पूजा-घर में भेज देती. अब वह भी खूब निश्चिंत मन से देर तक पाठ करती रहतीं क्योंकि सुबह के नाश्ते आदि का सारा जिम्मा स्मिता ने ले लिया था. रसोई से आती स्मिता की गुनगुनाती आवाज ने मम्मी-पापा दोनों को चिंतामुक्त कर दिया था.

स्मिता के चेहरे पर खिली मुस्कराहट ने जैसे बुझे दिलों को आशा से भर दिया था. उसकी गुनगुनाहट बता रही थी कि उसके हृदय पर पड़ी चट्टान हट गयी है. उसी आवाज से खिंचे मि० वर्मा रसोई में जा पहुंचे. "अरे बेटी. कितने दिनों बाद रसोई में आयी है. चल, आज सेलिब्रेट करें. तेरी मम्मी तो पूजा घर में है. हम दोनों बढ़िया-सी काफी बना कर पीते हैं..." कहते हुये मि० वर्मा झटपट फ्रिज से मलाई की कटोरी उठा लाये और काफी पाउडर डालकर लगे फेंटने. पापा की इस फुर्ती पर स्मिता की हंसी निकल गयी. वह जानती थी कि मम्मी की यत्न से सहेजी हुई मलाई का जिस बेरहमी से पापा प्रयोग कर रहे हैं... उसका परिणाम उसे ही भुगतना होगा. झटपट कटोरी की शेष मलाई उठाते हुए बोली, "पापा. मम्मी ने देख लिया तो वह हम दोनों की सुबह-सुबह ही मरम्मत हो जायेगी. लाइये, कटोरी रख आती हूं."

लेकिन ज्यूं ही वह कटोरी लेकर मुड़ी तो पीछे खड़ी मम्मी को देख ठिठक गयी. बाप-बेटी की ओर देखते हुये कमला बोल उठी, "तो यह बात है. बाप-बेटी ने मेरी रसोई पर धावा बोला है." और तीनों की सम्मिलित हंसी से घर गूंज उठा.

दिन में स्मिता ने अपनी आलमारी की धूल झाड़ी तो उसमें उसकी डायरी निकली. उसे डायरी लिखने की आदत थी. खोलकर देखी—सब पन्ने बीते दिनों का मुंह बोलता विवरण दे रहे थे. पर उसी तारीख पर आकर खाली हो गये थे जिस दिन संदीप ने वापिस लौटना था. उस दिन इंतजार में स्मिता ने भावी जीवन की कितनी रंगीन कल्पना की थी..... उसी में अनेक पृष्ठ रंग डाले थे. लेकिन उसी तारीख के बाद के सब पृष्ठ खाली थे—उसकी जिंदगी की तरह.

रेखांकन : हरिपाल त्यागी

आज उसने उस खाली पृष्ठ पर गुलाब का फूल रख दिया और लिखा, "मुझे फिर से जिंदगी देने वाले. तुम्हारा स्वागत." और डायरी को सिरहाने के नीचे दबाकर वह लेट गयी. मन पांखी कल्पना के आकाश में उड़ान भरने लगा. यह सब हुआ कैसे? कौन उसके अंधेरे जीवन में उजाले भरने को उत्सुक है? मन ने उत्तर दिया, संदीप. और कौन हो सकता है? उसकी बीती जिंदगी का वही तो सहचर था. वह जानता था कि उसे गुलाब कितना पसंद था और उसके हाथों से गुलाब लेकर अपने पास रखना स्मिता को कितना प्रिय था. लेकिन..... संदीप का मन कैसे बदल गया? सोचते हुये स्मिता कल्पना में सरोज और अपना मिलान करने लगी. उसने छुपकर सरोज को देखा था क्योंकि वह उस रूप गर्विता को देखे बिना न रह सकी थी, जिसने उसके बरसों के प्यार पर डाका डाला था. कहां संगमरमरी, भरे पूरे शरीर की स्वामिनी सरोज और कहां सामान्य नैन-नक्श की स्मिता? रूप रंग की कोई भी तो विशेषता उसमें न थी. जबकि एक ही नजर में पुरुष सौंदर्य-लोलुप मन को खींचने की क्षमता सरोज में थी... और संदीप की यह कमजोरी स्मिता को मालूम थी. तभी तो उससे दूर जब वह सरोज से मिला तो उसके रूपजाल के भंवर में ऐसा फंसा कि स्मिता किनारे ही खड़ी रह गयी.

किंतु अब.....? शादी के छः महीने बीतते ही वह उसे फिर से गुलाब क्यों भेजने लगा? यह चोरी-छुपे का प्रेम-संदेश क्यों? क्या सरोज के सौंदर्य भंवर से वह निकल आया? ..... हां, शायह यही हो. क्योंकि शारीरिक सौंदर्य का प्रभाव तो क्षणिक होता है न. सच्चा बंधन तो मन का है..... मन के सौंदर्य का नाता तो अटूट है न. अब उसी बंधन से बंधा संदीप यदि फिर उसकी ओर खिंचा चला आ रहा है तो इसमें असंभव क्या है?

निरुत्तर

■ शहंशाह आलम

"लो कंघी लो!" एक संथालन, जवान और सुंदर बाल झाड़ने वाली कंघियां बेचती जा रही थी.

"सुनो, सिर्फ कंघियां ही बेचती हो या कुछ और भी......?" एक मनचले युवक ने उसके जिस्म का जायजा लेते हुए पूछा.

औरत उस युवक के कहने का तात्पर्य समझ गयी थी.

वह बोली, "हां, बाबूजी! आप जो चाह रहे हैं, वह भी बेचती हूं. अपने पेट के लिए नीं, बल्कि आप ही की मां-बहनों की इज्जत को बचाने के लिए. वरना आप जैसे लोग अपनी मां-बहन को ओढ़ने से बाज न आयें."

मनचला युवक लाजवाब होकर बगलें ही झांकता रह गया. □

किंतु यह मैं क्या सोच रही हूं—सहसा विवेक का चाबुक उस पर पड़ा—संदीप अब शादी-शुदा है..... नहीं, पराया नहीं. मेरा... मेरा है संदीप—भावना फिर उमड़ी. शादी-शुदा है तो क्या...? रिश्ते मन से होते हैं. मन से वह अब भी मुझ से बंधा है. तभी तो उसे फिर से वही दिन याद आ गये हैं.....

स्मिता फिर से उन दिनों में लौट गयी जब संदीप बड़े अधिकारपूर्ण ढंग से उसके घर आता था. पहले सीधा उसके कमरे की ओर आता. चूंकि उसका कमरा था भी बगीची की ओर..... वहीं खिड़की से वह गुलाब उसे देता—यह कहते हुये, "मेरी नूरजहां के लिये..." अगर वह कमरे में न होती, तो वह गुलाब वहीं रखकर चला जाता. अगर कभी वह खुद न आ पाता, तो भी गुलाब जरूर उसे वहीं खिड़की पर रखा मिलता. यह क्रम मानो जिंदगी का एक अटूट हिस्सा बन गया था..... उतना ही अटूट जितना दिल के लिये धड़कना.

उस दिन स्मिता इन्हीं दिवा-स्वप्नों में खोयी थी... सामने टेबुल पर फूलदान में गुलाब मुस्करा रहा था... धीमे-धीमे बज रहा रेडियो संगीत की लहरें उत्पन्न कर रहा था. उस दिन रविवार था. मम्मी-पापा के कमरे से आ रही बातों की आवाज में अपना नाम सुनकर स्मिता ने कान उधर लगा दिये. पापा की आवाज थी—"कमला. अब हमें ज्यादा देर नहीं करनी चाहिये. स्मिता का मन अब ठीक है. हमने जहां बात तय की है, उन्हें अब अगले रविवार को आकर लड़की देखने के लिये पत्र लिख देता हूं."

"हां, हां. बिल्कुल ठीक कहा तुमने. पहली बार मेरे मन की बात समझी," कमला के स्वर में उत्साह था. इसके आगे उन्होंने क्या कहा-सुना, स्मिता ने कुछ न सुना. इतना ही उसे कल्पनालोक से उठाकर नीचे लाने के लिये काफी था. पलक झपकते वह समझ गयी कि उसके बदले हुये मूड से प्रेरित होकर उसके पापा ने कहीं रिश्ते की बात पक्की कर ली थी और अब अगले रविवार वे लोग उसे देखने आने वाले थे.

चौंककर वह उठ बैठी. अनजाने में ही वह किस शिकंजे में कसी जा रही थी. कितनी मूर्ख थी वह. आज लगभग दो हफ्ते हो चुके थे—जबसे उसे गुलाब का फूल आना शुरू हुआ था और उसने कल्पना लोक मे रहना शुरू कर दिया था. लेकिन जिंदगी तो कल्पना में ही रहकर नहीं बिताई जा सकती. मम्मी-पापा ने अगर उसका रिश्ता कहीं तय कर लिया, तो यह स्वाभाविक ही था. लेकिन अब मुझे क्या करना है? स्मिता का दिमाग तेजी से काम करने लगा. पहले तो मम्मी से कहकर यह तारीख एक हफ्ता और आगे करानी है. दूसरे, संदीप से मिलकर सब तय करना है.

पहला काम तो सरलता से हो गया. मम्मी के लिये यही क्या कम था कि बेटी ब्याह के लिये राजी थी. तारीख आगे करने में उन्हें क्या एतराज हो सकता था. किंतु दूसरा काम जरा टेढ़ा था. संदीप से कैसे मिला जाये. सोचते-सोचते उसे संदीप पर ही क्रोध आने लगा. कितना कायर और डरपोक है... इतनी हिम्मत नहीं हुई कि कभी सामने आकर मिले. बस चोरी से फूल भेजकर अपनी बात कहना सीखा है... शायद सरोज से डरता हो... लेकिन सरोज से अब क्या डरना? जब स्मिता की ओर फिर हाथ बढ़ाया है तो सरोज को तो तलाक देना ही है—आज या कल—और इस ख्याल ने स्मिता के तन-मन में जैसे बिजली भर दी. पल भर में उसने योजना बना ली. पहले संदीप को आफिस के पते पर पत्र लिखकर पार्क में मिलेगी... सब तय करने के बाद वह पहले खुद पापा से सारी बात कह देगी और फिर संदीप उनसे मिलेगा. उसे विश्वास था कि पापा उनके मन को समझकर उतनी ही उदारता से मान जायेंगे जैसे आज तक वह उसकी हर जिद को मानते आये थे. फिर मम्मी को मनाना तो उसके बायें
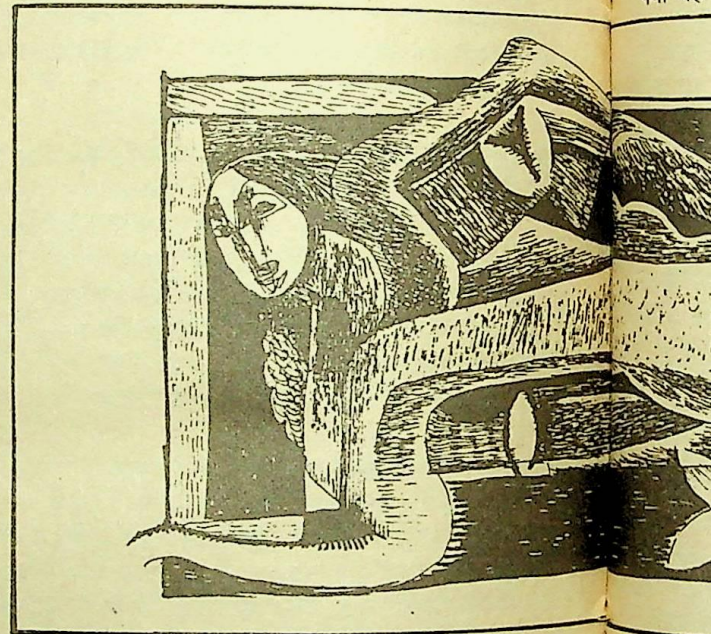
हाथ का खेल था.

उसने तुरंत पत्र लिखा और उसी समय डाक में डाल दिया. 'लोकल' डाक शाम तक जरूर मिल जायेगी... अगले दिन उसे दिन भर डाकिये का इंतजार रहा. किंतु उत्तर न आया. वह दूर से संदीप को आते-जाते देखती रहती, मन करता—भागकर जाये, पकड़कर पूछ ले... "निठुर इतनी देरी क्यों लगा दी उत्तर देने में?" रात को उसने फिर पत्र लिखा... दो दिन बाद फिर एक और लिखा. परेशान हो गयी वह. कहां जाते हैं उसके पत्र...? हारकर उसने खुद ही संदीप से मिलने का सोच लिया, क्योंकि अब केवल एक ही हफ्ता बाकी था.

शाम के छः बजे वह धड़कते दिल से संदीप के घर की ओर चली. छः महीनों से छोड़े हुये उस रास्ते पर चलते हुये उसके पैर कांप रहे थे. उसने यह पता कर लिया था कि सरोज इन दिनों मैके गयी हुई थी. अस्थिर पगों से वह संदीप के घर के सामने जा पहुंची. गेट खोलकर आगे बढ़ी—सोच रही थी—संदीप इस वक्त आफिस से आकर चाय पी रहा होगा... दो कदमों में उसने लान पार किया और उसके कमरे के सामने जा खड़ी हुई... लेकिन वहीं जम कर रह गयी. दरवाजे पर ताला लटक रहा था. संदीप वहां न था. स्मिता को लगा जैसे दुनिया घूम रही है... कुछ समझ

न आ रहा था कि क्या करे—तभी लान के दूसरे सिरे की ओर वाले कमरे का दरवाजा खुला और एक युवक ने आकर कहा, ''नमस्ते स्मिता जी.''

स्मिता चौंक उठी. देखा तो पहचान गयी. यह समीर था—संदीप के घर किराये पर रहनेवाला युवक—जो उसी के आफिस में काम करता था. संदीप और स्मिता से उसका काफी पुराना परिचय था लेकिन स्मिता के लिये तो बस 'नमस्ते' तक ही सीमित था. हां संदीप के लिये वह दोस्त से भी बढ़कर था.

''क्या बात है स्मिता जी? आप का चेहरा फक है. सब ठीक है न?'' उसके दुबारा पूछने पर स्मिता ने स्वयं को संभाला. चेहरे पर मुस्कान लाते हुये बोली, ''नहीं, कुछ नहीं समीर. मैं जरा संदीप से मिलने आयी थी... वो कहां गये हैं...?''

''संदीप भैया तो आज ही भाभी को लिवाने गये हैं... दो-तीन दिन तक लौटेंगे.'' यह स्मिता पर दूसरी चोट थी.

''अच्छा, फिर मिल लूंगी,'' जैसे-तैसे ये शब्द बोलकर उसने एक ही छलांग में लान पार किया और आंधी की तरह भागती हुई अपने कमरे में पहुंच बिस्तर पर गिर पड़ी. आंसुओं में दिल की पीड़ा फूट पड़ी... तो क्या वह फिर से छली गयी? फिर उसने विश्वास किया और धोखा खाया..... काफी देर रो चुकने के बाद वह उठ बैठी. अब उसकी आंखों में एक बूंद पानी न था—था बस आक्रोश. जलते हुये अंगारे उनमें लपलपा रहे थे—मन में संकल्प था—दो-दो नौकाओं पर सवार होनेवाले उस घटिया आदमी को ऐसा सबक सिखाना कि वह आजन्म याद रखे. प्रतिशोध की आग में उसका तन-मन जल रहा था. भाग्य से उस शाम वह घर में अकेली ही थी. मम्मी-पापा किसी शादी में शामिल होने गये थे. वह सिरदर्द का बहाना कर घर रह गयी थी. तब तो सिरदर्द का बहाना ही था किंतु अब सचमुच दर्द से उसका सिर फट रहा था.
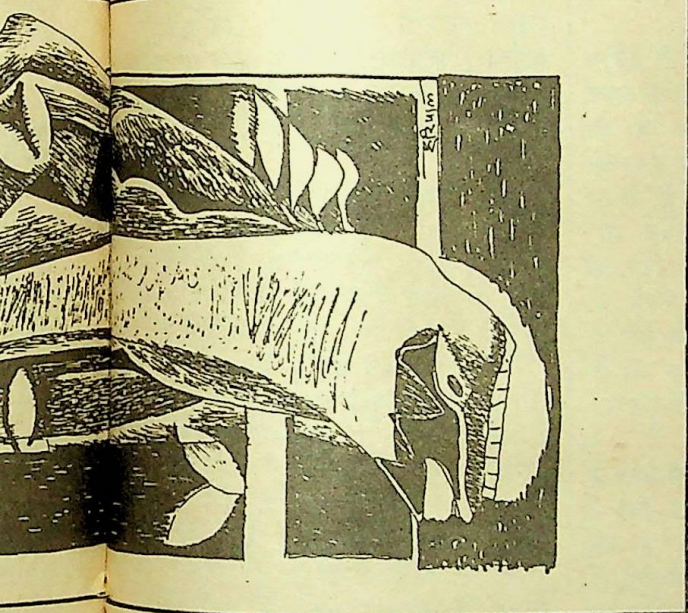
रेखांकन : हरिपाल त्यागी

उस रात स्मिता जरा भी सो न-सकी. बीते दिनों की कड़वी-मीठी यादें फिल्म की तरह उसकी आंखों के आगे आ-जा रही थी. एक-एककर घंटे बजते गये—घड़ी आगे सरकती गयी... रात ढलती गयी. वह अंधेरे में आंखें गड़ाये जागती रही.

पौ फटनेवाली थी. स्मिता ने देखा—आकाश पर जैसे किसी चित्रकार ने रंगों की कूची फेर दी हो... सहसा खिड़की के पास जरा-सी आहट हुई... अगले ही पल लाल गुलाब लिये हुए एक मर्दाना हाथ खिड़की की ओर बढ़ा. स्मिता को जैसे बिजली का करंट लगा. लपककर उसने वह हाथ कसकर पकड़ लिया—तो उसने मुंह ऊपर उठाया. ''तुम!'' स्मिता के मुंह से निकला. सामने समीर खड़ा था.

पकड़े जाने की लज्जा से लाल उसके चेहरे को स्मिता देखती रह गयी. क्षण भर दिमाग ने काम करना बंद कर दिया. धीरे-धीरे उसकी चेतना लौटी, ''तो... तुम... तुम मुझे गुलाब...''

उत्तर में समीर ने आंखें झुका लीं. ''हां, स्मिता जी. गुलाब का फूल भेजनेवाला गुनहगार मैं ही था. मैं कसूरवार हूं. आप जो चाहे सजा दें, लेकिन आज मुझे अपने दिल की बात कह लेने दीजिये. स्मिता जी. मैंने आप और संदीप के बीच पलते प्रेम बीज को पनपते और फूलते-फलते देखा है. दुर्भाग्य से उसके जड़ से उखड़ने का दृश्य भी मुझे ही देखने को मिला. मैं नहीं जानता कब अनजाने में ही वह प्रेम बीज मेरे मन की धरती पर पनपने लगा... मैं आपको अगले जन्म में पाने की लालसा में जीता रहा... लेकिन जब संदीप ने आपसे छल किया, तो आपका वह टूटना मुझ से देखा न गया. आपकी प्रेम-पीर मेरी अपनी पीड़ा बन गयी. किंतु आपसे प्रेम निवेदन करने का साहस मैं जुटा न पाया. शायद ठुकरा दिये जाने की आशंका ही मुझे रोक देती थी. पर जब आप निराशा के गर्त में यूं डूबने लगीं, तो मेरा हृदय चीत्कार कर उठा. आपको फिर से जीवन की ओर प्रेरित करने के लिये ही मैंने यह गुलाब का फूल आपको भेजना शुरू कर दिया. यह एक बंधन था... आप बंध गयीं... मैं जी गया. किंतु आपने जिसे अपना समझा था, वह बेगाना था. आपके पत्रों को उसने रद्दी की टोकरी में फेंक दिया... लेकिन आज शायद मैंने आपके उस मधुर सपने को फिर तोड़ दिया...''

समीर ने कहना बंद किया, तो स्मिता की चेतना लौटी. अब तक वह स्तब्ध-सी उसे देख रही थी. उसके पीड़ा भरे शब्द कानों से सीधे दिल तक पहुंच रहे थे. आंखें उसकी समीर पर थीं और कानों में पापों के शब्द गूंज रहे थे—''रिश्ते केवल मन के होते हैं... प्रेम वही नहीं होता, जो तुम करो बल्कि वही सच्चा होता है जो वह करे जिसे तुम जीवन-साथी बनाना चाहती हो...''

अगले ही पल उसके सामने सब कुछ दिन के उजाले की तरह प्रकाशित हो उठा. खिड़की से हाथ बढ़ाकर उसने समीर का हाथ पकड़ा, ''समीर. बेशक तुमने मेरा सपना तोड़ दिया, लेकिन जो टूट गया, वह केवल सपना ही था. और अब.....?''

''अब...? अब क्या स्मिता जी?'' समीर के इस प्रश्न में जैसे उसका पूरा भविष्य था. उत्तर में स्मिता मुस्करा दी. ...''अब... अब सत्य मेरे हाथ में है.'' □

रद्दी की बिक्री

■ अनिता होलानी

सरकारी कार्यालय का एक कमरा रद्दी से इस कदर ठसा पड़ा था कि यदि वहां बैठे क्लर्क से मिलना हो तो उसे रद्दी के बीच ढूंढना पड़ता था. एक दिन ऐसा आया कि क्लर्क के लिए सिर्फ खड़े रहने की जगह बची. जाकर उसने साहब से कहा कि आज्ञा हो तो रद्दी लोहामंडी के कबाड़ी को बुला बेच दूं. साहब ने सोचा साला खुद बेचकर 100-50 रुपये कमीशन खाना चाहता है. उन्होंने तुरंत कहा, एक-दो दिन में 'मैं' ही तय कर दूंगा. तुरत-फुरत तीन सदस्यों की इनक्वायरी समिति बनायी गयी. दौड़-धूप कर ऊंचे से ऊंचे दाम में रद्दी लेने वाले को तय किया गया. साहब ने सब काम अपनी देख-रेख में कराया. कोई एक पाई भी न निगलने पाए. रद्दी 826 रुपये की निकली. दूसरे दिन समिति सदस्यों का टी.ए., डी.ए. आदि का बिल उनकी टेबल पर था कुल 1055 रुपये का. □

प्रशासन के उसूल-अंग्रेजी पत्राचार का सारांश

□ गोपाल चतुर्वेदी

चितपट चंद्रम
राज्यमंत्री (कार्मिक) भूतपूर्व
नयी दिल्ली

प्रिय श्री गणेशम,
आपकी 'भारतीय प्रशासनः एक देसी विश्लेषण' नामक पुस्तक मिली. मैं इसकी भूमिका अवश्य लिखूंगा. आप तो अपने क्षेत्र के हैं. मंत्री रहूं या सांसद, मैं अपने आदमियों का हमेशा ख्याल रखता हूं.

इधर हमें संसद और सड़क दोनों की सियासत करनी पड़ रही है. सत्ता के तेवर पर विरोध का कलेवर चढ़ाना कोई आसान तो है नहीं. जहां संसद की कार्रवाही रोकना हमारी नैतिक जिम्मेदारी है, वहीं सड़क पर ट्रैफिक और पटरी पर रेल न चलने देने का दायित्व भी है. चक्की के इन दो पाटों में मेरा सारा समय पिस गया है.

आपसे अनुरोध है कि अपनी पुस्तक का सारांश एक-दो पन्नों में लिख भेजें. इसके आधार पर मैं प्रस्तावना 'डिक्टेट' कर दूंगा.—
आशा है सानंद होंगे.

आपका
चित पट चंद्रम

श्री उ० गणेशम,
प्रोफेसर, लोक प्रशासन संस्थान,
कोडिया करम, तामिलनाडू

आदरणीय थिरू चंद्रम,
आपकी कृपा के लिये धन्यवाद. मैंने तीन-चार साल लगातार आजाद भारत की प्रशासनिक व्यवस्था का अध्ययन किया है.

आप पार्किनसन और पीटर्स प्रिंसिपल से तो परिचित होंगे ही. श्री पार्किनसन मानते हैं कि किसी भी कार्यालय का कामकाज कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि के अनुपात में बढ़ जाता है. जैसे दफ्तर में दो लोग वही काम करें या चार, कार्य के निपटान की रफ्तार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है. पीटर्स प्रिंसिपल के अनुसार हर कर्मचारी-अधिकारी अपनी अक्षमता की सीमा तक जरूर प्रमोशन पाता है.

यह विदेशी अवधारणाएं हैं. हमें अपने देश और परिस्थितियों के अनुरूप लोक प्रशासन के उसूल बनाने हैं. आपके आदेशानुसार मैं अपनी पुस्तक के मुख्य सिद्धांतों को नीचे चर्चा कर रहा हूं.

अब हमारे देश की एकता हमारी केंद्रीय सेवाओं पर मयस्सर है. जैसे पूरे देश की खाक छानकर केंद्रीय रिजर्व पुलिस अब देश की बुनियादी एकता का दौड़ता-भागता उदाहरण बन गयी है. पहले काश्मीर से लेकर कन्याकुमारी तक यह एकता धार्मिक और सांस्कृतिक थी. फिर रेल और डाक-तार की हुई. काश्मीर की अलग-थलग पड़ने की भावना स्वाभाविक है. वहां रेल जो नहीं है. जम्मू भारत के साथ है. वहां रेल जो है. फिलहाल एक सरकार और उसके खिदमतगार से है.

अपने प्रथम सिद्धांत को प्रतिपादित करने के पहले, मैं आपको बताना चाहूंगा कि मैं पार्किनसन के सिद्धांत से आगे बढ़ा हूं. हमें बेरोजगारी हटाने के लिये नौकरियां देनी हैं, काम कराने के लिये नहीं. कामकाज के आधार पर पदों का सृजन एक दकियानूसी प्रक्रिया है. हमारी रोजगार बढ़ाओ की मुहिम को कार्यालय के कार्यभार से जोड़ना हमारे अजगर करे न चाकरी वाले जीवन-दर्शन के विरुद्ध है. इसलिए हम मानते हैं कि 'धड़ाधड़ पद बढ़ाओ, काम अपने आप पैदा हो जायेगा.'

देश की अखंडता के लिये जरूरी है कि जम्मू-काश्मीर में केरल, असम, बिहार, यू०पी० के लोग काम करें और इन तथा अन्य प्रांतों में वहां के. इस संदर्भ में मेरा सुझाव है कि संबद्ध विभाग के मंत्री के पास असीमित ट्रांसफर-कोटा हो. यहां कोटे से मतलब आबादी के अनुसार नौकरी देने से कतई नहीं है. ऐसे ही सरकार में खासे आरक्षित स्थान हैं. कुछ अनुसूचित और जन जातियों के लिये, अधिकतर मंत्रियों और अधिकारियों के अपनों के लिये.

इस सुखद यथास्थिति को हमें बनाए रखना है. हमें सिर्फ तबादलों के बारे में सरकार को और अधिकार देने हैं. कर्मचारी यदि उत्तर-बिहार का है तो उसकी नियुक्ति दक्षिण बिहार में हो. यदि अधिकारी बिहार का है तो उसकी तैनाती बंबई में हो. मुल्क की एकता-अखंडता के लिये यह अनिवार्य है. कर्मचारी अधिकारी के सिर्फ लट्टू की तरह इधर-उधर नचाने से ही देश के ऐके की कसौटी पर वह खरा उतर सकता है. यह अपना पहला उसूल है.

इससे कर्मचारी तबादला भत्ता कमायेगा और अधिकारी-नेता तबादला करने की सत्ता का भत्ता पायेगा. साथ ही बिना कहीं टिके वह अपने कामकाज में भी कोरा होगा. हम चाहते भी यही हैं. यही हमारा अगला सिद्धांत है.

हमें सोच-विचार कर सरकारी दफ्तरों में ऐसा माहौल बनाना है कि स्वाभाविक प्रक्रिया के कोई भी काम न हो. पूरे संसार में 'सबसे कम सरकार' वाली सरकार अच्छी मानी जाती है. कार्यालय में किसी मामले के परीक्षण का मतलब ही एतराज लगाना है. चाहे सौदा तोप का हो या पनडुब्बी का. न इन मामलों पर फालतू के सवाल उठते, न इतने वरिष्ठ अधिकारियों पर फिजूल की तोहमत लगती. क्या विडंबना है कि जो तोप से बचे उन्हें पनडुब्बी ले डूबी. पता नहीं हैलीकोप्टर और हवाई जहाजों के सौदों की जांच में क्या होगा.

यह छीछालेदर कार्यालयों में काम होने का दुष्परिणाम है. इसीलिये जैसे ही कोई काम सीखे या समझे, उसे कहीं और भेज देना चाहिये. इससे कर्मचारी कार्य के निपटान के बजाय अपने परिवार का ध्यान करेगा. उनका सोचकर परेशान रहेगा. प्रजातंत्र में नेता का महत्व बढ़ेगा. सब वांछित स्थान पर जाने या बने रहने की फिराक में रहेंगे. नेता कहेगा—

"इस जहाज का इंजन कहीं 'ट्राई' नहीं हुआ है. कैसा रहेगा अपने देश की विमान-सेवा के लिये!"

"बहुत अच्छा सर! यदि दुर्घटना हुई तो पौबारा! आबादी कम होगी. वर्ना हम नये

इंजनवाला जहाज उड़ाकर संसार में प्रथम रहने का कीर्तिमान स्थापित करेंगे,'' अफसर उत्तर देगा.

नेता सदा की तरह मुस्करायेगा और उसका मन भाया जहाज आ जायेगा. जनतांत्रिक व्यवस्था में अफसर का यही 'यस सर' का रोल निर्धारित करने में ट्रांसफर का अधिकार एक शानदार और जानदार अस्त्र है.

इससे एक और लाभ भी है. काम भी नहीं होगा और दफ्तरों की कार्यक्षमता भी बढ़ेगी. यदि कोई कुछ करवाना चाहे तो सुविधा शुल्क दे. बेगार के दिन लद गये. कर्मचारी भी खुश और जनता भी. लिहाजा अपना दूसरा उसूल है कि किसी भी स्थान पर तबादले या प्रतिनियुक्ति के आधार पर तैनाती का अधिकार सरकार याने मंत्री का होगा. इसमें कोई व्यर्थ के कायदे-कानून लागू नहीं होंगे. मंत्रियों को अधिकार देकर शक्तिशाली नहीं बनाया तो छोटे कमीशन लेने पर बड़े कमीशन बनते रहेंगे. यह निहायत अवांछनीय है.

अकसर देखा गया है कि लोग बड़े पदों की नियुक्तियों को लेकर सरकार पर बेसिर-पैर के आरोप लगाते हैं. सच्चाई यह है कि पशुपालन के सचिव को आप पेट्रोल में लगा दें तो न पशुओं की सेहत पर असर पड़ता है न पेट्रोल की. हमारे धर्मपरायण देश में सरकार-इंसान के करतब से नहीं, भगवान की कृपा से चलती है. विरोधी आदतन व्यर्थ के फसाद और विवाद खड़े करते हैं. कुछ अफसरों को भी गलतफहमी है कि प्रमोशन काबिलियत से होता है. सरकार में नियम है कि अयोग्य सर्वदा योग्य को 'सुपरसीड' करता है. सरकार में सामान्य लोगों की दरकार है, 'जीनियस' की नहीं. आप किसी भी जिले में रिक्शेवाले को रैवेन्यू का काम सौंप दीजिये. जिला अब भी जीता है, फिर भी जियेगा!

हमें इस पूरे मसले पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार करना चाहिये. भारतीय समाज और मानस में अकर्ता की बहुत इज्जत रही है. युग चाहे कलियुग का हो अथवा त्रेता का. अकर्ता चाहे नेता, साधु या अभिनेता हो. हम मानकर चलते हैं कि उसकी शोहरत और समृद्धि प्रभु की इच्छा है. फिर सरकार में भी अकर्ता कर्ता से बेहतर साबित हो तो गलत क्या है! प्रशासक जनता जनार्दन से अलग तो है नहीं. तभी तो अकर्ता बनकर प्रशासन का दिल जनता की जरूरत के हिसाब से धड़केगा.

अपने मुल्क की परंपरा, तवारीखी अनुभव और 'केस स्टडी' के आधार पर हमारा तीसरा उसूल है कि 'सर—सेवा' (जिसे गलती से अज्ञानी सरकारी सेवा भी कहते हैं) में योग्यता फिजूल है. जो जितना ऊल-जलूल होता है, वह उतना ऊपर जाता है.
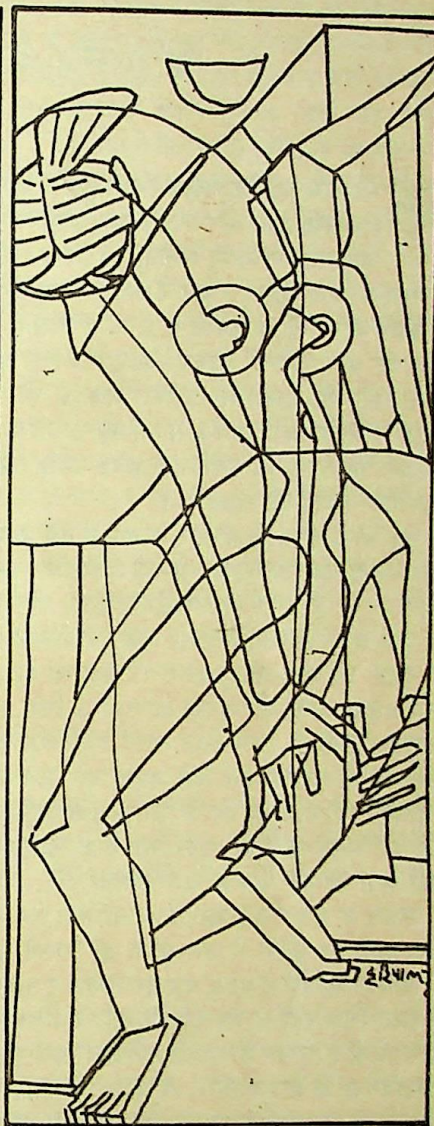
उल्लेखनीय है कि 'सर सेवा' में योग्यता का मापदंड एक खुफिया किस्म की रिपोर्ट होती है. यदि कोई लायक उसे लिखता है तो उसे अपनी तुलना में सब नालायक नजर आते हैं. आप ही सोचिये कि कोई नालायक दूसरे को लायक कहकर अपने आत्मसम्मान पर कैसे शक करेगा! ले-देकर गोपनीय चरित्रावलियों में सिर्फ व्यक्तिगत गलतफहमियों का बयान होता है. लिहाजा मेरिट-डीमेरिट का वर्गीकरण कोरी बकवास है. मुंछवाली महिलाएं कुछ भी कहें पर दुलहन वही है जो पिया मन भाये. सर सेवा में सफल अफसर वही है जो सत्ताधारी नेता तक धाये!

अगले सिद्धांत के पेशतर हमें जान लेना चाहिये कि 'सर-सेवा' में दो तरह के पद होते हैं—कमाऊ और बिकाऊ. जनता से सीधे आर्थिक संबंध, लाइसेंस-परमिट, उद्योग आदि के पद पहली श्रेणी हैं. इनमें लगे लोग वेतन के साथ बहुत कुछ कमाते हैं. कागजी कटघरे में कैद कंबख्त सिर्फ तनख्वाह पाते हैं और बेहतर मौके की तलाश में बिकाऊ नजर आते हैं. पिछले सालों में आम शिकायत रही है कि कमाऊ पदों पर क्षेत्र विशेष के अधिकारी नियुक्त होते हैं. या फिर किसी खास स्कूल के. अब शिकायत है कि स्कूल का स्थान युनिवर्सिटी ने ले लिया है. कोई सोचे कि स्कूल से विश्वविद्यालय तक की प्रगति कम है क्या!

हमारे शोध ने बताया है कि ऐसी ही नियुक्तियों से देश का तेज आर्थिक विकास हो सका है. नीतियों पर तत्काल अमल, खरीद-फरोख्त में उचित कमीशन, आपस में धन का समान वितरण, आनन-फानन फैसले वर्ना मुमकिन नहीं थे. इन्हीं तौर-तरीकों से अब ढोल की पोल का भी पता लग रहा है. हमारा निष्कर्ष है कि विकासशील देश में खास पदों पर चहेतों की नियुक्ति से ही मुल्क विकास की अंतर्राष्ट्रीय मुख्य धारा से जुड़ता है.

मेरी प्रार्थना है कि अब कृपया शीघ्र ही अपने दो शब्द भेजने की कृपा करें.

आपका,
उ० गणेशम

श्रीयुत चितपट चंद्रम,
राज्यमंत्री (कार्मिक) भूतपूर्व
नयी दिल्ली

प्रिय श्री गणेशम

अपनी बेहतरीन पुस्तक के लिये मेरी बधाई स्वीकार करें. मैं आपके हर एक निष्कर्ष से सहमत हूं. यह तो आपकी विद्वता ही है कि आपने हमारे प्रशासनिक सुधारों के सतत प्रयासों को उसूलों में ढाल दिया है. हमने सरकार में रहकर आपके सारे प्रशासनिक सिद्धांतों का अनजाने पालन किया. यही उनकी सार्वजनिक उपयोगिता और मान्यता का अकाट्य प्रमाण है.

मैं आपकी क्षेत्रीयता और अपनों को प्रमुख पदों पर लगाने की 'थीसिस' से बेहद प्रभावित हूं. हम अपने अगले चुनावी घोषणा-पत्र में आपके उसूलों को शामिल कर स्वच्छ प्रशासन का फिर से वादा करेंगे.

फिर से बधाई के साथ,

आपका
चितपट चंद्रम

लाल पसीना

अभिमन्यु अनत

पिछले अंकों में आपने पढ़ा कि कैसे मदन ने प्रकाश को वह सब बताया जो उसने कभी किशन सिंह से सुना था... पत्नी की सालगिरह पर फूल भेंट करने की इच्छा कैसे एक मासूम किशोर की हत्या ही कर बैठीं... इस दास्तान के बाद पढ़िए ठाकुर के मॉरीशस जाने की वजह और उपलब्धियों की कथा–

कभी नीम का पेड़ देखकर उसे अपने देश की याद आ रही थी तो कभी आम के पेड़ों पर झमझमा आये बौर को देखकर. कभी लोगों को भोजपुरी बोलते सुन उसे अपना गांव याद आ जाता तो कभी अहीरों को बिरहा गाते सुनकर. दिन भर में उसे हरसू टोले से लेकर सोनपुर की याद कोई दस बार से ज्यादा हो आती थी. सुबह जब उसने शहर की गलियों में मुहर्रम के मौके पर लोगों को ढपली बजाते हुए गलियों में देखा था तो तीसरी बार उसकी यादें बिहार के गांवों को चली गयी थीं. दोपहर की छनछनाती धूप भी उसे अपने खेतों की ठहटहाती धूप की याद दिला गयी थी. भारत से शर्तबंदी मजदूरों को पोर्टलुई के बंदरगाह में लाकर उतारनेवाले उस आखिरी जहाज को, जिसके जरिये वह उस द्वीप को पहुंचा था, उसने गौर से देखा था. नयी धरती पर पांव रखते हुए भी उसने यही इच्छा जाहिर की थी. तुम जिस तरह मुझे यहां ले आये उसी तरह मुझे मेरी धरती को लौटा देना.

वह औरों की तरह मजदूर के रूप में नहीं आया था. उसने तो अपने खर्चे पर यात्रा की थी. वह गिरमिटयों की तरह तो आ भी नहीं सकता था. उसकी उम्र साठ से ऊपर थी. उस उम्र के व्यक्ति को कौन मजदूर के रूप में लेने को तैयार होता. और फिर उसे मजदूरी करने की जरूरत ही क्या थी. वह तो एक बहुत बड़े मक्सद को लेकर मारीच देश आया था.

सुंदरी की यादों को भुलाने से भी बड़ा था वह उद्देश्य. सुंदरी की याद तो इस दूर बसे देश में भी उसे तड़पा जाती थी. सुंदरी को पाने के लिए उसने कितने लोगों का सामना किया था. कितनी यातनाएं झेली थीं. किन-किन लोगों से बहिष्कृत हुआ था. लेकिन जब वह उसके अपने जीवन में आ गयी थी तो सहदेव उन सारे संघर्षों को, उन यातनाओं को भूल गया था. उसकी मां को सुंदरी स्वीकार्य थी, यही सहदेव के लिए सब से बड़ी बात थी. पर शादी के तीन ही महीने बाद गांव में गोलियां चलने लगी थीं. चंदर सिंह ने पूरे गांव को चुनौती दी थी कि अगर उसकी बेटी उसे लौटायी नहीं गयी तो वह गांव में आग लगवा देगा.

सुंदरी के बाहर न निकलने पर गोलियां चलनी शुरू हो गयी थीं. एक गोली सहदेव के सीने को भेद जाती पर सुंदरी ने उस गोली को अपनी छाती पर रोक लिया था.

सोनपुर छोड़ने से पहले वह तय नहीं कर पाया था कि वह अपने गांव और इस धरती को हमेशा के लिए छोड़ रहा था या कुछ ही महीनों के लिए. अपने हित् मित्रों से विदाई लेते समय वह उनके सारे प्रश्नों के उत्तर में यह भी नहीं कह सका था कि उनके बीच लौटकर आयेगा भी या नहीं. इसी अनिश्चिता के क़ारण उसने जो चौदह बीघा खेत बेचे थे, उस रकम को अपने साथ ले लिया था. वह जितना लेकर चला था उससे कोई चार गुने अधिक वह अपने गांव के चौधरी के जिम्मे छोड़ आया था. सहदेव ठाकुर की उस यात्रा की बात सुनकर कई लोग हैरान हुए थे, कई लोग दुखी, पर उनमें बहुत कम ऐसे थे जो उसकी उस यात्रा के उद्देश्य को जानते थे. साल भर पहले जब नब्बे वर्ष की उम्र में सहदेव ठाकुर की मां अपने लंबे जीवन की आखिरी घड़ियों को जी रही थी, उसने अपने बेटे के सामने एक ही इच्छा जाहिर की थी. ''... जेतना बरिसवा ताहरा होवल बेटा, ओतने बरिसवा से तोहर बाप के लौटे के हम राह देखल रहलीं.'' इस बात को सहदेव ठाकुर उसी समय से जानता था. जब वह कुछ-कुछ बातें समझने और कुछ-कुछ बोलने लगा था. उसकी बूढ़ी मां जब भी उसे कोई गीत सुनाती तो उन गीतों और कहानियों के बीच अपने पति और बड़े बेटे की चर्चा भी जोड़ जाती. बहुत बाद में चलकर सहदेव ठाकुर को इस बात का पता चला कि उन कहानियों और गीतों के बीच कुछ कहानियां और गीत मां की अपनी कहानी और अपने गीत हुआ करते थे.

और जब सहदेव ठाकुर जहाज से यात्रा कर रहा था तो जहाजिया भाई एक-दूसरे को अपनी-अपनी कहानी सुनाते रहते थे. एक रात लोगों के बहुत हठ करने पर सहदेव को भी अपनी कहानी सुनानी पड़ गयी थी. पर वह कहानी जितनी उसकी थी, उससे कहीं अधिक उसके बाप और उसके बड़े भाई की थी. उसकी अपनी कहानी तो अब कोई थी ही नहीं.

और यदि कोई थी भी तो वह सुंदरी के साथ ही जल गयी थी, उस दिन की उस चिता पर. अब तो उसके पास जो कहानी बची थी, वह तो वह कहानी थी जिसकी याद में वह अपनी कहानी को भुलाये रखने की चेष्टा करता था. उसने अपनी मां से सुनी कहानी को उसी शैली में लोगों को सुनाया था.

.... तब की बात है जब झांसी की रानी लक्ष्मीबाई अंग्रेजों से लड़ रही थी. उधर की उस क्रांति का

प्रभाव हमारे इलाके में इसलिए बहुत अधिक पड़ा क्योंकि महारानी झांसी का एक घायल सिपाही अंग्रेजों की कैद से छूटकर हमारे गांव में आ गया था. उसकी ओज भरी बातों का प्रभाव मेरे बाप पर कुछ इस तरह पड़ा कि वह खुद उस क्रांति के साथ जुड़ गया. तब मेरे दादाजी जीवित थे. उन्होंने मेरे बाप को अंग्रेजों के विरुद्ध जाने से बहुत रोका पर मेरा बाप और मेरा भाई जिसकी उम्र उस समय सतरह-अठारह की थी, नहीं रुके. हमारी रियासत के मजदूरों ने कुदाली की जगह बंदूकें और तलवार थाम लिये थे. महारानी लक्ष्मीबाई के उस सिपाही के साथ स्वर मिलाकर हमारी रियासत का हर आदमी बहादुरशाह जफर के नारे बुलंद कर रहा था. "गाजियों में बू रहेगी जब तलक ईमान की तख्ते लंदन तक चलेगी तेग हिंदुस्तान की." मेरे बाप ने सिर पर पगड़ी बांधे अपने सफेद घोड़े पर सवार पास-पड़ोस की सभी बस्तियों में क्रांति की लहर फैलानी शुरू की. अंग्रेज सिपाहियों से कई बार मुठभेड़ हुई. अंत में मेरा बाप अंग्रेजों के हाथों में आ गया. गोरों ने चोरी छुपे उसे फांसी पर झुला देने का निश्चय कर लिया. इस बात की खबर जब मेरे भाई को मिली तो उसने अंग्रेज सिपाहियों की उस टोली पर धावा बोल दिया जो मेरे बाप को नदी पार के जंगल में फांसी चढ़ाने ले जा रही थी. उस मुठभेड़ में पचास अंग्रेज मारे गये. मेरे बाप को जंजीर से मुक्त करके लोग घर ले आये. दूसरे दिन हमारे गांव को चारों तरफ से घेर लिया गया. लोगों से कहा गया कि अगर गांव को वे लोग राख होने से बचाना चाहते हों तो चुपचाप मेरे बाप और मेरे भाई को सिपाहियों के हवाले कर दें. मेरा बाप मेरे भाई के साथ अपने को उन खूंखार सिपाहियों के हवाले करने को तैयार हो गये पर गांव के लोगों ने ऐसा नहीं होने दिया. महारानी लक्ष्मीबाई का वह सिपाही दोनों को अपने साथ लिये रात में वहां से निकल जाने में किसी तरह सफल हो गया. वे जहां-जहां भी गये, अंग्रेज उनका पीछा करते रहे. वे जहां मिलें उन पर गोली चला देने का ऐलान हो चुका था. एक दिन अपने बदले हुए भेष में मेरा बाप और मेरा भाई, दोनों उस जहाज पर सवार हो गये जो कलकता से मारीच देश जाने को निकला था. कोई सत्तर बर्ष बाद आज मैं भी उसी मारीच देश की यात्रा पर निकला हूं.

ठाकुर के एकाएक चुप हो जाने पर किसी ने उससे पूछा, "तो आप उन्हीं की खोज में जा रहे हैं?"

"हां."

"इतने वर्षों बाद!"

"हां यह जानते हुए भी कि शायद वे अब जीवित न हों."

"तो फिर?"

"मेरी मां को उन साठ वर्षों के भीतर दो बार मेरे बाप और मेरे भाई के संदेश मिले थे. एक बार मेरे बाप के न लौट सकने की मजबूरी की सूचना लिये हुए और दूसरी बार मेरे भाई की शादी की. मेरी मां की यह बहुत बड़ी इच्छा थी कि मेरे भाई की अगर कोई संतानें हुईं तो उन्हें हमारी जमीन-जायदाद का हिस्सा मिले."

"अगर कोई न मिला तो?"

"कोई तो मिलेगा."

चालीस दिन पहले वह जब घर से निकल रहा था तो अपनी बगल में खड़े अपने आत्मीय जनों और मुंशी से बोला था, "पता नहीं, लौटना हो या न हो. सुना है कि मारीच देश से बिरले ही कोई लौटता है. हम लोग यहां साठ सालों से देश को आजाद करने के संघर्ष से जुड़े हुए हैं. मेरा बाप या मेरा भाई अगर कोई भी मिल पाया तो यही पूछेगा कि हम लोग अभी तक देश को आजाद क्यों नहीं कर पाये." उसकी मां ने एक बार यह भी कहा था कि मारीच जाकर अपने बाप और भाई को ले आये. उनसे यह कहकर घर लौट आने को कहे कि उनके बिना देश आजाद नहीं होगा.

सहदेव ठाकुर की पत्नी की मृत्यु उसकी अपनी मां की मृत्यु से पहले ही हो गयी थी. तभी से वह मारीच देश के लिए चल निकलने की सोचता आ रहा था. जहाज पर सवार होने से पहले उसने रोते हुए अपने जनों से आखिरी वाक्य कहा था, "देश की आजादी की लड़ाई के लिए उसके दो बेटों को लौटा लाने जा रहा हूं मिले तो इस प्रांत से हम लोग फिर एक बार उस अधूरी लड़ाई को लड़ेंगे और नहीं मिले तो .... मैं देश के आजाद हो जाने पर लौटूंगा शायद."

जिस शाम को वह अपने गांव की सीमा पार कर रहा था. बड़ी जोर की सर्दी पड़ रही थी. अपने गांव की ओर जाते हुए नाले के इस पार की पगडंडी से उसने बारह मजदूरों और मछुआरों की एक टोली को गांव छोड़ते देखा था. उस ओर से इस ओर को आते हुए उसने अंग्रेजों के सिपाहियों को देखा था. उस भारी ठंड में सिपाहियों के पांव से गरदन तक ऊनी कपडे और कंबल थे. सिर पर टोपियां थीं. कपड़ों के नाम पर घुटनों के ऊपर तक बस लंगोटी पहने हुए थे. बाकी शरीर के साथ सिर भी नंगा था.

सहदेव ठाकुर को सोचना ही पड़ा था—जिनका यह देश है, वे नंगे हैं और जिनका यह देश नहीं, वे मालिक हैं. कुछ ही देर पहले उसे जिसे ठंड का एहसास हुआ था, वह काफूर हो चुकी थी. खेसारी गेहूं और चने के मुर्झाये खेतों को वह बहुत पीछे छोड़ चुका था. गांव की झोंपड़ियां, कुएं, खलिहान, सभी पीछे छूट चुके थे पर उनकी यादें छूट नहीं पा रही थीं. वह अपने आपसे पूछता रह गया था कि

क्या अपनी इस संपत्ति, अपने सारे रिश्तेदारों को वह केवल इसलिए छोड़े जा रहा था कि उसे अपनी मां के उस अंतिम आदेश का पालन करना था. कहीं अपनी पत्नी सुंदरी की मृत्यु के बाद की अपनी उस भारी उदासी और एकाकीपन से तो नहीं भाग रहा था वह? या वह इसलिए उस अनजान द्वीप को जा रहा था ताकि वहां से अपने वंश का कोई एक चिराग लेकर लौट सके. कुछ ही दिन पहले चौधरी के साथ चिलम-तंबाकू के बाद उसने उससे कहा था, "चौधरी, हमर बाद हय सब जमीन-जायदाद के देखभाल के करी?"

और चौधरी ने कहा था, "तू काहे न पता लगावत बानी कि तोहर बड़ा भाई के कोई लयका फयका बा या नाहीं."

तो क्या यही पता लगाने वह निकला था? इस प्रश्न का जवाब स्वयं उसके पास भी नहीं था. और जब मारीशास की जमीन पर पहली बार उसके पांव पड़े थे तब भी उसने अपने आपसे यही पूछा था कि आखिर वह यहां क्या करने पहुंचा था! लोग तो सौ सालों से लगातार इस देश में पहुंचते रहे हैं दो पैसे कमाने के लिए. वह तो इस ख्याल से नहीं आया था. न ही उसके बाप और भाई इस उद्देश्य से आये थे. पहले दिन इधर-उधर भटकने के बाद वह पोंटलुई के मजदूर रक्षक दफ्तर का पता लगा सका था. दुभाषिये को हटाकर उसने सीधे उस अंग्रेज अफसर से बात की थी.

उसे ध्यान से सुन चुकने के बाद वह अफसर बोला था, "1857! याने साठ वर्ष बाद आप उनका पता लगाना चाहते हैं. बहुत कठिन होगा. साठ-सत्तर वर्षों में छह लाख के करीब भारतीय यहां लाये गये."

"मैं जानता हूं, बहुत कठिन होगा. पर आप मदद करें तो..."

"आप के पिता तो शायद न रहे हों. भाई भी होगा तो लगभग अस्सी वर्ष का होगा. इसका यह मतलब हुआ कि वह किसी कोठी में काम करता हुआ तो नहीं मिलेगा. जबकि हमारे पास तो केवल उन्हीं लोगों के नाम होंगे जो शैक्कर कोठियों में काम कर रहे हैं."

"पुरानी बहियां तो होंगी."

"वे तो हम दूसरे दफ्तर में भेज देते हैं. खैर फिर भी हम आपकी मदद करना चाहते हैं. हम पता लगायेंगे. आप पंद्रह दिन बाद हमसे मिलें."

उस आश्वासन के बाद सहदेव ठाकुर लौट आया था. उसी दिन शहर की बनारस गली में उसे किराये पर एक घर मिला था. पहले महीने का किराया साढ़े सात रुपये पेशगी देना पड़ा था. उसे जगह पसंद आ गयी थी. पास-पड़ोस के लोग बिहार से ही आये हुए लोग थे. उसकी सबसे पहली दोस्ती दूसरे कमरे के दूध वाले फरीद मियां से हुई थी. फरीद मियां लगभग उसी की उम्र का था. वह गांवों से दूध बटोरकर शहर के अपने ग्राहकों के बीच बेचा करता था. उसे भी पान-तंबाकू का शौक था. इसलिए दोनों की दोस्ती में देर नहीं लगी थी. सहदेव ठाकुर ने पहले उसके बारे में जाना था फिर अपने बारे में उसे बताया था. फरीद मियां ने जब उसे अपना परिचय दिया था तो इस गर्व के साथ कि उसका अपना बाप दाऊद, किसन सिंह का बहुत ही घनिष्ट मित्र था. फिर तो वह सहदेव ठाकुर को अपने परिवार से अधिक किसन सिंह और उसके बेटे मदन के बारे में बताता रह गया था. बड़े ही दुखी मन से उसने यह भी कहा था, "अभी कुछ ही दिन हुए, गावं में मदन की अर्थी को कंधा देकर लौटा हूं." अनुबंध से मुक्ति पाकर वह शहर आ गया था. तब उसकी दो बेटियां थीं. अब उसकी छह बेटियां हैं. कम से कम एक बेटे की चाह में उसने छह बेटियां पा ली थीं.

शहर के जिस उत्तरी इलाके में सहदेव ठाकुर रहता था, उसकी सभी गलियां भारत के शहरों के नाम पर थीं. एक ओर थी कलकत्ता गली तो दूसरी ओर बंबई गली. जिस गली में वह खुद रहता था, उसका नाम था बनारस गली. उन गलियों में सहदेव ठाकुर ने ताजिये की वह ठाठ देखी थी जो भारत के अपने इलाके में नहीं देख पाया था. ताजिये के ही मौके पर उसकी भेंट फरीद मियां से हुई थी.

मियां फरीद ने बातों ही बातों में उससे पूछ लिया था, "भाई जान, तुम्हें यकीन है, तुम अपने बाप भाई को ढूंढ निकालोगे?"

"तुम ही कह रहे थे न कि बड़ा छोटा-सा देश है यह."

"यह तो सही है लेकिन..."

"लेकिन क्या?"

"मैं जो सोच रहा हूं, वह तुम अभी तक नहीं सोच पाये?"

"क्या?"

"जब वे लोग अंग्रेजों की चंगुल से बचने के लिए इधर आये थे तो यहां की अंग्रेजी हुकूमत में वे क्या अपने सही नाम के साथ आये होंगे? मुझे तो डर है कि अगर सचमुच उन्होंने अपने नाम बदल दिये होंगे तो फिर ..."

वह चुप हो गया था क्यों कि उसके वाक्य के पूरा होने से पहले सहदेव ठाकुर के चेहरे पर एक उदासी छा चुकी थी.

—क्रमशः

अगले अंक में

हरि और उसके साथी जिस मजदूर संघ की नींव डालने में जुटे थे .... क्या वह बन सका?

साधनालीन लेखक का सम्मान हो तो ज्यादा अच्छा है

नागार्जुन से डा. कमल किशोर गोयनका की बातचीत

हिंदी के प्रसिद्ध लेखक नागार्जुन को वर्ष 1987 का उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 'भारत भारती' पुरस्कार 23 जनवरी, 90 को उत्तर प्रदेश निवास में उत्तर प्रदेश के शिक्षा-मंत्री सच्चिदानंद बाजपेयी द्वारा प्रदान किया गया. इस पुरस्कार की घोषणा दो वर्ष पूर्व की गयी थी, परंतु तत्कालीन प्रधानमंत्री पुरस्कार-वितरण समारोह के लिए समय नहीं निकाल सके. इस कारण इतना विलंब हुआ. वर्तमान सरकार ने आते ही इस कार्य को संपन्न करने का निर्णय किया. शिक्षामंत्री सच्चिदानंद बाजपेयी नागार्जुन के निवास पर जाकर यह पुरस्कार उन्हें देना चाहते थे, जो अमृतलाल नागर को उनके घर पर जाकर दिये गये पुरस्कार-कार्यक्रम के ही अनुरूप था, परंतु नागार्जुन ने उत्तर प्रदेश निवास में आकर इस पुरस्कार को ग्रहण करने का फैसला किया.

यह कार्यक्रम कुछ इतनी जल्दी में हुआ कि समारोह में प्रो. विजयेंद्र स्नातक, गंगाप्रसाद विमल, जगदीश चतुर्वेदी, प्रो० सत्यभूषण वर्मा, रेवतीसरन शर्मा, हरीश नवल, महेश दर्पण मंजुल भगत के साथ-साथ संस्थान के उपाध्यक्ष परिपूर्णानंद वर्मा, तथा निदेशक दयाप्रकाश सिन्हा आदि ही उपस्थित हो सके. पुरस्कार ग्रहण करने से पूर्व नागार्जुन से हुई बातचीत यहां प्रस्तुत है :—

□ **बाबा आपको तो 1987 में 'भारत भारती' पुरस्कार देने की घोषणा हुई थी, पर मिल रहा है अब 1990 में. कैसा लगता है आपको?**

इसमें कई बातें हैं. घोषणा 1987 में हुई थी, पर उस समय की सरकार राजीव गांधी के हाथों यह पुरस्कार दिलवाना चाहती थी, लेकिन उन्हें फुर्सत ही नहीं मिली. यह चमत्कार ही है कि कांग्रेस सरकार ने पुरस्कार की घोषणा की और जनता दल की सरकार इसे दे रही है. मेरे विचार में इतनी देरी ठीक नहीं है. पुरस्कार की घोषणा के बाद छः महीने के अंदर इसे अवश्य ही लेखक को दे देना चाहिए.

□ **आपको तो यह पुरस्कार शिक्षामंत्री आपके घर जाकर देना चाहते थे, जैसे कि अमृतलाल नागर को दिया गया था.**

गोयनकाजी, यह ठीक है कि मंत्रीजी घर आकर सम्मानित करना चाहते थे, पर मैंने ही अस्वीकार कर दिया. घर में इतने व्यक्तियों को बैठाने का स्थान ही नहीं है, पर भाई, तुलसीदास होते तो वे भी उत्तर प्रदेश भवन आते. सूरदास अपने पद का मंचन देखने के लिए क्या नहीं जाते?

□ **नागार्जुन जी, इस वृद्धावस्था में आपको यह पुरस्कार मिला, आप क्या सोचते हैं? यदि युवावस्था में मिलता तो कैसा होता?**

आप ठीक कहते हैं. पुरस्कार के लिए किसी पके हुए लेखक को खोजना उचित नहीं है. जब वह साधनालीन होता है, तब उसका सम्मान हो तो ज्यादा अच्छा है. प्रायः ऐसा हो रहा है कि जो मृत्यु के निकट है उसे पुरस्कार, सम्मान दिया जा रहा है. अब तो प्रकाशक भी चाहता है कि लेखक बीमार हो जाये. इससे उसकी किताबें बिकने लगती हैं.

□ **आप इस लाख रुपये की राशि का क्या उपयोग करेंगे, इस संबंध में आपने कुछ सोचा है?**

उपयोग न हुआ या हो गया तो क्या होगा? इतनी बडी धनराशि के आने से परिवार वाले लपकते हैं और उनमें वैमनस्य फैलता है. भाई, परिवार के लोग सगण कीर्ति चाहते हैं. मित्र आपके फोटो पर धूल झाड़ देंगे और उसे साफ रखेंगे पर ये लोग आगे चलकर कहेंगे कि ये हमारे फोरफादर थे. पर एक बात और है. बढ़ापे में, जब आंख-नाक सभी कमजोर हो जाते हैं, आदमी पराश्रित हो जाता है. इतनी धनराशि से आदमी पराश्रित होने से बच जाता है.

□ **भारत की नयी सरकार पर आपका क्या मत है?**

भाई, लोग परिवर्तन चाहते थे. लोग घर में चादर बदलते रहते हैं. यह सरकार विरोधाभासों का पुंज है और इसे निगरानी की बहुत जरूरत है. जीवन भी विरोधाभासों का पुंज है और जब विरोध एकत्र हो जाते हैं तो कोई राह फूटती अवश्य है.

□ **नये लेखकों के लिए आपका क्या संदेश है?**

जीवन को सहज रूप से लें. बहुत प्रत्याशा न करें, साधना में लगे रहें. खूब पढ़ें और यात्रा भी खूब करें. □

सारे जहां से अच्छा...

■ रवींद्रनाथ त्यागी

इन दिनों तबीयत कुछ उखड़ी-उखड़ी चल रही है. पिछले सप्ताह 'शुकसप्तति' का अध्ययन किया. सत्तर अश्लील कथाओं को पढ़ने में बड़ा रस मिला. स्थिति इतनी नाजुक हो गयी कि उस पोथी के बाद सिवाय अखबार पढ़ने के कुछ और काम करने को तबीयत ही नहीं करती. हां अलबत्ता अखबार जरूर ऐसी चीज है जो मन को अभी भी पकड़ती है. इन दिनों तो इतने अच्छे-अच्छे समाचार सामने आ रहे हैं कि स्टंट फिल्म भी उनके आगे नहीं ठहर सकती.

मार्लिन मनरो का एक साधारण हस्तलिखित पत्र सात हजार डालर में नीलाम हुआ. इतनी कीमत किसी फिल्मी हस्ती के पत्र को कभी नहीं मिली थी. मन गदगद हो गया. एक अमरीका है जहां प्रतिभा और प्रतिष्ठा का इतना मूल्य है और एक सारे जहां से अच्छा यह हिंदोस्तां है जहां स्थिति यह है कि मेरे पास संगृहीत सारे पत्र (जिनमें सुमित्रानंदन पंत, फिराक, बच्चन, अमृतराय, हरिशंकर परसाई, कुबेरनाथ राय, विद्यानिवास मिश्र, राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह, कुंवर सुरेशसिंह, शानी, शरद जोशी, श्रीलाल शुक्ल, लतीफ घोंघी, धर्मवीर भारती, राजेंद्र यादव, कमलेश्वर, प्रकाशचंद्र गुप्त, वाचस्पति पाठक, नागार्जुन, जगदीशचंद्र माथुर, विनोद भट्ट, महादेवी वर्मा, उपेंद्रनाथ अश्क, शिवप्रसाद सिंह, राधाकृष्ण और बालकृष्ण राव, जैसे सिद्ध साहित्यकारों के पत्र शामिल हैं) कुल मिलाकर रद्दी के भाव कोई पांच रुपये में बिकेंगे. मैं उदास होने लगता हूं पर तभी अखबार में पढ़ता हूं कि मलेशिया के प्रधानमंत्री वहां के सुल्तान की सुपुत्री के साथ भाग गये. प्रधानमंत्री के एक पत्नी पहिले से मौजूद है और राजकुमारी की भी तीन शादियां पहिले से हो चुकी हैं जिनके फलस्वरूप उनके तीन बच्चे भी हैं. मगर इस सब से क्या होता है? कामातुराणां न भयं न लज्जा. मैं कितना बदनसीब हूं कि इस देश में कोई सुलतान ही नहीं है. यदि वह होता तो मैं भी उसकी पत्नी या पुत्री को भगाने की सोचता.

इधर हमारे पूर्व गृहमंत्री श्री बूटा सिंह काफी लोकप्रिय होते जा रहे हैं. एक दिन दलित लोग एक बारात लेकर उनकी कोठी पर गये थे. जिसमें दूल्हा जो था वह घोड़े पर बैठकर गया. यह इस कारण किया गया क्योंकि वैसे राजस्थान में अभी भी दलित वर्ग का दूल्हा घोड़े पर बैठकर बारात में नहीं जा सकता. पुलिस ने बारात रोक ली मगर बारात ने सड़क पर ही हवनकुंड खोद डाला और दुल्हिन के बिना ही विवाह का यज्ञ प्रारंभ कर दिया. मंत्रों के स्थान पर गृहमंत्री के खिलाफ नारे लगाये. इसी प्रकार एक दिन दस गधे, तीन बंदर, एक लंगूर और एक भालू गृहमंत्री के निवास स्थान पर ले जाये गये और उनसे प्रदर्शन करवाया गया. यह प्रदर्शन सांप्रदायिकता के विरुद्ध था जिसमें इंसान जो हैं वह जानवर से भी निचले स्तर पर उतर आता है. जानवर इस कारण ले जाये गये थे क्योंकि वे कम से कम सांप्रदायिक दंगे तो नहीं करते. और कुछ नहीं तो हम कम से कम जानवरों के स्तर तक तो उठ जाएं.
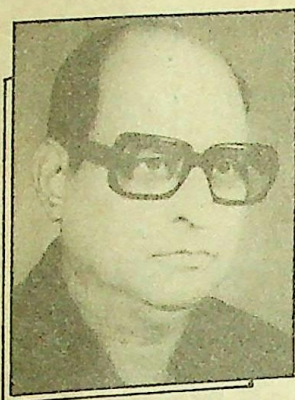
> मेरा लड़का दौरे पर अफ्रीका जा रहा है. मैं कहीं नहीं जाना चाहता. हिंदुस्तान जैसा दिलचस्प मुल्क और कहां मिलेगा? एक ओर समुद्र और दूसरी ओर पहाड़—एक ओर भयंकर भुखमरी और दूसरी ओर ऐसी दावतें जिनमें मुर्गा शराब में पकाया जाता है—कहां देखने को मिलेंगी?

पुलिस सच्चे अर्थों में जनता की सेवक होती जा रही है और कानून की तो इतनी इज्जत करती है कि कुछ कहा ही नहीं जा सकता. एक प्रदेश में पुलिस एक जूडीशल मैजिस्ट्रेट से नाराज हो गयी. अदालत ने पुलिस की इच्छा के विरुद्ध एक अभियुक्त को जमानत पर छोड़ दिया और एक और मुकदमे में पुलिस के खिलाफ कुछ कड़े रिमार्क भी दिए. बस फिर क्या था, पुलिस की अहिंसावृत्ति जागृत हो गयी. उन्होंने मैजिस्ट्रेट को हथकड़ियां पहिनायीं, उसके कपड़ों और मुंह पर शराब फेंकी और उसे सरे बाजार घुमाकर हवालात में बंद कर दिया. कहा यह गया कि मैजिस्ट्रेट ने मदिरापान कर रखा था और इस स्थिति में पुलिस पर हमला भी बोला था. बहरहाल खबर सारे देश में फैल गयी, अदालतों ने काम करना बंद कर दिया और प्रदेश सरकार की निष्क्रियता के कारण अंततोगत्वा सर्वोच्च न्यायालय ने अपराधी पुलिस कर्मचारियों की गिरफ्तारी के आदेश जारी किये. नोट करने लायक एक दिलचस्प बात यह है कि प्रदेश सरकार या हाईकोर्ट ने कुछ नहीं किया. इन दिनों यदि न्याय मिलता है तो मात्र सर्वोच्च न्यायालय में ही मिलता है, और कहीं नहीं. बाकी अदालतें या तो बंद रहती हैं या फिर तारीख के बाद तारीख लगाती जाती हैं. ऐसी सुविधा और किस देश में मिलेगी?

किसानों में इधर बड़ी जागृति आ रही है. उत्तर प्रदेश के महेंद्रसिंह टिकैत और महाराष्ट्र के शरद जोशी (शरद जोशी और भी हैं, शरद जोशी के सिवा) दिल्ली में एक विशाल रैली में एक दूसरे से मिले. संयुक्त मंच से भाषण देने की योजना बनी मगर ऐन वक्त में उनमें ऐसा पारस्परिक स्नेह उमड़ा कि एक को बीस फुट ऊंचे मंच से जान बचाने के लिए कूदना पड़ा. भाषण का भाषण और व्यायाम का व्यायाम. पहिले राजनीति में जाने के लिए बुद्धि की जरूरत होती थी, सेहत की नहीं. गांधी जी और जिन्ना साहब—दोनों पतले दुबले व्यक्ति थे. इन दिनों स्थिति यह है कि बाकी गुण पीछे और सेहत पहिले. पहिला सुख नीरोगी काया.

गांव बड़ी तरक्की कर रहे हैं. बिहार में एक गांव है जहां के निवासी प्रधानमंत्री तो क्या, अपने मुख्यमंत्री तक का नाम नहीं जानते. सरकारी रेट पंद्रह रुपया है पर उन्हें मजदूरी मिलती तीन से छः रुपया प्रतिदिन तक मिलती है. स्कूल है पर उसमें निचली जाति के बच्चे

घुसने की हिम्मत नहीं कर सकते. एक हरिजन की मृत्यु हो गयी तो उसे जलाया नहीं जा सका. लकड़ी जुटाने को पैसे नहीं थे. वह दफना दिया गया. एक और गांव में शहर से आयी नये विचारोंवाली डाक्टरनी के साथ ऐसा सामूहिक बलात्कार किया गया कि वह बेचारी शरीर ही छोड़ गयी. सरकार को इस बात का विशेष ध्यान रखना उचित होगा कि देहाती क्षेत्र में जो अध्यापिकाएं या डाक्टरनियां नियुक्त की जाएं वे हसीन न हों. गांव के लोग सौंदर्य के इतने पारखी होते हैं कि उनके आगे शहर पीछे पड़ता है. और ग्राम पंचायतों को नये अधिकार मिलने के बाद और जवाहर रोजगार योजना लागू होने के बाद तो स्थिति यह होगी कि सरपंच विलायती पियेगा और पंचायत में रोज शाम को इंद्रसभा जुड़ेगी. गांववाले कुछ मामलों में पीछे हैं, सब में नहीं. यदि बाकी मामलों में वे प्रगतिशील और जागरूक नहीं होते तो आप ही बताइए कि फिर कलकत्ता, दिल्ली, बंबई, मद्रास, चंडीगढ़ और बंगलौर को छोड़कर भारतमाता ग्रामवासिनी क्यों बनती? थोड़े में निर्वाह यहां है, ऐसी सुविधा और कहां है?

कांग्रेस की इच्छानुसार 'हैदराबाद हाउस' का कायाकल्प किया जा रहा है—ठीक उसी प्रकार जैसे कभी महामना मदन मोहन मालवीय का किया गया था. अंतर बस इतना है कि मालवीय जी का कायाकल्प मुफ्त हुआ था जबकि 'हैदराबाद हाउस' के नवीनीकरण में बीस करोड़ मुद्राओं का खर्चा आयेगा. नकली पहाड़ बनेंगे, नकली झीलें बनेंगी और घुमावदार रास्ते बनेंगे. कमरों की सजावट होगी, पेंटिंग लगेंगी, रेशमी खादी के पर्दे टंगेंगे और देशी मखमल के कालीन बिछेंगे. फिर उन पर्दों के पीछे और मखमल के ऊपर क्या होगा, यह आप मुझसे पूछेंगे? यह बात आप हरियाणा के सूबेदार चौधरी देवीलाल से पूछिए जिनकी रैली पर विरोधी पार्टियों के अनुसार तीस करोड़ रुपया लगा है. वैसे यह रकम भी कुछ ज्यादा नहीं है. आखिरकार यह देश के इतने बड़े सेवक का पचहत्तरवां जन्मदिन था. आज से सैकड़ों वर्ष पहिले कुदसिया बेगम ने अपना जन्मदिन मनाने पर एक करोड़ खर्च किया था. उन दिनों का एक करोड़ आज के सौ करोड़ से ज्यादा बैठेगा, कम नहीं.

मेरा लड़का दौरे पर अफ्रीका जा रहा है. मैं कहीं नहीं जाना चाहता. हिंदुस्तान जैसा दिलचस्प मुल्क और कहां मिलेगा? एक ओर समुद्र और दूसरी ओर पहाड़—एक ओर भयंकर भुखमरी और दूसरी ओर ऐसी दावतें जिनमें मुर्गा शराब में पकाया जाता है—कहां देखने को मिलेंगी? □

घटना

तीर्थ-यात्रा

□ कृपाशंकर

आज फ्लैट में गजब तरीके का माहौल बना हुआ है. बच्चे आज ज्यादा खुश तथा उत्साहित हैं. सुरभि अपना सामान बंधा रही है तो सुमीत अपना. इनसे हटकर सुरभि के डैडी कैमरे में रंगीन रील सेट कर रहे हैं. सुरभि की मम्मी फ्रिज से ठंडा पानी निकाल कर थर्मस में उड़ेल ही रही थी कि डैडी उबल पड़े, "अरे, छोड़ो भी. पानी की क्या जरूरत? रास्ते में मिल ही जायेगा. कॉफी लो, कॉफी. ट्रेनों में स्साले चाय नहीं बेचते. गंगाजल बेचते हैं, प्योर गंगाजल."

सुरभि की मम्मी खीझकर किचनरूम में घुसने ही वाली थी कि उनकी नजर बेडिंग पर जा पड़ी. "उफ्फ! बाबूजी, आप बेडिंग को कैसे उल्टा-पुल्टा बांध दिये. आप लोग भी... छोड़िये, छोड़िये. आखिर में मुझे ही बांधना पड़ गया. बेटा सुमीत, जरा बाहर देख तो शायद टैक्सी वाला पुकार रहा है. बोल कि तुरंत आ रहे हैं." सुमीत के बाहर जाने की बात बोल वे किचनरूम में घुस गयीं.

कॉफी बनते ही सभी लोग सेंट-पाउडर मार कर तैयार हो गये. सुरभि के बाबा-तो पहले से ही तैयार थे, लेकिन अनमने ढंग से. टैक्सी पर सामान बारी-बारी से ही तैयार चढ़ाये थे. सुमीत के डैडी और मम्मी के व्यस्त होने के कारण सामान बाहर निकालने में ज्यादा हाथ बाबा-दादी ही बंटा रहे थे.

टैक्सी में चढ़ने के पूर्व नगों की गिनती की गयी कि चढ़ाने में कहीं बाबा-दादी कोई चीज भूल तो नहीं गये. सामान ठीक था. टैक्सी चल पड़ी. रेलवे स्टेशन के बाहर टैक्सी के रुकते ही सभी लोग उतर पड़े. ड्राइवर को वाजिब भाड़ा दिया गया. कुली के मिलते ही सबने रेलवे प्लेटफार्म की ओर कदम बढ़ाया.

ट्रेन प्लेटफार्म पर लग चुकी थी. जल्दी-जल्दी में सुरक्षित सीट की तलाश शुरू हुई. सीट तुरंत ही मिल गयी. सीट पर बैठते ही बाबा-दादी खिड़की के पास खड़े हो गये और शुरू हो गया बातों का सिलसिला.

सुमीत कह रहा था, "दादी, तुम मेरे लिए क्यों उदास हो रही हो? दशहरे की छुट्टी खत्म होते ही तो हम लोग वापस आ जायेंगे. तुम्हारे लिए वैष्णो देवी का कलर फोटो जरूर लायेंगे. वहां से आने के बाद हम तुम्हें बतायेंगे कि वैष्णो देवी कैसी लगती है! कैसा है उनका मंदिर! और बाबा आपको भी बतायेंगे. वहां बहुत मजा आयेगा दादी. हम वहां खूब घूमेंगे और मार्केटिंग भी करेंगे. अब तो खुश हो जाओ मेरी बढ़िया दादी."

ट्रेन ने सीटी मार दी. गाड़ी धीरे-धीरे सरकने लगी.

सुमीत के डैडी जल्दी-जल्दी में बोल रहे थे, "बाबूजी आपलोग ठीक से रहियेगा. अंदर से दरवाजा अच्छी तरह से बंद कर सोइयेगा. यह अपना गांव नहीं. शहर है, बड़ा शहर. और मां, तुम इधर-उधर मत चली जाना. चलती सड़क है. पूजा-कीर्तन में ही ज्यादा ध्यान देना."

ट्रेन रफ्तार पकड़ रही थी. टाटा करने के लिए दो-तीन हाथ खिड़की से बाहर निकले. मगर उन हाथों में उतनी तेजी नहीं थी जितनी कि प्लेटफार्म पर से हिल रहे दो 'बूढ़े' हाथों में थी. □

उन्हें सही आलोचना से रोक पाना असंभव था

कमलेश अवस्थी

देवीशंकर अवस्थी एक अच्छे आलोचक, अच्छे इंसान थे यह तो मित्रों-परिचितों का जाना परिचय हुआ, मगर इन सब से ऊपर वे कैसे संसारी-परिवारी गृहस्थ थे—बता रही हैं सहधर्मिणी कमलेश अवस्थी की ये चंद स्मृतियां.

1956 में शादी के तुरंत बाद हम दोनों नैनीताल-रानीखेत गये थे. मैंने पहली बार पहाड़ देखे जबकि अवस्थीजी वहां के चप्पे-चप्पे से परिचित थे. मैं बावली-हर दृश्य, हर स्थान पर उत्फुल्ल-विमुग्ध या भयभीत और वे ... वे मेरे ऊपर हंसते रहे. इसी दौरान मैंने जाना कि वे यात्रा और नौका विहार के बेहद शौकीन हैं. नैनीताल में ही नहीं बाद में भी कितनी ही बार कानपुर में गंगाघाट पर दोस्तों के साथ नौका विहार किया गया और हर बार अवस्थीजी एक दोहा जरूर दोहरातेः

कानपुर कन कइया,
जहि मां बना घाट सरसइया
ऊपर चलै रेल का पहिया,
नीचे बहे गंगा मइया.

अवस्थीजी को कपड़ों की बहुत पहचान थी. सिल्क बहुत पसंद था. सिल्क छूते ही बता देते कि कौन-सा है. मैं अक्सर मजाक करती, "लगता है पिछले जन्म में कपड़े के व्यापारी रहे हैं." तब एक दिन बताया कि उनके पिता के परिवार में नासिक पाचोरा में कपड़ों का काम होता रहा है तथा उनके पिताजी ने कुछ दिन के लिए अपनी अलग दुकान भी खोली, पर हिस्सेदार से झगड़ा हो जाने पर अपना हिस्सा ले गठरी अम्मा को थमा दी. उनमें से कुछ साड़ियां मैंने भी पहनीं. जो बची थीं अवस्थीजी की मृत्यु के बाद कानपुरवाले घर में चोरी हो गयीं.

अवस्थीजी अक्सर कहीं-न-कहीं गोष्ठियों, सेमिनारों एवं पढ़ने के लिए बाहर जाते रहते. हर जगह से सामान जरूर लाते और मेरे लिए तो खासतौर पर साड़ी जरूर आती. कथा समारोह कलकत्ता से भी लौटते हुए लाल और काले पाड की साड़ियां लेकर आये परंतु मुझे देने से पहले ही ... हम दोनों बिछुड़ गये. यद्यपि चिट्ठी से सूचना अवश्य मिल गयी थी कि मेरे लिए साड़ियां ला रहे हैं.

श्रीमती कमलेश अवस्थी बेटी और दामाद के साथ.

उन्हें ऊंची आवाज में गाते तो मैंने कभी नहीं सुना पर अक्सर गीत और कविताएं आंख बंद कर मस्ती में गुनगुनाते रहते. कानपुर में वे नियमतः संगीत और नृत्य के कार्यक्रमों को सुनने, देखने जाते. यह क्रम दिल्ली आने पर भी समाप्त नहीं हुआ, पर यहां की दूरियों एवं अवस्थीजी के अस्वस्थ रहने के कारण थोड़ा कम अवश्य हो गया. इसी संबंध में दिल्ली की एक घटना याद आ रही है. श्रीमती लक्ष्मीशंकर की आवाज पर हम दोनों ही फिदा थे. दिल्ली में उनका कार्यक्रम घोषित हुआ तो हम लोग वहां पहुंचे. भाव विभोर पूरा कार्यक्रम सुना. कार्यक्रम की समाप्ति पर वहां पं. नेहरू को देख मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ. पं. नेहरू के साथ चलने का लोभ मैं संवरण न कर सकी. यद्यपि कानपुर में भी एक बार मैं ऐसा कर चुकी थी. महिला होने के कारण मैं अंगरक्षकों की नजरें बचा पंडितजी के साथ-साथ चलने लगी पर अवस्थीजी को अंगरक्षकों ने रोक लिया. तो उन्होंने तेज स्वर में प्रतिवाद किया कि मेरी पत्नी नेहरूजी के साथ चल रही है और आप मुझे ही रोक रहे हैं? अवस्थीजी की आवाज इतनी ऊंची थी कि पंडित नेहरू ने भी सुना और उन्हें भी साथ बुला लिया.

अवस्थीजी को साहित्य चर्चा करने में बेहद आनंद आता. कितने भी थके क्यों न हों, थकान आराम करने से नहीं, साहित्य चर्चा से ही दूर होती. 1956 में भी नैनीताल-रानीखेत से लौटते हुए वे अपने कवि मित्र शिवबहादुर भदौरिया से मिलने भुवाली गये, जहां वे स्वास्थ्य लाभ कर रहे थे. आग्रह करके मुझे भी साथ ले गये. घंटों अवस्थीजी उन्हें न केवल कानपुर, लखनऊ आदि की साहित्यिक चर्चा करके उन्हें ऐसे बता रहे थे जैसे वह केवल उन्हें यही बताने आये थे. रास्ते में लौटते हुए मैंने प्रतिवाद किया कि बीमार व्यक्ति को आप देखने आये थे न कि इतनी दुनिया भर की बातें करने ... अवस्थीजी ने हंसते हुए जवाब दिया, "मैं उन्हें देखने, स्वस्थ्य रखने, उनका मनोरंजन करने, उन्हें सांत्वना देने, उन्हें साहित्यिक जानकारी देकर और अधिक जल्दी स्वस्थ होने की इच्छा जाग्रत करने की भावना से गया था." कहने लगे, "हम भारतीय लोगों का आधा मर्ज तो अपने प्रियजनों को देखने और उनकी शुभकामनाओं से ही ठीक हो जाता है. वह हमारे परम मित्र हैं. यहां आकर मैं उनसे बिना मिले कैसे जा सकता था."

एक प्रसंग 1964 में अपने बेटे सौरभ के जन्मदिन का है. उस दिन अनेक लेखकों, मित्रों और विश्वविद्यालय के प्रोफेसरों को दावत पर बुलाया. उन सब लोगों के स्वागत की जिम्मेवारी अपने परममित्र अजितकुमार को सौंप दी. तथा मेरे साथ खाना बनवाने से लेकर खिलाने तक की जिम्मेवारी स्नेहमयीजी को दे अवस्थीजी ने स्वयं को पूरी तरह

से साहित्यिक चर्चा में आनंद लेने, चटकारे लेने के लिए मुक्त कर लिया.

1963 में जब हम लोगों ने. माडल टाऊन में ही सी-3/4 वाले घर को छोड़ सी 5/16 नं. का घर किराये पर लिया तब यह मकान एकदम नया बना था और फर्श बहुत चिकना और फिसलने वाला था. खुद हम लोग भी कई बार फिसले पर साहित्यिक चर्चा करने वाले मित्रों में से भी कई लोग गिरे. साहित्य चर्चा में व्यवधान शरीर चर्या से ही उत्पन्न होता अन्यथा कोई अन्य कारण तो साहित्य रस में विघ्न उपस्थित करने की हिम्मत जुटा नहीं सकता था.

मैं जिस परिवार और जिन संस्कारों में पली-बढ़ी थी उसमें मैं बहुत ही दब्बू और संकोची थी. अवस्थीजी मुझे बराबर स्वतंत्र, निर्भीक बनाने का प्रयास करते. मुझे अच्छी तरह याद है कि 'विवेक के रंग' पुस्तक प्रकाशित होने पर अवस्थीजी ने अज्ञेयजी की विशिष्ट प्रति अज्ञेयजी को देने के लिए इस तरह का समय तय किया कि मैं भी साथ चलूं और कपिलाजी से भी मेरी मुलाकात अवश्य हो. इसी तरह जब भी आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी दिल्ली आते अवस्थीजी स्वयं तो मिलते ही पर मुझे भी उनसे मिलाना न भूलते. अवस्थीजी के उत्साहवर्धन का ही फल था कि मैंने भी कहानी, कविता, उपन्यास पढ़ने शुरू किये. आदरणीय भवानी प्रसाद मिश्र की कविता 'गीत फरोश' सुनने की मेरी बड़ी तमन्ना हुई. अवस्थीजी भवानी भाई से समय निर्धारित किये बगैर ही बेतकल्लुफी से तीमारपुर उनके निवास स्थान मुझे लेकर पहुंच गये. उस दिन मैंने जाना कि अवस्थीजी से भी ज्यादा बेतकल्लुफ थे कवि श्री भवानी प्रसाद मिश्र. हलुआ और चाय के साथ, 'जी हां, हुजूर मैं गीत बेचता हूं' के साथ जो कविता पाठ हुआ उसमें हम तीनों कितने ही गीत खरीदते, बेचते, समय भूल ही गये.
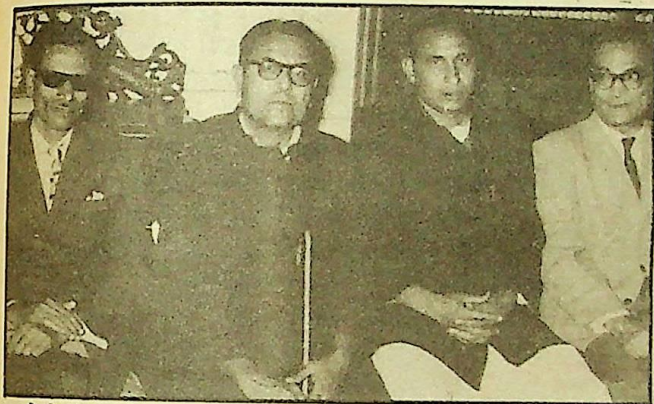
देवीशंकर अवस्थी, अमृतलाल नागर, हरीशंकर परसाई और चंद्रगुप्त विद्यालंकार

आचार्यवर का उपन्यास 'चारुचंद्रलेख' सबसे पहले 'कल्पना' पत्रिका में धारावाहिक रूप में छप रहा था. मैं भी उसे पढ़ रही थी. हर किस्त पढ़ने के बाद अवस्थीजी तरह-तरह की टिप्पणियां करते और चाहते कि मैं भी उस पर प्रतिक्रिया जाहिर करूं लेकिन मैं एक सामान्य पाठक की तरह यही कहती कि मैंने उपन्यास पढ़ने के लिए पढ़ा है न कि छिद्रान्वेषण करने के लिए.

इसी समय 'माध्यम' के संपादक श्री बालकृष्ण राव ने इलाहाबाद में 'चारुचंद्रलेख' पर एक गोष्ठी रखी और इन्हें पर्चा पढ़ने के लिए आमंत्रित किया. आमंत्रण स्वीकार करने के बाद इन्होंने लंबी समीक्षा लिखी और शीर्षक दिया. 'चारुचंद्रलेख-एक टूटा दर्पण.' मैं दंग ... वास्तव में अवस्थीजी अपने आलोचना कर्म को धर्म समझते थे. वस्तुत: आलोचना यानी सही बात कहने, अपनी अनुभूति को बेबाक हो दो टूक तरीके से रखना ही वे पसंद करते और उससे उन्हें रोक पाना भी असंभव था. अपनी आलोचना और अपने व्यक्तिगत संबंधों में वे बहुत दूरी रखते थे. कभी एक ने दूसरे को प्रभावित नहीं किया. बाद में मुझे पता चला कि आचार्यवर स्वयं भी ऐसी अनासक्ति को ज्ञानसाधना के लिए आवश्यक समझते थे.

अवस्थीजी अपने लिखने-पढ़ने के कारण घर के कामों से बचते ... 1963 में बड़े बेटे अनुराग को रोजरी स्कूल में भर्ती कराने के लिए मैंने जिद की तो ये अपने दुपहिया स्कूटर पर रेडियो कालोनी तक साथ ले गये पर लौटते रास्ते में निरंकारी जुलूस के कारण बहुत भीड़ थी. उस भीड़ में एक को पीछे बिठाकर स्कूटर चला पाना काफी मुश्किल था, यह सोच मैं स्कूटर से उतर गयी. पर वे अपने में ही इतना मशगूल थे कि उन्हें पता नहीं चला. जैसे ही जगह मिली स्कूटर तेज चला फुर्र घर पहुंच गये और मैं नदारद—बीबी खो गयी. घबड़ा कर तुरंत वापस लौटे. मैं तब तक कैंप तक चलकर आ गयी थी. मुझे सही-सलामत पाकर इनकी जान में जान आयी, पर डांट फिर भी मुझे ही पड़ी. □

□ जीवनवृत्त :

देवीशंकर अवस्थी

जन्म: 5 अप्रैल 1930 बालाखेड़ा, जि०: उन्नाव [उ०प्र०] आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के निर्देशन में 'अठारहवीं शताब्दी के ब्रज भाषा काव्य में प्रेमाभक्ति' पर पी.एच.डी.

सन् 1953 से 1961 तक डी.ए.वी. कॉलेज, कानपुर, में हिंदी के प्राध्यापक. 1961 से मृत्युपर्यंत दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग में प्राध्यापक.

महत्वपूर्ण कृतियां: 'कविताएं-1954' [अजित कुमार के साथ संपादन], 'कलजुग' [पत्रिका का हरीश अवस्थी के साथ संपादन], 'आलोचना और आलोचना' [निबंध संग्रह], 'कहानी विविधा' [संकलन-संपादन], 'विवेक के रंग' [संकलन-संपादन], 'नयी कहानी : संदर्भ और प्रकृति' [संकलन-संपादन], 'अठारहवीं शताब्दी के ब्रजभाषा काव्य में प्रेमाभक्ति' [शोधग्रंथ], 'रचना और आलोचना' [निबंध संग्रह], 'साहित्य विधाओं की प्रकृति' [संकलन-संपादन]

1966 के कलकत्ता कथा समारोह से लौटते ही दुर्घटना में निधन.

उपेक्षित तीसरी परंपरा की स्मृति

□ सुधीश पचौरी
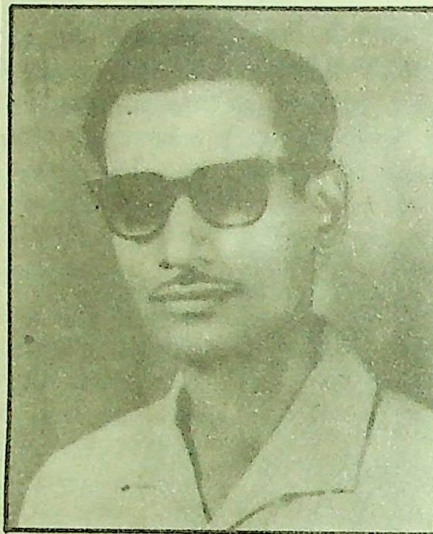
आलोचना का सबसे घटिया संस्करण उपेक्षा है. उपेक्षा जहां से आरंभ होती है आलोचना वहां खत्म होती है. आलोचना में सबसे गहरे स्नेह संबंध अंतर्निहित होते हैं. उपेक्षा में तमाम मानवीय संबंधों का खात्मा हो जाता है. उपेक्षा अपेक्षा की शत्रु है.

पिछले 20-25 वर्ष आलोचना की जगह उपेक्षा के वर्ष कहे जायें तो अपराध न होगा. ये दो-ढाई दशक साहित्य आलोचना में अपेक्षा का नहीं घोर उपेक्षा के वर्ष कहे जाने चाहिये. ये दो दशक बहुत-सी चीजों के खात्मे के दशक हैं. ये इनसानी मोहब्बत के खात्मे के दशक हैं. ये आधुनिकता के दशक हैं. ये संबंधों को नष्ट करनेवाली उपेक्षा के दशक हैं. जीवन में भी. साहित्य में भी. ये बड़ी-बड़ी बातों के दशक हैं किंतु उन तमाम बड़ी बातों के पीछे 'उपेक्षा' की मोहक हिंसा खड़ी है. जिसे आलोचना के नाम से हम जानते हैं.

फिलहाल, कथा का क्षेत्र ही ले लें, रामनारायण शुक्ल को कौन जानता है? समीक्षा के क्षेत्र को ले लें. देवीशंकर अवस्थी की याद किसे है? रामनारायण शुक्ल के कहानी संग्रह उनके भाई प्रयाग शुक्ल ने प्रकाशित कराये, पिछले दिनों, तो लोगों को भनक पड़ी कि रामनारायण भी एक कथाकार था! देवीशंकर अवस्थी की याद भी उनके परिजनों को ही आयी और वह भी 24 साल बाद !

जब लोगों को उपेक्षा के जरिये स्मृतियों से बाहर किया जाने लगे तो उन दफनाए जा रहे लोगों के सही परिचय के लिये सिर्फ एक सवाल पूछा जाना चाहिये कि इनसे कौन डर सकता है? वे कौन हैं जो रामनारायण शुक्ल से डर सकते हैं? वे कौन हैं जो देवीशंकर अवस्थी से डरते होंगे? उपेक्षा की कृच्छ साधना में, जिसे उपेक्षा का शिकार बनाया जाता है, उसका डर साइकोसिस बनकर काम करता रहता है. उपेक्षा एक मानसिक बीमारी है जिसे बीमार लोग शस्त्र की तरह इस्तेमाल करते हैं.

देवीशंकर अवस्थी से कौन डरता है? यह सवाल उस उपेक्षा के कारणों तक जा सकता है इसलिए हर संभव है कि कुछ लोग इस सवाल पर ही हंसें. किंतु देवीशंकर अवस्थी के अब मुश्किल से उपलब्ध होने वाले साहित्य को देखें तो बारंबार मन करता है कि हम पूछें और पता

'कथा समीक्षा की पुनर्यात्रा' स्तंभ के अंतर्गत कथा समीक्षा के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान करने वाले समीक्षकों पर टिप्पणी करेंगे—आलोचना के क्षेत्र में सक्रिय सुधीश पचौरी. सिलसिले की शुरुआत में इस बार है देवीशंकर अवस्थी पर और अगले माह सुरेंद्र चौधरी की कथा समीक्षा पर ...

करें कि कौन है जो उनसे डरता है, डरता होगा. उपेक्षा के भीतर उपेक्षीय का प्राथमिक डर भरा रहता है. उपेक्षा के कारणों तक यह डर हमें पहुंचा सकता है. तो हम 'डर' से शुरू करें.

—जिन लोगों ने हिंदी के समीक्षा राज्य को पिछले दो तीन दशकों में अनुशासित किया है, वहां अवस्थी का कोई जिक्र नहीं आता. तो क्यों?

—जिन लोगों ने कथा साहित्य की सेवा करने की ठान रखी है उनके पत्रों का एक भी अंक (यह तो बहुत हो गया) छोड़िए उनके समीक्षा शास्त्र पर एक टिप्पणी, एक पंक्ति तक नहीं मिलती तो क्यों?

डर—सिर्फ डर ही वह कारण है जिसकी वजह से अवस्थी की उपेक्षा की 'आदत' डाली गयी. आत्मरति में नाक तक डूबे, अपनी ही आवाज को खुद सुनने के आदी, अपने ही चित्र सामने रखने के आदी हिंदी-बुद्धिजीवियों के परम पुरुषों के स्मृति कोश प्रायः क्षीण मिलते हैं तो इसीलिये कि यहां अपनी-अपनी दुकान लगाने से किसी को फुर्सत नहीं कि सड़क पर मारे गये शख्स को याद करें. आधुनिकता (जिसकी व्याख्या देवीशंकर अवस्थी अपने लेखों में बारंबार करते हैं) का यह दंड उन्हें मिलना ही चाहिये था क्योंकि वे सचमच इस भारतीय आधुनिकता की अत्यंत मर्मभेदी व्याख्या कर चुके थे. (यदि उन्हें लंबा जीवन मिला होता तो इतना तय था कि हिंदी के पिछले बीस-पचास वर्षों का इतिहास वह हरगिज न होता जो वह नजर आता है.) यदि भक्तजन क्षमा करें तो (वैसे वे न भी करें तो क्या?) कहना चाहूंगा कि देवीशंकर अवस्थी जीवित रहते तो आज आदरणीय नामवरजी वो न होते जो आज हैं. वे जो हैं उससे कुछ कम या कुछ अधिक होते. हर हालत में वे उतने 'अकेले' और 'अद्वितीय' न रह पाते जो कि देवी की अनुपस्थिति में, सौभाग्य से या दुर्भाग्य से वे नजर आते हैं. देवी जैसे बराबरी कर सकने वाले दिमाग की कमी शायद नामवर को भी महसूस होती होगी. अन्यथा वे 'वाद-विवाद संवाद' में अपने आप से ही 'असहमत' होने की गर्व भरी 'तकलीफ' बयान न करते. वे अधिक निडर होते क्योंकि उनके डर के कारण कम होते, वे शायद सच्चे 'विवाद' में होते क्योंकि देवीशंकर अवस्थी संभवतः उनके सर्वाधिक विश्वसनीय जोड़ीदार होते. तब वे 'उपेक्षा' को अस्त्र न बना पाते. क्योंकि देवी की आलोचना पद्धति मूलतः 'अपेक्षा' का वातावरण बनाती. यह भविष्य कथन नहीं, देवी के लिखे पर, साधारण प्रति-कथन है.

जब देवीशंकर अवस्थी अपने औजार पैना रहे थे तब इन पंक्तियों का लेखक उनकी संपादित 'विवेक के रंग' और 'नयी कहानी, संदर्भ और प्रकृति' का विद्यार्थी था.

यदि यह टिप्पणी वर्ष पहले लिखी जाती तो,

भी, (और आज भी) यह अवधारणा प्रस्तुत की जाती थी कि हिंदी कथा समीक्षा की वास्तविक शुरुआत नामवर सिंह से नहीं देवीशंकर की कथा-समीक्षा से होती है. यों नयी-कहानी की समीक्षा दुष्यंत कुमार की टिप्पणियों से शुरू होती है. ऐसे ही राजेंद्र यादव, याद करते हैं कि हिंदी कथा समीक्षा का आरंभ किन्हीं 'शिलीमुख' जी से होता है. इस तरह देखेंगे तो कथा समीक्षा का भारतीय उत्स 'वेदों' में जाकर गिरेगा. इस टिप्पणी का आशय (जिसे समझना मुश्किल नहीं है) इतना भर है कि कहानी का 'एक्सक्लूसिव' तरीके से एक स्वतंत्र विधा के रूप में मर्मभेदी अध्ययन और समीक्षा देवीशंकर के समीक्षा लेखों से शुरू होती है, नामवरजी के समीक्षा लेखों से नहीं. यद्यपि अब तो यही 'अंधविश्वास' बन चला है. भक्तजनों में ऐसा अंध विश्वास न होगा तो भक्ति कैसे होगी? नामवरजी ने 'कहानी नयी कहानी' की भूमिका में आलोचना को 'सहयोगी' प्रयास कहते हुए, समीक्षा के 'अपने' औजारों के बारे में यह तथ्य नहीं छिपाया है कि वे कविता के औजारों का कहानी के क्षेत्र में उपयोग कर रहे हैं. बाद में, नामवरजी की कथा समीक्षा पद्धति पर जब-जब चर्चा आयी है (यद्यपि वह भी पूरी नहीं आयी है) तब-तब आरोप लगाये गये हैं कि नामवरजी मूलतः काव्य समीक्षक हैं, कथा समीक्षक नहीं. इसीलिए जिन चीजों से वे नयी कहानी की शुरुआत मानते हैं, बाद में चलकर वही निष्कर्ष उनकी गर्दन का 'पट्टा' बन जाते हैं. यह इसलिए होना था कि नामवरजी के मन में कहानी को एक स्वतंत्र विधा मानने के प्रति दुविधा बनी रही; और कि वे क्लासिकल अर्थों में उपन्यास के 'आने का इंतजार' करते रहे. कविता के औजारों से कहानी खोलते हुये कभी वे उपन्यास की तलाश कहानी में करने लगते थे.. इसका संकेत स्वयं देवी ने अपनी एक टिप्पणी में यों किया है, "लोगों ने उन पर कविता के नजरिये से कहानी पढ़ने का आरोप लगाया है, पर इन टिप्पणियों से मुझे लगता है कि वह उपन्यास की दृष्टि से कहानी पढ़ते हैं." (कहानी : अच्छी और नयी)

प्रसंग है, 'अच्छी कहानी को नयी होना चाहिये या नहीं'? पूरा लेख नामवरजी के साथ एक विवाद की तरह शुरू होकर खत्म होता है. नामवरजी पुराने युगबोध की कहानी को 'अच्छी नहीं' कहते हैं. इस स्थिति से देवी 'विचलित' नहीं होते. बल्कि अधिक गंभीर होकर कुछ क्लासिक कहानियों का हवाला देकर बहस करते हैं. इसके लिये प्रेमचंद की 'बूढ़ी काकी' लाते हैं. अब पूरे लेख में बहस देखिये. उसका स्तर देखिये. नामवर की विश्लेषण पद्धति का अवगाहन देखिये. हू ब हू उनकी तरत जमा-खाते वाली शैली की नकल. 'बूढ़ी काकी', और 'धरती अब भी घूम रही है' को आमने-सामने रखकर नामवर की आधुनिक दृष्टि एवं पद्धति दोनों के सामने एक लकीर खींच देते हैं देवीशंकर. नामवरजी का तर्क है कि अनुभूति या पीड़ा 'एक' की यदि है तो कहानी 'अच्छी नहीं' 'धरती अब भी घूम रही है एक की पीड़ा है. 'छोटे-छोटे ताजमहल' एक' की समस्या है, इसलिये उपेक्षणीय है. देवीशंकर पूछते हैं, "एक की कहानी क्या सचमुच ऐसी ही विस्मरणीय एवं उपेक्षणीय होती है—खासकर कहानी जैसी मूलतः वैयक्तिक और निजी कला में. ऐसा लगता है कि कहानियों की बात करते समय नामवरजी के मन में उपन्यास रहता है." (वही)

कहानी को एक स्वतंत्र विधा के रूप में स्थापित करने का जो संघर्ष कमलेश्वर, मार्कंडेय, शेखर जोशी, अमरकांत, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश ने अपनी रचनाओं के जरिये किया, उसी संघर्ष को देवी कथा समीक्षा के स्तर पर लगातार चलाते रहे. एक स्वतंत्र विधा के रूप में कहानी के होने की वे तब पैरवी कर रहे थे जब अनेक विद्व-जन यूरोप के भारत में क्रमागत ढंग से घट जाने का इंतजार कर रहे थे. दुराग्रह न समझें किंतु यहां भी नामवरजी ही थे जो उपन्यास के पूरी तरह आने का इंतजार कर रहे थे. इसी को लक्षित करके देवी ने 'नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति' (संपादित) पुस्तक की भूमिका में लिखा कि होना तो यह चाहिये था कि हिंदी क्षेत्र नोवल्स ऑफ मैनर्स के लिए उपजाऊ बनता किंतु हुआ यह कि कहानी बनी मुख्य? इसीलिये लोग कहानी में 'उपन्यास' देखते रहे जबकि कहानी में कहानी देखनी थी. इसीलिये कहानी की 'हाशिये पर' जो समीक्षा हुई वह कहानी को एक विधा के रूप में लेने की जगह उपन्यास के 'ब्रीफ नोट्स' के रूप में लेती रही, इसलिये कहानी में 'आत्मपरकता' की 'अनिवार्यता' को नहीं समझा गया. **देवी ने यहीं ठीक यहीं कहानी को एक स्वतंत्र एवं अनिवार्य विधा के रूप में देखा और साफ स्थापित किया कि कोई जरूरी नहीं कि भारतीय यथार्थ स्वयं को यूरोप की तरह 'उपन्यास' में ही व्यक्त करे, उन्होंने संकेत किया कि भारतीय समाज का मिजाज शायद कहानी के ज्यादा अनुकूल है.** इसलिये 'कहानी' केंद्रीय विधा बनी, उपन्यास नहीं और आज भी नहीं बना है. विधाओं के स्वतंत्र रूप विवेचन और उनके वैशिष्ट्य को ध्यान में रखे बिना साहित्य समीक्षा गलत-सलत हो सकती है, इस बात का एहसास देवी को बराबर था इसीलिये उन्होंने बराबर विधाओं के वैशिष्ट्य का अध्ययन किया और कुछ अनुवाद किये जो उनकी मृत्यु के बाद 'साहित्य की रूप विधाएं' नाम से छपे. (अब अनुपलब्ध). इस क्रम में एक अन्य उपेक्षित समीक्षक का जिक्र आता है. यह समीक्षक है—सुरेंद्र चौधरी. उनकी एक मात्र पुस्तक 'हिंदी कहानी, प्रक्रिया और पाठ' भी इस बात की गवाह है कि एक वक्त के बाद कहानी को एक विधा के रूप में लेने का चलन बढ़ गया था और इसीलिये स्पैकूलेटिव समीक्षा की जगह उसके लिये एक शास्त्र गढ़ने के प्रयत्न जारी हो गये थे. इन्हीं प्रयत्नों में कहीं कथा समीक्षा के आरंभ के बीज छिपे हैं. कहने की जरूरत नहीं कि इस सब में देवी की श्रम साधना का अतिरिक्त योगदान हुआ. यदि सुरेंद्र चौधरी ने लिखना न छोड़ा होता तो देवी का यह 'स्कूल' और आगे चलता और तब कहानी का इतिवृत्त इतना दरिद्र और 'बंद' न होता.

यदि कहानी एक स्वतंत्र विधा थी या कहें कि हिंदी समाज ने जिसे एक ऐतिहासिक चरण में, अपने जीवन को अनिवार्यतः **व्यक्त करने** के लिए अपनाया तो उसका **अपना** शास्त्र देर-सबेर आना था. **यह** इसलिए भी होना था कि हिंदी कथा **आलोचना** प्रारंभ से ही अनेक विकृतियों में **फंस** गयी थी. 'नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति' की महती भूमिका में देवी लिखते हैं: "एक ओर एकेडमिक सुविधावाद या सरलीकरण का फार्मूला था जिसकी शिकार समृद्ध समीक्षा परंपरावाली कविता तक हुई. दूसरी ओर कथा साहित्य के प्रति एक अगंभीर भाव था और तीसरी ओर आलोचक द्वार प्रस्तुत की जानेवाली समस्याओं की कभी न खत्म होने वाली एक सूची थी जिनके समाधान भी वे समाज में न पाकर साहित्य में प्राप्त करके परितृप्त होना चाहते थे." जो लोग इस वक्त देवी को 'प्रगतिशीलता' का फतवा देने की उतावली में हों वे समझ रखें कि यह अंतिम वाक्य रामविलास शर्मा की कथा समीक्षा पद्धति को समर्पित है. देवी की प्रगतिशीलता नितांत अपनी थी.

देवी की असल चिंता 'कथा समीक्षा के अपने औजार और अपनी पद्धति' विकसित करने की है. मुश्किल से एक डेढ़ दर्जन समीक्षा लेखों में, (जो हमें मुश्किल से मिलते हैं) देवी हिंदी कथा समीक्षा का एक 'ढंग' विकसित करते हैं. इस ढंग का मर्म बिंदु है **'कहानी में साहित्यिक मूल्यों की खोज.'** 'साहित्यिक मूल्य' देवी का प्रिय शब्द है जो साधारण स्थापना की तरह भी आता है और परिप्रेक्ष्य की तरह भी दुहराया है. यह एक सर्वाश्लेषी पारिभाषिक पद है.

कहानी समीक्षा की अपनी पद्धति विकसित करने के लिए सबसे पहले वे काव्य समीक्षा के उपादानों की घुसपैठ से सावधान होते हैं. वे जानते हैं कि वे 'न्यू क्रिटिसिज्म' की प्रविधियां हैं. (जिनका निचोड़ बाद में नामवर जी ने 'कविता के नये प्रतिमान' में प्रदर्शित किया.) तब भी देवी को 'यत्र तत्र' इस प्रविधि की

घुसपैठ के दर्शन होते हैं. उनका इशारा नामवरजी की ओर तो है ही वे राजेंद्र यादव या मोहन राकेश को भी इस 'घपलेबाजी' पर नहीं बख्शते, वे रामस्वरूप चतुर्वेदी को भी नहीं बख्शते. इसके लिए 'नयी कहानी संदर्भ और प्रकृति' की भूमिका पठनीय है.

वे रचना को देखने के लिए रचनाकार की 'कला दृष्टि' की खोज अनिवार्य बताते हैं. नयी कहानी की व्याख्या इस कला दृष्टि से होकर गुजरती है. यह कला दृष्टि क्या है. यह 'जीवन की गहराई' से आती है. यहीं से लेखक कला दृष्टि विकसित करता है इसीलिए 'भाषा वाली' कसौटी के मुकाबले 'अनुभव की दुर्निवारता' या 'प्रामाणिकता की टोह' जरूरी है. ये दुर्निवार अनुभव प्रतीकों (भाषा) में न मिलकर कथाकार की चरित्र निर्माण क्षमता, कथानक संगठन शक्ति में निहित होते हैं. समीक्षा के लिए इन्हीं का विश्लेषण 'महत्वपूर्ण' है इसीलिए एक प्रसंग में उन्हें श्रीकांत वर्मा और प्रयाग शुक्ल की समीक्षा पद्धति अधिक प्रासंगिक लगती है. वे बारंबार कहानी में चरित्र की खोज की बात को रेखांकित करते हैं.

यदि देवी की सफल समीक्षा पद्धति का परिचय पाना हो तो उनकी कविता संबंधी टिप्पणियों को त्यागा जा सकता है. कारण, उनका मन आख्यान में जितना रमता है, उनके मन में कहानी कथा को पढ़कर जितने आवेग उठते हैं, उतने कविता को लेकर नहीं. इसके लिए वे क्रमशः चुनौती-पूर्ण कथाएं चुनते हैं. यद्यपि यह कथा समीक्षा कोरी कथा समीक्षा नहीं है. यह आलोचक समाज और साहित्य के आंतरिक रिश्तों को चूंकि कई स्तरों पर समझता है. अतः वह रचना और आलोचना पर भी विदग्ध भाव से लिखता है और हिंदी शोध की दुरावस्था पर भी. किंतु हम देखते हैं कि कुछ विषय आलोचक के मन के एकदम करीब हैं. ये साहित्य के बारीक प्रश्न होते हैं. आलोचक उनमें बेखटके प्रवेश करता है और कुछ नयी बातें उद्घाटित करता चलता है. इसी कठिन रास्ते से वह अपनी समीक्षा पद्धति लाते हैं. इस संदर्भ में उनके तीन निबंध अवश्य पढ़ने योग्य हैं. 'अंतराल के प्रश्न पर पुनर्विचार', 'समकालीनता का संदर्भ और आंतरिक अध्ययन विधि' और 'आधुनिकता और भारतीयता.' और चौथा 'ताकि बेकली और बढ़े.'

पहले निबंध में देवी नवलेखन के प्रस्थान बिंदुओं को रेखांकित करते हैं. वे नवलेखन के बाहरी और भीतरी संघर्ष दोनों को पहचानते हैं. इस प्रसंग में उनकी स्थापनाएं मुक्तिबोध द्वारा 'नवलेखन' पर लिखी गयी टिप्पणियों के काफी नजदीक बैठती हैं. वे एकाधिक स्थान पर तीखेपन से कहते हैं कि "नया स्वयं एक संस्थान बन गया है और स्वयं उसके प्रति असंतोष लेकर एक और पीढ़ी सामने आ रही है. इस काम में 'आलोचना' ने मदद दी है. पुस्तकों को जाने दीजिए, एक कहानी, दो कविताएं और एक निबंध ने इस बीच लेखकों को स्वीकृति दिला दी. क्या बिना एक सजग आलोचनात्मक कार्यवाही के यह संभव था?"

आंतरिक अध्ययन विधि 'कविता के नये प्रतिमान' में बाद में आये कई 'मानकों' के बारे में रहस्य खोलती है. कि तब 'न्यू क्रिटिसिज्म' की जानकारी जिस दूसरे समीक्षक को थी वह देवीशंकर अवस्थी थे. और उनकी दृढ़ आलोचना दृष्टि उसके प्रति अंध श्रद्धालु नहीं थी. 'अनुभव की प्रामाणिकता', 'ईमानदारी और अद्वितीयता' आदि बाद में प्रचलित पद इस लघु निबंध में चर्चा में आते हैं. यहीं वे रचना के 'आंतरिक संदर्भ सांचे' को समझने की अनिवार्यता पर जोर देते हैं. एक अन्य निबंध में इलियट का ऑब्जेक्टिव कोरिलेटिव भी व्याख्यायित होता है. नयी कविता के अनेक औजार यहां दिखते हैं.

'आधुनिकता और भारतीयता', 'परंपरा और आधुनिकता' से ताल्लुक रखनेवाली तत्कालीन बहसों में एक दिलचस्प हस्तक्षेप है. यहां भारतीयता माने प्राचीनतावाद नहीं है. देवी के आधुनिकतावादी विचार यहां सटीक ढंग से प्रकट हुए हैं. 'विडंबना' जैसा मूल्य इस आधुनिकता और प्राचीनता के बीच तनाव की नियति का परिणाम है.

'चारूचंद्रलेख': एक टूटा दर्पण' जैसे निबंध की चर्चा बिना यह टिप्पणी अधूरी लगेगी. यह लेख देवी की गहनतर समीक्षा पद्धति का अद्भुत नमूना है. वे इस उपन्यास की एक-एक परत निकालकर अंतर्विरोधों के केंद्र पर उंगली रख देते हैं और पंडित द्विवेदी की उपन्यास क्षमता का मुलम्मा उतरने लगता है. वे इस 'प्रयत्न' को ही 'असंभव' कहते हैं, असफल कहते हैं. वे द्विवेदीजी की आंतरिक 'दुविधा' पर उंगली रखते हैं कि वे अतीत के प्रति प्रामाणिक बने रहकर पूरे के पूरे वर्तमान समाज का रूपांतरण करना चाहते हैं. नतीजा—कथा का सारा ढांचा चरमरा उठा है.

इतिहास के बदलने के साथ रचना और समाज के बदलते संबंधों पर तीखी नजर देवी की समीक्षा पद्धति की न भुलाई जा सकने वाली विशेषता है. जो 'फतवेबाजी' के लालच से परे पूरे सांस्कृतिक बदलाव को 'रेखांकित' करती है. निर्णय बाद में देती है. 'भयावह संदर्भ और कुछ कहानियां' नामक निबंध वस्तुतः बदलाव की इसी पकड़ का प्रमाण है. 'बुराई की सिग्निफिकेंस' क्यों प्रामाणिक हो उठी है, देवी की पैनी नजर से यह बात बच नही पाती. 'कल उगने' का आशावादी रोमांटिक झौंका एन साठ तक पहुंचते-पहुंचते गुजर जाता है. यह तत्व समकालीन हिंदी समीक्षकों में सबसे पहले देवी ने पकड़ा और कवियों में मुक्तिबोध ने. 'बदलाव' के अन्य बिंदुओं को रेखांकित करने के लिए वे 'प्रेम कहानियां परिचय के मध्य अपरिचय' और 'यथार्थ का शिल्प और शिल्प का यथार्थ' जैसे व्यावहारिक समीक्षा निबंध लिखते हैं. इन में 'प्रेम का मूल्य' केंद्र में है. प्रेम संबंधों के भीतर आ रहे बदलावों के एवीडेंस के रूप में वे महेंद्र भल्ला की लंबी कहानी 'एक पति के नोट्स' को लेते हैं और धर्मवीर भारती की 'यह मेरे लिए नहीं' से उसके पार्थक्य को रेखांकित करके न केवल यथार्थ बल्कि रचना और यथार्थ के संबंध बदल जाने की बात करते हैं. पति-पत्नी के बीच भावनाओं के बंधन या संबंध अब खत्म हो रहे हैं. अब विवाह जैसी संस्था महज 'सेक्स संबंध' के लिए रह गयी है. 'एक पति के नोट्स' नामक ऐसी कहानी यथार्थ के नजदीक है, प्रामाणिक है जबकि भारती की कहानी सन् 50 के यथार्थ में खड़ी नजर आती है. इसी तरह प्रेम की जगह शरीर की क्षमताओं का क्रमशः आते जाना, देवी के लिए बदलती कहानी का एक बड़ा परिप्रेक्ष्य बन जाता है. 'पठार का धीरज' (अज्ञेय) को इसीलिए वे हिंदी की पहली प्रेम कहानी कहते हैं क्योंकि हिंदी में 'छायाओं के प्यार' को यह कहानी विदा करती है. यादव की 'छोटे-छोटे ताजमहल', मोहन राकेश की 'एक और जिंदगी', कमलेश्वर की 'राजा निरबंसिया', श्रीकांत वर्मा की 'परिणय', सभी कहानी को 'डिरोमैंटीसाइज' करने की पुकार है. बदलाव पर ऐसी पैनी नजर समीक्षा में बहुत बाद तक नजर नहीं आती.

देवी क्रमशः 'नवलेखन' के सबसे बड़े समीक्षक के रूप में स्वयं को तैयार कर रहे थे. वे 'नयी कहानी' के स्वयं 'एस्टैबिलशमैंट' बन जाने को ताड़ चुके थे. इसीलिए वे नये की पहचान के प्रति व्याकुल थे. सन् 60 के बाद की 'हिंदी कहानी' में उनकी यह विकलता खूब व्यक्त हुई है. वे आधुनिकता के 'स्कूल' की जगह 'नवलेखन' के स्कूल को वरीयता देते हैं. वे महेंद्र भल्ला, ज्ञानरंजन की दृढ़तापूर्वक चर्चा इसीलिए करते हैं. देवी शंकर की समीक्षा पद्धति की परंपरा को देखें तो इनकी सीध में एक बड़े विकल और वैरागी समीक्षक के रूप में सिर्फ मलयज उभरते हैं. किसी हद तक अशोक वाजपेयी की समीक्षा भी देवी की खुली समीक्षा से जुड़ती लगती है.

क्या देवी शंकर एक समीक्षक की तीसरी परंपरा की नींव डाल रहे थे जो शुक्ल और द्विवेदी से भिन्न थी? जो नामवर सिंह से भिन्न थी और आज भी है? कहीं ऐसा तो नहीं कि इस कारण भी देवी आज तक उपेक्षणीय समझे गये हों? □

परिचर्चा

हिंदी कथा समीक्षा और देवीशंकर अवस्थी
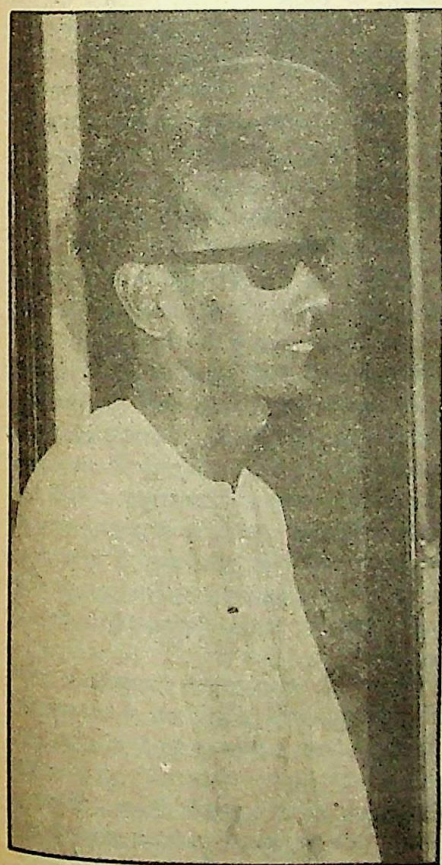
प्रस्तुति : चरणसिंह अमी

नयी कहानी के दौर में हिंदी कथा समीक्षा में डॉ० देवीशंकर अवस्थी की पहचान एक ऐसे कथा-समीक्षक के रूप में उभरी थी जिसने अपने समय के अनुभवों से निकाले तर्कों पर हिंदी कहानी को जांचा-परखा था. वे सबके बीच सबसे अलग कथा-दृष्टि लेकर आए थे. उस समय के दौर में उनकी लेखनी ने हिंदी में एक सशक्त कथा-समीक्षक के आने का स्पष्ट संकेत दिया ही था कि सिलसिला अचानक टूट गया. उनकी जो रचनाएं मौजूद हैं—उनसे एक दृष्टिसंपन्न कथा समीक्षक की मुकम्मल तस्वीर बनती है. उस तस्वीर के बहाने की यहां कुछ कथाकारों व आलोचकों द्वारा डॉ० देवीशंकर अवस्थी व मौजूदा कथा समीक्षा की स्थिति का जायजा लेने का प्रयास किया गया है. परिचर्चा में भाग ले रहे हैं—कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, मैनेजर पांडेय, पंकज बिष्ट और चंचल चौहान.

डॉ० देवीशंकर अवस्थी की कथा-समीक्षा बहुआयामी है. वह चर्चा के लिए कई बिंदुओं पर आमंत्रित करती है, किंतु यहां हमने कुछ बिंदुओं को ही बहस का आधार बनाया है. देवीशंकर अवस्थी ने माना था कि प्रेमचंद आदि के जमाने तक कहानी का पूर्ण स्वरूप उभरकर नहीं आया था. संभवतः इसी कारण प्रेमचंद जैसी रचनात्मक क्षमता संपन्न लेखक के कृतित्व की ओर आचार्य शुक्ल भी ध्यान नहीं दे पाए. इसी के साथ उनकी यह भी मान्यता थी कि 'पल्लव' की भूमिका जिस प्रखरता और शक्ति से नए काव्यांदोलन के उन्मेष को सूचित करती है. वैसी प्रखरता, स्पष्टता या मौलिकता प्रेमचंद के उपन्यास, कहानी संबंधी विचारों में भी न मिलेगी. इस कथन पर हिंदी कथा-साहित्य के प्रारंभिक दौर में 'पल्लव' की भूमिका जैसी भूमिका के अभाव का प्रश्न उठाया जाना स्वाभाविक था. अवस्थीजी कहानी को कहानी की शर्त पर ही समझने वाले आलोचक थे. काव्य समीक्षा के प्रतिमानों का विरोध उन्होंने किया था, जबकि उसी दौर में डॉ० नामवर सिंह काव्य समीक्षा के कुछ प्रतिमानों के आधार पर कथा-समीक्षा कर रहे थे. इन दोनों में कौन, कहां तक, क्यों सही था—या कौन-सी पद्धति सही है.... इस प्रश्न पर भी विचार किया गया है. छठे दशक के बाद कथा-समीक्षा में ठहराव आने के कारण क्या थे? क्या सचमुच ही ठहराव आया? कुछ कथाकारों ने भी इस दौर में कथा-समीक्षा का प्रयास किया था. ऐसे प्रयासों की सार्थकता क्या थी! साथ ही यह उद्देश्य भी सामने था कि इन सवालों की जांच पड़ताल के दौरान मौजूदा कथा समीक्षा पर भी एक नजर डाली जाये....

कमलेश्वर : शिविरबद्ध हो गयी है समीक्षा

प्रेमचंद के जमाने तक कहानी वैचारिक स्तर पर समर्थ विधा स्वीकार नहीं हुई थी. आचार्य शुक्ल ने खुद अपनी कहानी को भी एक वैचारिक उत्स का प्रतीक नहीं माना, इसलिए संभवतः प्रेमचंद पर उनकी गहरी दृष्टि नहीं गयी. डॉ० देवीशंकर अवस्थी की यह धारणा सही है कि 'पल्लव' की भूमिका जैसी कोई भूमिका कहानीकारों ने नहीं लिखी. बाद में नयी कहानी के दौर में ऐसा प्रयास हुआ. कहानीकारों ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया कि कहानी लिखना उनके लिए क्यों अनिवार्य है? डॉ० अवस्थी ने इस ऐतिहासिक अनिवार्यता के रचनात्मक कारणों को पहचाना था, जोकि नामवर सिंह नहीं पहचान सके थे. नामवर सिंह कथा-समीक्षा के लिए प्रेरित किये गये थे, जबकि डा० अवस्थी स्वतः प्रेरित आलोचक थे. उनके बाद डा० बच्चनसिंह नामवर सिंह से अधिक सुलझी दृष्टि लेकर आए थे. लेकिन बाद में थोड़े विमुख हो गये. सन् 1964 में मैं 'नयी कहानियां' का संपादक था. उसी समय डॉ० अवस्थी नयी समीक्षा-दृष्टि के साथ सक्रिय हुए. नयी कहानी में ज्ञानरंजन, रवींद्र कालिया, महेंद्र भल्ला, गंगाप्रसाद विमल आदि की कहानियां जब आयीं तो डा० अवस्थी ने इस रचनात्मकता की छानबीन की और उनका जो नयापन था, उसे रेखांकित किया.

डॉ० अवस्थी काव्य समीक्षा के प्रतिमानों को कथा-समीक्षा में लागू करने का विरोध ठीक ही कर रहे थे. 1964 में 'परिमल' ने कहानी पर पहली बार क सेमिनार कराया था. रामस्वरूप चतुर्वेदी, विजयदेव नारायण साही आदि कहानी में कविता खोज रहे थे. 'परिमल' का दृष्टिकोण तो समझ में आता था, क्योंकि वह पक्षधरता का दृष्टिकोण था—साहित्य के नये सिद्धांतों का कोई सवाल नहीं था. नामवर सिंह ने 'परिमल' की उसी बात को 1989 में 'हंस' की गोष्ठी में दोहराया. पचीस साल में वह वहीं पहुंचे. नामवर सिंह नयी कहानी को काव्यशास्त्र के पैमाने से ही नापते रहे. डॉ० अवस्थी ने कहानी के पूरे व्यक्तित्व को समझकर, उसके वैचारिक व्यक्तित्व को रेखांकित करते हुए, काव्यशास्त्र की पिष्टोक्तियों से दूर रखा.

आज की कथा-समीक्षा 'शिविरबद्ध' हो गयी है. इसने नयी रचनाशीलता को उसकी समग्रता में स्वीकार न करके कुछ लेखकों की लिस्टें बना ली हैं. इन लिस्टों में कुछ अच्छा लिखने वाले भी हैं, लेकिन

कुछ रचनाहीन लेखक और कहानियां भी इसलिए जिक्र पा जते हैं कि वे 'शिविरबद्ध' हैं. मधुरेश की समीक्षाएं अधिकांशतः उसी काव्य विवेचन की दृष्टि से निबद्ध रही हैं. इस मामले में सबसे सही दृष्टि डॉ० धनंजय वर्मा की है. उन्होंने डॉ० अवस्थी से आगे की बात पकड़ी है. इधर सुधीश पचौरी भी मीडिया पर लिखने से पहले गहरी आलोचनात्मक दृष्टि रखते थे. नयी कहानी एक आंदोलन था जिसने एक रचनाशीलता को स्थापित किया था. जब कहानी बदलती है तो निश्चित रूप से नए समीक्षक पैदा होते हैं, नए औजार, नए प्रतिमान खोजकर लाए जाते हैं. लेकिन इस समय कथा समीक्षा के क्षेत्र में कोई ठोस काम नहीं हो रहा है. कहानियों की प्रशंसा की जाती है, पर प्रवृत्तियों का रेखांकन नहीं हो रहा. रचना के माध्यम से उभरने वाले नये सत्य, नये यथार्थ को उसकी निरंतरता में बहुत कम रेखांकित किया जा रहा है. कहानी की विशेषता है कि किसी भी समय कोई एक या दस कहानियां मिलकर समीक्षा का संकट पैदा कर देंगी. फिर से समीक्षा की नयी तत्परता की जरूरत होगी. उस जमाने में डॉ० अवस्थी ने इस जरूरत को पहचाना और महत्वपूर्ण तरीके से कहानी के कथ्य, विचार व कथा-संस्कृति से परिचित कराया.

राजेंद्र यादव : संवेदना की दृष्टि से समझने की कोशिश नहीं हुई
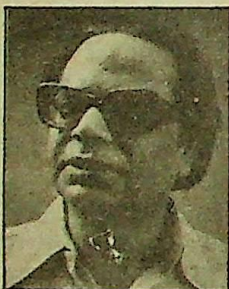
देवीशंकर अवस्थी द्वारा काव्य-समीक्षा के प्रतिमान का विरोध सही था. काव्य-समीक्षा की जैसी परंपरा थी, चंडी प्रसाद 'हृदयेश', पद्मसिंह शर्मा आदि लोग जैसी आलंकारिक चुटीली, लयात्मक भाषा लिखते थे, नामवर सिंह उसी संस्कार के आलोचक थे. उस जमाने में काव्य भाषा को ही गद्य भाषा मानने की कमजोरी थी. देवीशंकर अवस्थी काव्य समीक्षा के प्रतिमान का विरोध सही कर रहे थे.

कथा-समीक्षा में छठे दशक के बाद जागरूकता में कमी आयी क्योंकि कहानी को संवेदना की दृष्टि से समझने की कोशिश नहीं हुई. समीक्षक की समाजाधारित समझ ठीक विकसित नहीं हुई उसकी परिणति मार्क्सवादी पॉलिमिक्स में होने लगी समीक्षक जोर देने लगे–लेखक को यह करना 'चाहिए' वह करना 'चाहिए'. असल में नयी स्थितियों को, सब चीजों को समझने वाला समीक्षक नहीं आया. नामवर सिंह में यह क्षमता थी उनकी मानसिक बनावट में यह था-लेकिन या तो उन्होंने ईमानदारी से समझने की कोशिश नहीं की या फतवेबाजी में उलझ गये. बाद में मंच पर आ गये जैसा मंच, वैसा बोलने लगे. सिंसियर नहीं रहे. जो कि शुरू से नहीं थे. उन्हें तो पगड़ी लूटनी थी. शायद उन्हीं की उस समय की भूमिका के कारण मैंने समीक्षक को 'तीसरा और फालतू आदमी' कहा था. उस दौर में देवीशंकर अवस्थी में ही उपलब्धियों से ज्यादा संभावनाएं दिख रही थीं. उन्होंने अपनी नयी एप्रोच से सबका ध्यान आकर्षित किया था. वे कथा समीक्षा में बहुत कुछ कर सकते थे. किंतु असामयिक अवसान ने वह अच्छा काम बीच में ही रोक दिया.

देवीशंकर अवस्थी ने मुझे जो कहानी-विचार की दृष्टि से परंपरा अस्वीकार करने वाला कहा है-वह सही है, किंतु मैं कहानी-विचार को कहानी का कंसेप्ट कहना ज्यादा पसंद करता हूं. नयी कहानी के दौर में कहानी का पूरा कंसेप्ट ही बदल गया था. हमारा जोर आइडिया की जगह संवेदना पर ज्यादा था.

आज की कथा-समीक्षा तदर्थवाद और तात्कालिकता से आतंकित है जबकि समीक्षा के मानदंड हमेशा पुरानी रचना और पुनर्मूल्यांकन से पैदा होते हैं, जैसे कविता में आचार्य शुक्ल ने जायसी, तुलसी, सूर आदि का. साही ने कबीर का, मुक्तिबोध ने 'कामायनी' का पुनर्मूल्यांकन किया. लेकिन आज की कथा समीक्षा इससे बचती है. जब तक पुरानी कहानियों और कथा रचनाओं को बार-बार व्याख्यायित करने की कोशिश नहीं की जाती-तब तक कथा-समीक्षा का व्यक्तित्व नहीं बन सकता. केवल एक कहानी 'कफन' का ही बार-बार पुनर्मूल्यांकन हुआ है-थोड़ा बहुत 'उसने कहा था' का. वस्तुतः आज का कथा समीक्षक लगभग 'शिविर काल' की स्थिति में है. वह समीक्षा नहीं करता, वकालत करता है. काटना और महानता सिद्ध करना. यही काम रह गये हैं उसके.

डा. मैनेजर पांडेय : सुनील गावस्करों की भीड़ नहीं होती

नयी कहानी के दौर में विचारों के टकराव की स्थिति से बचकर किसी के लिए आलोचक बने रहना संभव नहीं था. इस वैचारिक टकराव में नामवरसिंह की केंद्रीय भूमिका थी. उनकी दृष्टि और पद्धति से बहस और विवाद करते हुए देवीशंकर अवस्थी नयी कहानी के आलोचक के रूप में उभरे थे. सुरेंद्र चौधरी और धनंजय वर्मा भी नामवरसिंह की आलोचना- पद्धति से टकराते हुए उनसे अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाते हुए आगे आये. देवीशंकर अवस्थी उस समय अपने लेखों में परिमलवादियों और प्रगतिशीलों की आलोचनादृष्टियों के बीच से अपनी आलोचना की राह बना रहे थे. यही स्थिति उनकी कथा-समीक्षा में दिखायी देती है. उनकी दृष्टि और विवेचन पद्धति की विशिष्टता को परिमलवादियों और प्रगतिशीलों के साथ रखकर ही देखा समझा जा सकता है. उनकी आलोचना दृष्टि में ऐसी संभावनाएं थीं जिनसे बेहतर कथा समीक्षा के विकास की उम्मीद बनती है.

देवीशंकर अवस्थी ने कथा-समीक्षा में कविता के प्रतिमानों को लागू करने का विरोध किया है, जो एक सीमा तक सही भी है लेकिन स्वयं उनकी आलोचनाओं में काव्य समीक्षा के उपकरणों का उपयोग है. वे कहानी में विंब और प्रतीक का विरोध करते हैं लेकिन उन्होंने भैरवप्रसाद गुप्त के उपन्यास 'सती मैया का चौरा' को एक प्रतीक मानकर उसकी समीक्षा की है. वे कहते हैं-''उपन्यास ऐसी कथाकृति होता है जिसमें पात्र, घटनाएं, परिस्थितियां ध्वनि संवेदना एवं शिल्प के विविध प्रयोग और स्वरूप मिलकर एक ऐसे प्रतीक को जन्म देते हैं जो कृति के अर्थ को एक नया विस्तार दे देता है.'' वे उपन्यास की कला को 'प्रतीक शक्ति' कहते हैं और 'उपन्यास के सारे उपादानों एवं कौशलों का उपयोग 'प्रतीक शक्ति' की समृद्धि के लिए' मानते हैं. 'प्रतीक शक्ति' संबंधी मान्यता के सहारे उन्होंने 'सती मैया का चौरा' की कलात्मक सफलता-असफलता का मूल्यांकन किया है. कथा-समीक्षा में कविता के उपकरणों के सहारे रचनाओं की कलात्मक विशिष्टता की व्याख्या एक बात है और किसी पूरे उपन्यास नाटक या महाकाव्य को प्रतीक मान लेना दूसरी बात है. यह दूसरी बात अधिक भ्रामक है. हिंदी में कुछ ऐसे कहानीकार हैं जैसे रेणु या निर्मल वर्मा, उनकी कहानियों की कलात्मक विशिष्टता को समझने के लिए उनकी भाषिक सृजनशीलता की व्याख्या आवश्यक है. यह आश्चर्य की बात है कि जब कहानी की भाषा कविता की भाषा को छूने की कोशिश करती है तो उसकी तारीफ की जाती है लेकिन उस भाषा को काव्य भाषा की दृष्टि से समझने की कोशिश होती है तो निंदा की जाती है. साहित्यिक दुनिया की यह एक सच्चाई है कि कई बार कहानी वैसे ही कविता बनने की कोशिश करती है जैसे कविता संगीत की ऊंचाई पाने की लालसा रखती है. इसलिए कहानी की आलोचना में कविता के उपकरणों का उपयोग तब तक निरर्थक नहीं होगा जब तक कहानी में व्यक्त अनुभव की व्याख्या में सहायक है.

आज की कथा-समीक्षा नामवरसिंह और देवीशंकर अवस्थी से आगे बढ़ी है या नहीं, यह सवाल बार-बार उठाया जा रहा है. प्रायः यह कहा जा रहा है कि कथा समीक्षा ठहरी हुई है. यद्यपि पिछले एक दशक में कहानी की रचनाशीलता में पर्याप्त विविधता के बावजूद केंद्र में कविता ही रही है. इसीलिए अधिकांश बहसों के केन्द्र में भी कविता ही रही है. इसी कारण कथा-समीक्षा में ठहराव का आभास होता है. पिछले वर्षों में उपन्यास और कहानी की आलोचना की ठीक-ठीक जांच परख और मूल्यांकन नहीं हुआ. दो साल पहले रेणु पर आयी सुरेंद्र चौधरी की पुस्तक अब तक रेणु पर आयी पुस्तकों में विशेष महत्वपूर्ण है. किंतु उसकी कहीं कोई चर्चा नहीं हुई. मधुरेश भी लंबे समय से लिख

रहे हैं-उनकी दोनों प्रकाशित कथा समीक्षा पुस्तकों की भी समीक्षा ठीक-ठीक नहीं हुई. क्या यह उचित नहीं है कि समीक्षा पुस्तकों की समीक्षा हो, उसमें निहित आलोचनादृष्टियों, पद्धतियों की जांच परख हो और उन्हें खारिज करने या आगे बढ़ाने का प्रयत्न किया जाए. तभी यह कहना संभव होगा कि कथा-समीक्षा ठहरी हुई है या आगे बढ़ रही है. असल में कथा-समीक्षा के क्षेत्र में प्रायः लोग सेंचुरी बनाने वाले सुनील गावस्करों की खोज करते हैं लेकिन किसी भी क्षेत्र में सुनील गावस्करों की भीड़ नहीं होती.

चंचल चौहान: आलोचक भी सामंतों की तरह पेश आते हैं
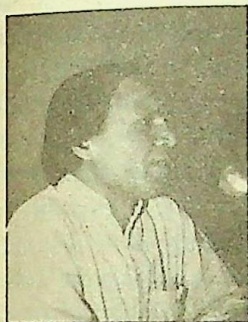
देवीशंकर अवस्थी को नामवरसिंह के बाद के कथा-समीक्षकों में रखना ज्यादा सही होगा. उम्र के लिहाज से भले ही लगभग समकालीन रहे हों, मगर कथा-समीक्षा की परंपरा में वे नामवर जी के अनुयायी नहीं थे, एक नये प्रकार का सौंदर्यशास्त्र और आलोचनाशास्त्र विकसित करने की प्रक्रिया में थे. नामवरजी को कहीं से भी कथा-समीक्षा का कोई बना बनाया ढांचा हाथ नहीं लगा, मगर कविता के लिए कुछ नये शब्द मिल गये थे, जैसे विसंगति (पैराडाक्स), विडंबना (आयरनी), तनाव (टेंशन) आदि जो कि अमरीकी न्यू क्रिटिसिज्म से उन्होंने आयात कर लिये थे. उसी ढांचे को नयी कहानी की समीक्षा करते वक्त इस्तेमाल कर लिया. ईमानदारी से अपनी इस व्यापार बुद्धि को अपने लेखों की पुस्तक की भूमिका में उजागर कर दिया. देवीशंकर अवस्थी कविता के प्रतिमानों जो कि रूपवादी प्रतिमान थे, को कथा समीक्षा के लिए ठीक ही अनुपयुक्त ठहराते हैं, न्यू क्रिटिसिज्म की शब्दावली से समीक्षा की भाषा में भले ही ताजगी और कुछ नया-नया-सा महसूस होता हो. मगर उससे कहानी की कोई व्याख्या, कोई भाष्य संभव नहीं. देवीशंकर अवस्थी रूपवाद की एकांगिता और फूहड़ समाजशास्त्रीयता दोनों के खिलाफ थे. वे मुख्यरूप से एक वस्तुपरक समीक्षा पद्धति के विकास के लिए प्रयत्नरत थे.

पहले की तरह आज भी कथाकार कथा-समीक्षा से असंतुष्ट हैं, प्रेमचंद भी थे, नये कहानीकार भी थे और बाद के कहानीकार तो उनसे भी ज्यादा मात्रा में असंतुष्ट हैं, बल्कि नाराज हैं. इस नाराजगी के कई कारण हैं. इन सबमें एक बड़ा कारण है जनवादी मूल्यों को अपना जीवन मूल्य न बना पाना, इसीलिए असहिष्णुता पैदा होती है. संवादहीनता पैदा होती है. अगर रचनाकार की तारीफ कर दी जाए तो बहुत खुश, जरा-सी कहीं कमजोरी पर ऊंगली रख दी तो शामत आयी समझो. सामंती सोच हम सबके भीतर इतना गहरा बैठ हुआ है कि कहानीकार कोई न कोई आश्रयदाता आलोचक चाहता है और आलोचक भी सामंतों की तरह ही पेश आते हैं. इसी कारण असंतोष पैदा होता है. रचनाकारों में से जो अपना लोकतांत्रिक व्यक्तित्वांतरण कर पाये हैं, जो आलोचना और आत्मालोचना के प्रति जागरूक हैं वे ही रचना और अलोचना में सकारात्मक योगदान कर रहे हैं अपने समय के लेखन के प्रति जिस गंभीरता से आज बात होती है, वह छायावाद के जमाने में संभव नहीं थी. रामचंद्र शुक्ल अपने समकालीनों को समझने में असमर्थ रहे, रामविलास शर्मा अपने समकालीनों को समझने में कोताही बरतते रहे (इसकी शिकायत देवीशंकर अवस्थी ने भी अपने लेखों में की थी) नामवर सिंह ने आजादी के बाद के डेढ़ दशक से आगे बढ़ने से इंकार कर दिया, आज की रचना और आलोचना कम से कम इस तरह की सीमाओं में नहीं बंधी है. जो लिखा जा रहा है, उस पर चर्चाएं और समीक्षाएं हो रही हैं, यहां तक कि शोधकार्य हो रहे हैं, उनका स्तर भले ही अच्छा न हो. नौवें दशक में तो कहानी मुख्य रूप से चर्चा के केंद्र में रही और अच्छी कहानियों को भी और बुरी कहानियों को भी पढ़ा और परखा गया. उन पर बहसें हुई. यह जरूर है कि पुस्तक रूप में इस तरह के प्रयासों को सामने लाने में उस तरह की कोई पहल नहीं हुई जैसी कि देवीशंकर अवस्थी ने अपनी संपादित पुस्तकों के माध्यम से की थी.

छाया : अरविंद जैन

पंकज बिष्ट: नामवरजी ने कथा समीक्षा पर काव्य समीक्षा के प्रतिमान लादे नहीं थे.

छाया : अरविंद जैन
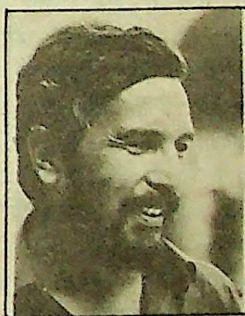
'पल्लव' जैसी भूमिका लिखने का तात्पर्य हुआ कि कहानीकारों को पहल करनी चाहिए थी. मैं यह ठीक नहीं समझता. काव्यालोचन परंपरा पुरानी थी. फिर समाज का पूंजीकरण भी पश्चिम की तरह नहीं हुआ था. जो गद्य के विकास के लिए उपयुक्त है. कथा समीक्षा को परंपरा नहीं मिली थी. इन परिस्थितियों में उसे समुचित रूप से व्याख्यायित करना आसान नहीं था. नयी कहानी के दौर में भी कथा समीक्षा में एक किस्म की शून्यता ही रही. कथाकारों की तरफ से कमलेश्वर, राजेंद्र यादव आदि ने प्रयास किए. किंतु अधिकांश आलोचना सब्जेक्टिव ही रही क्योंकि ये किसी ग्रुप से जुड़े हुए थे. जो स्थिति एक तटस्थ आलोचक की हो
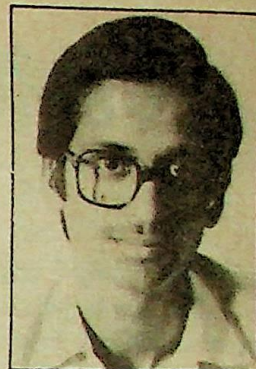
परिचर्चाकार : चरणसिंह अमी

सकती थी वैसी नहीं हुई. कुछेक मामलों के रूप में सामने आते हैं. धनजंय वर्मा ने उतना महत्वपूर्ण नहीं लिखा जैसा कि नामवरसिंह ने लिखा. डा० देवीशंकर अवस्थी भी अपनी नयी सोच, नयी पहुंच के साथ हिंदी कहानी को समझने-समझाने की नयी दृष्टि देते हैं. समीक्षा पद्धति में उनका गहरा चिंतन झलकता था.

डा० देवीशंकर अवस्थी की यह मान्यता तर्कसंगत है कि कहानी को कथा समीक्षा के प्रतिमानों द्वारा ही समीक्षित किया जाना चाहिए. कहानी ज्यादा तार्किक, ज्यादा रैशनल होती है. लेकिन इससे यह न मानना चाहिए कि कहानी में काव्यात्मक गुण आ ही नहीं सकते. तब तो कुछ सीमा तक काव्य समीक्षा के प्रतिमान उपयोगी हो भी सकते हैं किंतु यदि केवल काव्य प्रतिमानों का ही उपयोग होगा तो निश्चित रूप से मूल्यांकन में गड़बड़ी होगी. नामवरजी ने भी कथा समीक्षा पर काव्य समीक्षा के प्रतिमान लादे नहीं थे.

आज कथा समीक्षा बहुत ही डिसअपाइंटिंग हो गयी है. सारे आलोचक आलोचना के काम को केजुअली ले रहे हैं. जो जैसा समझता है, वैसा लिख देता है. दरअसल, आज कथा समीक्षा व्यावसायिक पत्रों की समीक्षा बन गयी है-'अखबारी समीक्षा' कालम भरने की सीमा में लिखा जाता है. इसी कारण खरापन नहीं रहा. सरसरी तौर पर निबटाने वाले आलोचक बहुत हैं. यदि हमें डा० देवीशंकर अवस्थी के योगदान से आगे बढ़ना है तो आज की कथा-समीक्षा को पर्याप्त गंभीरता से लिया जाना चाहिए. तभी उनकी परंपरा की बात की जा सकती है. ◻

कहानीकार माखनलाल चतुर्वेदी

□ देवेंद्र कुमार चौबे

यह सही है कि रचनाकार माखनलाल चतुर्वेदी की संवेदना कहानी की अपेक्षा कविता को अधिक मिली है तथा उसी में उन्होंने अपने-आपको खुलकर अभिव्यक्त भी किया है तथापि उनके कथाकार रूप को नकारा नहीं जा सकता. जिस समय उन्होंने लिखना शुरू किया था उस समय का भारत मुख्यतः तीन स्थितियों से गुजर रहा था—एक 19 वीं शताब्दी के सामाजिक सुधारवादी आंदोलन जैसे—ब्रह्म समाज, आर्य समाज आदि, दूसरा राष्ट्रीय जागरण का युग जिसमें 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' के नेतृत्व में स्वतंत्रता-संग्राम ने जोर पकड़ा और तीसरा वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा का प्रचार, जिन्हें सन् 30 के आसपास ये विश्वव्यापी संकट के दिनों में विशेष बल मिला. इन तीनों अवस्थाओं का चतुर्वेदीजी के कथा साहित्य पर पूरा असर पड़ा है. सर्वाधिक प्रभावित वे राष्ट्रवादी और सुधारवादी आंदोलनों से थे तथा उसमें उन्होंने जमकर हिस्सा भी लिया. पर ऐसा नहीं था कि वे वैज्ञानिक समाजवादी विचारधारा से प्रभावित नहीं थे. बल्कि उन सभी विचारधाराओं का उनकी रचनात्मकता पर गहरा असर पड़ा है, जिससे समाज की पुनर्रचना हो सकती है तथा जीवन सुखमय हो सकता है.

कहानी के क्षेत्र में माखनलाल चतुर्वेदी का आगमन दूसरे दशक में हुआ था. उस समय तक हिंदी कहानी में चंद्रधर शर्मा गुलेरी, प्रेमचंद, जयशंकर प्रसाद, वृंदावनलाल वर्मा आदि का आगमन हो चुका था और ये सारे रचनाकार अपनी कहानियों के माध्यम से पाठक का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रहे थे. जहां गुलेरीजी प्रेमपरक कहानियों के माध्यम से व्यक्ति की सामाजिक और राजनीतिक प्रतिबद्धता को उभार रहे थे, वहीं प्रसादजी जीवन की संवेदना से जुड़ी कहानियों के माध्यम से व्यक्ति के बाहय और आंतरिक के साथ ही मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना कर रहे थे. इन सबसे अलग प्रेमचंद आम भारतीय जनता, खासकर किसान और मजदूर तबके के लोगों के शोषण और उत्पीड़न के साथ उसके संघर्ष और पीड़ा को अभिव्यक्ति दे रहे थे. उस समय चतुर्वेदीजी ने कविताएं अधिक लिखीं. पर छिटपुट कहानियां भी वे बीच-बीच में
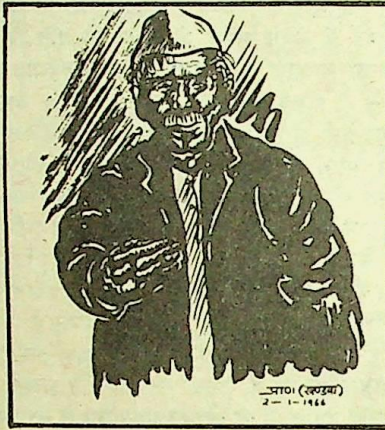
लिखते रहे थे. **'पुण्य प्रदेश'**, **'जेल का साथी'**, **'आत्मसमर्पण'**, **'शांति या क्रांति'**, **'एक राजा', था, एक रानी'** आदि उसी दौर की कहानियां हैं. ये कहानियां उन्होंने अपने आसपास के जीवन, वातावरण और घटनाओं को केंद्र में रखकर लिखी थीं. पर तीसरे दशक तक आते-आते उनकी कहानियां कई धाराओं में विभक्त होते गयीं. एक ओर उन्होंने जहां राष्ट्रवादी, इतिहास बोध, जीवन मूल्य की कहानियां लिखीं. वहीं दूसरी ओर सुधारवादी और गांव से संबंधित कहानियां भी लिखीं. लेकिन इसमें सबसे अधिक उन्होंने राष्ट्रवादी कहानियां लिखीं. इस प्रकार की कहानियों में **'पुण्य-प्रदेश'** एक भावना प्रधान कहानी है, जिसमें दलजीत और मोहनी जैसे युवक-युवती अंग्रेज सिपाहियों का मुकाबला कर रहे हैं. यद्यपि वे गिनती में मात्र दो हैं और उनके सामने ब्रिटिश सैनिकों की एक लंबी कतार है तथापि देश के लिए ये युवा निःस्वार्थ भाव से अपने को राष्ट्र की बलिवेदी पर उत्सर्ग कर देना चाहते हैं. **'आत्मसमर्पण'** भी एक लंबी और सशक्त कहानी है, जिसमें बब्बू नामक देशभक्त युवक, अपने मित्र कमल नारायण की इसलिए हत्या कर देता है क्रि वह चांटा षड्यंत्र केस का सरकारी गवाह बन जाता है तथा क्रांतिकारी के विरुद्ध कोर्ट में गवाही देने जाता है. पर इस हत्या के पीछे बब्बू भयंकर मानसिक अंतर्द्वंद्व से गुजरता है, कई जगह वह जीवन की विसंगतियों से टकराता है, उन पर सवाल भी खड़ा करता है और खुद समाधान भी देता है. मसलन एक जगह वह कहता है—**"हम क्षुद्रताओं से दूसरों की जरूरतों का माप करने बैठ जाते हैं."** राष्ट्रवादी कहानियों के इस क्रम में उनकी सबसे अच्छी कहानी **'कला का अनुवाद'** है जो उनकी सर्वश्रेष्ठ कहानी भी है. इस शीर्षक कहानी के नाम से उनका एक कहानी संग्रह भी प्रकाशित है. इस कहानी में उन्होंने अमरचंद श्रीवास्तव नामक एक ऐसे चरित्र को उठाया है, जो लेखन के स्तर पर तो क्रांतिकारी के दर्द को समझता है, उनका पक्ष लेता है और गुणगान भी करता है, किंतु अपने वास्तविक जीवन में उन्हीं क्रांतिकारी के विरुद्ध कोर्ट में गवाही देता है. लेकिन उसके इस दोहरे चरित्र को उसका देशभक्त चचेरा भाई गोपालचंद्र श्रीवास्तव बर्दाश्त नहीं कर पाता और कोर्ट में ही गोली मारकर उसकी हत्या कर देता है. वस्तुतः यह कहानी उन दोहरे चरित्र वाले कलाकारों, खासकर लेखकों के लिए एक सबक है जो कला और जीवन में संतुलन नहीं रखते है.

हर रचनाकार की तरह माखनलाल चतुर्वेदी भी जीवन के विषय में अपने तरीके से सोचते थे तथा इस बात की कोशिश करते थे कि जैसा वे चाहते थे, जीवन वैसा ही हो. दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि उन्होंने अपनी कहानियों में उन मानवीय मूल्यों की वकालत की है, जिसके कारण जीवन सुचारु रूप से संचालित होता है. इतना ही नहीं, वे यह भी चाहते थे कि आदमी एक दूसरे से जुड़ते हुए समाज में एक उच्चादर्श की स्थापना करें, जिससे व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का विकास हो सके. उनकी जीवन मूल्यों से संबंधित कहानियों में **'शांति या क्रांति'**, **'संदेह'**, **'मुहब्बत का रंग'**, **'गरीब का रास्ता'**, **'मेहमान'** आदि प्रमुख हैं. इन कहानियों में **'शांति या क्रांति'** सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानी है, जिसमें कामदेव जैसे चरित्र के माध्यम से कहानीकार ने सदाचार, सुशीलता, नम्रता एवं त्याग का आदर्श उपस्थित किया है. इसमें कामदेव पर अंग्रेज पुलिस सरकार उलटने तथा विदेशी वस्त्र जलाने का आरोप लगाकर गिरफ्तार कर लेती है, जिसके विरोध में नगर के छात्र, व्यवसायी, आम नागरिक और यहां तक कि सरकारी कर्मचारी भी हड़ताल कर देते हैं. कोर्ट में जब उन पर मुकदमा चलाया जाता है तो वे स्पष्टतः कहते हैं—**"प्रत्येक व्यक्ति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक देश को यह स्वाभाविक अधिकार है कि वह अपने**

जानमाल की रक्षा करे....'' आगे वे विदेशी व्यापारियों का रास्ता गलत बतलाते हुए कहते हैं कि ''**विदेशी व्यापारियों का रास्ता गलत है. वे अपने देश के व्यवसाय पर ही निर्भर रहें—दूसरे देश पर कब्जा करना, उसकी माली हालत से अनुचित लाभ उठाना—कभी भी नीतिपूर्ण नहीं माना जा सकता.**'' स्पष्टतः अपनी इस कहानी के माध्यम से चतुर्वेदीजी ने मनुष्य की उस प्रवृत्ति की निंदा की है जिसके तहत वह दूसरों के अधिकारों को छीनकर अपने स्वार्थ की पूर्ति करता है. इसी प्रकार पुलिस जुल्म को लेकर लिखी गयी उनकी '**संदेह**' भी महत्वपूर्ण है, जो आज भी प्रासंगिक है. इस क्रम में ममता जैसी भावनाओं को लेकर लिखी गयी कहानी '**मुहब्बत का रंग**' रमजान नामक एक ऐसे व्यक्ति की कहानी है, जो अपने पुत्र की बचपन में ही मृत्यु के बाद पड़ोस के भोला से प्यार करने लगता है और उससे पुत्रवत् स्नेह करता है. यही कारण है कि भोला की जिद् पूरी करने के लिए वह उसकी पगड़ी उस रंग में रंग देता है, जो रियासत के रईस फरमा खां के लिए तैयार किया गया था. उसकी इस गलती पर रईस के कारिंदे उसे खूब पीटते हैं, उसका मुंह खून से लाल कर देते हैं. इस पर रमजान कहता है—''**खता माफ हो सरकार! यह नमक का, रोटियों का रंग है और वह मुहब्बत का रंग है. वह मेरे बेटे की तरह है.**''

ग्रामीण जीवन और परिवेश हर कहानीकार के लिए एक आकर्षण का विषय रहा है. प्रेमचंद, रेणु आदि की तरह माखनलाल चतुर्वेदी ने गांव से संबंधित अधिक कहानियां नहीं लिखी हैं, पर जो भी लिखी हैं, उनमें गांव के वातावरण, वहां के लोग, वहां की धरती, वहां का जीवन आदि को उभारने की पूरी कोशिश की है. उनकी गांव से संबंधित कहानियों में कहीं रामधन जैसे पात्र देहात के कच्चे रास्ते पर गाड़ी हांकते मिलते हैं तो कहीं अछूत होने का दर्द भोगते जीवन से जूझने की कोशिश करते. कहीं गांव के बगीचे में इमली की डाल पर झूला झूलते लोग नजर आते हैं तो कहीं '**राजा, प्रजा, प्रजा, राजा**' जैसी कहानियों के मुलिया और बिपाता जैसे पात्र एक-दूसरे को प्यार करते नजर आते हैं. संयोग ऐसा जुड़ता है कि देश के राजा की मृत्यु के बाद उनकी वसीयत के अनुसार उन दोनों गरीबों को राजा और रानी बना दिया जाता है. इतना होने के बाद भी वे साधारण ग्रामीण की तरह ही महल में निवास करते हैं तथा राजा के नैतिक कर्तव्य को महसूस कर, वैसा ही आचरण भी करते हैं. इस क्रम में '**कच्चा रास्ता**' उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण कहानी है, जिसमें उन्होंने गांव के एक गाड़ीवान की संवेदना को उभारने की कोशिश की है, जिसके कारण जीवात्मा का साक्षात्कार होता है. रामधन नामक यह गाड़ीवान गांव में आये सुराजी नेता को अपनी बैलगाड़ी से स्टेशन छोड़ने जाता है. रास्ते में गाड़ी कीचड़ में फंस जाती है. लाख पुचकारने पर भी बैल आगे बढ़ने को तैयार नहीं होते हैं. इस पर सुराजी नेता गाड़ीवान को खूब गालियां देता है तथा उसे धमकी देते हुए डंडे से बैलों पर प्रहार करता है. उसे इस बात से चिढ़ होती है कि गांव का एक अदना-सा गाड़ीवान उसे सीख देता है कि यह बैल उसी कुबड़ी गाय का है, जिसका दूध उन्होंने कल गांव में पिया था. खैर गाड़ी किसी तरह समय से स्टेशन पहुंच जाती है. यहां सुराजी नेता अपनी यादगारी के लिये रामधन को अपना एक पुराना कुर्ता देना चाहता है, जिसे लेने से वह इंकार कर देता है. इस पर सुराजी नेता पूछता है कि उसे, उनकी याद कैसे आयेगी तो रामधन कुछ बोलता नहीं है, केवल मार्मिक भाव से इशारा करता है. ''**रामधन आंखों में आंसू भरकर, अपने मोहना बैल की पीठ पर उस जगह हाथ फेरने लगा, जहां मेरा (सुराजी नेता) डंडा पड़ा था...**''

उन्होंने सीधे तौर पर प्रेमचंद की तरह ग्रामीण जीवन की आर्थिक विषमता और शोषण को नहीं उभारा और न ही रेणु की तरह उनकी किसी वैचारिक प्रतिबद्धता को दिखाने की कोशिश की. बावजूद इसके, उन्होंने जो भी कहानियां लिखीं, उनमें ग्रामीण जीवन और परिवेश को उभारने की पूरी कोशिश की.

ऐसा नहीं था कि माखनलाल चतुर्वेदी अपने समय के सुधारवादी आंदोलनों से प्रभावित नहीं थे. बल्कि उनका विश्वास था कि थोड़े से मागदर्शन और सुधारों के सहारे, जीवन की गलत प्रवृत्तियों को त्यागकर, उसे सार्थक बनाया जा सकता है. इस क्रम में उनकी '**जेल का साथी**' कहानी भी इसी प्रकार की है, जिसमें एक कैदी, अपने थोड़े से अत्याचार के कारण बिल्ली जैसे मानवेत्तर प्राणियों के संसर्ग से भी हाथ धो बैठता है. बाद में जब वह अपनी गलती स्वीकार कर बिल्ली को पुचकारता है तो वह उसके पास आ जाती है. इसी प्रकार '**गुप-चुप**' कहानी में भी अंग्रेजी हिवसलर, अपनी गलती को सुधारकर अनैतिक संबंध से जन्मी फुलमणि की बेटी को स्वीकार कर लेता है. इसके अतिरिक्त चतुर्वेदी जी ने कई अन्य विषयों से संबंधित कहानियां भी लिखी हैं, जो अपने आपमें काफी महत्वपूर्ण हैं.

माखनलाल चतुर्वेदी की कहानियां छह दशक से भी लंबी अवधि में फैली हुई हैं. एक माने में **वे कहानी की प्रायः समूची विकास यात्रा की साक्षी रही हैं. उनकी पहली कहानी का प्रकाशन 'कर्मवीर' में संभवतः 20 मार्च, 1920 के अंक में हुआ था और बाद की कहानियां आठवें दशक तक प्रकाशित होती रही हैं. इस बीच कहानी साहित्य के इतिहास में कई बदलाव आये, कभी वह 'नई कहानी' बनी तो कभी 'समांतर' कहानी'. एक समय** तो ऐसा आया कि उसे 'अकहानी' भी बनना पड़ा, पर यदि ईमानदारी से हम चतुर्वेदीजी की **कहानियों का मूल्यांकन करें तो स्पष्ट होता है** कि उनका इन आंदोलनों से कोई ताल्लुक नहीं रहा है. यद्यपि उन्होंने बीच में कहानी संबंधी दो महत्वपूर्ण वक्तव्य दिये—एक सन् 1933 में और दूसरा 1964 में. उनका पहला वक्तव्य था—''**अच्छी कहानी व्याकुल मानव जीवन का समाधान, थकी हुई रचनाओं का आकाश और भावों की गर्मी तथा छंद के दायरे में दबी हुई रसवती कविता का जीवन रस है...**'' (**कर्मवीर, 11 मार्च 1933**). उनका दूसरा वक्तव्य था—''**कहानी में तीन बातें साथ चलनी चाहिए—कथानक का उत्थान-पतन, अनुभवों की कौंध, और तीसरे परिणाम से बचने की बहुत बड़ी सावधानी. यदि उसमें परिणाम से बचा नहीं गया तो कहानी नहीं लेख है. कहानी में परिणाम देना उसका पतन करना है.... कहानी में ईश्वरत्व से बढ़कर बल है...**'' (**डा. कृष्णदेव शर्मा से बातचीत के क्रम में, 25 अप्रैल 1963**). हम चाहें तो इन वक्तव्यों पर एक लंबी बहस की शुरुआत कर सकते हैं. इस रूप में नहीं कि दिवंगत साहित्यकार के इन वक्तव्यों में कितना दम है बल्कि इस रूप में कि आखिर चतुर्वेदीजी जैसे कहानीकार को ऐसा वक्तव्य क्यों देना पड़ा? इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि 'कहानीकार' माखनलाल चतुर्वेदी पर उनका 'कवि' रूप अधिक हावी था.

इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद हिंदी के पहले ऐसे कथाकार थे, जिन्होंने कथा साहित्य की ही नहीं, बल्कि संपूर्ण हिंदी साहित्य की अवधारणा ही बदल दी और पहली बार कहानियों को मानवीय मूल्य और वैचारिक संघर्ष से जोड़ा. पर इस बात से इंकार भी नहीं किया जा सकता है कि माखनलाल चतुर्वेदी ने कम ही सही, पर जो भी कहानियां लिखीं, वे किसी भी मायने में प्रेमचंद की धारा से अलग नहीं थीं. यदि उनकी भाषा पर जयशंकर प्रसाद का प्रभाव था तो विचारधारा पर कम ही सही, प्रेमचंद का. प्रेमचंद की तरह उन्होंने भी अपनी कहानियों के माध्यम से हिंदी कहानी को मानवीय मूल्यों और वैचारिक संघर्षों से जोड़ने का प्रयास किया, इसमें संदेह नहीं! □

इला : पौराणिक परिवेश का आधुनिक नाटक

☐ डा. जयदेव तनेजा

'इला' (नाटक) : प्रभाकर श्रोत्रिय, प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-110006, मूल्य-35.00

अशिक्षित और असभ्य आदिवासियों/जनजातियों द्वारा परंपरा के नाम पर बहुसंख्य नवजात कन्या-शिशुओं की नृशंस हत्या का मामला हो या सुशिक्षित और सभ्य-सुसंस्कृत शहरियों द्वारा आधुनिकता के नाम पर जन्म-पूर्व लिंग संबंधी जांच के बाद असंख्य कन्या-भ्रूणों के अहिंसक (?) खून का—निर्विवाद रूप से एक क्रूर एवं अमानवीय कुकृत्य ही है. परंतु हाल ही में, विकसित शल्य-क्रिया द्वारा मंजू को मनीष, शरीतुलनिशां को मंसूर, भारती को भारत और शारदा कुमारी को शरद कुमार बनाकर वैज्ञानिकों-चिकित्सकों ने 'मनुष्य' के लिए जो कानूनी, व्यक्तिगत, सामाजिक और व्यापक मानवीय समस्याएं पैदा की हैं; वे निकट भविष्य में जींस-इंजीनियरिंग द्वारा, अजन्मे शिशुओं के लिंग-परिवर्तन से, उत्पन्न होनेवाले नैतिक, मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय और सांस्कृतिक-मानवीय मूल्यों के जटिल प्रश्नों के सामने शायद कुछ भी न हों! यही वह बिंदु है जहां से अपने भीतर स्त्री-पुरुष को परस्पर अतिवादी दो प्रवृत्तियों (प्रकृतियों/विकृतियों) के भयावह अंतर्विरोधों की त्रासदी को एक साथ झेलती मनु-श्रद्धा की संतान की पौराणिक कथा पर आधारित प्रभाकर श्रोत्रिय का नया/पहला नाटक 'इला'—अतीत से भविष्य तक फैली एक शाश्वत ज्वलंत समस्या का—अत्यंत समकालीन, सार्थक और उल्लेखनीय आधुनिक दस्तावेज बन जाता है.

यह नाटक श्रीमद्‌भागवत के नवम स्कंध के पहले अध्याय की उस परम नाटकीय कथा पर आधारित है जिसके अनुसार विवस्वान (सूर्य) और संज्ञा के पुत्र मनु ने पुत्र-प्राप्ति के लिए आचार्य वशिष्ठ से 'पुत्रकामेष्ठि' यज्ञ करवाया. परंतु पत्नी श्रद्धा की तीव्र आंतरिक इच्छा के कारण (मनु की कामना के विपरीत) इला नामक कन्या का जन्म हो गया. असंतुष्ट, रुष्ट एवं दुःखी मनु की प्रार्थना/आज्ञा पर वशिष्ठ ने अपने तपोबल के प्रभाव और श्रीहरि के वरदान से पुत्री 'इला' को पुत्र 'सुद्युम्न' बना दिया. एक दिन शिकार करते हुए वह संयोगवश उस 'वन' (शरवन) में पहुंच गया जहां शिवजी के श्राप के कारण कोई भी पुरुष प्रवेश करने पर स्त्री बन जाता था. पुरुष सुद्युम्न फिर से स्त्री इला बन गया. इला की भेंट, बृहस्पति की पत्नी तारा और चंद्रमा के जारज पुत्र बुध से हुई. दोनों ने पति-पत्नी बनकर पुत्र पुरूरवा को जन्म दिया. इसके बाद इला ने कुलगुरु वशिष्ठ का स्मरण किया. उन्होंने उसे पुरुष रूप में बदलने के लिए भगवान शंकर की स्तुति की. अपने वचन से बंधे शंकर ने उसे एक माह पुरुष और एक माह स्त्री बनने का वरदान (?) दिया.

मामूली परिवर्तनों के साथ यही कथा बाल्मीकि रामायण के उत्तर कांड तथा ब्रह्म पुराण में भी मिलती है.

भगवान की स्तुति और उनके वरदान/श्राप के पौराणिक आधार को छोड़कर नाटककार ने लिंग-परिवर्तन के लिए जींस एवं हारमोंस को प्रभावित करने वाली, आधुनिक अस्पष्ट-रहस्यमय किंतु असह्य यंत्रणादायक रासायनिक-प्रक्रिया का सहारा लिया है. स्त्री-पुरुष के अबूझ संबंध, स्वभाव और मनोविज्ञान को तत्वतः समझने-समझाने के लिए यूं तो लगभग इसी प्रकार की कथाओं पर आश्रित इससे पहले भी 'संभोग से संन्यास तक' (सत्यदेव दुबे), 'इंदमति सत्यदेव' (डॉ० सी०डी० सिद्धू) और 'अरे, मायावी सरोवर' (शंकर शेष) जैसे नाटक लिखे और खेले गये हैं. परंतु 'इला' का उद्देश्य और आयाम इन सबसे अलग, गंभीर एवं व्यापक है. इला—पुरुष, सत्ता और शक्ति द्वारा प्रकृति/स्त्री पर, अनादि काल से लेकर आज तक विविध रूपों एवं स्तरों पर, किये जानेवाले बलात्कार और अन्याय-अत्याचार की उत्तेजक कहानी है. सत्ता और सत्य के बीच की विसंगतियों का दिलचस्प चित्रण यहां हुआ है.

नाटक की कथा चार अंकों में विभक्त है. पहले अंक में 'पूर्वरंग' के अलावा आठ दृश्य हैं. दूसरे में 'प्रवेशक' के अतिरिक्त चार और तीसरे में छः दृश्य हैं. चौथा अंक पांच दृश्यों में बंटा है. नाटककार ने पर्दे और वस्तुधर्मी यथार्थवादी रंगमंच की कल्पना की है; इसलिए 'राज भवन का भीतरी कक्ष', 'वशिष्ठ का आश्रम', 'राज सभा', 'पर्वतमाला वाला शरवण वन', 'वन प्रदेश', 'न्यायासन-बाहरी कक्ष' और 'राज भवन का मध्यकक्ष' के कई जल्दी-जल्दी बदलते दृश्य-बंधों और एक-एक या दो-एक संवादोंवाले अत्यंत छोटे दृश्योंवाला यह नाटक रंगमंचीय दृष्टि से काफी दिक्कतें पैदा करेगा. वस्तु-संरचना की दृष्टि से नाटक बहुत ढीला है. लेखक का आग्रह सब कुछ बताने या दिखा देने का है. वह पाठक-दर्शक की अपनी कल्पना के लिए कोई गुंजाइश नहीं छोड़ता. प्रथम अंक में ही पहले, पांचवें और सातवें दृश्यों को बहुत आसानी से हटाया या दूसरों में मिलाया जा सकता था. यही बात दृश्यांकन के बारे में भी कही जा सकती है.

तीसरे अंक का पहला दृश्य शरवण वन में सुद्युम्न के इला बन जाने का चित्रण करता है. देह और मन के रहस्यमय-सूक्ष्म सत्य का बहुत सुंदर प्रस्तुतीकरण यहां हुआ है. परंतु सुद्युम्न पर्वत के दायें-बायें या आगे-पीछे आ-जाकर पांच लंबे स्वगत-कथनों में इसे जैसे पेश करता है, वह खासे बड़े अभिनेता को भी मंच पर हास्यापद-सा बना सकता है. तीसरे अंक का छटा दृश्य निरर्थक है और चौथे अंक के चौथे दृश्य में मंच पर शिकारी कुत्तों द्वारा धनराज तथा मणिधर की प्रत्यक्षतः बोटियां नुचवाना भी बहुत आसान नहीं है. चौथे अंक का अंतिम पाचवां दृश्य सुद्युम्न के आत्मानुभव पर आधारित उसके अनुभूति/भाव दर्शन अथवा अंतर्विरोधी त्रासद व्यक्तित्व के जीवन-सत्य का महत्वपूर्ण उद्‌घाटन करता है. परंतु अन्य अनेक समकालीन बड़े भारतीय नाटकों के अंतिम दृश्यों की तरह यह भी 'शाब्दिक' ही होकर रह गया है और नाटक के कार्य-व्यापार में पिरोया हुआ नहीं लगता.

संवादों की भाषा पर भी प्रायः कथात्मकता हावी है. परंतु हास्य वाग्वैदग्ध्य, रोमांस और संवेदनशीलता की दृष्टि से तीसरे अंक का दूसरा दृश्य आकर्षक है. इसी अंक के चौथे दृश्य में इला की काल/मानस-यात्रा और पांचवें दृश्य में इला की यातना, दुविधा तथा विडंबनापूर्ण-विसंगत स्थिति का अत्यंत प्रभावशाली चित्रण नाटककार ने किया है. चौथे अंक के तीसरे दृश्य में अरुंधती-वशिष्ठ संवाद के माध्यम से लेखक ने ऋषि/बुद्धिजीवी की विवशता एवं विडंबना और सुद्युम्न के असंतुलित व्यक्तित्व के कारणों, प्रभावों तथा परिणामों का गंभीर विश्लेषण प्रस्तुत किया है.

संवादों में मुहावरों का अच्छा प्रयोग भी हुआ है. लेकिन 'दढ़ियल', 'लंगोटधारी', 'चिरौरी', 'चापलूस', 'विरासत', 'मसखरी', जैसे शब्द नाटक के देश-काल और इनके आस-पास के शब्दों के बीच संगत नहीं लगते. इसी प्रकार, सुमति का सुद्युम्न से यह कहना कि–

"तो क्या आपकी आंखों की जगह जामुन लटक रहे हैं." (पृ. 70) या इला का यह कथन कि–

"सुद्युम्न! ... बेचारा ... भार ढोनेवाला गधा था!" दर्शकों में स्थिति की गंभीरता को तोड़ देगा.

इसी प्रकार श्रद्धा के मनु के प्रति गहरे व्यंग्य में कि, "...प्रयत्न कीजिए, संभव है आपके नाक-कान से ही उत्तराधिकारी टपक पड़े," (पृ.85) दर्शकों में फूहड़ हंसी फूट पड़ने की पूरी आशंका हो सकती है.

पहले अंक में पारसी नाटकों की तरह संगीत-प्रभाव के नाम पर हर जगह नाटककार ने 'वाद्य-झंकार' का कुछ ज्यादा ही इस्तेमाल किया है. बेहतर होगा कि इसे निर्देशक की कल्पनाशीलता के सहारे छोड़ दिया जाए.

सुद्युम्न के व्यक्तित्व की आंतरिक विशेषताओं एवं विरोधों को रेखांकित करने के लिए नाटककार ने दूसरे और चौथे अंकों के दूसरे दृश्यों तथा चौथे अंक के चौथे दृश्य में प्रस्तुत मुकद्दमों के साथ-साथ श्रीमद्भागवत के नवम् स्कंध के चौदहवें अध्याय की बुध-जन्म-कथा प्रसंग का भी सुंदर उपयोग किया है. छाया-नाटक, पूर्वदीप्ति और स्वप्न-दृश्य की योजना कृति की संरचना को रोचक-वैविध्य प्रदान करती है.

जीवन भर दो तलवारों की नोक के बीच उड़नेवाली चिड़िया की तरह लगातार छटपटाते हुए जीने तथा देह और बोध की द्विधाविदीर्ण मानसिकता को झेलते रहने के लिए अभिशप्त इला/प्रद्युम्न की यह नाट्य-कथा पुरूरवा के राज्याभिषेक पर समाप्त होकर वंशोन्माद और वंशाधिकार के विरुद्ध विद्रोह को रेखांकित करके विकृति पर प्रकृति की अंतिम विजय का जयघोष करती है. अंतर्द्वंद्व और तनाव के ताने-बाने में बुनी इस कथा का यह सुखद-अंत प्रसादांत से अलग होते हुए भी किसी न किसी रूप में भारतीय और पाश्चात्य रंग-शिल्प के सामंजस्य की ओर तो इशारा करता ही है.

एक साहित्यिक-कृति की दृष्टि से 'इला' निश्चय ही एक महत्वपूर्ण रचना है. परंतु बतौर नाटक तो इसकी वास्तविक कसौटी रंगमंच ही है. देखें मौलिक हिंदी नाटक की इस कठिन चुनौती को कौन स्वीकार करता है? □

'इला' मात्र मिथक नहीं है

□ डा. रूपसिंह चंदेल

नारी, आधुनिक हो, मध्यकाल की, प्राचीन या पौराणिक ... उसकी स्थिति एक-सी दिखाई देती है. सदैव वह उपेक्षित, शोषित और प्रताड़ित होती रही है. पुरुष सदैव उसे अपने ढंग से इस्तेमाल करता रहा है. उसकी भावनाओं के प्रति विचार किए बिना ही. आज की नारी को इस बात का दंभ भले ही हो कि उसने अपने मूलभूत अधिकारों को किसी हद तक प्राप्त कर लिया है, शेष के लिए प्रयत्नशील है और प्राप्त अधिकारों की सुरक्षा के लिए वह जागरूक है, लेकिन वर्तमान परिस्थितियों में स्थितियों का वास्तव में यह एक ही पक्ष है, दूसरा पक्ष यह है कि प्राप्त अधिकारों के तहत ही उसका शोषण जारी है और ऐसा नहीं है कि नारी इस सबसे अनभिज्ञ है. वास्तव में वह आज भी उतनी ही विवश है .... जितनी मनु के समक्ष श्रद्धा थी. श्रद्धा कैसे और कितनी विवश थी, कितनी उपेक्षित और प्रताड़ित, इसका मार्मिक चित्रण हमें आलोचक और नाटककार प्रभाकर श्रोत्रिय के सद्य प्रकाशित नाटक 'इला' में प्राप्त होता है.

इला और उसकी मां श्रद्धा का आख्यान मात्र मिथक ही नहीं है, प्रत्युत वर्तमान संदर्भ में भी वह उतना ही सटीक और वास्तविक प्रतीत होता है. आज की स्थितियों से जोड़कर देखने की लेखक की कोशिश का परिणाम है 'इला'. इला श्रद्धा और मनु की पुत्री है. लेकिन मनु कन्या के जन्म से जितने दुखी हैं, श्रद्धा उतनी ही प्रसन्न. "दूसरों की कन्याओं से प्रेम करना और अपने लिए कन्या चाहना दो अलग बातें हैं. देवि!" (पृ. 39), श्रद्धा से मनु का कथन मनु की भावनाओं को स्पष्ट करता है.

निःसंतान मनु संतान प्राप्त करने के लिए राजगुरु वशिष्ठ से मित्रावरुण देवताओं का एक यज्ञ (इष्टि) 'पुत्रकामेष्टि' करवाते हैं. इस यज्ञ के फलस्वरूप मनु पुत्र प्राप्त करना चाहते थे, किंतु श्रद्धा होता विद्याधर से एक ऐसी कन्या की इच्छा व्यक्त करती है, "जो पृथ्वी जैसी धीरज वाली, कामधेनु की भांति लोक कल्याणकारी, ब्राह्मी जैसी बुद्धिमती और कुलदेवता सूर्य की भांति तेजस्विनी हो." (पृ. 30) और ऐसा कहते समय श्रद्धा को यह विश्वास होता है कि मनु उनकी इच्छा के विपरीत न होंगे.

लेकिन मनु वह नहीं चाहते थे जो श्रद्धा चाहती थी. मनु को पत्नी से चाहिए था राज्य का उत्तराधिकारी अर्थात् पुत्र और इसी निमित्त मनु वशिष्ठ पर दबाव डालते हैं कि वे इला को कुमार के रूप में बदल दें रासायनिक क्रियाओं के प्रयोग द्वारा. श्रद्धा विरोध करती है और अंततः परास्त हो कहती है, "कोई अधिकार नहीं है मुझे सहज जीवन जीने का. मैं स्त्री नहीं हूं, हविष्यान्न हूं. मात्र हविष्यान्न." (43) श्रद्धा का यह अतिस्वर केवल श्रद्धा का ही नहीं है, श्रद्धा तो नारी जगत का एक प्रतिनिधि मात्र है. वह भी गर्भवती न होने का निर्णय करती है, लेकिन इस निर्णय के पीछे प्रवंचना की पीड़ा है, प्रताड़ना का मूक चीत्कार है. "हे स्वयंभू! तू जिस हाथ से स्त्री को सब कुछ देता है, उसी हाथ से सब कुछ छीन लेता है. कैसी विडंबना है यह? मेरी बेटी! यह सृष्टि केवल पुरुषों की है. गर्भ में धारण करने और अपना रक्त पिलाने पर भी मां, अपनी संतान को, अपना तक नहीं कह सकती." (44-45)

श्रद्धा मूक दर्शक बन जाती है इला के कुमार सुद्युम्न के रूप में परिवर्तित होने की. लेकिन सुद्युम्न के नारी-सुलभ आचरण से मनु विचलित दिखाई देते हैं. वह सुमति से उसका विवाह केवल इसलिए कर देते हैं, जिससे सुद्युम्न पत्नी संसर्ग से पुरुषोचित गुणों की ओर प्रेरित हो सके. लेकिन ऐसा नहीं हो पाता. और अंततः मनु राज्य का भार सुद्युम्न को सौंप श्रद्धा के साथ तीर्थाटन को चले जाते हैं. राज्य में अव्यवस्था फैलने लगती है. सुद्युम्न की शासन के प्रति उदासीनता इसका प्रमुख कारण है. सुमति बार-बार उसे प्रेरित और उद्यत करती है. वह उसे आखेट में जाने के लिए उत्साहित करती है और एक दिन सुद्युम्न मृगया के लिए जाता है. सैंधव अश्व पर सवार सुद्युम्न मृग के पीछे-पीछे उत्तर दिशा की ओर सुमेरु पर्वत की तलहटी वन में पहुंच जाता है. उस प्रदेश में पहुंचकर सुद्युम्न अनभव करता है कि वह स्त्री हो गया है.

मूल रूप से यह कथा है इला की, जिसे पारदर्शी भाषा और सशक्त आकर्षक संवादों द्वारा प्रस्तुत किया है डा० श्रोत्रिय ने.

बीच-बीच में लेखक मंच में राजदरबार के दृश्य प्रस्तुत करता है और राजा को न्याय करता दिखाता है. चोरी, बलात्कार और अपहरण के दृश्य प्रस्तुत होते हैं. और ये दृश्य यह अहसास छोड़ने में पूर्व सक्षम हैं कि तब और अब नारी की स्थिति में क्या बदला है? डा. श्रोत्रिय ने मंचीय व्यवस्था का विशेष ध्यान रखा है और प्रशासन व्यवस्था से लेकर सूक्ष्म से सूक्ष्म बातों का भी संकेत किया है. निःसंदेह हिंदी नाटकों में 'इला' एक उपलब्धि सिद्ध होगा. □

तीस हास्य-व्यंग्य कहानियां कुछ मूल्यगत प्रश्न

■ श्याम विमल

श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियां संकलनकर्त्ता: काका हाथरसी और गिरिराज शरण, मूल्य : 35 रुपये. प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली-6

'मिल-जुलकर जो होता है, वह भ्रष्टाचार नहीं होता' (अजीत शत्रु). 'यह एक बहुत मोटी बात है कि जिंदगी में इंसान की तरक्की काम से नहीं कारगुजारी से होती है' (अमृत राय).—ये दो गलत सूत्र इस बात के नमूने हैं कि 'हास्य-व्यंग्य' के नाम पर लिखनेवाले इस पर नहीं या कम ही ध्यान देते हैं कि वे क्या कह रहे हैं बल्कि ज्यादा ध्यान इस बात पर देते हैं कि वे कुछ कह रहे हैं. और वह 'कुछ कहना' कुछ का कुछ यानी गलत असर डाल सकता है. यह दूरदर्शिता उनके ध्यान में आती तो व्यंग्य की वास्तविकता से वे अभिज्ञ होते और कथनीय को सही तरह से और सही प्रसंग में पेश करते तथा बात कच्ची बुद्धि के पाठक को आदर्शसूत्र न प्रतीत होती, उसे वे व्यंग्य की तरह ही ले सकते.

पूर्वोक्त दो 'सूत्र' 'श्रेष्ठ हास्य-व्यंग्य कहानियां' पुस्तक की दो कहानियों से उद्धृत किये गये हैं. उक्त दो लेखकों के अलावा बीस और भी लेखक और कुल मिलाकर तीस कहानियां इसमें संकलित हैं. संकलनकर्ता हैं काका हाथरसी और गिरिराज शरण.

"जिस समाज में विसंगतियां और असमानतापरक विडंबनाएं जितनी अधिक होंगी, उतनी ही वहां हास्य और व्यंग्य की संभावनाएं होंगी" (गिरिराज शरण अग्रवाल की भूमिका) —इस उक्ति का अभिप्राय ऐसा तो नहीं लगना चाहिए ना कि साहित्य में हास्य-व्यंग्य की संभावना के लिये समाज को विसंगत ही रहना चाहिए! हम श्रेष्ठता समाज की चाहते हैं या कि हास्य-व्यंग्य की?

यदि बाईस व्यंग्य-लेखकों की चुनिंदा कहानियों से सजी डिमाई आकार की 184 पृष्ठों की किताब में मात्र पांच-छः लेखक ही व्यंग्य-लेखन की सफलता को छूते हुए प्रतीत हों, तब व्यंग्य-विधा से 'समीक्षक नाक-भौं सिकोड़ें' या 'कन्नी काट जाते' हैं तो वह अकारण नहीं होता.

तथाकथित व्यंग्यकार राजनीतिक पदों को, पौराणिक मिथकों को, शायरों-कवियों को, रिसर्च स्कॉलरों को, न्याय और विद्या के आलयों के ओहदेदारों को तथा अन्य कर्मियों को न बख्शते हुए पाठकों, विशेषतः नयी पीढ़ी के पाठकों के समक्ष क्या मूल्य स्थापित कर रहा है अथवा कहना चाहिए किस तरह मूल्यहीनता एवं अराजकता की ओर ले जाने का जाने-अनजाने उपक्रम कर रहा है—इस पर समझदार पाठक का चिंतित होना स्वाभाविक है. प्रस्तुत संकलन में से कुछ वाक्यों से जो ध्वनित होता है, जिससे समझदार पाठक को व्यंग्यकार के प्रति 'नाक भौं सिकोड़ना' पड़े, उसके नमूने भी पेश हैं— 'जब सरकार बदली तो मैं पुनः महत्वपूर्ण राजनेता बन गया' (निरंकुश), 'गिरधारी काम-धाम करता नहीं, सचिव बन जाये तो कुछ घर की हालत भी सुधरे' (प्रेम जनमेजय), 'तुम्हें इन्हीं जूतों (प्रेमचंद के) पर रिसर्च करनी है'... 'अरे भाई, मैं यू.जी.सी. का रिसर्च-फेलो हो गया हूं.' (मनीषराय यादव), 'एक दफा बस हो जाने दो थानेदार, इसके बाद उस बुढऊ हेडमास्टर पर दिन-दहाड़े कुत्ते न लगवा दूं तो...' (रवींद्रनाथ त्यागी).—कहानियां से निकाले गये ये वाक्य संदर्भगत औचित्य से नहीं कटे हुए—सनद रहे.

माना कि वे सब बातें हमारे समाज में घुस-पैठ गयी हैं जिनसे समाज दूषित होता है और अपनी वसीयत में प्राप्त सांस्कृतिक गौरव व गौरवान्वित पद-पेशों पर से आस्था उठ जाती है, फिर भी व्यंग्यकार उन प्रसंगों पर लेखनी चलाते वक्त यह तो ध्यान में रख सकता है कि वह दोषों पर प्रहार कर रहा है या उनका प्रचार-प्रसार? क्या वह साधारण बुद्धि के पाठकों को गलत तरीकों पर चलने की, 'आजकल सब चलता है' जैसी स्थिति को यथावत् बनाये रखने की परोक्षतः सलाह दे रहा है अथवा उससे होने वाले घातक परिणामों को प्रत्यक्ष उजागर कर रहा है?

वह व्यंग्य भी क्या जो पाठक को तिलमिलाये नहीं, बल्कि सद्वृत्तियों के प्रति उदासीनता और अनास्था की संभावना उसमें बढ़ा दे! क्यों व्यंग्य की चोट ईमानदारी पर, सदाचारी पर पड़ती है? भ्रष्टाचार और बेईमानी के विरुद्ध कोई रास्ता क्यों नहीं सुझाती, कोई दृष्टि क्यों नहीं देती? क्या भ्रष्टाचार के विरुद्ध व्यंग्य-कथाओं के पात्र और घटनाएं इस तरह से नहीं उभारे जा सकते कि पाठक उनके संग-संग मूल कारणों को पहचाने, खुद को संघर्ष करता महसूस करे, संवेदनशील हो उठे? ऐसा कुछ संकलित कहानियों के आधार पर हरिशंकर परसाईं, कमलेश्वर, अशोक शुक्ल, श्रीकांत मित्तल, शरद जोशी, बालेंदु शेखर तिवारी ही कर सके हैं. कुछ हद तक अपनी शिल्पगत विशेषताओं के साथ गिरिराज शरण अग्रवाल, प्रेम जनमेजय, श्रीकांत चौधरी भी व्यंग्य की सही पहचान रखते प्रतीत होते हैं. प्रेम जनमेजय 'शुभचिंतक' में धार्मिक रूढियों को उपमान बनाकर चोट उपमेय के साथ उपमान पर भी करते गये हैं; पर 'शरीफ आदमी को पालिटिक्स से दूर' क्यों रहना चाहिए?

डॉ. संसार चंद्र की दोनों कहानियां विनोद मात्र करती हैं, उनमें सामाजिक मूल्य नदारद है. सूर्यबाला की दोनों कथाएं शब्द-विन्यास की दृष्टि से तो कसी हुई हैं किंतु कल्पना से गढ़ी गयी हैं, जीवन का यथार्थ उनमें नहीं. उषाबाला तो भर्ती की गयी लगीं. संतोषनारायण नौटियाल की रचना हास्य भर है. कुलदीप तलवार, रोशनलाल सुरीरवाला और शंकर पुणतांबेकर की भी एक-एक रचना इसमें संकलित है जो फूहड़ किस्म की हैं, यत्र-तत्र विनोद भर झलकता है. विवेकीराय ललित निबंध बेहतर लिखते हैं, यहां व्यंग्य में नहीं जम पाये.

प्रस्तुत व्यंग्य-कथाओं के आईने में जहां देशवासियों का चरित्र झांकता है, वहां तक तो सच वचन; पर जहां अवमूल्यित चरित्र आज के आदर्श प्रतीत कराये गये हों और असत्याचरण आदर्श सूत्र की तरह वाक्यान्वित किये गये हों वहां लेखकीय असावधानी या कुतर्कों की हद के अलावा क्या मिल सकता है? देश के वर्तमान चरित्र को इन कथा-माध्यमों से (और बाहर से भी) देख-समझकर जितनी पीडा होती है, उतनी ही पीडा उन कुछ कथा-लेखकों के भौंडे प्रस्तुतीकरण से भी, जिससे अनैतिकता के कीचड़ में सान करके पूरी सामाजिकता को निंदनीय ठहराया जा रहा हो और साथ ही अनास्था तथा अराजकता को जगाया जा रहा हो. नैतिक मूल्यनिष्ठा को जगाना और बनाये रखना तो व्यंग्यकार का (बल्कि सभी विधाओं के लेखकों का) काम होता है. नहीं क्या? ▫

पान मसाला-तंबाकू परिशिष्ट

पान मसाला-जर्दा उद्योग प्रगति के साथ समस्याएं भी

पिछले एक दशक में पान मसाला जर्दा उद्योग ने बहुत तेजी से प्रगति की है. आज देश में इन पदार्थों का करीब साढ़े तीन सौ करोड़ रुपये से भी अधिक का कारोबार होता है. इस उद्योग में कुल मिलाकर 40 से 50 लाख लोगों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रोजगार मिला हुआ है जर्दा और पान मसाले के शौकीन कश्मीर से कन्याकुमारी और गुजरात से उत्तरी-पूर्वी राज्यों में सभी जगह देखे जा सकते हैं.

देश से हर वर्ष करीब दस करोड़ रुपए मूल्य का पान मसाला और जर्दा निर्यात किया जाता है. दुनिया के लगभग सभी प्रमुख देशों में पान मसाला जर्दा की मांग है. उन देशों में जहां भारतीय और पाकिस्तान मूल के नागरिक हैं इन पदार्थों की भारी मांग है. अमरीका, कनाड़ा, यूरोपीय और पश्चिम एशियाई देशों में तो इन पदार्थों की खासी खपत है. इन पदार्थों के निर्यात की बहुत अधिक संभावनाएं हैं.

देश के अंदर इन पदार्थों की मांग लगातार बढ़ रही है. आने वाले वर्षों में इस उद्योग के और भी प्रगति के आसार है. कानपुर और राष्ट्रीय राजधानी दिल्ली इन पदार्थों के उत्पादन और वितरण के प्रमुख केंद्र के रूप में उभरे हैं. बनारस और कुछ अन्य शहरों में भी इन पदार्थों का उत्पादन होता है.

जर्दा पान मसाला उद्योग पिछले कुछ वर्षों में सरकार को विभिन्न करों के द्वारा भारी राशि चुका कर राष्ट्रीय विकास में योगदान कर रहा है. इस समय यह उद्योग लगभग सवा सौ करोड़ रुपए विभिन्न करों के रूप में देता है. इसमें से 66 करोड़ रुपये तंबाकू और 16 करोड़ रुपये पान मसाले पर लगने वाले केंद्रीय उत्पादन शुल्क से और करीब 32 करोड़ रुपये बिक्री कर के हैं. इसके अलावा आयकर, चुंगी आदि से भी राज्य सरकारों को भारी आय होती है. इस लोकप्रिय और बड़ी संख्या में श्रमिकों और वितरकों को रोजगार उपलब्ध कराने वाले उद्योग की अनेक समस्याएं हैं. इनमें से प्रमुख हैं : कच्चे माल की कमी, करों की अलग-अलग दरें. कुछ सरकारी नीतियों के कारण भी इस उद्योग की प्रगति के रास्ते में बाधाएं पड़ी हैं. चालू वित्त वर्ष के बजट में इन पदार्थों के उत्पादन शुल्क में भारी वृद्धि किए जाने का बुरा प्रभाव पड़ेगा.

पिछले एक दशक में जर्दा पान मसाला उद्योग के विरुद्ध एक ऐसा वर्ग उभरकर सामने आया है जो इन पदार्थों के उत्पादन, वितरण, प्रचार-प्रसार पर रोक लगाने की मांग कर रहा है. चिकित्सकों, विशेषज्ञों एवं और लोगों के स्वास्थ्य के प्रति चिंतित इस वर्ग का कहना है कि पान मसाला जर्दा लोगों के स्वास्थ्य के प्रति हानिकारक है. अतः इसके दूरदर्शन रेडियो एवं अन्य प्रचार माध्यमों की मार्फत प्रसार पर रोक लगायी जानी चाहिए. यहां यह उल्लेखनीय है कि पिछले एक दशक में इस उद्योग ने प्रचार-प्रसार पर भारी धन राशि व्यय की है और अपना बाजार तैयार किया है. लेकिन प्रचार-प्रसार बढ़ने के साथ ही इन पदार्थों के विरोध में आवाजें बुलंद की जा रही हैं.

परिश्रम और परंपरा के साथ-साथ व्यापार

आदमी की सूझबूझ, दूरदृष्टि और मेहनत उसे सफलता की नयी-नयी सीढ़ियां देती हैं जिन पर चढ़कर आदमी नये-नये कीर्तिमान स्थापित कर देता है. पान मसाला एवं जर्दा को आज राष्ट्रीय और विदेशों में प्रसिद्धि दिलाने वाले कुछ ऐसे निर्माताओं का उल्लेख हम इस आलेख में कर रहे हैं जिन्होंने अपनी सूझबूझ और कड़ी मेहनत से न केवल पान मसाला एवं जर्दे को एक उद्योग के रूप में मान्यता दिलायी वरन् दूसरों के लिए एक उदाहरण है.

अवंती बाबू का नाम है धैर्य आत्म विश्वास और संघर्ष का. खेलने खाने की उम्र में उन्होंने दूकान पर बैठना शुरू कर दिया था. बाद में धीरे-धीरे उन्होंने रत्ना नाम से पान मसाला एवं तंबाकू बनाना शुरू किया जो आज पूर्वी एवं पूर्वोत्तर भारत में सबसे ज्यादा बिकता है. कहने वाले तो यहां तक कहते हैं कि बिहार, असम, उड़ीसा, बंगाल आदि